

THE
CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES;

A
COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.

NOS 303-310&326.

MIMAMSA KAUSTUBHA

[An exhaustive Commentary of Jaiminisutra]
(III & IV Padas of Ist Adhyaya)

BY
KHANDADĒVA.

Edited by
Veda Visarada

Pandit A. Chinnaswami Sastri,
Chief Professor of Mimamsa Benares Hindu University

FASCICULUS I to III.

PUBLISHED & SOLD BY THE SECRETARY

CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES OFFICE, 'BENARES.
AGENTS: PANDITA JYESHTHĀRAMA MUKUNDAJI, BOMBAY:
OTTO HARRASSOWITZ, LEIPZIG: GERMANY.
PROBSTHAIN & CO., BOOKSELLERS, LONDON.

*Printed by Jai Krishna Das Gupta,
at the Vidya Vilas Press, Benares.*

1924.

Registered According to Act XXV. of 1867. (All Rights Reserved.)



हमारे यहां हर तरह की छपाई तथा जिल्दसाजी का कार्य भी होता है।

हर तरह के संस्कृत ग्रन्थ तथा भाषा भाष्य पुस्तकों के मिलने का पता—

जयकृष्णदास-हरिदासगुप्तः

चौखम्बासंस्कृतसीरीज़ आफिस,

विद्याविलास प्रेस, गोपालपंदीरलेन,

बनारस सिटी।



ममिंसाकास्तुभप्रथमाध्यायतृतीयचतुर्थपादीयानां

सूत्राणां सूची ।

| | | | | |
|------------------------------|---|---|----|-----|
| १ अद्रव्यशब्दत्वात् | १ | ३ | ३१ | १४२ |
| २ अन्यदर्शनाच्च | १ | ३ | ३२ | १४३ |
| ३ अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् | १ | ३ | २६ | १२६ |
| ४ अनुमानव्यवस्थानात् | १ | ३ | १५ | ९७ |
| ५ अपि वा कर्तृसामान्यात् | १ | ३ | २ | ६ |
| ६ अपि वा कारणाग्रहणे | १ | ३ | ७ | ३२ |
| ७ अपि वा नामधेयं स्यात् | १ | ४ | २ | १५८ |
| ८ अपि वा सर्वधर्मस्स्यात् | १ | ३ | १६ | १०१ |
| ९ अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् | १ | ४ | ३० | २९८ |
| १० अवाक्यशेषाच्च | १ | ३ | १३ | ९२ |
| ११ अविभागाद्विधानार्थे | १ | ४ | २० | २६२ |
| १२ आकृतिस्तु | १ | ३ | ३३ | १४३ |
| १३ आख्यम हि देशसंयोगात् | १ | ३ | १९ | १०३ |
| १४ आनर्थक्यादकारणम् | १ | ४ | २२ | २६५ |
| १५ उक्तं समाप्तायैदमर्थ्यं | १ | ४ | १ | १५१ |
| १६ एकदेशत्वाच्च | १ | ३ | २९ | १३४ |
| १७ ऐकशब्धो परार्थघत् | १ | ४ | ८ | २२२ |
| १८ कर्मधर्मो वा प्रवणवत् | १ | ३ | २२ | १०६ |
| १९ कारणं स्यादिति | १ | ४ | २१ | २६४ |
| २० गुणस्य तु विधानार्थे | १ | ४ | १८ | २५४ |
| २१ चोदितस्तु प्रतीयेत | ३ | ३ | १० | ७९ |
| २२ जातिः | १ | ४ | २४ | २७९ |
| २३ तच्छेषो नोपपद्यते | १ | ४ | १९ | २६२ |
| २४ तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् | १ | ४ | ४ | १९५ |
| २५ तत्र तत्त्वमभियोग | १ | ३ | २७ | १२६ |
| २६ तत्सिद्धिः | १ | ४ | २३ | २६६ |
| २७ तथा निर्मन्थ्ये | १ | ४ | १२ | २४१ |
| २८ तदर्थत्वात्प्रयोगस्य | १ | ३ | ३५ | १४९ |
| २९ तदशक्तिश्च | १ | ३ | २८ | १३४ |
| ३० तद्गुणास्तु विधीयेरन् | १ | ४ | ९ | २२७ |
| ३१ तद्रव्यषदेशश्च | १ | ४ | ५ | २१४ |
| ३२ तुल्यत्वात्क्रिययोर्न | १ | ४ | ७ | २२२ |

| | | | | |
|---------------------------------|---|---|----|-----|
| ३३ तुल्यन्तु कर्तृधर्मेण | १ | ३ | २३ | १०७ |
| ३४ तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य | १ | ३ | ८ | ५४ |
| ३५ दर्शनाद्विनियोगः | १ | ३ | १८ | १०२ |
| ३६ धर्मस्य शब्दमूलत्वात् | १ | ३ | १ | १ |
| ३७ न क्रियास्यादिति | १ | ३ | ३४ | १४८ |
| ३८ न प्रकरणात् | १ | ४ | १४ | २४८ |
| ३९ न शास्त्रपरिमाणत्वात् | १ | ३ | ६ | ३१ |
| ४० न स्याद्देशान्तरेषु | १ | ३ | २० | १०४ |
| ४१ नामधेये गुणश्रुतेः | १ | ४ | ६ | २१८ |
| ४२ नासन्नियमात् | १ | ३ | १२ | ८८ |
| ४३ परार्थत्वाद्गुणानाम् | १ | ४ | १६ | २५४ |
| ४४ पूर्ववन्तोऽविधानार्थाः | १ | ४ | १७ | २५४ |
| ४५ प्रयोगचोदनाभावात् | १ | ३ | ३० | १३५ |
| ” ” | ” | ” | ” | १४० |
| ४६ प्रयोगशास्त्रमिति चेत् | १ | ३ | ११ | ८४ |
| ४७ प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् | १ | ३ | २४ | १०७ |
| ४८ पशंसा | १ | ४ | २६ | २८३ |
| ४९ प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् | १ | ४ | ११ | २३७ |
| ५० बहिराज्ययारसंस्कारे | १ | ४ | १० | २३४ |
| ५१ भूमा | १ | ४ | २७ | २८५ |
| ५२ मिथश्चानर्थसंबन्धः | १ | ४ | १५ | २५२ |
| ५३ यस्मिन् गुणोपदेशः | १ | ४ | ३ | १७३ |
| ५४ लिङ्गाभावाच्च | १ | ३ | १८ | १०३ |
| ५५ लिङ्गसमवायाः | १ | ४ | २७ | २९२ |
| ५६ विरोधेऽत्वनपेक्षं स्यात् | १ | ३ | ३ | १२ |
| ५७ वैश्वदेवे विकल्पः | १ | ४ | १३ | २४४ |
| ५८ शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेः | १ | ३ | २५ | १२३ |
| ५९ शास्त्रस्था वा | १ | ३ | ९ | ५६ |
| ६० शिष्टाकोपे | १ | ३ | ५ | २९ |
| ६१ संदिग्धेषु वाक्यशेषात् | १ | ४ | २९ | २९३ |
| ६२ सर्वत्र च प्रयोगात् | १ | ३ | १४ | ९३ |
| ६३ सारूप्यम् | १ | ४ | २५ | २८१ |
| ६४ स्याद्योगाख्या | १ | ३ | २१ | १०४ |
| ६५ हेतुदर्शनाच्च | १ | ३ | ४ | १९ |

मीमांसाकौस्तुभप्रथमाध्यायचतुर्थपादीयाटिप्पणीस्थाना
साङ्केतिकशब्दानामर्थविवरणम् ।

इदमत्रावधेयम्—ये तावत् तृतीयपादस्थाः साङ्केतिकशब्दाः अत्राप्याम्नेडिताः तेषां विवरणं तत्रैव कृतमिति न पुनस्तत्रापीदानीं व्याप्रियते । परन्तु ये ततोतिरिक्ता एतत्पादस्थाः तेषामेवेदानीं विवरणं क्रियते—इति ।

उ. सू. ...उणादिसूत्रम् ।

काव्यप्रका. काव्यप्रकाशः ।

का. श. काण्वशतपथब्राह्मणम् ।

कुमा... कुमारसम्भवः ।

पू. मीं. पूर्वमीमांसा ।

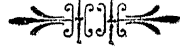
बौ. श्रौ... बौधायनश्रौतसूत्रम् ।

सत्या. श्रौ... सत्याषाढश्रौतसूत्रम् ।

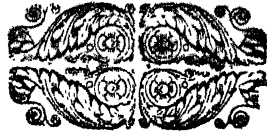


मीमांसाकौस्तुभप्रथमाध्यायतृतीयपादस्थानं

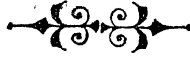
अधिकरणानां सूची ।



| | पृष्ठम्. |
|---|----------|
| १ स्मृत्यधिकरणम् | १ |
| २ विरोधाधिकरणम् | १२ |
| ३ शिष्टाकोपाधिकरणम् | २९ |
| ४ यववराहाधिकरणम् | ५५ |
| (अस्यैवाधिकरणस्य आर्यभ्लेच्छाधिकरणं, पीत्वधिकरणं, त्रिवृच्चर्वाश्ववालाधिकरणमिति वार्तिककारमते तत्तद्वर्णक- भेदेन नामान्तराणि विद्यन्ते) | |
| ५ पिकनेमाधिकरणम् | ७९ |
| ६ कल्पसूत्राधिकरणम् | ८४ |
| ७ होलाकाधिकरणम् | ९७ |
| ८ व्याकरणाधिकरणम् | १०७ |
| ९ लोकवेदाधिकरणम् | १३५ |
| १० आकृत्यधिकरणम् | १४० |



मीमांसाकौस्तुभप्रथमाध्यायचतुर्थपादीयानां
अधिकरणानां सूची ।



| | | |
|----|---|-----|
| १ | नामधेयप्रामाण्याधिकरणम् | १५१ |
| २ | उद्भिदधिकरणम् (मत्वर्थलक्षणान्यायः) | १५८ |
| ३ | चित्राधिकरणम् (वाक्यभेदन्यायः) | १७३ |
| ४ | अग्निहोत्राधिकरणम् (तत्प्रख्यान्यायः) | १९५ |
| ५ | तद्द्वयपदेशाधिकरणम् | २१४ |
| ६ | वाजपेयाधिकरणम् | २१८ |
| ७ | आग्नेयाधिकरणम् (तद्गुणाधिकरणम्) | २२७ |
| | (आग्नेयादिशब्दानामनामताधिकरणम्) | |
| ८ | बहिराज्याधिकरणम् | २३४ |
| ९ | प्रोक्ष्यधिकरणम् | २३७ |
| १० | निर्मन्थ्याधिकरणम् | २४१ |
| ११ | वैश्वदेवाधिकरणम् | २४४ |
| १२ | वैश्वानराधिकरणम् | २५४ |
| १३ | तत्सिध्यधिकरणम् | २७९ |
| १४ | जात्यधिकरणम् | २८० |
| १५ | सारूप्याधिकरणम् | २८१ |
| १६ | प्रशंसाधिकरणम् | २८३ |
| १७ | भूमाधिकरणम् | २८५ |
| १८ | लिङ्गसमवायाधिकरणम् | २९२ |
| १९ | वाक्यशेषाधिकरणम् | २९३ |
| २० | सामर्थ्याधिकरणम् | २९८ |

(तत्सिद्धिपेदिका)



मीमांसाकौस्तुभप्रथमाध्यायतृतीयचतुर्थपादयोः

शुद्धाशुद्धपत्रिका ।



| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|--------|---------|--------------|---------------|
| ३ | १७ | निमूल | निर्मूल |
| ४ | १४ | यत्किञ्चित् | यत्किञ्चित् |
| १६ | ११ | अवभ्यक | आवश्यक |
| २२ | २१ | मप्राण्या | मप्रामाण्या |
| २३ | ११ | तारम्येन | तारतम्येन |
| २५ | ८ | प्रमाणमिति | प्रमाणमस्ति |
| २८ | १७ | गृहीतत्व | गृहीतत्व |
| ३२ | ६ | प्रयोग | प्रयोग |
| ४० | १९ | मन्यते | मन्यते |
| ४२ | २० | पुत्राशो | पुत्रशो |
| ४४ | १४ | नेकल्पनं | नेकत्वकल्पन |
| " | १७ | स्मित्पक्षे | स्मिन् पक्षे |
| ४८ | २३ | व्याहृति | व्याहृति |
| ५२ | २ | संस्कार्य | असंस्कार्य |
| " | १२ | अविवक्षित्वे | अविवक्षितत्वे |
| ५३ | १० | विशेषा | विशेषा |
| " | १६ | देर्विवक्षा | देरविवक्षा |
| ५४ | १७ | बुद्धानु | बुद्धानु |
| " | १८ | दृष्टार्थ | दृष्टार्थ |
| ५६ | ७ | नाह्यक्षा | नह्यक्षा |
| ६२ | ६ | तनैरेव | तनैरेव |
| ६८ | १६ | सापिण्डानि | सापिण्ड्यानि |
| " | १७ | पूत्तः | पवृत्तः |
| ७१ | १ | विहात् | विवाहात् |
| ७५ | १ | कार्यास | कर्पास |
| " | ४ | द्रशाना | द्रशाना |
| ७९ | ७ | कोशेय | कौशेय |

| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|--------|---------|----------------------|---|
| ८३ | २० | प्यथाप् | प्यथाप् |
| ८५ | २२ | पूर्वपक्ष | पूर्वपक्ष |
| ८६ | १६ | लिङ्गादिषु | लिङ्गादिषु |
| ९९ | २४ | प्रमाणिकी | प्रामाणिकी |
| १०१ | १० | आचरेषु | आचारेषु |
| " | १६ | अयुक्तम् | अयुक्ता |
| " | १७ | जातिविशेषः | जातिविशेषःसः । |
| १०६ | १२ | दक्षिणात्या | दाक्षिणात्या |
| १०९ | १८ | तदनुगत | तदननुगत |
| ११२ | २ | परम्परया | परम्परया |
| ११६ | ६ | षडङ्गपदान्य | षडङ्गपदान्य |
| ११७ | १ | सूत्रेणौत्सर्गिके | सूत्रेणौत्सर्गिके |
| " | १७ | जपमन्त्रपाठ | जपमन्त्रपाठ |
| " | २३ | बाधवइति | बाध इति |
| ११८ | २ | स्वरापाठेन | स्वरापाठेन |
| ११९ | ४ | इतिवदेवम् | इतिवदेकम् |
| १२२ | २५ | वाक्यार्थस्यैव | वाक्यार्थस्यैव |
| १२६ | १४ | बीजमुक्तम् | बीजमुक्तम् |
| " | १५ | शक्तिजत्वेऽन | शक्तिजत्वेन |
| १२७ | २३ | अष्टकादौ | अष्टकादौ |
| १२९ | २१ | उपस्थित | उपस्थित |
| १४० | १६ | गमकमिति | गमकमिति |
| १५२ | ५ | संभवतित्युक्तं | संभवतीत्युक्ते |
| १५३ | २५ | अङ्गीकारेपि भावनायां | अङ्गीकारेऽपि वा सिद्ध- रूपत्वेन भावनायां |
| १६२ | ११ | पठितव्याना | पठितव्यानाम् |
| " | २४ | तदुत्तरपठितैः | तदुत्तरपठितैः |
| १६३ | १० | विधिपदादेवो | विधिपदादेवो |
| " | १७ | पदान्तरार्था | पदान्तरार्थ |
| १६४ | १ | दौर्बल्यम् | दौर्बल्यम् |
| १६५ | १२ | यागसम्बन्धोऽभ्यु | यागसम्बन्धोऽभ्यु |
| १६८ | २२ | उद्दिभदीनानां | उद्दिभदादीनां |
| " | १५ | विदारेण | विदारणे |

| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|--------|---------|-----------------|-----------------|
| १७१ | २० | अवच्छेदकम् | अवच्छेदकः |
| १८८ | २३ | पृष्ठरूप | पृष्ठैरूप |
| १९४ | २२ | एकपृष्ठ पूर्वसा | एकपृष्ठापूर्वसा |
| २०० | १६ | वहिष्यवमान | वहिष्पवमान |
| २०१ | १३ | लभ्यादम | लभ्यादिम |
| " | २५ | धावत्वर्थ | धात्वर्थ |
| २०४ | ६ | रूपिनिमित्त | रूपनिमित्त |
| २०६ | ३ | ख्यातवृत्ते | ख्यातावृत्ते |
| २०७ | ११ | नानुपपन्नः | नानुपपन्नः |
| २०८ | १९ | दध्यादि | नञादि |
| २०९ | ६ | अप्रासद्धत्वेन | अप्रसिद्धत्वेन |
| २१४ | १ | सन्दन्शेन | सन्दंशेन |
| " | ६ | न्तरसद्भावात् | न्तरासद्भावात् |
| २२३ | ५ | त्यानुशासन | त्यनुशासन |
| " | २२ | शेषत्वापर | शेषित्वापर |
| २२६ | १४ | नचवैमपि | न चैवमपि |
| २२८ | २२ | वरमग्नेय | वरमाग्नेय |
| २४६ | ४ | पुराडाश | पुरोडाश |
| २४८ | ९ | तेषामेव | येषामेव |
| " | १० | संबन्धानवगतेः | संबन्धावगतेः |
| २५३ | ६ | वैश्वदेनपदेन | वैश्वदेवपदेन |
| " | १० | अनुवादापत्तेः | अनुवादापत्तिः |
| " | ११ | " | " |
| २५४ | ११ | सर्वोद्देशेन | सर्वोद्देशेन |
| २५९ | ७ | द्वादकपाल | द्वादशकपाल |
| २७७ | ३ | वार्तिका | वार्तिके |
| २७८ | ११ | तेन्निष्ठ | तन्निष्ठ |
| २८८ | १४ | आशक्यते | आशक्यते |
| " | १६ | अवगतेः | अनवगतेः |



श्रियै नमः ।

मीमांसाकौस्तुभः ।

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । (रथन्तरपादः)

प्रथमं रथन्तराधिकरणम् (१) ॥

सू-गुणस्तु क्रतुसंयोगात्, कर्मान्तरं प्रयोजयेत्
संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥ २-३-१. ॥ (पू)

ज्योतिष्टोमे—“यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादन्द्रैवायवाग्रान्
ग्रहान् गृह्णीयात्” “यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्” “यदि जगत्सामा
आग्रयणाग्रान्” इति श्रुतम् । तत्र किमाद्ययोः वाक्ययोः रथन्त-
रसामत्वे बृहत्सामत्वे च निमित्ते ज्योतिष्टोमापूर्वसाधनीभूतग्रहणा-
नुवादेनैन्द्रवायवाग्रता शुक्राग्रता च यथायोगं विधीयेते, अथ वा
रथन्तरसामत्वेन्द्रवायवाग्रत्वाद्युभयविशिष्टकर्मान्तरं विधीयते इति
सन्देहः । —

अत्र कृतिसाधपत्वेनानिश्चितविधेयताकगुणप्रयोज्यभेदनिरू-
पणं पादार्थः । पूर्वपादे हि वाजिनादयो गुणाः पक्षद्वये निश्चि-
तविधेयताका एव भेदकत्वेन (१)निर्धारिताः । अत्र तु रथन्तरसा-

मत्वं गुणः पूर्वपक्षे विधेयः, सिद्धान्ते त्वविधेय इत्यनिश्चितविधेयताकः । अतोऽस्ति पादसङ्गतिः । यथाचायं पादार्थः सर्वत्राप्यविरुद्धः तथा तत्तदधिकरणे निरूपयिष्यामः ।

अध्यायसङ्गतिस्तु स्पष्टा । अनन्तरा तु वृष्टेः (१)सौभरसम्बन्धित्वेन प्रमाणान्तरप्राप्तत्वात् युक्तं हीष्णियमं प्रति निमित्तत्वम् । अत्र तु केवलरथन्तरसामकत्वस्य समासार्थभूतस्य ज्योतिष्टोमैऽप्राप्तत्वात् न ग्रहाग्रताया निमित्तत्वोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानाद्द्रष्टव्या ।

तत्र यद्यपि यदिशब्दः(२) “यदि राजन्यं वैश्यं वा याजये” दित्यादौ निमित्तत्वपरो वृष्टः, तथापि अत्र विशेषणस्य विशेष्यस्य विशिष्टस्य वा निमित्तत्वांसम्भवात् न नैमित्तिको गुणः (३)प्रकृते विधातुं शक्नोते । तथा हि—

न तावदत्र विशेषणस्य रथन्तरसामत्वादेः निमित्तत्वम्, बहुव्रीह्यन्तपदे प्रथमोपनिपतितस्य रथन्तरादिशब्दस्य अन्यपदार्थोपसर्जनीभूतस्वार्थप्रतिपादकत्वेन तस्मिन् यदिशब्दोपात्तनिमित्तत्वान्वयानुपपत्तेः, अन्यथा ऋद्धस्येति षष्ठ्यन्तस्यापि राजपुरुष इति पदोपात्ते राज्ञि अन्वयापत्तेः, रथन्तरमा-

१. तत्संज्ञकस्सामविशेषः ।

२. “यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोर्धास्तिभिनीराहृत्य तास्संपिष्य दधन्युन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्” इत्यत्र राजन्यवैश्यान्यतरकर्तृकत्वे निमित्ते भक्षोद्देशेन सोमस्थाने फलचमसविधिपरे वाष्ये यदिशब्दस्य यथा निमित्तत्वपरतां तद्वदित्यर्थः । स्तिभिन्यः फलानि । अस्यैव फलचमस इति संज्ञा ।

३. प्रकृतकत्वज्ञतया ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३

त्रस्य निमित्तत्वे (१)अग्रावपि विद्यमानस्य निमित्तत्वापत्तेश्च ।
नाप्यन्यपदार्थरूपस्य विशेष्यस्य ; स हि सोमपदसमभिव्या-
हारात् सोमद्रव्यं भवेत् ; तस्य तु निखत्वादेव यदिशब्दोपात्तका-
दाचित्कत्वव्याप्यनिमित्तत्वानुपपत्तिः । कथञ्चित् निमित्तत्वा-
ङ्गीकारेऽपि वा ऐन्द्रवायवाग्रत्वशुक्राग्रत्वयोः विकल्पापत्तिः ; बहु-
व्रीहान्तपदवैधर्ष्यापत्तिश्च । एतेन सोमशब्देन स्वसाध्यं प्रकृतं या-
गं लक्षयित्वा तस्यैव निमित्तत्वाङ्गीकारः प्रत्युक्तः ।

नापि विशिष्टस्य, (२)हविरुभयत्ववद्वाक्यभेदापत्तेः । किञ्च
वैशिष्ट्यपक्षेऽपि अन्यपदार्थो विशेषणम् ? विशेष्यं वा, ?
(३) नाद्यः ; व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः । न च विग्रहवेलायां अन्यपदार्थ-
स्य षष्ठ्यन्तत्वेन विशेषणत्वात् रथन्तरस्य प्रथमान्तत्वेन विशे-
ष्यत्वात् क्रतुविशिष्टस्य रथन्तरादेः यदिशब्दोपात्तनिमित्तत्वा-
न्वयोपपत्तिरिति वाच्यम् । विग्रहवाक्यस्यावैदिकत्वेन तदुपा-
त्तविशेषणविशेष्यभावेन निमित्तत्वान्वयानुपपत्तेः ।

किञ्च ग्रहाग्रतानिमित्तभूते रथन्तरे न तावत् ज्योतिष्टोमाख्य-
क्रतोः स्वायोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वम्, प्रकरणादेव तत्सिद्धेः ।
नापि क्रत्वन्तरयोगव्यावृत्त्या ; उपदेशेन तद्व्यावृत्तेः प्रमाणाभावे-
नैव सिद्धत्वात् । अतिदेशेन तद्व्यावृत्तिस्तु तत्रापि अनिष्टैव ।

न द्वितीयः ; सामान्तराणामपि गायत्रादीनां स्तोत्रान्तर-

१. चयने "पृष्ठैरुपतिष्ठते" इत्यनेन उपस्थानाङ्गत्वेन पृष्ठविधाना-
त् तदन्तर्गुणत्वात् रथन्तरस्येति भावः ।

२. "यस्योभयं हविरार्तिमाच्छेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्"
इत्यत्र उभयत्वविशिष्टस्य हविषः निमित्तत्वे यथा विशिष्टोद्देश्यत्व-
रूपो वाक्यभेदः तद्वदित्यर्थः ।

३. बहुव्रीहेरन्यपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वनियमभङ्गापत्तेरि-
त्यर्थः ।

सम्बन्धितया ज्योतिष्टोमे विशिष्य विहितत्वेन तद्व्यावृत्त्या रथन्तरा-
देः विशेषणत्वानुपपत्तेः, यद्यपि च स्वसाध्यपृष्ठस्तोत्रे वैकल्पिक-
पृष्ठस्तोत्रान्तरसाधनबृहद्व्यावर्तकत्वं रथन्तरस्य, रथन्तरव्या-
वर्तकत्वं वा बृहतः सम्भवति तथापि समुच्चितस्तोत्रान्तरसाधन-
सामान्तरव्यावृत्त्यसम्भवात् सापेक्षस्य रथन्तरादेः अन्यपदार्थवि-
शेषणत्वे सामर्थ्यभङ्गप्रसङ्गेन समासानुपपत्तेः वैशिष्ट्यानुपपत्तिः ।

अत एव रथन्तरस्य पाक्षिकत्वादग्रताविशेषनिमित्तभूते
ऋतौ स्वायोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वमित्यप्यपास्तम् । शङ्खः पाण्डु-
र एवे" त्यादौ पाण्डुरत्वादेः विशेष्ये अत्रच्छेदकावच्छेदनैव
स्वायोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वदर्शनेन प्रकृते तदसम्भवात् । न हि
गायत्रादिसामान्तरकार्यावच्छिन्ने ऋतौ शक्यो रथन्तरायोगो व्या-
वर्तयितुम् ।

न चैकोदेशेऽपि तद्व्यावृत्त्या विशेषणत्वव्यवहारः; अव्याप्य-
वृत्तिनीलवति नीलो घटः इति व्यवहारादर्शनात् । अतश्च रथ-
न्तरमेवास्य सामेति समासार्थावगमात् तस्य च (१) प्रकृते अप्रा-
प्तत्वेन निमित्तत्वानुपपत्तेः विधेयत्वावगमात्, प्रकृते च ज्योति-
ष्टोमे केवलरथन्तरसामकत्वादेः विधाने ऐन्द्रवाषवाग्रत्वादेरपि
विधेयत्वाद्वाक्यभेदापत्तेः, वाक्यभेदाङ्गीकारेऽपि च केवलरथन्त-
रसाम्नो ज्योतिष्टोमे साक्षादनन्वयेन स्तोत्रसाधनीभूतमन्त्रद्वारैव
निवेशस्य वाच्यत्वात् तेषु च तत्तत्सामान्तरस्य विशिष्याम्नान-
सिद्धत्वेन विषमशिष्टविकल्पायोगात् अनिश्चिन्तमानस्य रथन्तर-
मात्रसामकत्वादेः गुणस्य भेदकत्वावगतेः गुणद्वयविशिष्टकर्मा-
न्तरविधिरैवायम् । तत्राव्यक्तत्वात् अतिदेशप्राप्तसर्वस्तोत्रेषु रथ-
न्तरसाम्नो निवेशः ।

न च “उक्थो वैरूपसामे” सादाविव पृष्ठस्तोत्र एव निवेशः शङ्क्यः । एतदधिकरणपूर्वपक्षवादिना एकदेशसंयोगानंगीकारेण (१)वैरूपादीनामपि सर्वस्तोत्रे निवेशस्य वाच्यत्वात् । अतएवैतदधिकरणसिद्धान्ते एकदेशसंयोगे स्थिते बहुब्रीह्यन्तत्वसादृश्येन वैरूपादीनां पृष्ठस्तोत्र एव निवेशो (२)दशमे वक्ष्यते ।

(३)न च विधायकस्य स्यादिसादेः यदिशब्दोपहतविधिशक्तिकत्वात् कर्मान्तरविधायकत्वानुपपत्तिः । यदिशब्दस्याप्राप्तिद्योतकमात्रत्वेन प्रमाणान्तरेण प्राप्त्यसम्भवे(४)‘यदाग्नेय’ इत्यादिवेदविवक्षितार्थत्वात् ।

अथ वा यदिशब्दपरित्यागात् वरमध्याहारः । तेन यागानुकूलप्रवृत्तिजनकीभूताया इच्छायाः विधिना आक्षिप्तायाः यदिशब्दोपात्तनिमित्तत्वान्वयार्थं वाचकीमूतरुचिधात्वध्याहारः क्रियते । अतश्च कर्मान्तरस्य प्रकरणात् ज्योतिष्टोमाङ्गस्य सोमवाक्यविहितयागसमप्रधानस्य वा पाक्षिकत्वसिद्ध्यर्थं रुचेर्निमित्तत्वकल्पनमिति न वैयर्थ्यमपि ।

अथ वा अध्याहारादपि निपातोपसगणामनेकार्थत्वात् यदिशब्दस्य ‘यदि वेदाः प्रमाणम्’ इति वेदेवकारार्थत्वपरिकल्पनैव भवदेवोक्ता युक्ता समाश्रयितुम् । अतश्च प्रयाजादिवत् कर्मान्त-

१. वैरूपं तत्संज्ञकस्वामविशेषः ।

२. पू. मी. १०-६-६.

३. इत आरभ्य पूर्वपक्षसमाप्तिपर्यन्तो ग्रन्थः “यदि शब्दपरित्यागो रुच्यध्याहारकल्पना । व्यवधानेन सम्बन्धो हेतुहेतुमतोश्च लिङ्” (तं. वा. पू. ५८१.) इति वार्तिकस्यैव विवरणरूपो द्रष्टव्यः ।

४. ‘यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवती’त्यत्र सत्यपि यच्छब्दसमिध्याहारे तदर्थस्याविवक्षामङ्गीकृत्याप्राप्तत्वात् यथा विधायकत्वमङ्गीक्रियते तद्वादित्यर्थः ।

रस्यापि नियमेनैव प्रयोगविधिना सद्ग्रहात् यदिशब्दोऽप्याव-
श्यकत्वानुवादः ।

वस्तुतस्तु-पक्षत्रयमपि आख्यातद्वयस्य भिन्नवाक्यतापत्तेः तद-
ङ्गीकारेऽपि च केवलरथन्तरसामकत्वस्योत्पत्तिशिष्टसामान्तरविरो-
धाभावेन प्रकृत एव ज्योतिष्टोमे निवेष्टुं शक्यतया कर्मान्तरा-
नापादकत्वापत्तेरयुक्तम् । न च सामान्तराणां विशिष्याम्नात-
त्वेन बलवत्वम् । एतस्यापि प्रधानाश्रितस्य विशिष्याम्नानावि-
शेषेण ततो बलवत्त्वात् ।

अत एव परिहर्तव्यम्-(?)“कामप्रवेदनेऽकाञ्चिति” इति
स्मृत्या कञ्चित्पदाप्रयोगे- कामशब्दाभिधेयाया इच्छायाः अपि
लिङ्गलक्ष्यत्वस्य अनुशासनात् गृह्णीयादिति लिङ्ग इच्छावगमेन
यदिशब्दस्य च तत्र व्यवहितान्वयं कृत्वा, यदि ऐन्द्रवायवा-
ग्रान् ग्रहान् ग्रहीतुमिच्छेत् तदा केवलरथन्तरसामानं क्रतुं
कुर्वीतेति वाक्यार्थप्रतीतिरेकवाक्यत्वोपपत्तिः । आस्मिन् हि पक्षे
स्यादिति लिङ्गैव गुणद्वयविशिष्टयागविधानम् । गृह्णीयात् इति
लिङ्ग तु यदिशब्दतात्पर्यग्राहकसहकृतेनेच्छामात्रोपादानमिति
न वाक्यभेदः । तत्प्रयोजनं च एकवाक्यतापादनद्वारा स्ववा-
क्योपात्तकर्मान्तरप्रयुक्तत्वसूचनमुखेन तदङ्गत्वबोधनात् प्राकरणि-
कज्योतिष्टोमाङ्गत्वव्यावृत्तिः । भिन्नवाक्यत्वे हि ग्रहाग्रतापाः
कर्मान्तराङ्गत्वे प्रमाणाभावेन प्रकरणात् ज्योतिष्टोमाङ्गत्वमेव
स्यात् ।

न च “यदि रथन्तरसामा सोमस्स्यात् सौभरेण स्तुवीते”
ति रथन्तरसामकयागपुरस्कारेणाग्रेऽपि गुणविधानात् अवा-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ७

न्तरप्रकरणात् कर्मान्तराङ्गत्वोपपत्तिरिति न्यायसुधाकृदुक्तं शङ्क्य-
म् । सौभरविधेः बृहत्सामककर्मान्तरादिविधिव्यवहितत्वेन अतिरा-
त्रसंस्थान्तरप्रकरणस्थत्वेन च सन्देशाभिव्यञ्जकत्वाभावात् ।
अतो युक्त एव स्याच्छब्दस्य विधायकत्वेऽपि यदिशब्दसंयोगः ।

नन्विदं “कामप्रवेदनेऽकञ्चित्” इति सूत्रस्य इच्छायां लि-
ङ्गित्यर्थकत्वे भवेत् । तस्य तु कामप्रवेदने प्रकारान्तरेण गम्य-
माने सर्वलकारापवादत्वेन लिङ्गो विधानमित्येवंपरतया काशिका-
कारेण व्याख्यानात् कामो मे भुञ्जीत भवान् इत्युदाहरणस्योक्त-
त्वात् कथं लिङ् एवच्छार्थकत्वमिति चेत् ?

कामप्रवेदने कर्तव्ये लिङ् इत्येव सूत्रार्थोपपत्तौ प्रकारान्तरे-
णेत्यस्याध्याहारे गौरवात् (१) “इच्छार्थेषु लिङ् लोटौ” इति सूत्रे
महाभाष्यकारेण कामप्रवेदने चेत् इच्छार्थेभ्य उपपदेभ्यो गम्यमा-
न इत्येव व्याख्यातत्वेन विवक्षितार्थस्य तेनैव सिद्धौ ‘कामप्रवेदन’
इति सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च । अतः काशिकापूर्वकालीनैः शबरा-
दिभिर्व्याख्यातत्वात् इच्छायामेव लिङ् इति सूत्रार्थः ।

यदापि पदमञ्जर्यादौ पौनरुक्त्यं परिहृतम्-यत्र अर्थः प्रकरणा-
दिनापि कामप्रवेदनं गम्यते तत्र ‘कामप्रवेदन’ इति सूत्रम्, यत्र
तु तद्वाचकशब्दप्रयोगः तत्रेच्छार्थेष्वित्यस्य सूत्रस्य सार्थकत्वा-
ल्लोडर्थकत्वम् । तत्र लोटो च लिङ्गो बाधो माभूदिति लिङ्प्युक्त इति,
तदप्यपास्तम् ; शबरादिप्रदर्शितव्याख्याने पौनरुक्तस्यैवाप्रसक्ता-
(२) बुक्तविधया तत्परिहारस्यानुक्तिसहत्वात् । तस्मादिच्छाया-
मपि लिङ्गिष्ठ इति युक्त एवोक्तविधया यदिशब्दः ।

अथ वा व्यवहितान्वयस्याप्यन्याय्यत्वात् (३) “हेतुहेतुमतो-

१. पा. सु. ३-३-१५७.

२. उक्तविधपरिहाराभासस्य

३. पा. सु. ३-३-१५६.

लिङ्ङि”ति स्मृत्या प्रयोजकापरपर्याये हेतौ, प्रयोज्यापरपर्याये हेतुमति च लिङ्ङो विधानात् यदिशब्दस्य च तदर्थतात्पर्यग्राहकत्वेन स्यादिति हेतौ लिङ्, गृह्णीयादिति विधौ । तेन कर्मान्तरहेतुको ग्रहाग्रताविशेषः कर्तव्य इति वाक्यार्थः । अस्मिंश्च पक्षे आर्थिकः कर्मान्तराविधिः । हेतुत्वाभिधानस्य च ज्योतिष्टोमाङ्गताव्यावृत्तिफलककर्मान्तराङ्गत्वसिद्धिरेव पूर्ववत् फलम् । अङ्गविशेष्यकबोधस्य न्याय्यत्वात् गृह्णीयादिति वा हेतुमति लिङ्, स्यादिति च विधौ; तदा च ग्रहाग्रता(?)हेतुकं रथन्तरसामानं क्रतुं कुर्वीतेति वाक्यार्थः । हेतुमत्ताभिधानस्य च पूर्वदेव प्रयोजनम् । अस्मिंश्च पक्षे यदिशब्दो यथास्थानस्थित एव एकस्याख्यातस्य विधायकतामपरस्य हेतुमदर्थकतां सूचयतीति न व्यवहितकल्पनापि । विशेष्यावगमोत्तरविशेषणावगमरूपाविमृष्टविधेयांशता तु पटोऽस्ति शुक्ल इतिवन्न दोषाय । तस्मात् यदिशब्दस्य (२) “यदि ब्राह्मणो यजेते”ति वत् विधिशक्तिविघातकत्वाविघातः ।

सूत्रं तु अन्यपदार्थरूपक्रतुसंयोगे यो गुणः केवलरथन्तरसामन्नादिरूपः स कर्मान्तरं प्रयोजयेत्, विशेषणसंयोगस्य विशेष्यावच्छेदेन वृत्तिस्वाभाव्यादिति व्याख्येयम् ॥

(इति रथन्तराधिकरणपूर्वपक्षः)

१. प्रयोज्यताकं ।

२. “यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायानुतिमानुतिं हुन्वा तमभिघारयेत्” इत्यत्र यदि शब्दस्य यथा न विधिशक्तिप्रतिबन्धकत्वं तद्वदित्यर्थः । एतच्चाग्निमाधिकरणे स्पष्टीभविष्यति ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ९

(अथ सिद्धान्तः)

सू-एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं
गुणवाक्यत्वात् ॥ २-३-२. ॥ (सि)

न तावद्यदिशब्दोपात्तनिमित्तत्वं रथन्तरविशिष्टस्य क्रतोरु-
च्यमानमपि समासं भिनत्ति, बृहद्रथन्तरसाध्यपृष्ठयोः ज्योतिष्टो-
मे वैकल्पिकत्वेन स्वायोगव्यावृत्त्यापि विशेषणत्वसम्भवात् एक-
र्थाभावलक्षणसामर्थ्यविघातानुपपत्तेः । न च विशेष्यावच्छेदेनैव
विशेषणेन स्वायोगो व्यावर्तनीयः इत्यपि नियमोऽस्ति । दण्डी
पुरुष इत्यादौ व्यभिचारात् ।

किञ्च स्वावान्तरकार्यद्वारा सर्वेणापि विशेषणेन विशे-
ष्यमवच्छेत्तव्यम् । अत एव व्याप्यवृत्तित्वाप्यवान्तरकार्यं
एव द्रष्टव्या । अस्ति च बृहद्रथन्तरयोः पृष्ठरूपावान्त-
रकार्यं सा । ततस्तद्वारा क्रतावप्यवच्छेदकावच्छेदेन सा
अव्याहृत्वैव । न हि कर्मान्तरत्ववादिनापि प्रोक्षणावघातादिष्व-
प्ययोगो व्यावर्तनीयः । अपि तु स्तोत्रादिरूपावान्तरकार्यं एव ।
तत्र च प्रोक्षणादीनामिव स्तोत्रान्तराणामपि बृहद्रथन्तरकार्य-
त्वाभावात् तेष्वयोगव्यावृत्तावपि न क्षातः । अतश्च पृष्ठस्तोत्राव-
च्छेदेनायोगव्यावृत्तेः सत्त्वात् व्याप्यवृत्तितया विशेषणत्वाविरोधः ।
किञ्चानयैव दिशा परस्परव्यावर्तकत्वादन्वयोगव्यावृत्त्यापि विशे-
षणत्वोपपत्तिः ।

किञ्चैवं यद्यपि बृहद्रथन्तरयोस्समुच्चयो भवेत् तथापि सा-
म्नां तत्तद्वाक्ये निरपेक्षसाधनत्वावगमेन समुच्चयेऽपि व्यासज्य-
वृत्तिसाधनत्वाभावात् नाग्नेयन्द्रपीतादिवत् असामर्थ्यमित्येकेना-

पि विशेषणतोपपत्तिः । इष्यत एव हि डित्थडवित्थयोर्मातरि डित्थ-
मातेति प्रयोगः, अनेकच्छन्दस्केऽपि च प्रातस्सनने गायत्रच्छ-
न्दस इति प्रयोगः । अत एव रथन्तरसामेति व्यपदेशोपपत्ताव-
पि यदिशब्दोपात्तनिमित्तत्वान्वयार्थं बृहद्रथन्तरयोः वैकल्पिक-
त्वोपन्यास इति द्रष्टव्यम् । तेन सिद्धं रथन्तरविशिष्टस्य क्रो-
निमित्तत्वमिति ।

वस्तुतस्तु विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तेः न क्रतुविशिष्ट-
रथन्तरवदेव रथन्तरविशिष्टक्रतोरिह निमित्तत्वम् । न च (१) हविरा-
तिन्यायेन उद्देश्यान्तर्गत्यङ्गीकारात् न वाक्यभेदापात्तिरिति भव-
देवोक्तं शङ्क्यम् । वक्ष्यमाणरीत्या रथन्तरस्यैव निमित्तत्वपर्यव-
सानोपपत्तौ क्रतोरपि तदन्तर्भावस्वभावस्य तदप्राप्त्याणिकत्वात् ।

किञ्च क्रतोरप्यन्तर्भावे प्रकृतत्वात् ज्योतिष्टोमे एवान्तर्भा-
व्येत, ततश्च ज्योतिष्टोमे निमित्ते प्रकृतापूर्वसाधनीभूताग्रहणः क-
त्वेनाग्रता विधीयते । ततश्च विकृतौ तदपूर्वस्थानापन्नत्वात् अ-
ङ्गितावच्छदकसद्भावेऽपि निमित्ताभावात् भेदनरहितायां विक-
तौ तद्दोषवत् नैयाग्रान्विशेषः प्राप्येत । न हि निमित्तपदे अपू-
र्वसाधनलक्षणा निमित्तस्थानापात्तर्वा वैकृतक्रतोरस्ति, येन
तत्रैव निमित्तान्तर्भावशङ्क्यम् । अतो विशिष्टस्य क्रतु-

१. "यस्याभयं हविरार्तिमाच्छेत्, ऐन्द्रं पशुशरावपञ्चकपकवौदनद्रव्यकं यागं कुर्यात् इति वि-
धिपेत" इत्यत्र केवलाया आर्तेः सार्धदिक्रतेन निमित्तवाक्यमभावात्
तद्विशेषणस्यापि हविषः उद्देश्यकुक्षौ प्रवेशमङ्गीकृत्य हविरार्तिरेवां-
द्देश्यत्वमङ्गीकृतं तद्वदत्रापि रथन्तरस्यापि उद्देश्यकोटौ प्रवेशमङ्गी-
कृत्य वाक्यभेदः परिहियतामत्यर्थः । यस्य यजमानस्य दर्शसम्ब-
न्धि सायंकालिकं हविः दधिरूपं प्रातःकालिकं हविः पयोरूपं च
नश्यति स ऐन्द्रं शरावपञ्चकपकवौदनद्रव्यकं यागं कुर्यात् इति वि-
धयवाक्यार्थः ।

मात्रस्य वा निमित्तत्वायोगात् रथन्तरस्यैव निमित्तत्वम् ।

यद्यपि च परोपसर्जनीभूते पदार्थान्वयोऽव्युत्पन्नः तथापि शाब्दबोधे विशिष्ट एवान्वितस्यापि निमित्तत्वस्य विशेष्ये विशिष्टे वा कादाचित्कत्वाभावादिना बाधात् “मविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणे सङ्क्रामतो विशेष्यबाध’ इति न्यायेन ‘स्वर्गो ध्वस्तो’ ‘लोहितोष्णीषा’ इत्यादिवद्विशेषणीभूतेऽपि रथन्तरसामत्वे सङ्क्रमणं नालुपक्षम् । इष्यत एव चोद्देश्यस्थलेऽपि स्वर्गकामपदे विशेषणीभूतेऽपि स्वर्गे भाव्यतासङ्क्रमणम् ।

अस्तु वा एतादृशविषये तद्भेदेव समस्तपदे रथन्तरविशेष्यत्व-लक्षणा, तथापि उपक्रमस्थयदिशब्दत्यागापेक्षयाऽसौ न दोष एव । अतः रथन्तरमेव निमित्तम् । अन्यपदार्थविशेषणता तु प्रकरणलभ्यत्वाद्नुवादः । तत्प्रयोजनं च “वैरूपसामे” त्यादौ बहुव्रीह्युक्तत्वाद्दृश्येन पृष्ठस्तोत्रमात्रसाधनत्वलाभः, न तु सर्वस्तोत्रसाधनत्वम् । (१) कौत्सादिद्वया पवमानमात्रसाधनत्वम् । रथन्तरमात्रनिमित्तत्वेऽपि च यदिशब्दोपात्तस्य निमित्तत्वस्य कादाचित्कत्वव्याप्यत्वात् कादाचित्कत्वस्य च बृहद्रथन्तरयोरन्योन्यविरोधप्रयुक्तत्वात् बृहद्विरोधिनो रथन्तरस्य, रथन्तरविरोधिनो वा बृहत्तः निमित्तता । अत एवान्योन्यविरोधित्वस्य निमित्तत्वभावलभ्यत्वात् न तद्विवक्षाकृतो वाक्यभेदोऽपि ।

विरोधिता च क्वचित् वैकल्पिकत्वात्, क्वचित् बाध-

१. कौत्सं भवति” (ता. ब्रा. १४-११-२५.) काण्वं भवति” वासिष्ठस्य जनित्रं भवतः, (ता. ब्रा. १४-११-२२.) कौञ्चानि भवन्ति (ता. ब्रा. १९-३-८.) इति विहितानां कौत्सादीनां साम्नां स्वसमसंख्याकप्राकृतसामबाधकत्वम् । तच्च पवमानस्तोत्र एवेत्युक्तं दशमे तद्वदित्यर्थः ।

कत्वात् । अतएवोभयत्रैव रथन्तरस्य निमित्तता । यथा प्रकृतौ वैकल्पिकत्वात् विकृतावपि च यत्र नैकतरनियमः । यत्र तु तन्नियमः तत्र बाधकत्वात् विरोधिता । यत्र तु द्विविधविरोधिताभावः तत्र सत्यपि रथन्तरादौ न तस्य निमित्तत्वम् । अत एव(१) संसन्नादौ बृहद्रथन्तरयोः समुच्चयेन सत्त्वे ऽपि विरोधित्वाभावात् न निमित्तता । यत्र वा विश्वजिदादौ 'पवमाने रथन्तरं, आर्भवे बृहदि' त्यादिवचनात् स्तोत्रान्तरेऽपूर्वविधानेन प्रापकप्रमाणाभावादेवेतरबाधकतानुपपत्तेः न विरोधिता तत्रापि न निमित्तत्वम् । तस्मात् बृहद्विरोधिरथन्तरसामत्वे रथन्तरविरोधिबृहत्सामत्वे वा निमित्ते ऐन्द्रवायवाग्रत्वशुक्राग्रत्वयोः प्रकृतापूर्वसाधनीभूतग्रहोद्देशेन विधानमिति सिद्धम् । निमित्तफलयोश्च विजातीयोद्देश्यताकत्वात्(२)यावज्जीवादिवाक्यवत् उद्देश्यानेकत्वनिमित्तोऽपि न वाक्यभेदः । अतश्चैतद्वाक्यद्वयस्यापि निमित्तार्थत्वेनापि नैमित्तिकविधायकत्वोपपत्तेः भेदकप्रमाणाभावात् विशिष्टविधिगौरवापादककर्मान्तरविधायकत्वमन्यायमेव ।

नच बृहत्सामत्वे निमित्ते अप्राप्तशुक्राग्रताविधानोपपत्तावपि रथन्तरसामकत्वे(३) धाराग्रहेभ्यः पूर्वमैन्द्रवायवाग्रतायाः पाठादेव

१. संसन्वगोसवाद्यः सोमयागविशेषः ।

२. "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती" त्यादौ नित्यकर्मस्थले पापक्षयस्याप्युद्देश्यत्वाङ्गीकारावश्यम्भावेन तत्र निमित्तपापक्षययोरुभयोरप्युद्देश्यत्वेऽपि निमित्तस्यानीप्सितत्वेन पापक्षयस्य चेप्सितत्वेन ईप्सितानीप्सितरूपानेकोद्देश्यकत्वेऽपि यथा न वाक्यभेदः तद्वदित्यर्थः ।

३. "अण्वया धारया गृह्णाती" ति विधिना धारया गृहीतव्यतया विहिताः ग्रहाः धाराग्रहाः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १३

प्राप्तत्वात्, अधाराग्रहेभ्यः पूर्वमैन्द्रवायवाग्रताविधेश्च(१) दशमे निषेत्स्यमानत्वात् तद्वाक्ये विधेयाभावेन कर्मान्तरविधायकत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । पाठेन सम्भवत्प्राप्तिकाया अपि ऐन्द्रवायवाग्रताया निमित्तसम्बन्धेन विधानोपपत्तेः । तत्प्रयोजनं च पाठस्य क्रमनियामकताप्रातिबन्धः । निमित्तं हि स्वसत्त्वे नैमित्तिकावश्यकर्तव्यतां बोधयति । सा च यदि प्रमाणान्तरेण प्राप्ता भवेत् तदा स्वाभावे नैमित्तिकाभावं बोधयतीति युक्तः क्रमनियामकताप्रातिबन्धः । तत्फलमपि च पृष्ठस्तोत्रट्टात्तैरूपसामवति क्रतौ रथन्तराभावात् क्रमनियमः । प्रकृतावपि यथाशक्त्युपबन्धेन रथन्तरादिराहित्ये सः । तत्सिद्धं वाक्यद्वयेऽपि निमित्तार्थं श्रवणमिति ।

आग्रयणाग्रतावाक्यमपि प्रकृतौ विकृतौ वा जगत्संज्ञकसामाभावात् यत्र(२) विधुवति जगत्पामृचि उत्पन्नं महादिवाकीर्त्तं साम तत्र वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा आग्रयणाग्रताविधानपरमिति दशमे वक्ष्यमाणत्वात् न कर्मान्तरविधानपरम् । येन तत्साहचर्यादनयोरपि कर्मान्तरविधानमाशङ्क्येत । अत एव तत्रत्यो यदिशब्दोऽपि जगत्साम्नः पाक्षिकत्वाभावेन निमित्तपरत्वासंभवात् यत्रैतर्थसन्तुत्कर्षपर एव—यत्र जगत्साम तत्राग्रयणाग्रानिति । बहुव्रीहन्ते च विधुवल्लक्षकमिति न विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः ।

अथ वा अन्यपदार्थस्य अवच्छेदकान्तराभावात् जगत्सामत्वमेव ग्रहत्ववदुद्देश्यतावच्छेदकत्वेन विवक्षितम् । पूर्ववाक्ययोस्तु प्रकृतपरामर्शिसामपदेन ज्योतिष्टोमस्यैवान्यपदार्थावच्छेदकत्वप्रतीतेः रथन्तरसामत्वस्यापि निमित्तविशेषणत्वे युक्तो वाक्यभेदः ।

१. १०-५-१७. उपांश्वन्तर्यामौ अधाराग्रहौ ।

२. गवामयने एकषष्ट्यधिकशतत्रयसुत्यात्मके(३६१)यो मध्यमो दिवसः स विधुवान् ।

वस्तुतस्तु ईदृशस्थले “अश्वाभिधानी” मितिबत विशिष्टस्य व्युत्पन्नत्वाद्वाक्यभेदाभावेऽपि विशेष्यस्य निमित्तान्तर्गत्याशङ्का-प्रयोजनाभावादेव निराकर्तव्या । तस्मात् रथन्तरादिनिमित्तकग्रहाग्रताविशेष एव ज्योतिष्टोमाङ्गत्वेन विधीयत इति सिद्धम् ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे कर्मान्तरस्य सोमयागाङ्गस्य समप्रधानस्य वा रथन्तरमात्रसामकस्य पूर्वयागेन सह ग्रहाग्रतायां विशेषाभावेन तन्त्रानुष्ठानेऽपि रथन्तरमात्रसामकत्वात् स्तोत्राण्यावर्तनीयानि । बृहत्सामकस्य तु ग्रहाग्रतायामपि विशेषसत्त्वेन सुन्यान्तरस्यैवानुष्ठानम् । सिद्धान्ते नेति स्पष्टम् ।

सूत्रं तु एकस्यैव ज्योतिष्टोमस्य रथन्तरादितत्तदङ्गरूपलिङ्गभेदेन ग्रहाग्रताविधिप्रयोजनार्थमुच्चारणं क्रियते । यतः पूर्व-कर्मानवेशगुणवाक्यत्वादृतयोः कर्मान्तरविधायित्वानुपपत्तेः एक-त्वं ज्योतिष्टोमाभेद् एवात्र प्रतीयत इति व्याख्येयम् ॥

इति प्रथमं रथन्तराधिकरणम् ॥

अथ द्वितीयमवेष्टयाधिकरणम् (२)

सू-अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् ऋतुप्रधानमुच्येत ॥२-३-३॥(सि)

(विषयसंशयौ)

राजसूये(१)अत्रोष्टनामकानि पञ्च कर्माणि समाह्वयता-
नि(२)आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा, ऐन्द्रमेका-

१. द्विकसम्बन्धिनामुन्मादायतृणामवजननहेतुत्वान् अवेष्टि-
रिति कर्मनामधेयम् । २. तै. सं. १-८-१९.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १५

दशकपालमृषभो दक्षिणा, वैश्वदेवं चरुं पिशाङ्गी पष्ठौही दक्षिणा, मैत्रावरुणीमामक्षां वशा दक्षिणा, बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा” इत्येवैवाक्यैः । अत्र गुणवाक्ये एकावेष्टिसंज्ञासंयोगेऽपि साकमेध-वदुत्पत्तिवाक्ये प्रत्येकदक्षिणांनानादक्षिणायाश्च कर्त्रान्तर्य-त्वात् तेन कर्तृत्वभेदप्रतीतिः तद्धेदेन च प्रयोगभेदावगतेः एकैकं कर्म अन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्ताङ्गाविशिष्टं भेदेनानुष्ठेयमित्ये-कादशे वक्ष्यमाणत्वात् अत्रिवादम् । तद्वान्तरप्रकरणे च “यदि ब्राह्मणो यजेत, बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वा तम-भिघारयेत्, यदि राजन्यः ऐन्द्रं, यदि वैश्यो वैश्वदेव” मित्येवं समाप्नातम् । तत्रापि किं पूर्ववदेव ब्राह्मणादिग्रहणं निमित्तार्थ-मुत विधानार्थमिति संशयः ।

(सङ्गतिः)

ब्राह्मणत्वादेः गुणस्यानिश्चितविधेयताकत्वात् कृतिसा-ध्यत्वाभावाच्च तत्प्रयोज्यभेदनिरूपणेन पादाध्यायसङ्गतिः स्प-ष्टा । गुणादीनां विध्यापादनद्वारा भेदकत्वात् कर्त्रादीनां च गुणानां भावनोत्पत्तावनन्वयित्वेन तद्विध्यापादनद्वारा तद्धेदक-त्वाभावेऽपि प्रयोगान्वयित्वात् तद्विध्यापादनद्वारा भावनाप्रयो-गभेदकत्वनिरूपणाद्ध्यायसङ्गतिः । अनन्तरा त्वापवादिकी ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पूर्ववदेव यदिशब्दसंयोगात् विशिष्टविधिगौरवाभावा-च्च ब्राह्मणत्वादि कर्तृतामम्बन्धेन निमित्तम् । न च क्षत्रियमात्र-कर्तृकराजमूयान्तर्गतावेष्टौ ब्राह्मणवैश्ययोः तेन संबन्धेन प्रा-प्त्यभावात्, क्षत्रियस्य च नित्यप्राप्तत्वेन निमित्तत्वानुपपत्तेः क-थं पूर्वाधिकरणन्यायविषयत्वमिति वाच्यम् । राजमूयाधिकारस्वा-क्यस्थराजपदस्य क्षत्रियमात्रवाचित्वाभावेन अस्य तन्मात्रकर्तृक-

त्वासिद्धेः । तथा हि—

आर्यावर्तनार्यावर्तसाम्प्रदायिकेन अविगीतसार्वलौकिकप्रसिद्ध्या राजशब्दो मनुष्यमात्रवृत्त्यन्याप्रेरितप्रजापालनकर्तृत्वे शक्तः चोरादिशब्दा इव परस्वापहरणकर्तृत्वे । अत्र राज(१)पुरुषे राजशब्दप्रयोगाभावात् अन्याप्रेरितेति विशेषणम् ।

न चैवं सखण्डोपाधेः शक्यतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवापत्तेः द्रविडानामपालयितृर्थापि क्षत्रिये राजशब्दप्रयोगात् जातिवाचित्वमेव लाघवाद्युक्तमिति वाच्यम् । द्रविडानां प्रसन्तदेशनिवासित्वेन म्लेच्छदेशस्थत्वात् तत्प्रसिद्धेरार्यावर्तसकलजनप्रसिद्धिर्ना दौर्बल्येन पीलुशब्द इव राजशब्दे शक्तिग्राहकत्वानुपपत्तेः । न हि शक्तिग्राहकप्रमाणगते प्राबल्य एव निर्णायके सति लाघवस्य शक्तिनिर्णायकत्वं शक्यते वक्तुम्, लाघवस्य प्रमाणानुग्राहकत्वेन सन्देह एव निर्णायकत्वात् । अन्यथा आश्रवालशब्दस्य क्लृप्तावयवशक्त्यैव विशिष्टार्थबोधकत्वोपपत्तौ प्राबल्यस्यापि शक्तिग्राहकत्वानुपपत्तेः । अत्र एव न बर्हिर्राज्यादिशब्दतुल्यत्वम् । तत्र जातिं विहाय क्वचिदप्यप्रयोगेण लाघवस्य नियामकत्वोपपत्तेः । प्रकृते तु जातिव्यभिचारेण प्रबलप्रमाणप्रमितेनोपाधिव्यभिचारस्य दुर्बलप्रमाणप्रमितस्य बाधात् न तस्य जाति(२)वाचकनिर्णायकत्वोपपत्तिः ।

ननु—स्वरूपेण दुर्बलस्यापि व्याकरणादसमृत्त्युपपृष्ठत्वेन प्राबल्योपपत्तिः; तथाहि—तस्य कर्मव्यर्थे राजशब्दात् ब्राह्मणादिगणपठितात् (३)ष्यङ्प्रत्ययं पुरोहितादिगणपठिताद्वा यक्प्रत्ययं (४)“पत्यन्नपुरोहितादिभ्यो यक्” इति सूत्रेण स्मरन्निपा-

१. राजमनुष्ये २. वाचित्व

३. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (पा. सू. ५-१-१२४) इति सूत्रविहितमित्यर्थः । ४. पा. सू. ५-१-१२८

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १७

णिन्यादयः । ततश्च राज्ञः कर्म राज्यमित्येवं प्रजापालने राज-
कर्मणि राज्यशब्दव्युत्पत्तेः राजशब्दस्य च ब्राह्मणादिशब्दवत्
प्रजापालनकारिवाचित्वाव्युत्पत्तेः सिद्धवन्निर्देशेन जातिवाचिता-
वसीयते । तथा राजन्यशब्दस्य क्षत्रियमात्रवचनत्वेन निस्सन्दि-
ग्धस्य “(१)राजश्वशुराद्यत्” इति सूत्रेण तस्यापत्यमित्यास्मि-
न्नर्थे यत्प्रत्ययविधानेन राजशब्दप्रकृतिकत्वान्वाख्यानादपि क्ष-
त्रियापत्यं क्षत्रिय इतिवत् राजशब्दस्यापि जातिवाचित्वमव-
सीयते ।

तथा मन्वादयोऽपि क्षत्रियस्यैव प्रजापालनं परमो धर्मः,
(२)“राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्ज” मित्याद्युपदिशन्तः राजपुरस्का-
रेण प्रजापालनविधानात् राजशब्दस्य पूर्वप्रसिद्धयपेक्षायामक्षत्रि-
यमात्रपुरस्कारेण तद्विधानाद्राजशब्दस्य क्षत्रियमात्रवाचिताम-
नुमन्यन्ते । अतः स्मृत्युपप्लव्यस्य दुर्बलस्यापि प्रमाणस्य शक्ति-
ग्राहकत्वोपपत्तिरिति चेत्—

न ; प्रबलस्यापि प्रमाणस्य (३)“न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्(४)न
राजन्यप्रसूतितः (५)“न शूद्रराज्ये निवसेदि” त्यादिस्मृत्युपप्ल-
व्यत्वाविशेषेण शक्तिग्राहकत्वोपपत्तेः ।

किञ्च न व्याकरणादिस्मृतिः शक्तिग्रहे प्रमाणम्, साधुत्वा-
दिकथनमात्रपरत्वात् । अथापि प्रमाणं स्यात् तथापि न तथा
पालनकारिवाचित्वं व्यावर्तितम् । तत्सत्त्वेऽपि राज्यशब्दस्य

१. पा. सू. ४-१-१३७ २. गौ. ध. ११-१. ३. म. स्मृ. ४-८४.

४. अराजन्यप्रसूतितः इतीदानीं मुद्रितेषु मनुस्मृतिपुस्तकेषूपल-
भ्यते पाठा न्यायसुधायां प्रभावल्यां च । परन्तु कौस्तुभे सर्वत्राप्या-
दर्शपुस्तकेषु “न राजन्यप्रसूतितः” इत्येवोपलभ्यत इति स एव
निवेशितः । ५. म. स्मृ. ४-६१.

तत्कर्मवाचित्वोपपत्तेः । नचैतावता राजशब्दव्युत्पत्तिग्रहसापेक्ष-
त्वम् । राजशब्दव्युत्पत्तिग्रहस्य तदभावेऽपि पालनत्वेन बुद्धस्यैव
तस्य कर्तृतावच्छेदकत्वोपपत्तेः । राज्यशब्द एव परमवयवार्थप्रत्य-
भिज्ञानात् चौर्यशब्दवत् पालनत्वावाच्छन्नपालनकारिकर्मणि यौ-
गिको रूढो वा, नस्वेतावतेतरेतराश्रयत्वम् । राजन्यशब्दान्वा-
ख्याने तु कात्यायनेनैव राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणमिति परिसंख्या-
नात् राजन्यशब्दस्य सामान्यतः पालनकार्यपत्यवाचित्वेन प्र-
सक्तस्य पङ्कजादिशब्दवत् क्षत्रियत्वसमानाधिकरणस्यैव तस्य
वाच्यत्वनियमकरणेन शुद्धराजपदस्य पालनकारिवाचित्वाभ्यनु-
ज्ञानात् विपरीतसाधनत्वम् ।

न च जातिपदस्य मनुष्यत्वादिजातिमात्रेणाप्युपपत्तेः क्षत्रि-
यत्वग्रहण एव प्रमाणाभावः । त्रिधानसामर्थ्यदेव गनुष्यत्वप्राप्तेः
मनुष्यत्वग्रहणामम्भवेन राजन्यशब्दस्य क्षत्रियमात्रप्रयोगेण च
क्षत्रियत्वग्रहणोपपत्तेः । मन्वादिस्मृतेस्तु क्षत्रियमात्रोद्देशेन पालना-
वश्यकताविधायकत्वेऽपि रागादिना ब्राह्मणादावपि पालयितृत्व-
सम्भवात् नोपष्टम्भकता । न हि विहितपालनकारित्वं राजपद-
ज्ञाक्यतावच्छेदकं, गौरवापत्तेः; प्रमाणाभावाच्च ।

किञ्च आर्यावर्तप्रयोग एव परं “यदि ब्राह्मणो यजेते” त्या-
दिवाक्यत्रयस्थयादिशब्देन निमित्तत्ववाचिना पाक्षिकप्राप्तिमपेक्ष-
माणेन क्षत्रियमात्रवचनत्वे तदनुपपत्तेः राजशब्दस्य पालयितृवा-
चित्त्वमाक्षिपता उपष्टब्धः । अतो राजशब्दस्य क्षत्रियमात्रवच-
नत्वाभावात् अपालयितृव्यावृत्तिमात्रफलकस्य पालयित्रधिकार-
मात्रपरत्वावगतेः आहिताग्नित्वादिरूपाधिकारिविशेषणेन शुद्धा-
दिव्यावृत्तावपि ब्राह्मणादिव्यावृत्तौ प्रमाणाभावात् राजसूयस्य
पालयितृवैवर्णिकाधिकारिकत्वावगतेः तदन्तर्गतायामपि अवेष्टौ

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १९

ब्राह्मणादेः प्राप्तत्वात् निमित्तत्वोपपत्तिः । तन्नैमित्तिकश्च बार्हस्प-
त्यादिमध्यनिधानपूर्वकप्रत्याहुत्यभिघारणविशिष्टः प्रयोगः, न त्व-
भिघारणमात्रं, मध्यनिधानविशिष्टाभिघारणस्य पञ्चहविष्कैकेष्टि-
प्रयोगं विना(१)नुपपद्यमानस्य एकैकहविष्कैकेष्टिप्रयोगेष्वनिवेशात् ।

अत एवाभिघारणस्य कर्मोत्पत्त्यन्वयिनोऽपि न कर्मान्तराक्षे-
पकत्वम् । तथात्वे तस्य कर्मान्तरस्य दर्शपूर्णमासप्रकृतिकत्वापत्या
प्रकृतहविर्मध्यनिधानरूपविशेषणानुपपत्तेः । अतो मध्यनिधान-
रूपविशेषणसामर्थ्यात् अभिघारणस्याप्यत्रेष्टिप्रयोगान्तराक्षेपक-
त्वमेव ।

नचैवं पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरुभयोरपि प्रयोगान्तरत्वे भेदाभेद-
चिन्ताभावाल्लक्षणासङ्गतिः । ब्राह्मणादिरूपगुणस्य वाक्यभेदापा-
दनविधया भेदकत्वविचारेण सङ्गत्युपपत्तेः । तत्प्रयोजनञ्च राज-
सूयात् बहिरपि ब्राह्मणादिकर्तृकात्रेष्टिमात्रप्रयोगसिद्धिः । ब्राह्म-
णादिश्रवणस्य निमित्तार्थत्वे हि राजसूयान्तर्गतोऽपि नैमित्तिकः
पञ्चहविष्कैकेष्टिप्रयोगस्स्यात्, प्रापकत्वपक्षे तु बहिरेवेत्यस्ति प्र-
योजनम् । अत एव पञ्चेष्टिप्रयोगा अपि (२)बार्हद्गिरादिवदनु-
लोमादिविषयत्वेन व्यवस्थापनीयाः ।

अत एव राजसूयान्तर्गतप्रयोगाणां राजसूयाधिकारविधिना
स्वाराज्यफलकत्वावगमेऽपि “एतयान्नाद्यकामं याजये” दित्य-
धिकारान्तरविधिना नित्यनैमित्तिकानां अत्रेष्टिमात्रप्रयोगाणां अ-

१ अनुपपत्तेः तस्य ।

२ “बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य,
रायोवाजीयं वैश्यस्य” इति द्वादशाहे श्रु .ानां बार्हद्गिरादीनां सत्रा-
त्मके द्वादशाहे ब्राह्मणेतरस्य प्राण्यभावात् यथा अहीनविषय-
तया व्यवस्था क्रियते, तद्वत् प्रत्येकप्रयोगाः पञ्चानुलोमविषयतया
व्यवस्थापनीया इत्यर्थः ।

न्नाद्यरूपफलसम्बन्धस्याप्यवगमात् युगपत्प्रयोगे च योगसिध्यधिकरणन्यायेन अनेकफलजननायोगात् राजसूयाद्बहिरपि तत्तत्प्रयोगाणामन्नाद्यार्थमनुष्ठानं वेदितव्यम् । न त्वेतावता अन्नाद्यवाक्येऽपि प्रयोगान्तरविधिः । तस्य लाघवेन फलसम्बन्धमात्रपरत्वोपपत्तौ प्रयोगान्तरविधायित्वे प्रमाणाभावात् । अत एव तस्यैव प्रयोगस्य बहिर्व्यक्तिभेदमात्रं, न तु वैजात्यम् । तस्मात् ब्राह्मणत्वादिनिमित्ते स्वाराज्यार्थं अन्नाद्यार्थं वा मध्येनिधानपूर्वकार्थिभ्योऽपि विशिष्टावेष्टिप्रयोग एव तत्तद्वाक्यं विधीयत इति सिद्धं ब्राह्मणश्रवणस्य निमित्तार्थत्वात् अभेदकत्वमिति प्राप्ते—

(अथ सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नैतानि निमित्तार्थानि, अप्राप्तत्वात् ब्राह्मणादीनां राजसूये । तथा हि—न राजशब्दः प्रजापालनक्रियाकर्तृत्वाच्ची द्रविडानामपालयत्यपि क्षत्रिये राजशब्दप्रयोगेण पालनस्य बहिराज्यशब्देषु संस्कारस्यैव व्यभिचारात् । न चार्थावर्तसकलजनानां पालयितरि ब्राह्मणादावपि प्रयोगेण बलीयसा जातेरपि व्यभिचारावगमात् पालनकारिवाचित्वनिश्चयः । बलीयसोऽपि बलवत्प्रमाणानुगृहीतेन द्रविडप्रयोगेण बाधात् । तथा हि—

अस्तु तावत् स्मृतेरनुग्राहकत्वम्, श्रुतिरेव सकलप्रमाणमूर्धन्यानुग्राहिका समस्ति । अभिषेको हि पालनाधिकारसंपत्तये क्षत्रियपुरस्कारेण समाप्नातः । तद्विधौ च 'राजानमभिषेचयेत्' इत्यत्र राजोद्देशेनाभिषेको विधीयते । उद्देश्यस्य च पूर्वप्रसिद्धिसापेक्षत्वात् न पालनकर्तृत्वाचित्त्वे सा सम्भवति । न ह्यभिषेकात् पूर्वं पालयितृत्वमस्ति । अभिषेकस्य पालनाधिकारसम्पादकत्वेनैव विधेयत्वात् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । २१

न चाभिषेकात् पूर्वं पालयितृत्वासम्भवेऽपि तद्योग्यत्वमा-
दायैव राजशब्दप्रसिध्युपपत्तिः । तत् किं योग्यत्वमात्रे तत्रस्य-
राजशब्दस्य लक्षणा ? शक्तिर्वा ? नाद्यः ; मनुष्यमात्रस्य प्रजा-
पालनयोग्यत्वेन पालनयोग्यत्वस्य पालनाधिकारसम्पादका-
भिषेकविधिसामर्थ्यलभ्यत्वेन च राजपदवैयर्थ्यार्पितेः ।

अत एव न द्वितीयोऽपि । राजसूयाधिकारवाक्यस्थराजपद-
स्यापि व्यावर्त्याभावेनास्मिन् पक्षे वैयर्थ्यार्पितेः ।

न च क्रौर्यशौर्यातिशयवत्त्वस्य पालनयोग्यतावच्छेदकत्वाङ्गी-
कारात् तद्रहितव्यावृत्त्यापि राजपदसार्थक्योपपत्तिरिति वाच्यम् ।
क्रौर्यशौर्यातिशयवाते पालनयोग्ये ब्राह्मणादौ राजपदप्रयो-
गाभावेन तादृशयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्ने राजपदशक्त्यङ्गीकारे
शक्तिग्राहकप्रमाणाभावात् । अतो योग्यतामादाय पालनमादाय
वा राजपदस्याभिषेकविधिस्थस्य पूर्वप्रसिध्यनुपपत्तेः द्रविडप्र-
योगोन्नीतं क्षत्रियवाचित्वमेवाभिषेकविधिरनुमन्यते ।

एतेन पूर्वप्रसिध्यभावेऽपि “यूपं छिनत्ती” तिवत् अभिषे-
कजन्यादृष्टत्वस्यैव राजपदशक्यतावच्छेदकस्य तद्विधिप्रवृत्त्युत्त-
रकालं तद्वच्छेनैव बोधोपपत्तेः न द्रविडप्रयोगोन्नीतक्षत्रियवाचित्व-
सम्भवं इत्यपास्तम् । “व्रीहीनवहन्ती” त्यादिवत् कथञ्चिदपि
पूर्वप्रसिद्धिसम्भवे अभिषेकपरस्य विधेः गुरुभृतशक्यतावच्छेदक-
त्वविषयशक्तिग्राहकत्वकल्पने गौरवापत्तेः । अभिषेकस्य ब्राह्म-
णादावविहितत्वेन कृतेऽपि अभिषेके तज्जन्यादृष्टवत्त्वे प्रमाणाभा-
वात् । ब्राह्मणादेः राजसूयाधिकाराभावप्रसङ्गेन भवादृष्टिसिध्य-
भावाच्च । अत एव न “राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षते” इत्यादि-
लिङ्गान्यपि अभिषेकजन्यादृष्टवत्त्वे राजपदस्य शक्तिरित्येवंपराणि ।
शक्यतावच्छेदके गौरवात् । अपि तु निरूढलक्षणापराणि । तत्प्र-

योजनञ्च राजसूये प्रजापालनादिविधौ अभिषिक्तक्षत्रियपरत्व-
सिद्धिः ।

अत एव अभिषिक्तक्षत्रियलक्षकराजप्रातिपदिकघाटिराजन्य-
पदस्यापि तल्लक्षकत्वप्रसक्तौ परिसंख्यानार्थं 'राज्ञोपत्ये जातिग्रह-
ण'मिति वार्तिकम् । तेन राजन्यपदस्य नाभिषिक्ते निरूढलक्षणे-
त्यपि सिध्यति । अतः श्रुत्युपप्लब्धद्रविडप्रयोगेणैव लाघवतर्कसह-
कृतेन क्षत्रियवाचित्वसिद्धिः ।

आर्यावर्तप्रयोगस्तु राजकार्यपालनकारित्वात् गौणः । एवञ्च
व्याकरणादिरपि न चौर्यादिशब्दवत् पालनकारिकर्मणि राज्य-
शब्दः साधुरित्येवंपरत्वेन व्याख्येयः, अपि तु क्षत्रियकर्मणीत्येवं-
परत्वेनैवेति द्रष्टव्यम् । यदिशब्दस्तु निपातत्वात् पूर्वाधिकरणो-
क्तरीत्या लिङः हेतुमद्भावादिपरत्वतात्पर्यग्राहकतयापि व्याख्या-
यमानो न दुष्यति इति ब्राह्मणादीनां राजसूये प्राप्त्यभावात् नि-
मित्तार्थत्वानुपपत्तेः युक्तैव विधेयब्राह्मणादिरूपगुणवशात् प्रयोग-
भेदसिद्धिः । यथैव हि मध्येनिधानविशिष्टाभिधारणस्य पूर्वप्रयोगेषु
पूर्वपक्षयुक्तराज्याऽनिविशमानत्वात् प्रयोगभेदकत्वं, तथैव ब्राह्मण-
त्वादेः निर्जातक्षत्रियमात्रकर्तृकाविष्टप्रयोगेष्वनिवेशात् वाक्यभेदा-
पादकत्वाच्च प्रयोगभेदकत्वं युक्तमेव । अतो ब्राह्मणादिसकलविशेष-
णविशिष्ट एकप्रयोगो विधीयते ।

वार्तिककारीयकर्मन्तरविधिपक्षस्तु वाजिनादिवदुत्पत्यन्वयि-
गुणाभावात् प्रौढिवाद्मात्रम् । योऽप्यभिधारलक्षणो गुणः सोऽपि
मध्येनिधानरूपविशेषणसामर्थ्यात् प्रयोगाक्षेपक एव । कर्मन्तर-
विधित्वे हि तस्य दर्शपूर्णमासविकारत्वापत्तेः कथञ्चिद्वा प्रकृतहवि-
र्विकारत्वेऽपि एकविकारत्वापत्तेः अन्यहविःप्राप्त्यभावेन मध्ये
निधानानुपपत्तिः । अतः प्रयोगान्तरमेव विधीयते । तस्य च धर्मि-

ग्राहकप्रमाणेनैव राजसूयबहिर्भावासिद्धिः ।

अत एव ब्राह्मणादिश्रवणानवच्छिन्ना अवेष्टिप्रयोगा एव राजसूयमहाप्रयोगान्तर्गता इति वेदितव्यम् । अत एव च बहिरनु-
ष्टीयमानपञ्चहविष्कैकोष्ठप्रयोगस्य फलापेक्षार्या अपेक्षितविधान-
न्यायेन “एतया अन्नाद्यकामं याजये” दित्यनेन फलसम्बन्धः
क्रियते इत्येकैकहविःप्रयोगेभ्यो नान्नाद्योत्पत्तिः, अपि तु राज-
सूयमहाप्रयोगान्तर्गतेभ्यः तेभ्यः स्वाराज्योत्पत्तिरेव । अत एव
प्रकृतपरामर्शेतच्छब्दनिर्दिष्टावेष्टिमात्रपुरस्कारेणान्नाद्याम्नानात्
निरवकाशाद्वाद्यावरुद्धावेष्टिर्निराकाङ्क्षत्वात् न तद्व्यतिरिक्तविष-
येऽपि सावकाशं स्वाराज्यं गृह्णातीत्यपास्तम् । अन्नाद्यस्यापि ब्रा-
ह्मणादिकर्तृकप्रयोगे सावकाशत्वात् । अतश्च राजसूयप्रकरण-
पाठसार्थक्यार्थं एकैकहविष्कैष्ठिप्रयोगाः स्वाराज्यफलका एव ।
न च विनिगमनाविरहः, ब्राह्मणादिसम्बन्धस्यैव स्वाराज्यप्रयोगे
असम्बन्ध्यमानस्य नियामकत्वात् ।

किञ्च यद्यप्यत्र प्रयोगभेदो न स्यात् तथापि निरवकाशे-
नापि फलेनावरुद्धा अवेष्टिः सावकाशेनापि फलेन गृह्यत एव ।
न च वाजिनो(१)पांशुत्वादिन्यायः । तत्र हि वाजिनोपांशुत्वादेः
गुणभूतत्वादाभिक्षायागदीक्षणीयादावुत्पत्तिशिष्टनिरवकाशगुणाव-
रुद्धे आकाङ्क्षोत्थापनासम्भवात् युक्तो बाधः, प्रकृते तु सावका-
शस्यापि प्रधानत्वात् फलस्याकाङ्क्षोत्थापकत्वोपपत्तेः न बाधो
युक्तः । अत एव उत्पत्तिशिष्टनिरवकाशपशुरूपफलावरुद्धस्यापि

१ उपांशुत्वन्याय इति । “तस्मात् यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमी-
यात् तेनोपांशु चरन्ति” इति वाक्यविहितस्योपांशुस्वरस्य यज्ञभा-
गसम्बन्धिनः यथा “यावत्या वाचा कामयते तावत्या दीक्षणीयाया-
मनुब्रूयात्” इति दीक्षणीयामात्रोद्देशेन विशेषविहितेन कामस्वरेण
बाधः तथैवात्रापि बाधो भवत्वित्यर्थः ।

उद्भिदादेः(१)विविदिषाफलेन आकाङ्क्षोत्थापनम् ।

नचैवं श्रुत्या गार्हपत्याङ्गत्वेन प्रमितस्यापि मन्त्रस्य आकाङ्क्षात्थोपनेन लिङ्गादिन्द्राङ्गत्वापत्तिः, लिङ्गोन्नीतश्रुतेः कल्प्यत्वेन तत्र स्वारासिकाकाङ्क्षाया एव कारणत्वात् । अस्तु वा निरवकाशेनापि शेषिणा सात्रकाशस्यापि शेषिणो बाधः, तथापि पूर्वोक्तविधया अन्नाद्यस्यापि सात्रकाशत्वात् स्वाराज्यतुल्यत्वम् । अत एव(२)“ईश्वरो वा एष दिशोनून्मदितोः । यं दिशोऽनुव्यास्थापयन्ति । दिशामवेष्टयो भवन्ति ।” इति राजसूयान्तर्गततया विहितदिग्बन्धस्थापननिमित्तोन्मादपरिहारसाधनत्वेन अवेष्टीनां स्तुतिरपि राजसूयप्रयोगान्तःपातादुपपद्यते ।

एतेन एकैकहविष्केष्टिपञ्चकस्य राजसूयप्रयोगान्तःपातेऽपि द्विविधस्यापि प्रयोगस्य अन्नाद्यफलकत्वमेव, एतच्छब्देन परामर्शविशेषात् इत्यप्यपास्तम् । सन्निधानविशेषेऽपि आकाङ्क्षितसम्बन्धस्य न्याय्यत्वेन ब्राह्मणादिकर्तृकप्रयोगस्थैवान्नाद्यफलकत्वौचित्वात् । तेन सिद्धं राजसूयात् बहिरनुष्ठेयानि प्रयोगान्तराण्येवान्नाद्यफलकानि विधीयन्ते ब्राह्मणादिवाक्यैरिति ।

न च ब्राह्मणवैश्यवाक्ययोस्तद्विधानेऽपि राजन्यवाक्ये राजन्यस्य राजसूये प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् नित्यप्राप्तत्वेन च निमित्तत्वायोगेऽपि यद्विशब्दस्य ब्राह्मणवैश्यवाक्ययोरिव परित्यागादिना राजन्यस्यानुवादमात्रत्वोपपत्तेः मध्येनिधानस्य पञ्चेष्टिप्रयोगेष्वनिवेशेन प्रयोगान्तरविधायकत्वेऽपि तस्य स्वाराज्यफलार्थं राजसूयप्रयोगान्तःपातेनैव विकल्पेन समुच्चयेन वा करणोपपत्तेः न

१ “विविदिषन्ति यश्चेन दानेन तपसानाशकेन” इति वाक्येन सर्वकर्मणां तत्तत्फले विनियुक्तानामपि विविदिषार्थत्वेनापि विनियोगात् तत्सम्बन्धार्थं आकाङ्क्षोत्थाप्यत इत्यर्थः ।

२ तै. ब्रा. १-८-३१.

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । २५

प्रयोगबहिर्भावोपपत्तिरिति वाच्यम् । राजन्यपदस्य अनुवाद-
मात्रत्वे वैयर्थ्यापत्तेः तस्य चाभिषिक्तानभिषिक्तसाधारणक्षत्रिय-
मात्रवाचित्वेनानभिषिक्तक्षत्रियस्य राजसूये अप्राप्तस्यानुवादायो-
गात् राजन्यपदस्य क्षत्रियविधायित्वावगतेः ब्राह्मणादिवाक्य-
न्यायेनाभिषिक्तानभिषिक्तक्षत्रियसाधारण्येन राजसूयप्रयोगबहिर्भू-
तप्रयोगान्तरविधायित्वस्यैवावसायात् । अतस्सिद्धं ब्राह्मणादि-
गुणस्य भेदकत्वम् ।

नचैतेषु प्रयोगेषु दक्षिणाभावः, औत्पत्तिकदक्षिणया एकै-
कहविष्कप्रयोग एवावरुद्धत्वादिति वाच्यम् । तस्याः प्रयोगा-
क्षेपकत्वेऽपि साङ्गप्रधानाङ्गत्वेनेहापि निरूढपञ्चादौ महावेदिवत्
प्राप्त्युपपत्तेः । अनयैव दिशा पूर्वपक्षेऽपि नैमित्तिकप्रयोगे दक्षि-
णाप्राप्तिरुपपादनीया । प्रयोजनं प्रसङ्गात् पूर्वमेवोक्तम् ।

सूत्रं तु अवेष्टयवान्तरप्रकरणस्थेषु ब्राह्मणादिरूपगुणभ्रवणं
ऋतुप्रधानमवेष्टिप्रयोगभेदनियामकं राजसूययज्ञे क्षत्रियस्यैव
संयोगेन ब्राह्मणादीनामप्राप्तानां विवेयत्वादिति व्याख्येयम् ॥

इति द्वितीयमवेष्टयधिकरणम् ।

अथ तृतीयमाधानाधिकरणम् (३)

सू-आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥ २-३-४. ॥ (सि)

(विषयसंशयौ)

अनारभ्य श्रुतं(१)“वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत” “ग्रीष्मे

१ तै. ब्रा. १-१-२-६.

राजन्यः” “शरदि वैश्यः” इति । तथा “वसन्ते ब्राह्मण-
मुपनयीत” “ग्रीष्मे राजन्यं” “शरदि वैश्य” मित्यादि ।

तत्र पूर्ववदेव ब्राह्मणादिश्रवणानि कालविधौ, ब्राह्मणा-
दिविधौ वा कालश्रवणानि निमित्तार्थानि उत स्वस्ववाक्ये आ-
धानविधिबोधनद्वारा तद्भेदबोधकानीति संशयः ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । अनन्तरा तु पूर्वत्र राजसू-
यस्य क्षत्रियमात्रकर्तृकत्वात् ब्राह्मणादीनां कथमप्यमाप्तेर्युक्ता
विधेयत्वेन भेदकता । प्रकृते तु आधानस्योपनयनस्य वा आक्षे-
पादेव सर्वकालकर्तृकत्वोपपत्तेः प्राप्तानां ब्राह्मणादीनां निमित्त-
त्वोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानात् द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र नित्यकाम्यसाधारण्येन सर्वेषां क्रतूनां अग्निविद्यासा-
पेक्षत्वात् अग्निविद्ययोश्च स्वजनकीभूताधानाध्ययनापेक्षत्वात्
अध्ययनस्य चापनयनसाध्यत्वात् क्रतुविधीनां आधानोपनयना-
क्षेपकत्वमवगम्यते । न चाधानोपनयनयोः परम्परया क्रतुजन-
कत्वेऽपि अङ्गताग्राहकप्रमाणभावेन क्रत्वनङ्गत्वात् क्रतुप्रयोगवि-
धिविषयत्वाभावेन कथं तत्प्रयुक्तत्वमिति वाच्यम् । अनङ्गस्यापि
अभिक्रमणादिवदन्यथानुपपत्तिमात्रेण प्रधानविधिप्रयुक्तत्वोपपत्तेः ।

अथ तत्र प्रयाजविधिरेव प्रयोजक इत्युच्यते ततोऽत्रापि
अग्निरध्ययनं चाङ्गत्वाभावेऽपि जनकत्वादाधानोपनयनयोः प्रयो-
जकमित्यपि शक्यं वक्तुम् । आधानस्य वक्ष्यमाणरीत्या(१)विहि-
तत्वस्यापि सत्त्वेन अग्न्यङ्गत्वोपपत्तेश्च । अतश्च क्रतुविधिप्रयुक्त-

योराधानोपनयनयोः तत्कर्तृकत्वेन निर्ज्ञातत्वात् क्रतूनां च स्वर्गकामत्वाविशेषेण ब्राह्मणादिकर्तृकत्वात् तदाक्षिप्साधानोपनयनयोरपि ब्राह्मणादिकर्तृकत्वप्राप्तेः ब्राह्मणश्रवणस्य निमित्तार्थत्वोपपत्तिः ।

नचात्र यदिशब्दाभावात् निमित्तत्वानुपपत्तिः । यदिशब्दस्यापि प्राप्तियुक्तमात्रत्वेन प्रकृते तदभावेऽपि प्राप्तिमात्रेण निमित्तत्वोपपत्तेः, तन्नैमित्तिकश्च वसन्तादिकालाधिकरणतानियमः । अत एव कालस्य सन्ध्यावन्दनादिवन्निमित्तार्थीनानुष्ठानविषयत्वरूपनैमित्तिकत्वासम्भवेऽपि निमित्तान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यधिकरणताकत्वमेव तदिति द्रष्टव्यम् ।

आधानोपनयनयोश्च वक्ष्यमाणरीत्या वाक्यान्तरादर्थाच्च प्राप्तयोरीप्सितत्वाख्योद्देश्यत्वेऽपि विजातीयानेकोद्देश्यत्वात् न वाक्यभेदः । कालस्य चानुपादेयत्वेनोद्देश्यत्वेऽपि विधेयत्वादपि न सः । अतश्च कर्तृतासम्बन्धेन ब्राह्मणत्वादौ निमित्ते आधानाद्युद्देशेन वसन्तादिकालो विधीयते । तेन ब्राह्मणादेः कालान्तरनिवृत्तिः, ब्राह्मणाद्यतिरिक्तस्य च शूद्रादेरनियतकालकत्वं सिद्धं भवति ।

अथ वा क्रतुविधिभिः सर्वसाधारण्येन आधानोपनयनाक्षेपवत् सर्वकालसाधारण्येनापि स क्रियते । न हि क्रतुविधिभिराक्षेपपक्षेऽपि प्रयाजादेवत् प्रयोगान्तःपाती स इति युज्यते । अग्नीनामन्ते प्रतिपत्तिविधानेन तत्साधनस्याधानस्य (१)पात्रवत्

१ “आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च” इत्यनेन पात्राग्नयोः दाहं प्रति गुणत्वावगमेऽपि “दक्षिणहस्ते जुहुमासादयति, संव्यहस्ते ध्रुवाम्” इत्यादिना द्वितीयानिर्देशात् प्रतिपत्तिसंस्कार्यत्वावगतेः तदर्थं दर्शपूर्णमासारम्भकाले सम्पादितानामेव पात्राणां यावज्जीवं

साधारणत्वापत्त्या प्रयोगात् बहिरेवानियतकाल(१)कर्तव्यत्वप्राप्तेः । उपनयनस्य त्वध्ययनार्थत्वेन सामर्थ्यादेव प्रयोगबहिर्भावः । अतश्चाग्निहोत्रादिप्रयोगपूर्वभावितया अनियतकाले प्रसक्तयो-
राधानोपनयनयोः वसन्तादिकालकत्वे निमित्ते ब्राह्मणादि-
कर्तृकत्वं विधीयते । एवञ्च “यद्वृत्तयोगः प्राथम्यमित्याद्यु-
द्देश्यलक्षणम्” इत्यादिन्यायात् वसन्तादिकालस्य निमित्तता प्रा-
थम्यादुपपन्ना भवति । तत्फलं च वसन्ताद्यतिरिक्तहेमन्तादिका-
लकस्याधानस्योपनयनस्य वा ब्राह्मणाद्यनियतकर्तृकत्वसिद्धिः ।
सर्वथा नोभयविशिष्टाधानोपनयनविधिः, गौरवात्, अन्यतः
सम्भवत्प्राप्तिकत्वाच्च ।

ननु-उपनयनस्य सामर्थ्याद्ध्ययनजनकत्वेऽपि नियमेनानाक्षे-
पाद्विधिविषयत्वोपपत्तिः, आधानस्य तु अदृष्टरूपाहवनीयादिजन-
कत्वं न विधिं विना पक्षेऽप्यवगतमिति कथं न तद्विषयत्वं ? किञ्चा-
धानविध्यभावे आहवनीयादिपदार्थ एवानवगतः, न ह्यसौ लोक-
प्रसिद्धः (१)यूपादित् । आधानजन्यादृष्टविशेषस्तु विधिं विना
असिद्ध एव । ततश्चाहवनीयादिपदार्थस्यैवाप्रसिद्धौ आधानजन्य-
त्वस्य सुतरामप्रसिद्धेः कथं कामश्रुतिभिः तदाक्षेप इति चेत्-

न ; पक्षप्राप्त एवोपनयने गुणसङ्क्रान्तशक्तिना विधिना
नैमित्तिकविधानोपपत्तेः । आधानप्राप्तौ तु यतन्ते—

धारणात् यथा सर्वकर्मसाधारण्यं तेषां, तद्वत् अग्नीनामपि “दक्षिण-
हस्ते आहवनीयम्” इत्यादिना प्रतिपत्तिविधानात् तत्साधनस्या-
प्याधानस्य सर्वकर्मसाधारण्यापत्तेरित्यर्थः । पात्राणां सर्वकर्म-
साधारण्यं च एकादशे ‘यज्ञायुधानि धार्येर’ (११-२-१३.) श्रित्यत्र
निरूपितम् ।

१ कर्तृत्व

२ यूपो यथा न लोकप्रसिद्धस्तद्वदित्यर्थः ।

तत्र पार्थसारथिस्तावत्-(१) “नक्तं गार्हपत्यमादधाति । दिवाहवनीयम्” इत्यादिवाक्येषु आधानानुवादेन नक्तादिरूपगुणविधायकेषु आहवनीयादिजनकत्वेन आधानानुवादात् तत्प्राप्तिः । इष्यते चानुवादतोऽपि पदार्थप्राप्तिः । “न गिरागिरिति ब्रूया” इति निषेधानुवादबलेन इरापदस्य गिरापदकार्यकारित्वप्राप्तेरङ्गीकारात् । अवश्यं च वसन्तादिवाक्येषु आधानविधिनादिनापि तत्राहवनीयादिपदाश्रवणात् तज्जनकत्वमाधानस्याग्निपदस्य वा तत्पर्यायत्वं नक्तादिवाक्येषु अनुवादत एकगन्तव्यम् । अतश्च ममापि तत एव प्राप्त्युपपत्तेः निमित्तार्थं श्रवणमिति ।

तन्न ; अनुवादतो विशेष्यप्राप्त्यङ्गीकारे विशिष्टविधिमात्रोच्छेदापत्तेः । इरापदस्थले तु विकारार्थतद्धितेनानियतानेकपदविकारत्वापत्या अनियतानेकार्थकारित्वप्रसक्तौ अनुवादबलेन नियममात्रम्, नत्पूर्वावगतिरिति वैषम्यम् । सिद्धान्तेऽपि च पदान्तरसामानाधिकरण्यादिवत् अनुवादोऽप्युत्पत्तिवाक्यगताग्निपदस्य आहवनीयादितात्पर्यग्राहकतया न विरुध्यते ।

भवदेवस्तु “आहितोऽग्निराहवनीय” इत्याद्यर्थवादवशात् आहवनीयादेराधानजन्यत्वावगतिरित्याह । तदपि वक्ष्यमाणरीत्या प्रत्यक्षविधिसद्भावे अर्थवादोन्नीतविधिकल्पनस्यान्न्यायत्वाद्दुपेक्षणीयम् ।

अत एव परिहर्तव्यम्-यद्यपि विशिष्टविधिगौरवभिया नान्यो विधिः आधानप्रापकतया सम्भवी । तथापि दुष्टीकोक्तरीत्या “सम्भारेष्वग्निमादधाती” त्ययं अनन्याक्षिप्तशक्तित्वात् आधानविधा-

यकः सम्भवत्येव । नह्यत्र सम्भारविधिः, तेषां (१) वार्क्षपार्थिवानां वाक्यान्तरप्रमितत्वात् । नापि तेषामाधानाधिकरणताविधिः । तस्या अपि सामर्थ्यात् (२) “तस्मिन्नाधीयतामय” मित्यादिमन्त्रवर्णा-
च्च प्राप्तत्वात् ।

एतेनाधिकरणताविशिष्टाधानविधिरिति न्यायसुधाकृदुक्तप्र-
कारोऽपि प्रतिबन्ध्यापत्तेः प्रत्युक्तः । तदा हि नक्तादिवाक्यमादा-
य प्रतिबन्दी स्फुटैव । अतोऽत्राधानमात्रं विधीयते । तस्य च
प्रयोगः प्रयाजदिवत् प्रधानविधिभिरेव । प्रयोगस्यापि ह्यन्यत-
स्सम्भवत्प्राप्तिकस्य विधाने गौरवात्, प्रयोगविधिचिह्नस्य काल-
कर्त्रादेरभावाच्च । अतश्च “व्रीहीन् प्रोक्षती” त्यादिवदुत्पत्तिर्वि-
नियोगश्चानेन क्रियते । अत्रत्याग्निपदं च गुणवाक्यानुसारात्
“आहितोऽग्निराहवनीय” इत्याद्यर्थवादवशाच्चोन्नीताहिग्निपर्याया-
हवनीयादिपरम् । अतोऽनन्यासिद्धविधिशक्तिकसम्भारवाक्येनैवा-
धानस्योत्पन्नस्य विनियुक्तस्य च क्रतुविधिभिः सर्वसाधारण्येन
प्रयोगविधानात् ब्राह्मणादिश्रवणं निमित्तार्थमेव ।

नचैवं सम्भारवाक्ये परस्मैपदनिर्देशात् अनाधातारं प्रति
आहवनीयत्वाभावानवगतेः अन्येनाहितानामपि क्रयणेनान्यस्या-

(१) “सप्त पार्थिवान् सम्भारानाहरति” (आप. श्रौ. ५-१-५.)
इति विहिताः सप्त पार्थिवास्सम्भाराः । ते च सिकतो, वा, खुक-
रीष, चलमीकमृत, सूद, वराहविहत, शर्करा, रूपाः । ऊवाः ऊपर-
मृत । अखुकरीषं मूषिकोद्धृता मृत । सूदः अशोष्यस्य जलाशयस्य
मृत । शर्कराः क्षुद्रपाषाणाः, कङ्कड् इति भाषायाम् । अन्यत् प्रसि-
द्धम् । एवं अश्वत्थो, दुम्बर, पलाश, शमी, विकङ्कता, शनिहतवृक्ष,
पद्मपत्ररूपाः सप्त वार्क्षाः । वार्क्षाः वृक्षसम्बन्धिनः ।

२ यत् पृथिव्या अनामृतं^० सम्बभूव त्वे सच्चा । तमग्निरग्नयेऽ-
ददात् तस्मिन्नाधीयतामयम्” इति समग्रो मन्त्रः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३१

इवनीयसम्भवेन तद्वाट्टत्तिफलकस्याधातुमात्रसम्बन्धित्वरूपात्मने-
पदार्थस्यापि वसन्तादिवाक्ये विधानाद्वाक्यभेदापत्तिः । “उद्गा-
तारः स्तुवत” इत्यादौ अकर्तर्यपि क्रियाफलदर्शनेन कर्तृमात्रवृत्ति-
फलकत्वस्यात्मनेपदार्थत्वाभावात् । अत एव (१) “स्वरितञितः
कर्त्रभिप्राये क्रियाफले” इत्यादिस्मृतिरपि प्रयोगविरोधादुपलक्ष-
णत्वेन द्रष्टव्या ।

अथ वा तर्ह्यस्तु आत्मनेपदयुक्तमेव अनन्याक्षिप्तशक्तिकं
“य एवं विद्वानग्निमाधत्त” इत्याधानोत्पत्तिविनियोगपरं वाक्यम् ।
तेन चाधातृसम्बन्धित्वस्य प्राप्तत्वात् वसन्तादिवाक्ये न वाक्य-
भेद इति । सर्वथा निमित्तार्थता ब्राह्मणादिश्रवणस्येति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नैतदपि निमित्तार्थम्, क्रतुविधिभिरुपनय-
नस्य तावन्नियमेनानाक्षेपात् । ते हि ज्ञानस्य यद्यपि नियमेनाक्षे-
पकाः तथापि तत्साधनस्याध्ययनस्य न नियमेनाक्षेपकाः उपा-
यान्तरेणापि तत्सम्भवात् । अध्ययनमपि चोपनयनस्य न निय-
मेनाक्षेपकम् । अनुपनीतस्यापि तत्सम्भवात् । अतः पक्षे सम्भव-
त्प्राप्तिकस्योपनयनस्य वसन्तादिवाक्ये सम्भवत्येव विधिः ।

न च गुणसङ्क्रान्तशक्तिना विधिना पक्षप्राप्तेवोपनयनं मा-
ध्यतयोद्दिश्य नैमित्तिकगुणविधिसम्भवे विशिष्टविधेरन्याय्यत्वमिति
वाच्यम् । उपनयनविधेरध्ययनविधेश्च नित्यवच्छ्रवणावगतनित्य-
वद्वाक्यैकवाक्यताभङ्गभयेन विशिष्टविधेरप्यङ्गीकारात् ।

किञ्च ब्राह्मणकालयोः कस्य निमित्तत्वं कस्य विधेयतेत्यत्र
विनिगमनाविरहात् उभयविशिष्टोपनयनविधिः । न च प्राथम्यं

नियामकम् । तस्योद्देश्यताबोधकत्ववत् सप्तम्या उपपदविभ-
क्तिवत्प्रसङ्गेन विधेयताबोधकत्वस्यापि सम्भवेनानियामकत्वात् ।
अनेनैव चाधानवाक्येऽपि विशिष्टविधिर्द्रष्टव्यः ।

किञ्च सम्भारवाक्ये आधानोत्पत्त्यङ्गीकारे आत्मनेपदार्थ-
स्याप्राप्तत्वात् वसन्तादिवाक्येषु वाक्यभेदप्रसङ्गः । न च “उद्गा-
तारः स्तुवत” इति प्रयोगात् कर्तृमात्रवृत्तिफलकत्वस्य नात्मने-
पदार्थत्वम् । स्मृतिविरोधेन काचित्कप्रयोगस्य अर्थाविवक्षया
साधुत्वमात्रार्थत्वेन स्तोत्रक्रियाजन्यदाक्षिणात्लाभरूपफलाभि-
प्रायेण वा उपपन्नत्वात् । (१)विद्वद्वाक्यस्य चाधानोत्पादकत्वं,
वर्तमानापदेशत्वात् यच्छब्दाद्युपबन्धात् विध्यन्तरार्थत्वादत्वाच्चा-
युक्तमेव । इदं हि “एवं सपत्नं भ्रातृव्यमवर्ति सहत” इत्यर्थवादस-
हितमपि “अप उपसृजती” त्यादिविशेषविधिविहितानामुदका-
दिसम्भारणां “अथ सम्भारान् सम्भरती” ति यः स्थापनावि-
धिस्तस्य शेषः । यो विद्वानेवमुदकादिस्थापनपूर्वं अग्निमाधत्ते
स स्थापनरूपाङ्गसामर्थ्यात् सहायसम्पन्नमपि वैरिणं वर्तनर-
हितं कुरुते इत्यर्थवादेन स्थापनप्रशंसा । अत आधानप्रापकाभा-
वात् वसन्तादिवाक्ये आधानसम्बन्धिन्वयपि विशिष्टविधित्वमेव ।

सोऽपि च नोत्पत्तिविनियोगयोरेव, अपितु कर्तृकालादिरूपा-
णां गुणानामनन्वयप्रसङ्गेन तत्प्रयोगस्यापि । अत एव आधानापे-
नयनयोः स्वविधिप्रयुक्तयोरेव लाभात् ऋतुविधयोऽपि तयोः
तत्कार्ययोर्वा न प्रयोजकाः तदधिकारिणामेव च त्रैश्र्णिकानामधि-
कारिणां लाभात् न शूद्रस्याप्यधिकारित्वकल्पनया अग्निविद्योपा-
याक्षेपका इत्यादि लाघवमपि ।

न च अग्निविद्ययोः स्वस्वविधिप्रयुक्तत्वेऽपि नित्यतावेदक-

१ ‘य एवं विद्वानग्निमाधत्ते’ इतीदमत्र विद्वद्वाक्यम् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३३

प्रमाणाभावेन नियमेन करणानापत्तेः तदा नित्यैः क्रतुविधिभि-
स्तदाक्षेपोऽप्यावश्यक एवेति वाच्यम् । नित्यानामपि क्रतुविधीनां
लाघवेन परप्रयुक्ताग्निविद्योपजीवित्वे प्रमिते स्वस्वविधिसिद्धाग्नि-
विद्यावतः तदकरणे प्रत्यवायोत्पत्तावपि तद्रहितस्य तदुत्पत्तौ
प्रमाणाभावेनाग्निविद्याक्षेपकत्वानुपपत्तेः । एतेन क्रतुविधीनां नि-
त्यत्वात् आधानविधीनामपि फलतो नित्यत्वमिति पार्थसारथ्यु-
क्तिरपास्ता ।

अस्तुतस्तु “अनधीयाना व्रात्या भवन्ति” “स्थाणुरथं
भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम्”(१) “ब्रह्मक्षत्र-
विद्यां काल औपनायनिकः परः” “अत ऊर्ध्वं (२)पतन्त्येते यथा-
कालमसंस्कृताः” इत्यादिनाध्ययनज्ञानोपनयनानां “नानाहिता-
ग्निं श्रियेते” त्यादिश्रुत्या च आधानस्य स्वरूपेणैव नित्यत्वमिष्ट-
म् । न हीयं श्रुतिरनाहिताग्निमरणस्य तत्पुत्रकर्त्तव्यप्रायश्चित्ता-
धिकारमात्रपरा, पुंश्रुत्यादि(३)वंशप्रायश्चित्तवदिति वाच्यम् ।
तत्पुत्रकर्त्तव्यप्रायश्चित्तस्य विशिष्टानाम्नातत्वात्, तथात्वे अनाहि-
ताग्निताया उपपातकेषु पाठानुपपत्तेः । अतश्च तदेकवाक्यतयेयम-
पि श्रुतिः आधानावश्यकत्वपरैव । अतश्च आधानोपनयनयोः
नित्यत्वात् न नित्यक्रतूनां तदाक्षेपकत्वप्रसक्तिरिति लाघवम् ।
अतः कर्त्तृकालविशिष्टोत्पत्तिविनियोगपूर्वकः प्रयोग एव वसन्ता-
दिवाक्यैर्विधीयते ।

न च वसन्तादिवाक्येषु आधानप्रयोगविधिसम्भवेऽपि
उत्पत्तिविनियोगयोः (४)सम्भारविधिबलेनापि प्राप्तिसम्भवाद्-

१ म. स्मृ. २-३२.

२ त्रयोऽप्यन्ते.

३ दर्शन.

४ “अथ सम्भारान् सम्भरति” इत्ययं विधिस्सम्भारविधिः ।

अनेन प्राप्तानां पार्थिवानां चानस्पत्यानां च सम्भारा विधीयन्ते ।

विधानमिति वाच्यम्, तथात्वे आत्मनेपदार्थस्य आधातृवृत्तिफलत्वरूपस्य उत्पत्तौ विनियोगे वा अन्वययोग्यस्य प्राप्तोत्पत्त्याद्यनुवादेन विधिः ब्राह्मणादित्रिशिष्टप्रयोगविधिश्चेति वैशिष्ट्यासम्भवात् वाक्यभेदापत्तेः, (१)संभारवाक्ये “अग्निमादधीते” त्येतावतैव उत्पत्तिविनियोगपरत्वसिद्धौ सम्भारेष्वित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च ।

अत एव तत्र “तस्मिन्नाधीयतामय”मिात मन्त्रवर्णात् सम्भवत्प्राप्तिकाया अपि सम्भारधिकरणतायाः अभ्युदयशिरस्कत्वार्थं विधिः । अतश्च त्रिष्वपि ब्राह्मणादिवाक्येषु प्रयोगवदुत्पत्तिविनियोगयोरपि करणात् प्रयोगभेदवत् आधानस्वरूपस्यापि भेदः ।

अस्तु वा प्राथम्यात् ब्रह्मणवाक्य एवोत्पत्तिविनियोगविशिष्टप्रयोगविधिः । राजन्यादिवाक्ययोस्तु प्रयोगान्वयिककर्तृकालरूपगुणयोगात् प्रयोगभेदमात्रम् । अत एव तत्र कर्तृकालविशिष्टः प्रयोग एव विधीयते । आत्मनेपदार्थस्तु उत्पत्तिवाक्यप्राप्तोऽनूद्यते । सर्वथा ब्राह्मणादिश्रवणानि न निमित्तार्थानि ।

नन्वेवं सम्भारवाक्यादिना उत्पत्तिविनियोगप्रयोगाणां प्राप्त्यभावेऽपि “जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनादधीते” ति वाक्येन वयोवस्थाविशेषापन्नकर्तृविशिष्टाधानविधित्रयमस्तु । अनेकविशेषणविशिष्टविध्यपेक्षया एकविशिष्टविध्यङ्गीकारस्य न्याय्यत्वात् शूद्रादिसाधारणैकप्रयोगविधिसम्भवे ब्राह्मणादित्रयस्य प्रत्येकप्रयोगविध्यङ्गीकारानौचित्याच्च । अतश्च तेनैव प्राप्तानां ब्राह्मणादीनां निमित्तार्थं श्रवणमिति चेत्—

१ “सम्भारेष्वग्निमादधीते” ति सम्भारवाक्यम् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३५

न ; एवमपि कर्तृकालयोः कस्य निमित्तत्वं कस्य विधेयता इत्यत्र विनिगमनाविरहानिवारणात् । अनः सिद्धं ब्राह्मणादेः गुणस्य विधेयत्वात् भेदकत्वमिति । प्रयोजनं स्पष्टम् ।

सूत्रं तु आधाने तुल्यन्यायत्वात् उपनयने च ब्राह्मणादि-श्रवणं क्रतुप्रधानं, आधानादिप्रयोगभेदनियामकमित्यनुपज्यते । आधानादेः सर्वपुरुषशेषत्वेन अप्राप्तत्वादिति अकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् ॥

इति तृतीयमाधानाधिकरणम् ।

अथ चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् (४) ॥

सू-अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥२-३-५॥(पू.)

(विषयसंशयौ)

दर्शपूर्णमासयोः “दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः” । “साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः” । “सङ्क्रमयज्ञेन यजेतान्नायकामः” इति श्रुतम् । तत्र किमेवंसंज्ञककर्मान्तरविधिः ? उत दर्शपूर्णमासाश्रितो गुणो दाक्षायणादिपदाभिधेयः फलार्थं विधीयते ? इति सन्देहः ।

(सङ्गतिः)

पूर्वपक्षे गुणस्याप्रसिद्धत्वादिना अविधेयत्वात् अनिश्चित-विधेयताकस्य सिद्धान्ते गुणफलसम्बन्धाङ्गीकारेऽपि भावनाभेद-कत्वोपपादनात् पादसङ्गतिः । अनन्तरा तु ब्राह्मणत्वादेः गुण-

स्याप्राप्तत्वेन विधेयत्वात् युक्ता भेदकता । प्रकृते तु गुणस्याप्र-
सिद्धत्वात् कथाञ्चत् प्रसिद्धस्य वा वक्ष्यमाणरीत्या प्राप्तत्वात् न
भावनाभेदकता युक्ता । यदि परं भेद एवाग्रहः तदा संज्ञादिभिरेव
स युक्त इति पूर्वपक्षोत्थानात् द्रष्टव्या । अध्यायमङ्गतिस्तु स्पष्टै-
व । (१) इन्द्रियकामाधिकरणासिद्धस्यैव गुणफलमम्बन्धस्याक्षेप-
समाधानाच्च न तेन पौनरुक्त्यम् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र दाक्षायणयज्ञादिपदानां समुदायप्रामिध्या अवयवप्रामिध्या
वा गुणविशेषे लोके वेदे वा प्रसिध्यभावात् प्रसिद्धयजिसामाना-
धिकरण्येन यागनामधेयत्वं तावत् निरववाधम् । अत एव
“पयसा प्रवर्ग्येण चरन्ति” “पयसा दाक्षायणयज्ञेन”
इत्यादिप्रसिद्धकर्मनामधेयप्रवर्ग्यपदसामानाधिकरण्यमपि सङ्गच्छते ।
अन्यथा दाक्षायणपदवाच्यायाः प्रयोगावृत्तेः द्रव्यानपेक्षत्वेन पयो-
विधानानुपपत्तेः । अतश्च उद्भिदादिसंज्ञावदेवात्र तथा कर्मान्तर-
चोदनैव युक्ता । अत एव दाक्षायणादिपदानां कर्मान्तरेऽवयव-
शक्त्यसम्भवेऽपि रूढिकल्पनया विजातीययागत्वस्यैव शक्यता-
वच्छेदकत्वं कल्प्यते इति न दोषः । सूत्रं स्पष्टम् ॥

सू-अगुणा च कर्मचोदना ॥ २-३-६. ॥

ननु-नेदं नामधेयम्, दाक्षायणादिपदार्थस्य गुणस्य लोकेऽ
प्रसिद्धस्यापि वेदात् प्रसिध्युपपत्तेः । तथा हि-

दक्षस्य यजमानस्य इमे दाक्षा ऋत्विजः तेषां कर्तृभूतानामयनं
प्रयोगावृत्तिः दाक्षायण इत्येवमवयवव्युत्पत्त्यनुसारेणावगते कियती

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १७

आवृत्तिरिति विशेषापेक्षायां “द्वे पौर्णमास्यौ द्वे अमावास्ये यजेते”
ति वाक्यान्तरात् द्विरावृत्तिः दाक्षायणपदाभिधेयेत्यवगम्यते ।

तथा साकंप्रस्थाय्यपदेनापि साकं सह प्रस्थानं यत्रेति व्यु-
त्पत्त्या सहप्रस्थानेऽवगते केन सहेत्यपेक्षायां “सह कुम्भीभिरभिक्रामे”
दिति वाक्यात् कुम्भीसाहित्यमित्यवगम्यते । एवं सङ्क्रम-
मपदेनापि सङ्क्रमणे उक्ते, क्वेत्यपेक्षायां भवदेवोक्तविधया आ-
हवनीयरूपहोमदेशे इत्यवगम्यते । अतश्च लोकाप्रसिद्धत्वेऽपि
वैदिकप्रसिद्धिमात्रेण दाक्षायणादिपदानां गुणवाचित्वोपपत्तेः द-
ध्यादिवत् फलसम्बन्धो युक्त एवेति चेत्—

न ; ‘द्वे पौर्णमास्यौ’ इत्यादि वाक्यानां प्रकरणात् क्रत्वङ्ग-
तया द्वित्वादिरूपगुणविधायिनां दाक्षायणादिपदार्थतात्पर्यग्राहक-
त्वानुपपत्तेः । अन्यथा “दध्ना जुहोती” सस्यापि आश्रयमात्रपर-
त्वोपपत्तौ क्रत्वङ्गताबोधकत्वानुपपत्तेः ।

अथ तु तेन क्रत्वर्थतथैव द्वित्वविधावापि अयनपदवाच्यायाः
आवृत्तेः प्रमाणाभावादेव अधिकायाः प्रसक्त्यभावात् द्वित्व एव
पर्यवसानोपपत्तेः फले विधानमित्युच्येत ततो गुणधात्वर्थयोरुभ-
योरपि नित्यवत् प्राप्तौ(१) ऐन्द्रवायवाग्रान् गृह्णीयात् यः काम-
येत यथापूर्वं प्रजाः कल्पेरन्नि” तिवत्(२) भावार्थाधिकरणन्या-
येन धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धोपपत्तेः न गुणफलसम्बन्धोपपत्तिः ।
दध्यादौ तु नित्यवदनुवादायोगात् तथाङ्गीकार इति वैषम्यम् ।

किञ्च “द्वे पौर्णमास्या” वित्पनेनापि पौर्णमास्यादिपदवा-
च्यप्रधानत्रयमात्रानुवादेनैव द्वित्वविधानात् प्रकरणेन च तस्यैवा-
श्रयत्वात्प्रमतेः न साङ्गप्रयोगावृत्तिः फले विधातुं शक्यते । वि-

वक्षितगुणस्य च दाक्षायणादिपदेनैव वक्तुं शक्यत्वात् यज्ञपद-
वैयर्थ्यापत्तिः ।

साकंप्रस्थायीये तु प्रस्थानस्य असाकृमणिविधिनैव प्राप्त-
त्वादप्राप्तं साहित्यगोत्रं प्रस्थानाश्रितं विधेयम् । न च प्रस्थानस्य
प्रणयनादिवद्वान्तरप्रकरणमस्ति । सान्नाय्यस्य तु तत्सत्त्वेऽपि
साक्षाद(?)योग्यत्वमिति नाश्रयत्वम् । सङ्क्रमस्य तु आहवनीया-
धिकरणकहोमविधिनैवार्थाक्षेपात् उभयप्राप्तौ भावार्थाधिकरण-
न्यायेन धात्वर्थादेव फलोपपत्तेः न गुणफलसम्बन्धविध्युपपत्तिः ।
एवञ्च गुणचोदनाऽसम्भवेन विधेः गुणसङ्क्रान्तशक्तिकत्वाभा-
वात् धात्वर्थभावनयोरेव चोदनाप्रतीतेः अभ्यासादापि भेदसिद्धि-
रिति सूत्रार्थः ।

ननु-फलसम्बन्धपरत्वसम्भवेनाभ्यासस्वरूपाभावात् कथं
भेदसिद्धिः ? अत आह —

सू-समाप्तञ्च फले वाक्यम् ॥ २-३-७ ॥

“सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यनेन फलसम्बन्धस्यापि प्राप्त-
त्वात् अनन्यपरत्वमन्याहतमेव । अतोऽभ्यासादापि कर्मभेदसिद्धिः ।

अथ वा फलस्य अनुपादेयस्य सत्त्वात् प्रकरणान्तरन्या-
येनापि भेदसिद्धिः । न च सन्निधानादुपस्थितिः । संज्ञया वि-
च्छेदोपपत्तेः । संज्ञा हि कर्मान्तरबुद्धिं जनयन्त्यपि पूर्वबुद्धिवि-
च्छेदमपि तावज्जनयति । अतः तदंशेऽनुपादेयसहायेन प्रकरणा-
न्तरस्याप्युपपत्तिः । अतो वरं संज्ञाभ्यासप्रकरणान्तरैः कर्मान्तरमेव ।
न तु गुणफलसम्बन्धः । एवञ्च फलप्राप्तेः क्रियैकजन्यत्वस्वभावो-
ऽपि अनुगृहीतो भवति । अतो नात्र गुणस्य भावनाभेदकत्वम् ।

१. क्रियाया एवाश्रयत्वयोग्यत्वादिति भावः ।

सू-विकारो वा प्रकरणात् ॥ २-३-८. ॥ (सि)

नेदं कर्मान्तरम्, भेदकप्रमाणस्यैवासिद्धेः । न तावद्-
भ्यासः । प्रकृतस्यैव कर्मणः फले विनियोगसम्भवेन उपपदाभा-
वेऽपि अभ्यासासम्भवात् । न च सार्वकाम्यवाक्येन तत्प्राप्तिः,
तेन तत्सम्भवेऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते' तिवत्-
अभ्युद्दयशिरस्कत्वार्थं अनेनैव तद्विधिसम्भवात् ।

नापि प्रकरणान्तरम्; प्रकृतस्यैव कर्मणः विहितत्वेन तदभा-
वात् । न च संज्ञया पूर्वबुद्धिविच्छेदः । संज्ञाभ्यासादीनां स्वश-
क्यतावच्छेदकविधेयतावच्छेदकमात्राक्षेपकत्वेन कर्मान्तरबुद्धिज-
नकत्वेऽपि पूर्वकर्मबुद्धिविच्छेदकत्वाभावात् । न हि तेषां भेदानु-
पजीविपूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणाभावः प्रकरणान्तरवत् स्वरूपं स-
हकारिकारणं वा । तथात्वे तनूनपादादियागोत्तराम्नाताभिक्र-
मणस्य समिद्यागाङ्गत्वानापत्तेः । अपि तु प्रकरणान्तरस्यैव सः ।

अत एव तत्र नाम्न एवातिदेशार्थं पूर्वकर्मोपस्थापकत्वात्
भेदानुपजीवीति विशेषणम् । अतश्च प्रकृते पूर्वबुद्धिविच्छेदका-
भावात् प्रकरणस्य (१)चोपस्थापकस्य सत्त्वात् न प्रकरणान्तर-
न्यायेन भेदः ।

अत एवो "द्विदा यजेते" त्यादौ संज्ञयैव भेदो वार्तिके
उक्तः, न तु प्रकरणान्तरात् । प्रकृते तु संज्ञाया भेदकत्वं उत्तर-
सूत्रे निराकरिष्यामः । अतो वक्ष्यमाणरीत्या दाक्षायणादिपद-
वाच्यस्याऽवृत्त्यादेः गुणस्यैव नित्यगुणविकारतया फलार्थत्वेन
विधानम् । एवं चाश्रयत्वेन प्रकृतक्रत्वन्वयात् कथम्भावाका-

ह्यलक्षणप्रकरणानुग्रहाभावेऽपि अधिकारात्मकप्रकरणानुग्रहो भवति । इतरथा तद्वाधापत्तिः ।

सू-लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २-३-९. ॥

“त्रिंशद्वर्षाणि जीर्णो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत’ यदि दाक्षायणयाजी स्यात् अथापि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत, अत्रैव ह्येषा सम्पद्यते, द्वे पौर्णमास्यौ द्वे अमावास्ये यजेत” इत्यत्र यावज्जीवपक्षानुकल्पतया त्रिंशद्वर्षपक्षमुक्त्वा तदनुकल्पत्वेनापि दाक्षायणयाजिनः पञ्चदशवर्षपक्षमुपदिश्य तदर्थवादे तावतैव त्रिंशद्वर्षसाध्यप्रयोगावृत्तिरुच्यमाना आवृत्तेः फलार्थत्व एव युज्येत । तथा हि-

गुणवाक्ये पौर्णमास्यादिपदवाक्यप्रधानमात्रसम्बन्धित्वेन श्रुतापि द्विरावृत्तिः फलवाक्ये दक्षयजमानसम्बन्धिकृत्विकूमम्बन्धित्वेन श्रवणात् दर्शपूर्णमासप्रयोगाश्रितेति विज्ञायते । अतश्च फलार्थमपि सन्ततफलकामेन काकतालीयन्यायेन पञ्चदशवर्षपर्यन्तद्विरावृत्तदर्शपूर्णमासप्रयोगानुष्ठाने तावतैव त्रिंशद्वर्षसाध्यप्रयोगसंख्यासम्पत्तेः पञ्चदशवर्षपक्षुस्तुतिरूपपन्ना भवति । कर्मन्तरत्वे तु तस्याव्यक्तत्वे उपोतिष्ठोमविकारत्वात्, दर्शपूर्णमासविकारत्वेऽपि वा पञ्चदशवर्षपर्यन्तमावृत्तावेव प्रमाणाभावः । न चातिदेशेन पञ्चदशवर्षकालीनावृत्तिप्रप्तिः, पञ्चदशादिवाक्येषु यावज्जीववाक्यवत् नैमित्तिकप्रयोगस्यैव पुरुषार्थ(१)त्वेन विधेयत्वेन तस्याः तद्वदेव विकृतावनतिदेशात् ।

नन्वेवं पञ्चदशवर्षकालस्यैव पौर्णमास्यमावास्यावाच्छिन्नस्य जीवनवन्निमित्तत्वापत्तिः । अतश्च यथैव पौर्णमास्याद्यवच्छिन्नस्य

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ४१

वसन्तस्य निमित्तत्वे तस्यैकत्वादेकस्मिन् वसन्ते सकृदेव ज्यो-
तिष्टोमकरणं, निमित्तावृत्तौ चावृत्तिः, तथा पञ्चदशवर्षकाल-
स्यापि पौर्णमास्याद्यवच्छिन्नस्य एकत्वादेकवारमेव दर्शपूर्णमा-
सप्रयोगः तदावृत्तौ च पुनरावृत्तिरिति प्राप्नुयात् । जीवनाना-
न्तु प्रतिपर्व भिन्नत्वात् युक्ता प्रयोगावृत्तिरिति वैषम्यम् । अतो
यावज्जीवाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन तावन्तं कालं दर्शपूर्णमासावृ-
त्तिरेव कर्माङ्गत्वेन विधीयते इति कर्मान्तरेऽपि तस्यातिदेशो
युक्त एवेति चेत्—

न ; आधानाव्यवहितोत्तरकालीनपञ्चदशवर्षत्वादेः निमित्त-
त्वेऽपि निमित्तपरया अत्यन्तसंयोगत्राचिद्वितीयया सातत्यानु-
ष्ठापकत्वरूपनिमित्तत्वावगतेः वसन्तवैषम्यात् । अत एव निमित्त-
श्रुत्या सातत्यानुष्ठाने प्रसक्ते आहारविहारादिवशेन तद्भावात्
(१)जातेष्टिमासाभिहोत्रन्यायेन पौर्णमास्याद्यनुग्रहेऽपि सातत्यस्य
अत्यन्तबाधयोगात् पुनः पुनः अनुष्ठानोपपत्तिः । प्रमाणान्त-
रावगताधानाव्यवहितोत्तरत्वबलेन च नाधानोत्तरभाविपञ्च-
दशवर्षोत्तरं पुनः करणापत्तिः । अतश्च(२)यावज्जीवाधि-
करणसिद्धान्तन्यायेन निमित्तपरत्वस्यैवोपपत्तेः नावृत्तेः
कर्माङ्गत्वेन विधिरिति पुरुषार्थस्य नैमित्तिकप्रयोगस्य विकृता-

१. जातेष्टौ निमित्तानन्तरानुष्ठेयत्वे प्राप्तेऽपि नालच्छेदात् पूर्वं
स्तनप्राशननिषेधात् तत्पूर्वमेव च जातकर्मविधानात् जातेष्टेर्जनना-
नन्तरमेव करणे तदनन्तरं जातकर्म कृत्वा छिन्ने नाले प्राशनस्य
कर्तव्यतापत्या तावता शिशोर्मरणापत्या शेषिलोपप्रसङ्गात् तदर्थं
जातेष्टेरुत्कर्षेऽवश्याङ्गीकर्तव्ये उत्कृष्टायाः तस्याः अवैगुण्याय आशौ-
चापगामनन्तरं पौर्णमास्यादिकाल एव मलमासादिरहिते सानुष्ठेये-
ति घनुर्ये (४-३-१७.) सिद्धान्तितम्, तन्न्यायेनेत्यर्थः ।

२. पू. मी. २-४-२.

वनतिदेशात् कर्मान्तरस्य पञ्चदशवर्षपर्यन्तमावृत्तिः ।

न च भवन्मत इव फलार्थस्यापि कर्मान्तरस्य काकताली-
यन्यायेन पञ्चदशवर्षपर्यन्तमावृत्त्युपपत्तिः । तथात्वेऽपि द्विरा-
वृत्तौ प्रमाणाभावेन त्रिंशत्सम्पत्त्यनुपपत्तेः । यदि तु पूर्वपक्षे
क्रत्वर्थत्वेन द्विरावृत्तिविधेरिष्टत्वात् कर्मान्तरेऽपि द्विरावृत्तेः प्रा-
प्तिरुच्येत तदा त्रिंशद्वर्षपक्षस्यापि द्विरावृत्तैवानुष्ठानापत्तेः सुत-
रां स्तुत्यनुपपत्तिः ।

अस्तु वा कर्मान्तरस्य त्रिंशद्वर्षसाध्यप्रयोगसंख्याकप्रयोग-
वत्वम् । कथं तावता दर्शपूर्णमासगतपञ्चदशपक्षस्तुतिः । व्यधि-
करणत्वात् । अतो लिङ्गदर्शनादपि आवृत्तिरेव फलार्थं विधीयते ।

सू-गुणात् संज्ञोपबन्धः ॥ २-३-१० ॥

यस्त्वया संज्ञोपबन्धो भेदहेतुत्वेनोक्तः, स गुणविधित्वात्
दाक्षायणादिपदानामसिद्धः, यद्यपि च गुणो न लोके प्रसि-
द्धः तथा(१)प्युक्थ्यव्यूहादिवत् वाक्यान्तरप्रसिद्ध एव दाक्षाय-
णादिपदवाच्यत्वेन युक्तस्समाश्रयितुम् ।

वंस्तुतस्तु पूर्वोक्तविधया लौकिकावयवप्रसिध्यैव दाक्षाय-
णादिपदानामावृत्त्यादिवाचित्वम्, अत एव दाक्षायणवाक्ये ऋ-

१. उक्थ्यग्रहस्य दध्यादिवत् लोकप्रसिध्यभावेऽपि “य एवं
विद्वानुक्थ्यं शुक्लार्ति” इति वाक्योत्पन्नस्यैव तस्य “पशुकाम उक्थ्यं
शुक्लीयात्” इति वाक्येन यथा फलार्थं विधानम्, यथा वा व्यूहा-
ख्यस्य द्वादशाहगताग्रताविशेषस्य लोकतोऽप्रसिद्धस्यापि “अथ
व्यूहः—पेन्द्रवायवाग्रौ प्रायणीयोदयनीयौ, अथतरेषां दशानामह्नां
पेन्द्रवायवाग्रं प्रथममहः, अथ शुक्राग्रम्, अथ द्वे आम्रयणाग्रे, अथै-
न्द्रवायवाग्रम्, अथ द्वे शुक्राग्रे, अथाग्रयणाग्रम्, अथ द्वे पेन्द्रवाय-
वाग्रे” इति वाक्येनोत्पन्नस्यैव “यः कामयेत बहु स्यां प्रजायेयेति स
व्यूहेन यजेत” इति वाक्येन फलार्थं विधानं तद्वदित्यर्थः ।

त्विकसंबन्धिनी आवृत्तिरेव फलार्थं विधीयते । तस्याश्चाश्रयापे-
क्षायां विधेयसामर्थ्यसहकृतप्रकरणेन दर्शपूर्णमासप्रयोग एवा-
श्रयत्वेन सम्बध्यते । गुणाश्रययोश्च नात्यन्तं दध्पादिवत् भेदः
इति सूचनार्थमेव यज्ञशब्दस्समासे ।

वस्तुतस्तु (१) “पूर्वपदात् संज्ञायामगः” इत्यनेन गकारवर्जि-
तपूर्वपदनिमित्तं णत्वं संज्ञायामेव विदधतां संज्ञात्वाभावे णत्व-
स्यैवानापत्तेः यद्यपि संज्ञात्वमेवावश्यकं, तथाप्यवयवार्थप्रतीक्षा
योगरूढ्यङ्गीकारात् संज्ञात्वेऽप्यावृत्तिविधौ न किञ्चित् बाधकम् ।
एवञ्च सूत्रमप्याङ्गस्येन सङ्गच्छते । आवृत्तिश्च कियतीति
विशेषापेक्षायां ‘द्वे पौर्णमास्या’ विति वाक्येन द्वित्वविधिः ।
अत एवापेक्षितविधानात् द्वित्वमपि न क्रतुकथंभावेन गृह्यते ।

साकंप्रस्थायवाक्येऽपि अवयवव्युत्पत्त्या विशेषणीभूतम-
प्राप्तं सहत्वमेव फलोद्देशेन विधीयते । न तु प्रस्थानमपि, तस्य
निश्चयप्रयोगेऽपि (२) होमार्थं प्राप्तत्वेन क्रतुवदविधेयत्वात् । सहत्वस्य
चाश्रयापेक्षायां वाक्यान्तरेण (३) “आज्यभागाभ्यां प्रचर्याग्नेयेन च
पुरोडाशेनाग्नीध्रे स्त्रुचौ प्रदाय सह कुंभीभिरभिक्रामे”दित्यनेनाभि-
क्रमणं सान्नाय्यहोमाङ्गभूतमाश्रयत्वेन समर्प्यते । अत्र हि प्रक-
रणात् विधेयसामर्थ्याच्च सान्नाय्यहोमाङ्गभूतासाक्रमणापरपर्या-
याभिक्रमणानुवादेन कुम्भीसाहित्यमेवाश्रयितासम्बन्धेन वि-
धीयते । प्रकरणानुमितवाक्य इव होमानुवादेन दधिविधिः ।
निपातोपसर्गाणाञ्च परस्परान्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् न कुम्भी त-
त्साहित्यञ्चेति अनेकविधानकृतवाक्यभेदोऽपि । ‘कुंभीभि’रिति
बहुवचनञ्च प्रकरणात् “सुपां सुपो भवन्ती”त्येवं द्वित्वलक्षणार्थं
सदनुवादः । कुंभीनाञ्च सान्नाय्याङ्गत्वात् अभिक्रमणमपि त-

द्धोमसाधनमित्येवं विधेयसामर्थ्यादवगम्यते । अत एव पुरोडाश-
प्रचारोत्तरकालत्वाद्यनुवादः । स्रुचामधोधारणस्य चेडावदानाव-
धि निषिद्धत्वात् योग्यतयैवान्यस्मै दाने प्राप्ते कर्मकरत्वादग्रीधे
दानमनूयते । अतश्च प्रस्थानस्य प्रणयनादिवदवान्तरप्रकरणाभा-
वेऽपि वाक्येनैवाश्रयत्वं नानुपपन्नम् । सहत्वस्य चाधिकरणापे-
क्षायां कुंभी अपि तेनैव लभ्येते इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

एवं सङ्क्रमवाक्येऽपि लोकप्रसिद्ध एव संक्रमणे फलार्थं
विहिते किमर्थं क्वेत्यपेक्षायां भवदेवलिखितोन्नीतवचनवशेन
होमार्थं आहवनीयदेश इत्यवगम्यते । न च तस्य नित्यवत् प्रा-
प्तत्वात् “ऐन्द्रवायवाग्रान् गृह्णीयाद्यः कामयेत यथापूर्वं प्रजाः
कल्पेत्”न्नितिवदुभयप्राप्तौ क्रियाफलसम्बन्ध एव युक्त इति
शक्यम् । तत्र हि उभयोः स्वरूपेण नित्यवत् प्राप्तित् फलस-
म्बन्धेनापि द्वयोः अप्राप्तेः युक्तो भावार्थाधिकरणन्यायेन क्रिया-
फलसम्बन्धः । प्रकृते तु द्वयोः स्वरूपेण प्राप्तित्दन्नाद्यफलेऽपि
क्रियायाः सार्वकाम्यवाक्येन प्राप्तत्वादप्राप्तगुणविनियोग एव
विधिसंक्रमणात् युक्त इन्द्रियकामाधिकरणन्यायेन गुणफलसम्ब-
न्ध इति न संज्ञोपबन्धस्य भेदकत्वम् ।

सू-समाप्तिरविशिष्टा ॥ २-३-११. ॥

या च क्रियात् एव फलप्राप्तिर्दृष्टा न गुणात् इत्युक्तं तद्गुणाद-
पि दध्यादेः फलप्राप्तिरविशिष्टैव दृष्टेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

तस्मात् गुणस्यैव युक्तत्वात् युक्तं गुणस्य भावनाभेदक-
त्वम् । प्रयोजनं स्पष्टम् ।

इति चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ४५

अथ पञ्चमं ईषालम्भाधिकरणम् (५) ॥

सू-संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥ २-३-१२ ॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

अनारभ्य श्रुतम् (१)-“वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः”
“सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः” इति । तथा दर्शपूर्णमास-
योः ‘ईषामालभेत, ‘चतुरो मुष्टीन् निर्वपेत्’ इति तत्र दार्शपौर्णमा-
सिकेषालम्भचतुर्मुष्टिनिर्वापानुवादेन श्वेतचर्वादिगुणौ विधीयेते,
उत यावदुक्ते आलम्भानिर्वापरूपे कर्मान्तरे गुणफलयुक्ते, उत
यागरूपे ? इति सन्देहः ।

(सङ्गतिः)

अनिश्चितविधेयताकस्य देवतादेर्गुणस्य भेदकत्वविचारात्
पादाध्यायसङ्गतिः । धात्वर्थमनूद्य गुणमात्रविधानस्य पूर्वाधि-
करणोक्तस्यापवादात् अनन्तरसङ्गतिः ।

(प्रथमपूर्वपक्षः)

तत्र गुणमात्रविधिसम्भवे विशिष्टविधिगौरवस्य अश्रु-
तयागकल्पनस्य चान्याय्यत्वात् श्वेतचर्वादिगुणस्य चोपा-
देयत्वेन दूरस्थालम्भाद्यनुवादेनापि ‘यदाहवनीये जुहो-
ति’ इतिवत् विधातुं शक्यत्वात् पूर्वाधिकरणन्यायेनात्रापि
गुणमात्रविधानम् । न च फलस्य अनुपादेयस्य सत्त्वात्
कर्मान्तरत्वोपपत्तिः । अनुपादेयान्वयस्य विधेयस्यैव व-
क्ष्यमाणरीत्या प्रकरणान्तरन्यायोपयोगित्वेन प्रकृते तद्-
भावेनाभेदकत्वात् । प्राप्त एव दार्शपौर्णमासिकयोः आल-

म्भनिर्वापयोः सार्वकाम्यवाक्येन प्रयोजकत्वाख्यो भूत्यादि-
फलसम्बन्धः । अतो भूतिकामादिपदं अनुवादः । धातु-
लक्षणया आलम्भनिर्वापविशेषपरत्वतात्पर्यग्राहकः ।

अत एव होमस्य विहितत्वघटितदेवतैकसाध्यत्वेन लोके
अभावात् युक्तं तदनुवादेनाहवनीयाविधानम् । आलम्भादेस्तु
लोकेऽपि सत्त्वेन हिरण्यधारणवत् दार्शपौर्णमासिकस्यैवैहानुप-
स्थितेर्न तदनुवादेन गुणविधिरित्यपास्तम् । (१) “यावतोऽश्वान्
प्रतिगृह्णीयात्” इत्यत्र विधिरूपतात्पर्यग्राहकानुरोधेन धातावैधदा-
नलक्षकत्ववत् प्रकृतेऽपि फलपदतात्पर्यग्राहकानुरोधेन वैधाल-
म्भादिलक्षकत्वोपपत्तेः ।

न चैवमपि अनेकगुणश्रवणात् गुणात् कर्मान्तरत्वापत्तिः ।
एकस्यैव गुणस्य विधेयत्वेन विधेयगुणानेकश्रवणाभावेन तद-
नापत्तेः । आलम्भानुवादेन हि ईषायां श्वेतगुणमात्रं कर्तव्य-
तया विधीयते । वायव्यपदं तु सर्व्वेनस्पतीनां अर्थवादतो वा-
युदेवताकत्वसंस्तवात् ईषाद्रव्यपरत्वेनानुवादः । निर्वापानुवादे-
न च चरुमितिपदेन लक्षणया स्थाली अधिकरणत्वेन विधीयते ।
प्रांकरणिकश्रातेशूर्पावरोधाद्वा तत्प्रानिपदिकेन स्थालीपरिमितं
लक्षणया विधीयते । पञ्चशशावमोदनमितिवच्च स्थालीपरि-
मितग्रीहिजातस्यैव चतुर्भिर्मुष्टिभिः निर्वापोपपत्तिः । सौर्यमि-
त्ति चाग्नेयस्यैव द्रव्यस्य तेजोदेवत्वत्वसामान्यादनुवादः ।

अथ वा आलम्भाद्यनुवादेन वाय्वादिदेवताविधिरेव ग्रहण
इवेन्द्रवाय्वादेः । श्वेतचरुशब्दौ तु जघन्यौ प्रायिकत्वात् चरु-
साधकत्वान्वानुवादौ ।

अथ वा वाक्यादिदेवतासम्बन्धस्य उत्पत्तिश्चिष्टाग्न्याद्यव-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ४७

रुद्धाग्नेयादियागोपपाद्यत्वानुपपत्तेः फलपदस्वारस्यानुरोधेन च फलोद्देशेन श्वेतचरुगुणौ विधीयेते । वायव्यादिपदं तु सर्वपदार्थानां सूर्यवायुसंबन्धादनुवादः । फलार्थप्राङ्मुखत्वस्य भोजनमिव आलम्भादि रागप्राप्तमपि आश्रयत्वेन सम्बध्यते । सर्वथान कर्मान्तरम् ।

सूत्रं तु अप्रकरणे यो गुणः सोऽपि न कर्मभेदकः एकगुणसंक्रान्तशक्तित्वेन विधेः कर्मशब्दत्वाभावात्, कर्मान्तरत्वे अविनियुक्तद्रव्यकत्वेन लोकप्रसिद्धसंस्कारत्वानुपपत्तेश्च इति व्याख्येयम् ।

सू-यावदुक्तं वा कमेणः श्रुतमूलत्वात् ॥२-३-१३ ॥ (पू)

(द्वितीयपूर्वपक्षः)

नात्रालम्भानुवादेन गुणविधिः, तथात्वे फलपदस्य स्वार्थस्य वाक्यार्थान्वयाभावेन अविवक्षितार्थकत्वापत्तेः । अश्वप्रतिग्रहेः श्रौ तु वाक्यभेदापत्तेः तथाङ्गीकरणमदोषः । एवञ्च आलम्भादेः लौकिकस्यापि सत्त्वात् दार्शिकस्यैवानुवादे प्रमाणाभावः ।

न चाश्वप्रतिग्रहविधिरपि तत्तात्पर्यग्राहकः इति शङ्काम् । तथाङ्गीकारेऽपि विधायकाभावेन गुणविधानानुपपत्तेः । अतो दार्शिकस्यैवालम्भादेः विशेषतः उपस्थित्यभावात् न तदनुवादेन गुणविधिः ।

नापि गुणफलसम्बन्धः, आलम्भादेः प्रकरणाभावेनाश्रयत्वानुपपत्तेः । भोजनस्य तु पूर्वोत्तरभाविनिषेधविषयत्वेन उपस्थितत्वात् आश्रयत्वोपपत्तिरित्युक्तं व्याकरणाधिकरणे । अतो

गुणफलरूपानेकगुणोपादानात् प्रकरणान्तराच्च कर्मान्तरमेवाल-
म्भनिर्वापरूपगुणविशिष्टं फलोद्देशेन विधीयते । वायुसूर्यावपि च
आस्मिन् पक्षे तत्कालोच्चार्यत्वसम्बन्धेन क्रियान्वयं प्रतिपद्येते ।
उच्चार्यत्वापरपर्यायमुद्देश्यत्वमेव च देवतात्वं, न त्यज्यमानद्रव्योद्दे-
श्यत्वं, गौरवात् । अतो देवतात्वस्य यागाक्षेपकत्वाभावात् यागक-
ल्पनेऽपि प्रमाणाभावः । अतो यावदुक्तं विधानमेवेदं, न तु गुणमा-
त्रस्य । एवं हि कर्मणो धात्वर्थस्य पदश्रुतिमूलकं विधानमादृतं
भवतीति सूत्रार्थः ॥

सू-यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्म-
सम्बन्धात् ॥ २-३-१४. ॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

नेदं श्रौतधात्वर्थविधानम्; तथात्वे उपक्रमस्थदेवतात्ववा-
चित्प्रदितानुपपत्तेः । न चोद्देश्यत्वमेव देवतात्वम्, सूक्तभाजो ह-
विर्भाजश्च देवता इति स्मृत्या वैदिकव्यवहाराच्च स्तुतिभाक्त्वरूप-
देवतात्ववत् त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वस्यैव देवतात्वात् । अत एव
ब्राह्मणोद्देशेन पक्वेऽप्यग्ने तद्रुद्देशेनात्पक्ते देवतात्वाप्रसिद्धिः । अत
एव द्रव्यरूपहविस्संयोगाद्धविर्भोक्तृत्वरूपमेव देवतात्वमत्र
तद्वितार्थः । तस्या यागैकघटितत्वाद्यागापेक्षार्या प्रमाणान्तरे-
ण तस्याप्राप्तत्वादानेनैव वाक्येन विधेयत्वप्राप्तौ अध्याहारापेक्ष-
या लक्षणायाः लघुत्वात् धातुना यागो लक्ष्यते । शक्यार्थस्तु प्रमा-
णान्तरप्राप्तत्वादनूद्यते । लाक्षणिकपदोपादानप्रयोजनञ्च निर्व-
पत्यादिधातुमद्वाक्यसम्बन्धित्वरूपप्रकृतिसादृश्यसिद्धिः । याग-
विधिप्रकारश्चास्माभिः अनागतावेक्षणन्यायेन आग्नेयाधिकरण

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ४९

एक प्रदर्शितः । तस्मात् फलोद्देशेन द्रव्यदेवताविशिष्टयागभावना-
विधिरेवायमिति युक्तमेवात्र गुणस्य भेदकत्वम् ॥

सूत्रं तु द्रव्यस्य भोक्तृपदवाच्यदेवतायाश्च संयोगाद्याग
एवात्र विधीयते । सोऽपि च फलसंयोगादर्थकर्मत्वेन । एतेषां
द्रव्यफलभोक्तृणां यागगतार्थकर्मत्वेन व्याप्तत्वात् इति व्याख्ये-
यम् । यद्यपि चात्र द्वितीयपूर्वपक्षवादिना न संस्कारकर्मत्वमङ्गी-
क्रियते, तथापि प्रथमपूर्वपक्षवादिना तदङ्गीकरणात् स्वान-
भिमतत्वसूचनार्थं सिद्धान्ते अर्थकर्महेतुतया फलग्रहणम् ॥

सू-लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २-३-१५. ॥

(१)“सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेत्” इति प्रकृत्य“(२)परि-
श्रिते याजये”दिति गुणाविधिपरे वाक्ये यजिश्रवणं द्रव्यदेवता-
सम्बन्धात् यागानुमितिमुपोद्बलयति । प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति पञ्चमपीषालम्भाधिकरणम् ॥

अथ षष्ठं वत्सालम्भाधिकरणम् (६) ॥

सू-विशये प्रायदर्शनात् ॥ २-३-१६. ॥ (सि)

(विषयसंशयौ)

अग्निहोत्रे दोहाधिकारे “वत्समालभेते” ति श्रुतम् । तत्र
किं अग्निषोमीययागानुवादेन वत्सविधिः ? उत अग्निहोत्रहोमा-
ङ्गत्वेन वत्सद्रव्यकयागविधिः ? उत वत्ससंस्कारार्थत्वेनालम्भ-
मात्रविधिरिति । अत्रापवादिकी अनन्तरा सङ्गतिः ।

१. तै. सं. २-२-१०-१. २. तै. सं. -२-२-१०-२.

(प्रथमपूर्वपक्षः)

तत्र वेदप्रयुक्तालभते “रीषामालभेते” त्यादौ स्पर्शमात्र-
वाचित्वेऽपि दैक्षादिवाक्येषु प्राणिसंयोगेन यागवाचित्वावगमात्
नात्रार्थप्राप्तालम्भविधिर्युक्तः । इष्यते च धातुनामनेकार्थत्वात्
गमनार्थकस्यापि गमेः स्त्रीसंयोगे मैथुनार्थकत्वम् । अतो यागार्थ-
कस्यालभतेः प्रकृतहोमानुवादकत्वेऽपि प्रकृतिभूतश्रीषोमीय-
यागानुवादकत्वात् तदनुवादेन विनियोगभङ्गकल्पनयापि वत्स-
विधिः । वाक्यीयवत्सजात्या मान्त्रवर्णिकलागजातिबाधेन विक-
ल्पेन वा वत्सविधिरिति—प्रथमः पक्षः ।

(द्वितीयपूर्वपक्षः)

द्वितीयस्तु—नालभतिर्यागवाची । स्पर्शवाचकस्यैव दैक्षा-
दिवाक्ये देवतापदसमभिव्याहारेण यागलक्षकत्वाङ्गीकारात् ।
अतश्च ‘वत्समालभेते’ त्यत्रापि “पूषासीति वत्समुपावसृजती” ति
विनियुक्तमन्त्रवर्णकल्प्यदेवताबलेनाघारवद्यागकल्पनोपपत्तेरपूर्व-
यागलक्षकत्वमेव ।

अत्र हि नोपावसर्जने मन्त्रविधिः । तथात्वे तस्यापि मान्त्रव-
र्णिकदेवताकल्पनया यागरूपत्वापत्तेः । अतो विशिष्टविधिगौरव-
परिहारार्थं ‘वत्समालभेते’ त्यत्र विहितस्यैव यागस्य मान्त्रवर्णि-
कदेवताकल्पनफलकमन्त्रमात्रविध्युपगमात् उपावसृजतिरपि याग-
लक्षणार्थं इत्यवगम्यते । अतश्च वत्सद्रव्यकः पूषदेवताकाशीपो-
मीयप्रकृतिको यागोऽग्निहोत्राङ्गत्वेन विधीयते इति ।

(सिद्धान्तः)

सिद्धान्तस्तु—पूषासीत्यस्य पुष्टिगुणयोगेन अदन्तकत्वेन वा
(१)पुरोवास्थितवत्सपरामर्शकत्वोपपत्तेः शक्योपावसर्जनाङ्गत्वेनैव

१. पूर्वापस्थित ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ५१

मन्त्रविध्यवसायात् न यागकल्पकत्वोपपत्तिः । अतश्च द्वितीयया वत्समुद्दिश्य उपावसर्जनविधिवत् आलम्भाख्यसंस्कारविधिरेवायम् । एवं च संस्कारविधिप्रायपाठोऽप्युपपन्नो भवति । न च उपावसर्जनैव स्पर्शाख्यस्यालम्भस्यार्थप्राप्तत्वात् न विध्युपपत्तिरिति वाच्यम् । धेनुविनियोगाख्योपावसर्जनेन धेनुसमीपधारणफलकाध्वर्युकर्तृकस्पर्शस्य नियमेन प्राप्त्यभावात् ।

नचैवं दोहनानुपपत्तिः, तस्यान्यकर्तृकत्वेन बाधकाभावात् । अतो वत्ससंस्कारार्थत्वेनालम्भविधिरेवायम् ॥

सूत्रं विशये संशये संस्कारप्रायपाठदर्शनान्निर्णय इति व्याख्येयम् ।

सू-अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ २-३-१७. ॥

“वत्सनिकान्ता हि पशवः” इत्यर्थवादे पशूनां वत्सप्रियत्वात् समीपधारणफलकस्पर्शेन प्रसन्नवनं जायत इति स्तुतिरालम्भविधित्वे सत्युपपद्यते न यागपरत्वे ।

प्रयोजनं स्पष्टम् । अत्र च सिद्धान्ते दार्शपूर्णमासिकेषालम्भादयमालम्भः संस्कार्यरूपानुपादेयगुणयोगात् प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मान्तरमिति सिद्ध्यति । ततश्च वत्साख्यगुणस्यानिश्चितविधेयताकस्य भेदप्रयोजकत्वात् पादसङ्गतिरध्यायसङ्गतिश्च ॥

इति षष्ठं वत्सालम्भाधिकरणम् ॥

अथ सप्तमं चरूपधानाधिकरणम् (७) ॥

सू-संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥ (सि)

॥ २-३-१८. ॥

(विषयसंशयौ)

अग्नौ “नैवारश्चरुर्भवति, बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यज्ञीवाराः” इत्युक्त्वा ‘चरुमुपदधाति’ इति श्रुतम् । तत्र किं चरुद्रव्यं बृहस्पति-
देवता च भावनाधात्वर्थयोर्भेदिका उत नेति संशयः ।

(सङ्गतिः)

तत्र पूर्वपक्षे नैवारवाक्ये चरूपस्य द्रव्यस्य अर्थवादिकथाश्च बृहस्पतिदेवताया रात्रिमन्नन्यायेन विधेयत्वात्, सिद्धान्ते चा-
विधेयत्वात् अनिश्चितविधेयताकस्य द्रव्यदेवताख्यस्य गुणस्य भेदकत्वनिरूपणात् पादाध्यायसङ्गतिः । अनन्तरा तु पृषासित्य-
स्य द्रव्यपरत्वेनैव उपपत्तेः न मान्त्रवार्णिकदेवताकल्पनद्वारा यागपरत्वनिश्चायकत्वम् । प्रकृते तु अर्थवादस्थबृहस्पतेरन्यपर-
त्वासम्भवात् अर्थवादिकदेवताकल्पनावश्यम्भावेन यागकल्पनो-
पपत्तेर्युक्ता भेदकतेति पूर्वपक्षोत्थानात् द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र नैवारवाक्ये तावत् भवत्याक्षिप्तायां नैवारकार्भिकायां भाव-
नायां अप्राप्तिबललभ्यविधिना विहितायां चरोः प्रयोजनाका-
ङ्क्षत्वात् भावनायाश्चावच्छेदकधात्वर्थापेक्षत्वात् किञ्चिद्भात्वर्थक-
ल्पनमावश्यकम् । न च उपधानमेव स इति शङ्क्यम् । उपधानं
प्रति चरोद्वितीयया संस्कार्यत्वावगमेन करणत्वासम्भवात् । अतः
उपधानभावनातो भिन्नैवेयं चरुद्रव्यकयागकरणिका भावना ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ५३

नचैवमपि देवताभावात् यागत्वप्रसायकाभावः । अर्थवादे वृहस्पतेः षष्ठ्या नीवारसम्बन्धावगमात् सम्बन्धान्तरासम्भवेन देवतात्वस्यैवागतेः तस्य यागं विनानुपपत्तेः यागत्वप्रसायात् । तैत्तिरीयशास्त्रायान्तु “वार्हस्पत्यो भवती” त्येवं तद्धितान्त एवार्थवादः श्रुत इति देवतात्वावगतिः स्पष्टैव । अतो द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितो याग एवाग्नेयप्रकृतिको विधीयते । ‘चरुमुपधाती’ति तु स्विष्टकृदादिप्रतिपत्तिबाधेन प्रतिपत्त्यन्तरविधिरिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—सर्वत्र विध्यपेक्षित एवार्थोऽर्थवादोऽनीत-विधिना विधीयते, न त्वनपेक्षित इति स्पष्टं पर्णतादौ । प्रकृते च नैवारवाक्ये यद्यपि नैवारचरुविशिष्टभावनाविधिस्स्यात् तथापि तस्याः प्रयोजनाद्याकाङ्क्षायामुपधानस्यैव श्रुतस्य तत्त्वेनान्वयोपपत्तेः नार्थवादो देवतादिकल्पनायै प्रभवति । नचैवं चरोद्वितीयान्तत्वानापत्तिः । उपधातेस्सकर्मकत्वेन चरुमिति द्वितीयाया अनीप्सितकर्मत्वेनाप्युपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु एतादृशविषये सक्तुष्विव करणत्वलक्षणया आवश्यकत्वात् वाक्यद्वयेऽपि विधिगौरापत्तेश्च नैवारवाक्येऽपि नीवारमात्रमेव प्रकृतित्वसम्बन्धेन चरुकर्मकभावनानुवादेन विधीयते । उपधानवाक्ये तु चरुसंस्कारकत्वेन विहितमप्युपधानं संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या “अध्वर्युं वृणीत” इतिवत् चरोस्सामर्थ्यात् कर्मोपयोगिस्थण्डिलनिष्पत्त्यर्थत्वेन उपयोगं कल्पयति । अतश्च सामर्थ्यकल्पितेन विधिना चरुभावनायाः प्राप्तत्वात्तदनुवादेन नीवारमात्रविधिनानुपपन्नः ।

न च स्थण्डिलनिष्पत्तेः श्रौतेष्टकावरुद्धत्वात् कल्पितचरुसा-

ध्यत्वानुपपत्तेरर्थकर्मैवेदमुपधानं चयनप्रदेशे विधीयते इति केषां-
चिदुक्तं युक्तम् । चरोर्भवदेवोक्तविधया इष्टकासन्धिपूरणार्थतया
विधेयत्वेनेष्टकाविरोधित्वाभावात् । अन्यथा अर्थकर्मत्वपक्षेऽपि
आनुषङ्गिक्याः स्थलनिष्पत्तेरावश्यकत्वेनेष्टकाविरोधस्य दुष्परि-
हरत्वात् । अतश्च श्रौतकर्मत्वत्यागे प्रमाणाभावात् चरुविनि-
योगविधिकल्पनात् तदनुवादेन नीवारमात्रविधिरेव युक्तः ।
अतश्च विधेर्देवतानाकाङ्क्षत्वात् नार्थवादतस्तत्कल्पनम् ।

अत एव यत्रापेक्षा तत्रैव तत्कल्पनमिष्टम्, यथा—पूर्णा-
हुतिविधिवाक्यशेषे “अन्नादं वा एतमात्मनो जनयते यदाग्नि”मि-
ति (?)वाक्यशेषे अग्नेः । प्रकृते त्वनपेक्षत्वात् न तत्कल्पनमिति
विशेषः । अत एव ‘मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तम्’ इत्यादिस्मृतिपर्या-
लोचनया बृहस्पतेर्ब्राह्मणस्य मुन्यन्नभूता नीवारा अन्नमिति
अर्थवादो व्याख्येयः । तैत्तिरीयशाखास्थार्थवादगततद्धितोऽपि
अनेनैव सम्बन्धेन व्याख्येयः । न तु देवतात्वपरः । देवता-
त्वस्य त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वे सति विहितत्वपर्यन्तस्य वृद्धव्य-
वहारसिद्धतया विधिसमभिव्याहाराभावेऽप्रतीतेः । न च य-
दाग्नेयादिवाक्य इव विधिकल्पनम् । विध्यन्तरैकवाक्यताभङ्गभ-
येन तदनुपपत्तेः । अतो न नीवारवाक्ये यागो, न वा तत्करणकं
भावनान्तरमिति सिद्धम् । प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

सूत्रं तु स्थलनिष्पत्तिरूपार्थोन्नायकेन शब्देनोपदधातिना
संयुक्तः चरुः स्थलनिष्पत्त्यर्थ एव, तादृशप्रयोजनोन्नायकशब्दसं-
योगस्य श्रौतत्वादिति व्याख्येयम् ॥

इति सप्तमं चरूपधानाधिकरणम् ॥

अथाष्टमं पत्नीवताधिकरणम् (८) ॥

सू-पत्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥ २-३-१९ ॥ (सि)

(विषय संज्ञायौ)

* “त्वाष्ट्रं पत्नीवतमालभेते” खनेन यागं विधायाम्नायते-
“पर्यग्निकृतं पत्नीवतमुत्सृजती”ति । तत्र कर्मान्तरविधिः ? उत
पूर्वस्मिन् यागे गुणमात्रविधिरिति चिन्त्यते ।

(पूर्वपक्षः)

पत्नीवद्देवतालक्षणस्य गुणस्यानिश्चितविधेयताकस्यैव भेदक-
त्वविचारात् पादाध्यायसङ्गतिः । पूर्वत्रार्थवादस्थतद्धितस्य दे-
वतापरत्वे निरस्ते विधिस्थस्य (१) तस्य निस्सन्दिग्धस्य देवताप-
रत्वोपपत्तेः यागानुमापकत्वोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानात् अ-
नन्तरा च ।

तत्र यद्यपि पूर्वयागोपस्थापकं प्रकरणमस्ति तथापि तस्य
पत्नीवद्देवत्यत्वाऽसम्भवात् कर्मान्तरत्वम् । तथा हि—

न तावत् पत्नीवद्देवत्यताऽनूद्यते । पूर्वयागस्य त्वष्टृपत्नीवद्दे-
वत्यत्वेन शुद्धपत्नीवद्देवत्यत्वाप्राप्तेः । अतश्च यथैवा “ग्रेयं चतुर्धा
करोती” त्यत्र तद्धितसामर्थ्यभङ्गभयेन नाग्नीषोमीयादेः ग्रहणं
तथा प्रकृतेऽपि । न च (२) “पत्नीवतं ग्रहं गृह्णामी” त्यत्र म-
न्त्रवर्णोपात्ताग्निपरत्वस्यैव पत्नीवच्छब्दस्य यौगिकत्वात् विशेष-
ण्यपेक्षायां उत्पात्तिवाक्यावगतत्वष्ट्राख्यविशेष्यपरत्वोपपत्तेः अ-
विरोधेनानुवादोपपत्तिरिति वाच्यम् । पत्नीवच्छब्दस्याश्वे वा-
जिशब्दस्यैव देवताविशेषे रूढत्वेन विशेष्यानपेक्षत्वात् “पत्नीव-

तं गृह्णाती” सादौ तु अनन्यगतिक्रमन्त्रवर्णानुरोधेन यौगिकत्वाङ्गीकरणम् । प्रकृते तु “वाजिभ्यो वाजिन” मितिवात् कर्मान्तरत्वेनाप्युपपत्तेः तात्पर्यग्राहकाभावेन रुदिसागे न किञ्चित्कारणमस्ति । अतो न तावत् पत्नीवद्देवत्यताऽनूच्यते ।

नापि पूर्वत्रैव यागे विधीयते । उत्पत्तिशिष्टत्वद्वयरोधात् । अतो वाजिनवदेव गुणाद्देवताविशिष्टयागान्तरविधानम् ।

किञ्च यागान्तरविधानाभावे किं त्वया विधेयम् ? न तावत् स एव यागः, प्राप्तत्वात् । नापि तत्र देवतान्तरम्, उत्पत्तिशिष्टत्वद्वयरोधात् । नापि पर्याग्निकरणम्, तस्यातिदेशप्राप्तत्वात्, नापि पर्याग्निकरणोत्तरकालतोत्सर्गे, तस्या अप्यतिदेशेनैव लाभात् । नापि पर्याग्निकरणाव्यवहितोत्तरकालता त्यागाख्ये उत्सर्गे, निष्ठासंज्ञकप्रत्ययस्य व्यवहिताव्यवहितसाधारण्येन भूतकालमात्रवाचित्वेऽपि उत्तरकालताया एवात्र लक्ष्यत्वोपपत्तेः अतिदेशानुरोधेन कथंचिद्व्यवहितकालक्षणेऽपि अव्यवहितोत्तरकालतालक्षणार्था प्रमाणाभावात् । नचैतद्वाक्यानर्थक्यम्, कर्मान्तरविधायकत्वेनाप्युपपत्तेः ।

एतेन प्राजापत्येषु “तान् पर्याग्निकृतानुत्सृजन्ति, ब्रह्मसाम्न्ध्यालभते” इतिवदानन्तर्यलक्षणामप्यङ्गीकृत्य पर्याग्निकरणोत्तरकालीनानामङ्गानामुत्सृजतिनाऽऽनन्तर्यनिषेधः क्रियत इत्यप्यपास्तम् । तत्र हि देवताभावेन कर्मान्तरविधानानुपपत्तेः ब्रह्मसामादिकालविधानाच्च सर्वाङ्गप्रतिषेधानुपपत्तेः युक्तः पर्याग्निकरणानन्तर्यप्रतिषेधः, प्रकृते तु कर्मान्तरविधायित्वेनोपपत्तौ न लक्षणाङ्गीकारे प्रमाणमस्तीति वैपम्यम् ।

न चैवमपि गृहमेधीयाज्यभागन्यायेनापूर्वताज्ञापनद्वारा इतराङ्गपरिसंख्याफलकः पर्याग्निकरणमात्रविधिः तदन्ताङ्गकलाप-

विधिर्वास्त्विति वाच्यम् । “आज्यभागौ यजती”त्यनेन हि अनु-
ष्ठेयत्वेन प्रतीतयोस्तयोः प्रमाणान्तरमन्तरेणैव गृहमेधीयाङ्गत्वा-
वगतेर्युक्तं नैराकाङ्क्षयापादनमुखेनेतराङ्गप्रापकप्रमाणपरिलोप-
कत्वम् । प्रकृते तु निष्ठायोगेन पर्यग्निकरणस्य प्रमाणान्तरेण नि-
त्याङ्गभावप्रतीतेः अतिदेशव्यतिरेकेण चात्र प्रमाणान्तराभावात्
तत्परिलोपकत्वानुपपत्तिः । तदन्ताङ्गकलापस्य तु वाचकपदा-
भावात् विधिर्दूरापास्त एव । तस्मात् द्रव्यदेवतासम्बन्धकल्पित-
यागान्तरविधिरेवायम् । पर्यग्निकृतशब्दस्तु “आग्नेयं सवनीयं
पशु”मिसत्र पशु(१)शब्द इवानुवादः प्रकृतिप्राप्तत्वात् । अतो या-
गान्तरमेवेदम् । त्वाष्ट्रप्रकृतितयाऽग्नीषोमीयपशुप्रकृतितयो दर्शपू-
र्णमासप्रकृतितयैव वा विधीयते इति प्राप्ते—

अभिधीयते—नात्र कर्मान्तरविधिः, पूर्वस्यैव प्रकरणेन प्र-
त्यभिज्ञानात् । न च पत्नीवद्देवत्याऽनुवादानुपपत्तिः, सत्यप्युत्प-
त्तिवाक्ये त्वष्टृपत्नीवतोः अग्नीषोमादिवद्भ्यासज्यष्टिदेवतात्वे(२)
मनोतास्थामिश्रशब्दस्येव पत्नीवच्छब्दस्यापि लक्षणया देवतापर-
त्वोपपत्तेः । “आग्नेयं चतुर्धा करोती”त्यत्रापि यदि प्रकरणे केवलो
ऽग्निर्न स्यात् ततोऽग्नीषोमौ लक्षयेदेव; केवलाग्नेयसत्त्वाच्च न
लक्षणेति स्पष्टं तदधिकरणे ।

वस्तुतस्तु पत्नीवच्छब्दस्य यौगिकत्वाद्विशेष्यविशेषापेक्षायां
पत्नीवत्ग्रहे मन्त्रवर्णोपात्ताग्नेरिवालोत्पत्तिवाक्यावगतत्वष्टुरपि
ग्रहणोपपत्तेः न लक्षणा; न वाश्वित्राजिशब्दानामिव पत्नीवच्छ-
ब्दो न यौगिकः, रूढिकल्पने प्रमाणाभावात्, किमुन यदोत्पत्ति-

१. शब्दस्येव २. “त्वष्ट्राग्ने प्रथमो मनोता” इति अग्नीषो-
मीयपशुयागप्रकरणगतमन्त्रस्थाग्निशब्दस्य केवलस्याप्यग्नीषोमल-
क्षकत्वं यथा तद्वत् पत्नीवच्छब्दस्य त्वष्टृपत्नीवदुभयलक्षकत्वो-
पपत्तिरित्यर्थः ।

वाक्य एव पृथक्कृतश्रवणात् 'अग्रये शुचये' इतिवत् सत्यप्यधि-
ष्ठा नैक्ये देवतात्वभेदावगतेः पत्नीवतोऽपि पृथगस्त्येव देवतात्वम्,
तदा पत्नीवच्छब्देन तन्मात्रानुवादे न कश्चिद्विरोधः ।

नचैवं देवतात्वभेदे एकार्थत्वाद्विकल्पापत्तिः, द्वयोरप्येकवा-
क्योपादानात् 'अग्रये शुचये' इतिवदेव पाष्ठीकान्वयावगतेः पत्नीव-
च्छब्दस्य विशेष्यसापेक्षत्वेन च समुच्चयप्रतीतिः । अतश्च सत्य-
पि समुच्चये ङित्थङ्ङित्थमातर्यपि मानृत्वस्य प्रत्येकवृत्तित्वात्
ङित्थमातेति प्रयोगवत् समुच्चितोभयदेवत्वेऽपि पात्नीवत्पदव्यप-
देशोपपत्तिः । अतश्च भेदकप्रमाणाभावात् पूर्वयागानुवादेनैवात्र
गुणमात्रविधिः, लाघवात् । गुणोऽपि च नात्र पर्यग्निकरणमात्रम्,
अपि तु क्तप्रत्ययान्तपदावगतं कृतपर्यग्निकरणत्वम् । तस्य च
पूर्वाङ्गेष्वकृतेषु असम्भवात् तान्याक्षिप्यन्ते इति फलतः पर्यग्निक-
रणान्ताङ्गकलापो विधीयते । तस्य च भेदकप्रमाणाभावेन प्रा-
कृतस्यैव विधेयत्वात् अतिदेशेन सम्भवत्प्राप्तिकृत्वेऽपि क्लृप्तोप-
कारत्वेन ततः पूर्वमेव गृहमेधीयाज्यभागन्यायेन विधानावगतेः
तावतैव क्रतुप्रयोगविधेर्नैराकाङ्क्षयापादनेनातिदेशकल्पनप्रतिबन्धात्
उत्तराङ्गव्यावृत्तिफलकत्वोपपत्तिः ।

नचाज्यभागयोः अनुष्ठेयतया प्रतीतयोः प्रमाणान्तरं
विनापि गृहमेधीयाङ्गत्वप्रतीतेः अतिदेशप्रतिबन्धकत्वोपपत्तावपि
पर्यग्निकरणान्तत्वस्य क्तप्रत्ययेन प्रमाणान्तरविहितत्वावगतेः अति-
देशोपजीवित्वेन तत्प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिः इति वाच्यम् । (१) प्रो-
क्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामित्यादौ प्रमाणान्तरमन्तरेणापि वि-

१. 'प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ती' इत्यत्र प्रमाणान्तरेणा-
प्राप्तस्य प्रोक्षणस्यात्रैवालूखलमुसलाङ्गत्वेन विधीयमानत्वेऽपि क्तप्रत्य-
यप्रयोगदर्शनादित्यर्थः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ५९

धानदर्शनात् । निष्पन्नत्वप्रतीतिस्तु एतद्विधिविधानोत्तरकाली-
नावस्थाऽभिप्रायेण । विस्तरेणचैत(१)नवमे “पर्यग्निकृतानुवा-
नुत्सृजती”त्यत्र निरूपयिष्यते । नचैवं पौनरुक्त्यापत्तिः, तत्र पर्य-
ग्निकृतानुवादेन विशिष्टदेवतोद्देशनिरपेक्षोत्सर्गाख्यत्यागविधेरा-
शङ्कितस्य देवतासंयोगाभावेन निरासात् । तस्मात् त्वाष्ट्रयागमे-
वोत्सृजतिनानुद्य पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिर्विधीयते । पात्नीवतश-
ब्दस्तु नित्यानुवादः ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे त्वाष्ट्रयागस्य ब्राह्मणतर्पणान्तमनुष्ठानं,
पात्नीवतयागस्य च दर्शपूर्णमासस्थाग्रेयप्रकृतितया । सिद्धान्ते तु
त्वाष्ट्रस्यैव पर्यग्निकरणान्तमिति ।

सूत्रं तु पात्नीवते पूर्वस्यैव त्वाष्ट्रस्य प्रत्यभिज्ञानात् तद-
न्ताङ्गकलापविधानेन फलतोऽवच्छेद एवोत्तराङ्गानामिति व्या-
ख्येयम् ॥

इत्यष्टमं पात्नीवताधिकरणम् ॥

अथ नवममंश्वदाभ्याधिकरणम् ॥ (९) ॥

सू-अद्रव्यत्वात्तु केवले कर्मशेषस्स्यात् ॥ २-३-२० ॥

(विषयसंशयौ)

अनारम्य श्रूयते(२) “एष ह वै हविषा हविर्यजति यो-
ऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते” इति, तथा(३) “परा वा एतस्या-
युः प्राण एति योऽशुं गृह्णाती”ति च । तत्र किं ज्योतिष्टोमोद्देशेन
यागान्तरविधानामिदम् ? उत ग्रहान्तरविधानमिति ।

(सङ्गतिः)

पूर्वं पर्यग्निकृतवाक्ये यागानुवादेन गुणविध्यङ्गीकारात् यागान्तरविधौ निरस्ते तत्प्रसङ्गादिहापि तन्निराकरणादनन्तरसङ्गतिः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र न तावदत्र ग्रहणमात्रविधिः शक्यते कर्तुम् । स ह्यंश्वदाभ्यपदयोर्नामधेयत्वमङ्गीकृत्य वा ? गुणपरत्वमङ्गीकृत्य वा ? नाद्यः, ग्रहणस्य संस्कारकर्मणः संस्कार्यावच्छेदेनैव व्यवच्छेदसिद्धेः नामधेयानपेक्षणात्, गृह्णातेः सकर्मकत्वात् नित्यं कर्मसाकाङ्क्षत्वेन तदभावे ग्रहणविधानानुपपत्तेश्च । अदाभ्यशब्दस्य हिंसाख्यदम्भानर्हद्रव्यवाचकत्वादंशुशब्दस्य निर्यासशक्तत्वेन नामधेयत्वानुपपत्तेश्च ।

नान्त्यः; अव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धाभावेन द्रव्यमात्रोद्देशेन संस्कारविधानानुपपत्तेः । अदाभ्यवाक्ये यागविशिष्टद्रव्योद्देशे वाक्यभेदापत्तेश्च । ज्योतिष्टोमे सोमस्य देवतात्वेन अप्राप्तत्वात् तस्याः ग्रहणस्य च विधाने वाक्यभेदापत्तेश्च । देवताविशिष्टग्रहणविधाने क्तप्रत्ययान्तपदोत्तराम्नातायाः पूर्वान्वये विधौ समाप्तपुनरात्तत्त्वरूपदोषापत्तेश्च ।

न च (१) “यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै” इत्यादिमन्त्रवर्णादेव सोमदेवताया ग्रहणे प्राप्तत्वाद्विधिस्थसोमपदस्यानुवादत्वेन न समाप्तपुनरात्तत्त्वदोष इति वाच्यम् । अंश्वौ “उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि” इति मन्त्रवर्णेन ग्रहणे देवतायाः प्राप्तत्वेऽपि अदाभ्ये “यत्ते सोमे” ति मन्त्रस्य स्वाहाकारान्तस्य होमलिङ्गकत्वेन ग्रहणलिङ्गकत्वाभावात् अत्र देवताप्रा-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ६१

पत्यनुपपत्तेः । होम एव मान्त्रवर्णिकदेवतायाः प्राप्तिमङ्गीकृत्य सोमायत्यस्यानुवादाभ्युपगमे ज्योतिष्टोमस्य व्यक्तत्वापत्तेश्च ।

अस्तु वोभयत्रापि ग्रहणे देवताप्राप्तिः । तथापि तदुपपादकस्य 'ऐन्द्रवायवं गृह्णातीत्यत्रैव प्रकृतस्य यागस्याभावात् न ग्रहणे देवताविधिस्सम्भवतीति नात्र(१)ग्रहणविधिर्युक्तः । अत एव देवतारूपस्य गुणस्य ग्रहणेऽसम्भवन्निवेशस्य यागान्तरावेदकत्वात् पादाध्यायसङ्गतिः । देवतारूपस्य च गुणस्य सिद्धान्ते ग्रहणे विधेयत्वात्, पूर्वपक्षे च यागे विधेयत्वात् सन्दिग्धविधेयताकत्वम् । अतश्च अंश्वदाभ्यद्रव्यको याग एव गृह्णातिना विधीयते, अंश्वदाभ्यनामको वा । तत्तद्द्रव्यकत्वपक्षे तावत् अदाभ्यवाक्येऽदाभ्यपदेन हिंसानर्हद्रव्यमात्रप्रतीतावपि 'हविषा हविर्यजति' इत्यर्थवादादेव देवताभिन्नसोमप्रतीतिः । अतश्च सक्तुन्यायेन विनियोगभङ्गं प्रकल्प्य सोमद्रव्यको यागः मान्त्रवर्णिकदेवतासम्बन्धकल्प्यो गृह्णातिना लक्षयित्वा यजत्यभिहितज्योतिष्टोमाङ्गत्वेन विधीयते । सोमद्रव्यकत्वसादृश्येन ज्योतिष्टोमधर्मातिदेशा(२)च्च ग्रहणस्य प्राप्तत्वेनानुवादोपपत्तेः यजतिनैव यागान्तरं ज्योतिष्टोमाङ्गत्वेन विधीयते । ज्योतिष्टोमशेषत्वे च प्रमाणं तैत्तिरीयशाखास्थं प्राकरणिकं वाक्यम् ।

एवमंशुवाक्येऽपि "प्रजापतये स्वाहे" ति मान्त्रवर्णप्राप्तदेवताकोऽंशुद्रव्यको यागो ज्योतिष्टोमांदेशेन विधीयते । नामधेयत्वपक्षेऽपि च देवतासम्बन्धवलादेव यागे कल्पितेऽतिदेशात् पुरोडाशादिद्रव्यलाभः । अस्तु वा अंशुवाक्ये प्रमाणान्तरेण देवताया अप्राप्तिः, तथापि ग्रहणे नाम्नोऽनन्वयात् अंशुसंज्ञकं अनिर्धारितविशेषावच्छिन्नं कर्म कुर्यादित्युक्ते अव्यक्तत्वेन अतिदे-

शतो द्रव्यदेवतालाभे सति यागत्वसिद्धिः । अतो यागान्तरविधानमेवैतदिति प्राप्त—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नेदं यागान्तरविधानम्, गृह्णातौ लक्षणायां प्रमाणाभावात्, भेदकप्रमाणाभावेन यागान्तरत्वे प्रमाणाभावाच्च । न च देवतासंयोगलक्षणो गुणः सः, देवतासंयोगलक्षणस्य गुणस्य श्रौतेऽपि ग्रहणे निवेशसम्भवेन यागाभेदकत्वात् ।

नचैन्द्रवायवादिवत् यागप्रकरणाभावात् अनिवेशः । प्रकरणाभावेऽपि तैत्तिरीयशाखास्थवाक्येन ज्योतिष्टोमस्याङ्गिताबोधवत् उपपादकताबोधस्याप्युपपत्तौ ग्रहणे देवतासंयोगस्योपपत्तेः । अतश्च अंशौ तावत् मन्त्रवर्णिकया देवताया ग्रहणाङ्गत्वं सुकरमेव । मन्त्रस्य लिङ्गेन ग्रहणाङ्गत्वावगमात् । यस्तु होममन्त्रः स उत्तरभाविष्यागोपकारकतासम्बन्धेनैन्द्रवायवाभ्याससम्बन्धियाज्यादिमन्त्रवत् यागीयदेवताप्रकाशकत्वेऽपि न देवताया यागाङ्गतापरः ।

न च तद्वदिह ग्रहणाङ्गताबोधकवाक्यभावात् विनिगमनाविरहः । ग्रहणप्रकरणस्यैव नियामकत्वात् । अदाभ्यवाक्येऽपि यद्यपि मन्त्रवर्णात् ग्रहणाङ्गतया न देवताप्राप्तिरस्ति तथापि विधिवाक्य एव लक्षणाभिया विनियोगभङ्गातिदेशकल्पनादिदोषभिया च समाप्तपुनरात्तत्वमेवैकं व्यवहितकल्पनावदङ्गीकृत्य गुणसङ्क्रान्तशक्तिना विधिना देवताविशिष्टं ग्रहणमेव यागोद्देशेन विधियते ।

न च लक्षणादिदोषभिया ग्रहणविध्यङ्गीकारेऽपि देवताया मन्त्रवर्णेनैव प्राप्तिरसम्भवात् न तद्वैशिष्ट्यस्यापि विधेयत्वमिति वाच्यम् । मन्त्रवर्णस्य हि ज्योतिष्टोमयागाङ्गतया देवताप्रापक-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ६३

त्वमभ्युपगम्यते?ग्रहणाङ्गतया वा? नाद्यः; सामान्यसम्बन्धबोधक-
प्रमाणाभावेन मन्त्रस्य तदङ्गत्वे प्रमाणाभावात् । नान्त्यः, मन्त्र-
स्य स्वाहाकारान्तलिङ्गत्वेन सन्निधिमात्रेण ग्रहणाङ्गत्वानुपप-
त्तेः । (१)“शुकं ते शुक्रेण गृह्णामी”ति मन्त्रेण लिङ्गविनियुक्ते-
न सन्निधिवाधाच्च ।

अत एव तद्विध्यभावेन देवताप्राप्तेरभावाद्विधिनैव देवता
विधेया । सापि न पूर्वयागे यागान्तरे वा । वाक्यभेदविनियोग-
भङ्गादेः त्रिणां कारणं निष्प्रमाणकत्वात्, देवतामात्रविधानेऽपि
'अदाभ्यं गृहीत्वा' इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गाच्च । अतः समाप्तपुनरा-
त्तत्वरूपदोषमेवाङ्गीकृत्य देवताविशिष्टं ग्रहणमेव यागोद्देशेन वि-
धीयते । अतो न तावत् गुणो भेदकः ।

नाप्यदाभ्यवाक्ये उत्तरकालतारूपानुपादेयगुणश्रवणात्
यागान्तरम् । अनुपादेयगुणस्य स्ववृत्तिविध्युत्तारणपूर्वकं पारि-
शेष्याद्धात्वर्थवृत्तित्वबोधनद्वारा भेदोपयोगित्वं वक्ष्यते । प्रकृते तु
विध्युत्तारणेऽपि विधेर्ग्रहणसङ्क्रान्ततया पारिशेष्याभावेन प्रकर-
णान्तरन्यायाविषयत्वात् ।

न च संज्ञया भेदः ; संज्ञाया यागसामानाधिकरण्याभावेन
तदभेदकत्वात् । अत एव ग्रहणसामानाधिकरण्यात् तद्वेदक-
त्वमुपांश्वन्तर्यामाद्यपेक्षया इष्टमेव । ऐन्द्रवायवाद्यपेक्षया तु भेदो
देवतारूपगुणादधिगन्तव्यः । संज्ञात्वं च ग्रहणस्य ग्राह्यसंस्कार-
त्वप्रसिद्धेः ज्योतिष्टोमाङ्गताबलेन तदीयसोमसंस्कारार्थत्वप्रतीतेः
शक्यार्थस्य प्राप्तत्वात्तत्प्ररूपन्यायेन । अतश्च स्ववाक्योपात्तक-
र्माभावेऽपि अध्याहारेण तदन्वयोपपत्तेः ग्रहणसंज्ञात्वं अश्व-
घ्राभ्यपदयोः नानुपपन्नमिति मूलानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु उक्तविधया सोमाख्यद्रव्यपरत्वेनैवोपपत्तौ कर्म-
कारकाध्याहारद्वितीयाभङ्गादौ प्रमाणाभावात् “यत्ते सोमादाभ्यं
नाम जागृवि” इति मन्त्राददाभ्यशब्दस्य सोमपरत्वप्रतीतिश्च द्र-
व्यसंज्ञैवेयमिति न्यायसुधोक्तः पन्थाः युक्त इत्युत्पश्यामः ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे यथाशक्त्युपबन्धविषयत्वम्, अङ्गत्वात् ।
सिद्धान्ते प्रधानत्वान्नेति ध्येयम् ।

सूत्रं तु द्रव्यपदलक्षितदेवताया यागाङ्गत्वाभावात् केवले
अनारभ्याधीतेऽपि अस्मिन् ग्रहणमेव कर्मशेषस्स्यात्, दूरस्थस्या-
पि यागस्य देवतासम्बन्धोपपादकत्वोपपत्तेरिति व्याख्येयम् ।

इति नवममंश्वदाभ्याधिकरणम् ॥

अथ दशमं चयनाधिकरणम् ॥ (१०) ॥

सू-अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः

प्रतीयेत ॥ २-३-२१. ॥ (पू) ॥

(विषयसंशयौ)

अनारभ्यैव श्रुतम्-“य एवं विद्वानग्निं चिनुते” इति । तथा
‘अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजन्ति, तमुक्त्थयेन, तमतिरात्रेण, तं
षोडशिना तं द्विरात्रेणेत्यादि एकादशरात्रान्तम् । तत्र चिनोतिः
लक्षणया यागान्तरविधायकः ? अथ वा चयनविधायकः ? इति
विचार्यते । तत्र अग्निपदवाच्यः शुद्धोऽग्निः न तावत् चयनेनो-
त्पाद्यत इति न तज्जनकत्वेन चयनविधिर्युक्तः, चयनसंस्कृत-
लौकिकाग्रेषु भूतभाव्युपयोगाभावात् न चयनसंस्कार्यत्वत् ।

(पूर्वपक्षः)

न चाग्निशब्दस्य निरूढलक्षणयाऽऽहवनीयादिपरत्वमङ्गीकृत्य तदुद्देशेन चयनविधिः । आहवनीयस्याऽऽधानैकजन्यत्वेन चयनजन्यत्वस्य तावदसम्भवात् । अन्यथा चयनवाक्यस्थाग्निशब्देनाऽऽहवनीयादौ निरूढलक्षणायामपि प्रमाणाभावात् । आधानप्रकरण एव हि अग्निपदस्य आहवनीयादिपदसमभिव्याहारात् निरूढलक्षणा समाश्रिता । अतश्च धर्मग्राहकप्रमाणेनाहवनीयादेराधानैकजन्यत्वात् न चयनजन्यत्वसम्भवः । नापि चयनसम्पादितस्थण्डिलाधारत्वसम्बन्धेन संस्कार्यत्वम्, तथा सम्भवेऽपि चयनस्य 'इष्टकाभिरग्निं चिनुते' इति वचनेन प्राप्तस्याविधेयत्वात् । यद्यपि च तत्र गुणमात्रविधानमङ्गीकृत्येह चयनोत्पत्तिरिष्येत, तथापि उत्तरवाक्येषु अनुयजनप्रतियोगित्वरूपस्य गुणस्य यागमन्तरेणानुपपद्यमानस्य श्रवणात् तदनुरोधेन चिनोतेरपि लक्षणया यागपरत्वनिश्चयः । तथा हि—

'अथातोऽग्नि'मित्यत्राग्निमिति द्वितीया न कर्मकारकपरा, अपि तु (१) 'अनुर्लक्षण' इति सूत्रात् काललक्षणार्थस्यानोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञत्वात् तद्योगनिमित्ता । अतश्च अग्निष्टोमादिवृत्त्यनुयजनप्रतियोगित्वं तत्पूर्वभावित्वलक्षणं द्वितीयार्थः । तस्य च 'देवदत्तमनुगच्छति यज्ञदत्त' इत्यादौ तुल्यक्रियावृत्तित्वाविनाभावादग्निपदस्य यागपरत्वं गम्यते । अस्ति चाऽऽहवनीयप्राप्त्या तत्परून्यनायः । एवं च विशिष्टविधिगौरवपरिहारार्थमग्नि-संज्ञकयागप्राप्त्यालोचने क्रियमाणे विद्वद्वाक्यमेवानन्याक्षिप्तशक्तित्वाद्यागविधायित्वेन निश्चीयते ।

अत एव तत्रसचिनोतिः इष्टकावाक्यप्राप्तचयनानुवादक-

स्सन् यागलक्षकः । तस्य च फलापेक्षायां “पुरस्तादुपसदां प्र-
वर्ग्येण प्रवृणक्ति” इतिवत् कालविधिपरेणापि ‘अथात’ इति
वाक्येन अर्थात् कृत्स्नाङ्गत्वसिद्धेः ‘ऋध्नोत्येवे’ति फलश्रवणम-
र्थवादः । अङ्गापेक्षायां च अव्यक्तत्वात्सोमादतिदेशकल्पनम् ।
अतश्च सिद्धं वाक्यान्तरोपात्तात् अनुयजनप्रतियोगित्वरूपात्
गुणात् यागान्तरत्वम् ।

(सङ्गतिः)

अत एव पादाध्यायमङ्गतिरपि । अनुयजनप्रतियोगित्वस्य
च वक्ष्यमाणरीत्या सिद्धान्तेऽविधेयत्वात् संदिग्धविधेयताक-
त्वम् । अनन्तरा तु वाक्यान्तरोपात्तो देवतारूपो गुणो ग्रहणे
ऽपि सम्भवान्न भेदको यागस्य । अयं तु चयनेऽनिविशमान-
त्वात् भेदक एवेति पूर्वपक्षोत्थानात् द्रष्टव्या ।

यच्च वार्तिकेऽग्निशब्दस्य ‘अथात’ इत्यादिवाक्ये ‘अग्निं यज-
तीति यागसामानाधिकरण्यात् यागनामधेयत्वावगमात् उत्पत्ति-
वाक्येऽपि चिनातेर्यागपरत्वं, ‘अथात’ इत्यादिवाक्येषु तु तद्या-
गानुवादेनाग्निष्टोमादिसंस्था द्विरात्रादिकालाश्च वैकल्पिका विधीय-
न्ते, तत्रत्यानुशब्दश्च(१)“एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां” इत्यने-
न प्राप्त्यपोतिष्टोमोत्तरकालतानुवादः । उक्त्यादिवाक्येषु च
यजतिपदस्यैवानुषङ्गः, नानुशब्दस्य । यागस्य च ऋद्धिः फलं स-
त्रिसत्रवदिति पक्षान्तरमुक्तम्, तत् गुणप्रमाणकभेदाभावेन अ-
सङ्गतिप्रसङ्गात् अग्निपदस्य रुढस्य सामानाधिकरण्यमात्रेण ना-
मधेयत्वायोगात् सामानाधिकरण्यस्य चाग्निशब्दस्य अनुशब्द-
योगनिमित्ताद्वितीयान्तत्वेन दुरुपपादत्वात्, अन्यथा अनुशब्द-
स्य सापेक्षत्वापत्तेः उपेक्षितम् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ६७

तस्मात् पूर्वोक्तविधयैव यागविधिः । एवं च “अग्नेः स्तोत्र”
“मयेऽशस्त्रं” “चित्यस्य षडुपसदो भवन्ती”त्यादिलिङ्गदर्शनमप्यु-
पपन्नं भवति । अन्यथा चयनस्यापूर्वत्वेन स्तोत्राद्यभावात् लि-
ङ्गदर्शनानुपपत्तिः । सूत्रं स्पष्टम् ।

(सिद्धान्तः)

सू-द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थ-

त्वात् ॥ २-३-२२. ॥ (सि)

अग्निशब्दस्य निरूढलक्षणयाऽऽहवनीयादिपरत्वात् तत्सं-
स्कारकत्वेनैव स्वानेष्याद्यस्थण्डिलाधारत्वसम्बन्धेन यथाश्रुत-
चयनविध्युपपत्तौ उभयोरप्यश्रुतयागपरत्वकल्पने इष्टकावाक्यस्य
च विशिष्टविधिपरत्वकल्पने प्रमाणाभावः ।

न चानुयजनप्रतियोगित्वस्य यागपरत्वं विनानुपपत्तिः,
‘षाकमनुभुङ्क्ते’ इत्यादौ विजातीयक्रियास्थलेऽपि तद्दर्शनात्। देवदत्त-
मनुगच्छतीत्यादौ तु क्रियान्तरानुपादानादुपस्थितत्वात् गमनस्यैव
प्रतीतिः । प्रकृते तु चयनक्रियाया एव प्रकृतत्वात्तामादायैवानु-
शब्दोपपत्तिः । अत एव चयनोत्पत्तिवाक्ये आहवनीयादेः संस्का-
र्यत्वावगमेऽपि आधानवदनुत्पाद्यत्वेन स्वरूपे आनर्थक्यात्
‘अग्निं संमार्ष्टी’ तिवदुपयोगापेक्षायां प्रकरणाभावेऽपि ‘अथा-
त’ इत्यादिवाक्यैः अग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमाद्यङ्गत्वेन चय-
नं विधीयते । अत एव तत्र चयनस्य शाब्दत्वसिद्ध्यर्थं तत्रा-
ग्निपदेन चयनसंस्कृताग्निलक्षणा चयनमात्रलक्षणा वा अभ्युप-
गम्यते । उत्पत्तिवाक्ये चोपयोक्ष्यमाणाहवनीयाधारभूतस्थल-
निष्पादकत्वावगमात् तस्य च पूर्वकालं विना अनुपपत्तेः उप-

सादिनान्तरत्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वाच्च अनुशब्दोऽनुवादः ।
अग्निष्टोमशब्दस्य च जातिशक्तिन्यायेन संस्थावाचकस्यापि
व्यक्तिन्यायेन स्वसम्बन्धिक्रतूपस्थापकत्वात् “प्रकृतौ वा द्विरु-
क्तत्वा”दिति न्यायात् ज्योतिष्टोम एव प्रचुरप्रयोगाद्वा तदुपस्था-
पकत्वोपपत्तेः तदुद्देशेन चयनं विधीयते, अग्निष्टोमसंस्थाकत्ववि-
शिष्टज्योतिष्टोमत्वस्य च अग्निष्टोमपदशक्यतावच्छेदकस्य उद्दे-
श्यतावच्छेदकत्वात् नाग्निष्टोमसंस्थाकत्वरूपविशेषणाविवक्षा ।

अथवा लाघवेन ज्योतिष्टोमत्वस्यैव वा उद्देश्यतावच्छेदक-
त्वकल्पनात् तद्विवक्षायामपि न दोषः । यजतिश्च साधुत्वार्थ-
मनुवादः । अथातश्शब्दावपि प्राप्तार्थत्वात् केवलं ज्योतिष्टोमो-
द्देशेन चयनमात्रमथात इत्यत्र आद्येन वाक्येन विधीयते ।

अत्र च ज्योतिष्टोमप्रयोगसंवलितत्वाच्चयनप्रयोगस्य अ-
नुष्ठानसादेश्यात् ज्योतिष्टोमाङ्गत्वप्रसक्तत्वावपि “पशुकामश्चिन्वी-
ते”ति वाक्यैः चयनस्य काम्यत्वावगमात् न तदङ्गत्वम् । च-
यनस्य हि पश्वर्थत्वे क्रियारूपत्वेन च आश्रयापेक्षाभावेऽपि चि-
नोतेः सकर्मकत्वात् उत्पत्तिवाक्यावगताग्निकर्मत्वावगतेः आहव-
नीयसंस्कारकस्य चयनस्य पश्वर्थत्वानवगमात् तस्य चोपयोगापे-
क्षायां येष्वाहवनीय औपदेशिकप्रक्षेपद्वारा प्राप्तस्तत्प्रयोगान्तः-
पातावगमेऽपि ज्योतिष्टोमप्रयोगसंवलितत्वाच्चयनप्रयोगस्य त-
त्प्रयोगान्तःपातः सुलभ एव । तत्र च अप्राप्ताङ्गत्वसिद्धयै र्म-
यं विधिरर्थवानेव ।

अत एव निर्जातप्रयाजनत्वात् कालार्थं एवायं संयोगः इ-
त्यपास्तम् । कालस्य प्राप्तत्वेन अविधेयत्वात् । न च ज्योति-
ष्टोमस्य प्राकराणिकोत्तरवेद्यवरोधात् एतस्य वचनस्य विकृत-
मिष्टोमभिधायकत्वं शक्यम् । अग्निष्टोमपदस्य प्रचुरप्रयोगेण ज्यो-

तिष्ठोम एव शक्ततया एतस्यापि निरवकाशत्वात् । “सोत्तरवे-
दिषु क्रतुषु चिन्वीत, उत्तरवेद्याः ह्यग्निश्चीयते” इति वचनेन अ-
ग्न्युत्तरवेद्योः समुच्चयविधानेनाविरोधाच्च । इदं हि वचनं चय-
ननिष्पाद्यस्थण्डिलाधारत्वेन निरवकाशत्वात्, सिद्धवर्तिर्देशा-
न्यथानुपपत्तिकल्पितेन विधिना उत्तरवेदिं विदधत् समुच्चय फ-
लति । दाशमिकी अग्नेर्विकल्पोक्तिस्तु नोत्तरवेदिप्रतियोगित्व-
विषयिणी, अपि तु स्वाभावप्रतियोगित्वविषयिणी । तत्प्रमाणं
च सत्रे समारोपकालविधिपरे वाक्ये ‘यदाग्निं चेष्यमाणा भवन्ती’
ति सिद्धवत्पाक्षिकानुवाद इति तत्रैव वक्ष्यते ।

नचैवं चयनमात्रमिव उत्तरवेदिमात्रमपि ज्योतिष्ठोमे कदा-
पि न स्यादिति वाच्यम् । ‘उत्तरवेद्यामग्निं निदधाती’ति वचने-
न उत्तरवेदेः संयोगपृथक्त्वन्यायेन साक्षादग्निधारणार्थत्वेनापि
विनियोगात् । इदं हि वचनं न परम्परासम्बन्धेन आधारवि-
धानपरम्, चयनाधारत्वविधिबलेनैव तत्सिद्धेः । अपि तु च-
यनाभावपक्षे साक्षादाहवनीयाधारविधिपरम् । यद्यपि एतद्वि-
धिविधेयस्य साक्षादाधारत्वस्य प्राकरणिकत्वात् तद्वरोधे चय-
ननिष्पाद्यस्थण्डिलानिवेश इति शक्यते वक्तुम्, तथाप्यग्निष्ठो-
मपदस्य प्रचुरप्रयोगेण ज्योतिष्ठोम एव शक्ततया निरवकाश-
त्वात् न कोऽपि विरोधः; अत एव बौधायनकल्पादौ ‘अग्निष्ठो-
मेन यक्ष्यमाणो भवति, ‘सन्तिष्ठतेऽग्निष्ठोम’इत्युपक्रमोपसंहारा-
भ्यां दीक्षणीयाद्यज्ञाम्नानं सङ्गच्छते । अन्यथा अग्निष्ठोमशब्दस्य
प्रकृतिविकृतिसाधारणाग्निष्ठोमसंस्थक्रतुमात्रपरत्वे दीक्षणीया-
दीनामपि प्रकृतिविकृतिसाधारण्यापत्तेः अतिदेशविधेः तदीय-
स्थानुपपत्तेः । अतो ऽग्निष्ठोमादिपदानां पार्थपदस्येवार्जुने ज्यो-
तिष्ठोम एव प्रचुरप्रयोगात् तत्परतया निरवकाशत्वम् ।

नचैवं अग्नेः उत्तरवेद्या समुच्चये भिन्नकार्यत्वापत्तेः उत्तरवे-
दिकार्यापस्या तदीयधर्मप्राप्तिः संकर्षे वक्ष्यमाणा विरुध्येतेति
वाच्यम् । उत्तरवेदेः संयोगपृथक्त्वन्वायेन कार्यद्रयावगमात्
तद्धर्माणामपि कार्यद्रयप्रयुक्तत्वावगतेः चयननिष्पादितस्थण्डि-
लस्य साक्षादग्निधारणरूपकार्यार्थत्वेन तदंशे उत्तरवेदिकार्याप-
न्नत्वात् तद्धर्मप्राप्त्युपपत्तेः । अतएव कार्यान्तरांशे समुच्चैयमा-
नोत्तरवेद्यामपि धर्मा भवन्त्येव । तत्राविरुद्धेषु तन्त्रता, विरुद्धेषु
तु आश्रितिरित्यन्यदेतन् । सर्वथा ज्योतिष्टोमोद्देशेन चयनविनि-
योगविधिरिति सिद्धम् ।

अत एवानुशब्दोक्तकालयोगेऽपि चयनसंक्रान्तत्वात् विधेः
अदाभ्यवाक्यवदेव न ज्योतिष्टोमान्तरत्वशङ्का, ज्योतिष्टोमातिदे-
शेनैव सर्वविकृतिषु चयनप्राप्तिवत् द्विरात्रादिष्वपि प्राप्तिः सिद्धाव-
पि तेषु पुनर्वचनं चयनाश्रितगुणकामानां “इयनचितं चिन्वीत
स्वर्गकाम” इत्यादीनां प्राप्त्यर्थमिति (१) दशमे वक्ष्यते । गुणकामानां
हि आष्टमिकन्यायन प्रणयनवत् लौकिकचयनस्याश्रयत्वव्यावृ-
त्त्यर्थं चयने अपूर्वीयत्वविवक्षावश्यभावे ज्योतिष्टोमप्रकरणाभावे
ऽपि ‘अथात’ इति वाक्येन ज्योतिष्टोमस्यैवोपस्थितत्वात् तदपूर्व-
साधनीभूतचयनस्यैवाश्रयत्वापत्तेः तस्य विकृतौ प्राप्त्यभावेन ज्यो-
तिष्टोमतुल्योपस्थितिसंपादनद्वारा तत्तदपूर्वसाधनीभूतचयनस्य त-
त्तद्विकृतिष्वपि कासुचिदा (२) श्रयप्राप्त्यर्थं चयनपुनर्विधानं युज्यते ।

अत एव अतिरात्रादिपदानां प्रचुरप्रयोगात् तत्तत्संस्था-
कज्योतिष्टोमवाचिनामपि ज्योतिष्टोमे चयनस्य पूर्ववाक्यादेव
सिद्धेः तदाश्रितफलार्थं संस्थास्वपि चयनोपदेशस्य इयनचित्यादि-
गुणकामानां संस्थाश्रयभूतज्योतिष्टोमसंबन्धिचयनोपदेशेनैव प्रा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ७१

सिसंभवेन व्यर्थत्वात् अगत्या तत्तत्संस्थाकविकृतिलक्षकत्वं नानुप-
पन्नम् ।

एवं गुणकामप्राप्तिरूपप्रयोजनसत्त्वे ऽपि प्रकृतावग्रेरुक्तलिङ्गव-
शेना “भिः सोमाङ्गं वेच्छता” मिति ज्योतिष्टोमप्रकरणस्थकात्याय-
नवचनेन च पाक्षिकत्वावगमात् सर्वविकृतिष्वपि तथैव प्राप्तेः
‘यत्रमयंश्चरुर्भवति’ ‘उत्तरेऽहनू द्विरात्रस्य गृह्यत’ इत्यादिवदुक्त्या-
दिषु कासुचिद्विकृतिषु पुनःश्रवणं नियमफलकमिति प्रयोजना-
न्तरमपि ज्ञेयम् ।

न च चयनप्रकरणस्थगुणकामप्राप्तिफलकत्वे संभव-
ति दूरस्थतत्तद्विकृतिविध्येकतापन्नातिदेशप्रमाणकाग्निपाक्षिकत्वो-
पस्थितिसापेक्षनियमफलकत्वकल्पनानुपपत्तिरिति वाच्यम् । त-
त्तद्विकृतित्वावच्छेदकावच्छेदेन अग्निविधौ नियमस्यार्थसिद्धत्वे-
नाकल्पनीयत्वात् । अतिदेशोपस्थितिं विना अग्निविधिगतवै-
यर्थ्यप्रतिसन्धानाभावेन गुणकामप्राप्तेरपि प्रयोजनत्वाकल्पना-
च्च । अतिदेशोपस्थितौ च झटिति तद्बोधितपाक्षिकत्वस्यैव उ-
पस्थितौ नियमस्यैव फलत्वौचित्याच्च ।

नचैवं क्लृप्तोपकाराग्निपुनःश्रवणात् गृहमेधीयाज्यभागन्या-
येनाङ्गान्तरपरिसंख्याफलकत्वस्यौप्यापत्तिः । तद्वदिहापि अ-
तिदेशाधीनप्राप्तिकाहवनीयप्राप्त्युपजविकत्वेन अतिदेश(१)बा-
धकत्वानुपपत्तेः, द्विरात्रादिष्वतिदेशप्राप्ताङ्गविषयलिङ्गसद्भावा-
च्च । अतः परिसंख्याफलकत्वासंभवेऽप्युक्तरूपोभयफलकत्वे-
न काचिदनुपपत्तिः । तन्त्ररत्नादौ तु नियमफलकत्वाङ्गीकारे
बीजं न पश्यामः ।

(१) लोपकत्वा

न चैकस्य फलद्वयसंकरो दोषाय । “उत्तरेऽहन्दिद्वारात्रस्य गृह्यते, मध्यमेऽहंस्त्रिरात्रस्य, चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्ये”त्यादौ बहुशस्तथा दृष्टत्वात् । तथा हि-

ज्योतिष्टोमप्रकरणे ‘य एवं विद्वान् षोडशिनं गृह्णाति’ इत्यनेन षोडशिसंज्ञकं ग्रहणमाप्नातं ज्योतिष्टोमाङ्गम् । तस्य मान्त्रवर्णिकदेवताबलात् ऐन्द्रवायवादिवदेव यागाभ्यासोऽप्यर्थसिद्धः । “एकविंशो भवति प्रतिष्ठित्यै” इत्यनेन च तदङ्गत्वेन स्तोत्रं विहितम् । तदत्र षोडश्यादिशब्दा यथाग्रहणे प्रयुज्यन्ते तथा स्तोत्रेऽपि, ‘एकविंशः षोडशी अग्निष्टोमसामे’त्यादिप्रयोगात् ; संस्थावाचित्वञ्चैषां श्रुतिस्मृतिकल्पसूत्रादिषु प्रयोगात् स्पष्टमेव । संस्थाश्च संपूर्वकस्य तिष्ठतेः समाप्तिवाचित्वात् तत्तत्स्तोत्रैः क्रतोः समाप्तय उच्यन्ते । यद्यपि च ततः परमप्यङ्गानि प्रधानाभ्यासाश्च केचित् सन्त्येव, तथापि स्तोत्राणि न कानिचिदिति संस्थात्वाविघातः ।

अत्र च षोडश्यादिशब्दानां प्रचुरप्रयोगात् संस्थास्वेव शक्तिः । न तु ग्रहणादौ । यद्यपि तत्तत्संस्थाकज्योतिष्टोमेऽपि प्रचुरप्रयोगोऽस्त्येव, तथापि नागृहीतविशेषणन्यायात् प्रचुरतया प्रयोगाच्च संस्थायामेव शक्तिः, ज्योतिष्टोमे तु निरूढलक्षणा, प्रचुरप्रयोगात् । क्रत्वन्तरे तु साम्प्रतिकी, काचित्कप्रयोगात् । तत्र चैषं स्थितिः—वाचनिकाग्निष्टोमसंस्थायां नाग्निष्टोमस्तोत्रोत्तरं उक्थ्यादिकं किञ्चित् । उक्थ्यसंस्थायां तु तदुत्तरं उक्थ्यस्तोत्राणि, न तु तस्याप्युत्तरं षोडश्यादि । षोडशिसंस्थायां तु तदुत्तरं षोडशिसन्तोत्रं, न तस्याप्युत्तरमतिरात्रादि । अतिरात्रसंस्थायां तु तेनैव समाप्तिरिति ।

तत्र च षोडशिसंस्थायाः प्रकरणात् ‘चतस्रः सामसंस्थाः’

इति वचनाच्च ज्योतिष्टोमाङ्गत्वप्रसक्तौ “षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत” इति वचनेन ज्योतिष्टोमाश्रितायाः तस्याः फलोद्देशेन विधिः उक्थयातिरात्रयोरिव “पशुकाम उक्थयं गृह्णीयात्” “अतिरात्रेण प्रजाकामं याजेयत्” इति वचनाभ्याम् । नत्वग्निष्टोमसंस्थावत् क्रत्वङ्गत्वम् । अत्र च सर्वत्र संस्था एव फलाद्देशेन विधीयन्ते । न तु स्तोत्रादि, तत्तत्संस्थाकपागादिर्वा ; नत्र षोडश्यादिपदानां अशक्तत्वात्, लक्षणायां प्रमाणाभावाच्च । अतएवात्र स्तुवीतेत्यादिधातुः (१)निर्वपतिवत् अनुवाद एव ; अतश्च षोडशिनः काम्यत्वेऽपि क्रत्वङ्गतासिद्ध्यर्थं “अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्, अप्युक्थये” इति एतद्वचनद्वयं न विरुध्यते ।

अत्र हि नाग्निष्टोमादिसंस्थाङ्गत्वेन षोडशिसंस्थाविधिः, विरोधेन संस्थायाः संस्थाङ्गत्वासम्भवात् । अपि तु प्रतिप्रसवार्थापिशब्दस्वारस्यात् प्रकरणाच्च ज्योतिष्टोमाङ्गतयैव । अत एव तत्रत्यं अग्निष्टोमादिपदं लक्षणया तत्तद्ब्रह्मज्यभ्यासपरम्, सप्तमी च सतिसप्तमी आनन्तर्यादिरूपकालपरा । अतश्च राजन्यकर्तृकत्वे निमित्ते ज्योतिष्टोमाङ्गतया अग्निष्टोमाभ्यासोत्तरकालविशिष्टषोडशिसंस्थाप्रयोगो विधीयते । अर्थाच्च तस्य तत्तत्संस्थानिवृत्तिः । ततश्च नित्याग्निष्टोमसंस्था काम्या चोक्थयसंस्था ब्राह्मणवैश्वयोरेव । काम्या तु षोडशिसंस्था सर्वेषामेवेति विवेकः । एतस्यैव चाग्निष्टोमस्तोत्रोत्तरकालीनस्य षो-

(१) ‘सौर्यं चरुं निर्वपेत्’ ‘आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्’ इत्यादौ श्रुतौ निर्वपतिशब्दो यथा तत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धान्यथानुपपत्त्या यागे कल्पिते, तत्साधनीभूते द्रव्येऽर्थाक्षिप्तस्य समुदायात् पृथक्करणरूपस्य निर्वपस्यानुवादकः तद्वत् ‘षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत’ इत्यादौ संस्थासु विहितासु तदन्यथानुपपत्तिसिद्धस्तोत्राद्यनुवादकः स्तुवीत, गृह्णीयादित्यादिशब्द इत्यर्थः ।

डशिनोऽत्यग्रिष्टोम इति संज्ञा । “अत्यग्रिष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीया”
दिति शाखान्तरवचनात् ।

यत्तु “अतिरात्रे ब्राह्मणस्य गृह्णीया”दिति वचनं तत्
ब्राह्मणकर्तृकत्वे निमित्ते ऽतिरात्रसंस्थाकज्योतिष्टोमोद्देशेन षोड-
शिग्रहणविधायकं, न त्वतिरात्रसंस्थोद्देशेन, तस्याः प्राकृता-
ङ्गैरेव निराकाङ्क्षत्वात् । नाप्यग्रिष्टोम इतिवद्विधिः । अपिशब्दा-
भावात् । अनुषङ्गाङ्गीकारे उक्थ्यवाक्ये तत्पाठवैयर्थ्यात् । अतो
यथोक्त एव वाक्यार्थः । तस्य च नियवत्प्राप्तौ “नातिरात्रे षो-
डशिनं गृह्णाती”त्यनेन पाक्षिकत्वसिद्ध्यर्थं निषेधोऽपि नानुपपन्नः ।
तेन ब्राह्मणस्य विकल्पः, अन्येषां नैवेति सिद्धम् ।

यत्तु “अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती”ति कचिद्विद्यते वचनं तत्
“अतिरात्रे ब्राह्मणस्ये”त्येतदेव ब्राह्मणपदत्यागेनेति वेदितव्यम् ।
गुणत्वेऽपि वा ब्राह्मणवाक्येनोपसंहार इत्यवधेयम् । अतश्च उत्त-
रेऽहन्नित्यादिवाक्येषु द्विरात्रोत्तराहस्यातिरात्रसंस्थाकत्वादतिदे-
शतो विकल्पेन प्राप्तस्य षोडशिग्रहणस्य नियमः ब्राह्मणानिमित्तक-
त्वेन प्राप्तस्यानैमित्तिकत्वसिद्धिद्वारा राजन्यवैश्ययोरपि तस्य
प्राप्तिश्च पार्यसारथ्युक्त्या फलम् । अहीनादीनामहरन्तरेषु अतिरा-
त्रसंस्थाकेषु षोडशिग्रहपरिसंख्या च फलम् । अत एव एकस्या-
हीनस्य एकमेव चतुर्थं वीष्सा त्वहीनान्तरमादाय, इति (१)दशमे
वक्ष्यते । तेन सर्वत्रैव फलसाङ्कर्यस्येष्टत्वात् ‘तमुक्थ्येने’त्यादावपि
तत्सङ्कारो न दोषायेति सिद्धम् । सूत्रं स्पष्टम् ।

सू-तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन
धर्मविधानानि २-३-२३ ॥

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ७६

यत्तु लिङ्गदर्शनं अग्निशब्दस्य यागपरत्वे उपन्यस्तम् 'अग्नेः
शस्त्र'मित्यादि, तत्रत्याग्निशब्दस्य लक्षणया चयनसंपादितस्थ-
ण्डिलस्थापिताग्निसंपादितयागपरत्वेनाप्युपपत्तेरकिञ्चित्करम् ।
अत एव चयनप्रकरणेऽग्निशब्द उत्पत्तिवाक्यस्थाहवनीयपरः वि-
नियोगवाक्यस्थश्चयनपरः "हिरण्यशकलैरग्निं प्रोक्षति" इत्यादि-
वाक्येषु अग्निस्थापनप्राग्भाविपदार्थविधायकेषु स्थलपरः, 'अग्नेः
स्रोत्र'मित्यादिषु यागपर इति धर्मविधानोपपत्तिः ।

प्रयोजनम् सूत्रञ्च स्पष्टम् ।

इति दशमं चयनाधिकरणम् ।



अथैकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम् (११) ॥

सू-प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥ २-३-२४.(सि)

तदेवं गुणप्रमाणकं भेदं सापवादं प्रसाध्याधुना क्रममाप्तः प्र-
करणान्तराद्भेदो निरूप्यते ।

(विषयसंशयौ)

कुण्डपायिनामयने श्रूयते—“उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं
जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते, मासं वैश्वदेवेन, मासं
चरुणप्रघासैः, मासं साकपेधेन, मासं शुनासीरीयेण” इति । तत्र
किमेषु प्रसिद्धाग्निहोत्रानुवादेन मासादिगुणविधिः ? उत मासा-
दिविशिष्टकर्मान्तरविधिरिति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

अत्र च मासादेरनुवादेयस्य गुणस्य पूर्वपक्षे सिद्धान्ते वि-

श्रेयस्त्वे निश्चितेऽपि कृतिसाध्यत्वरूपोपादेयत्वेनानिश्चयात्, तादृ-
ग्गुणप्रयोज्यभेदनिरूपणेन पादाध्यायसङ्गतिः । दूरस्थस्यापि
चयनस्याग्निष्टोमपदलक्ष्यज्योतिष्टोमाङ्गत्वेऽभिहिते सुतरामग्निहोत्र-
पदवाच्यपूर्वकर्माङ्गत्वं मासादेर्गुणस्य संभवतीति पूर्वपक्षोत्थानात्
अनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र धातोः पूर्वविहिताविहितसाधारणवाचकस्यापि पूर्वविहि-
तमात्रवाचकेन नाम्ना समभिव्याहारात् पूर्वविहितकर्मोपस्थापकत्वो-
पपत्तेः न तावद्दूरस्थत्वमात्रेण कर्मान्तरविधायित्वशङ्का । न चैव-
मभ्यासाद्भेदोपपत्तिः, मासादिविधानार्थत्वेनान्यपरत्वात् । न च
मासादेर्विधानायोग्यत्वम्, कर्त्रादिवत्कृतिसाध्यत्वेन रूपेण तद-
संभवेऽपि कृत्यधिकरणत्वादिना तत्संभवात्, अन्यथा कालादेः
विधिसंस्पर्शाभावेनाविवक्षाप्रसङ्गात् ।

नचैवमपि प्राकरणिकसायमादिकालावरोधेन मासादिगु-
णस्य निवेशानुपपत्तेः गुणाद्भेदोपपत्तिः । सायंप्रातःकालस्य
तावद्मावास्यापराह्णवज्याप्यव्यापकभावेनोपपत्तेः विरोधाभावात् ।

न चात्यन्तसंयोगवाचिद्वितीयान्तमासपदोपदिष्टसातत्येन
विरोधः । आहाराद्यावश्यककार्यानुरोधेन सातत्यबाधावश्यंभा-
वेन जातेष्टिन्यायेन प्राकरणिककालोपसङ्ग्रहस्यापि सिद्धान्त
इवोपपत्तेः ।

न च जीवनाख्यानमित्तेन तस्य विरोधः, सायमादिकाले-
नेव निमित्तस्य मासेनाप्यवच्छेदोपपत्तेः । अतश्च मासावच्छिन्नसा-
यंप्रातःकालीनजीवनस्यैव निमित्तत्वात् तावद्भिः प्रयोगैरेकः प्रस-
वायपरिहार इति सिद्ध्यति । काम्यप्रयोगे वा मासादिविधाना-
न्म कश्चिद्विरोधः ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ७७

वस्तुतस्तु सत्यपि विरोधे मासस्य विशिष्यैव विहितत्वेन निरवकाशत्वात् अग्न्युत्तरवेद्योस्साक्षादग्न्याधारतायामिव विकल्पोपपत्तिः । अत एव दर्शपूर्णमासादौ पौर्णमास्यादिकालेन विरोधपरिहारासंभवेऽपि न दोषः ।

अस्तु वा मासादेर्जरामरणादिरूपनित्यप्रयोगविधिवदनुकल्पतया विधिः । अथ वा काण्डपायिनामयन एव दीक्षितत्वेन पर्युदस्तस्य निषिद्धस्य वाग्निहोत्रादेः मासं प्रतिप्रसवः । अथ वा अग्निहोत्राद्युद्देशेन मासकाले विहितेऽपि उद्देश्यत्वेन प्रकरणे उपस्थितानामग्निहोत्रादीनां निराकाङ्क्षणामपि सत्रप्रयोगवचनेन फले विधानान्नित्यप्रयोगेणापि विरोधः ।

नचैवं 'द्वादशाहीनस्ये'त्यादावपि अहीनस्योद्देश्यत्वेनोपस्थितत्वाज्ज्योतिष्टोमप्रयोगविधिना फलेऽङ्गतया वा ग्रहणापत्तिः । संवत्सरपरिमितसत्रप्रयोगस्य षण्मासपरिमितसोमयागैः अपरिपूरणादाकाङ्क्षावशेन स्वतो निराकाङ्क्षणामपि अग्निहोत्रादीनां फले विधानेऽपि अहीनादौ तदप्रसङ्गात् । अतो मासादिरूपस्य गुणस्य कालान्तरावरोधेऽपि निवेशोपपत्तेः न गुणाद्भेदः ।

न च प्राप्तकर्मानुवादेनोपसदां तदुत्तरकालत्वस्य मासस्य कर्तृबहुत्वस्य च विधौ वाक्यभेदापत्तेः तदापादकस्य गुणस्य भेदकत्वोपपत्तिः । कालविधेः प्रयोगविधित्वेन "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेते"त्यादौ कालत्रिकसाहित्यरूपानेकगुणविधिवदवाक्यभेदात् । "मासं दर्शपूर्णमासाभ्या"मित्यत्रोपसदुत्तरकालस्याश्रुतत्वेनाविधेयत्वाच्च ।

न च "उपसद्भिश्चरित्वा" इत्यस्यानुषङ्गसंभवः । उभयोरप्यनपेक्षितत्वेन तदसंभवात् । अतो न कर्मान्तरविधिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभीधीयते—सत्यं न प्रमाणान्तरमस्ति भेदकम् । तथापि अनुपादेयगुणयुक्तानुपस्थितिरूपं प्रकरणान्तरं समस्त्येव भेदकम् । तथा हि—

विधिस्तावदप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावः, प्रमाणत्वाच्चाज्ञातज्ञापन-फल इत्यविवादम् । अतो विधेरज्ञातज्ञापनविषयत्वापरपर्यायं विधेयत्वं, पुरुषप्रवृत्तिविषयत्वापरपर्यायश्चोपादेयत्वं द्वयमपि ज्ञाप्यम्, तदपि सामानाधिकरण्येनेत्युत्सर्गः । तच्च पदश्रुत्या धात्वर्थ एवेत्यप्युत्सर्ग एव । योग्योपपदसद्भावे तु तदर्थवृत्ति इत्य-पवादः । अत एव “यदाहवनीये जुहोती”त्यत्र विशिष्टविधि-गौरवभिया पदश्रुत्युपात्तधात्वर्थस्य च भाव्यत्वलिप्सयोपादेयत्वं विधेयत्वं च सामानाधिकरण्येनाहवनीय एव बोध्यते । संभवति च तस्य वाजपेयाधिकरणोक्तरीत्या प्रणयनप्रादुष्करणादिरूप-क्रियाविशिष्टत्वेन उपादेयता विधेयता च ।

अत एव तन्निर्वाहार्थं कर्मणः प्राप्त्यालोचनायां प्रापक-विध्युपस्थापकप्रमाणान्तराभावेऽपि जुहोतिनैव कथंचिदुपस्थाप-नादुद्देश्यत्वाविधातः । यत्र तु न योग्यमुपपदं यथा मासमि-त्यादौ कालादेर्वाजपेयाधिकरणोक्तरीत्यैवोपादेयत्वाविषयत्वा-त्तत्रोपादेयत्वस्य पारिशेष्येण धात्वर्थमात्रवृत्तित्वात् सामानाधिक-रण्यार्थं विधेयत्वमपि तद्गतमेव विधिरवबोधयति ।

एवं सत्यपि यदि ‘सायं जुहोती’ त्यादिवत् प्रत्यभिज्ञापकं प्रमाणं सन्निध्याद्यभविष्यत् ततोऽगत्या कालादौ विधेयत्वं क-र्मणि चोपादेयत्वं इत्येवं वैयधिकरण्यमपि आश्रीयेत । सम्भव-ति हि कालादौ कृत्स्न्याप्यस्वरूपोपादेयत्वासम्भवेऽपि कृत्याधि-करणत्वादिना अज्ञातज्ञापनविषयत्वाख्यं विधेयत्वम् । अत एव

च विधिसंस्पर्शाद्विवक्षा अङ्गत्वं च । न तु तदस्ति । अतस्सामानाधिकरण्यलाभार्थं विधेयत्वस्यापि धात्वार्थवृत्तितयैव बोधनात् विहितविधानायोगाद्भेदसिद्धिः ।

अत्र धात्वर्थे उपादेयत्वसामानाधिकरण्येन विधेयत्वबोधनं प्रकरणान्तरव्यापारः । तत्राप्यनुपादेयगुणान्वयस्य स्ववृत्त्युपादेयतापनयनद्वारा परिशेषारूपप्रमाणसहकृतस्य धात्वर्थवृत्त्युपादेयतापादनं व्यापारः । प्रत्यभिज्ञापकप्रमाणस्य च सान्निध्यादेरुपादेयत्वविधेयत्वसामानाधिकरण्यप्रतिबन्धकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रत्यभिज्ञापकप्रमाणाभावरूपस्यासंनिधेरुक्तविधोपादेयत्वसामानाधिकरण्येन विधेयत्वबोधनं व्यापारः । एते एव च भवदेवादिग्रन्थे प्रयोगोत्पत्तिशब्दाभ्यासभिप्रेते ।

अत्र चोपादेयगुणाभाव एव प्रयोजकः, न त्वनुपादेयगुणान्वयोऽपि । गुणसामान्याभावेऽपि पारिशेष्येण धात्वर्थवृत्त्युपादेयतापादनोपपत्तेः । अत एव (१)दशमे गृहमेधीये “आज्यभागौ यजति” इत्यत्र कर्मान्तरत्वपूर्वपक्षे प्रकरणान्तरप्रमाणोपन्यासो युज्यते ।

नचैवं “तनूनपार्तं यजती” त्यादावपि तदापत्तेः कृतमभ्यासेनेति वाच्यम् । सत्यप्युपधेयसाङ्कर्ये न्यायस्वरूपस्यासाङ्कर्यात् । अभ्यासे हि उपादेयतामन्त्रीकृत्य पारिशेष्येण धात्वर्थे विधेयत्वापादनमेव व्यापारः । अत एव तत्र सान्निधिः प्रतिबन्धः, न तु प्रकरणान्तर इव प्रतिबन्धकः । प्रकरणान्तरस्थले तु न पारिशेष्येण विधेयत्वापादनं व्यापारः, विशिष्टविधिविधया कालादेरपि विधेयत्वाङ्गीकरणेन तदसंभवात्, अपि तु सत्यपि विधेयान्तरं स्वापादितोपादेयतासामानाधिकरण्यलाभार्थं धा-

त्वर्थेऽपि विधेयतापादनम् । अतो न्यायशरीरस्यासङ्कीर्णत्वाद्यु-
क्तः प्रकरणान्तराद्भेदः ।

ननु प्रकरणाद्यपेक्षयापि प्रबलस्य नाम्न एव सन्निधापक-
प्रमाणस्य सत्वात्सामानाधिकरण्यप्रतिबन्धकत्वोपपत्तेः कथं
“मामग्निहोत्रं जुहोती” त्यत्रापि भेदसिद्धिरिति चेत्-

न; नाम्नः खण्डवाक्यार्थबोधदशार्था लिङ्गसंख्याप्रकारकस्वा-
र्थबोधकत्वेन तदप्रकारकधातुपदबोध्यधात्वर्थवृत्तिविधेयत्वस्य स-
मानप्रकारत्वाभावेन नाम्ना प्रतिबद्धुमशक्यत्वात् । एवं हि सन्नि-
धेर्धात्वर्थवृत्तिविधेयताप्रतिबन्धकत्वं यद्घातोः स्वविषयपरत्वप्रमा-
पकत्वम् । घातोर्हि सन्निधिविषयीभूतपूर्वकर्मपरत्वे प्रमापिते
विधेयार्थकत्वं प्रतिबध्यते । अतश्च सन्निधिना “अग्निहोत्रं
जुहोती” त्येतद्वाक्यगतजुहोतिपदबोध्यस्य लिङ्गसंख्यानन्वयिन
एव होमविशेषत्वमात्रप्रकारतयोपस्थापितस्य ‘सायं जुहोती’त्येत-
द्वाक्यगतजुहोतिबोध्यत्वप्रमापणात् युक्ता तस्य तद्वाक्यगत-
जुहोतिवृत्तिविधेयार्थकत्वप्रतिबन्धकता । प्रकृते तु लिङ्गसंख्या-
न्वयिहोमविशेषत्वप्रकारतया नाम्नोपस्थापितस्य होमस्य ‘मासम-
ग्निहोत्रं जुहोति’ इत्येतद्वाक्यगतजुहोतिना बाधयितुमशक्यत्वेन
न नाम्नस्तद्वात्तिविधेयतार्थकत्वप्रतिबन्धकत्वोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु न नाम्नो विजातीयहोमत्वप्रकारकबोधजनकता-
पि, तथात्वे जुहोतिपर्यायत्वेन समप्रयोगानापत्तेः । अपित्वग्निदेव-
ताकहोमत्वेनैव । अतिप्रसङ्गस्य प्राचीनप्रयोगाभावनैवोद्भिदधि-
करणे स्थापितत्वेन योगरूढरूप्यनङ्गीकाराच्च । अन्यथा म-
त्वर्थलक्षणादिभिया अतिप्रसङ्गभङ्गार्थमपि रूढ्यङ्गीकारे सोमादा-
वपि तदापत्तेः । अतस्समानप्रकारत्वाभावान्न नाम्नो धात्वर्थवृ-
त्तिविधेयत्वप्रतिबन्धकता ।

अस्तु वा विजातीयहोपत्वमकारकबोधजनकता नाम्नः, तथापि नज्जन्यापस्थितेर्नामातिदेशविधया भेदानुगुणत्वेऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बाधपतिबन्धकता । अत एव यत्र नाख्यातेन भेदबाधः तत्र नाम्नः पूर्वकर्मोपस्थापकत्वमाख्यातसमानाधिकरणत्वादिष्टमेव ।

अत एव यत्र श्रुतायां अनुमितायां वा भावनायां विधेयधात्वर्थश्रवणाभावेन नामार्थस्यैव करणत्वेनान्वयः तत्र नाम्नः पूर्वकर्मोपस्थापकत्वात्तस्यैव वैयधिकरण्यमाश्रित्य फलादिसंबन्धविधिः यथा—“यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति” । “सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम” इति च । अत्र हि प्रत्ययोपात्तानां तत्तद्यज्ञाधिकरणकभावनानामेव ज्ञानाख्येन विविदिषाख्येन वा फलेन संबन्धो, न तु यज्ञान्तरस्य भावनान्तरस्य वा । यज्ञादिपदैस्सुवन्तैस्तत्तद्यागादीनामुपस्थितत्वात् ।

ननु—यज्ञादिपदस्य सुवन्तत्वेऽपि ‘मासं जुहोति’ इतिवत् पूर्वविहितविहितसाधारण्येन यज्ञमात्रवाचित्वान्नियमेन पूर्वकर्मानुपस्थितेः कर्मान्तरत्वोपपत्तिः । न च रूपाभावः । अव्यक्तत्वादिसादृश्येन ज्योतिष्टोमान्तरविध्यन्तरोपपत्तिरिति चेत्—

विविदिषादिफलापेक्षितचित्तशुद्धिरूपद्वारसमर्षके “स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदमनेनाङ्गं संस्क्रियते इदमनेनाङ्गमुपचीयते” इति वचने एतच्छब्देन पूर्वविहितयज्ञादिपरामर्शात्तदनुरोधेन द्वारसमर्षके विविदिषावाक्येऽपि यज्ञादिपदेन पूर्वविहितयज्ञादिपरामर्शोपपत्तेः ।

न च “अथैष ज्योति” रिति वदेतच्छब्दस्यापि पूर्वविहिताविहितसाधारण्यम् । “स यदेव यजेते” ति पूर्ववाक्ये यच्छब्दोपबन्धेन “य इष्ट्या पशुने” तिस्र्यजिना पूर्वविहितकर्ममात्रपराम-

शांत् तदनुरोधेनैतच्छब्दस्यापि पूर्वविहितकर्ममात्रपरामर्शकत्वोप-
पत्तेः । अतश्च तात्पर्यग्राहकसत्त्वाद्यज्ञादिपदस्य पूर्वकर्मोपस्थाप-
कत्वोपपत्तेर्न कर्मान्तरत्वापत्तिः ।

न च यज्ञाद्यभेदेऽपि भावनोपस्थापकाभावात्तद्भेदोपपत्तिः ।
“सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यादिवद्यज्ञादेरेव स्वसम्बन्ध-
व्यभिचरितभावनोपस्थापकत्वोपपत्तेः ।

न च फलभेदाद्भावनाभेदः, प्रमाणाभावात् । अत एव
“भिद्यते भावनामात्र” मित्यादिवार्तिकोक्तिः प्रौढिमात्रमेव ।

नचैवमनेकासां भावनानां विधानाद्वाक्यभेदाशङ्का, एकप्र-
त्ययोपादानेन “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते” तिवत्
तदनापत्तेः । तासां च तत्तद्यज्ञादिकरणत्वं प्राप्तमेवेति यज्ञादिप-
दमनुवादो भावनान्तरत्वप्रतिबन्धार्थः । विविदिषाफलसम्बन्धेन
विनियोगमात्रकरणाच्च एकपदोपादानेऽपि “य इष्ट्यं” तिवत्
नैकप्रयोगता ।

तदेवमुक्तप्रकारेणैकवाक्यत्वसम्भवेऽपि ‘विविदिषन्ती’ स-
स्यानुषङ्गेण वाक्यभेदाङ्गीकरणं ‘अर्धमन्नर्वेदि मिनोति’ इतिवच्च
कर्मसामान्यलक्षणामङ्गीकृत्यैकवाक्यत्वोपपादनं पितामहानाम-
भ्युपेत्यत्रादमात्रम् । ‘सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोप’ इत्यत्रापि भवदेवोक्त-
विधया अनारभ्याधीतत्वेऽपि नास्त्रः पूर्वकर्मोपस्थापकत्वोपपत्तेर्न
तावद्यागभेदः । तेनैव स्वाव्यभिचरितभावनोपस्थितिः सम्भवाच्च
तद्भेदोऽपि । श्रुतवाक्यनिर्वाहार्थन्तु अश्रुतकर्तव्यपदाध्याहार इति
विशेषः । वस्तुतस्तु मीकरणीकत्वादेव सूत्रोक्तादकर्मान्तरम् ।

एवं यत्र गवाक्यनन्दौ “चत्वारोऽभिष्टुवाः षडहाः
पृष्ठ्याः षडहः” इत्यादि वचनैर्विहितं विधाय पुनः प्रकरणान्तरे

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ८३

तादृशैरेव वचनैः श्रूयन्ते तत्र मत्स्यप्यप्राप्तोपादेयगुणाभावसहकृ-
तासन्निधौ नास्त्रैव पूर्वयागानां तैश्च भावनानामुपस्थितत्वाच्च
कर्मान्तरत्वम् । नचैवमभ्यासाद्भेदशङ्क्यः । “यं कामं कामयते त-
मेतेनाप्नोती”ति सन्निधिपठितवाक्यान्तरप्रमितफलसम्बन्धार्थत्वे-
नान्यपरत्वाभावात् । अतश्च तस्यैव कर्मणो गवामयनप्रकरण-
पाठात्तदीयफलसम्बन्धः । प्रकरणान्तरपाठाच्च फलान्तरसम्ब-
न्ध इति वेदितव्यम् ।

यदि तु नामातिदेशादिव्यवहारसिद्ध्यर्थं भेदावश्यकता
ततः क्लोत्पत्तिपरत्वं क्व वा फलसम्बन्धार्थं पुनः श्रवणमिति
विनिगमनाविरहरूपाभ्यासादेवोभयत्राप्युत्पत्तिविधित्वमङ्गीकृत्य
भेदः प्रसाध्यः ॥

एवं द्वादशाहप्रकरणस्थे ‘प्रायणीयोऽतिरात्र’ इति वचने
विहितस्यातिरात्रसंस्थाकप्रायणीयस्य गवामयनप्रकरणस्थेन ‘वै-
श्वानरो ज्योतिष्टोमः प्रायणीयमहर्भवति” इति वाक्येन विधे-
यगुणाभावात् तस्मिन्नपि वाक्ये कर्मान्तरमेव विधेयम् । वैश्वानर-
पदं हि वाक्यान्तरेण वैश्वानरदेवखग्रहस्य प्राप्तत्वात्प्रायश्चित्तमेव ।
ज्योतिष्टोमपदस्य द्वादशाहे ज्योतिष्टोमधर्मकत्वस्य चोदनालिङ्गा-
तिदेशेनैव प्राप्तत्वादविधेयार्थकत्वम् । अतश्च विधेयान्तराभावात्
कर्मान्तरविधिरेवायम् ।

न चैतद्वाक्यविहितकर्मानुवादेन द्वादशाहिकवाक्ये अति-
रात्रसंस्थामात्रविधानोपपत्तेः कथं कर्मान्तरत्वमिति वाच्यम् ।
गवामयनप्रकरणेऽपि प्रथमेऽहन्यतिरात्रसंस्थाविधेः पार्थक्येन
सत्त्वात् । अतोऽत्रापि विनिगमनाविरहादेव कर्मान्तरत्वम् । भा-
ष्यकारीयप्रकरणान्तरन्यायेन भेदोक्तिस्तु अप्राप्तोपादेयगुणा-
भावविशिष्टासन्निधिमात्रेण व्याख्येया ।

एवं “वारुण्या निष्कासेन तुपैश्चावभृथं यन्ती”त्यत्रापि प्रकरणान्तरात् भेदोक्तिः सन्निधिविरहमात्रेणैव, न तु वस्तुतः प्रकरणान्तरन्यायोऽस्ति । उपादेयगुणाभावाभावात्, अवभृथपदेनारुयातममानाधिकरणेन सौमिकावभृथस्यैवोपस्थितत्वाच्च । भेदस्तु तत्र प्राप्तकर्मानुवादेनानेकगुणाविधाने वाक्यभेदापत्तेश्चुणादेव । यद्यपि चात्र निष्कासस्य करणत्वेन श्रुतस्यापि प्रयाजशेषवत् संस्कार्यत्वं कल्प्येत तथापि प्राप्तकर्मानुवादेन तुपाख्यद्रव्यसम्बन्धसंस्कार्यसम्बन्धश्चेति(१) इन्द्रियक्रामाधिकरणात्करीत्या वाक्यभेदप्रसङ्गात् कर्मान्तरम् ।

अत्र हि निष्कासस्य प्रयाजशेषवत् संस्कार्यत्वेऽपि न तुषाणां प्रकृतपुरोडाशानुनिष्पन्नानामपि संस्कार्यत्वं न्यायसुधोक्तं युक्तम् । तथात्वे कर्मान्तरविधानेऽपि उद्देश्यानेकत्वनिमित्तत्वाक्यभेदस्यापरिहार्यत्वात् । नचोभयोरपि उभयोर्गित्वाविशेषात् विनिगमनाविरहः, तुषपदस्य जायनीपदवदवयवविशेषवाचित्वेऽपि उत्तरार्थादिपदवत् ससम्बन्धिकवचनत्वाभावेन लौकिकतुषपरत्वोपपत्तौ विहितप्रतिपत्तिकपुरोडाशीयतुषग्रहणे प्रमाणाभावात् । अत एव बौधयनीयकल्पे लौकिकतुषग्रहणमवोपदिष्टम् । निष्कासपदस्य ससम्बन्धिकवचनत्वात् ‘वारुण्या’ इत्यनेन विशेषणाच्च अर्थकर्मत्ववादिमनेऽपि च परप्रयुक्तद्रव्यापजीवित्वसम्बन्धकत्वेन लौकिकनिष्कासग्रहणानुपपत्तेरुपयुक्तस्य निष्कासस्यैव तेन ग्रहणात् प्रयाजशेषन्यायेन युक्तं संस्कार्यत्वम् ।

नाचातिदेशकप्रतिपत्त्यन्तरानिराकङ्क्षस्य प्रयाजशेषन्यायविषयत्वाम्भवः । अर्थकर्मत्वपक्षेऽपि निष्कामांशे आतिदेशिकप्रतिपत्तिवाधस्याविरहकत्वात् । प्रयाजशेषस्यापि सर्वहोमसम्भवेना

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ८५

नपेक्षस्यैव प्रतिपत्तिविधानाच्च । अतो निष्काससंस्कारार्थत्वेनाव-
भृथविधानात् प्राप्तवभृतानुवादेन च द्रव्यविधानाद्वाक्यभेदापत्तेः
गुणात् कर्मान्तरमेव प्रसिद्धावभृथधर्मकं तुषद्रव्यकञ्च संस्कारा-
र्थत्वेन विधीयते । निष्कासस्यापि च त्यागांशं प्रति गुणत्वाच्च-
शब्दापात्ततुषसमुच्चयोपपत्तिः ।

नचैवं निष्कासस्य संस्कार्यत्वपक्षे(१) 'प्रतिपत्तिरिति चेन्न
कर्मसंयोगात्' इति एकादशाधिकरणमूत्रविरोधः, तस्य तुषांशे
प्रतिपत्तिनिराकरणार्थत्वेनाप्युपपत्तेः ।

नचैवं तस्य कर्मान्तरस्य प्रतिपत्तित्वे अर्थकर्मभूतप्रसिद्धा-
वभृथसादृश्याभावादवभृथशब्दप्रयोगानुपपत्तिः । अग्निहोत्रा-
दिवत् संस्कार्यकृतसादृश्याभावेऽपि नामतिदेशविधया साध्यध-
र्मसादृश्येन तदुपपत्तेः ।

अस्तु वा तत्रस्थभाष्यानुसारान्निष्कासांशेऽप्यर्थकर्मत्वम् ।
तथापि प्राप्तकर्मानुवादेन द्रव्यद्वयविधाने वाक्यभेदापत्तर्गुणादेव
भेदो, न तु प्रकरणान्तरात् इत्यवधेयम् ।

(२)केचित्तु उपादेयैकगुणाभाव एवासन्निधिसहितः प्रकर-
णान्तरम्, अनुपादेयगुणवदुपादेयानेकत्वस्यापि वाक्यभेदापत्त्या
धात्वर्थनिष्ठविधेयतापादकत्वात् । अतश्च तुषानिष्कामरूपानेकगु-
णविधाने वाक्यभेदापत्तेर्यागभावनान्तरस्यैव विधेयत्वावगमात्
प्रकरणान्तरादेव भेदासिद्धिः । न चैवं वाक्यभेदापादकगुणानेक-
त्वस्य गुणविधया भेदकत्वानुपपत्तिः, सर्वस्यैव गुणनामधेयादेस्स-
न्निधावेव तत्त्वेन भेदकत्वाङ्गीकारात् । असन्निधौ तु प्रकरणा-

१ जै. सू. ११-२-६५.

२ पक्षोऽयं मीमांसाबालप्रकाशे सम्यगुपपादितः श्रीशङ्करभट्टै
रतत एवावगम तद्वयः, तस्यैव च खण्डनमत्र क्रियत इति वेदि तद्वयम् ॥

न्तरविधया । अत एव “विश्वजिता यजेते”त्यत्र न मंज्ञाया भेद-
कत्वम् , अपि तूपादेयैकगुणाभावतया प्रकरणान्तरस्यैवेत्याहुः ।

तन्न ; उपादेयतामन्त्रीकृत्य स्वमात्रवृत्तिविधेयतापनयेन
धात्वर्थवृत्तिविधेयतासम्पादनव्यापारकत्वेन स्वापादितोपादे-
यतासामानाधिकरण्येन विधेयतासम्पादनाख्यप्रकरणान्तरव्या-
पारकत्वाभावात्तदन्तर्भावानुपपत्तः । तथा हि—

सन्निधावसान्निधौ वा गुणानेकत्वं नोपादेयतानेकत्वाद्भेद-
कम् , सत्यधुपादेयानेकत्वे “यदग्नये च प्रजापतये चे”त्यादौ
अग्नेः प्राप्तत्वेन वाक्यभेदाप्रसक्तः अभेदकत्वात् । अपि तु वि-
धेयानेकत्वात् । अतश्च तत्रोपादेयतामन्त्रीकृत्य सन्निधवसान्नि-
धिसाधारण्येन स्वमात्रवृत्तिविधेयतापनयनपूर्वकधात्वर्थवृत्तिवि-
धेयतापादनं व्यापारः, प्रकरणान्तरस्थले तु न मासवृत्तिविधेय-
तापनीयते । प्राप्तकर्मानुवादेनापि मासविधानसम्भवात् , अपि-
तूपादेयता । अतश्च स्ववृत्त्युपादेयतापनयनद्वारा पारिशेष्याद्धात्व-
र्थवृत्त्युपादेयतामापाद्य तत्सामानाधिकरण्येन विधेयताबाधनमेव
प्रमाणान्तरासङ्कीर्णव्यापारः प्रकरणान्तरस्य । अतश्च प्रकरणा-
न्तरव्यापाराभावाद्दुपादेयगुणानेकत्वस्य सन्निधाविवासन्निधा-
वपि गुणविधयैव भेदकत्वम् ।

अत एव नामधेयस्यापि सन्निधाविवासन्निधावपि उपादे-
यतामन्त्रीकृत्य स्वशक्यतावच्छेदकत्वाक्षेपकत्वेनैव भेदकत्वात्
प्रकरणान्तरव्यापारकत्वाभावेन नामधेयत्वेनैव भेदकत्वम् । अतः
पूर्वोक्तप्रकारेणैव तुषनिष्कासादौ भेदसिद्धिः । तस्मिद्धं उपादे-
यगुणाभावविशिष्टानुपस्थितेः प्रकरणान्तराख्याया मामाग्निहोत्रं
कर्मन्तरमिति ।

“मासं दर्शपूर्णमासाभ्या”मित्यादिवाक्येष्वप्येवम् । तत्र त्वयं

विशेषः(१)-सामामिकन्यायेन दर्शपदस्य पूर्णमासपदस्य च प्राकृत-
यागत्रिकद्रव्यदेवताद्यातिदेशकत्वात्तेषां च एकपदोपादानेन समुच्च-
यावगतेरुत्पत्तिवाक्यगतसमुच्चितद्रव्यदेवतानुरोधेन संख्यावत्
कर्मभेदावसायात् प्रकृतिवद्यागषट्कमेव विधेयमिति ।

नचैवमग्निहोत्रेऽपि प्राकृतसायंप्रातःकालादीनां समुच्चयेना-
तिदेशादुत्पत्तिवाक्यगतत्वेन भेदकत्वापत्तिः । सायंप्रातःका-
लादिवत् “विराट्मम्नमग्निहोत्रं भवती”त्यादि वाक्यविहि-
ताया आवृत्तेरपि अनिदिशात्तदादायैव कालादिसमुच्चयोपपत्तेः ।
प्रकृते तु तदभावात् कर्मभेद इति वैषम्यम् ।

न चैवं सौर्येऽपि प्राकृताग्नेयद्वयधर्माणामेकेन प्रकृतिवच्छ-
ब्देनातिदेशात् समुच्चयावगतेरुत्पत्तिवाक्यगतत्वेन भेदकत्वापत्तिः ।
तत्राकाङ्क्षावशेन कल्पस्य प्रकृतिवच्छब्दस्यैकप्रकृतिधर्मैरेव नि-
राकाङ्क्षत्वोपपत्तेः अन्यतराग्नेयवदित्येव कल्पनात् । प्रकृते तु
तेन शब्देन लक्षणया धर्मप्राप्तौ समुच्चयस्वावशकत्वात् युक्ता
भेदकतेति वैषम्यम् ।

यत्तु कश्चित् ‘मासं दर्शपूर्णमासाभ्या’मित्यनेन द्विवचनेन
कर्मद्वयेऽवगते पश्चात्समुच्चितद्रव्यदेवतानुरोधेनैकजात्यवच्छिन्नस्या-
वान्तरभेद इत्युक्तम्, तत् द्विवचनस्य प्रातिपदिकाभिहितप्रकृति-
यागगतधर्मसमुदागगतत्वेनानुवादात् “समिधो यजती”तिवद्भेद-
कत्वानुपपत्तेरुपेक्षितम् ।

नन्वेवमैन्द्राग्नेयद्रव्यदेवत्यस्यापि दर्शपदेनातिदेशात्सकर्म-
पत्तिः । न च(२) सोमप्राक्कालरूपैन्द्राग्नेयधर्माभावादनतिदेशः ।

१ सप्तमाध्यायचतुर्थपादियप्रथमाधिकरणन्यायनेन्यर्थः ।

२ ‘नासोमयाजी सन्नयेत्’ इति असोमयाजिनस्साध्यायनिषे-
धेन असन्नयत एवैन्द्राग्नेविधानेन सोमप्राक्कालिकत्वमैन्द्राग्नेधर्म
इति भावः ।

तस्योपदेशिकेन(१) सत्रवृत्तिमोमोत्तरकालत्वेन बाधेऽपि चातुर्मा-
स्यादिवृत्त्यैन्द्राग्रविकृतिष्विव धर्मान्तरातिदेशोपपत्तेः । अत एव
प्रकृतिवद्भाववाधापत्तेः नैन्द्राग्रधर्मातिदेश इति केषाञ्चिदुक्तमपा-
स्तम् । विकृत्यन्तरेष्वपि तदापत्तरिति चेत्--

याज्ञिकाचारमूलभूतश्रुत्या ऐन्द्राग्रधर्मपर्युदासोपपत्तेः । सर्व-
था प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मान्तरमित्येतावत् स्थितम् ।

एवं यत्र देशाख्योऽनुपादेयो गुणो निमित्ताख्यो वा तत्रा-
पि कर्मान्तरत्वम्, यथा “सरस्वत्या दक्षिणेन तीरेणाग्नेयो ऽष्टाक-
पाल” इति । न चात्रोपादेयगुणाभावविशिष्टानुपस्थितिसत्त्वेऽपि
‘सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः’ इति वद्यज्यसमानाधिकरणान्नयपदस्यैव पू-
र्वकर्मोपस्थापकत्वोपपत्तेर्भेदानुपपात्तरिति वाच्यम् । आग्नेयपदस्य
नामधेयत्वाभावेन यजिपदेन पूर्वविहिताविहितकर्मसाधारण्येना-
ग्निदेवत्यद्रव्यमात्रवचनस्य विशिष्य पूर्वकर्मोपस्थापकत्वाभावात् ।

निमित्तस्य तु ‘सत्रायागूर्यं विश्वजिता यजेत’ इति । आगू-
रणं सङ्कल्पः, सत्रमकुर्वतः तद्विश्वजितो निमित्तमिति वक्ष्यते ।
अतश्च ‘विश्वजिता यजेत’ इति विहिताद्यागात् कर्मान्तरमिदम् ।

नचानेन विनियुक्तस्य प्रयुक्तस्य वा ‘विश्वजिता यजेते’
त्ययमुत्पत्तिविधिरेव किं न स्यादिति वाच्यम् । विनियोगप्रयो-
गविषयतासामानाधिकरण्येनावगतस्योत्पत्तिपरत्वस्य सन्निधि
विना बाधे प्रमाणाभावात् । तस्मात् सिद्धं कर्मान्तरत्वम् ।

प्रयोजनं मूत्रं च स्पष्टम् ॥

इत्येकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम् ।

१ ‘अग्निताग्रव इष्टप्रथमयज्ञा गृहपतिसप्तदशास्त्रप्रमासीरन्’
इति वाक्येन प्रथमयज्ञपदवाच्याग्निष्टामसंस्थाकज्योतिष्टोमोत्तरमेष
सत्रविधानात् सोमोत्तरकालत्वं सत्रस्येत्याशयः ।

अथ द्वादशं फलसंस्काराधिकरणम् (१२) ॥

सू-फलञ्चाकर्मसन्निधौ ॥२-३-२५॥(सि)

एवं फलं चकारात्संकार्यं चानुपादेयत्वाद्भेदकम् । यथा-
अनारभ्य श्रुते(१)“रुक्काम आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेदि”त्यादौ
यज्यश्रवणेऽपि देशवाक्यद्वेव कर्मान्तरत्वोपपत्तिः। संस्कार्यस्य तु
अश्वमेधे(२)“त्रैधातवीया दीक्षणीया भवती”ति । अत्र हि त्रैधा-
तवीयादीक्षणीययोः भेदात् सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः जघन्य-
दीक्षणीयापदं स्वशक्यकार्यं यजमानसंस्कारं लक्षयति । अतश्च
दीक्षणीयापदेन लक्षणया संस्काराश्रयतया यजमानस्य संस्का-
र्यस्यापस्थितत्वात् अनुपादेयमहकृतानुपस्थितेः प्रसिद्धत्रैधातवी-
यापक्षया कर्मान्तरमेवेदम् ।

वस्तुतस्तु यज्यसमानाधिकरणस्य त्रैधातवीयापदस्य पूर्वक-
र्मोपस्थापकत्वोपपत्तेः नेदं कर्मान्तरम् ।

यत्तु भवदेवेन त्रैधातव्यापदस्य पूर्वकर्मोपस्थापकत्वे कार्या-
न्तरसम्बन्धे च गौरवापत्तेः कर्मान्तरविधिरेवायं इत्युक्तम् ।
तत् “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यादावपि तदापत्तेः पूर्वकर्मोप-
स्थापकत्वे च व्यापारान्तरानपेक्षणात् प्रत्युत कर्मान्तरविधानं
एव गौरवापत्तेरुपेक्षितम् । वार्तिके तदुदाहरणन्तु धात्वथोभेदेऽ-
पि भावानाभेद इति प्रौढियक्षाभिप्रायेण ।

१. रुक्कामः तेजस्कामः ।

२. आप. श्रौ. २०-८-४. आग्नावैष्णवहविष्का काचिदिष्टिः
त्रैधातवीयेष्टिः । त्रैधातवीयापदनिर्वचनं तु नैत्तिरीयसांहतायां द्वि-
तीयकाण्डे चतुर्थप्रपाठक द्वादशानुवाके द्रष्टव्यम् ।

संस्कार्योदाहरणन्तु 'औदुम्बरीं प्रोक्षती' त्यादि व्रीहि-
प्रोक्षणाद्यपेक्षया प्रोक्षणान्तरविधायकमिति द्रष्टव्यम् ।

नन्वेवमपि पूर्वसूत्रेणैव सर्वानुपादेयसङ्ग्रहोपपत्तेस्सूत्रान्तर-
प्रणयनवैयर्थ्यम् । न हि फलसंस्कार्ययोरनुपादेयत्वं दुर्ज्ञेयम् ।
येन तदुपपादनार्थमेतदारम्भो युज्येत । वाजपेयाधिकरणे प-
ञ्चानामप्यनुपादेयत्वस्य स्थापितत्वादिति चेत्-

न ; फलसंस्कार्ययोः प्रकरणान्तरविधया भेदकत्वानुपपत्ति-
शङ्कानिराकरणार्थत्वात् । एतयोर्हि अङ्गित्वादिनियोगविधि-
विषयत्वापरपर्यायाङ्गत्वमात्रस्य धात्वर्थवृत्तितया आक्षेपात्तत्सामा-
नाधिकारण्येनोत्पत्तिविषयत्वापरपर्यायविधेयत्वाक्षेपकत्वेऽपि उ-
पादेयत्वानाक्षेपकत्वान्न प्रकरणान्तरविधया भेदकत्वम् । का-
लदेशनिमित्तानां त्वनुष्ठापकत्वेन प्रयोगविशेषणत्वाद्भात्वर्थे अनु-
ष्ठाप्यत्वापरपर्यायोपादेयताक्षेपकत्वाद्युक्तं तद्विधया भेदकत्व-
मिति मामाशङ्कां निराकर्तुमिदं सूत्रम् । सत्यप्यङ्गित्वे अनुष्ठा-
पकत्वस्यापि कामनाविषयत्वेन सत्त्वाद्युपादेयत्वाक्षेपकत्वोपपत्ते-
रकर्मसन्निधौ युक्तं तद्विधया भेदकत्वमिति ।

अत्र केचित्-कृतिविषयत्वमेवोपादेयत्वमङ्गीकृत्य कर्तृविशेष-
णानामेकत्वब्राह्मणत्वादीनामपि अनुपादेयत्वमिच्छन्ति । अत्र
एव 'आनुपादेयमेकत्वं यजमानस्य कालवत्' इति कण्डिका सङ्ग-
च्छते इत्याहुः । तन्न, कृतिर्हि यथैव विषयनिरूप्या तथा आ-
श्रयनिरूप्यापि । अतश्चोपादेयत्वमपि कृतिविषयत्वाश्रयत्वान्य-
तरत्वमेव । अत एवाप्रवृत्तप्रवर्तनाख्यविधिव्यापारगम्यत्वमु-
पादेयस्येत्युक्तम् । अत एव चाख्यातोपात्तः कर्ता उपादेय इत्य-
पि कण्डिकान्तरं सङ्गच्छते । अन्यथा कृतिविषयत्वाभावेन तस्य
वदनुपपत्तेः ।

करणम्] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ९१

न च कर्तुराश्रयत्वेऽपि तद्विशेषणानामेकत्वादीनां तदभावात् कथमुपादेयतोपपत्तिः । क्रियाया अविषयत्वे ऽपि तद्विशेषणानां द्रव्यादीनां विषयत्वेनोपादेयत्ववदेकत्वस्यापि तदुपपत्तेः । अत एवास्माभिः कृतिसमवायाघटितसम्बन्धेनेत्यव विशेषितमनुपादेत्वलक्षणे । एकत्वादेरनुपादेयत्वोक्तिस्तु यथाशक्त्युपबन्धप्रयोजकीभूतकृतिविषयत्वरूपोपादेयत्वनिषेधपरा । तस्मात् पञ्चैवानुपादेयानीति तान्येव भेदप्रयोजकानि ।

प्रयोजनं—पूर्वपक्षे प्रकृतित्वात् प्रतिपदि करणम् । सिद्धान्ते पर्वणीति ।

सूत्रं स्पष्टम् ॥

इति द्वादशं फलसंस्कार्याधिकरणम् ।



अथ त्रयोदशं प्रकरणान्तरप्रत्युदाहरणाधिकरणम् ॥(१३)

सू—सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन
पुनः श्रुतिः ॥ २-३-२६. ॥ (सि)

(विषयः)

पञ्चस्वपि अनुपादेयेषु सन्निधौ प्रत्युदाहरणार्थमिदं सूत्रम् । यथा 'सायं जुहोती' त्यादि अग्निहोत्रं प्रकृत्य, 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति दर्शपूर्णमासौ प्र-

कृत्य, “स्विष्टकृतं यजती” ति प्रकृत्य च ‘शेषात् स्विष्टकृतं यजती’ति श्रुतानि पञ्चानामप्युदाहरणानि ।

(संशयः)

तत्रापि किमुपादेयगुणाभावमात्रेण भेदः ? उत नेति विचार्यते ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यप्युपादेयत्वस्य कृतिविषयत्वाश्रयत्वान्यतरत्वरूपस्य विधेयत्वस्य चाप्राप्तपापणरूपस्य भेदो वाजपेयाधिकरण एव निरूपितः तथापि तयोर्रूत्सर्गसिद्धस्य सामानाधिकरण्यस्य त्यागे प्रमाणाभावात् सन्निधावपि उपादेयगुणान्तरभावेन उपादेयत्वे धात्वर्थवृत्तितयाऽऽक्षिप्ते उत्पत्तिविधिविषयत्वाख्यं विधेयत्वमपि सामानाधिकरण्यसिद्धयर्थमाक्षेप्तव्यम् । न ह्यत्र वैयधिकरण्येनापि तदाक्षेप्तुं शक्यम् । कालाद्युत्पत्तेर्लोकसिद्धत्वेनाविधेयत्वात् । निमित्तफलसंस्कार्याणामनङ्गत्वेन विनियोगविधिविषयत्वादिरूपस्यापि विधेयत्वस्यायोगाच्च । अतः कर्मेव विधेयमिति विहितविधानायोगाद्भियत इति प्राप्तं—

(सिद्धान्तः)

अभिधायिने—पूर्वकर्मोपस्थापकाधिकाराख्यस्य सन्निधेर्बाधयोगान्नात्र कर्मभेदः । न च विधिश्रुतिप्रमितसामानाधिकरण्यानुगोधेनाभ्यास इव सन्निधेर्बाधो युक्त इति वाच्यम् । विधेरेव “दध्ना जुहोती” तिबद्धिशिष्टोत्पत्तिविधिगौरवपरिहारार्थं सन्निध्युपजीवकत्वेनोत्पत्तिपरत्वानङ्गीकारात्सामानाधिकरण्यासिद्धेः । ‘भासप्रसिद्धोत्रं जुहोति’ इत्यत्र तु ‘सन्निध्यभावात्सामानाधिकरण्यबाधो जुहोतिश्च कर्माश्रित् “यदाहवनीये जुहोती”तिपूर्वकर्मोपस्था-

करणम्] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । १३

पकत्वकल्पनेति दोषद्वयापेक्षया विशिष्टविध्यङ्गीकार एव युक्त-
इति वैषम्यम् ।

अत एव कालदेशवाक्ययोः न कालादिविधिपरत्वम् । अपि
तु कर्मांशे प्रयोगविधिः, कालांशे विनियोगविधिः, संभवति हि
कालदेशयोः राजप्रेयाधिकरणात्करीत्या कृतिव्याप्यत्वरूपप्रयोग-
विषयत्वासंभवंऽपि यागोद्देशप्रवृत्तपुरुषकृता अधिकरणतासम्ब-
न्धेन कारकत्वाद्यागाङ्गत्वेन विनियोगः । यत्र तु 'य इष्ट्या'
इत्यादौ प्रयोगोऽपि प्राप्तस्तत्र कर्मानुवादेन कालाद्यंशे विनि-
योगविधिरेवेत्युक्तं पौर्णमास्यधिकरणे । निमित्तफलसंस्कार्याणां
स्वनङ्गत्वेन विनियोगानर्हत्वात्तदनुवादेन स्वरूपेण प्राप्तस्यापि
कर्मणो विनियोगविशिष्टप्रयोगविधानं विनियोगमात्रविधानं वा ।
तत्र निमित्तस्य कृतिकारकत्वाभावेनानङ्गत्ववत् पुरुषार्थत्वाभावे-
नानाङ्गित्वस्यापि सत्त्वादनुष्ठापकत्वेन च प्रयोगाक्षेपकत्वात् तस्य
च फलापेक्षायां यावज्जीवाधिकरणवक्ष्यमाणरीत्या पापक्षयाद्यर्थ
विनियोगः कल्प्यते ।

फलसंस्कार्योस्तु पुरुषार्थत्वात् स्वार्थमेव विनियोगः । काम-
नाया अनुष्ठापकत्वात्तत्र प्रयोगोऽपि । संस्कार्ये तु प्रधानस्यैवानु-
ष्ठापकत्वात् प्रयोगस्यान्यतो लाभेन शेषाख्यसंस्कार्योद्देशेन वि-
नियोगमात्रमिति विवेकः ।

तदेवमुत्पत्तिप्रत्यभिज्ञाने विधिफलस्य विनियोगादिविषय-
त्वेनोपपत्तिसंस्तुतिविषयत्वाभावात्तन्न कर्मभेदः । एवमाधिकारा-
रूपसन्निध्यभावेऽपि यत्र यच्छब्दयोगो यथा 'य इष्ट्या'
इत्यादौ तत्रापि पूर्वनिहितकर्मात्पत्याद्यनुवादप्रतीतिः का-
लविनियोगविधिमात्रकरणेन कर्मभेदः । यजेत इति प्र-
त्ययेन च सकलभावानुवादान्न तदनेकत्वकृता वाक्यभेदः ।

पदद्वयेन च पूर्वलक्षणात् चशब्दस्य च निपातत्वेन भावनान्वयं विनापि कालान्वयोपपत्तेर्विकल्पविशिष्टकालविधानान्न तदनेकत्वकृतोऽपि वाक्यभेदः ।

तथा यच्छब्दयोगस्याप्यभावेऽपि “एतया पुनराधेयसम्मि-
तयेष्येष्ट्याऽग्निहोत्रं जुहोती”ति विधौ नाग्निहोत्रभेदः । “दीक्षितो
न जुहोती”तिनिषेधापेक्षितोदवसानीयरूपावधिमात्रविधौ तात्पर्य-
ग्राहकतयाऽनुवादात् । अतस्सिद्धं पूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणं कर्मा-
न्तरत्वप्रमाप्रतिबन्धकमिति ।

ननु-स्वरूपसत्पूर्वकर्मोपस्थापकं प्रमाणं कर्मान्तरत्वप्रमाप्रति-
बन्धकम्, तदभावश्च तां प्रति कारणम् । ‘मासमग्निहोत्रं जु-
होति’इत्यत्र पूर्वकर्मोपस्थापकभ्रमदशायां वस्तुतस्तदभावसत्त्वेन भे-
दप्रमोत्पत्तिप्रसङ्गात् । नापि भ्रमप्रमासाधारणं तदभावज्ञानं कार-
णम् । तथात्वे ‘सायं जुहोती’त्यादावभावभ्रमदशायां भेदप्रमा-
पत्तेः । नापि तदभावप्रमा । गृहमेधीये ‘आज्यभागौ यजति’इत्य-
त्र पूर्वकर्मोपस्थापकस्यातिदेशस्याभावभ्रमदशायां भेदप्रमापत्तेः ।

अत एव पूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणज्ञानत्वेन भ्रमप्रमासाधारण्ये-
न प्रतिबन्धकता, भेदज्ञानत्वेन प्रतिबन्धयता, अतश्च प्रतिबन्धकाभा-
वसत्त्वे भेदज्ञानोत्पत्तेर्विषयाबाधेन प्रमात्वसिद्धिरित्यपास्तम् । उ-
क्तप्रमाणज्ञानेऽप्रामाण्यज्ञानदशायां उत्तेजकसत्त्वेन भेदप्रमापत्तेः ।

नचात एव कैश्चिन्नोपादेयगुणाभावो भेदप्रयोजकः, अपि तु
अनुपादेयगुणसत्त्वेत्युक्तम् । अतश्चोक्तोदाहरणे तदभावेनैव
भेदाप्रसक्तैर्युक्तैव नाम्नस्सन्निध्यभावेऽपि पूर्वकर्मोपस्थापकत्व-
मिति वाच्यम् । अनुपादेयगुणस्य पारिशेष्येण धात्वर्थवृत्त्यु-
पादेयतापादनस्य तदभावेऽपि गुणसामान्याभावमात्रेण सिद्धेरु-
पादेयगुणाभावस्यैव भेदप्रयोजकत्वात् । अतः कथं सन्निधेस्तत्प्र-

तिबन्धकत्वमिति चेत्—

न ; भेदाननुगुणस्वेतराबाध्यपूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणज्ञानमा-
त्रस्य भेदप्रमाप्रतिबन्धकतांगीकारात् । अस्ति च 'सायं जुहोती'
त्यादौ तत् , पूर्वकर्मोपस्थापकस्य सन्निधेः केनापि प्रमाणेनाबाधात्
नान्नः पूर्वकर्मोपस्थापकस्यापि नामातिदेशविधया भेदानुगुणत्वा-
न्न भेदप्रमाप्रतिबन्धकत्वम् । अस्ति च "आज्यभागौ यजती"सत्रापि
पूर्वकर्मोपस्थापकप्रमास्यातिदेशभेदस्य स्वपदोपात्ताभेदबाध्यत्वे-
ऽपि तदितरेणाबाध्यत्वम् । न हि तत्रातिदेशः प्रकारान्तरेण बाध्यते
अपि तु क्लृप्तोपकारपूर्वाज्यभागाभेदादेव । अतश्च तत्रासत्यपि
प्रमाणे स्वेतराबाध्यपूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणज्ञानस्य संभावनात्म-
कस्य सत्त्वाद्भेदप्रमाप्रतिबन्धकत्वोपपत्तिः । 'मासमग्निहोत्रं जुहो-
ती'त्यत्रापि उक्तविधज्ञाने प्रमात्मके सति भेदप्रमाप्रतिबन्धस-
त्वान्न व्याहृतिः ।

भेदप्रमाजनकं च भेदाननुगुणपूर्वकर्मोपस्थापकप्रमाणप्र-
तियोगिकस्य स्वेतरप्रयुक्तस्याभावस्य प्रमा । अस्ति चेदं मासा-
ग्निहोत्रे सन्निध्यभावस्याभेदातिरिक्तासंबन्धिपदव्यवधानप्रयुक्त-
त्वात् । आज्यभागयोश्चातिदेशाभावस्याभेदप्रयुक्तत्वेऽपि तदित-
रप्रयुक्तत्वाभावेन कर्मान्तरत्वानापत्तिः । नह्यभेदोपजीव्यतिदे-
शाभावस्योपजीव्यविरुद्धभेदप्रयोजकत्वं सम्भवतीति युक्तं अक-
र्मान्तरत्वम् । अतस्सिद्धं प्रसभिज्ञाने सर्वत्राकर्मान्तरत्वम् । प्र-
योजनं स्पष्टम् ।

सूत्रं फलशब्दस्यानुपादेयमात्रोपलक्षणत्वं 'आज्यभागौ य-
जती'त्यत्र च गृहमेधीयसंबन्धोपलक्षणत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम् ।

इति त्रयोदशं प्रकरणान्तरप्रत्युदाहरणाधिकरणम् ॥

अथ चतुर्दशमाग्नेयस्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥ (१४)

सू-आग्नेस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रती-
येत ॥ २-३-२७. ॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

कालद्वये आग्नेयद्वयं विधाय तत्रैव प्रदेशान्तरे(१) 'आग्नेयोऽष्टा-
कपालोऽमावास्यायां भवति' इति पुनराध्यातम् । तत्र किं अच्यु-
तवाक्यबोधव्यदर्शस्थानेयापेक्षया कर्मान्तरविधानं ? उत नेति संशयः।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । आतिदेशिकी त्वनन्तरा । अ-
धिकाशङ्कार्थश्चेदं सूत्रम् । तथा हि—

(पूर्वपक्षः)

पूर्वत्र हि सत्यप्यप्राप्तेः पादेयगुणाभावे सन्निधिसत्वा-
न्न भेदकता । प्रकृते तु सत्यपि सन्निधाने न तस्य भे-
दप्रतिबन्धकत्वम् । स हि कर्मोत्पत्तिं प्रत्यभिज्ञापयन् विधि-
फलस्य च फलादिसंबन्धविषयत्वञ्चोपनयन् उत्पत्तिनिबन्ध-
नभेदं प्रतिबध्नाति । प्रकृते तु विधिफलस्यान्यविषयत्वात्तुप-
पत्तेः उत्पत्तिविषयत्वावसायान्न विधिविरोधिनस्सन्निधेर्भेदप्र-
तिबन्धकत्वोपपत्तिः । न चैतस्य स्तावकत्वाङ्गीकारेण भेदकत्व-
स्यैव सिद्धिः । आग्नेयस्य तावत् प्रदेशान्तरस्थत्वेनैव स्तुत्यनुप-
पत्तेः । ऐन्द्रायस्य तु आग्नेयगतप्रशस्तत्वकीर्तनात् स्तुतिरनाशङ्की-

करणम्] द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ९७

व । अतो वैयर्थ्यपरिहारार्थमेव विधित्वावसायात् अप्राप्तोपादेय-
गुणाभावसत्त्वेन च प्रकरणान्तरस्याधिकलत्वाद्भेदसिद्धिः ।

अथ वा अस्त्वभ्यासाद्भेदः । अतश्चामावास्यायां आग्नेयद्रव्यं
कार्थमिति पूर्वपक्षे प्रयोजनं सिध्यति । न च सम्प्रतिपन्नदेवता-
कत्वात् सहानुष्ठानशङ्का, पुनर्विधिवैयर्थ्यस्यैव तद्वाधकत्वात् ।
अतस्सूत्रं आग्नेयः उक्तप्रमाणवशात् भिन्नः प्रतीयेत । ततश्चानु-
ष्ठानकालेऽपि द्विरभ्यस्येतेति व्याख्येयम् ॥

सू-अविभागात् कर्मणो द्विरुक्तेन विधी-
येत ॥ २-३-२८. ॥

सिद्धान्तैकदेशी समाधत्ते-सत्यप्यप्राप्तोपादेयगुणाभावे स-
न्निधिना तदीयद्रव्यदेवताकस्य तदनुमितयागस्य प्रत्यभिज्ञानान्ना-
त्र कर्मान्तरम् । न च विधिफलाभावः, द्विरान्नानबलात् वाक्यद्व-
यविहितस्यैवाभ्युदयकारित्वकल्पनया पूर्वकर्मण एव विधिफल-
विषयत्वोपपत्तेः । न चैकेन विहिते इतरस्य विधायकतानुपप-
त्तिः । पिङ्गाक्ष्यैकहायनीशब्दाभ्यां द्रव्यविशेषस्यैव वाक्यद्वयेना-
प्येकस्य कर्मणो युगपद्विधानोपपत्तेः । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(सिद्धान्तः)

सू-अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ॥ २-३-२९. ॥ (सि)

सिद्धान्तस्तु—सत्यं न कर्मभेदः । तथापि नापि विधि-
त्वम्, एकेन विहिते अपरेण तदयोगात्। एकहायन्यादौ गुणान्त-
रविधानादर्थवत्ता । नचाभ्युदयशिरस्कत्वे सा, यत्र ह्यस्ति वि-
षयभेदः विषययोश्चैकेनैव संभवल्लाभत्वं तत्र गतः। अभ्युदयशिरस्क-
त्वकल्पनं, यथा-अनारभ्याधीतमित्रविन्दादिप्रकरणस्थसाम्प्रत्य-

विध्योः । तत्र हि एकस्य वाक्यस्य सामिधेनीसंबन्धो विषयः
 अपरस्य च क्रतुसंबन्धः इति विषयद्वयञ्चैकेनापि सम्भवल्लाभम् ।
 तत्रैकेनैकस्यैवावगमे अभ्युदयशिरस्कत्वकल्पनं युक्तम् । न च
 विनिगमनाविरहः । झटित्युपस्थापकत्वस्यैव तत्वात् । प्रकृते तु
 विषयभेदाभावान्नाभ्युदयशिरस्कत्वकल्पनावसरः । अत एव स-
 मित्तनूनपाद्राक्ययोस्तन्नाङ्गीकृतम् ।

किंचेदं सति विधित्वे युज्यते । तच्च ऐन्द्राग्रविध्येकवाक्य-
 तया तत्प्रशंसार्थत्वेनोपपत्तेरसिद्धम् । संभवति चातिप्रशस्ताग्नेय-
 साहित्यैन्द्राग्रस्थातिप्रशस्ततरत्वमिति स्तुतिः । (१)तस्मान्नेदं क-
 र्मान्तरम् ।

मीमांसाञ्जुनिधिं प्रमथ्य सुदृढैर्न्यायोच्चयैर्निर्जरैः
 कृत्वा जैमिनिसूत्रमन्दरमग्नं वेदं तथा वासुकिम् ।
 यद्बालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः
 श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥
 श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।
 मीमांसाकौस्तुभख्या भेदाध्याये तृतीयाङ्घ्रिः ।

इति पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीणश्रीरुद्रदेवसूनोः

खण्डदेवस्य कृतौ मीमांसाकौस्तुभे

द्वितीयस्याध्यायस्य

तृतीयः पादः ॥

॥ शुभमस्तु ॥



मीमांसाकौस्तुभः ।

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः (यावज्जीवपादः)
यावज्जीवाधिकरणम् ॥ १ ॥

सू—यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः
प्रकरणात् (२-४-१.)

(विषयसंशयौ)

“यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत,” “यावज्जीवमग्नि-
होत्रं जुहोती”ति श्रुतम् । तत्र किं काम्य एव स्वर्गाद्यर्थे दर्श-
पूर्णमासादिप्रयोगे जीवनपर्याप्तकालविधिरयम् ? किं वा क्लृप्तफ-
लात् फलान्तरार्थं जीवनाख्यनिमित्तरूपगुणवशेन दर्शादेर्वि-
नियोगान्तरविधिरिति विचारः ।

(सङ्गतिः)

विनियोगभेदनिरूपणस्य च पादार्थत्वात् पादाध्यायसङ्ग-
तिः । पूर्वत्र कर्मस्वरूपभेदः क्वचिच्च(१)अवेष्टयधिकरणादौ प्रयो-
गभेद एव निरूपितः, न क्वचिदपि विशिष्य विनियोगभेद इति
इह निरूप्यमाणत्वात् पादार्थः । अनन्तरा तु निमित्तस्य इह गु-
णविधया भेदकत्वेऽपि अनुपादेयत्वमात्रेण प्रकरणान्तरतुल्य-
त्वात् प्रसङ्गरूपा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यावज्जीवशब्दस्य “यावद्दोहं तिष्ठती” त्यादौ कालेऽपि निरूढलक्षणया प्रयोगदर्शनेन कालपरत्वोपपत्तेः, णमुलन्तस्यापि च (१) “अभिक्रामं जुहोती” त्यादौ निमित्तपरत्वाददर्शनात्, अनुशासनाभावाच्च तत्परत्वानुपपत्तेः, स्वर्गाद्यर्थेषु दर्शादिषु जीवनपर्याप्तकालविधिरेवायम् । एवञ्च कालस्य वाक्येनैवाङ्गताबोधनेऽपि इतिकर्तव्यताकाङ्क्षालक्षणप्रकरणापेक्षितार्थसमर्पणात् प्रकरणानुग्रहोऽपि । इतरथा हि प्रकृतयोर्दर्शणमासयोरेव निमित्तसम्बन्धात् अधिकारात्मकप्रकरणाऽनुग्रहेऽपि निमित्तस्याऽनङ्गतया कथम्भावात्मकप्रकरणापेक्षितार्थसमर्पणाऽभावान्न तदनुग्रहः । अत एव कालरूपानुपादेयगुणसत्त्वेऽपि अनुपस्थित्यभावात् न कर्मान्तरविधिः ।

न च उत्पत्तिशिष्टपौर्णमास्यादिकालावरोधात् न जीवनपर्याप्तकालविधिसम्भवः । “अमावास्यायामपराह्ण” इत्यादिव्याप्यव्यापकभावेनाऽविरोधात् ।

अत्र च यथैव “सायं जुहोति” “पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेते” त्यादौ कालविशिष्टप्रयोगविधिः एकादशे वक्ष्यते तथैवेहापि जीवनपर्याप्तकालविशिष्टप्रयोगविधिर्विनिगमनाविरहाद्भ्युपगन्तव्यः । अत एव व्याप्यकालिकप्रयोगविधौ प्रतिप्रयोगपर्याप्तः धर्मः विधेयतावच्छेदकत्वेनाङ्गीकर्तव्यः । व्यापककालिकप्रयोगविधौ तु जीवनपर्याप्तेषु तावत्सु व्याप्यकालिकप्रयोगेषु व्यासक्तः । द्वयोः प्रयोगविध्योः व्याप्यव्यापकभावेनाऽविरोधात् ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १०१

अत एव आर्थिक एव तावन्तं कालं कर्माभ्यासः, न तु यावज्जीववाक्ये विधिना लक्ष्यो वा ।

यद्यपि च यावज्जीववाक्येऽपि विनिगमनाविरहेण व्यापककालिकप्रयोगान्तरविधिः पूर्वपक्षिणो नानिष्टः । तथापि व्याप्यव्यापकरूपप्रयोगविशिष्टस्य कर्मणः फलापेक्षायां स्वर्गकाम्यादिवाक्येन स्वर्गाद्यर्थतयैव विनियोगात् न यावज्जीववाक्ये पापक्षयाद्यर्थं विनियोगभेद इष्टः । अत एव जीवनपर्याप्तैः तावद्भिः प्रयोगैः एकमेव फलमित्यप्यर्थः पूर्वपक्षे लभ्यते ।

यत्तु मूले काम्यप्रयोगानुवादेन यावज्जीववाक्ये कालमात्रविधिरिति पूर्वपक्षितम्, तत् काम्यप्रयोगस्य फलवाक्ये सिद्धान्तिनोऽपि विध्यनङ्गीकारात् पौर्णमास्यादिकालवाक्ये तद्विधौ च विनिगमनाविरहेण प्रकृतेऽपि तदापत्तेः उपेक्षितम् । तस्मात् पूर्वोक्तरीत्यैव तावद्व्याप्यप्रयोगव्यासक्तव्यापकप्रयोगैक्यात् एकफलकत्वं इत्येवं पूर्वपक्षः कार्यः । एवञ्च “जरा-मर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं” इति दीर्घकालिकैकप्रयोगत्वेन सत्रसादृश्यवचनमुपपन्नं भवति । इतरथा सायंप्रातःकालसाध्यैकप्रयोगत्वादग्निहोत्रस्य तदनुपपत्तिः । तस्मान्नात्र विनियोगभेदः ॥

सूत्रं यावज्जीवपदेन निरूढलक्षणया प्रतिपाद्योऽभ्यासाऽऽपादकः काल एव कर्मधर्मतया विधीयते, अत एव इति-कर्तव्यताकाङ्क्षाप्रकरणमपि आनुकूल्येनानुगृहीतं भवतीति व्याख्येयम् ।

अस्तु वा सूत्रानुगुण्यात् कालविशिष्टाभ्यास एव कर्मधर्म-तया विधीयते इति वार्तिकोक्तः पक्षः, सर्वथा न विनियोगभेद इति सिद्धम् ॥

सू-कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् (२-४-२.) (सि)

(सिद्धान्तः)

नायं कालविधिः, काललक्षणाऽऽपत्तेः, यावच्छब्दो हि जीवनगतसामस्त्यवाची धातुश्च जीवनवाची, णमुल् च साधुत्वार्थे भावे वा । यद्यपि 'चात्र अव्ययीभावसमासस्स्यात् तथापि तावानेवार्थः, सर्वथा कालस्याशक्यत्वात् लक्षणैव ।

वस्तुतस्तु अवधारणाभावात् नाव्ययीभावः इति णमुलन्त एव लक्षणाप्रसङ्गः ।

यत्तु निमित्तत्वेऽप्येतत्तुल्यमिति, तत्रोच्यते(१) “धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः,” इत्यनुशासनात् णमुल् यस्माद्धातोरुच्चार्यते, तद्धात्वर्थस्य धात्वर्थान्तरेण सम्बन्धः संसर्गविधया पाठिकान्वयबलेन वाऽवश्यमवगम्यते । अतश्च जीवनस्य दर्शादेश्च सम्बन्धस्तावत् लक्षणां विना(२) प्युपपद्यते । तस्य च विशेषापेक्षायां सम्बन्धान्तरासम्भवात् यावच्छब्दस्य च तात्पर्यग्राहकस्य सत्वात् निमित्तपरत्वमेव व्यक्तिन्यायेनाश्रीयते । यावच्छब्दो हि सामस्त्यं वदन् निमित्तत्वपक्षे पतितः निमित्तनैमित्तिकावृत्तिन्यायेन जीवनगतसामस्त्यस्य नैमित्तिकसम्बन्धित्वेन प्राप्तत्वात् स्वार्थानुवादको भवतीति जीवनस्य स्वपरिमितकालकत्वरूपेऽन्यस्मिन् सम्बन्धे आश्रीयमाणे तु कालाद्यनुरोधेन प्रधानावृत्तेः न्यायतः प्राप्त्यभावादप्राप्तस्य जीवनगतसामस्त्यस्यापि विधानापत्तेः एकपदत्वात् विशिष्टप्रयोगविधाना-

१. पा. सू. । २-४-१.

२. प्यवगम्यते ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १०३

च्च वाक्यभेदाभावे ऽपि गौरवं समस्त्येव । अतश्च लाघवलि-
प्तया यावच्छब्दस्य निमित्तत्वरूपसंसर्गविशेषतात्पर्यग्राहक-
त्वमविरुद्धम् ।

एतेन जीवनस्य स्वपरिमितकालकत्वसम्बन्धेन दर्शान्वया-
न्न काललक्षणेत्यपास्तम्, तादृशसम्बन्धस्य तात्पर्यग्राहकाभा-
वेनाऽयोग्यत्वात् ।

न च विनियोगान्तरविधिगौरवस्य निमित्तत्वपक्षेऽपि तु-
ल्यत्वात्ततो वरं सामस्त्यविधिगौरवाऽऽश्रयणमेवेति वाच्यम् । त-
स्य श्रुतनिमित्तनैमित्तिकभावप्रतीत्युत्तरप्रतीतिकत्वेन फलमुख-
त्वात् प्रयोगान्तरविधिगौरवस्य तवापि तुल्यत्वाच्च । मम तु त-
मेव प्रयोगमुपजीव्य विविदिषावाक्यवद्विनियोगान्तरकरणमिति
लाघवम् ।

नच निमित्तस्याऽनुष्ठापकत्वात् प्रयोगाक्षेपकत्वमिति वा-
च्यम् । सायंकालादिवाक्यविहितस्य पूर्वप्रयोगस्यैव विनियोगा-
न्तरफलकनिमित्तसम्बन्धमात्रोपपत्तौ प्रयोगान्तरकल्पने प्रमाणा-
भावात् ।

नचैवं प्रयोगैक्ये नित्यकाम्यप्रयोगयोस्तन्त्रप्रसङ्गविचा-
राऽनुपपत्तिः । प्रयोगगतवैजात्याभावेऽपि (१)योगसिद्ध्याधि-
करणप्रसक्तप्रयोगव्यक्तिभेदाभिप्रायेण तदुपपत्तेः । अतः विनियो-
गान्तरत्वेऽपि न प्रयोगभेद इति लाघवम् । अतः कालस्य संस-
र्गविधया भाने गौरवापत्तेः पदार्थविधया लक्षणावश्यंभावात्
न कालविधिः ।

किञ्चैवं यज्ञावेवाभ्यासलक्षणाऽऽपत्तिः । तथा हि-

न तावत् वसन्तादिकाल इव जीवनव्याप्ते काले सकृदेव सायंप्रातःकालादौ अनुष्ठानसम्भवः, तथात्वे कर्मशास्त्रेणैव तादृशानुष्ठानसिद्धौ कालविधिवैयर्थ्यात् । वसन्तादिविधेर्हि ग्रीष्मादिव्यावृत्त्याऽपि फललाभात् न सातत्येनानुष्ठापकत्वम् । प्रकृते त्वजीवत्कालस्याऽप्रसक्तत्वेनाऽव्यावर्तनीयत्वात्, अयोगव्यावृत्तेश्च कर्मशास्त्रेण सिद्धाया अफलत्वाद्वाप्यैव कालो विधेयः । यावच्छब्दोऽपि अमुमेवार्थं गमयति । अतो न तावत् मरणान्तकालीनं सायंप्रातःकालादौ सकृदेवानुष्ठानम् ।

नापि मरणावधि सायंप्रातः कालादौ अत्रयवशः प्रयोगः । तथात्वे सायंकालादिवाक्यस्य प्रतीयमानैकप्रयोगविधायित्वबाधापत्तेः, मरणस्याऽनियतकालत्वेन प्रयोगसमाप्तेः कदाप्यसम्भवाच्च । अतः सायंकालादिसमाप्यप्रयोगस्यैव मरणावधिकाभ्यासोऽवश्यमास्थेयः । तस्य च फलसाधनकोटौ प्रविष्टत्वात् तत्साधनत्वस्य च विधिं विनाऽयोगात् तस्य च शाब्दत्वं विनाऽनुपपत्तेः अध्याहृतविधिकल्पनातो यजावेवाभ्यासलक्षणाऽवश्यमास्थेया । अन्यथा अभ्यासस्यानङ्गत्वात्तदकरणेऽपि फलापत्तेः । मम तु एकनिमित्तस्य सन्निपाते सकृन्नैमित्तिकानुष्ठानात् फलसिद्धयुपपत्तेः विधिपर्यवसानात् पुनरावृत्तेश्च पुनर्निमित्तपातेन काम्यप्रयोगाऽऽवृत्तिवदार्थिकत्वेन विधिव्यापाराऽविषयत्वान्न लक्षणा ।

वस्तुतस्तु पूर्वपक्षेऽपि अभ्यासस्यानङ्गत्वेऽपि तदकरणे वैशुण्यस्य कर्मणि जीवनपरिमितकालव्याप्त्यसंपादनप्रयुक्तत्वेनाभ्यासाऽकरणप्रयुक्तत्वाभावान्न क्षतिः । अतः अभ्यासस्याङ्गत्वसिद्ध्यर्थं लक्षणाद्यभवेऽपि काललक्षणादिनैव पूर्वपक्षो निराकर्तव्यः । अभ्यासलक्षणामपि तु प्रकारान्तरेणाग्रे निरूपयिष्यामः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १०५

तस्मान्निमित्तपर एव यावज्जीवशब्दः । जीवनानां च प्राण-
क्रियाऽपरपर्यायाणां प्रतिक्षणं भेदान्निमित्तावृत्त्युपपत्तेः यावच्छ-
ब्दोऽनुवादः ।

नचैवं तिथ्यन्तरस्थजीवनस्यापि निमित्तत्वापत्तिः । षा-
ष्ठ्यायेन कालशास्त्रस्य निमित्तशास्त्रैकवाक्यताङ्गीकारेण त-
द्यावृत्त्युपपत्तेः ।

नन्वेवमपि पौर्णमास्यामेव जीवनानां प्रतिक्षणं भिन्नत्वान्नि-
मित्तावृत्तिस्स्यात् । न हि कालोऽपि निमित्तकोटावन्तर्भवति,
येन तस्यैकत्वादनान्नावृत्तिः प्रसज्येत । अपि तु कालान्तरीयस्य
जीवनस्य निमित्तताव्यावर्त्तनेनावच्छेदकत्वमात्रम् । अत एव
ज्योतिष्टोमे एकस्मिन् वसन्ते पौर्णमास्यादिभेदेऽपि नावृत्तिः,
निमित्तावृत्त्यभावात् । अत एव एकस्यामपि पौर्णमास्यां
जीवनानां भेदादावृत्तिस्स्यादेवेति चेत्—

पौर्णमास्यादिकालवत् पौर्वाह्णादिकालस्यापि निमित्ताव-
च्छेदकत्वेन तदप्रसक्तेः । अतो युक्तमेव जीवनस्य निमित्तत्वम् ।
निमित्तत्वं चात्र(१) नियतानुष्ठापकत्वं, न तु अनुष्ठापकत्वमात्रं
कामनादिवत् । तथात्वे कामशास्त्रेणैव तादृशानुष्ठानसिद्धावेतद्वच-
नानर्थक्यापत्तेः, यावच्छब्दानुवादानुपपत्तेश्च । नियतत्वस्य
बुद्धिपूर्वकारिणा पुरुषेण स्वतोऽसम्पाद्यमानत्वान्निमित्तसमभि-
व्याहृतो विधिः योग्यताबलेन विधेयाकरणस्य तत्समानका-
लीनान्यकरणस्य वा प्रत्यवायसाधनतां बोधयति । तद्भिया पुरु-
षो नैमित्तिके प्रवर्तते । करणस्य तु न किञ्चित् फलमिति प्रा-
भाकराः ।

१ प्रतिनियतानुष्ठापकत्वम्.

वस्तुतस्तु प्रत्ययवाच्यभावनाया भाव्यसाकाङ्क्षत्वनियमात् कल्पमेवा (१) वश्यं फलम् । तच्चाकरणनिमित्तप्रत्यवायप्रागभावपरिपालनमिति न्यायसुधाकारः ।

वस्तुतस्तु प्रागभावस्याजन्यत्वान्न फलत्वम् । न च परिपालनस्य प्रतियोग्यनुत्पत्तिरूपस्य फलत्वम्, अनुत्पत्तेः उत्पत्तिप्रागभावरूपाया अजन्यत्वेन तदयोगात् । किञ्चाकरणजन्यस्य प्रतियोगिनः करणे कदाप्यनुत्पत्तेः नैव तदभावस्य प्रागभावत्वम्, अपि तु अत्यन्ताभावत्वमेवेति न तस्य फलत्वोपपत्तिः ।

नापि स्वर्गो विश्वजिन्न्यायलभ्यः स्वर्गकामवाक्यप्रमितो वा । तत्र हि कामशब्दयोगात् कामना अनुष्ठापकत्वेन प्रतीयते । न च जीवनस्य तदा अनुष्ठापकत्वं सम्भवति । द्वयोरनुष्ठापकत्वाङ्गीकारेऽपि तादृशार्थस्य निमित्तश्रुतिं विनापि सिद्धेः तद्वैयर्थ्यात् । अत एव कामार्थे कर्मणि निमित्तरूपगुणान्वयानुपपत्तेः फलान्तरार्थं तद्विनियोग इह आवश्यकः ।

नन्वस्तु निमित्तस्यैवाऽकरणे प्रत्यवायभियानुष्ठापकत्वम् । करणात्तु स्वर्गः अकाम्यमानोऽपि पुत्रगतपूतत्वादिवत् पापक्षयवचानुषङ्गिको (२) विश्वजिन्न्यायेन फलं भविष्यति, न तु तत्कामनायाः अनुष्ठापकत्वकल्पनम्, अनुष्ठापकानपेक्षत्वात् । न च स्वर्गफलकत्वे तस्य मुमुक्षुपरिपन्थित्वाद्यावज्जीवविधेः अमुमुक्षुविषयत्वापत्तेः संकोचापत्तिः, विश्वजिद्विधिवत् संकोचेऽप्यदोषादिति चेत्—

सखं कार्यतावज्ज्ञेदकलाघवाद्विधिसङ्कोचो न दोषाय, तथापि “म ह वा आत्मयाजी यो वेदेदमनेनाङ्गं संस्क्रियते,

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १०७

इदमनेनाङ्गमुपधीयते” इति, (१) “धर्मेण पापमपनुदति” इत्यादि श्रुतिस्मृतिपर्यालोचनया सामान्यतः (२) “पूर्वां संध्यां जपन् विप्रो नैशमेनो व्यपोहति” (३) “यद्रात्र्या पापमकार्षम् । मनसा वाचा हस्ताभ्यां” इत्यादिपर्यालोचनया विशेषतश्च निषिद्धाचरणजन्य-प्रत्यवायक्षयफलत्वावगमात् रात्रिसत्रवत् स्वर्गकल्पने गौरवा-पत्तेः न तत्फलत्वेनाध्यवसानम् । न हि “धर्मेण पापमपनुद-ती” त्यादिवचनं पापापनोदकद्वादशाब्दादिविषयत्वेन युक्तमुपसं-हर्तुम्, वैयर्थ्यापत्तेः । इदमनेनेत्येतच्छब्दस्य स यदेव यजेतेति प्रकृतयद्वादिपरामर्शित्वाच्च । अतो नित्यनैमित्तिकभावनापोक्षि-तफलप्रतिपादकत्वमेवैषाम् ।

यदि त्वेवं नाङ्गीक्रियते ततो भावनाया भाव्यापेक्षार्या यात्र-क्षीवमग्निहोत्रं जुहोती” त्यादौ समानपदोपात्तस्य धात्वर्थस्य तज्जन्याऽपूर्वस्यैव वा अपुरुषार्थस्याऽपि फलत्वोपपत्तेः प्रवृत्तेश्चा-करणे प्रत्यवायभियाप्युपपत्तेः पुरुषार्थभाव्यकत्वानाक्षेपात् पाप-क्षयदेः फलत्वं दुरूपपादमेव । तस्मात् पूर्वोक्तविधयैव पापक्षयस्य भाव्यत्वम् । तस्य च भाव्यत्वेऽपि न तत्कामना अनुष्ठापिका, निमि-त्तश्रुतिविरोधापत्तेः । अतो निमित्तानुष्ठापितस्यैव पापक्षय आ-नुषङ्गिक इति दिक् । तस्मात् निमित्तरूपगुणवशेन फलान्तरार्थं विनियोगभेद इति सिद्धम् ।

सूत्रं तु कर्तुरेव निमित्तवतोऽयं दर्शादिर्धर्मो वेदितव्यः पुरुषार्थ इति यावत् । एवं सति श्रुतिसंयोगो भवति । इतरथा लक्षणापत्तेः इति व्याख्येयम् ।

सू-लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मो(१) हि प्रक्रमेण नियम्येत
तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥ २-४-३. ॥

(२) “अप वा एष सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी स-
न्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वातिपादयेत्” इति लिङ्गमस्मत्पक्षस्य
साधकम् । कर्मधर्मत्वेन कालविधिपक्षे यावज्जीवव्यापकस्यैक-
प्रयोगस्यैव फलसाधनत्वात् ‘दर्शपूर्णमासयाजी सन्नि’त्यनेन
कृतदर्शपूर्णमासकरणकभावनाकत्वनिर्देशो विरुध्यते । अतो “द-
र्शपूर्णमासयाजी”ति प्रक्रान्तदर्शपूर्णमास इति व्याख्येयम् ।
तत्र अन्यदतिपातयेदित्यनुपक्रमदर्शनं विरुध्येत ।

अथ ‘अतिपातयोदिति’असमापयेदिति व्याख्यायेत ततोऽप्य-
न्यत्प्रायश्चित्तविधानं(३) “सोऽग्रये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपे”दि-
ति विरुध्येत । समापनकाले जीवनान्त्यक्षणरूपे अतीते हि मृते त-
व मतेऽतिपत्तिस्स्यात् । तत्र च नैमित्तिकानुष्ठानविरोधः । मम तु
माससाध्यप्रयोगस्यैकफलसाधकत्वात् एकस्मिन्मासे तु कृतदर्शपू-
र्णमासकरणकभावनाकत्वं मासान्तरे च तदकरणरूपातिपादन-
मिति द्वयसंभवः ।

ममापि तत्तत्कालिकव्याप्यप्रयोगाभ्यासानां भेदादुभयो-
पपत्तिरिति चेत्, अभ्यासानां मुख्यस्वर्गादिफलकत्वाभावेन
दर्शपूर्णमासपदवाच्यत्वाभावेन च दर्शपूर्णमासयाजीत्यादिव्यप-
देशस्य औपचारिकत्वापत्तेः । तस्मादपि विनियोगभेदः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १०९

सू-(१)व्यपवर्गश्च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभे-
दस्स्यात् ॥ २-४-४. ॥

किञ्च “दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते” त्यत्र फलो-
देश्यकदर्शपूर्णमासकरणकभावनासमाप्तिरूपो व्यपवर्गः उत्त-
रकालत्वप्रतियोगितया निर्दिश्यते । नचासौ जीवनान्यक्षणस-
माप्यत्वे सम्भवति, तथात्वे सोमस्य तदुत्तरकालविध्यनुपपत्तेः ।
अतः उत्तरकालाऽनुग्रहार्थमपि दर्शादिकर्मणां विनियोगभेद
आश्रायितव्यः । अत्राप्यभ्यासमादाय समाप्त्युपपत्तिशङ्कातत्प-
रिहारौ पूर्ववदेव द्रष्टव्यौ ।

अथ वा कालश्चेत् पूर्वपक्षे जीवनपर्याप्तौ विधीयते ततो वि-
तते दर्शादिप्रयोगे सति मध्ये सोमादिप्रयोगापत्तेः “वि वा एत-
द्यज्ञश्छिद्यते यदन्यस्य तन्त्रे विततेऽन्यस्य तन्त्रं प्रतारयते” इ-
त्यादिनिन्दोन्नीतनिषेधविरोधरूपो भेदस्स्यात् । नचानन्यगति-
कत्वं दर्शप्रयोगवृत्तिपिण्डपितृयज्ञप्रयोगवत्, सिद्धान्तरीत्याप्यु-
पपत्तेः । अतोऽयं निषेधः दर्शपूर्णमासप्रयोगसमाप्तिरूपं व्य-
पवर्गं दर्शयत्येवेति व्याख्येयम् ॥

सू-अनित्यत्वात् नैवं स्यात् ॥ २-४-५. ॥

किञ्च “आहिताग्निर्वा एष सत्राग्निहोत्रं जुहोति, न दर्शपूर्ण-
मासौ यजेत, तदाहुतिभाजोऽनुध्यायिनीः करोती”ति अनुध्यायि-
नीवचनार्थवादोऽपि काम्यत्वपक्षे नोपपद्यते । यस्य यत् नियमेन
देयं तस्मिन्नदीयमाने तस्यानुध्यानं भवति । नच काम्यत्वपक्षे
नियमेन देयत्वम् । अपि तु नित्यत्वपक्ष एवेत्यतोऽपि विनि-
योगभेदः ।

अपि च “जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां मुच्यते मृत्युना वे”ति जरामरणाभ्यां निर्मोचनावधारणवचनं नित्यत्वपक्षे उपपद्यते न काम्यत्वपक्षे, तदा हि अप्रयोगादपि मुच्येतैव । यत्तु सत्रसादृश्यं प्रयोगभेदे नोपपद्यत इत्युक्तं तदीर्घकालिकैकर्मत्वादुपपन्नम् ॥

सू-विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ २-४-६. ॥

अङ्गत्वेन कालविधिपक्षे च तस्य विकृतिष्वप्यतिदेशात् तासामभ्यासापत्तेः कामनावशेनानेकासां विकृतीनामारब्धानां यावज्जीविकाभ्यासेऽशक्यार्थतारूपो विरोधः स्यात् । निमित्तपक्षे तु तस्यानङ्गत्वेनातिदेशाभावात् न विरोधः ॥

सू-(१)कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं(२)
स्यात् ॥ २-४-७. ॥

नन्वस्तु काललक्षणाभिया जीवनस्य निमित्तत्वम् । “वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेते”त्यादिषु तु तदभावात् प्रत्युत निमित्तत्वपक्ष एव अधिकरणवाचिन्या सप्तम्या निमित्तत्वलक्षणापत्तेः काम्यप्रयोग एव कालविधिरस्तु ।

यदि तु वीप्सया सर्ववसन्तव्याप्यवगतेः तस्याश्चाङ्गभूतकालानुरोधेन कामनानुरोधप्रवृत्तिकप्रधानावृत्तेरन्यायत्वेनाऽप्राप्तत्वात् विधेयत्वापत्तेः कालविधौ वाक्यभेदो गौरवं वा शंकेत, ततोस्तु काम्यप्रयोगे वीप्सार्थविधिरेव । कालस्य तु ‘वसन्ते ज्योतिषा यजेते’त्यनेन वाक्येनैव प्राप्तस्यानुवादात् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १११

आवश्यकश्चायं विधिस्सिद्धान्तिनोऽपि । अन्यथा वीप्सा-
युक्तवाक्यस्य निमित्तपरत्वेऽपि काम्यप्रयोगे विध्यभावेन वस-
न्तनियमाभावप्रसङ्गात् । अतो वाक्यान्तरप्राप्तकालानुवादेन त-
द्गतव्याप्तिमात्रं ज्योतिष्टोमोद्देशेन विधीयते । अतश्च काम्यस्यैव
ज्योतिष्टोमस्य प्रतिवसन्तमभ्यस्तस्य फलसाधनत्वम् ।

एवं यावज्जीववाक्येऽपि जीवनस्य स्वावच्छिन्नकालकत्व-
सम्बन्धेनार्थप्राप्तत्वात् तद्गतव्याप्तिरेव यावच्छब्दवाच्या कर्मोद्देशेन
विधीयत इति शक्यं वक्तुम् । नचैवं व्याप्तेः साक्षात्कर्मणि नि-
वेशायोगात् यजावभ्यासलक्षणापत्तिः । साक्षादन्वयायोगेऽपि
अभ्यासद्वारा तदापत्तेः । न चैवं लक्षणा । अपूर्वेऽपि तदापत्तेः,
इति चेत्—

सत्यं न लक्षणा तथापि श्रुतसम्बन्धनिर्वाहार्थं द्वारेऽपि अ-
भ्यासशब्दाध्याहारस्त्वावश्यक एव । अत एवापूर्वेऽप्यपूर्वकृत्वेति-
शब्दाध्याहारोऽस्त्येवेत्युक्तं वार्त्तिककृताऽस्माभिश्चाऽपूर्वाधिकरणे ।

मास्तु वा द्वारे शब्दाध्याहारः । अर्थाध्याहारस्तु विधिगौ-
रवापादक आवश्यक एव । तद्वरं निमित्ते 'सप्तमी वाच्ये'त्यानुशा-
सनिकनिरुद्धलक्षणाङ्गीरेणापि वसन्तादेर्निमित्तत्वाङ्गीकारः । न
चैतस्मिन्नपि पक्षे अभ्यासाध्याहार आवश्यकः निमित्ते नैमित्ति-
कविधिमात्रेण पर्यवसन्ने विधौ अवर्जनीयाभ्यासस्य विधिगौ-
रवापादकाध्याहारविषयत्वाभावात् । अतो नैमित्तिकविनियोगा-
न्तरविधिरेवायम् । अत एव(१) "जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभि-
र्ऋणवा जायते" "यज्ञेन देवेभ्यः" इत्यर्थवादोऽपि आवश्यकत्व-
प्रतिपादनार्थस्सङ्गच्छते ।

यत्तु न्यायसुधाकृता ऋणसंस्तवकल्पेन विधिना चौळो
पनयनादिवदावश्यकस्वतन्त्रएव सकृत्प्रयोगो विधीयत इत्यु-
क्तं, तत् ऋणसंस्तवस्य विध्यन्तरशेषत्वाद्दीप्सावाक्यप्राप्ता-
वश्यकसकृत्प्रयोगानुवादापपत्तेः, (१)षाष्ठाधिकरणभाष्यविरोधा-
खोपेक्षणीयम् । अत्रत्यवार्तिकं तु (२)“अपुनर्भक्ष्योऽस्य सोम-
पीथो भवती” तिलिङ्गानुमेयावश्यकसकृत्प्रयोगविध्यभिप्रायम् ।
तस्मात्सिद्धः सर्वत्रैवंजातीयके विनिबोगभेदः ।

प्रयोजन-सौर्यादौ यावज्जीविकोऽभ्यासः, सिद्धान्ते नेति ।

सूत्रं तु कर्तृधर्मो नियम इत्यङ्गीकारे लाघवस्य सत्वात् का-
लशास्त्रत्वेन भासमानमपि वसन्तवाक्यं निमित्तपरमेव स्यादि-
ति व्याख्येयम् ॥

इति प्रथमं यावज्जीवाधिकरणम् ॥

॥ अथ द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम् ॥

सू-नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशक्तिसमाप्ति-
वचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेदस्स्यात् ।

(विषयसंशयौ)

एकवेदगतनानाशाखासु श्रुतानां अग्निहोत्रादीनां किं भे-
दः ? उत नेति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

उत्पत्तिप्रयोगविनियोगभेदानां त्रयाणामपि पूर्वनिरूपिता-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ११३

नां इहापवादेऽपि विनियोगभेदापवादस्यापि तावत् सत्वात् पा-
दाध्यायसङ्कतिरनन्तरा च ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र संज्ञागुणाभ्यामप्रकरणान्तरैः कर्मान्तरत्वम् । संज्ञा-
तावत् तत्तत्कर्मणि काठकं कालापकमित्यादिरूपेण वैदिकैः प्रयु-
क्ता कर्मभेदं गमयति । न च काठकादिशब्दस्य शाखाया-
मपि प्रयोगात् तत्रैव शक्तिः, कर्मणि लक्षणेति वाच्यम् ; विनिग-
मनाविरहेण उभयत्रापि शक्तिकल्पनात् ।

न च(१)“कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च”इति सूत्रेण(२)
“तेन प्रोक्तमि”त्यास्मिन्नर्थे णिनिप्रत्ययविधायकेन कठशब्दात् वैश-
म्पायनान्तेवासिपुरुषविशेषवचनात् णिनिप्रत्यये कृते तस्य च(३)
‘कठचरकाल्लुक्’ इत्यनेन लुकि कृते(४)“छन्दोब्राह्मणानि च तद्वि-
षयाणि”(५)‘तदधीते तद्वेदे’ त्यनेन कठेन प्रोक्तं छन्दोब्राह्मणं यो-
ऽधीते वेदे वेत्यस्मिन्नर्थेऽण्प्रत्यये कृते”(६)“प्रोक्ताल्लुक्” इत्यनेन
च तस्यापि लुकि कृते कठेन प्रोक्तं योऽधीते स कठ इति स्थिते(७)
“तस्वेद्”मित्यस्मिन्नर्थे(८)‘गोत्रचरणात् वुञ्’इत्यनेन वुञि कृते
तस्य च अकादेशे कृते काठकमिति रूपावगतेः उपस्थितत्वाच्च
ग्रन्थस्यैव सम्बन्धितया ग्रहणादनुशासनस्यैव शाखावाचितायां
नियामकत्वमिति वाच्यम् । “चरणाद्धर्माभ्याययोरिष्यते” इति
स्मृत्या कठसम्बन्धिशाखाविषयत्ववत् तत्सम्बन्धिधर्मविषय-
त्वस्याप्युपपत्तेः कर्मण्यपि शक्तिकल्पनोपपत्तेः ।

१ पा. सू. ४-३-१०४.

२ पा. सू. ४-३-१०१.

३ पा. सू. ४-३-१०७.

४ पा. सू. ४-२-६६.

५ पा. सू. ४-२-५९.

६ पा. सू. ४-२-६४.

७ पा. सू. ४-३-१२०.

८ पा. सू. ४-३-१२६.

वस्तुतस्तु कठचरणादिशब्दानां चरणव्यूहादौ शाखास्वपि प्रयोगात्-पूर्वोक्तविधया बुज्जप्रसये कृते तत्सम्बन्धिकर्मण्येव शक्तिकल्पनोपपत्तिः ।

अस्तु वा कर्मणि लक्षणा, तथापि श्येनादिपदवत् लक्षणिक्यपि संज्ञा भेदिका भवेदेव । तथा क्वचिद् द्रव्यदेवताख्यरूपलक्षणगुणादपि एकादशकपालद्वादशकपालत्वरूपात् शाखाभेदेनाम्नातात्(१)वाजिनन्यायेन भेदासिद्धिः । तथा धर्मविशेषलक्षणादपि गुणाद्भेदः । यथा कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे नेति ।

यद्यपि चैते धर्माः अध्ययनाद्भवात् न कर्माङ्गं, तथाप्युपकारकत्वस्य सत्त्वात्तद्भेदस्य कर्मभेदकत्वोपपत्तिः । तथा प्रतिशास्त्रं समानगुणफलकर्मोपदेशात् अनन्यपरपुनःश्रवणस्यापि भेदकत्वम् । नच पुनःश्रवणादेः उत्पात्तिपरत्वाक्षेपकत्वेऽपि तत्तच्छाखास्थवाक्यस्य तत्तच्छाखाध्येतृपुरुषान् प्रति एककर्मविषय एवाज्ञातज्ञापकत्वोपपत्तेः न कर्मभेदाक्षेपकत्वमिति वाच्यम् । प्रतिशास्त्रमध्येतृभेदनियमे प्रमाणाभावात् । न च 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यत्र स्वैरधीयत इति व्युत्पत्त्या पित्रादिपरंपरागतैकशाखाध्ययननियमावगतेः येनैका शाखाऽधीयते तद्विज्ञा शाखा अन्येनैव पठनीयेति प्रतिशास्त्रमध्येतृभेदोपपत्तिः इति वाच्यम् । अध्ययनविधां शाखाया उद्देश्यत्वेन तद्गतयोः स्वीयत्वैकत्वयोर्विशेषणयोः अविवक्षितत्वात् ।

अथ तु शाखाया अध्ययनं प्रत्युद्देश्यत्वेऽपि अर्थज्ञानं प्रत्यु-

१ "सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनमि"त्यत्र यथा वाजिनरूपो गुणः पूर्वस्मिन् कर्मण्यामिक्षाद्रव्यकेऽसम्भवनिवेशः कर्म भिन्नत्ति तद्वदित्यर्थः । एतच्च पूर्वमीमांसायां-२-२-९ मे विचारितम् ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । ११६

पादेयत्वात्, “अध्वर्युं वृणीते” इतिवत् विशेषणविवक्षोच्यते, ततः शाखान्तराध्ययनवत् वेदान्तराध्ययनस्याप्रसक्तेः—“वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमं” इत्यादि शास्त्रविरोधः । अतश्च वचनान्तरानुरोधात् अविवक्षितविशेषणाया एव शाखाया अर्थज्ञानं प्रति विधिरिति प्रतिशास्त्रमध्येतृभेदाभावात् तमादाय सर्ववाक्यानां अज्ञातज्ञापकत्वानुपपत्तेः युक्तमेव कर्मभेदाक्षेपकत्वम् । तथा उदितहोमविधिसन्निधौ अनुदितहोमनिन्दा “प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुहति येऽग्निहोत्रं । दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषां” इत्येवंरूपा, अनुदितहोमविधिसन्निधौ च तदितरनिन्दा(१) “यथातिथये प्रदृताय अन्नं हरेयुः तादृगेव तद्यदुदिते जुहति” इत्येवंरूपा सापि गुणविधया कर्मभेदमाक्षिपति । नह्यत्रैकादशकपालत्वादिवत् निन्दयोर्विकल्पोऽप्युद्भावयितुं शक्यः । उदितानुदितकालरूपाङ्गयोरुभयोरप्यनिषिद्धत्वेन निन्दाविषयत्वस्यैवानुपपत्तेः । यद्यपि नेयं निन्दा निन्दात्वपर्यवसायिनी, निषेधैकवाक्यताऽभावात्, अपि तु विधेयस्तुत्यर्थेत्युच्येत तथापि स्तुत्यालम्बनभूताया निन्दाया अप्यनिषिद्धविषयत्वानुपपत्तेः युक्तं भेदकत्वम् । तदा हि यस्मिन्कर्मण्युदितकालनियमः तत्र तदितरकालस्यार्थान्निषिद्धत्वान्निन्दोपपत्तिः । एकत्वे च कर्मणः सर्वशाखास्थाङ्गोपसंहाराशक्तेः एकशाखाविहिते कर्मण्यसंभवाच्चिवेशात् शाखान्तरीयाङ्गरूपादपि गुणाद्भेदः ।

तथा “अस्माकं योऽग्निस्सोन्वारोहेषु समाप्यते, अन्येषामन्यत्रे”ति समाप्तिभेदवचनस्यापि गुणविधया भेदकत्वम् । एवमुदितहोमिनामनुदितहोमे, अनुदितहोमिनां च उदितहोमे प्रायाश्चि-

चपपनिषिद्धे प्रायश्चित्तासंभवात्निन्दाबहुणविधयैव भेदकम् ।
निन्दा हि अनिषिद्धेऽपि कथंचित्संभवति स्तुत्यर्थं न तु प्राय-
श्चित्तमिति पृथगुपन्यासः ।

तथा कालाद्यनुपादेयगुणयुक्तानुपस्थितिरूपात्प्रकरणान्तरा-
दपि भेदः । इदमेव सूत्रे शाखान्तरपदेन हेतुगर्भपक्षप्रतिपादकेन
सूचितम् । तस्मात्सिद्धो भेदः ।

अत एव क्वचिच्छाखायां द्वादशाहान्तर्गतप्रायणीयं प्रकृत्य
श्रुतं “यदि पुरा दिदीक्षाणास्स्युस्तत्र तमेव बृहत्सामानमतिरात्र-
मुपेयुरुपेतमेषां रथन्तरमथ यद्यदिदीक्षाणास्ततोरथन्तरसामानमेव”
इति लिङ्गमुपपद्यते । एककर्मत्वे हि (१) “एष वाच प्रथमो यज्ञो यज्ञानां
यज्ज्येतिष्ठोमः य एतेनानिष्ठाऽथान्येन यजते गर्तपत्यमेव तद्भवति”
इतिताण्डकशाखास्थवचनेन विकृत्यन्तराणामिव सर्वशाखास्थस्या-
पिद्वादशाहस्य ज्योतिष्ठोमपश्चाद्भावनियमात् तत्रादीक्षितदर्शनानु-
पपत्तिः । भेदपक्षे तु ताण्डकशाखास्थयज्ञानामेवोपस्थितत्वात् अ-
न्यपदेनोपादानात्तच्छाखास्थद्वादशाहस्यैव ज्योतिष्ठोमपश्चाद्भाव-
नियमात् एतच्छाखास्थद्वादशाहस्य तन्नियामकप्रमाणाभावेन पक्षे
अदीक्षितदर्शनोपपत्तिः ।

तथा यूपैकादशिन्यां (२) “यत्पक्षसम्मितां मिनुयात् कनीयाँसं-
यज्ञक्रतुमुपेयात् पापीयस्यस्यात्मनः प्रजा स्यात्, वेदिसंमितां मि-
नोति” इति लिङ्ग अनियमेनाऽर्थप्राप्तयोः श्पेनाख्यपक्ष्या-
कारस्थलावयवभूतपक्षद्वयसंमितत्ववेदिसंमितत्वपक्षयो र्मध्ये ए-
कं निन्दित्वा इतरविधिरूपं भेदपक्ष एवोपपद्यते ।

कर्मैकत्वपक्षे तु शाखान्तरीयस्य “रथाक्षमात्राणि यूपान्तरा-
ळानि भवन्ती” ति विधिविहितस्य रथाक्षमात्रान्तराळस्यापि उ-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । ११७

पसङ्गहात् न वेदिसम्मानं विधातुं शक्यम् । वेदेरल्पपरिमाण-
त्वात् सुतराञ्च पक्षसम्मानं निन्दितुमप्रसक्तत्वात् । न च
प्रकृतौ वेदिः सम्मानस्याङ्गम् । येन कार्यवशेन परिमाणं
बाधित्वा वर्धयेत् । न तु तदस्ति । अन्तर्वेदिबहिर्वेदिपदल-
क्षितदेशविशेषस्यैव तदङ्गत्वात् । अतोऽपि कर्मभेदः ।

तथा शाखाभेदेन ज्योतिष्टोमातिरात्रे “तिस्रः संस्तुतानां
विराजमतिरिच्यन्ते द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते” इति संस्तु-
तपदवाच्यानां स्तोत्रीयाणां मध्ये विराट्पदवाच्येन दशकेन भागं
दत्त्वा द्वयोस्तिष्ठणां च अतिरेकवचनं कर्मैकत्वे नोपपद्यते ।

तथा सारस्वतसत्रे “ये पुरोडाशिनस्त उपवसन्ति, ये सा-
न्नायिनः ते बत्सान् धारयन्ती”ति असोमयाज्यधिकारिकन्द्रा-
ग्नाभिप्रायेण पुरोडाशिन इति वचनमनिष्टप्रथमयज्ञत्वज्ञापकं
दीक्षितदर्शनवत् कर्मभेद उपपद्यते । परिहारभेदात्तु पृथगुपन्यासः ।
इदमेव चानेकलिङ्गोपन्यासे बीजम् ।

तथा उपहव्ये क्रतौ शाखाभेदेन “उपहव्योऽनिरुक्तः, अग्नि
ष्टोमो रथन्तरसामाऽश्वः इयावो दक्षिणा । उपहव्योऽनिरुक्तउक्थो
बृहत्सामाऽश्वः श्वतो दक्षिणे” त्याभ्याम् वाक्याभ्यां बृहद्रथन्तर-
सामनी विहिते । तत्कर्मैकत्वपक्षे विकल्पापत्तेः तस्य चातिदेशेनैव
प्राप्तत्वादनर्थकम् । भेदपक्षे तु विकल्पेन प्राप्तयोर्नियमार्थमिति भेद
एव न्याय्यः । सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥

सू-एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात् ॥

२-४-९. ॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

प्रतिशाखमेकमेव कर्म, प्रत्याभिज्ञानात् । न हात्र प्रत्याभिज्ञावि-

च्छेदकपीषदप्यस्ति । फलसंयोगस्य द्रव्यदेवतादिलक्षणस्य रूपस्य धात्वर्थावच्छिन्नभावनाविषयकविधिरूपायाश्चोदनायाः ज्योतिष्ठीमादिनामधेयस्य च प्रतिशाखमविशेषात् ।

ननु प्रत्यभिज्ञाया अपि ज्योतिरादिसंज्ञया बाधदर्शनात् भेदोपपत्तिः । अत आह—

सू—न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानात् ॥२-४-१०॥

न काठकादिनाम्ना भेदस्स्यात् । तस्य विधीयमानकर्मवाचित्वाभावात् । ग्रन्थ एव ह्यस्य शक्तिः, न कर्मण्यपि; अनेकशक्तिकल्पनापत्तेः । ग्रन्थप्रतिपाद्यत्वसम्बन्धेन कर्मणि लक्षणोपपत्तेश्च ।

न च विपर्ययः । अनेकेषु कर्मसु शक्तिकल्पनापेक्षया एकस्मिन्ग्रन्थ एव शाखारूपे शक्तिकल्पनस्य न्याय्यत्वात् । न च लक्षणिकसंज्ञाभेदादेव भेदः । संज्ञा हि वैदिकवाक्यगता कर्मभेदहेतुर्भवेत् । इयं तु व्यवहारसौकर्यार्थं स्वाध्येयग्रन्थसम्बन्धेन तत्तद्वैदिके कर्मणि प्रयुज्यमाना न भेदहेतुः ॥

सू—सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ॥२-४-११॥

इदं भाष्यकारेण यदि काठकादिसंज्ञाभेदात् कर्मभेदस्स्यात् ततस्संज्ञैक्यात् एकशाखान्तर्वर्तिसर्वकर्मणामभेदस्स्यात् इत्येवं व्याख्यातम् ।

तत्र चार्तिके चातुर्मास्यादिसंज्ञैक्येऽपि आग्नेयादिभेददर्शनेन संज्ञैक्यस्य अभेदव्याप्त्यभावात् असाधकत्वमाशङ्क्य असदुत्तरमेव पूर्वपक्षस्यातितुच्छत्वज्ञापनायोक्तमिति समाहितम् ।

एवं तु सूत्रकारस्य शून्यहृदयतापत्तेः एवं व्याख्येयम् । यदि हि सम्बन्धान्तरेणैयं संज्ञा तथा च कर्मभेदस्स्यात् ततः काठशाखास्थे विजातीये कर्मणि कलापिश्वाखिनामपि काठक-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । ११९

मित्येवप्रयोगस्स्यात् । कठशाखिनामेव तु प्रयोगात् स्वाध्येय-
ग्रन्थसम्बन्धेन प्रयोग इति निश्चयात् न कर्मभेदकत्वमिति ॥

सू-कृतकं चाऽभिधानम् ॥ २-४-१२ ॥

पूर्वपक्षयुक्तीत्या काठकादिपदस्य वैशम्पायनान्तेवासिपुरु-
षविशेषवाचिकठशब्दघटितत्वात्तस्य च सादित्वेन समाख्याय^१
अपि तच्चापत्तेः तादृश्या च तथा न अनादिवाक्यविहितकर्मभेदो-
पपत्तिः ।

वस्तुतस्त्वे अवध्यस्मरणात् वैशम्पायनान्तेवासिपुरुषविशे-
षस्य प्रवाहानादित्वमभ्युपगम्य संज्ञाया अनादित्वम् ।

यदि वा ब्राह्मणत्वावान्तरजातिचरणत्वावान्तरजातिरूपं क-
ठत्वमङ्गीकृत्य तद्वाचिनः कठशब्दादुज्ज्वल्ययोत्पादनेन काठकमिति
रूपं व्युत्पाद्य तदुपपादयितुं शक्यम् । अथ वा कठत्वजातिवच-
नात्कठशब्दात्तेन प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थेऽणं व्युत्पाद्य स्वार्थिककप्र-
त्ययान्तररूपाऽभ्युपगमेन तदुपपादनीयम् । अतश्च कृतकत्वेनाभेद-
कत्वाभिधानमन्वाचय एवेति चशब्देन सूचितम् ।

सू-एकत्वेऽपि परम् ॥ २-४-१३ ॥

यदेकादशकपालत्वद्वादशकपालत्वरूपभेदाख्यं परं भेदका-
रणमुक्तं तदेकत्वेऽपि त्रीहियवन्त्यायेन विकल्पोपपत्तेराविरुद्धम् ।

न चोत्पत्त्युत्पन्नशिष्टत्वात्तदसम्भवः । द्वाभ्यामपि गुणाभ्यां
स्वस्त्रवाक्ये कर्मोत्पत्त्याक्षेपेण द्वयोरप्युत्पत्तिशिष्टत्वात् ।

न चैवं उत्पन्नस्य उत्पत्त्ययोगात् भेदः । अनेकेषामपि नाना-
शास्त्रास्थवाक्यानामेककर्मविषयेऽपि अध्येतृपुरुषभेदेनाज्ञातज्ञापनरू-
पकर्तृपत्तिपरत्वस्य “अद्विवचनं वा” इत्यत्र सूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् ।

सू-विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥ २-४-१४. ॥

यत् पुनर्भूमिभोजनादि धर्मशास्त्रं कर्मभेदकत्वेनोक्तं तद्धर्माणां कर्माङ्गनाबोधकप्रमाणाभावात् द्वादशं च विघ्ननिवृत्तिद्वारा विद्याङ्गत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वादकिञ्चित्करम् ॥

सू-आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥ २-४-१५. ॥

यत् पुनर्यथा अग्नेयस्य आवास्यायामेव पुनर्वचनं तदधिकरणपूर्वपक्षे भेदकत्वेनोक्तं, तथा प्रतिशास्त्रं अभिहोत्रादिपुनर्वचनमपि । न च तत्रत्यसिद्धान्तन्यायेन अत्र पुनःश्रवणस्य किञ्चित् प्रयोजनं शक्यं कल्पयितुमित्युक्तम् । तदनुभाषणार्थमिदं सूत्रम् ।

अथ वा यत्पुनर्वचनं भेदकत्वेनोक्तं तदाग्नेयाधिकरणसिद्धान्तन्यायेन किञ्चित्प्रयोजनं कल्पयित्वा परिहर्तव्यमित्येव परिहारार्थं सूत्रम् ।

सू-अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाऽविशेषात् ॥ २-४-१६. ॥

अथ वा नैवास्य पुनःश्रुतित्वं, येनाग्नेयवत् प्रयोजनं कल्प्येत । अपूर्वश्रुतिसंयोगाख्याज्ञातज्ञापकत्वाऽविशेषात् सर्व एवैते विधयः । तथा हि यच्छाखास्थं वाक्यं यं प्रति ज्ञापकं, न तं प्रति तद्विज्ञशाखास्थवाक्यस्य ज्ञापकता । स्वाध्यायपदे स्वीयत्वैकत्वयोः विवक्षितत्वेन एकस्य शाखाद्वयाध्ययनाभावात् काठकादिसमाख्यया तच्छाखाध्ययने कठादीनामेव नियतत्वाच्च । नचैवं वेदान्तराध्ययनानापत्तिः “अनया ब्रह्म्या विद्यया लोकं जयति” “वेदानधीत्य वेदौ”वेत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनैः तत्सिद्धेः ।

अत एव वचनान्तैरकवाक्यतया अध्यायपदं ऋग्वेदत्वादि-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः १२१

व्याप्यशाखापरं सत् तत्रैव स्वीयत्वैकत्वयोः विशेषणतामङ्गीकरोति, तेन च विशेषणेन ऋग्भेद्व्याप्या एकैव पित्र्यादिपरम्परागता शाखा पठनीया, नान्येति फलितं भवति । न तु वेदान्तरगताऽपि पठनीयेति । अतश्च वचनद्वयाऽनुरोधात् वेदत्रयगतैकैकशाखाध्ययनमावश्यकम् । न तु शाखान्तराध्ययनम् । अत एव त्रयीसाध्यज्योतिष्टोमादिकर्मसिद्धिरपि उपपन्ना भवति । अत एव च तत्र अध्येतृभेदाभावात् यजुर्वेदे एव यागपरिचायकेतिकर्तव्यताबाहुल्यात् ज्योतिष्टोमस्योत्पत्तिः, वेदान्तरे तु तदनुवादेन गुणविधानमात्रम् ।

एवं यत्र सामवेदे एकस्यामेव शाखायां पञ्चविंशपट्टविंशाख्यब्राह्मणभेदः तत्रापि अध्येतृभेदाभावात् एकत्र विधिः अपरत्र अनुवादो बाहुल्यसत्त्वे, तदभावे तु कर्मान्तरमेव । अत एव नात्र तदुदाहरणम् । शाखान्तरस्थले तु अध्येतृभेदेन प्रमातृभेदात् सर्वशाखास्थवाक्यानां एककर्मविषयेऽपि अज्ञातज्ञापकत्वोपपत्तेः नेदं पुनःश्रवणम् । येन प्रयोजनं, तदसंभवे भेदं वाऽऽक्षिपेत् ।

नचैकस्य पुरुषस्य शाखान्तरे स्वाध्यायविधिवोधितवैधाध्ययनाभावेऽपि अध्ययनाद्यर्थं अनिषिद्धरागमाज्ञाशाखान्तरावगमस्य संभवेन एकस्मिन् प्रमातरि वाक्यद्वयस्य नाज्ञातज्ञापकत्वोपपत्तिरिति वाक्यम् । सर्वस्यापि शाखान्तरावगमे नियमेन प्रवृत्त्यभावात् क्वचित्तदनुपपत्तावपि पुरुषान्तरं प्रत्यज्ञातज्ञापकत्वोपपत्तेः । इममेवार्थं विवृणोति—

सू—वाक्यासमवायात् ॥ २-४-१७ ॥

न शाखान्तरवाक्यमेकस्मिन्प्रमातरि नियमेन समवैतित्यर्थः ॥

सू-अर्थासन्निधेश्च ॥ २-४-१८ ॥

यत्पुनरर्थस्य पूर्वकर्मणोऽनुपस्थितिरूपं प्रकरणान्तरं भेदकारणमुक्तं, तदप्यनेनैव अभ्यासस्य भेदकत्वनिराकरणप्रकारेण प्रत्युक्तम् । अस्यापि प्रमातृभेदेनोत्पत्त्याक्षेपकत्वेऽपि भेदाक्षेपकत्वाभावात् ।

सू-न चैकं प्रति शिष्यते ॥ २-४-१९ ॥

यदि वा अध्येतृभेदमनङ्गीकृत्य कर्मभेद उच्यते । ततो न तावत् प्रतिशाखास्थाग्निहोत्रकर्मणां पुरुषविशेषपुरस्कारेण शक्या व्यवस्था कल्पयितुम् । अर्थिमात्रोद्देशेन विहितत्वात् ।

न च काठकादिसमाख्यानां शाखास्विव कर्मण्यपि प्रयोगात् ताभिराध्वर्यवादि समाख्यावत् पुरुषविशेषनियमोपपत्तिः । कर्मणि प्रयोगस्य कठप्रोक्तग्रन्थविहितत्वसम्बन्धनिमित्तकस्य कर्तृतासम्बन्धेन कठनियामकत्वायोगात् । सम्बन्धसामान्ये जुञ् प्रत्ययं व्युत्पाद्य “धर्मसमाम्नाययोरिष्यते” इति वचनात् कर्मण्यपि कर्तृतासम्बन्धेन अधिकारितासम्बन्धेन वा कठनियमाङ्गीकारस्तु अर्थिवाक्यस्य कठाऽकठसाधारण्यात् कठानां वैकल्पिकप्राप्त्यभावेन समाख्यायाः तन्नियामकत्वायोगात् अकठव्यावृत्त्यर्थकत्वे च परिसङ्ख्याफलकत्वापत्तेः कठप्रोक्तग्रन्थविहितत्वसम्बन्धेनैव कर्मणि प्रयोगोपपत्तेः समाख्याया राजत्ववदप्यधिकारसंकोचकत्वायोगादयुक्तः ।

अतश्च भेदपक्षे सर्वशाखास्थकर्मणां सर्वपुरुषान् प्रत्येकफलोद्देशेन विधानात् अव्यवस्थितविकल्पापत्तिः ।

मम त्वेकस्मिन् कर्मणि सर्वशाखास्थवाक्यानां विकल्पेऽपि

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १२३

स्वाध्यायविधौ स्वीयत्वैकत्वयोः विवक्षितत्वेन व्यवस्थितत्वात्
नाव्यवस्थिताविकल्पापत्तिः ।

यत्तु मूले अस्य सूत्रस्य कर्मभेदपक्षे प्राकराणिकानामङ्गानां
तत्तत्कर्मविषयत्वेन व्यवस्थितविकल्पापत्तावपि वाक्यसंयुक्तानां
“उदिते जुहोती”त्येवमादीनां सङ्कोचकप्रमाणाभावेन सर्वशाखा-
विहिताग्निहोत्रकर्मङ्गत्वापत्तेः अव्यवस्थाप्रसङ्गेन शाखान्तरीया-
ङ्गोपसंहाराभावः पूर्वपक्षप्रयोजनं न सिद्ध्येदित्येवं प्रयोजन-
दूषणार्थत्वेन व्याख्यातम् ।

तद्वाक्यसंयुक्तानामपि व्रीहिभिर्यजेतेतिवत् प्रकृतकर्मविषय-
त्वोपपत्तेः स्वपरशाखादिविहितज्योतिष्टोमाद्यनङ्गत्ववत् परशाखा-
स्थाग्निहोत्राङ्गत्वेऽपि प्रमाणाभावादुपेक्षितम् ।

वस्तुतस्तु कर्मैकत्वपक्षेऽपि न सर्वशाखास्थाङ्गोपसंहारः प्र-
योजनं सिध्यति । काठकादिसमाख्याया तत्तच्छाखास्थानामङ्गा-
नां प्रधानानां च कठादीन् प्रत्येव व्यवस्थितत्वादित्याशङ्कानिरा-
करणार्थमिदं सूत्रम् । समाख्यायाः पूर्वोक्तरीत्याप्युपपत्तेः अङ्गा-
नां कठाद्यर्थत्वे प्रमाणाभावात् प्रकरणाच्छुद्धक्रत्वर्थत्वावगतेः
तस्य च पूर्वोक्तरीत्या सर्वपुरुषसाधारणत्वादिष्टप्रयोजनसिद्धिः ।

नचैवमपि शाखान्तरीयाङ्गानां प्रधानानां वा अध्ययनवि-
धिसिद्धज्ञानाभावात् कथमनुष्ठानोपपत्तिः? क्रतुविधीनां स्वकर्तृ-
शाखास्थविषये अध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानलाभेन तदुपायानाक्षेप-
कत्वेऽपि शाखान्तरवृत्तिस्वानुष्ठेयार्थविषये अध्ययनविध्यविषय-
त्वेनार्थज्ञानोपायाक्षेपकत्वोपपत्तेः ।

नचैवमपि शूद्रस्याप्यर्थज्ञानोपायाक्षेपेण अधिकारापत्तिः ।
तस्याग्न्यभावात्, वेदाक्षरश्रवणनिषेधात्, कर्माधिकारनिषेधाद्वा

तदनापत्तेः । (१)षाष्टमपशूद्राधिकरणं तु कर्माधिकारानिषेधकव-
चनाभावेऽपि अग्निसाध्येषु कर्मसु अग्न्यभावेन अनधिकारप्रति-
पादनार्थम् ।

अतः सर्वाङ्गोपसंहारोपपत्तेः युक्तं प्रयोजनम् ॥

सू-समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥ २-४-२० ॥

“अत्रास्माकमग्निःपरिसमाप्यते, नान्यत्रेति”समाप्तिव्यपदे-
शो यथा अस्माकं योऽग्निः इत्यर्थाङ्गीकारेण भेदसाधकः तथा
योऽग्निः सोऽस्माकमत्र समाप्यते, अन्येषामन्यत्रेत्यर्थाङ्गीकारेणा-
स्मच्छास्त्राधीताङ्गापेक्षया समाप्तिरन्यत्रास्त्राङ्गापेक्षया च असमा-
प्तिः अभेदस्यापि साधिकैव ।

सूत्रं समाप्तिमती, अकारप्रश्लेषेण असमाप्तिमती वा या अ-
पेक्षाबुद्धिरूपा संप्रेक्षा सा अभेदसाधिकैवेति व्याख्येयम् ॥

सू-एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि

॥ २-४-२१ ॥

यानि पुनः पुनर्वचनात् पराणि निन्दादीनि तानि एकत्वे-
ऽप्युपपन्नानि । उदितानुदितकालयोस्तावद्वैकालिकत्वेन इतरेत-
रनिन्दा इतरेतरस्तुत्यर्था । स्तुतिघटकीभूताया निन्दायाश्च आ-
रोपेणाप्युपपत्तेः अनिषिद्धविषयत्वेऽपि न क्षतिः । सर्वाङ्गोपसं-
हारेऽपि तत्तच्छास्त्रागतानां बाहुल्येन समानत्वात् केषांचिदेव-
त्वाधिक्येन नाशक्यार्थता ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १२५

यत्तु केचिद्वाक्यसंयुक्तानामेवोपसंहारः प्रकरणसंयुक्तानां तु व्यवस्थैवेति;

तन्न, तत्तच्छाखास्थप्रकरणानां तत्तच्छाखास्थिताङ्गग्राहकत्वेऽपि पुरुषविशेषविषयत्वे प्राकरणिकानां प्रमाणाभावात् यथैव हि विधिवाक्यानि नानाशाखास्थानि एकपदार्थविषये पुरुषभेदेन बोधकतायां व्यवस्थितान्यपि नाधिकारे व्यवस्थापकानि तथैव नानाशाखास्थप्रकरणान्यपि ।

न च सर्वशाखास्थाङ्गोपसंहारे तत्तद्देशनिवासिपुरुषाध्येयशाखाज्ञानासंभवादशकथार्थता, शाखान्तरीयाङ्गोपसंहारस्य कल्पसूत्रकारैः कृतत्वेन सर्वशाखास्थाङ्गज्ञानोपपत्तेः । अतश्च एकस्मिन् कल्पसूत्रे कतिपयशाखास्थाङ्गोपसंहारात् सर्वकल्पसूत्राध्ययने सर्वशाखास्थाङ्गज्ञानोपपत्तिः । यत्तु “बह्वल्पं वा स्वगृहोक्तमि” त्यादिवचनं तत् सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे अनुकल्पविधानार्थं, समाप्तिभेदश्च स्वाधीताङ्गापेक्षया कर्मैकत्वेऽप्युपपन्न एवेत्युक्तमेव ।

सू०—प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २-४-२२ ॥

उदितानुदितकालातिक्रमे यत्प्रायश्चित्ताम्नानं तस्य कः परिहारः इत्यनुभाषणसूत्रम् ॥

सू०—प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥ २-४-२३ ॥

अङ्गानामपि वैकल्पिकानां प्रयोगाऽविक्षेपार्थं प्रयोगोपक्रमे संकल्पात्तदतिक्रमे प्रायश्चित्तोपपत्तिः । वस्तुतस्तु छन्दोगपरिशिष्टादौ—

“रूपं कालोऽनुनिर्वापः श्रपणं देवता तथा ।

आदौ ये विधृताः पक्षाः त इमे सर्वदा स्मृताः ॥”

इति वचनेन वैकल्पिकस्य कालस्य आद्यप्रयोगे परिगृहीतस्यैव प्रतिप्रयोगं परिगृहविधानात् तदतिक्रमे सुतरां प्रायश्चित्तोपपत्तिः। अत एव शाखान्तरीयस्यापि पक्षस्य स्वशाखीयेन तुल्यवदेव आद्यप्रयोगे विकल्पः ।

यत्तु (१)वलावलाधिकरणे शाखान्तरीयस्य दुर्वलत्वाभिधानं तत् मूलानवगमेऽपि यत्र परोक्तिमात्रेण पदार्थावगमः तत्र मूलावगमपर्यन्तं बाध्यते इत्येवं परम् ॥

सू-समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयते ॥ २-४-२४ ॥

ननु समाप्तेरुभयपक्षसाधकत्वस्य वाक्यार्थद्वयाभिप्रायेण उक्तत्वात् कस्माद्भेदपक्षसाधकतैवाऽवगम्यत इत्याशङ्क्य भेदस्य प्रत्यभिज्ञादिभिः साधितत्वात् तत्पूर्विका समाप्तिरपि तथैव प्रतीयत इत्युक्तम् ॥

सू-लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वात् न हि कर्मचोदना तस्माद्वादशाहस्याहारव्यपदेशस्स्यात् ॥ २-४-२५ ॥

यददीक्षितदर्शनानुपपत्तिरूपं लिङ्गमुक्तं तत्तवाप्यविशिष्टम् । ताण्डकवचनेन सर्वद्वादशाहानां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावाविधानात् । न हि तद्वादशाहरूपकर्मप्रकरणे चोद्यते । येन व्रीहिभिर्यजेतेतिवत् प्रकृतस्यैवोद्देशात् शाखान्तरीयद्वादशाहे पश्चाद्भावनियमो न प्राप्येत । अनारभ्याधीतत्वात्तु यज्ञान्तराणामिव शाखान्तरीयद्वादशाहेऽप्यविशिष्टः ।

न च प्रकरणवत् स्वशाखागतत्वस्यापि उद्देश्यतावच्छेदक-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १२७

त्वोपपत्तेः प्रकरणाभावेऽपि प्रकृते स्वसमानशाखीययज्ञमात्रोद्देशान्न
शाखान्तरीयद्वादशाहे पश्चाद्भावनियमप्राप्तिरिति वाच्यम् । अ-
नुवादस्य पुरोवादापेक्षायामसम्बन्धयथाविच्छेदरूपस्य अधिका-
राख्यप्रकरणस्यानुवाद्यावच्छेदकत्वेऽपि तदभावे यज्ञपदेन स्वा-
पूर्वसाधनीभूतयज्ञमात्रोद्देशात् स्वशाखागतत्वस्योद्देश्यतावच्छेद-
कत्वानुपपत्तेः । अत एव यो ज्योतिष्टोमविकारः शाखान्तर एवा-
म्नातः तत्र तत्पश्चाद्भावनियम इष्ट एव । अतश्चादीक्षितदर्शनानु-
पपत्तिः तवापि समानेत्युभाभ्यामपि द्वादशाहस्यैव काम्यप्रथमप्र-
योगभावाऽभावभ्यां दीक्षिताऽदीक्षितदर्शनोपपत्तिः कर्तव्येति न
किञ्चिदनुपपन्नम् ॥

सू-द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यात् निर्देशा-
द्यवतिष्ठेत् तस्मान्नित्यानुवादस्स्यात् ॥३-४-२६॥

यदपि पक्षसंमाननिन्दापूर्वकवेदिसम्मानविधिरूपं लिङ्गं त-
दपि तव मतेऽपि अग्न्याख्ये द्रव्ये यूपैकादशिन्या अविहितत्वान्न
पक्षसंमाननिन्दा, अप्रसक्तत्वान्न वेदिसम्मानविधिः, नवा रथाक्ष-
मात्रान्तरालविधिरूपपद्यते । सति ह्यग्नौ यूपैकादशिनीनिर्देशे
विरुद्धानां मानविधीनां व्यवस्थाऽपेक्ष्येत । तदभावात्तु पक्षसम्मा-
ननिन्दा नित्यानुवादो वेदिसम्मानस्तुत्यर्थः । स्तुतिपूर्वकस्तद्वि-
धिरपि च न विधानार्थः । अपि तु “जर्तिलयवाग्वा वा जुहु-
यात्” इतिवत् पञ्चैकादशिनीवृत्तियूपैक्यविधिस्तुत्यर्थ एव, एक-
वाक्यतालाभात् । पक्षसम्मानापेक्षया अतिप्रशस्तमपि वेदि-
सम्मानं यूपैक्यापेक्षया अप्रशस्तमेवेत्येवं स्तुतिः । एवं च
रथाक्षमात्रान्तरालता यत्र वाचस्तोमादौ यूपैकादशिनी विहिता
तद्विषयेति भाष्यकाराभिप्रायः ।

घातिक्कारस्तु-नैवेदं वेदिसम्मानवाक्यं यूपैक्यविधिस्तु-
त्यर्थं अनिन्दितत्वात् जर्तिलवाक्यं हि पयोहोमस्तुत्यर्थं “अनाहु-
तिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चै”त्यनेन जर्तिलादीनां निन्दितत्वात्
समाश्रितम् । अतश्च वेदिसम्मानविधिः विधानार्थ एव । तदपि न
वाचस्तोमादाबुत्कृष्यते, अपि तु शाखान्तरे यूपैकादशिन्या
अपि क्षयनप्रकरणे समाप्नात् तत्रैव निविशते । अतश्च अनार-
म्भाधीतः रथाक्षमात्रान्तरालविधिः यास्वग्निरहितासु विकृतिषु
यूपैकादशिनी विहितास्ति तासु गमिष्यति । वेदिसम्मानस्य
उयोतिष्ठाप्रापूर्वसाधनीभूताग्न्यङ्गयूपैकादशिन्युद्देशेनैव विधानाङ्गी-
कारात् पश्वपूर्वसाधनीभूतयूपैकादशत्वोद्देशेन तद्विधाने रथाक्ष-
मात्रान्तरालतया विकल्पापत्तेः । अत एव सूत्रं-अग्निप्रकरणे
अन्तरालस्याचोदितत्वात् तद्विधेर्न प्रकरणे व्यवस्थितिः स्यात् ।
वेदिसम्मानस्यैव तु पठितत्वात् सा भवेत् । पक्षसाम्मितिनन्दा तु
नित्यानुवादस्स्यात्-इति व्याख्येयमित्याह ॥

सू-विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥ २-४-२७ ॥

यदपि तिस्रस्संस्तुतानां विराजमि” त्यादिलिङ्गं तदपि उयो-
तिष्ठोमातिरात्रे षोडशिनो वैकल्पिकत्वात् करणपक्षे बहिष्पवमाने-
नवा आज्येषु चतुर्षु माध्यन्दिनपवमाने च पञ्चदशस्तोमकत्वात् मि-
लित्वा पञ्चसप्ततिः । पृष्ठेषु चतुर्षु आर्भवे च सप्तदशस्तोमकत्वाच्चयैव
पञ्चाशीतिः । अग्निष्टोमस्तोत्रे त्रिषूक्थपर्यायेषु षोडशिनो च एक-
विंशस्तोमकत्वाच्चयैव पञ्चोत्तरशतम् । द्वादशश्वतिरात्रस्तोत्रेषु
पञ्चदशस्तोमकत्वात् अशीत्युत्तरशतम् । रथन्तरे नव । तत्र सर्वे-
षां मेलने त्रिषष्ट्युत्तरशतचतुष्टयोपजननात् दशकेन भागे दत्ते
तिस्रोऽवशिष्यन्ते । अकरणपक्षे च एकस्या एकविंशतेरगणने

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः १२९

द्विचत्वारिंशदुत्तरचतुश्शत्युपजननात् भागदाने द्वे अवशिष्येते
इत्युपपन्नम् ॥

सू-सारस्वते विप्रतिषेधात् यदेति स्यात् ॥२-४-२८॥

ये पुरोडाशिन इत्यादि लिङ्गानुपपत्तेस्तु तवापि अदीक्षित-
दर्शनवत् तुल्यत्वादेव गतिः । मित्रावरुणयोरथनाख्ये सारस्वतसत्रे
“यथा अमावास्यायामतिरात्रस्स्यात् तथा दीक्षेरन् तेनाऽमावा-
स्यायामतिरात्रं संस्थाप्य तदहरेव वत्सानपाकुर्युः, तं पक्षमा-
मावास्येन व्रजित्वा पौर्णमास्यां गामुपेयुः, पौर्णमासेनोत्तरं व्रजि-
त्वा अमावास्यायामायुषमुपेयुः, एवमावर्तयन्तो व्रजेयुः” इति त्यनेन
प्रतिपक्षममावास्याख्यपौर्णमासाख्यकर्मविधानात्तदभिप्रेत्य पुरो-
डाशिसान्नाय्ययाजिशब्द इति । यदा पुरोडाशसाध्यं कर्मेति च
कालभेदविवक्षायामपि ये पुरोडाशिन इति कर्तृभेदपरशब्दप्रयोग
औपचारिक इति भावः ॥

सू(१)-हव्ये प्रतिप्रसवः ॥ २-४-२९ ॥

यस्तूपहव्ये बृहद्रथन्तरयोर्नियमरूपः प्रतिप्रसवः भेदसाधक-
त्वेनोक्तः तस्य कः परिहारः इत्यनुभाषणसूत्रमेतत् ॥

सू-गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २-४-३० ॥

प्राप्तयोरपि बृहद्रथन्तरयोः संस्थाव्यवस्थार्थं दक्षिणाव्यव-
स्थार्थं च पुनःश्रवणमुपपत्तिमत् । विशिष्टकर्मविधित्वेऽपि च

१. ‘उपहव्ये इति बहुत्र पाठः ।

विशेषणानां पार्ष्टिकसंबन्धावगमात् साम्नश्च प्राप्तत्वेन सहकारि-
तामात्रेण पार्ष्टिकसम्बन्धायोगात् निमित्ततया तदाश्रयणम् ।
अथ वा साम्नि निमित्ते तदितरगुणविशिष्टकर्मविधानम् । तत्र
च विशेष्यविध्यभावे साम्नः प्राप्त्यभावेन तत्प्रति निमित्तत्वायो-
गेऽपि विशेषणविध्यभावेऽतिदेशेन तत्प्राक्सिंभवात् तां प्रति नि-
मित्तत्वोपपत्तिः ॥

सू-प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥२-४-३१॥

“ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र प्रतिष्ठता होतव्या” इति शाखा-
न्तरविहितप्रयाजानुवादेन सहहोमाख्यं गुणं विदधत्सर्वशाखा-
प्रत्ययमेकं कर्म दर्शयति । अन्यथा अत्रापि प्रयाजान्तरविधाने
विशिष्टविधिनिमित्तगौरवापत्तेः । तथा “कुक्कुटोऽसि” इत्यश्मान-
मादत्ते, “कुटुरसि वे”ति शाखान्तरीयेण कुक्कुटोऽसीत्यनेन स्व-
शाखाविहितस्य मन्त्रस्य विकल्पमनुवदन् कर्मैकत्वं दर्शयति ।
तदा हि यथास्नातमन्त्रस्य विनियोगमात्रकरणाल्लाघवम् । इत-
रथा मन्त्रोत्पत्तेरपि करणात् गौरवापत्तिः ॥

सू-अपि वा क्रमसंयोगात् विधिपृथक्त्वमैकस्यां

॥ व्यवतिष्ठेत् २-४-३२ ॥

न प्रतिशाखमेकमेव कर्म, अपि तु एकैकस्यां शाखायां
कर्मभेदापादकं विधिपृथक्त्वं व्यवतिष्ठेत् । इतरथा सर्वाङ्गोपसं-
हारे क्रियमाणे क्रमकालपरिमाणभेदापत्तिः । भेदे तु स्वशाखा-
विहितानामङ्गानां पाठादिबोधितः क्रमः पूर्वाह्लादिकालः अङ्ग-
परिमाणं चानुगृहीतं भवति ॥

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । १३१

सू-विरोधिनां त्वसंयोगादैककर्म्म्येन संयोगात् विधीनां
सर्वप्रत्ययस्स्यात् ॥ २-४-३३ ॥

ऐककर्म्म्ये सति सर्वशाखास्थानां विधिपदोक्तानां विधेया-
नामङ्गानां तेनैकेन कर्मणा संयोगावगतेः विरोधिनां क्रमकाल-
परिमाणानां(?)शिष्टाकोपाधिकरणोक्तरीत्या संयोगाभावात् सर्व-
शाखास्थानामङ्गानामेककर्माङ्गत्वप्रत्यय इत्यर्थः । नचैवं “अपि वा
कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्, तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य” इत्यन्त-
सूत्रछेदपक्षे शिष्टाकोपाधिकरणेनैतस्य पौनरुक्त्यमिति वाच्यम् ।
इह साधितस्याविरोधस्य तत्र हेतुत्वेनोपादानात् । तस्मात्सिद्धः
शाखान्तरे उत्पत्तिप्रयोगभेदवत् विनियोगभेदोऽपि ॥

इति द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम् ॥



शब्दान्तरमभ्याससंख्या संज्ञा गुणव्यवच्छेदाः ।
भेदे मानमिहोक्तं ततः परं शेषवाग्जालम् ॥

मीमांसास्त्रुनिधिं प्रमथ्य सुदृढैः न्यायोच्चयैर्निर्जरैः
कृत्वा जैमिनिस्त्रमन्दरममुं वेदं तथा वासुकिम् ।
यद्दालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः
श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥

इति श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।
मीमांसाकौस्तुभाख्या भेदाध्याये चतुर्थाङ्घ्रेः ॥

इति पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीण श्रीरुद्रदेवसूनोः
खण्डदेवस्य कृतौ मीमांसाकौस्तुभे द्वितीया-
ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥



॥ शुभमस्तु ॥



ॐ मीमांसाकौस्तुभः ॐ

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । (श्रुतिपादः)

प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

सू-अथातश्शेषलक्षणम् ॥ ३-१-१ ॥

एवं सिद्धे कर्मभेदे शेषत्वमिदानीं निरूप्यते । भेदे हि शेषि-
निरूपितशेषत्वं संभवति, नाभेद इति भेदनिरूपणस्य तन्निरूपणं
प्रति हेतुता । यद्यपि च कर्मनिरूपितकर्मवृत्तिशेषानिरूपणं प्रत्येव
पूर्वोक्ताभ्यासादिप्रमाणस्य हेतुता । न तु द्रव्यकर्मणां अन्यो-
न्यनिरूपितान्योन्यवृत्तिशेषत्वनिरूपणं प्रति । तद्भेदस्य लोकासि-
द्धत्वेन द्वितीये अप्रतिपाद्यमानत्वात् । तथापि उक्तनिरूपणस्यैव
हेतुतासंभवेन सङ्गतौ सिद्धायां निरूपणान्तरस्य शेषत्वप्रसङ्गात्
सङ्गत्युपपत्तिः ।

सत्यपि प्रयोजकत्वादिनिरूपितप्रयोज्यत्वादि प्रत्यपि भेद-
स्य हेतुत्वे शेषत्वस्यापि क्वचित् तत्सत्त्वात् तन्निरूपणस्य पूर्वता ।

अत्र च श्रुत्यादिषट्प्रमाणकं शेषत्वमेवाध्यायार्थः । न तु
शेषित्वमपि । तस्य निरूपकतया शेषसम्बन्धित्वरूपस्यार्थादेव
सिद्धेः, वक्ष्यमाणासीत्या द्वितीयादेरपि श्रुत्यादिषट्कस्य शेषत्व
एव प्रमाणत्वाच्च । अतस्तन्निरूपणप्रतिज्ञार्थमिदं सूत्रम् ।

तत्र “अथ” शब्दः अधिकारार्थः । प्रथमसूत्रे हि प्रारब्ध-
ध्यानुपादानात् जिज्ञासापदाभिधेययोश्च ज्ञानेच्छयोः प्रमाणवस्तु-

परतन्त्रत्वेन अकृतिसाध्ययोः अनारब्धव्यत्वात्, विचारलक्षणायां च प्रमाणाभावात् अधिकारार्थत्वं अथशब्दस्य नाश्रितम् ; किन्तु अध्ययनानन्तर्यार्थत्वमेवोक्तम् । प्रकृते तु लक्षणापदाभिधेयस्य अध्यायस्य तदर्थस्य वा न्यायसन्दर्भरूपस्य प्रारब्धव्यस्योपात्तत्वात् अधिकारार्थत्वमेव युक्तम् ।

“अतः” शब्दः उक्तविधेहेत्वादिसङ्गत्यभिधानार्थः । शेषत्वं चानेकप्रकारमत्र निरूप्यते—लक्षणं, शेषपदशक्यतावच्छेदकं, श्रुत्यादीनि षट् अङ्गत्वबोधे प्रमाणानि, तयोः विरोधे बलाबलं, विरोधश्च क्वास्ति क्वनास्ति—इत्यादि । एवं च अतिदेशस्यापि अङ्गत्वप्रमाणत्वे इहानिरूपणेऽपि न क्षतिः ॥

इति प्रथमं प्रतिज्ञाधिकरणम् ।

अथ द्वितीयं शेषलक्षणाधिकरणम् ।

सू-शेषः परार्थत्वात् ॥ ३-१-२ ॥

इह शक्यतावच्छेदकं, लक्षणं, च श्रुत्यर्थाभ्यामुच्यते । प्रयाजादौ शेषपदवाच्यतानुमाने हि परार्थत्वं पञ्चम्या हेतुरुच्यते । अतस्तच्छेषपदशक्यतावच्छेदकम् । अर्थाच्च लक्षणमपि ।

अनेन च उपकारकत्वं शेषत्वमिति वादरिमत्तं परास्तम् । पञ्चङ्गभूतानामपि प्रयाजगोदोहनादीनां पुरोडाशप्रणयनाद्युपकारकत्वेन तत्त्वापत्तेः, आमिक्षादिप्रयुक्तदध्यानयनादेः वाजिनाद्यङ्गत्वापत्तेश्च, अग्न्यादिस्वरूपमात्रपर्यवसायिनां आधानादीनां क्रत्वङ्गत्वापत्तेश्च ।

अथ अनन्यार्थस्य अन्योपकारकत्वं तदिति भवदेवोक्तं

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १३५

युक्तम् । अनन्यार्थत्वं हि अनन्योपकारकत्वं अभिप्रेतं वा ? उत पारार्थ्यं वा ? नाद्यः, पुरोडाशाद्युपकारकाणां पूर्वोक्तानां पश्वङ्ग-त्वाद्यनापत्तेः । नान्त्यः, पारार्थ्यस्य त्वया अनङ्गीकारेण तद्दटि-तलक्षणस्यायोगात् । पक्षद्वयेऽपि पुरोडाशार्थकपालस्य तुषोप-वापाङ्गत्वायोगाच्च । न च कपालस्य रूपान्तरेण तुषोपवापोप-कारकत्वेऽपि पुरोडाश इव आधारतया अनुपकारकत्वात् न क्षतिरिति वाच्यम् । प्रकृत्यर्थानामङ्गानां तेनैव रूपेण उपकार-कत्वस्य त्रिकृताविष्टृत्वात् एकरूपप्रवेशानुपपत्तेः । अतो लक्ष-णान्तरासंभवात् पारार्थ्यमेव शेषत्वं जैमिनिराह ।

ननु-किमिदं पारार्थ्यम् परोदेशप्रवृत्तकृतिसमवायित्वमिति चेत्-अचेतनयागादावव्याप्तेः । उक्तकृतिसाध्यत्वमिति चेत्-कर्त्रादावव्याप्तेः । सम्बन्धित्वमिति चेत्-निमित्ते अतिव्याप्तेः । अतः पारार्थ्यमपि अशक्यनिर्वचनमिति चेत्--

परोदेशप्रवृत्तकृतिकारकत्वेन विध्यन्वयित्वस्यैव तत्त्वात् । अस्ति हि स्वर्गोद्देशेन प्रवृत्तस्य पुरुषस्य या कृतिः यागानुकूला तस्यां कारकत्वेन विध्यन्वयो यागे । अतस्स्वर्गाङ्गं यागः ।

प्रयाजादीनां च प्रकरणात् अपूर्वसाधनप्रधानयागोद्देशेन प्रवृ-त्तपुरुषकृतौ प्रधानानुकूलायां स्वानुकूलायामेव वा कारकीभूतानां विधानात् युक्ता प्रधानाङ्गता, न तु स्वर्गाङ्गता । तदुद्देशेन विधानस्य भावार्थाधिकरणसप्तमाद्ययोः निराकरणात् । कृतिसाध्यत्वाभावे-ऽपि द्रव्यगुणकर्तृकालादौ उक्तविधकृतिकारकत्वेन विध्यन्वयस्य सत्त्वात् नाव्याप्तिः । अस्ति च द्रव्यस्य क्रियानिर्वाहकत्वेनगु-णस्य द्रव्यपरिच्छेदकत्वेन कर्तृकालादेश्च तत्कर्तृत्वाधिकरणत्वादि-ना यागानुकूलकृतिकारकत्वं, विध्यन्वयश्च । यत्रापि षष्ठ्यन्तस्थले

सम्बन्धसामान्येन विध्यन्वयः तत्रापि कारकविशेषण एव पर्य-
वसानान्न क्षतिः ।

अत एव क्रमस्यापि पदार्थपरिच्छेदकत्वेन गुणवत्
कारकत्वादङ्गत्वम् । निमित्तस्य च क्रियोपलक्षणत्वेन क्रि-
यान्वयिनोऽपि अकारकत्वात् नाङ्गत्वापत्तिः । निमित्तोद्देशप्रवृत्तकृ-
तिकारकत्वेऽपि यागस्य न निमित्ताङ्गत्वम्, लक्षणे ईप्सितत्वाख्या-
या एव उद्देश्यतायाः विवक्षितत्वात् । निमित्ते च अनुष्ठापकत्वरू-
पोद्देश्यतासत्वेऽपि ईप्सितत्वाख्यायाः अभावात् । अस्ति चेदं
पशौ प्रयाजादीनाम् । न तु पशुपुरोडाशादीन् प्रति । तत्र पद-
र्थांशे अतिदेशकल्पनेन पुरोडाशप्रवृत्तकृतिकारकत्वेन विधाना-
भावात् । एतेन दध्यानयनादेः वाजिनादि प्रति अङ्गत्वं व्या-
ख्यातम् । पुरोडाशकपालस्य तुषोपवापोद्देशप्रवृत्तकृतौ तुषोप-
वापानुकूलायां कारकत्वेन विधानात् अङ्गत्वोपपत्तिः । नचैता-
वता तुषोपवापप्रयोज्यत्वापत्तिः । जनकतासम्बन्धेन तुषोपवा-
पोद्देशप्रवृत्तकृतिकारकत्वरूपाङ्गत्वसत्वेऽपि उक्तकृतिव्याप्यजन्य-
त्वरूपप्रयोज्यत्वाभावात् । पुरोडाशं प्रति तु उपादानादिरूपक्रि-
याव्याप्यत्वात् प्रयोज्यत्वमिति विशेषः । अत्र च कृतिकारकत्वमि-
त्येवेत्युक्ते फलस्यापि कर्मतासम्बन्धेन तत्वात् फलाङ्गत्वापत्तिः ।
अतः परेऽप्युक्तम् । अतश्च भोक्तृद्देशप्रवृत्तपुरुषकृतौ कर्मतया
फलस्य विध्यन्वयात् परं भोक्तृङ्गत्वम्, न तु फलाङ्गत्वम् ।
स्वस्यैव स्वं प्रति परत्वाभावात् । अपूर्वस्यापि फलोद्देशप्रवृत्तकृतौ
कारकत्वेनान्वयात् फलाङ्गत्वोपपत्तिः । कृष्यादेरपि च यागोद्देश-
प्रवृत्तकृतिकारकत्वात् अङ्गत्वापत्तिरिति विध्यन्वयित्वविशेषणम् ।
तस्याक्षेपलभ्यत्वेन विध्यन्वयाभावात् । एवं च यागादेः भाव-
नां प्रति, तस्याश्च फलं प्रति, शब्दभावनायाश्च अर्थभावनां प्रति,

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः १३७

पश्नादेश्च कारकं प्रति, कारकत्वस्य च क्रियां प्रति, अङ्गत्वव्यवहारशस्त्रे भाक्तः विशेषणत्वमात्रविवक्षया द्रष्टव्यः । कृतेः कृत्यन्तराभावात्, कारकस्य च कारकान्तराभावात् ।

केचित्तु-इष्टोद्देश्यकप्रवर्तनाप्रयोज्यत्वं इष्टं प्रत्यङ्गत्वम् । प्रयोज्यत्वं कार्यतत्कार्यसाधारणम् । प्रवर्तनाकार्यं हि प्रवृत्तिः । तत्कार्यं च यागादि स्वस्वेष्टं प्रत्यङ्गम् । अतश्च भावनायाः फलाङ्गत्वव्यवहारः सर्वोऽप्युपपन्नः । द्रव्यदेशकालकर्त्रादिरपि करणत्वाधिकरणत्वकर्तृत्वादिप्रवृत्तिद्वारा प्रवर्तनयैव जन्यत इति तस्यापि स्वेषु प्रत्यङ्गत्वोपपत्तिरित्याहुः ।

तन्न; एवमपि शब्दभावनाया अर्थभावनाङ्गत्वस्य दुरुपपादत्वात् । राहूपरागादिवृत्तिनिमित्तत्वस्यापि प्रवृत्तिद्वारा प्रवर्तनाजन्यत्वेन तस्या अप्यङ्गत्वापत्तेश्च ।

यत्तु न्यायरत्नमालायां वैधेष्टसाधनत्वं इत्येवं लक्षणं तस्यापि अस्मदुक्तप्रकार एव तात्पर्यम् । यथाश्रुतत्वे गुणस्यापि आश्रयाङ्गत्वापत्तेः । अत्र च अङ्गत्वलक्षणे सकलप्रयाजादिवृत्तिलक्ष्यतावच्छेदकानुगमेऽपि न दोषः । अनङ्गभेदसाध्यकानुमाने अङ्गपदाभिधेयसाध्यकानुमाने वा उक्तविधाङ्गत्वहेतौरेव पक्षतावच्छेदकत्वोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु व्यापारभेदेन कारकाणां भेदात् तद्वद्विदाङ्गत्वस्यापि प्रतिपदार्थं भेदावगमेन तत्तदङ्गत्वं प्रति प्रयाजत्वादेरेव लक्ष्यतावच्छेदकत्वोपपत्तिः ।

यद्यपि च नेहशमङ्गत्वं श्रुत्यादिप्रमाणगम्यम् । कारकमात्राभिधायित्वात् द्वितीयादेः । तथापि परं तावत् स्वर्गादिपदात्, तदुद्देश्यकत्वं संसर्गादिना, कृतिराख्यातात्, कारकत्वं द्वितीयादेः, विध्यन्वयित्वं विधिपदसमभिव्याहारात् । वि-

धिर्हि विशिष्टभावनां विदधत् अर्थात् विशेषणान्यपि विधत्ते
इति सर्वेषामुद्देश्यत्वेन विधेयत्वेन वा विध्यन्वयित्वोपपत्तेः ।

यत्रापि “विश्वजिता यजेते” त्यादौ स्वर्गादिपदश्रवणाभावः,
तत्रापि इष्टसाधनत्वाक्षेपकविधिपदोन्नीतस्वर्गादिपदेनैव परो-
द्देश्यत्वादिप्रतीतिर्द्रष्टव्या । श्रुत्यादीनां अङ्गत्वघटकीभूतपरो-
द्देश्यताकृतिकारकत्वबोधकत्वात् अङ्गत्वप्रामाण्यव्यवहारः । अ-
ङ्गित्वं तु अङ्गत्वघटकीभूतोद्देश्यताशालित्वरूपमर्थसिद्धिमिति सू-
त्रकृता नोक्तम् । प्रमाणं विना च पारार्थ्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्
श्रुत्यादीन्यपि प्रमाणान्यत्रैवोपक्षिप्तानीति ध्येयम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयं शेषलक्षणाधिकरणम् ॥



अथ तृतीयं शेषलक्षणाधिकरणम् ॥ (३)(बादर्यधिकरणम्)

सू-द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥ ३-१-३ ॥(पू)

अत्र पूर्वमुक्तस्य शेषत्वस्य लक्षणाण्युच्यन्ते । तत्र बादरि-
स्तावत् द्रव्यगुणसंस्कारा एव लक्ष्या इत्याह । तथाहि-उप-
कारकत्वरूपं पारार्थ्यरूपं वा शेषत्वं तेष्वेव सुवचम् । ब्रीह्यादेर्हि द्रव्य-
स्य, आरुण्यादेर्वा गुणस्य, अवघातादेर्वा संस्कारस्य यागाद्युप-
कारकत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् । परोद्देशप्रवृत्तकृतिकारकत्वेन वा तृती-
यादिभिरुक्तानां विध्यन्वयात् पारार्थ्यमपि सुप्रसिद्धम् । अत एव
यत्र “ब्रीहीन् प्रोक्षती” त्यत्र न प्रत्यक्ष उपकारः तत्र द्वितीयया
अदृष्टरूपातिशयलक्षणफलस्य उक्तत्वादुपकारकत्वसिद्धिः । पारा-
र्थ्यघटकीभूतपरोद्देश्यतायाः उक्तत्वाद्वा तात्सिद्धिरपि । त्रितयाति-
रिक्तेषु तु यागप्रयाजादिषु द्विविधमपि शेषत्वं दुर्वचम् । उपकारकत्वं

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १३९

तावत् न प्रत्यक्षसिद्धम् । न वा कल्प्यं, द्वितीयाभावात् । नापि पारार्थ्यं, तद्बोधकाभावात् । तथा हि-योग्यतया प्रवृत्त्यनुकूलत्वमेव लिङ्गर्थः । न फलोपहितप्रवृत्त्यनुकूलत्वं, येन प्रवृत्तिविषयस्य यागादेः इष्टोद्देश्यककृतिकारकत्वमाक्षिपेत् । काम्ये कर्मणि कामनायां सत्यामपि विधिशतश्रवणेऽपि कदाचित् प्रवृत्त्यजननात् । अतश्च प्रवृत्तिजनने योग्यत्वमात्रस्य विधेः स्वविषये इष्टोद्देश्यककृतिकारकत्वानाक्षेपकत्वात् न यागादेः पारार्थ्यसिद्धिः ।

न च कामपदेन स्वर्गोद्देश्यकत्वाद्यवगमः । “परस्त्रीकामः प्रायश्चित्तं कुर्यादि” त्यादौ कामशब्दस्य फलप्रतिपादकत्वाभावेन व्यभिचारात् । अत एव समानपदश्रुत्या यागस्य भाव्यत्वेनैवान्वयो भावनायां, स्वर्गकामस्य कर्तृत्वेन । अत एव फलभावनाभावात् न तस्य पुरुषाङ्गत्वम् । पुरुषस्य तु कर्तृत्वेन द्रव्यत्वात् यागाङ्गत्वमिष्टमेव । विस्तरेण चायमर्थः यागस्य फलसाधकत्वाभावः षष्ठाद्याधिकरणपूर्वपक्षे उपपादयिष्यते । नचैवं तदधिकरणेनास्य पौनरुक्त्यम् । तदधिकरणसिद्धेष्टसाधनत्वमङ्गीकृत्य इह यागादेः लक्ष्यत्वमात्रनिरूपणात् । अत एव (१)भावार्थाधिकरणेनास्य न पौनरुक्त्यम् । तदधिकरणस्य पौनरुक्त्यं तु तेन इष्टसाधनत्वे भावनायां प्रतिपादिते तत्साधनं याग एव न सोमादिरिति भावार्थाधिकरणे तत्प्रतिपादनात् परिहर्तव्यम् ।

सू-कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥ ३-१-४ ॥

न द्रव्यगुणसंस्कारा एव लक्ष्याः । अपि तु कर्माण्यपि यागप्रयाजादीनि । तेषामपि स्वर्गक्रतूपकारादि प्रति पारा-

र्ध्यस्य विधिसहकृतेन वाक्यप्रकरणादिना बुद्धत्वात् । विधिर्हि यद्यपि स्वरूपयोग्यतयैव प्रवृत्त्यनुकूलः । तथापि निखस्य स्वरूपयोग्यस्य फलावश्यम्भावनियमात् कदाचिदवश्यं प्रवृत्त्याख्य-फलेन भवितव्यम् । तथा च स्वविषयस्य इष्टसाधनतावगमं विना तस्मिन् चेतनप्रवृत्त्ययोगात् तस्य स्वतः प्रमाणत्वेन बाधकाभावे प्रमारूपत्वावगतेः, प्रमायाश्च स्वविषयसत्ताक्षेपकत्वात् प्रवृत्तिविषये यागादाववश्यमिष्टसाधनत्वमाक्षेप्तव्यम् । इष्टविशेषश्च योग्यपदान्तरसमभिव्याहारात्, अध्याहारात्, प्रकरणाद्वा अवगम्यते । स्वर्गकामपदं ह्याकांक्षितत्वात् लक्षणया विशेषणप्रधानं सत् स्वर्गस्य साध्यत्वं गमयति । न तु तत्कामस्य कर्तृत्वम् । अतस्सिद्धं कर्मणामपि तु पारार्थ्यम् ॥

सू-फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥३-१-५॥

एवं फलस्यापि भोक्तृपुरुषाङ्गत्वेन पारार्थ्यात् लक्ष्यत्वम् । भोक्ता चोत्सर्गतः विधिवशात् कामनावशात् आत्मनेपदवशाच्च कर्तैव । क्वचिदेव तु प्रमाणान्तरे सत्यन्यः ॥

सू-पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥ ३-१-६ ॥

पुरुषः पुनः कर्तृत्वेन कर्मार्थत्वात् लक्ष्य इति त्वयैवोक्तम् । स्वर्गकामपदस्य कर्तृपरत्वाभावात् आख्याताक्षिप्तस्याशाब्दत्वेन शाब्दविधयन्वयात् न पारार्थ्यं सम्भवतीति शङ्कानिरासार्थमिदं सूत्रम् । आक्षिप्तस्यापि लक्षणया शाब्दत्वोपपत्तेः अङ्गत्वोपपत्तिः । क्वचित् पुनः व्यापारान्तरेणापि पुरुषः अङ्गम् । यथा औ-दुम्बरीसम्मानादिषु यजमानस्साधनत्वेन । इदं चाधिकाशङ्का-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १४१

भावात् द्रव्यपदेनैव सङ्ग्रहोपपत्तेः सूत्रकारानभिप्रेतमेव भा-
व्यकारेणोक्तम् ॥ ३ ॥

इति तृतीयं वादर्थधिकरणम् ॥

अथ चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम् । (४)

सू-तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥ ३-१-७॥ (सि)

द्वितीयसूत्रे प्रमाणं विना पारार्थ्यस्य लक्षणत्वेन वक्तुमश-
क्यत्वात् श्रुत्यादीन्यपि षट् प्रमाणानि अङ्गत्वे उपक्षिप्तानीत्युक्तम् ।
तत्र श्रुत्यादित्रिकस्य अङ्गत्वबोधकतायाः स्पष्टत्वात् (१)तद्भू-
ताधिकरणे श्रुतिवाक्ययोः (२)सामर्थ्याधिकरणे लिङ्गस्य क्रिया-
न्वयबोधकत्वव्युत्पादनाच्च इहाक्षेपसमाधानाद्यकृत्वा तत्प्रामा-
ण्योपयोगिविशेषविचार एव करिष्यते । प्रकरणादित्रिकस्य तु
आक्षेपसमाधानादिना प्रामाण्यमुपपाद्य विशेषविचार इति विवेकः ।

अत्र श्रुतिप्रमाणकविनियोगोपयोगिनिरूपणं प्रथमपादार्थः ।
श्रुतिश्च अङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यताकृतिकारकत्वयोः अन्यतरस्य
प्राधान्येन वाचकशब्दः । स च द्वितीयातृतीयादिविभक्तिरू-
पः । न तु कुदन्तो निष्ठातृजादिः । तस्य स्वपद एवान्योपसर्ज-
नीभूतकारकत्ववाचित्वेन प्राधान्येन तदवाचकत्वात् । अत एव
तादृशस्थले षष्ठ्यादौ च भाक्त एव श्रुतित्वव्यवहारः । एवं स-
मानपदश्रुत्वादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तत्र द्वितीया ब्रीह्यादीनां उद्देश्य-
तापरा सती प्रोक्षणादेरङ्गत्वे हेतुः ।

यद्यपि च नोद्देश्यत्वं द्वितीयार्थः । तस्याः साध्यत्वमात्रा-

भिधायित्वात् । तथापि घटमानयेत्यादौ चैत्रघटे लक्षणां विनैवानयनान्वयवत् साध्यत्वमात्राभिधानेऽपि तद्विशेषस्य ईप्सितत्वस्य लक्षणां विनैव बोधोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु एतादृशविषये तत्त्वेन बोधार्थं लक्षणाया आवश्यकत्वात् अन्यथा षष्ठीस्थले तदनापत्तेः द्वितीयास्थलेऽपि भाक्त एव श्रुतित्वव्यवहारः । ईप्सिततमत्वं हि (१) “कर्तुरीप्सिततमं कर्मे” त्यानुशासनिकनिरूढलक्षणागम्यत्वात् शक्यतावच्छेदकावच्छिन्नान्तःपाताच्च शक्यतुल्यमिति भाक्तत्वोपपत्तिः । लक्षणे उद्देश्यपददानं तु ईप्सिततमत्वमेव द्वितीयार्थः इत्येतन्मताभिप्रायेण । एवं च पादार्थोऽपि गौणमुख्यसाधारणश्रुतिप्रमाणविनियोगोपयोगिचिन्तनरूपो द्रष्टव्यः ।

(संशयः)

तदिह दर्शपूर्णमासप्रकरणे ब्रीहिसम्बन्धित्वेन श्रुतानां अवघातप्रोक्षणादीनां आज्यसम्बन्धित्वेन च उत्पवनादीनां, सान्नाय्यसम्बन्धित्वेन च दोहादीनां किं सर्वाङ्गत्वम् ? किं वा ब्रीहित्वादिसमानाधिकरणसाधनतावच्छिन्नाङ्गत्वमिति विचारः ।

(सङ्गतिः)

अङ्गितावच्छेदकनिरूपणाच्च नाप्रतिज्ञातार्थकत्वम् । पादाध्यायसङ्गतिस्तु स्पष्टा । लक्ष्यलक्षणाभ्यामङ्गत्वे निरूपिते तस्याङ्गिनिरूपणाधीननिरूपणीयत्वात् अङ्गित्वस्यचावच्छेदकनिरूपणं विना निरूपणाशक्तेः तन्निरूपणस्यानन्तरसङ्गतिरपि ।

(सिद्धान्तः)

तत्रावहन्तीत्येतावन्मात्रश्रवणेऽपि कैमथर्यापेक्षायां दृष्टार्थत्वलाभाय वैतुष्यादिरूपार्थसंपादकत्वावमायात् नाज्यादिष्व-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १४३

वधातप्रसङ्गः । किमुत यदा त्रीहिरूपार्थसम्बन्धेनैव श्रवणं, कः प्रसङ्ग अन्याङ्गत्व इति सिद्धान्तेनोपक्रमः ॥

सू-विहितस्तु सर्वधर्मस्स्यात् संयोगतोऽविशेषात्
प्रकरणाविशेषाच्च ॥ ३-१-८ ॥ (पू)

(पूर्वपक्षः)

न दृष्टार्थत्वानुरोधेन धर्मव्यवस्था; प्रोक्षणावेक्षणादिषु अव्यापकत्वात्, प्रकृतौ प्रयोजनकल्पितस्य विध्यनुसारवृत्तित्वेन विधेरविशेषतः प्रवृत्तौ सङ्कोचकत्वानुपपत्तेश्च । न हि विधिश्रुतिः त्रीह्यादिविषयस्तवेष्टः; यवादिष्वनापत्तेः, त्रीह्यादिविषयत्वे आनर्थक्यापत्तेश्च । न हि त्रीहिस्वरूपं तत्कार्यं वा पुरोडाशनिष्पत्तिः, यागः अवघातं तन्नियमं तज्जन्यादृष्टं विना न जायते ।

न च फलजनकतासिद्धवैजात्यावच्छिन्नयागोद्देशेन विधानात् संस्काराणामपि तदवच्छिन्नसाधनोद्देशेनैव विधानावगतेः विजातीययागत्वावच्छिन्नस्य च द्रव्यतत्संस्कारादिमन्तरेण उपपत्तौ प्रमाणाभावात् न तत्स्वरूपे आनर्थक्यमिति वाच्यम् । विजातीययागव्यक्तीनामपि व्यापकीभूतयागत्वावच्छिन्नव्यक्त्यन्तर्गत्वात्, तदवच्छिन्नं प्रति च द्रव्यत्वाद्यवच्छिन्नस्य लोकेत एव कारणत्वावगतेः सामग्रीवशेन त्रीह्यादिद्रव्यं विनापि द्रव्यान्तरेण विजातीययागोत्पत्तौ बाधकाभावेनानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात् ।

अन्यैव रीत्या पक्षप्राप्तिमुपपाद्य फलतो नियमविधित्वं द्रव्यादिविधीनां उपपादनीयम् । अतो द्रव्यतत्संस्कारादिविषयास्सर्वे अपूर्वसाधनीभूतविषया एव । तथा च विशेषणीभूताऽपूर्वं प्रत्यपि अर्थात् जनकत्वावगमात् तस्य च श्रुतद्रव्यतत्संस्कारा-

द्यभावे उत्पत्तौ प्रमाणाभावात् नानर्थक्यापत्तिः । अतश्च नवमा-
द्यन्यायेन आनर्थक्यापत्तेः अपूर्वसाधनत्वलक्षणया आवश्यक-
कत्वात् तस्य च प्रदेयघटितत्वेन अपूर्वसाधनत्वरूपस्य उद्देश्य-
तावच्छेदकस्य प्रकृतेषु यवेष्विव आज्यादिष्वप्यविशेषात् दृ-
ष्टविधया अदृष्टविधया वा सर्वशेषत्वम् ।

न चापूर्वसाधनत्वलक्षणायामपि श्रुतव्रीहित्वादेः सागे प्र-
माणाभावात् तस्य च शक्त्युपस्थापितस्य युगपद्वृत्तिद्वयविरो-
धापत्तेः उद्देश्यतावच्छेदकघटकत्वाद्योगेऽपि विशिष्टलक्षणया
तत्त्वोपपत्तेरपूर्वसाधनीभूतव्रीहित्वादिरूपस्य तस्य आज्यादिष्व-
भावात् कथं सर्वशेषत्वमिति वाच्यम् । एवमपि यवेष्वप्रसङ्गस्य
तदवस्थत्वात् । गङ्गात्वस्यैव स्वव्यापारकापूर्वसाधनत्वलक्षणोपाय-
त्वेन उपक्षीणस्य व्रीहित्वादेः लक्ष्यतावच्छेदकप्रवेशे गौरवपात्तेश्च ।

नचैवमापे व्रीहिपदेन प्रयासत्तेराग्नेयापूर्वसाधनत्वस्यैव उ-
क्तसम्बन्धेन लक्षणात् आज्यादिष्वप्राप्तिरिति वाच्यम् । प्रत्या-
सत्तेरग्नीषोमीयैन्द्राग्नयोरविशिष्टत्वेन तदपूर्वसाधनत्वस्यापि ल-
क्षणीयत्वात् त्रितयवृत्त्येकानुगतधर्माभावेनावान्तरापूर्वविशेष-
साधनत्वलक्षणानुपपत्तेः ।

अतो वरं फलजनकीभूतापूर्वसाधनत्वमेवैकं सर्वानुग-
तं लक्षयित्वा युक्तं सर्वधर्मत्वमाश्रयितुम् । प्रधानत्वाच्चारा-
दुषकारकेषु क्लृप्तप्रयोजकताशक्तेः परमापूर्वस्यैव उद्देश्यताव-
च्छेदकघटकत्वं युक्तम्, नावान्तरापूर्वाणाम् ।

न चात्र दीक्षणीयावाङ्मिनयमन्यायः । दीक्षणीया हि सन्नि-
पत्योपकारकत्वेऽपि न ज्योतिष्टोमोत्पत्त्यपूर्वजनिका । तथात्वे ज्यो-
तिष्टोमतुल्यत्वेन प्राधान्यापत्तेः । किन्तु स्वापूर्वद्वारेण उत्पत्त्यपूर्व-
सम्पादनानुकूलज्योतिष्टोमवृत्तियोग्यतासम्पादनार्थेत्युक्तम् । अतश्च

दीक्षणीयापदे स्वापूर्वादिद्वारा ज्योतिष्टोमोत्पत्यपूर्वप्रयोजकत्वस्य कारणकारणत्वापरपर्यायस्य लक्षणायां लक्षितलक्षणाद्यापत्तेः सा नाश्रिता । प्रकृते तु यागस्य स्वर्गसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या द्वारत्वेन कल्पितमुत्पत्यपूर्वं प्रतीव परमापूर्वं प्रत्यपि साधनत्वाविशेषात् उत्पत्यपूर्वमतन्त्रीकृत्य प्रधानत्वेन फलापूर्वसाधनत्वलक्षणायां बाधकाभावात् ।

न चैवमपि एतदधिकरणसिद्धान्तरीत्या अवान्तरापूर्वप्रयुक्तत्वे सिद्धे तदधिकरणपूर्वपक्षानुत्थानमिति वाच्यम् । आग्नेयोत्पत्यपूर्वस्य प्रधानजन्यत्वेन प्रयोजकत्वशक्तियुक्तत्वेऽपि दीक्षणीयं उत्पत्यपूर्वस्याङ्गजन्यत्वेन तदभावशङ्कोपपत्तेः । अतः प्रकृते प्रदेयघटकत्वसम्बन्धेन परमापूर्वसाधनत्वस्यैव इह लक्ष्यतावच्छेदकस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वात् सर्वशेषत्वोपपत्तिः ।

न च एकापूर्वसाधनत्वेऽपि प्रतिनियतनिर्देशात् (१)सम्मिलनादिधर्मविधौ बृहद्रथन्तरादिविवक्षावत् त्रीह्यादिविवक्षोपपत्तिः । त्रीह्यादिविवक्षायां विकृतौ नीवारेष्ववघातप्राप्त्यनापत्तेः । सम्मिलनादिविधिष्वपि न बृहद्रथन्तरत्वादिविवक्षा । तथात्वे कण्वरथन्तरे तत्प्राप्त्यनापत्तेः । किन्तु तत्तत्पृष्ठस्तोत्रारम्भकीभूतगुणाभिधानजन्यावान्तरापूर्वसाधनत्वविवक्षैवेत्युक्तं (२)मन्त्राधिकरणे । अतस्सर्वशेषत्वमेव युक्तम् ।

१ बृहद्रथन्तरयोः साम्नोरिकपृष्ठस्तोत्रापूर्वसाधनत्वेन विहितयोरपि 'रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मिलयेत्' 'बृहति प्रस्तूयमाने समुद्रं मनसा ध्यायेत्' इत्यादिवाक्येषु बृहद्रथन्तरयोः प्रतिनियतनिर्देशात् धर्माणां साङ्कर्यनिवृत्त्यर्थं रथन्तरत्वादेर्विवक्षामङ्गीकृत्य सम्मिलनादेः रथन्तर एव प्राप्तिः, समुद्रध्यानादेः बृहत्येव प्राप्तिः, इत्यङ्गीकर्तव्यम्, तद्वदत्रापि भवत्वित्याशङ्कार्थः ।

२ पू. मी. १-२-४.

सू-अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥ ३-१-९ ॥

दृष्टार्थलोपात् अवघातादीनां आज्यादिषु अकर्म स्यात् ।
अन्यथा एकस्यैव अवघातविधेः त्रीह्याद्यंशे नियमविधित्वं अ-
न्यत्रापूर्वविधित्वमिति वैरूप्यापत्तेः ।

अथाविशेषप्रवृत्तविध्यनुरोधेन वैरूप्याङ्गीकरणं, सर्वत्रैव वा-
दृष्टार्थत्वाङ्गीकरणं, तत्राह—

सू-फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभा-
वात् विप्रयोगे स्यात् ॥ ३-१-१० ॥

यद्यपि च विधिरविशेषप्रवृत्तस्स्यात् । तथापि यत्रैव एकत्र दृ-
ष्टफललाभः तत्रैव क्षीणार्थापत्तिकस्तन् नान्यत्रादृष्टं कल्पयेत् ।
परं तदनुरोधेन संकोचमपि सहेत । अयं पुनर्विशेषप्रवृत्त एव ।
त्रीह्यादिपदेन प्रत्यासत्या आग्नेयाद्यपूर्वसाधनत्वस्यैव लक्षितत्वात् ।

यद्यपि परमापूर्वं प्रत्यपि अस्त्येवाग्नेयस्य कारणता । तथापि
न निरपेक्षस्य कारणता साक्षात्, अपि तूत्पत्यपूर्वद्वारा अग्नीषो-
मीयादिसापेक्षस्य । अतश्चोत्पत्यपूर्वस्य साक्षादन्यनैरपेक्ष्येण
चाग्नेयजन्यत्वादतिक्रमकारणाभावेन तत्साधनत्वमेव लक्ष्यते ।
न च साक्षात्फलसाधनत्वाभावादतिक्रमः । परम्परया तत्साध-
नत्वेऽपि अनिर्हातप्रकारत्वेन धर्मप्रयोजकत्वोपपत्तेः ।

न हि त्रीहितण्डुलपिष्टपुरोडाशयागोष्विव तस्मिन्नानर्थक्यम् ।
तस्य तद्विना जनने प्रमाणाभावात् । अत एव यत्र सप्तदशार-
त्रित्वादिब्यतिरेकेणापि प्रकृतौ यूपसिद्धिः, पश्वपूर्वसिद्धिर्वाव-
धहरिता तत्र तदतिक्रमेणापि परम्परया वाजपेयापूर्वप्रयोजक-
त्वलक्षणेष्टैव । प्रकृते तु तदभावात् प्रत्यासत्या शक्यसम्बन्धानु-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १४७

रोधेन त्रीहित्वसमानाधिकरणान्नेयाद्युत्पत्यपूर्वसाधनसम्बन्धिप्र-
देयघटकतण्डुलनिष्पत्तिरूपव्यापारकसाधनताश्रयत्वमेव लाघवात्
लक्ष्यते । न तु परमापूर्वस्य प्रयोजकत्वम् । अत्र च सर्वत्र तत्तद्व्या-
पारकसाधनतामात्रमेव लाघवात् विवक्ष्यते । न तु तदवच्छेद-
कमपि यागत्वपुरोडाशत्वत्रीहित्वादि । तावतापि त्रीहित्वसमाना-
धिकरणधर्मलाभेनानर्थक्यपरिहारोपपत्तेः । एवं च स्रुवादिष्वपि
उक्तव्यापारकसाधनत्वाभावात् तद्व्यावृत्तिः । चरुनीवारादिषु च वै-
कृतेषु पुरोडाशत्वत्रीहित्वाद्यभावेऽपि तत्संपत्तिरविकला भवति ।
यस्तु प्रकृतौ यवेषूक्तविधिसाधनताश्रयत्वादातिप्रसङ्गस्य इष्टमेव ।

ननु न यवेषु धर्मप्राप्तिस्सम्भवति । त्रीहिनिष्ठसाधनतायाः ते-
ष्वसम्भवात् । न हि तयोरेका साधनता । साधनतावच्छेदकभेदे-
न तद्वेदस्यावश्यकत्वात् । “त्रीहिभिर्पजेत,” “यवैर्यजेते” त्या-
दौ एकप्रकृत्यर्थविरुद्धकारणतायां प्रकृत्यर्थान्तरस्य निवेशा-
योगेन शब्दान्तराहुणाद्वा भेदोपपत्तेश्च । यत्र हि प्राकृतद्रव्यवाधे-
न विकृतौ द्रव्यान्तरविधिः तत्रास्तु नाम प्रकृतकारणत्वानुवादेन
प्रकृत्यर्थमात्रविधानात् करणतैक्यम् ।

न च तत्राप्येकप्रसरताभङ्गापत्तेः करणताभेदावश्यम्भावः ।
करणत्वस्य अनुवादत्वेऽपि प्रकृत्यर्थविधेयताघटकत्वेन भावना-
वदुद्देश्यत्वात् । अतश्च यथैव ‘दधना जुहोती’ त्यादौ प्राप्तापि भा-
वना दधिनिष्ठविधेयताघटकत्वात् दधिविशिष्टा विधीयमाना नो-
द्देश्यतां प्रतिपद्यते । न वा भिद्यते । तथैव करणत्वमपि । “वषट्कर्तुः
प्रथमभक्ष” इत्यादौ भक्षस्तु भावनाकारकभिन्नत्वेन पदार्थान्तर-
गतविधेयताघटकत्वाभावात् स्वयमेवोद्देश्यतां प्रतिपद्यत इति ए-
कप्रसरताभङ्गभिया भिद्यते । आस्तां वा तत्रापि भिन्ना करणता ।
त्रीहियवादौ सा निर्विवादैव ।

नचैवं समुच्चयापत्तिः । द्वयोः करणतयोरेकव्यापारकत्वेन विकल्पोपपत्तेः । सा च त्रीह्यादिनिष्ठकरणता अपूर्वसाधनीभूताग्नेयादीनि तत्त्वेन यजिपदेन उद्दिश्य विधीयते ।

यद्यपि च नेदमुद्देश्यतावच्छेदकम् । अतिप्रसक्तत्वात् त्रीहिनिष्ठकरणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकं भवितुमीष्टे । तथापि अपूर्वसाधनीभूताग्नेयत्वादिसामानाधिकरण्येन त्रीह्यादिकरणत्वेऽभिहिते पश्चाद्भिचारपरिहारार्थं कार्यकारणभावकल्पनायां “यजेत स्वर्गकाम” इतिवत् आग्नेयत्वादिव्याप्यस्य वैजात्यस्य कार्यतावच्छेदकत्वं कल्प्यते इति न विरोधः ।

नन्वेवं तत्तद्व्याप्यधर्मावच्छिन्नस्यैवापूर्वं प्रति कारणत्वे व्यवभिचारपरिहारार्थं अपूर्वेऽपि वैजात्यापत्तिः । इष्टापत्तौ तद्वदेव स्वर्गेऽपि वैजात्यापत्तिः । तत्रापि इष्टापत्तौ अग्न्यङ्गान्तरानुरोधेन आग्नेयत्वादिरूपव्यापकधर्माणामपि अपूर्वस्वर्गादिनिरूपितकार्यकारणभावकल्पनावश्यम्भावेन व्याप्यव्यापकधर्मभेदेनानन्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तिरिति चेत्—

त्रीहिनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतायामेव व्याप्यधर्मस्य अवच्छेदकत्वकल्पनात् । न तु तस्याप्यपूर्वस्वर्गादीन् प्रति कारणतावच्छेदकत्वमपि । आग्नेयत्वादिरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नस्यैव स्वर्गत्वापूर्वत्वादिरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नं प्रत्येव कारणत्वोपपत्तेः ।

नचैवं त्रीहियव्यतिरेकेण गोधूमादिप्रकृतिकपुरोडाशादिघटितसामग्रीवशेनाग्नेयत्वादिरूपव्यापकधर्मावच्छिन्नोत्पत्तौ बाधकाभावेन वैगुण्यानापत्तिरिति वाच्यम् । त्रीह्यादिनियमविध्यनुरोधेन त्रीहियवेतरगोधूमादिप्रकृतिकत्वस्य व्यापकधर्मावच्छिन्नाग्नेयोत्पत्तौ तादृशापूर्वोत्पत्तौ वा प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । त्रीहिय-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १४९

वयोस्तु अपूर्वसाधनतावच्छेदकीभूताग्नेयत्वादिव्याप्यधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वादेवापूर्वोपयोग इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

तस्मात् सिद्धो व्रीहियवादौ कारणताभेदः ।

संस्कारवाक्येषु तु तण्डुलनिष्पत्तिव्यापारकसाधनताविशेषस्यैव व्रीहियतस्य लक्ष्यत्वात् विकृतौ नीवारकारणतायाः प्राकृतकार्यापस्या धर्मलाभेऽपि प्रकृतौ न यत्रेषु धर्मप्राप्तिस्सम्भवतीति चेत्—

न । तत्तद्व्यापारकसाधनतामात्रविवक्षणेन साधनतावच्छेदकाविवक्षावत् साधनविशेषस्यापि लाघवेनाविवक्षणात् । तदविवक्षायामपि व्रीहित्वसमानाधिकरणधर्मलाभेनानर्थक्यपरिहारोपपत्तेस्तुल्यत्वात् । अत एव तस्य शक्यसम्बन्धविधया प्रवेशेऽपि लक्ष्यतावच्छेदके उद्देश्यतावच्छेदके वा अप्रवेशः, गौरवात् । अतश्च युक्ता यत्रेष्वनुवृत्तिः स्रुवादिभ्यश्च व्यावृत्तिर्धर्माणाम् ।

नन्वेवमपि व्रीहीणामस्त्यपूर्वं प्रति अनेककारणत्वघटितः परम्परासम्बन्धः । अस्ति च कारणतत्कारणाद्यनुगतः कुलालपित्रादिष्विव अन्यथासिद्धिचतुष्टयराहिसविशिष्टनियतपूर्ववृत्तित्वाऽपरपर्यायः प्रयोजकत्वाख्यः । स च साक्षात् कारणत्वादपि अन्यथासिद्धिपञ्चकराहित्यघटिताद्यत्र लघुः तत्र परम्परासम्बन्धात् लघुरित्यविवादमेव ।

अतश्च यदि व्रीहित्वसमानाधिकरणधर्ममात्रविवक्षा ततः प्रयोज्यत्वशक्यसम्बन्धेन उपस्थितापूर्वप्रयोजकत्वमात्र एव विवक्षापत्तेः स्रुवपुरोडाशाज्यादिव्यावृत्त्यासिद्धिः ।

अथ तु अतिप्रसङ्गभियां परम्परासम्बन्धोऽपि विवक्ष्येता ततः व्रीहिमात्रनिष्ठसाधनत्वविशेषविवक्षापत्तेः यवानुवृत्त्यसिद्धिः इति

चेत्, न, प्रयोजकत्वसम्बन्धस्य लघुभूतत्वेऽपि अपूर्ववृत्तिसत्तास-
मवायाश्रयत्ववच्छाब्दबोधे नियमेनोपस्थित्यभावात् विवक्षा-
नुपपत्तेः ।

अतश्च गुरुभूतोऽपि परम्परासम्बन्ध एव तत्तद्वाक्यैर्नियमे-
नोपस्थितत्वात् विवक्षित इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अत एवा-
पूर्वनिष्ठकार्यतानिरूपितयागादिनिष्ठकारणतासमानाधिकरणका-
र्यतानिरूपितकारणतासामान्यमेव तत्तद्व्यापारकं ब्रीह्यादिपदैः
लक्ष्यते । अत्र च यागनिष्ठत्वं परिचायकमात्रम् । न तु तेन रू-
पेण लक्षणा । गौरवापत्तेः । व्यापारश्च स्वप्रदेयप्रकृतिभूतास्त-
ण्डुलाः । स्वपदं यागपरं, न तु पिष्टमपि । तस्य प्रदेयपुरोडाश-
प्रकृतित्वाभावात् । यथैवह्यामिक्षा न पयसो द्रव्यान्तरं, किन्तु घ-
नीभावापन्नं पय एव । यथा वा सक्तव एव सक्तुपिण्डः, न
त्वर्थान्तरम् । जलसंयोगादिकं च पिण्डभावं निमित्तकारणमा-
त्रम् । तथैव जलाग्न्यादिसंयोगस्य पिण्डभावं प्रति निमित्तका-
रणत्वेऽपि न पिष्टादर्थान्तरं पुरोडाशः । किन्तु तस्यैव पिण्डाव-
स्थामात्रम् । अतस्तण्डुलप्रकृतिक एवेति न पिष्टस्य पृथग्व्यापा-
रमध्ये प्रवेशः । अत एव चरौ पुरोडाशस्थानापन्ने पिष्टप्रकृतिक-
त्वाभावेऽपि तण्डुलप्रकृतिकत्वादेव धर्मप्राप्त्यविघातः ।

नचैवं पिष्टस्यैव यत्र प्रदेयता, तत्रापि धर्मप्राप्त्यापत्तिरिति
वाच्यम् । तत्र तण्डुलप्रकृतिकत्वे प्रमाणाभावेन ब्रीहितद्धर्माणां
(१)प्राप्त्यभावात् ।

तथा हि—सर्वत्र, “अनो ददाति, वासो ददाति” इति वत्-
सिद्धस्यैव च पुरोडाशादेः ग्रहणे प्रसक्ते प्रयोगान्तःपातिश्रप-
णविध्यन्यथानुपपत्त्या प्रयोगमध्ये यत्र सम्पादनावश्यकता तत्रै-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५१

व प्रकृतिद्रव्यस्यैव उपादाने तन्नियमविधिः, तद्धर्मप्राप्तिश्च । यत्र तु पिष्टतण्डुलादौ प्रदेयत्वेन श्रपणप्राप्तिः । पुरोडाशादिपदवाच्यपक पिण्डादिघटकपाकप्रयोजनकस्य तदभावे पेषणवत् लोपौचित्यात् तत्र अनोवासआदि न्यायेन सिद्धस्यैव पिष्टस्य उपादानात् । तण्डुलेष्विव पिष्टेऽपि प्रयोगमध्ये न तण्डुलोपादानम् । न वा व्रीहि-प्रकृतिकत्वनियमः, न वा तद्धर्मप्राप्तिरिति नवमे वक्ष्यते ।

तत्सिद्धं स्वप्रदेयप्रकृतिभूततण्डुलव्यापारककारणतासामान्यमेव संस्कारवाक्यगतव्रीह्यादिपदैर्लक्ष्यते । “व्रीहिभिर्यजेते”ति वाक्ये च स्वप्रदेयप्रकृतिभूततण्डुलानामेव व्यापारत्वेन विवक्षितत्वात् तादृशव्यापारद्वारा अपूर्वसाधनीभूतयागोद्देशेन व्रीह्यादिकरणता विधीयत इति । वस्तुतस्तु तण्डुलेषु प्रदेयप्रकृतित्ववत् अस्ति प्रदेयघटकपाकप्रयोजनकश्रपणविध्याक्षिप्तोपादानकत्वमपि । तस्य धर्मस्य प्रदेयप्रकृतित्वादिरूपधर्मापेक्षया प्रथमोपस्थितत्वम् । श्रपणविध्यभावे सिद्धस्यैव पुरोडाशस्य उपादानेन तण्डुलप्रकृतिकत्वस्य नियमेनानुपस्थितेः । अतश्च व्रीहिभिर्यजेतेत्यादौ स्वप्रदेयघटकपाकप्रयोजनकश्रपणविध्याक्षिप्तोपादानकतण्डुलव्यापारकैव व्रीह्यादिकरणता विधीयते । संस्कारवाक्येषु च उक्तविधव्यापारककारणतासामान्यमेव लक्ष्यते ।

अत एव धानानामुक्तविधया तण्डुलभिन्नत्वेऽपि उक्तविधरूपसत्त्वात् तत्प्रकृतिभूतयवादिष्ववघातप्रोक्षणादिप्राप्त्यविघातः ।

यद्यपि च तण्डुलानामिव पिष्टस्यापि प्रकृतौ श्रपणविध्याक्षिप्तोपादानकत्वाविशेषात् व्यापारकोटिप्रवेशापत्तेः धानासु च तदभावात् नावघातप्राप्तिर्भवेत् । तथापि व्रीह्यादिनियमविधौ अव्यवधानेन तण्डुलानामेव द्वारत्वात् तेष्वपिच निरुक्तोपादानकत्वस्य सत्त्वात् सत्यपि पिष्टस्याऽऽन्तरालिकत्वे

तस्य द्वारत्वप्रवेशे गौरवापत्तेः । न च स्वरूपेण तण्डुला-
नामेव तद्धारत्वावगतेः धानासु अवघातादिप्राप्तिर्नासुलभा ।
एवं करम्भपदवाच्यसक्तुष्वपि ।

परिवापपदवाच्यलाजेषु तु व्रीहिवस्थायां श्रपणद्वाराभावेनैव
न व्रीहिणामातिदेशिकत्वम् । न वा तत्र धर्मप्राप्तिः । लाजत्वा-
न्यथानुपपत्तैव तु व्रीहिग्रहणम् । मौद्ग्रे च चरौ मुद्गानां तण्डुलस्थान-
पन्नत्वेन व्रीहिस्थानापन्नत्वाभावात् नावघातप्रोक्षणादि । कृष्णले-
चैवम् । त्रितुषीभावरूपप्रयोजनाभावात् नावघात इत्यभिधानन्तु व्री-
हिस्थानापन्नत्वं कृत्वाचिन्तया युक्त्यन्तरत्वसूचनार्थमिति द्रष्टव्यम् ।

नचैवं तण्डुलव्यापारककारणत्वस्य कारणतावच्छेदकीभू-
तव्रीहित्वसमव्याप्तस्य प्रतिव्रीहि भिन्नत्वात् (१) हिरण्यशक-
लाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन प्रतिव्रीहि प्रोक्षणापत्तिरिति वाच्यम् ।
न्यायतस्तथा प्राप्तावपि अग्रये वो जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मन्त्रे बहु-
वचनश्रवणेन सकृत् प्रोक्षणप्रतीतेः । अत एव तद्ववाक्यस्थ-
व्रीहिपदे कारणताकूटलक्षणेति सर्वमनवद्यम् ।

यच्च व्रीहिपदेन आग्नेयाद्युत्पत्त्यपूर्वत्रयसम्बन्धित्वलक्षणायां
उद्देश्यतावच्छेदकाननुगमः इत्युक्तम् । तदननुगमेऽपि “सर्वे-
भ्यो दर्शपूर्णमासावि” त्यादिवत् व्रीहित्वरूपैकोपलक्षणसत्त्वेन
उद्देश्यानेकत्वनिमित्तकवाक्यभेदाभावात् अकिञ्चित्करम् ।

तस्मात् न सर्वधर्मत्वम् । प्रयोजनं स्पष्टम् ।

सूत्रन्तु यत्र दृष्टं फलं वेष्टमात्रेण दृश्यते तत्रैवावघातादि-
विधिः प्रवर्तते । दृष्टफलविप्रयोगे हि सर्वौषधावघातादौ तदभा-
वप्रमाणकादृष्टकल्पना स्यात् । न हि तदा तां विना शब्दार्थो
ऽनुष्ठानं योग्य इति व्याख्येयम् ।

इति चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम् ।

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५३

अथ पञ्चमं स्फयाधिकरणम् । (५)

सू-द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥ ३-१-१ ॥

(विषयः)

दर्शपूर्णमासयोः(१) “स्फयश्च कपालानि च” इति दश द्रव्याण्य-
नुक्रम्य(२) “एतानि वै दश यज्ञायुधानि” इति श्रुतम् । “स्फयेनो-
द्धन्ती” ति दशानामपि विशिष्य विनियोगा अपि श्रुताः ।

(संशयः)

तत्र किं स्फयादीनां अपूर्वसाधनीभूतसाकाङ्क्षक्यक्रि-
यामात्रे विनियोगः ? अथ वा उद्धननादितत्तद्वाक्यप्रमितक्रिया-
विशेषजन्यव्यापारकापूर्वसाधनीभूताश्रय इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

तृतीयायाः करणत्वरूपकारकवाचित्वेन मुख्यश्रुतित्वात्
तदुपयोगिनिरूपणस्य पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । अनन्तरा सङ्ग-
तिः-पूर्वत्र अतिप्रसक्तलक्षणार्थां प्रमाणाभावेन व्रीहिमात्रजन्य-
व्यापारकसाधनत्वलक्षणा युक्ता । प्रकृते तु यज्ञायुधवाक्यस्य ता-
त्पर्यग्राहकस्य सत्त्वादतिप्रसक्तलक्षणैव युक्ता इति पूर्वपक्षोत्था-
नात्-द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि “स्फयेनोद्धन्ती” त्यादयः विधय एव, तथा-
पि तृतीयया विनियुक्तस्य स्फयादेरुद्धननादिस्वरूपे आनर्थक्यात्
उद्धननत्वसमानाधिकरणप्रकृतापूर्वसाधनीभूतद्रव्यसाकाङ्क्षश-
क्यक्रियात्वमेव लक्ष्यते । न तूद्धननादिमात्रजन्यव्यापारकसाधन-
ताश्रयत्वम् । यज्ञायुधवाक्येन यज्ञसाधनतया स्फयादीनि विनियु-
ञ्जानेन उत्पत्तिशिष्टपुरोडाशाद्यवरुद्धत्वात् साक्षात्प्रधानाङ्गत्वेना-

विनियोगात् (१) आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन प्रकृतापूर्वसाधनीभूतद्रव्यसाकाङ्क्षक्रियामात्रे विनियोजकेन तात्पर्यग्रहणात् ।

अत एव अस्यार्थस्याप्राप्तत्वात् वैशब्दोपबद्धमपि यज्ञायुधवाक्यं कर्तव्यतावाचिपदाध्याहारेण विधिरेव । आवश्यकनानेनैव वा विवक्षितार्थसिद्धेः, “स्फ्येनोद्धन्ती”त्यादीन्यवयुत्यानुवादा उपलक्षणार्थानि वा इत्यपि वक्तुं शक्यम् ।

वस्तुतस्तु उद्धननादिविधीनां बहूनां अनन्यशेषाणामानर्थक्यापत्तेः विधित्वमेव युक्तम् । यज्ञायुधवाक्यस्य तु (२) “यज्ञायुधानि सम्भरती”ति सम्भरणविधयेकवाक्यतापन्नत्वेन अर्थवादस्यापि उद्धननादिवाक्ये विवक्षितलक्षणायां तात्पर्यग्राहकत्वोपपत्तेः । अतश्च तस्यातिप्रसक्तत्वात् यवानामिव क्रियान्तरणामप्युद्देश्यत्वोपपत्तेः सर्वशेषत्वमिति प्राप्तं—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—न तावद्यज्ञायुधवाक्यमेव विधिः । वैशब्दोपबन्धात्, यज्ञोद्देशेन साधनविधाने एकप्रसरताभङ्गापत्तेश्च । आयुधशब्दस्य युद्धसाधनवाचिनः यज्ञसाधनलक्षणायां विधौ लक्षणापत्तेश्च । उद्धननादिवाक्यानां अनन्यशेषाणां प्रत्यक्षविधिकार्यां चानुवादत्वे वैयर्थ्यापत्तेश्च । नापि सर्वेषामेव विधित्वं, अस्य सम्भरणविधयेकवाक्यतापन्नत्वेन पृथग्विधित्वे प्रमाणाभावात् । अभ्युपेक्षापि विधित्वं उद्धननादिविधिना उपसंहारापत्तेश्च । वाक्यप्रमाणकल्पयविनियोगविध्यनुरोधेन श्रुतिप्रमाणककल्पयविनियोगविधेरुपलक्षणत्वानुपपत्तेश्च । अतएव न यज्ञायुधवाक्यस्यार्थवादस्य सत एव लक्षणातात्पर्यग्राहकत्वम् । उद्धननामात्रसम्बन्धेन प्राप्तयज्ञसाधनत्वानुवादोपपत्तेः । अतश्च

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५५

अतिप्रसक्तलक्षणार्थां प्रमाणाभावात् उद्दननमात्रजन्यव्यापारक-
साधनताश्रयत्वलक्षणया उद्दननशेषत्वमेव युक्तम् । प्रयोजनं-
सिद्धान्तसूत्रं च स्पष्टम् ।

इति पञ्चमं स्फयाधिकरणम् ।

अथ षष्ठमरूपाधिकरणम् । (६)

सू-अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यात्
नियमस्स्यात् ॥ ३-१-१२ ॥

(विषयः)

ज्योतिष्टोमे (१) “अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति”
इति श्रुतम् । तत्र अरुणाशब्दस्तावत् (२) आकृत्यधिकरणन्या-
येन अरुणव्यक्तिनानात्वपक्षे अरुणत्वजातिवचनः । जगतीतल-
वर्त्येकारुणव्यक्तिपक्षे तु गुणवचनः । स्वशक्यार्थस्यैव च तृतीयो-
पात्ते करणत्वे अन्वयः । न तु तदर्थं गुणद्रव्ययोः द्रव्यमात्र-
स्यैव वा लक्षणा । द्वितीयादावेव हि परम्परासम्बन्धस्य वृत्तिनि-
यामकत्वाभावात् तद्वाटितकर्मत्वादौ जातिगुणयोः साक्षादन्वया-
योगेन व्यक्तिलक्षणा समाश्रयित इत्युक्तमाकृत्यधिकरणे ॥

ननु-नारुणादिशब्दाः जातिगुणवचनाः । अपि तु त-
द्विशिष्टद्रव्यवचनाः । विनापि मत्तुप्रत्ययं शुक्लो देवदत्त इति
द्रव्यसामानाधिकरण्यदर्शनात् , व्यतिरेकेण रूपादिशब्दवत् ।
न च “(३)गुणवचनेभ्यो मत्तुपो लुगिष्ट” इति स्मरणात्

१. तै. सं. ६-१-६. २. पू. मी. १-३-१०. ३. का. वा. १-४-१९.

लक्ष्मणतुप एव द्रव्यपरत्वमिति वाच्यम् । लोपमजानतां बोधाना-
पत्तेः । अतः प्रातिपदिकस्यैव द्रव्यशक्तिदृढीकरणार्थं लोपानुशा-
सनम् । गुणवचनशब्दस्तु विशेषणत्वेन गुणाभिधायकः । न-
तु द्रव्यवाचित्वविरोधी ।

किञ्च भावप्रत्ययस्य प्रातिपदिकार्थवृत्तिधर्मवाचित्वात् य-
थैव रूपत्वमित्यत्र न रूपवद्वृत्तिधर्मप्रतीतिः, तथैव गोरा रूप्यम-
रूपत्वमित्यादौ द्रव्यवृत्तिधर्मप्रतीत्यनापत्तिः । अस्मन्मते तु
घटस्यारुण इति प्रतीत्यनुसारात् शुद्धगुणवाचित्वस्यापि अङ्गी-
कारेण अरुणत्वमिति पदात् क्वचिद्रूपवृत्तिधर्मप्रतीतावपि न
क्षतिः । अत एव गुणवाचित्वे पुँल्लिङ्गता द्रव्यवचनत्वे तु आ-
श्रयलिङ्गवचनतेति चेत्—

अत्र मूलानुयायिनः—आकृत्याधिकरणन्यायेन गुणमात्र-
वाचित्वासिद्धौ क्वचिद्रव्यप्रतीतिर्निरूढलक्षणया । तामादायैव च
मतुल्लोपाद्यनुशासनानि । न चैतावता रूपादिपदेष्वपि तदाप-
त्तिः । तत्र प्रयोगाभावेन साम्प्रतिकलक्षणया अप्यनुपपत्तौ
निरूढलक्षणयाः सुतरामनुपपत्तेः ।

नत्वेतद्युक्तम् ; तथात्वे अरुणापदेऽपि विशेष्यतया द्रव्यलक्ष-
णापत्तेः । गुणस्य च शक्त्या विशिष्टलक्षणयैव वा उपस्थितस्य
द्रव्य एवान्वयात् विशिष्टस्य च द्रव्यस्य मूर्ततया एकहायन्यादिवत्
पार्ष्णिकान्वयलभ्याभेदसम्बन्धेन क्रय एव निवेशोपपत्तेः ।

यदत्र पूर्वपक्षे गुणस्य अमूर्तत्वेन क्रयसाधनत्वानुपपत्तेः
प्राकराणिकद्रव्यपरिच्छेदं प्रति वाक्यं भित्वा करणत्वं, सिद्धान्ते च
पार्ष्णिकान्वयलभ्यद्रव्यपरिच्छेदद्वारा क्रय एव करणत्वमित्युक्तम् ।
तदनुपपन्नं, दशमे(१) “चतुरो मुष्टीन्निर्वपती”त्यत्र चतुस्संख्याया

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५७

लक्षितमुष्टिशेषणत्वापत्तेः सप्तदशशरावे चरौ प्रधानभूतमु-
ष्ट्यनुग्रहापत्तौ सख्यानुग्रहो वक्ष्यमाणो विरुद्धेत ।

किञ्च नैतादृशस्थले द्रव्यलक्षणायां प्रमाणमस्ति । तद्धि न
तावत् करणत्वं, तस्य द्रव्यपरिच्छेदरूपव्यापारावष्टम्भेन गुणेऽपि
जातिवत् उपपन्नत्वात् । अत एव यत्र वृत्तिघटितस्य कर्मत्वादेः
परम्परासम्बन्धेन गुणादावनन्वयः तत्रेष्यत एव व्यक्तिलक्ष-
णेत्युक्तमाकृत्यधिकरणे । नापि लिङ्गसंख्याद्वयानुपपत्तिः । त-
स्याः (१)पाशाधिकरणन्यायेन लक्षणया साधुत्वमात्रेणाश्रयनि-
ष्ठतया वोपपत्तौ प्रातिपदिके लक्षणानापादकत्वात् ।

वस्तुतस्तु चित्राधिकरणोक्तरीत्या आरुण्यस्त्रीत्वोभयवृ-
त्तिकरणत्वद्वयं तृतीययोच्यते । पार्ष्टिकान्वये च तदाश्रययो-
स्सामानाधिकरण्येनान्वयः । तत्र स्त्रीत्वगतकरणत्वस्य प्रा-
प्तत्वात् कामं तन्न विधीयताम् । गुणमात्रवृत्तिकरणत्वं च
विधीयताम् । नत्वेतावता प्रातिपदिके द्रव्यलक्षणायां कि-
ञ्चित्कारणम् । नापि द्रव्यप्रतीतिः । तस्यास्सम्बन्धविधया
पार्ष्टिकभानेनैवोपपत्तेः ।

अतश्चाकृत्यधिकरणन्यायेनारुणस्यैव गुणस्य अरुणादि-
पदवाच्यस्य द्रव्यपरिच्छेदमुखेन क्वचिदन्वयः, यथा तृतीयान्ते ।
क्वचिच्च गुणलक्षितव्यक्तेः, यथा द्वितीयादौ । क्वचित् गुणे
द्रव्यस्य विशेषणतया, यथा-घटस्यारुण इति । अत एव
लक्षणास्थलमादायैव मतुब्लोपान्वाख्यानं भावप्रत्ययस्य च गु-
णवाचित्वम् । अन्यत्र गुणनिष्ठधर्मवाचित्वम् । गुणवचनाना-
माश्रयतो लिङ्गवचनानिभवन्तीत्यादौ आश्रयनिष्ठलिङ्गस-
ङ्ख्यावाचिपदप्रयोजकीभूतगुणवचनशब्दार्थस्तु स्वशक्यार्थवि-

शिष्टव्यक्तिविषयकलक्षणावृत्तियोग्यं यत्प्रकारतया व्यक्त्यनन्व-
य्यर्थकं पदं तद्रूपः । अत्र योग्यान्तमात्रविवक्षायां अजायाः
शुक्लः इत्यादावपि टावाद्यापत्तिः । तस्य तदा लक्षकत्वा-
भावेऽपि अरण्यस्थदण्डवत् योग्यत्वस्य सत्वात् । अतस्तद्व्यावृ-
त्त्यर्थमन्त्यविशेषणम् । अत एव तत्राश्रयगतलिङ्गाभावे(१)“गुणे शु-
क्लादयः पुंसी”त्यनुशासनेन पुल्लिङ्गमेव साधुत्वार्थं नियम्यते ।
रूपमस्तीत्यादावपि च प्रकारतया द्रव्यानन्वयादाद्यम् । अतश्च
व्यक्तिलक्षणाभावेऽपि टावाद्युपपत्तेः गुणस्यैव करणत्वान्वय-
परोऽरुणाशब्द इति सिद्धम् ।

पिङ्गाक्ष्येकहायनीशब्दौ तु यौगिकत्वात् द्रव्यपरौ ।

ननु नात्रापि द्रव्ये शक्तिः । अवयवशक्त्युपस्थापितपदार्थानामेव
द्रव्यपरिच्छेदद्वारा अरुणादिवत् करणत्वेनान्वयोपपत्तेः । अथा-
नयोः बहुव्रीहित्वात् तस्य च मतुबर्थे विधानात् तस्यापि च
“सोस्यास्ती” ति स्मृत्या सम्बन्धव्यर्थकत्वप्रतीतिः अनयोरप्य-
वयवार्थसम्बन्धिद्रव्यवाचित्वमभ्युपगम्यते ? तर्हि आकृत्याधिकर-
णन्यायेन सहैव मतुपा बहुव्रीहावपि सम्बन्ध एव शक्तिरस्तु,
द्रव्यस्य तु व्यक्तिन्यायेन लक्षणया भानोपपत्तेः न शक्यता ।

किञ्च व्यक्तिशक्तिवादिनो मते किं शक्यतावच्छेदकं ? ।
गोत्वादीति चेत् ।, तस्य बहुव्रीहिपदमात्रादनुपस्थितेः । उपास्थि-
तौवा तस्यैवाकृतिन्यायेन शक्यत्वापत्तेः व्यक्तिशक्तिभङ्गापत्तिः ।
अतश्च सकलजनानुभवसिद्धसम्बन्धस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वात्
शक्यत्वमिति ।

एवं पाचक इत्यादौ कृतोऽपि कृतावेव शक्तिः । न तु
द्रव्ये । औपगवमिसादितद्धिते च अपत्यतायामेव शक्तिः ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५९

नत्वपत्न्य इति चेत्—

नायमाकृत्याधिकरणस्य विषयः । तथाहि—सर्वत्र तावत् अनेकार्थबोधके पदे एकत्र शक्तिः अन्यत्र आक्षेप इति अनेकशक्तिकल्पनापरिहाराय अवश्यं अभ्युपेतव्यम् । तत्रापि च गुरुभूतेऽपि प्रधाने शक्तिः । तेन च अप्रधानानामाक्षेप इत्युत्सर्गः । यत्रोभयोरपि प्राधान्यं तत्र नागृहीतविशेषणान्यायः । दुर्बलस्यापि प्रधानस्याभ्यर्हितत्वात् । तच्च प्राधान्यं “भाव-प्रधानमाख्यातं” “सत्त्वप्रधानानि नामानि” इति स्मृत्या नियम्यते । इयं हि नाभिधानान्तरार्थापेक्षया प्राधान्यनियामिका । तस्य प्रकृतिप्रत्ययावित्यनेनैव सिद्धत्वात् । अपि तु स्वाभिधेयार्थान्तरापेक्षेयत्युक्तं(?) भावनानिरूपणावसरे ।

अतश्च यथैवाख्यातस्य भावशब्दवाच्यायां भावनायामेव शक्तिः, कर्तृस्त्वाक्षेपः तथैव, कृत्तद्धितमतुबन्तादीनां नामसंज्ञत्वात् विभक्तिवाच्यसंख्यान्वययोग्यस्य सत्त्वपदाभिधेयस्य द्रव्यस्यैव प्राधान्यात् तद्वाच्यत्वावगतेः न कृदादौ विशेषणे शक्तिः । अत एव न तत्र नागृहीतविशेषणान्यायः । किन्तु यत्र जातिव्यक्तयोः गुणद्रव्ययोर्वा तृतीयाद्वितीयादौ सत्त्वतावधारणात् उभयोः प्राधान्यं तत्रैव सः । अत एव सत्यपि कृत्यादिरूपे शक्यतावच्छेदके तस्य संसर्गविधया निरूढलक्षणया वा बोधोपपत्तेः न कृदादौ शक्यत्वम् । तेन यौगिकस्थलेऽपि यत्र कृदादिवाचकान्तरसत्त्वं तत्र सिद्धं यथासम्भवं द्रव्याद्यभिधानम् । यत्र तु न बहुव्रीह्यादौ वाचकान्तरसत्त्वं तत्र पदद्वयस्यैव स्वार्थविशिष्टान्यपदार्थे अन्यपदार्थमात्रे वा निरूढलक्षणा । न त्वतिरिक्ता शक्तिः । अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात् । अत एव कृदावपि

यत्र लोपः प्रकृतिप्रत्ययादेः तत्रावशिष्टभागस्यैव तल्लक्षकत्वम् ।
यथा-उद्धित् । अधुना, दधि, व्यतिसे, इत्यादौ । नत्वतिरि-
क्ता शक्तिः ।

न च बहुव्रीहेरन्यपदार्थशक्तत्वाभावे अरुणापदात् अवि-
शेषापत्या सूत्रे द्रव्यगुणयोरिति निर्देशानुपपत्तिः । निरूढलक्षणा-
तदभावाभ्यामेव विशेषसिद्धेः ।

न चैवमेकहायन्यादिपदस्यापि तृतीयान्तत्वात् आरुण्यव-
देव अवयवशक्यार्थबोधस्यैवान्यपदार्थरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा क-
रणत्वोपपत्तेः न नियमेन निरूढलक्षणोपपत्तिः । हायनादेराधि-
करणतादिसम्बन्धान्तरेणापि करणत्वोपपत्तेः आरुण्यवत् निय-
मेन द्रव्यपरिच्छेदद्वारकविवक्षितसम्बन्धासिद्धेः तत्सिद्ध्यर्थं निरू-
ढलक्षणानैयत्योपपत्तेः ।

अथ वास्तु तत्रापि अरुणान्यायः । सौत्रं तु द्रव्यपदं प्रमा-
णान्तरप्रमितद्रव्ये पाष्टिकसम्बन्धप्रतिपादनार्थं न विरुध्यते ।
अतस्सूत्राअस्यार्थं बहुव्रीहौ द्रव्यशक्तिकल्पनमिति केषांचिदु-
क्तिरपास्ता । पदद्वये लक्षणाङ्गीकारादेव च बहुव्रीहेस्तत्पुरुषापेक्ष-
यापि च दौर्बल्यं द्वितीयादावुपपादितं भवति । इतरथा त्रिजान्त-
रोपादाने क्लेशपत्तेः । एवं च चार्तिककारीयं बहुव्रीहेरन्यप-
दार्थशक्तत्वाभिधानं अतिशयार्थमेव ।

यत्तु कैश्चिद्बहुव्रीहौ अन्यपदार्थे निरूढलक्षणायां पङ्कजपदेऽपि
पद्मांशे निरूढलक्षणपत्तेः योगरूढिप्रवादोच्छेदापातात् बहुव्रीहा-
वापि तद्देवान्यपदार्थे शक्तिरित्युपपादितं, तत्पङ्कजपदमातिब-
न्धा शक्त्यङ्गीकारे समाहारद्वेऽपि समाहारे शक्त्यङ्गीकारापत्तौ
(१)रथघोषाधिकरणसिद्धान्तानुपपत्तिप्रसङ्गादुपेक्षितम् ।

पूर्वपक्षः] - तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १६१

किञ्च लक्षणाप्रतिबन्धा पङ्कजपदे परं लक्षणा भवेत्, न तु तत्प्रतिबन्धा प्रकृते शक्तिः, गौरवात् ।

वस्तुतस्तु नास्मन्मते पङ्कजपदे पद्मांशे शक्तिर्निरुद्धलक्षणा वा । पङ्कजनिकर्तृत्वाश्रयबोधस्यैवानुभाविकत्वात् । नह्यत्र पद्मत्वमपि प्रकारीभूय भासते । किन्तु पङ्कजनिकर्तृत्वप्रकारक एव पङ्कजपदात् बोधः । स त्ववयवशक्त्याप्युपपन्न एव ।

कथं तर्हि शक्तेः तुल्यत्वात् पद्मान्यविशेष्यकोऽपि तत्प्रकारको न बोधः ? अवयवशक्तिग्रहजन्यतादृशशाब्दबोधं प्रति तादृशपूर्वतरप्रयोगाभावप्रकारकग्रहस्य पद्मविशेष्यकपूर्वतरप्रयोगवत्वप्रकारकग्रहस्य वा प्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारात् । अवश्यं हि पद्मे शक्तिवादिनापि उक्तग्रहस्य शक्तिकल्पकत्वमङ्गीकृत्य तद्ग्रहस्य निरुक्तशाब्दबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् । तद्वरं उक्तपूर्वप्रयोगग्रहस्यैव प्रतिबन्धकत्वमिति । एवञ्च उक्तप्रतिबन्धकसत्वेऽपि यदि पद्मान्यविशेष्यकः कदाचित् बोधस्तदा स लाक्षणिकः ।

एवं यदि पद्मत्वमपि प्रकारीभूय कदाचित् भासिष्यते तदा तदपि साम्प्रतिकलक्षणैव । एवमेव चास्मन्मतमुपपादितं न्यायग्रन्थे अस्माभिश्च(१) उद्भिदधिकरणे ॥

यद्वा पङ्कजनिकर्तृत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनावयवशक्तिग्रहजन्यशाब्दबोधं प्रति समवायसम्बन्धेन पद्मत्वस्य हेतुत्वाङ्गीकारान्नातिप्रसङ्गः ।

यदि तु भाविविनिष्ठपद्मस्थले समवायसम्बन्धेन पद्मत्वाभावात् न बोधोपपत्तिरित्याशङ्क्येत तत उक्तशाब्दबोधं प्रति पद्ममात्रवृत्तिविषयतायाः पद्ममात्रवृत्तिविषयतासम्बन्धेन ज्ञा-

नस्यैव वा हेतुत्वकल्पनान्नातिप्रसङ्गः । सम्भवति हि भाविबिनष्टप-
द्यस्थलेऽपि पद्मविषयकं पङ्कजनिकर्तृत्वप्रकारकं ज्ञानम् । अतस्त-
स्यैव हेतुत्वोपपत्तेः न किञ्चिद्वाधकमिति न पङ्कजपदे पद्मांशे
शक्तिः निरूढलक्षणा वा ।

अतश्च तत्प्रतिबन्धा बहुव्रीहौ शक्तिकल्पनायोगात् निरूढ-
लक्षणयैव पिद्गाक्ष्येकहायनीशब्दाभ्यां प्रतीतद्रव्यविधिः ।

नचैकेन विहिते अपरेण विधयनुपपत्तिः । एकविंशतिपदाद-
कतया युगपत्प्रवृत्तयोः युगपद्विधायकत्वात् । गुणद्वयविध्युपपादक-
त्वान्न वैयर्थ्यमपि । तद्विशेषलाभस्तु(१) “गवा ते क्रीणानी”
ति क्रयप्राप्तमन्त्रलिङ्गात् द्रष्टव्यः । लक्षणाभावपक्षे तु नैव
काचिदनुपपत्तिः ।

(संशयः)

तदिह अरुणगुणः किं वाक्यं भित्वा प्राकरणिकद्रव्यमात्रपरि-
च्छेदकरणत्वेन निविशते? अथ वा क्रय एव एकहायनीद्वारा नि-
विशत इति विचारः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति योग्यताज्ञानस्य कारणत्वात्,
आरुण्यस्य चामूर्तस्य साक्षात्सम्बन्धेन क्रियान्वयायोग्यत्वात्, प-
रम्परासम्बन्धाङ्गीकारे च पारिशेष्यात् क्रयभावनासम्बन्धिद्रव्यस-
म्बन्धस्यैवापत्तेः, तस्य च कारकत्वेन व्युत्पत्त्यभावात् वाक्यं भि-
त्वा अधिकाराख्यप्रकरणकल्पितश्रुतानुमितैकदेशनिष्पन्नेन—अ-
रुणया ऽयोतिष्ठोमापूर्वसाधनीभूतद्रव्यपरिच्छेदं भावयेदि—साकार-
कवाक्येन प्राकरणिकसर्वद्रव्याङ्गत्वम् । टाप्चावयुत्यानुवादस्सन्
साधुत्वार्थः । नह्यत्र क्रय इव द्रव्यपरिच्छेदरूपायां क्रियायाम-
योग्यता ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १६३

(सङ्गतिः)

अत एव यत्र(१) “अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपती” त्यादौ ल्युङुक्तस्य द्रव्यस्य स्ववाक्योपात्तनिर्वाप एव योग्यता तत्र युक्तं तन्मात्राङ्गत्वम् । अत एव पूर्वोदाहरणप्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षो-
त्थानात् अनन्तरा सङ्गतिः । पादाध्यायसङ्गतिस्तु अविचार्यैव ।
“स्फयेनोद्धन्ती” खादीनां जातिगुणाचिपदयुक्तत्वाविशेषात् इह
उदाहार्यत्वेऽपि एतदधिकरणसिद्धान्तरीत्याङ्गीकृत्य वाक्यीयक्रि-
यासम्बन्धं यज्ञायुधवाक्यप्राप्त्या पूर्वत्राप्युदाहरणता न विरुध्यते ।
तस्माद्युक्तः प्राकरणिकसर्वयोग्यकारकद्रव्येष्वारूप्यस्य निवेशः ।

यत्तु मूले अरुणयेति तृतीयया प्रातिपदिकेनैव वा प्राकर-
णिककरणीभूतसर्वद्रव्याण्यनूद्य उपसर्जनार्थो गुणो विधीयत इत्यु-
क्तं, तद्द्रव्यलक्षणायामेकहायन्या एव लक्षणापत्तेः परम्परासम्ब-
न्धेन स्ववाक्योपात्तक्रयसम्बन्धसम्भवात् एकप्रसरतामङ्गापत्ते-
श्चोपेक्षितम् ।

यदप्येकहायन्यादिपदानां द्रव्ये मूलकारैः शक्त्यङ्गीकारादेक-
हायन्यादिपदोपात्तश्रौतद्रव्यावरोधान्नारुणादिपदलक्ष्यद्रव्यविध्य-
संभव इत्युक्तं तदपि सत्यपि बलाबले द्रव्यस्य वस्तुत एक-
त्वेन विरोधाभावादयुक्तम् ।

न च विहितविधानासम्भवः । पदार्थोपस्थितेः क्रमिक-
त्वेऽपि क्रियायां खलेकपोतन्यायेन युगपदन्वयात् सर्वेषामेव
विधेयद्रव्यसमर्पकत्वोपपत्तेः । यद्यपि च एकहायनीपदमात्रेण
पूर्वं द्रव्यविधिसंख्यात् तथापि प्राप्तमपि द्रव्यं विशिष्टविधिसन्दष्ट-
त्वात् कथंचिद्विधीयेत । किमुत यदा प्रबलप्रमाणेनापि प्राप्स्य-
मानम् ।

अतएव प्राप्तैकहायन्यनुवादेन गुणविधाने विरुद्धत्रिक-
द्रयापत्तिरित्यप्यपास्तम् । विशिष्टविध्यङ्गीकारात् । किञ्चैवं सि-
द्धान्तेऽपि मूलकारैः अरुणापदे टाबन्वयार्थं द्रव्यलक्षणाङ्गीका-
रात् कथं भवन्मते बलाबलपरिहारः ।

यदप्यत्राजितभवदेवादिभिः परिहृतं लिङ्गसंख्यादेः ल-
क्षितद्रव्य एवान्वयः । करणत्वस्य गुण एव । प्राप्ताप्राप्तविवेके-
न गुण एव तत्तात्पर्यनिष्कर्षात् । इष्यते च राजसूयेनेत्यादौ
समुदाये लक्ष्ये संख्यान्वयः । समुदायिषु च शक्येषु करणत्वा-
न्वयः । अतश्च गुणस्यैव क्रये करणतासम्बन्धेनारुणादिपदेनो-
पनयात् एकहायन्यादिपदैरेव च द्रव्यस्योपनयान्न सिद्धा-
न्ते बलाबलमिति ।

तदप्यपेशलम् । विधिफलस्य अज्ञातज्ञापनरूपस्य तात्प-
र्यनिष्कर्षेऽपि प्रत्ययार्थस्य करणत्वादेः प्रकृत्यर्थविशेष्यान्वयित्व-
नियमेन विशेषणे निष्कर्षायोगात् । तथाहि गुणो विशेषणं द्रव्यं
प्रति ? उत विशेष्यम् ? अथवा द्वयोरपि विशेष्यता ? नाद्यः ।
अन्योपसर्जनस्य करणत्वान्वयानुपपत्तेः । न द्वितीयः । अन्यो-
पसर्जने द्रव्ये लिङ्गसंख्यान्वयानुपपत्तेः । गुणस्योपसर्जनत्वाभावे
मूलकारनिरुक्तगुणवचनशब्दार्थानुपपत्तेश्च ।

अत एव न तृतीयोऽपि । दृष्टान्तेऽपि च एकवचनस्यैव
स्वाश्रयसमुदायघटकसमुदायिवृत्तित्वसम्बन्धेन बहुत्वे लक्षणा ।
न तु प्रधानस्य प्रातिपदिकस्य समुदाये । अरुणापदे
तु तृतीयान्ते “आश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ती” त्यनुशास-
नात् प्राप्तौ सत्यामाश्रयगतलिङ्गसंख्यानुवादः । अप्राप्तौ तु त-
द्विधिः । प्रकृत्यर्थान्वयस्तु सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन । न
तु तदनुरोधेन प्रकृतेराश्रयलक्षकत्वं प्रमाणाभावादित्युक्तम् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १६५

अतएव प्रकृत्यर्थतदाश्रयवृत्तित्वान्यतरसम्बन्धेनैव सर्वत्र लिङ्गसं-
ख्यादेः पार्ष्टिकः प्रकृत्यर्थान्वय इत्यपि ध्येयम् ।

अतश्च सिद्धान्त इव पूर्वपक्षेऽपि श्रुतारुणापदे लक्षणाकार-
णाभावात् औत्तरकालिकं वाक्यभेदं द्रव्यादिवाचिपदाध्या-
हारं चाङ्गीकृत्य प्राकरणिकद्रव्यमात्रे निवेश इति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—न शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति योग्यताज्ञान-
स्य कारणत्वम् । तदभावेऽपि अयोग्यतानिश्चयाभावदशायां गृ-
हीतपदपदार्थसङ्गतिकस्य शब्दात् शाब्दबोधोदयात् । अन्यथा
यागस्यापि स्वर्गान्वयशाब्दानुदयेनापूर्वकल्पनाया एवानुपप-
त्तेः । किन्तु अयोग्यतानिश्चयः प्रतिबन्धकः । अतश्च प्रतिबन्ध-
काभावे सत्यारूप्यस्यापि क्रयभावनान्वयावगतौ पश्चाद्योग्यताग-
वेषणायां अमूर्तत्वेन साक्षादयोग्यत्वेऽपि द्रव्यपरिच्छेदरूपव्यापा-
रद्वारा करणत्वयोग्यतावधारणं नानुपपन्नम् ।

तथाहि—आरूप्यं क्रियान्वयात्पूर्वं द्रव्यान्वये कारक-
त्वव्याघातापत्तेः प्रथमतो द्रव्यपरिच्छेदाख्यव्यापारानवगमे-
ऽपि उक्तसामग्रीवशादेकहायनीक्रयसोमादिकारकान्तरवदेव
भावनायां संबध्यते । विशिष्टविधानाच्च न विधेयानेक-
त्वम् । पश्चाच्च क्रयस्य सोमनिरूपितकरणत्वबोधदशायां भाव-
नाप्रत्यासन्नत्वात् एकहायन्यादिवदेव मत्वर्थलक्षणया क्रये सम्ब-
ध्यते । न तु द्रव्ये ।

अत एव विशेषणविधिकाले तदङ्गत्वमेवारुण्यस्य । न तु
द्रव्याङ्गत्वम् । गुणस्य च द्रव्यपरिच्छेदरूपव्यापारमन्तरेण क्रियाक-
रणत्वानिर्वाहात् योग्यतया तस्मिन्नवगते द्रव्यविशेषापेक्षायां सा-
मानाधिकरण्यात् एकहायनीरूपद्रव्यविशेषप्रतीतिसिद्धिः । अपेक्षि-

तश्च द्रव्येणाप्यपरिच्छिन्नेन क्रियाजननायोगात् स्वपरिच्छेदार्थं गुणः

यत्रापि हि विशेष्यं पदद्वयमपि च निराकाङ्क्षं तत्राप्यन्यतराकाङ्क्षया इतराकाङ्क्षामुत्थाप्य गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तेरन्याय्यत्वात् अनावृत्तैकक्रियान्वयानुरोधेन वा द्वयोरप्याकाङ्क्षां परिकल्प्य परस्परसाहित्यात्मकः सम्बन्धः कल्प्यते । यथा- (१) “सोमाय पितृमते पुरोडाशं षट्कपालं” इत्यादौ, (२) “अग्नये शुचये” इत्यादौ च । तत्र किमु वक्तव्यं द्वयोरपि द्रव्यगुणयोः स्वत एव परस्परमाकाङ्क्षावत्त्वेनान्योन्यनियम इति ।

अत एव द्रव्यपदसामानाधिकरण्यमपि विशेषणतयैव । नत्वङ्गतया । तच्च क्रयं प्रत्येवेति । एवमेकवाक्यत्वसम्भवे न वाक्यभेदमङ्गीकृत्य अध्याहारादिना सर्वप्राकरणिकद्रव्याङ्गत्वकल्पनमुपपत्तिमत् । अतस्सिद्धं क्रयसाधनीभूतैकहायन्यामेवारुण्यस्य निवेश इति ।

ननु आरुण्यस्य एकहायन्यामेव निवेशः । वासःप्रभृतिषु क्रयद्रव्यान्तरेष्वपि निवेशोपपत्तेः । यन्मते हि तावत् क्रयैकत्वं तन्मते अपूर्वसाधनीभूतद्रव्यप्राप्त्यनुकूलव्यापारसाधनत्वाविशेषात् युक्त एव वासःप्रभृतिषु आरुण्यस्य निवेशः । उत्पत्तिशिष्टद्रव्यावरोधरूपात् गुणात् क्रयभेदाङ्गीकारेऽपि च द्रव्याणां धर्मिग्राहकप्रमाणेन स्वस्वभेदे क्रये व्यवस्थया निवेशेऽपि आरुण्यस्यापि विरुद्धधर्मान्तरवदेव निरुक्तप्रयोजकवशाद्वासःप्रभृतिषु निवेशो नानुपपन्नः ।

यद्यपि च विशिष्टविधित्वान्नात्रोद्देश्यस्य क्रयस्य वाक्यान्तरेणापूर्वसाधनत्वमवधारितं तथापि विशिष्टविधिवेलायामवधारितस्य तस्य विशेषणविधिवेलायां लक्षणोपपत्तिः ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १६७

एवं सत्यपि यदि क्रयाणां भिन्नकार्यत्वं स्यात् ततो न साङ्कर्यं भवेत् । एकसोमप्राप्त्यर्थत्वात् न तत् । समुच्चयस्तु “दशभिः क्रीणाती”ति वचनादविरुद्ध इति चेत्—

न, आरुण्यविशिष्टविजातीयक्रयविध्यन्यथानुपपत्तिबलेन कल्पितस्य विशेषणविधेः पार्ष्टिकान्वयस्य वाऽन्यूनान्तिरिक्तवृत्तित्वेनैव कल्पनीयत्वात् । अत एव विजातीयक्रयजन्यानतिविशेषस्य विजातीयक्रयत्वस्यैव वा विवक्षितत्वान्नातिप्रसङ्गः । अविरुद्धधर्मान्तराणां तु वाक्यान्तरीयत्वात् अवान्तरप्रकरणेन सर्वक्रयाङ्गत्वमिति विशेषः । अतश्च युक्तः आरुण्यस्य स्ववाक्योपात्तक्रयसाधनीभूतैकहायन्यां तत्स्थानापन्ने वा त्रिवत्से निवेशः । न तु वासःप्रभृतिषु क्रयान्तरद्रव्येषु । यद्यपि च त्रिवत्सः सर्वसोमक्रयानुवादेन विधीयमानस्तदीयसर्वद्रव्यस्थानापन्न इति(१) दशमे वक्ष्यते । तथापि एकहायनीस्थानापत्तेरपि तावत्सत्वात् “तस्यै शृतमि”तिवत् आरुण्यप्राप्तिरप्यस्मिन्नविरुद्धा ।

ननु—नारुण्यस्य निवेशस्तस्मिन् युक्तः । प्रकृतावेकहायनीद्वारकत्वस्य विवक्षितत्वात् । न हि तत्रैकहायनी उद्देश्या । येन तत्स्वरूपे आनर्थक्यमभिया अविवक्ष्येत । द्वारमात्रं तु सा । तृतीयया क्रयं प्रत्येवारुण्यस्य अङ्गत्वावसायात् ।

न च द्वारस्वरूपे आनर्थक्यं, प्रमाणाभावात् । अतश्च त्रिवत्से एकहायन्यभावात् नारुण्यप्राप्तिः । न च द्वाराभावेऽप्युद्देश्यसद्भावमात्रेण प्राप्तिः । अवघातस्यापि कृष्णलेषु तदापत्तेः । यद्यपि च नैकहायनी प्रकृतौ द्वारं, अपि तु गौः इत्युच्येत, तथापि अजादीनामपि त्रिवत्सराणां समुच्चयेन विकल्पेन वा प्राप्तेः

न त्रिवत्समात्रे आरुण्यविधिः सम्भवतीति चेत्—

न; द्वारस्यापि प्रकृतक्रियासाधनद्रव्यत्वेनैव तत्त्वात् । नत्वेकहायनीत्वेन अदृष्टार्थत्वापत्तेः । अत एव पुरोडाशाभावेऽपि यागाङ्गभूतव्रीहीणां चरुप्रकृतिकत्वमविरुद्धम् ।

किञ्च यत्र द्वारस्याप्यारुण्यस्य न तत्त्वेनावच्छेदकता, अपि तु प्रकृतक्रियासाधनगुणत्वेनैव । अत एव श्वेतादिगुणान्तरसाध्यक्रयस्थलेऽपि एकहायनीपरिच्छेदकत्वाविरोधः । तत्र किमु वक्तव्यं द्वारस्य तत्त्वेन द्वारतेति ।

यदपि चाजादीनामपि त्रिवत्सराणां क्रयान्तरसाधनीभूतानां सत्त्वात् न त्रिवत्समात्रे तत्प्राप्तिरिति, तदपि न । त्रिवत्सवाक्ये हि क्रियानुवादेन त्रिवत्सरत्वाद्यनेकगुणविधौ वाक्यभेदापत्तेः द्रव्यान्तरमेव त्रिवर्षत्वपुंस्त्वैकत्वविशिष्टं विधीयते ।

न च प्रतिक्रयं द्रव्यैकत्वस्य प्राप्तत्वात् न तद्वैशिष्ट्यविधिः । तथात्वे द्रव्यबहुत्वापत्तेः बहुषु बहुवचनमित्यनेन बहुवचनापत्तेः । नच किञ्चित् बाधकमस्ति । येन ग्रहं सम्प्राप्तीतिवत् बहुत्वलक्षणार्थं एकवचनमित्याश्रीयेत । प्रत्येकं प्राप्तस्यापि द्रव्यैकत्वस्य क्रयसमुदाये विधानोपपत्तेः ।

अतश्च यथैव (१)“एकादश प्रयाजान् यजति”(२)“चतुर्जुह्वान् गृह्णाति, प्रयाजेभ्यस्तत्” इत्यादौ प्रत्येकं नोद्देश्यता किन्तु विधेयसामर्थ्यानुरोधेन समुदितस्यैव । तथात्रापि क्रयसमुदाये द्रव्यैकत्वसिद्धिः । तत्र च यथा वर्षगतत्रित्वेन तद्वैकत्वस्य बाधः, यथा वा पुंस्त्वेन स्त्रीत्वहिण्यत्वादीनां, तथा एकत्वेन तद्वतानेकत्वस्यापि । परिशेषात्तु गोत्वाजात्वजात्योः विकल्पेन प्राप्तौ जातायां गौत्वस्य“गोमित्युनेन क्रीणाति, (३)एकहायन्या क्रीणाती”ति वा-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १६९

क्यद्वयविहितक्रयद्वयसाधनत्वात्(१) “भूयसां स्यात् सधर्मत्व”
मिति न्यायेनैकक्रयसाधनीभूताजात्वबाधकता । क्रयान्तराणां तु
अनयैव जात्या प्रसङ्गसिद्धिः ।

नचात्र क्रयाणां प्रयाजानूयाजवत् समुच्चयः । येन प्रस-
ङ्गाभावः शङ्क्येत । अपि तु प्राजापत्ययागवत् तन्त्रतारूपः ;
एकसोमप्राप्तिफलकव्यापाररूपाणां तेषां सकृदनुष्ठानोपपत्तेः ।

न च(२) “शुक्रं ते शुक्रेण क्लीणामी”ति करणमन्त्रभेदादावृत्तिः ।
तेषां मूल्यप्रतिश्रावणमात्रे करणत्वेन सोमप्राप्तिफलकव्यापाररूपे
क्रये करणत्वाभावात् । अत एव बौधायनकल्पे(३) “अथैनं गवा
पणते” इत्यादिना तेषां विनियोगः । तस्मात् त्रिवत्सेऽपि गोद्रव्य-
स्यैव सत्वाद्युक्तैव तन्मात्रे आरुण्यप्राप्तिः ।

वस्तुतस्तु तदभावेऽपि तत्प्राप्तिरुपपादितैव । अतस्सिद्धमा-
रुण्यस्य क्रय एव निवेश इति ॥

सूत्रप्रयोजने स्पष्टे ॥

॥ इति षष्ठमरुणाधिकरणम् ॥

अथ सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम् । (७)

सू-एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥३-१-१३॥(पू)

(विषयः)

ज्योतिष्टोमादिषु “दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि”, “(४)वस्य

१. पू. मी. १२-२-७.

२. तै. सं. १-२-५.

३. बोधा. श्रौ. ६-१४.

४. आप. श्रौ-९-१५-७. मैत्रा. सं. १-४-३.

“पुरोडाशौ क्षायतः,(१) “यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुः”(२)
“अग्नेस्तृणान्यपचिनोति” इत्यादि श्रुतम् ।

(संशयः)

तत्र किं सम्मार्गादौ द्वितीयाश्रुत्या विनियुज्यमाने प्रातिपदि-
कार्थस्य ग्रहत्वादेः, वचनाद्यर्थस्य चैकत्वादेः उद्देश्यतावच्छेद-
कता ? उत प्रातिपदिकार्थस्यैव सा ? एकत्वादेस्तु कथमपि वि-
ध्यन्वयासम्भवात् तदनन्वयित्वरूपाविवक्षाविषयत्वात् एक-
वचनादि प्रातिपदिकार्थगतसंख्यादिपरं सत् साधुत्वार्थमनुवाद
इति विचार्यते । यद्यपि च विवक्षितगत्या अपूर्वसाधनतावि-
शेषत्वस्यैव उद्देश्यतावच्छेदकत्वान्न ग्रहत्वादेस्तत्, तथापि
तल्लक्षणोपयोगिशक्यसम्बन्धघटकत्वात् तत्त्वेन व्यवहारोऽस्मिन्न-
धिकरणे ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गतिः पूर्ववत् । अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणोक्तस्य
पार्ष्टिकान्वयस्य गुणस्य स्ववाक्यगतक्रियासम्बन्धे वाक्यैकत्व-
स्य चापवादात् द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र ग्रहप्रातिपदिकस्य तावत् ग्रहत्वमर्थः, वचनस्य चैकत्वं
द्वितीयायाः कर्मत्वम् । तत्र च कर्मत्वे जातेस्साक्षादनन्वयात् त-
ल्लक्षितव्यक्तेः अन्वयः इत्यप्यविवादम् । व्यक्तेरपि च न शुद्धायाः
कर्मत्वान्वयः । अपि तु पदश्रुत्युपनीतैकत्वविशिष्टाया एव ।
अथोग्यत्वेन एकत्वस्य समानाभिधानश्रुत्या कर्मत्वं प्रति सा-
क्षादनन्वयात् “सत्वप्रधानानि नामानी” ति सत्वसमाख्याबलेन
प्रातिपदिकार्थं प्रत्येवान्वयाच्च ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७१

एवं यत्रापि(१) “यस्योभयं हविरि” त्यादौ संख्यावाचिभिन्नं पदं तत्रापि सामानाधिकरण्यात् गुणवचनपदवाच्योभयत्वं क्रियान्वयात् पूर्वमेव हविषा अन्वीयते । लिख्यते च समानाधिकरणानां पदानां षष्ठीवत् क्रियान्वयात् पूर्वमपि परस्परान्वयः तन्त्ररत्नादौ । अतश्चैकत्वादिविशिष्टग्रहत्वाद्यवाच्छिन्नस्यैव कर्मत्वाद्यन्वयात् सम्मार्गो यथैव ग्रहत्वानवच्छिन्ने चमसादौ नेष्टुः तथा एकत्वानवच्छिन्ने ग्रहेऽपि ।

न च कारकविशेषणस्य विधयनन्वयः । “लोहितोष्णीषा” इत्यादौ समासस्थले षष्ठीस्थले वा ज्ञतश्चस्तदङ्गीकारात् । न च विधेयत्वे विशेषणविधिमालाकल्पनया तदुपपत्तावपि उद्देश्यस्थले तदयोग इति वाच्यम् । तत्राप्युद्देश्यं प्रतीव तद्विशेषणं प्रत्यपि सम्मार्गविनियोगमालाकल्पनया तदुपपत्तेः ।

इष्यते च प्रोक्षणदेः अपूर्वसाधने विनियोगवत् अपूर्वेऽपि सः । अत एव विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदप्रवादोऽपि बीजाभावात् मुधैव । इष्यते च “अश्वविधानीमादत्ते” “यत्किञ्चित्सोमलिप्तं तेनावभृथं यन्ति” इत्यादौ अश्वसोमादिविशिष्टोद्देशः । तस्मात् एकत्वादिकमपि उद्देश्यताबच्छेदककोटिप्रविष्टम् ।

अथ वा अस्तु समानाभिधानश्रुत्या एकत्वादेः कारक एवाम्बयः । तथापि ग्रहत्वलक्षितव्यक्तेरिव एकत्वलक्षितव्यक्तेरपि कर्मत्वेन भावनान्वयात् सम्मार्गस्यापि पार्ष्टिको विनियोगविधियुक्तकल्पनयोद्देश्यद्वयसम्बन्धो नानुपपन्नः ।

न चैतावता वाक्यभेदः । विधेयानेकत्वे हि विधिकलस्याज्ञातज्ञापनरूपस्य एकविषयत्वस्वाभाव्यभङ्गापत्तेः युक्तो विधिवाक्यभेदः । उद्देश्यानेकत्वे तु तेषां श्रुतभावनायां अ-

न्वयात् विधेश्चैकविशिष्टभावनाविधायित्वेनानेकविधायित्वाभा-
वादार्थिकैश्च विधिभिः एकक्रयोद्देशेनानेकविशेषणविधिवत्
अनेकोद्देशेनैकसम्भार्गविषयानेकविनियोगविधिकल्पनसंभवात् न
युक्तो वाक्यभेदः । न च भावनाया एकास्मिन् वाक्ये
एकोद्देश्यतावच्छेदकवत्वनियमात् तदनेकत्वे वाक्यभेद
इति वाच्यम् । (१) “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यादौ पुत्र-
त्वपशुत्वाद्यनेकोद्देश्यतावच्छेदकदर्शनेन तदभावात् । न हि
तत्र सर्वत्वमेकमुद्देश्यतावच्छेदकम् । सर्वत्वमेकमुपलक्षणीकृत्य
तदादिवत् सर्वशब्दस्य पुत्रत्वपशुत्वादिनैव शक्तिग्रहात्
तत्प्रकारेणैव उद्देश्यतावगतेः । अन्यथा सर्वत्वेन रूपेण एक-
फलकत्वे (२)योगसिद्ध्यधिकरणविरोधापत्तेः ।

नचैवमपि एकत्वावच्छिन्नस्य विनियोगाभावात् कर्म-
त्वानुपपत्तिः । ग्रहकार्ये तदवच्छिन्नस्य विनियोगाभावेऽपि
“पशुना यजेते”त्यादौ तत्सत्त्वेन कर्मत्वोपपत्तेः ॥

वस्तुतस्तु नोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वरूपेणैव विनियोगः
संस्कार्यताप्रयोजकः । अपि तु तत्समानाधिकरणधर्मावच्छेदा-
दिनापि । पशुत्वेन विनियुक्तस्यापि लोहितादेः लोहितत्वादिना
निरसनसंस्कार्यत्वदर्शनात् । अतश्च बहुत्वावच्छेदेन विनियु-
क्तेष्वपि ग्रहेषु एकत्वावच्छेदेन संस्कार्यता न विरुध्यते ।

नचैवमपि ग्रहत्वावच्छिन्नैकत्वावच्छिन्नयोरुद्देश्ययोः स्वतो
निराकाङ्क्षयोः एकविधिविधेयप्रधानभूतैकक्रियावशीकारा-
भावात् कथं परस्परनियम इति वाच्यम् । वैकृताङ्गवत् गुण-
भूतक्रियानुरोधेन पदश्रुत्यवगतसम्बन्धानुरोधेन वा प्रधानयोर-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७३

प्याकाङ्क्षां परिकल्प्य तदुपपत्तेः । इष्यते च “आग्नेयं चतुर्धा करो-
ती”त्यादौ । यत्र भिन्नविधिविधेयगुणीभूतक्रियानुरोधेनापि
उद्देश्ययोरभेदान्वयः, तत्र एकविधिविधेयया शाब्दबोधे
मुख्यविशेष्यत्वेन प्रधानभूतया च क्रियया अन्वितयोः नाभे-
दान्वय इति साहसमात्रम् । प्रकृते तु अविवक्षाभयभीतेन
धर्मिणा आनर्थक्यप्रतिहतन्यायेनाप्याकाङ्क्षोत्थापनं नासुलभम् ।
तस्मादुद्देश्यानेकत्वेऽपि न काचित् क्षतिः ।

अस्तु वा एकग्रहत्वाद्यवच्छिन्नवृत्त्येकत्वमेव व्यासक्तमख-
ण्डोपाधिरूपं कर्मत्वं द्वितीयोच्यते । तेन च प्रधानभूतेन
स्वाश्रययोः वशीकारोपपत्तिः ।

अथवा प्रातिपदिकैकवचनाभ्यां (१) “अर्धमन्तर्वेदि मि-
नोती”तिवत् एकत्वविशिष्टग्रहं लक्षयित्वा तस्य कर्मत्वान्वयान्न
वाक्यभेदः । वरं ह्यविवक्षातो लक्षणाश्रयणम् ।

अस्तु वा वाक्यभेदोऽपि । तथापि तस्य वाक्यदोषत्वात्,
वाक्यस्य च पदार्थोपस्थितिसापेक्षत्वेन तदुपजीवित्वात् उप-
जीव्यपदार्थाविवक्षानुपपत्तेः तदङ्गीकारो युक्त एव ।

किञ्च मास्तु उद्देश्यतावच्छेदकत्वमेकत्वस्य, तथापि अवि-
वक्षायां प्रमाणाभावः । गुणत्वेन सम्मार्गं प्रति अन्वयोपपत्तेः ।
एकत्वविशिष्टसम्मार्गविधानाच्चावाक्यभेदः स्पष्ट एव ।

नचैवमेकत्वांशे द्वितीयया करणत्वलक्षणात् ग्रहांशे च प्रा-
धान्याभिधानात् युगपद्बुद्धिद्वयविरोधः, वैरूप्यं च द्वितीयायामिति
वाच्यम् । द्वितीयाया ईप्सितानीप्सितसाधारणकर्मत्वमात्रवाचि-
त्वेन योग्यतया एकत्रेप्सितत्वमपरत्रानीप्सितत्वमिति विशेषा-

वगमेऽपि शाब्दबोधे शक्त्युपात्तकर्मत्वेनैव उभयोरन्वये बाध-
काभावात् ।

इष्यते च स्विकृदादौ उद्देश्यांशस्य अनूयाजदेवतांशे
उपयोक्ष्यमाणसंस्कारार्थत्वमन्त्रोपयुक्तसंस्कारार्थत्वमिति वि-
शेषसत्त्वेऽपि प्रकृतापूर्वसाधनीभूतदेवतासंस्कारार्थत्वेनानुगमात्
अत्रैरूप्यं तद्विद्वियोगविधौ । न ह्ययं संमृजिरकर्मकः ; येन सक्तवत्
करणत्वलक्षणा आपाद्येत । अतश्च कर्मत्वेनान्वितस्य एकत्वस्य
प्रयोजनाकाङ्क्षायां सम्मार्गाङ्गत्वमपि आर्थिकेन विधिना नैव
विरुध्यते । यत्र तु संख्यावाचि पृथक् पदश्रवणं तत्र न वैरूप्यगन्धो-
ऽपीति गुणत्वपक्षो निराबाधः ।

नचैवमपि सम्मार्गाङ्गभूतस्य एकत्वस्य तदनङ्गभूतग्रहद्वार-
रक्तत्वासंभवः । श्रपणानङ्गभूतयोरपि इज्यार्थयोः दधिपयसोः
श्रपणोपकारकतामात्रेण श्रपणसाधनप्रणीताधर्मद्वारत्ववत् स-
म्मार्गानङ्गस्यापि ग्रहस्य विषयतया सम्मार्गोपकारकत्वात् तदीय-
द्वारत्वोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु नोपकारकताप्यङ्गत्वप्रयोज्यत्वादिवत् द्वारत्व-
प्रयोजिका । तदभावेऽपि दर्शपूर्णमाससम्बन्धितामात्रेण स्वर्गस्य
दर्शपूर्णमासाङ्गभूते अगन्मेति मन्त्रे द्वारत्वदर्शनात् । अतः
क्रियासम्बन्धितायाः ग्रहेऽपि सत्त्वात् युक्तमेव द्वारत्वमिति
नाविवक्षितमेकत्वम् । यदि चैवं नेष्यते तदा “अष्टवर्षं ब्राह्मण-
मुपनयीत” (१) “अग्नीनन्वादधाति” इत्यादिष्वपि विशेषणा-
विवक्षा प्रसज्यते ।

अस्तु वा उद्देश्यविशेषणस्थले कथंचिदविवक्षा । अनूद्य-
मानोपादेयगतविशेषणस्थले तु न किञ्चिदविवक्षायां कारणं

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७५

पश्यामः । तथा हि—

(१)“सत्रादुदवसाय पृष्ठशमनीयेन यजेरन्नि”त्यत्र क्त्वा-
प्रत्ययबलादेव उदवसानसमानकर्तृबहुत्वलाभात् क्रियावि-
शेषणमात्रविधायिन्याख्याते कर्तृगतबहुत्वसाहित्याद्यविवक्षा
(२)दशमे वक्ष्यते । तत्र बहुत्वं तावत् अनूद्यमानत्वात्
इन्द्रियकामहोमवद्भवत्वविवक्षितम् । कर्तृसाहित्यस्य तु निमित्तभू-
ते उदवसाने अविवक्षितस्य क्रियायामप्राप्तत्वेन स्वतोऽनूद्यमान-
त्वाभावात् अनूद्यमानकर्तृगतत्वेनैव अविवक्षा वाच्या । न च
तत्र बीजं पश्यामः । उद्देश्यत्वाभावेन तदनेकत्वनिमि-
त्तकवाक्यभेदाभावात् । उभयोरुपादेयत्वेन न गुणत्वपक्षोक्तं वैरू-
प्यमपि । अनूद्यमानस्य कर्तुः नैराकाङ्क्ष्यमात्रं तु आकाङ्क्षो-
त्थापनेनैव निरस्तम् । विध्यनुवादत्वकृतवैरूप्यं तु प्राप्ताप्राप्तविवेक-
न्यायेनापाद्यमानं पृष्ठशमनीय इव नाविवक्षाप्रयोजकम् ।

तस्मात् श्रुतस्यैवंजातीयकस्य पश्चेकत्ववत् विधिश्रुत्या संयो-
गादविवक्षानुपपत्तेः एकत्वयुक्तमेव ग्रहादि संमार्गादिसंस्कार-
युक्तं कर्तव्यमिति सूत्रार्थः ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

(अथ सिद्धान्तः)

सू—सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि

लक्षणम् ॥ ३-१-१४ । (सि)

नैतदेकत्वादि विवक्षितम् । विध्यन्वयासम्भवात् । तथाहि—

स हि किमुद्देश्यत्वेन, (१)विधेयत्वेन वा ? । आद्येऽपि किं विशिष्टोद्देशेन, स्वतन्त्रोद्देशेन वा ? । न तावदाद्यः कल्पः । क्रियान्वयात्पूर्वं परस्परवैशिष्ट्यस्याव्युत्पन्नत्वात् । तथा हि—यत्र तावत् भिन्नपदोपात्तता तत्र प्रातिपदिकार्थस्य द्विविष्टोभयत्वरूपस्य स्वस्वप्रत्ययार्थे अन्वयात् तस्य च लिङ्गसंख्याव्यतिरिक्तसुवर्धप्रकारकशाब्दबोधत्वाच्चिच्छिन्नं प्रति भावानाविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणमिति कारकसाधारणव्युत्पत्त्या प्रधानभूतातिगमनादिरूपप्रत्ययार्थं प्रत्येवान्वयावगतेः परस्परान्वयोऽव्युत्पन्न एव । तन्त्ररत्नाद्युक्तिस्तु अनादरादेव द्रष्टव्या । अन्यथा “पञ्चदशान्याज्यानी” त्यत्रान्वयासम्भवोक्तिर्विरुध्येत । एकपदे वचनाद्युक्तसंख्यान्वयस्तु समानाभिधानश्रुत्या कारक एवेति (२)पञ्चैकत्वाधिकरणे वक्ष्यत इति तस्यापि प्रातिपदिकार्थान्वयोऽव्युत्पन्न एव ।

अत एव यत्र कृदन्तस्थले कारकातिरिक्तसम्बन्धेन, समासस्थले, प्राचीनमते षष्ठीस्थले वा क्रियान्वयात् पूर्वमपि परस्परान्वयो व्युत्पन्नः तत्र भवत्येव विशिष्टोद्देशः । यथा —‘सोमलिप्तं’ ‘अश्वाभिधानी’ ‘उत्तरेऽहन् द्विरात्रस्य’ इत्यादौ । यदि तु पूर्वोक्तव्युत्पत्त्यनुसारेण षष्ठीस्थलेऽपि क्रियान्वय एवाङ्गीक्रियते तदा तत्रापि नैव विशिष्टोद्देशः । उत्तरेऽहन् इत्यादौ तु द्विरात्रोद्देशेनैव षोडशग्रहणनियमविधिः । उत्तरेऽहन्निति तु तस्यैवातिरात्रसंस्थाकत्वेन विधेयनियमविषयतया प्राप्तत्वात् अनुवाद इत्यादिपरिहारास्तत्र तत्र उपपादयिष्यामः ।

अतश्च क्रियान्वयात्प्राक् परस्परवैशिष्ट्याभ्युपगमेऽव्युत्प-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७७

त्तिनिबन्धनवाक्यभेदापत्तेः न तावत् ग्रहत्वविशिष्टैकत्वस्य एक-
त्वविशिष्टग्रहस्य वा उद्देश्यत्वम् ।

न द्वितीयः । एकत्वग्रहत्वयोः एकत्वावच्छिन्नग्रहत्वावच्छि-
न्नव्यक्तयोर्वा प्रत्येकं कर्मत्वे भावनायाः एककर्मककरोतिपर्या-
यत्वेन प्रतीतिबलाच्च एककर्मकत्वावगतेः तद्भङ्गापत्तिलक्षणवा-
क्यभेदप्रसङ्गात् । उपपादितं चैतदस्माभिः (१)स्सम्मार्गाधिक-
रणे, (२)रेवस्यधिकरणे च ।

एककर्मकत्वं च एकबोधजनकीभूतयावद्भूतिविषयकर्मकत्वम् ।
अतश्च सत्यामपि सर्वशब्दस्य पुत्रत्वपशुत्वादिना प्रत्येकशक्तौ,
सत्यपि च “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” त्रित्यादौ तत्तदुद्देश्यतावच्छे-
दकनानात्वे सर्वशब्देन तत्तच्छक्तिभिः सर्वेषां फलानां युगपत्
बोधात् एककर्मकत्वोपपत्तिः ।

नचैवमेककर्मत्वभङ्गभयेन अनेकोद्देश्यतानङ्गीकारे फल-
संस्कार्यस्थले तदापत्तावपि निमित्तस्थले तदभावात् किमिति
नानेकोद्देश्यताङ्गीकारः । तत्रापि निमित्तयोः भेदेनानुष्ठापकत्वात्
भेदेनैव भाव्याक्षेपकत्वापत्तेः निमित्तानेकत्वे तदाक्षिप्तभा-
व्यरूपकर्मनेकत्वप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । न च तत्र सहितयो-
रेव निमित्तत्वाङ्गीकारात् नोक्तदोषापत्तिरिति वाच्यम् । सा-
हित्यस्यापि पक्षकोटिप्रविष्टत्वेन पूर्ववदेव निमित्तविशेषणत्वानुप-
पत्तावर्थात् स्वातन्त्र्येण निमित्तत्वाङ्गीकारापत्तेः, तयोस्तस्य च
भेदेनैव कर्माक्षेपकत्वप्रसङ्गात् ।

न च त्रयाणामपि तेषां चतुर्धाकरणवत् पार्ष्टिकपर-
स्परनियमोपपत्तेः एकभाव्याक्षेपकत्वोपपत्तिः । पार्ष्टिकान्वयस्य
क्रियान्वयोत्तरकालीनत्वात् तस्याश्च भाव्यान्वयं विना अविधेय-

त्वात् तत्तन्निमित्तेन तत्तद्भाष्याक्षेपावश्यम्भावात् सत्यपि भाष्या-
नां पार्ष्टिकान्वयेन परस्परैक्ये एकबोधजनकयावद्भूतिविषयकर्मक-
त्वरूपैककर्मकत्वभङ्गस्य तदवस्थत्वात् ।

नच यत्र पुरोडाशावित्यादौ द्विवचनादिना साहित्यप्रतीतिः
तत्र तस्य भवतु नाम संख्यादिसमानयोगक्षेपता । यत्र तु 'स-
र्वस्मै वा' इत्यादौ प्रातिपदिकादेव साहित्यप्रतीतिः तत्र तस्य प्रा-
तिपदिकार्थवदेव युगपत् बोधोपपत्तेः तदभावेऽपि वा समा-
सवत् साहित्यस्य प्रातिपदिकार्थ एवान्वयाङ्गीकारेण विशिष्टो-
द्देशोपपत्तेः कथं संख्यातुल्यत्वमिति वाच्यम् । सर्वत्र प्रातिपदिके-
न स्ववाच्यबोधजननोत्तरं साहित्यस्य लक्षणया बोधजननात्
युगपत् बोधानुपपत्तेः पश्चात्प्रतीयमानस्यापि अममस्तप्रातिपदि-
कार्थत्वात् प्रधानान्वयस्याभ्यर्हितत्वाच्च शक्यार्थवत् कार-
कान्वयस्यैव व्युत्पत्तेः समासवत् विशिष्टोद्देशायोगाच्च ।

अत एव "सर्वैभ्यो दर्शपूर्णमासा"वित्यादौ फलानेकत्वकृता-
नेकोद्देश्यताभावेऽपि साहित्यकृतानेकोद्देश्यतासत्त्वात् तदविवक्षा
नानुपपन्ना । अतश्च भेदेनैव निमित्तयोः भाष्याक्षेपकत्वात् तदने-
कत्वेऽपि फलसंस्कार्ययोरिव एककर्मकत्वभङ्गापत्तिरूपो वाक्यभेद-
स्तदवस्थ एव । एतदाशय एव च मूले उद्देश्यानेकत्वे प्रत्युद्देश्यं
वाक्यपरिसमाप्तिरूपो वाक्यभेद इति व्यवहारः ।

अत एव(१) "अमावास्यायामपराल्ले" इत्यादौ कालदेशाद्य-
नेकोद्देश्यकत्वेऽपि कर्मनानात्वानाक्षेपकत्वात् न वाक्यभेदः ।
तयोः अनुवादस्थले परं निमित्तत्वाद्यापत्तेः अनेकोद्देश्यतेति
विशेषः । अत एव च फलनिमित्तस्थले संस्कार्यनिमित्तस्थले
वा सत्यप्यनेकोद्देशे कारकान्तरानाक्षेपकत्वात् न वाक्यभेदः ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७९

तस्मात् नैकत्वस्य स्वातन्त्र्येणाप्युद्देश्यतेति सिद्धम् ।

यदपि च एकत्वग्रहत्वाद्यवच्छिन्नवृत्तिव्यासक्तमेव कर्म-
त्वं द्वितीयार्थं इति एककर्मत्वोपपत्तिरित्युक्तम् तत् क्रियाज-
न्यफलाश्रयत्वरूपस्य कर्मत्वस्याश्रयभेदे ऐक्यानुपपत्तेः देव-
तात्वकर्तृत्ववदखण्डोपाधिरूपस्य च तस्य साहित्यानव-
च्छिन्नेषु धर्मिष्वनुपपत्तेः उपेक्षितम् । तथा हि--

तत्र व्यासज्यवृत्तिधर्मकल्पना, यत्र धर्मिणोः साहित्यविशिष्ट-
योः तन्त्रान्वयो व्युत्पत्तिसिद्धः। यथा—‘अग्नीषोमीय’मित्यत्र(१) द्वं-
द्वावगतपरस्परसाहित्ययोरग्नीषोमयोर्देवतात्वे । प्रकृते तु एक-
त्वग्रहत्वयोः तदवच्छिन्नव्यक्तयोर्वा सत्यपि पदश्रुत्या पार्ष्णिके सा-
हित्यावगमे प्रथमतः प्रत्येकमेव कर्मत्वावगमात् न तद्व्यासज्यवृत्ति-
त्वकल्पनावसरः । अत एव यत्र “हिरण्यशकलैः प्रोक्षति”
“(२)अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं” इत्यादौ बहूनां
प्रातिपदिकार्थानां पश्चान्निरूढलक्षणया साहित्यावगमेऽपि
प्रथमतः प्रत्येकमेव विभक्त्यर्थान्द्वयान्न व्यासज्यवृत्तिकरणत्वदेव-
तात्वकल्पनेति ध्येयम् ।

न च दम्पत्योस्साहित्यानवगमेऽपि कर्तृत्वस्य व्यासक्तत्वा-
ङ्गीकारान्नायं त्रियम् इति वाच्यम् । तयोरपि “धर्मे चार्थे
च कामे च नातिचरितव्ये” ति वचनेन कर्तव्यमात्रे साहि-
त्यावगमात् “स्वर्गकामो यजेते” ति कर्तृत्ववृत्त्येकत्वबलेन
तस्य व्यासक्तत्वाङ्गीकाराच्च । न हि तद्वदिह कर्मत्ववृत्त्येकत्वम् ।
अपि तु कर्मत्वान्वितमपि तदाश्रयवृत्ति, पदश्रुत्या एकत्वाश्रयस्य
पार्ष्णिकप्रातिपदिकार्थभेदप्रातिपादनात् । यजेतेत्यादिषु तु संख्या-
याः कर्तृत्वाद्याश्रितत्वमेव, न तु शाब्दतदाश्रयवृत्तित्वमित्यु-

पपादितं (१)भावनानिरूपणे । अतश्चानेकग्रहवृत्तिकर्मत्वमेकत्व-
बलेन कर्तृत्ववत् व्यासक्तमित्यनाशङ्कनीयम् ।

यद्यपि चास्मिन् पक्षे सिद्धान्तबिमतः अनेकग्रहसम्मार्गः
सिद्ध्यत्येव, तथापि एकत्वस्य यजेतेत्येकत्ववत् विवक्षाप्रस-
ङ्गात् अयं पक्षो निरस्तः ।

ननु-मास्त्वेनेकेषु ग्रहेषु व्यासक्तमेकं कर्मत्वम्, एकत्वाव-
च्छिन्नग्रहत्वावच्छिन्नव्यक्तयोर्वा तत्, तथापि यथैव “पशुना
यजेते” त्यादौ तृतीयोपात्ते करणत्वे एकस्मिन्नेव साक्षात् स
म्बन्धेन पश्वन्वयः, परम्परासम्बन्धेन तु पशुनिष्ठे करणे एक-
त्वान्वय इति न वस्तुतः करणभेदः, तथा प्रकृतेऽपि द्विती-
योपात्ते कर्मत्वे आश्रयतया ग्रहान्वयः परम्परासम्बन्धेन च
तस्मिन्नेव चैकत्वान्वय इति वस्तुतः कर्मकारकभेदाभावात् न
एककर्मकत्वभङ्ग इति वाक्यभेदाभावेन एकत्वविवक्षा दुर्वारैव ।
न ह्यत्र ग्रहस्य परिच्छेदकानाकाङ्क्षत्वात् न तत्कर्मत्वे परम्परास-
म्बन्धेन एकत्वान्वय इत्यादि कुशकाशावलम्बनं शङ्कितुं शक्यम् ।
(२)आकाङ्क्षाभावे वैकृताङ्गवत् अकाङ्क्षोत्पादनसंभवेन तस्याकिञ्चि-
त्करत्वादिति चेत्-

न ; एकत्वावच्छिन्नस्य साक्षात्सम्बन्धेनान्वयो ग्रहत्वस्य
परम्परया इत्यपि संभवेन ग्रहत्वावच्छिन्नस्य साक्षात्सम्बन्धेनैवा-
न्वयः एकत्वस्य परम्परयैवेत्यत्र नियामकाभावात् ।

अतश्च विनिगमनाविरहात् सर्वत्र द्वितीयादिस्थले ग्रहत्वैक-
त्वाद्यवच्छिन्नव्यक्तयोरेव कर्मत्वान्वयः । तृतीयादिस्थले च पशुत्वैक-
त्वयोरेव परम्परया करणत्वान्वय इति न दृष्टान्तेऽपि भवदुक्तप्रका-
रसिद्धिः । उपपादितं चैत(३)दाकृत्यधिकरणे । एवं च यत्रापि

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १८१

द्रव्यवाच्येव प्रातिपदिकं, तत्रापि क्लृप्तव्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः न संख्यायां भवदुक्तप्रकाराङ्गीकरणमिति ध्येयम् । तेनैकत्वावच्छिन्नग्रहत्वावच्छिन्नव्यक्त्योः सत्यपि पाठिके परस्परैक्ये प्रथमतः प्रत्येकमेव कर्मत्वान्वयात् सिद्धा तदनेकता ।

नचैवमपि वस्तुतः कर्मत्वस्यैकत्वात् सत्यपि वा तत्तदवच्छेदकावच्छिन्नवृत्तित्ववैशिष्ट्यरूपेण भेदे एकया द्वितीयया युगपत् बोधात् नैककर्मकत्वभङ्ग इति वाच्यम् । सत्यपि कर्मत्वैक्ये तद्बोधैक्ये वा कर्मत्वपर्याप्त्यधिकरणानामनेकबोधविषयत्वेन तद्भङ्गावश्यम्भावात् । अत एवैकबोधजनकयावद्वृत्तिविषयकर्मत्वपर्याप्त्यधिकरणतावच्छेदकधर्मत्वं एककर्मकत्वं विवक्षितम् । अत एव च यत्रा “ध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छत” इत्यादौ द्वन्द्वोपात्तोद्देश्यस्थले द्वन्द्वावगतमाहित्यविशिष्टानां अवैयग्यसंपादकवाग्यमकर्मत्वान्वयात् देवतात्ववत् व्यासज्यवृत्तिकर्मत्वावगतेः सत्यपि तदाधिकरणानां भेदेन बोधे तेषां पर्याप्तिसम्बन्धेन कर्मत्वाधिकरणत्वाभावात् न एककर्मकत्वभङ्ग इति न तत्रानेकोद्देश्यता ।

नचैवं सति तत्र समासोपात्तसाहित्यस्य विवक्षापत्तेः अन्यतरपदार्थबाधे अन्यतरवाग्यमानुपपत्तिः । साहित्यावशिष्टयोः अध्वर्युयजमानयोरुद्देश्यत्वेऽपि स्वरूपे आनर्थक्यात् अपूर्वसाधनत्वलक्षणायां प्रत्येकवृत्त्यपूर्वसाधनत्वस्यैव लक्षणीयत्वेन तदनापत्तेः । यदि हि अध्वर्युयजमानयोस्साहितयोरेककार्यजनकत्वं भवेत् ततस्तथैव लक्षणात् स्यात् भवदुक्तानुपपत्तिः । नत्वेतदस्ति । अतस्समस्तेन प्रातिपदिकेन प्रत्येकवृत्त्यपूर्वसाधनत्वस्यैव लक्षणात् अविवक्षाफललाभेऽपि विवक्षाङ्गीकरणं वाक्यभेदपारिहारार्थं न विरुध्यते । प्रकृते तु व्यासज्यवृत्तित्वा-

(१)भावात् युक्तो वाक्यभेद इत्युक्तमेव ।

यदपि प्रातिपदिकैकवचनाभ्यां विशिष्टलक्षणादवाक्यभेद इत्युक्तम् , तदप्येकवचनानुरोधेन प्रातिपदिकेऽपि लक्षणायां प्रमाणाभावात् एकवचनस्यैव प्रत्येकग्रहसम्मार्गे प्रत्येकवृत्तितया शक्यार्थप्राप्तिमङ्गीकृत्य प्रातिपदिकार्थगतसंख्यामात्रलक्षकस्य साधुत्वाद्यर्थं प्रयोगोपपत्तेरुपेक्षितम् ।

नह्यत्रा (२)“ध्रमन्तर्भेदि मिनोती” तिवत् एकार्थस्य विवक्षायां इतरार्थस्य अप्राप्तिरस्ति । अतएवैकं पदं तात्पर्यग्राहकं इतरद्विशिष्टार्थलक्षकमित्यप्यपास्तम् । विनिगमनाविरहाच्च तात्पर्यग्राहकस्यापि पृथक् स्वार्थबोधपरित्यागेनाविवक्षातुल्यत्वाच्च ।

अतश्च एकवचनेन विशिष्टार्थलक्षणाङ्गीकारेऽपि मुख्येन प्रातिपदिकेन तात्पर्यग्राहकत्वाङ्गीकारात् न विवक्षितार्थसिद्धिः ।

यदपि च वाक्यभेदस्य वाक्यदोषत्वात् न तदनुरोधेन वाक्योपजीव्यपदार्थाविवक्षा युक्तेत्युक्तं, तदपि वाक्यस्य साधुत्वाद्यर्थकैकवचनोपजीवित्वेऽपि अविवक्षाविषयीभूतैकत्वानुपजीवित्वात् वाक्यार्थस्यापि विवक्षितैकत्वाद्यटितत्वेन तदनुपजीवित्वादुपेक्षितम् ।

तस्मात् न तावदुद्देश्यत्वेन एकत्वविवक्षा ।

नापि गुणत्वेन दशापवित्रवत् । तथा सति गुणभूतप्रातिपदिकानुरोधेन ‘उभयं’ ‘ग्रह’मित्यादौ द्वितीयादिप्रत्ययेन करणत्वलक्षणापत्तेः, तद्वरमनुवादके तस्मिन्नेव सा ! “सक्तून् जुहोती” त्यत्र तु सक्तूनामभासत्वात् अगत्या प्रत्यये लक्षणाश्रयणम् । ग्रहमित्याद्येकपदे ग्रहांशे कर्मत्वाभिधाने तु युगपद्वृत्तिद्वयविरोधः, वैकल्प्यं च ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १८३

नचेप्सितानीप्सितसाधारणकर्मत्वमात्राभिधानात् नोक्त-
दोषप्रसङ्गः । तथात्वे निरुक्तैककर्मकत्वभङ्गप्रसङ्गेन वाक्यभेदापत्तेः ।
अत एव हि सक्तुषु लक्षणा आश्रिता । न तु जुहोतेरकर्मक-
त्वात् तन्त्ररत्नाद्युक्तात् । (१) “तृतीया च होश्छन्दसी”त्यादिना
तस्य सकर्मकत्वावगतेः ।

अतश्च गुणत्वसिद्ध्यर्थं लक्षणाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ
एवेति सिद्धम् ।

यत्तु ‘अष्टवर्ष’मित्यादावपि विशेषणाविवक्षा प्रसज्येतेत्युक्तं;
तन्न । यत्र हि संस्कारविधिव्यतिरेकेण विनियोगानवगमः अपि तु त-
दन्यथानुपपत्त्यैव विनियोगकल्पनं, श्रूयमाणो वा विधिः तदपेक्षः;
यथा तत्रैव ‘सोधीयीत’ इत्यादिः, तत्र कार्यं प्रति तावत् उपादेयत्वो-
पपत्तेः न विशेषणाविवक्षा । न च प्रथमतस्संस्कारान्वये तदविव-
क्षायां पश्चात्तत्कल्प्ये कार्यान्वये सुतरामविवक्षापत्तिः । प्राथमिक-
संस्कारान्वयेऽपि अप्राप्तत्वेनानुवादायोगात् “अर्धमन्तर्वेदि मिनो-
ती”तिवत् वाक्ये विशिष्टलक्षणामङ्गीकृत्य तस्यैकस्यैव कर्मत्वेना-
न्वयाङ्गीकारात् विवक्षोपपत्तेः । यत्र हि ग्रहमित्यादौ द्वयोरपि
प्राप्तिसंभवः एकवचनस्यैव च प्रातिपदिकार्थगतसंख्यालक्षकत्वे
(२)पाशन्यायादिरूपनियामकास्तित्वात् तत्र नोभयत्र लक्षणा ।
प्रकृते तु द्वयोरप्राप्तत्वात् तदङ्गीकारे न काचित् क्षतिः ।

नन्वेवमपि(३) “अग्नीनन्वादधाती”त्यत्र नाग्निसाहित्यविव-
क्षापत्तिः । तत्र (४) “यदाहवनीये जुहोती” त्यादिवचनैः प्रत्येकं
विनियोगस्य पूर्वमवगमात् । यद्यपि च तत्र आहवनीयादिपदवा-
च्यविशेषो न निर्धारितः तथापि तादृशस्यैव विनियोगेऽवगते
तद्विशेषजिज्ञासायां(५) “नक्तं गार्हपत्यमादधाती” त्यादिवाक्यैः

१. पा. सू० २-३-३. २. पू.मी. ९-३-४. ३. आप. श्रौ. १-१
४. तै.ब्रा-१-१-१० ५. तै.ब्रा-१-१-४.

प्रत्येकमेवाधानजन्यादृष्टविशिष्टाग्निवाचित्वे आहवनीयादिपदानामवगते उत्पत्तिवाक्यस्थाग्निशब्दस्यापि प्रत्येकमेव तल्लक्षकत्वावसायात् आधानस्यापि (१)योगसिध्यधिकरणन्यायेन प्रत्येकमेवोत्पादकत्वोपपत्तिः । अतश्चाग्निपदेन युगपदधिधानावगममपि साहित्यं नान्तरीयकत्वेन सर्वेभ्य इतिवत् अनुवादादविवक्षितं स्यादिति चेत्—

न, उद्देश्यमर्यादया साहित्याविवक्षायामपि उत्पादकाधानमर्यादयां तद्विवक्षोपपत्तेः । आधानाङ्गतया आयतनेषु संभारान्निरूप्य तेष्वग्नीनादधातीत्यनेन विधीयमाने संभारनिवपने उपादीयमानायतनसाहित्यतद्बहुत्वयोः विवक्षितत्वाच्चदनुरोधेन आधानस्यापि समुच्चित्य सर्वाङ्ग्युत्पादकत्वावगतेः । अतश्च तदनुरोधेनाग्नीनित्युत्पत्तिवाक्येऽपि विशिष्टलक्षणया एककर्मत्वनिर्वाहात् साहित्यविवक्षोपपत्तिः । तस्मात् सिद्धं यत्र पदद्वयेऽपि लक्षणातात्पर्यग्राहकप्रमाणाभावः तत्र प्राप्तोद्देश्यविशेषणस्य संभवत्प्राप्तिकस्य चाविवक्षेति ।

अत एव यत्रोपादेयमपि प्राप्तं तत्र तद्विशेषणस्यापि संभवत्प्राप्तिकस्याविवक्षा । यथा “सत्रादुदवसाये”त्यादौ कर्तृत्वसाहित्यादेः । अन्यथा प्राप्तकर्तृत्वानुवादेन साहित्यविधिः निमित्ते पृष्ठशमनीयविधिश्चेति वाक्यभेदापत्तेः ।

एवं सत्यपि यदि साहित्यमसंभवत्प्राप्तिकं स्यात् ततो भवेत् विशिष्टविधिसन्दृष्टन्यायेन कथञ्चित् विशिष्टविधिगौरवापादकत्वमपि कर्तृत्वविधिमङ्गीकृत्य तत्साहित्यविवक्षा । तत्तु एकपदोपादानेन नान्तरीयकतया प्राप्तमनुवदिष्यत इति न विवक्षितम् । अतस्सिद्धं प्राप्तविशेषणं संभवत्प्राप्तिकं चाविवक्षितमिति । प्रा-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १८५

सं हि ग्रहे प्रत्येकं संमृज्यमाने एकत्वम् ; पुरोडाशयोश्च द्वयोरेव प्रकरणे सत्त्वात् द्वित्वम् । एवं हविषामपि बहुत्वसर्वत्वादि । अतस्तद्वाचकपदैः लक्षणया प्रातिपदिकार्थगतसंख्यादि साधुत्वाद्यर्थमनूद्यते । अतएव यत्र पृथक्पदश्रवणं तत्र साधुत्वादि-प्रयोजनासंभवात् विशिष्टलक्षणया विवक्षामाशंक्य निराकरिष्यते (१)हविरुभयत्वाधिकरणे । “अग्नेस्तृणान्यपचिनोती”त्यत्र अपचयस्य द्वितीयया उपयुक्तपरिस्तरण(२)तृणप्रतिपत्तित्वावगमात् तद्गतं तावत् बहुत्वं न विवक्षितमिति न (३)कपिञ्जलाधिकरणन्यायादरः । अग्नेस्तु अपादानत्वेन गुणत्वेऽपि प्रतिपाद्यतृणानुरोधेन प्रत्येकैकत्वानुवादावगतेः न विवक्षितविशेषणत्वम् ।

यत्तु वार्त्तिके अपचयस्य अग्निमात्रसंस्कारार्थत्वमभ्युपगम्य उभयत्र विशेषणाविवक्षेत्युक्तं, तद्विनियोगभङ्गे प्रमाणाभावादाविवक्षोपपादनस्य दुर्घटत्वाच्चोपेक्षितम् । सूत्रे लक्षणत्वात् उद्देश्यत्वादिसर्थः ॥

सू-चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥३-१-१५॥

“पशुना यजेते”त्यादौ तु उपादेयत्वात् पश्वेकत्वाधिकरणन्यायेन(४) विवक्षितेति विशेषः ।

इति सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम् ॥



१. पू. मी. ६-४-६.

२. तृणेति क्वचिन्नास्ति ।

३. पू. मी. ११-१-६.

४. विवक्षेति पाठान्तरम् ।

अथाष्टमं चमसाधिकरणम् । (८)

सू-संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥३-१-१६॥(पू.)

एकत्ववत् ग्रहत्वस्यापि किमुद्देश्यतावच्छेदकतास्ति ? उत
नेति विचार्यते । तत्र सम्मार्ष्टीत्येतावन्मात्रेणैव योग्यतावलेन
सोमावसेकनिर्हरणप्रयोजकत्वावगतेः सम्मार्गस्य प्रयोजनाना-
काङ्क्षत्वात् सत्यपि पदमात्रस्याप्रमाणत्वेनोद्देश्यबोधकपदसा-
काङ्क्षत्वे ग्रहपदेनैव लक्षणया सोमपात्रमात्रोद्देशात् ग्रहत्वमविवक्षि-
तम् । यद्यपि च ग्रहत्वं विवक्षितम् तथापि तल्लक्षितापूर्वसाधन-
त्वस्याविशेषात् चमसेष्वपि सम्मार्गस्स्यादेव । अभ्यासानामा-
र्थिकत्वे तदपूर्वाणामविधेयप्रयोजनत्वाल्लक्षणीयत्वानुपपत्तेः ।
अतो विधेयस्य यागस्यैकत्वात् तदपूर्वस्यापि एकस्यैव क-
ल्पनीयत्वात् तत्साधनत्वस्य चमसेष्वप्युपपत्तिः । “पयसा मै-
त्रावरुणं श्रीणाति,” “सक्तुभि र्मन्थिनं” इत्यादौ तु प्रतिनिय-
तनिर्देशात्तद्देवताकद्रव्यलक्षणया व्यवस्थां मन्यते ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

सू-व्यवस्था वार्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्द-
प्रमाणत्वात् ॥३-१-१७॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

न निराकाङ्क्षत्वं पूर्वाधिकरणे मूलयुक्तिः, वाक्यभेदा-
द्यभावे आकाङ्क्षोत्थापनसम्भवेन तस्य अप्रयोजकत्वात् ।
अपि तु वाक्यभेदादिरेव । नचात्र तदस्तीत्यविवक्षा न ग्रहत्वस्य ।
अभ्यासानां च प्रत्यक्षविध्यभावेऽपि श्रुतिविध्यन्यथानुपपत्ति-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १८७

गम्यत्वेन तदपूर्वाणामपि प्रयोजकत्वोपपत्तेः व्यवस्थासिद्धिः ।
न हि ज्योतिष्टोमस्यैकत्वेऽपि तज्जन्यं पृथगुत्पत्यपूर्वमस्ति ।
आवश्यकैरभ्यासापूर्वैरेवोत्तराङ्गोपेतैः परमापूर्वसिध्युपपत्तेः ।
सूत्रं तु श्रुतग्रहत्वरूपार्थलक्षितापूर्वसाधनत्वस्यैव शब्दप्रमाण-
गम्यत्वात् व्यवस्थेति व्याख्येयम् ।

इत्यष्टमं चमसाधिकरणम् ॥



अथ नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् । (९)

सू-आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ ३-१-१८ ॥

(विषयः)

वाजपेये“सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवती”ति श्रुतम् ।

(संशयः)

तत्र किं सप्तदशारत्नित्वं प्रति वाजपेयस्योद्देश्यता ? यू-
पपदं चाविवक्षितम् ; उत यूपस्योद्देश्यता वाजपेयपदमविवक्षितं ?
इति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

पूर्वपक्षे षष्ठीश्रुत्या विनियोगात् तदुपयोगित्वेन वाजपेय-
प्रातिपदिकार्थस्योद्देश्यतादिविचारात् पादाध्यायसङ्गतिः । यद्यपि
षष्ठी न मुख्या श्रुतिः, कारकत्वाद्यवाचकत्वात् । प्रचुरप्रयोगाद्धि
सम्बन्धसामान्यमेव षष्ठ्यर्थः । न तु कर्तृत्वकर्मत्वाद्यपि । अत
एव तादृशस्थले मुख्यो वाक्यीय एव विनियोगः, तथापि स-
म्बन्धसामान्यस्य तद्विशेषस्य वा संसर्गपर्यादया भासमानस्य प-
दार्थविधयैव भानात् भाक्तश्रुतितया सङ्गत्युपपत्तिः । अनन्तरा
तु प्रातिपदिकार्थस्य विवक्षा वचनादेरविवक्षेत्युक्ते यत्र तर्हि

प्रातिपदिकार्थद्वयं तत्र कस्य सेत्येवं जिज्ञासाधिकारात् अवसररूपा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र सप्तदशारत्नित्वं तावत् न यूपोद्देशेन विधातुं शक्यम् । तदा किं बहुव्रीहिरुद्देश्यसमर्पकः ? यूपपदं वा ? नाद्यः । एक-प्रसरताभङ्गापत्तेः । नान्त्यः । अन्यपदार्थान्वये समासानुपपत्तेः, अरत्नीनां प्राप्तत्वेन तद्विध्यनुपपत्तेश्च । तदनुवादेन संख्यामात्र-विधौ अतिप्रसङ्गोऽपि । यूपेन विशेषणे वाक्यभेदश्च । अतश्च सप्तदशारत्निद्रव्यं वाजपेयोद्देशेन विधीयते । षष्ठी च स्वामित्वा-र्थिका सती प्राधान्यपरैव । एवं चाव्यवहितप्रधानान्वयः श्रुति-विनियोगः प्रधानकथंभावानुग्रहश्च संगच्छते । अन्यथा हि दीक्षणीयावाङ्मनियमन्यायेन पञ्चपूर्वार्थत्वं यूपमात्रार्थत्वं वा आप-द्यतेति वाजपेयानङ्गत्वात् तद्वाधापत्तिः ।

किञ्च द्वयोः पदार्थयोः मध्ये कस्य कस्य विवक्षेति जिज्ञासायां मुख्यत्वात् प्रधानत्वाच्च वाजपेयस्यैव सा युक्ता, न यूपस्य । नहि द्वयोरपि विवक्षा सम्भवति । यूपस्य वाजपेयेन विशेषणे वाक्यभेदात् प्रकरणादेव वाजपेयगतत्वलाभेन तस्य व्यर्थत्वाच्च । अत एव वाजपेयोद्देशेन सप्तदशारत्नित्वविशिष्ट-यूपस्यैव प्राकृतकार्यापन्नत्वेन विधिरित्यपास्तम् । यूपस्य प्राप्तत्वेन विध्ययोगात् सुबन्तयोः वैशिष्ट्यासम्भवेन प्राप्ते कर्मण्यनेकविध्ययोगाच्च ।

अतो वाजपेयोद्देशेनैव सप्तदशारत्निद्रव्यविधौ तस्य यूपस-हशत्वात् यूपपदं गौण्या तदनुवादः अविचक्षितस्वार्थकः । विशेषेण तस्य वाजपेयासाधारणषोडशिपात्ररूपतया निवेशात् तदीय-खादिरत्वादिलाभेन सादृश्योपपत्तेः । तस्मात् वाजपेयोद्देशेनैव

सप्तदशारत्नित्वाविधिः इति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

सत्यं द्वयोर्मध्ये जघन्यस्याविवक्षा युक्ता । न तु प्रकृते सा सम्भवति । यूपपदस्य गौणत्वप्रसङ्गात् । यूपस्य तूद्देश्यत्वाङ्गीकारे वाजपेयपदस्य न तत् । षष्ठ्या देवदत्तस्य नप्तेत्यादौ परम्परासम्बन्धे दर्शनेन साक्षात् परम्परासाधारणसम्बन्धवाचिन्या अविरोधात् । वरं हि स्वार्थत्यागापेक्षया अनुवादमात्रत्वम् ।

अत एवाव्यवहितप्रधानान्वयश्रुतिविनियोगश्च शब्दार्थपरित्यागापत्तिभिरपि परिस्रज्यमानोऽपि न दोषमावहति । प्रकरणानुग्रहस्तु यूपोद्देशेन विधावपि उपपन्न एव । तथा हि—यत्तावत् प्रकरणस्य विनियोजकत्वं तत्तवापि षष्ठ्या विनियोगाभावाद्दनुपपन्नमेव । यच्च प्रकरणनिवेशो वाजपेयापूर्वप्रयुक्तत्वं वा तन्ममाप्युपपन्नमेव । न हि यूपोद्देशेन विधानेऽपि सर्वयूपार्थत्वं प्रसज्यते । अनुवादस्य पुरोवादसापेक्षत्वेन वाजपेयप्रकृतिवच्छब्देन तत्प्रयोगान्तःपातियूपस्यैवोपस्थितत्वात् ।

अत एव न बृहस्पतिसवे प्रकृतिवच्छब्दोपस्थापितस्योद्देश्यता । तस्य वाजपेयप्रकरणस्थत्वेऽपि प्रदेशान्तरस्थत्वेन पुरोवादत्वानुपपत्तेः । नह्यत्र सप्तदशारत्नित्वं प्रयोगविशेषणम्, येन प्रयोगवहिर्भूते बृहस्पतिसवे सस्यपि सन्निधाने निवर्त्येत । तदभावाच्च “वेद्यां हवींष्यासादयती”तिवत् अतिप्रसक्तेः प्रदेशान्तरस्थत्वेनैव तन्निवारणम् । तत्र च यूपस्य तत्साध्यपदपूर्वस्य वा सप्तदशारत्नित्वं विनापि प्रकृतौ तत्सिद्धिदर्शनात् तत्स्वरूपेऽप्यानर्थक्यापत्तेः दीक्षणीयावाङ्नियमं बाधित्वा लक्षितलक्षणया अधिकाराख्यप्रकरणसहकृतेन यूपशब्देन वाजपेयापूर्व-

सम्बन्धित्वस्यैव यूपनिष्ठस्य लक्षणात् वाजपेयापूर्वप्रयुक्त-
त्वसिद्धिः ।

यत्तु एतत्सिद्ध्यर्थं भवदेवेन वाजपेयशब्दन यूपस्य वि-
शेषणमङ्गीकृतं तत्प्रकारान्तरेण सिद्धौ विशेषणवैयर्थ्यादु-
पेक्षितम् ।

यदपि कैश्चित् भवदेवमतं विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्त्या नि-
रस्तं तत् षष्ठ्यन्तस्थले परस्परवैशिष्ट्यस्य प्राचीनरीत्या
व्युत्पत्तिसिद्धत्वेन विशिष्टोद्देशस्य स्वयमेवाङ्गीकृतत्वात् अप्र-
योजकम् । अस्मद्रीत्या तदापादने त्विष्टापत्तिः ।

तस्मात् वाजपेयपदं तत्सम्बन्धानुवाद एव । न तु विशे-
षणम् । सम्बन्धोऽपि च यूपस्य वाजपेयेन साक्षादसम्भवात् त-
दङ्गपशुयागद्वारा सम्पद्यत इति सूत्रार्थः । विधेयं चात्र संप्रद-
शारन्निद्रव्यं समासार्थः । तच्च विशेष्यमरत्निपरिमाणं वा
यद्यपि अतिदेशतत्सम्भवत्प्राप्तिकं तथापि ततः पूर्वप्रवृत्त्या
विधीयते साप्तदशविधानार्थम् । तस्य च अभदेसम्बन्धेन यूपो-
द्देशेनैव विधानात् जनकतासम्बन्धेन वा यूपपदलक्षिततत्कार-
योद्देशेन विधानान्नैकप्रसरताभङ्गापत्तिः । वरं च गौणकल्पनातः
स्वकार्यलक्षणा । ईदृश एव प्रकारो “लोहितोष्णीषा ऋत्विज्”
इत्यादावेकप्रसरताभङ्गपरिहारार्थमाश्रीयते । तस्मात् यूपपदमेवो-
द्देश्यसमर्पकं, न वाजपेयपदमिति सिद्धम् ॥

इति नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् ॥



अथ दशममभिक्रमणाधिकरणम् । (१०)

सू-कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेदः स्यात्

॥३-१-१९॥

(विषयः)

दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजसमीपे श्रुतम्-(१)“अभिक्रामं जु-
होति” इति ।

(संशयः)

तत्राभिक्रमणं किं प्राकरणिकसर्वहोमाङ्गम् ? उत प्रयाजहो-
ममात्राङ्गमिति विचारः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र भाष्यकारेण तावत् अभिक्रमणस्य क्रियारूपत्वेना-
मूर्त्तत्वान्न जुहोत्युपात्ते होमे कारकत्वेनान्वयः ।

न चारुण्यवदिह द्रव्यमुपात्तं, येन तत्परिच्छेदकद्वारा का-
रकत्वमभ्युपगम्येत । “अव्ययकृतो भावे भवन्ती” इति स्मृ-
त्या णमुला तावत् कर्तुरनुपात्तत्वात् (२)कर्त्रधिकरणन्यायेना-
ख्यातेनापि तस्यानुपादानाच्च । न च कारकत्वातिरेकेण वा-
क्यीयपदार्थान्वयः क्वचिदपि सम्भवति । अतो जुहोत्यन्वयं वा-
धित्वा प्रकरणात् प्रयाजादिवदेव प्रधानाङ्गत्वे ऽवगते सामर्थ्यात्
कर्तुराहवनीयादिप्रत्यासत्तिरूपदृष्टकार्यद्वारा तन्निर्वाहकल्पनात्
कर्तृश्चाङ्गप्रधानप्रयोगाङ्गत्वेनाभिक्रमणस्यापि प्राकरणिकस-
र्वहोमाङ्गत्वोपपत्तिः । जुहोतिश्च प्रयाजहोममात्रानुवादः,
प्राकरणिकसर्वहोमानुवादो वा । रूपाभावेन कर्मान्तरविधानानुप-
पत्तेरित्याशङ्क्य कारकत्वेनान्वयासम्भवेऽपि पूर्वकालिकत्वा-
दिना णमुलन्तस्य जुहोतावेवान्वयोपपत्तेः कारकत्वस्यापि

च द्रव्यपरिच्छेदद्वारोपपत्तेः न विच्छेदः । उपादानाभावेऽपि च णमुला, तिपा वा अर्थादाक्षेपेण द्वारत्वोपपत्तिः ।

अतश्च स्ववाक्योपात्तहोम एवाभिक्रमणस्य निवेशात् तस्य च सन्निहितप्रयाजहोममात्रविषयत्वात् तन्मात्राङ्गत्वमिति सिद्धान्तितम्—(इति भाष्यकारमतम्) ।

तत् धातुसम्बन्धाधिकारे विहितणमुलप्रत्ययान्तपदाभिधेयस्याभिक्रमणस्य पूर्वकालतादिसम्बन्धेन स्ववाक्योपात्तहोमान्वयं विना नैराकाङ्क्षाभावात् तद्विच्छेदशङ्कानुपपत्तेः, जुहोतेः प्रयाजहोममात्रविषयत्वे च बलवत्तरप्रमाणानुपन्यासेन सिद्धान्तस्याप्यनुपपत्तेररुणाधिकरणन्यायेन गतप्रायत्वाच्च वार्तिककारेणोपेक्ष्यान्यथा व्याख्यातम्—

सखपि पक्षद्वये स्ववाक्यीयहोमसम्बन्धे किं प्रकृतमात्रहोमसम्बन्धस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं? उत प्रयाजमात्रहोमत्वस्य? इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

अत्र यद्यपि अभिक्रमणं वाक्यादेव होमाङ्गं, णमुलः पूर्वकालतादिमात्रशक्तत्वेन कारकत्वात्वाचिनः मुख्यश्रुतित्वानुपपत्तेः, धातुसम्बन्धस्याप्यङ्गत्वस्य संसर्गविधया गम्यमानत्वेन षष्ठीवत् गौणश्रुतित्वस्याप्यनुपपत्तेश्च, द्वारीभूतकर्त्रङ्गत्वं तु लिङ्गादेवेति न श्रुतिविनियोगः, तथापि णमुलपदाभावे वाक्येनाप्यङ्गत्वायोगात् णमुलश्रुत्युच्चीतत्वे श्रौतत्वोपचारात् पादसङ्गतिः । अनन्तरा तु साक्षात् प्रधानाङ्गत्वे होमाङ्गत्वश्रवणेन पूर्ववत् बाधिते तद्विशिष्टविचारादवसररूपा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र वाक्यात् होमाङ्गत्वे प्रमिते तत्स्वरूपे आनर्थक्यप्रसक्तौ

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १९३

प्रधानाधिकाराख्यप्रकरणेन कर्तृसंस्कारद्वारा प्रधानापूर्वसम्बन्धिहोमत्वस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वावगतेः कर्तुश्चाङ्गप्रधानसाधारणस्य द्वारत्वेन प्रधानसम्बन्धित्वस्यापि होमे साक्षात्परम्परासाधारण्येनैव विवक्षितत्वात् प्रकृतसर्वहोमाङ्गत्वमाभिक्रमणस्य ।

अथ वा “वेद्यां हवींष्यासादयती” तिवत् वाक्यसङ्कोचे प्रमाणाभावात् प्रधानाधिकारवत् अङ्गाधिकारस्याप्यपूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वावसायात् प्रकृतसर्वहोमार्थत्वसिद्धिः । अत एव सत्यपि प्रयाजादीनां वाचनिकाङ्गसन्दर्शने नावान्तराधिकारेण तन्मात्रस्य तात्पर्यग्राहकत्वम्, वाक्यसङ्कोचापत्तेः । यदि ह्यत्र वाचनिकाङ्गसन्दर्शमध्ये अभिक्रामतीसेवाश्रोष्यत ततो वाक्यव्यापाराभावात् भवेदप्यवान्तरप्रकरणेन प्रयाजाङ्गतामात्रम् । नत्वेतदस्ति ।

वस्तुतस्तु तदापि नैव प्रयाजाङ्गतामात्रम् । प्रयाजानामिष्टफलकत्वाभावे इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाभावात् कथंभावात्मकप्रकरणस्य विनियोजकत्वासेद्धेः प्रधानस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजानां तेन ग्रहणात् क्रतूपकारभाव्यत्वावगतेः । तेषामितिकर्तव्यताकाङ्क्षाकल्पने तु प्रधानाकाङ्क्षया प्रयाजादीनामिवाभिक्रमणस्यापि प्रथमप्रवृत्तया ग्रहणात् प्रधानमात्राङ्गत्वापत्तिः ।

एवं सत्यपि यद्यङ्गाकाङ्क्षयापि गृह्येत ततः प्रयाजानूयाजानां परस्परङ्गतापत्तेः गृहमेधीये यथाशक्तिप्रयोगे आज्यभागमात्रेणोपपत्तावपि काम्यप्रयोगे आज्यभागाङ्गतया प्रयाजादिकरणापत्तिः ।

न च भावनास्वाभाव्येनोत्पद्यमानापि प्रयाजादीनामङ्गाकाङ्क्षा उपजीव्येन प्रथमप्रवृत्तेन च प्रधानकथम्भावेन प्रतिबद्धेति न तथा परस्परङ्गत्वं, आवश्यकश्रुत्यादित्रयविनियुक्ताङ्गसम्बन्धेन च प्रतिबन्धकनिरोधे सति उज्जीवितया अभिक्रमणस्यापि

तत्सन्दंशपतितस्य ग्रहणोपपत्तिरिति वाच्यम् । वाचनिकाङ्गसम्बन्धसिद्ध्यर्थं कल्प्यस्य प्रतिबन्धकनिरोधस्य धर्मिग्राहकप्रमाणेन प्रत्येकमेव कल्पयितुमुचितत्वात् अभिक्रमणविषये तन्निरोधकल्पने प्रमाणाभावाद्नुज्जीवितप्रयाजाकाङ्क्षया तद्ग्रहणानुपपत्तेः । तस्मान्न तावत् अवान्तरप्रकरणेन प्रयाजाङ्गत्वम् । शुद्धसन्निधिवाचनिकाङ्गसन्दंशरूपाधिकाराख्यसन्निधिभ्यां तु प्रधानाकाङ्क्षारूपमहाप्रकरणविराधात् अनाशङ्कामेव तदङ्गत्वम् । प्रकृते तु वाक्येनैव तद्विनियोगात् कस्यापि प्रकरणस्य विनियोजकत्वाभावेन वाक्यसङ्कोचपरिहारार्थं सर्वहोमार्थत्वमेव तत्कर्तृसंस्कारद्वारा युक्तम् ।

सूत्रं तु कर्तृगुणे अभिक्रमणे प्रयाजकर्मण्यसमवायात् तद्वाक्यैकवाक्यता न स्यादिति व्याख्येयम् ।

(इति पूर्वपक्षः)

सू-साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण

॥ ३-१-२० ॥ (सि)

(अथ सिद्धान्तः)

नाभिक्रमणं प्राकरणिकसर्वहोमाङ्गम् । अपि तु प्रयाजहोमाङ्गमेव । तदधिकारस्यैवापूर्वसाधनलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वात् । तथा हि—

सर्वत्रैव तावत् फलवतः प्रधानस्यैवाधिकारः व्यापकत्वेन प्राथमिकत्वात् प्रधानवृत्तित्वाच्च लक्षणातात्पर्यग्राहकः, नत्वङ्गाधिकारः । अत एव वेद्यादिवाक्येष्वपि प्रधानाधिकारस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वम् । तत्तु न तादर्थ्यसम्बन्धेन ; अपि तु

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १९५

उपकारकत्वमात्रेण इत्यतः अङ्गहविषामपि सङ्ग्रहः । ये तु श्रुत्यादि त्रयविनियुक्ताङ्गविशेषसम्बद्धा धर्माः तेष्वङ्गाधिकारस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वम् । यथा “समानयते जुह्वामौपभृतं” “प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयती” त्यादौ । अत्र हि दीक्षणीयावाङ्मनियमन्यायेन प्रधानसम्बन्धायोगात् अङ्गाधिकारस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वमावश्यकम् । अतश्च तन्मध्यपतिताभिक्रमणेऽपि स एवाङ्गीकर्तव्यः । उत्तेजनयुक्तोऽहङ्गाधिकारः धर्मविधौ लक्षणातात्पर्यग्राहकः, नानुत्तेजितः, प्रधानाधिकारप्रतिबद्धत्वात् । उत्तेजकं चान्यानिवेश्यङ्गसम्बन्धानुपपत्तिः ।

न च सा प्रत्येकमुत्तेजिका, लाघवादाद्येनैव कारणतोद्बोधनरूपस्योत्तेजनस्य जननाङ्गीकारात् तदुत्तेजनस्य चान्तिमवाचनिकाङ्गसम्बन्धनाशयत्वाङ्गीकारात् तन्मध्यपतितेऽप्यभिक्रमणे उत्तेजनयुक्ताङ्गाधिकारसत्त्वेन तस्य तात्पर्यग्राहकत्वोपपत्तिः ।

नचैवं तस्याप्रतिबद्धस्य तात्पर्यग्राहकत्वोपपत्तावपि प्रधानाधिकारस्यापि तथात्वेन तथापत्तिरिति वाच्यम् । अप्रतिबद्धपरोत्पत्तौ तेन पूर्वबाधस्य (१)षाष्ठ्यायनियतत्वात् । अतश्चावान्तराधिकारापेक्षया प्रधानाधिकारस्य दुर्बलत्वात् न तस्य तात्पर्यग्राहकत्वम् । न च वाक्यसङ्कोचपरिहारार्थं तदङ्गीकारः । तस्य स्वोद्देश्ये आनर्थक्यपरिहारार्थतया उपजीव्यबलवत्तात्पर्यग्राहकप्रमाणानुरोधवृत्तित्वनैयत्यात् । अन्यथा वेद्यादेरपि अव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धमात्रेण प्रकृतिविकृतिसाधारणहविर्मात्रार्थत्वापत्तेः । अतश्च यथैव तत्र ततः प्रबलेन महाधिकारेणैव तात्पर्यग्रहः तथात्र ततोऽपि प्रबलेनाङ्गाधिकारेणैवेति सिद्धं प्र-

(१) षष्ठपञ्चमसप्तदशधिकरणस्थापच्छेदन्यायविषयत्वादित्यर्थः ।

याजमात्रहोमाङ्गत्वमभिक्रमणस्य ।

ननु प्रधान इव प्रयाजाद्यङ्गेषु होमविधायकाभावात् कथं तदङ्गत्वमभिक्रमणस्य ? 'चतुर्गृहीतं जुहोती' त्यनारभ्यवादेन होमाद्यनुवादेन चतुर्गृहीतमात्रविधानात् । प्रधाने तु 'चतुरवत्तं जुहोती' त्यनेनावत्तसंस्कारकतया होमविधानात्तद्गदत्वमेवाभिक्रमणस्येति चेत्-

यजिपदस्याचारात् देवतोद्देशद्रव्यत्यागोभयवृत्तियागत्वजात्यवच्छिन्ने प्रक्षेपाङ्गक एव यागे शक्त्यवधारणेन यजतिचोदनयैव सर्वत्र प्रक्षेपाक्षेपात् । अत एव यत्र 'चतुरवत्तं जुहोती' ति प्रत्यक्षवचनं तत्र नाक्षेपः । तत्प्रयोजनं तु तद्विकृतावाक्षेपप्रतिबन्धद्वारा प्रक्षेपाङ्गाहवनीयप्रणयनादीनामतिदेशसंपादनद्वारा तदाश्रितगुणकामानामप्राप्तिः । यत्र तु पर्यग्निकरणान्ताङ्गविधानं तत्रातिदेशेन प्रक्षेपप्राप्त्यभावात् उद्देशेन च प्रत्यक्षयजिश्रवणाभावात् देवतासम्बन्धेन प्रक्षेपरहितत्यागादेरेवानुमानात् न तत्र प्रक्षेपानुष्ठानम् । गृहमेधीये तु पुनर्विधानात् स इति ध्येयम् । तत्सिद्धं प्रयाजहोमाङ्गत्वमभिक्रमणस्येति ।

एवंच यद्यपि वाचनिकाङ्गसन्दर्शमध्ये अभिक्रामतीत्येवं णमुल्लरहितः प्रयुज्येत तथापि तस्य प्रयाजमात्राङ्गत्वमवान्तरप्रकरणात् स्यादेव । सर्वत्र हि प्रधानभावनानामिवाङ्गभावनानामपि अस्त्येवेतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । सा परं फलवत्प्रधानेतिकर्तव्यताकाङ्क्षालक्षणेन महाप्रकरणेन प्रतिबध्यते सन्निध्याम्नानविषये । अत एव तदा तन्निवृत्तिरतिदेशेनाक्षेपलभ्यस्वसंपादनेन वा साधारणैर्वा आचमनादिभिरिष्टा ।

यत्र तु वाचनिकाङ्गसन्दर्शः तत्राद्याङ्गेन प्रयाजाकाङ्क्षोञ्जीवनात् अन्तिमेन च तदुत्तेजननाशात् उचैजितकाङ्क्षाल-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्यप्रथमः पादः । १९७

क्षणावान्तरप्रकरणेन पूर्ववदेवाभिक्रमणस्य प्रयाजाङ्गत्वसिद्धिः । यद्यपि च लोके उत्तेजकाभावेऽप्यग्निमात्रेण दाहदर्शनात् प्रथमतृतीयक्षणयोः उत्तेजकसत्त्वे द्वितीयक्षणे मणिमात्रेण प्रतिबन्धदर्शनाच्च नोत्तेजकस्योत्तेजनं कार्यम्, अपि तु तत्तदुत्तेजकविरहविशिष्टमणेः प्रतिबन्धकत्वं, तदभावश्चाग्नेः सहकारीत्येव कल्प्यते, तथापि प्रकृते तादृशव्यभिचाराभावात् न तत्तदुत्तेजकाभावकूटस्य प्रतिबन्धकतावच्छेदके प्रवेशः, गौरवात् ; अपि तु आद्योत्तेजकस्यैव भावरूपोत्तेजनजनकत्वमन्तिमेन च तन्नाशः, ताद्विरहविशिष्टस्यैव च महाप्रकरणस्य प्रतिबन्धकत्वं तदभावश्च सहकारीत्येव कल्प्यते इति न कश्चिद्विरोधः ।

प्रयोजनं पक्षद्वयेऽपि योग्यतारूपलिङ्गात् आहवनीयसमीपप्रापणरूपकर्तृसंस्कारार्थत्वावगतेः प्रतिहोममावृत्त्या अभिक्रमणानुष्ठानात् स्पष्टम् । अत एव णमुलुक्ताभीक्षण्यानुवादोऽप्येवं सङ्गच्छते ।

सूत्रं तु सन्दर्शनाभिव्यक्ताकाङ्क्षमाभिक्रमणवाक्यं प्रयाजवाक्यैकवाक्यं स्यात्, न ह्याद्योत्तेजकमात्रेणाभिव्यक्तेः समाप्तिरस्ति, तस्या अन्तिमनाशयत्वादिति व्याख्येयम् ॥

इति दशममाभिक्रमणाधिकरणम् ॥

अथैकादशमुपवीताधिकरणम् ॥ (११)

सू-सन्दिग्धेतु व्यवायात् वाक्यभेदस्स्यात् ॥ ३-१-२१ ॥

(विषयसंशयौ)

दर्शपूर्णमासयोः 'पञ्चदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इत्यनेन सामिधेनीर्विधाय तासां वाचनिका गुणाः विहिताः । ततो निवि-

दो नाश मन्त्रा(१)“देवेद्धो मन्विद्ध” इत्यादयः । ततः काम्यास्सामिधेनीकल्पाः(२)“एकविंशतिमनुब्रूयात्प्रतिष्ठाकामस्ये”त्यादयः । तत उपवीत(३)“मुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते” इति । ततः पुनरपि सामिधेनीगुणाः(४)“अन्तरानूच्यं सदेवत्वाय” इत्येवमादयः । तत्र किमुपवीतस्यावान्तरप्रकरणात् सामिधेन्यङ्गत्वं ? उत महाप्रकरणात् दर्शपूर्णमासाङ्गत्वमिति विचार्यते । यद्यपि च त्रिसूत्रनवतन्तुयज्ञोपवीतस्य (५) “तस्माद्यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेत् यजेत वा” इत्यनारभ्याधीतकाठकवचनेन सर्वकर्मार्थत्वेनैव विधानात् न तद्विषयोऽयं विधिस्संभवति, तथापि वासोविन्यासविशेषरूपस्योपवीतस्यानेन विधानात् विचारोपपत्तिः । पूर्वाधिकरणप्रत्युदाहरणमात्रतया च साक्षात् पादसङ्गत्यभावेऽपि न दोषः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्राभितस्सामिधेनीवाचनिकाङ्गसङ्कीर्तनात् तदङ्गत्वम् । न च तासामग्निसामिन्धनरूपदृष्टकार्यार्थत्वात् दृष्टरूपेतिकर्तव्यतयैव तदाकाङ्क्षानिवृत्त्युपपत्तेः सत्यपि वाचनिकानां वचनादेवाङ्गत्वेनोपवीतग्राहित्वमिति वाच्यम् । अग्निसामिन्धनस्यापि अपूर्वसाधनत्वोपहितत्वेन भाव्यत्वात् सामिधेनीनां नियमादृष्टजनकत्वाच्च वैधेतिकर्तव्यताकाङ्क्षोपपत्तेः ।

नचैवमपि काम्यगुणैस्सन्दंशविच्छेदात् ग्रहणोपपत्तिः । तेष्वप्याश्रयत्वेनान्वयसत्वात् सामिधेनीसन्निधिविच्छेदकत्वस्य तावदनुपपत्तेः । आकाङ्क्षानिच्छेदोऽपि किं नाशाख्योऽभिप्रेतः ? प्रतिबन्धाख्यो वा ? गुणस्य वाक्यात् फलार्थत्वेन व्यापकसा-

१. तै. सं. २-५. ९.

२. तै. सं. २. ५. १०

३. तै. सं. २. ५. ११.

४. २. तै. सं. २-५-११.

५. तै. आ. २. १.

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १९९

मिधेनीतिकर्तव्यताकाङ्क्षया अग्रहणेऽपि तदुत्तरभाविवाचनिकाङ्गदर्शनेन तदाकाङ्क्षानाशकल्पनानुपपत्तेः, गुणस्यैवान्तिमत्त्वेन प्रतिबन्धकल्पनानुपपत्तेश्च । अत एव गोदोहनाद्युत्तरकालीनवाचनिकाङ्गभानिपदार्थानामसंयुक्तानामपि दर्शपूर्णमासाङ्गत्वासिद्धिः । अतश्च सामिधेनीनामुत्तेजनयुक्तसाकाङ्क्षसन्निधिरूपावान्तरप्रकरणसत्त्वादुपवीतस्य तदङ्गत्वम् ।

नचैवमपि निविन्मन्त्रस्य महाप्रकरणसहकृतेन लिङ्गेन सामिधेनीवदेव समिद्धाग्निप्रकाशकत्वावगतेरवान्तरप्रकरणेन सामिधेन्यङ्गत्वायोगात् अनुपजीव्यान्याङ्गनिविन्मन्त्रेण सामिधेनीप्रकरणविच्छेदोपपत्तरिति वाच्यम् । उपरितनवाचनिकाङ्गदर्शनेनैव तादृशेनापि तन्नाशकल्पनानुपपत्तेः । अतश्च यथैव पूषानुमन्त्रणमन्त्रेण पूषदेवत्यकर्माङ्गभूतेनाऽपि तदुत्तरं वाचनिकदर्शाङ्गाम्नानात् न दर्शपूर्णमासप्रकरणविच्छेदः, अपितु वाचनिकाङ्गानां तत्पूर्वभाव्यसंयुक्तानां च दर्शाकाङ्क्षयैव ग्रहणम्, पूषानुमन्त्रणमन्त्रस्तु परप्रकरणपठित इति कल्प्यते; तथैव प्रकृते सामिधेनीनामन्ते वाचनिकाङ्गदर्शनेन निविदां परप्रकरणस्थत्वावसायात् सामिधेनीप्रकरणविच्छेदकत्वानुपपत्तेः उत्तरभाविवाचनिकाङ्गानां तत्पूर्वभाव्युपवीतस्य च मध्ये अन्याकाङ्क्षया ग्रहणोपपत्तिः । अत एव निवित्कार्यस्याग्निसामिन्धनस्य निविद्भिरुज्जीविताकाङ्क्षस्यापि निविदामन्तिमत्त्वेन तदन्वयोत्तरमुत्तेजननाशात् पूषदेवत्ययागस्य पूषानुमन्त्रणमन्त्रोत्तराम्नातानूयाजाद्यग्राहित्ववत् उपवीताग्राहकत्वम् ।

वस्तुतस्तु निविदां लिङ्गादग्निमन्त्ररूपसामिधेनीफलप्रकाशकानामपि बलवदवान्तरप्रकरणात् सामिधेन्यङ्गत्वोपपत्तिः । इष्यते हि स्वर्गप्रकाशनार्थस्थाप्यगन्धेयस्य मन्त्रस्य प्रकरणात्

दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् । अतस्स्वाङ्गेन तेन स्वव्यवधानायोगात् उप-
वीतं सामिधेन्यङ्गमेवेति शङ्कां मन्दविषन्त्यायेन परिहर्तुमिदं प्र-
त्युदाहरणसूत्रम् ॥

(सिद्धान्तः)

परिहारप्रकारश्च-भवेत् सामिधेन्यङ्गमुपवीतं यदि तासां
निविद्धिः प्रकरणं न विच्छेत्स्येत । तासां तु लिङ्गेन सामिधेनी-
वदेवाग्निसमिन्धनप्रकाशकत्वावगतेः अवान्तरप्रकरणमात्रेण
सामिधेन्यङ्गत्वायोगात् तत्प्रकरणविच्छेदकत्वोपपत्तिः ।

यत्तु स्वर्गमन्त्रवत् फलप्रकाशकत्वेनाविरोध इति, तत् स्व-
र्गादिफलस्यादृष्टद्वारा साध्यत्वेन सन्दिग्धस्यावश्यंभावनि-
श्चयरूपकर्मापेक्षश्रद्धाजननार्थत्वेन मन्त्रस्य कर्माङ्गत्वोपपत्तावपि
अग्निसमिन्धनरूपसामिधेनीफलस्य दृष्टद्वारा साध्यत्वेनासन्दि-
ग्धत्वात् न तत्प्रकाशकत्वेन मन्त्रस्य सामिधेन्यङ्गत्वोपपत्तिरि-
त्युपेक्षितम् ।

किञ्च सामिधेनीनामपि निवित्फलप्रकाशकत्वस्योद्भावयितुं
शक्यत्वान्नियामकाभावः। न च सामिधेनीसन्दंशस्यैव नियामकता ।
अन्तरानूच्यमित्येवमादीनां अनुवचनमात्रोद्देशेन गुणविधायिनां
विशिष्य सामिधेन्यनुपस्थापकत्वेन सन्दंशासिद्धेरेव वक्ष्यमाण-
त्वात् । अत एव न पूषानुमन्त्रणमन्त्रवत् निविदां परप्रकरणपठि-
तत्वकल्पनाऽभ्युपेया । अपि तु सन्दंशेन परप्रकरणस्थत्वकल्पना-
वसरः । यत्र हि बहूनां वाचनिकाङ्गानां उत्तरकालमाप्नानं त
त्रालपेन तन्मध्यपतितेनान्याङ्गेन प्रकरणविच्छेदायोगात् एक-
स्य तस्यैव परप्रकरणस्थत्वकल्पना युज्यते । यत्र तु बहून्यङ्गा-
नि पठित्वा दूरे क्वचित् वाचनिकाङ्गाम्नां, तत्रालपानुरोधेन बहू-
नि विच्छेदकान्यपनीय प्रकरणानुवृत्तिकल्पनायोगात् अल्पस्यैवा-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २०१

नारभ्याधीतन्यायेनान्वयः परिकल्प्यते । अत एव तत्पूर्वभाव्य-
संयुक्तस्य विश्वजिदादेः स्वर्गफलकल्पनम् । अन्यथा प्रकरणात्
दर्शाङ्गत्वापत्तेः ।

नचैवमपि विश्वजित्पूर्वभाविनः अन्यानङ्गस्यैव ज्येनादेः वि-
श्वजिदङ्गं स्यादिति फलकल्पनाविषयाभावः । यत्र पूर्वोत्तरं विवि-
धकर्मपुरस्कारेण वाचनिकसंख्यादिरूपगुणाम्नातं तत्र तन्मध्यप-
तितस्य विश्वजितः पूर्वोत्तरभाविकर्माङ्गत्वस्य तद्गुणाङ्गत्वस्य वा
आकाङ्क्षानुवर्तकाभावेन वक्तुमशक्यत्वात् फलकल्पनोपपत्तेः ।
अतश्च प्रकृतेऽपि बहुभिर्निविन्मन्त्रैः व्यवधानान् प्रकरणाविच्छे-
दोपपत्तेरुत्तराङ्गस्यानारभ्याधीतन्यायेन सामिधेन्यङ्गत्वोपपत्तेः
नोपवीतविधौ प्रकरणानुवृत्तिः ।

वस्तुतस्तु अन्तरानूच्यमित्यादौ सामिधेनीमात्रवाचिपदा-
भावात् अनुवाक्याद्यनुवचनसाधारण्येन सर्वप्रकृताङ्गानुवचन-
मात्रोद्देशेन गुणविधानात् न तैस्सामिधेनीप्रकरणानुवृत्तिशङ्कापि ।
यदपि चान्ते (१) देवा वै सामिधेनीरनूच्येत्याद्यर्थवादे सामिधे-
नीकीर्तनं तदप्याद्यास्तुत्यर्थत्वात् न सामिधेनीप्रकरणानुवृत्तिसू-
चकम् । नचैवं प्रकरणाभावे तासामाश्रयत्वानुपपत्तेः कथं
काम्यवाक्ये तदाश्रितस्य गुणस्य फलार्थत्वेन विधानोपपत्ति-
रिति वाच्यम् । आश्रयालाभेन तत्रानुवचनान्तरस्यैव संख्यादि-
विशिष्टस्य (२) रेवत्यधिकरणन्यायेन गुणात् भिन्नस्य फले वि-
ध्यङ्गीकारात् तस्य च संख्यायुक्तानुवचनत्वसादृश्यात् पञ्चदश-
संख्यायुक्तानुवचनप्रकृतिकत्वावगतेः तदीयर्चा त्रिरभ्यासादि-
धर्मान्तराणां च प्राप्स्युपपत्तिः ।

ननु प्रकृतावनुवचनस्य द्वितीयया ऋक्संस्कारार्थत्वावग-

मात् अग्निसमिन्धनप्रकाशकानामृचां प्राधान्येनातिदेशायोगः । न चानुवचनस्य ऋक्संस्कारार्थत्वेन विधाने उद्देश्यविशेषणीभूतायास्संख्यायाः अविवक्षापत्तिः । एकादशानामृचां प्रकृतौ समाम्नातानां प्रथमोत्तमत्रिरभ्यासेन पाञ्चदशस्य प्राप्तत्वेनेष्टापत्तेः । न च पाञ्चदशविध्यभावे अनारभ्याधीतसाम्प्रदशस्य ऋगभ्यासेन ऋगन्तरागमेन वा प्रकृतावेव निवेशोपपत्तेः तद्व्यावृत्त्यर्थं पाञ्चदशविध्यावश्यकत्वमिति वाच्यम् । तर्हि उच्चारणरूपस्यार्थाभिधानरूपस्य वानुवचनस्य मन्त्रान्तरेष्विव न्यायादेव प्राप्तेः तदनुद्य सामिधेन्युद्देशेन पाञ्चदशविधानोपपत्तेः । सर्वथा प्रकृतावृचां प्राधान्यादतिदेशायोगः ।

यद्यपि च तासामनुवचनं प्रति गुणत्वं स्यात् तथाप्यनुवचनफलाग्निसमिन्धनप्रकाशकत्वेनैव तत् सामर्थ्यात् स्यात् । अतश्च द्वारलोपात् विकृतौ तद्भाधः, प्रतिष्ठापरतया ऊहो वा प्रसज्येत, ततश्च नित्यानुवचनस्य प्रसङ्गसिद्धिर्वक्ष्यमाणा विरुद्ध्येतेति चेत्, न; यत एवात्र सर्वं सम्भवत्प्राप्तिकं तत एव वाक्यवैयर्थ्यपरिहाराय सक्तुन्यायेन विनियोगभङ्गं प्रकल्प्य सामिधेनीगुणकानुवचनस्यैव सामर्थ्यपरिकल्पिताग्निसमिन्धनार्थत्वेन विध्यङ्गीकारात् ।

न च साम्प्रदशव्यावृत्तिफलकपाञ्चदशविधानेनार्थवत्ता । अनारभ्याधीतस्य साम्प्रदशस्य विकृतिपरत्वेनाप्युपपत्तौ प्राकरणिकमन्त्राणां अभ्यासस्य ऋगन्तरागमस्य वा कल्पयितुमशक्यत्वेन तस्य प्रकृतौ प्रसक्त्यभावात्, प्रसक्तावपि वा (३) 'साम्प्रदश वैश्यस्ये'ति वैश्यनिमित्तकसाम्प्रदशविधिवैयर्थ्यापत्तेः तद्वक्तैव व्यावृत्तिसिद्धेश्च । एवञ्च प्राकरणिकेन पाञ्चदशेनानार-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २०३

भ्याधीतसाम्प्रदश्यबाध इत्याद्यधिकरणानि पाञ्चदश्यविधिं कृत्वा
चिन्तया प्रचयशिष्टप्राकरणिकमन्त्रपाञ्चदश्यपरतया द्रष्टव्यानि ।

अत एवानारभ्याधीतस्य साम्प्रदश्यविधेः मित्रविन्दादि-
प्रकरणस्थविधिना उपसंहारवत् वैश्यनिमित्तकविधिना उपसं-
हारशङ्कापि इष्टापत्यैव परिहृता । अतश्च पाञ्चदश्यस्य प्रकृतौ
विध्यभावात् अनुवचनस्यैव सामिधेनीगुणकस्यार्थकर्मतया वि-
ध्यवगतेः युक्तो विकृत्यर्थानुवचने ऋचामतिदेशः । गुणत्वम-
पि च तासां नानुवचनफलप्रकाशकतया, अपित्वनुवचनजनकत-
यैव लाघवात् । अतश्च न तद्भारलोपाद्बाधः ऊहो वा ।

नत्वेवं फलार्थस्यानुवचनान्तरस्य बहिःक्रत्वप्यनुष्ठानोपपत्तेः
ऋतुप्रकरणात्मनानवैयर्थ्यापत्तिः । न च प्रकृतौ अनुशब्दवाच्यस्य
(१) 'नमः प्रवक्त्रे' इत्यादि परप्रयुक्तनिगदानन्तर्यस्याप्यङ्गत्वेन
विकृतौ तस्यातिदेशेन प्राप्तेः परप्रयुक्तनिगदाक्षेपायोगात् आन-
न्तर्यासम्भवेन बहिःऋतु प्रयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तस्य (२)
“पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वं । तदद्य वाचः प्रथमं मशीय” इत्या-
दिवाक्यपर्यालोचनया करिष्यमाणसर्वकर्मार्थत्वेन सामिधेनीमा-
त्रार्थत्वेन वा प्रवक्त्रादिप्रार्थनापरत्वावसायात् सामिधेन्यङ्गत्व-
स्यापि सत्त्वेन बहिःऋतु प्रयोज्यत्वोपपत्तेः ।

नचैवमपि अनुवाक्यादिवत् 'अग्नये समिद्ध्यमानायानु
ब्रूही'ति प्रैषानन्तर्यस्यैवानुशब्दार्थत्वावसायात् तस्य चाग्निसमि-
न्धनप्राकाशकस्य बहिःऋतु प्रयोगायोगात् तदानन्तर्यलाभार्थमनु-
वचनान्तरस्यापि ऋतुमध्ये प्रयोगोपपत्तिरिति वाच्यम् । तस्यापि
स्वफलार्थमनुवचनानुज्ञापनरूपस्याङ्गस्य विकृतावूहेन प्रयोगो-

पपत्तेः बहिःप्रयोगेऽप्याक्षेपमम्भवादिति वाच्यम् । अनुशब्देन उत्तरकालवाचिना साङ्गमामिधेनीभावनयां तदङ्गभूतपूर्वपदार्थोत्तरकालत्वस्य विहितत्वात् पूर्वपदार्थस्य च परप्रयुक्तस्याक्षेप्तुमशक्यत्वेन तदुत्तरकालत्वासम्भवात् बहिःक्रतु प्रयोगानुपपत्तेः ।

न च पाठप्राप्तपूर्वपदार्थानन्तर्यरूपस्य क्रमस्यानुशब्देनानुवादात् तदभावेऽपि च विकृतौ लुप्तपूर्वपदार्थान्तरभाव्युत्तरपदार्थानुष्ठानवत् बहिःक्रतु प्रयोगे प्रधानभूतानुवचनमात्रस्यानुष्ठानोपपत्तिरिति वाच्यम् । विकृतौ पदार्थप्राप्त्यनन्तरं प्राप्स्यमानस्य क्रमस्य कथमप्यसम्भवेन तं विना पदार्थानुष्ठानेऽपि इह प्रकरणमध्याम्नातस्य वैकृतानुवचनस्य क्रतुमध्यप्रयोगेनापि क्रमानुग्रहसम्भवे काम्यप्रधानमात्रानुष्ठानानुपपत्तेः क्रतुप्रकरणमध्यानुष्ठीयमानवैकृतानुवचनेनैव प्रसङ्गात् प्रकृतानुवचनकार्यसिद्धेः न तस्य प्रधानानुष्ठानापत्तिः । अतश्च काम्यकल्पेष्वपि सामिधेनीप्रकरणानुवृत्त्यनपेक्षणात् न तदनुरोधेनाप्युपवीतविधौ तदनुवृत्तिरिति न सामिधेनीमात्राङ्गमुपवीतम् ।

न च तर्हि काम्याङ्गमेवास्तूपवीतम् । तेषां फलवत्त्वेनानुपहताकाङ्क्षाणामुज्जीवनार्थं दर्शपूर्णमासादिष्विव सन्दंशानपेक्षणात् । पूर्वोत्तरावधित्वेन हि तत्र क्वचित्सन्दंशोऽपेक्ष्यते । न तु तदुज्जीवनार्थम् । अप्रतिबद्धत्वात् । पूर्वोत्तरावधेस्त्विह वाचनिकाङ्गैरेव सिद्धेः न सन्दंशापेक्षणमिति वाच्यम् । तेषां विकृतित्वेन क्लृप्तोपकारप्राकृताङ्गनिराकाङ्क्षत्वात् प्राकृताङ्गानुवादेन प्राकृताङ्गसम्बन्धिगुणविधिमध्यपातेन वा विधिं विना प्रकरणेन ग्रहणयोगात् फलवतोऽपि व्यापकमहाप्रकरणमध्यपातेनाकाङ्क्षावश्यंभावाच्च । अतश्च सिद्धं उपवीतस्यान्याङ्गत्वासम्भवात् महाप्रकरणात् दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २०५

प्रयोजनं अस्यापि कर्तुरवैद्यग्यापादकत्वेन तत्संस्कार-
त्वात् पूर्वपक्षे सामिधेन्यारम्भे तत्कर्त्रा, सिद्धान्ते दर्शपूर्णमामप्र-
योगारम्भे तत्कर्तृभिरुपवीतमनुष्ठेयमिति द्रष्टव्यम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

इत्येकादशमुपवीताधिकरणम् ॥

अथ द्वादशं वारणादीनां सर्वयज्ञार्थत्वाधिकरणम् ॥ (१२)

सू—गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धस्सम-
त्वात् स्यात् ॥ ३-१-२२ ॥

(विषयसंशयौ)

आधानप्रकरणे पवमानेष्टिसन्निधौ(१) “वारणो यज्ञावचरः
स्यात् न त्वेतेन जुहुयात्, वैकङ्कतो यज्ञावचरस्स्यात् जुहुयादेवै-
तेने”ति श्रुतम् । तत्र अवचर्यते अनुष्ठीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या
अवचरशब्दः साधनवाची । अतश्च वारणवैकङ्कतजात्योः वा-
क्येन यज्ञोद्देशेन विधानं पूर्ववाक्ययोः । साक्षाच्च जात्या तदा-
धारकाष्टेन वा द्रव्यान्तरावरुद्धयज्ञासम्भवात् तदङ्गभूतप्रक्षेपत-
दतिरिक्तक्रियाणां वैकङ्कते वारणे च द्वारत्वेन विधानमुत्तरवा-
क्ययोः । न्यायसुधायां तु वैकङ्कतस्य सर्वक्रियार्थत्वमित्युक्तम् ।

तत्र च यज्ञशब्देनाधानाङ्गपवमानेष्टिमात्रमुद्देश्यत्वेनोच्यते ?
किं वा यज्ञमात्रमिति सन्देहः । साधनत्वस्यात्रावचरशब्देनो-
पादानात् कृदन्तत्वेन मुख्यश्रुतित्वाभावेन गौणश्रुतित्वात् पादा-
ध्यायसङ्गतिः । अनन्तरा तु उपवीतस्य दूरस्थसामिधेन्यसम्ब-

न्धेऽभिहिते पात्राणामपि तद्देव दूरस्थपवमानेष्टिसम्बन्धमा-
त्रनिराकरणात् प्रासङ्गिकी ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र वाक्येन वारणवैकङ्कतयोः यज्ञोद्देशेन विधानेऽपि यज्ञ-
स्वरूपे आनर्थक्यप्रसक्तौ अपूर्वसाधनलक्षणार्थं प्रकरणानुप्रवेशे
प्रसक्ते प्रकृतापूर्वसाधानस्याधनस्य यज्ञत्वाभावात् तस्मिन्नेवान-
र्थक्यप्रसक्तौ प्रकरणान्तदङ्गभूतानां पवमानेष्टीनां यज्ञत्वात् तत
एव प्रकृतापूर्वोपकारकत्वसम्बन्धेन यज्ञपदेनोद्दिश्य वारणादि
विधीयते । यद्यपि हि पवमानेष्टीनां प्रदेशान्तरपाठितत्वात् न
विशिष्याधिकारोऽस्त्युपस्थापकः, तथापि प्रधानाधिकारेणैव
प्रधानांशे बाधितेन तत्सम्बन्धिपवमानेष्ट्युपस्थापनादानार्थक्य-
तदङ्गन्यायेन वारणादेस्तदर्थताविरोधः । इष्यते च पश्वत्रया-
वदानसम्बन्धिनो मनोतामन्त्रस्य महाप्रकरणात् ज्योतिष्टोमे प्रा-
प्तावानर्थक्यतदङ्गन्यायेन तदङ्गभूते स्वरूपेणासन्निहितेऽपि सव-
नीये प्राप्तिः । अत एव तद्व्यावृत्त्यर्थं 'यद्यप्यन्यदेवत्य' इति वच-
नमिष्टम् । तस्मात् स्वतोऽनुपस्थापितस्यापि प्रधानाधिकारेणो-
पस्थितत्वात् पवमानेष्टिमात्रार्थत्वं वारणादेरिति प्राप्ते —

(भाष्यकारीयस्सिद्धान्तः)

भाष्यकारेण तावदेवं सिद्धान्तितम्—सत्यं पवमानेष्टीनामा-
धानार्थत्वे पात्राणां तत्र निवेशो युक्तः । तासां तु (१) 'यदाहवनी-
ये जुहोती' तिवचनेनाभ्युत्पत्त्यर्थत्वावगमात् आधानेन सम्प्राधा-
न्यावगतेः आनर्थक्यतदङ्गन्यायाभावेन आधानप्रकरणपाठितानां
पात्राणां पवमानेष्टिषु निवेशो युक्त इति । तस्यायमाशयः—

यद्यप्यनारभ्याधीतेन 'यदाहवनीये जुहोती' त्यनेन न पवमानेष्टीनामग्न्यङ्गत्वं प्रतिपत्तुं शक्यम् । सप्तम्याः द्वितीयार्थलक्षणार्थां प्रमाणाभावात् , पवमानेष्टिवत् क्रत्वन्तराणामप्यङ्गत्वापत्तौ तेषां निष्फलत्वापत्तेश्च । नचानारभ्याधीतस्य वाक्यस्य प्रकृत्यर्थत्वादिहातिदेशेनाग्निप्राप्तावसिद्धत्वेनाङ्गत्वासम्भवेऽपि प्राधान्यकल्पनोपपत्तिः । अप्राकृतकार्यकारितापत्तेः, औपदेशिकेन प्रकरणावगताधानाङ्गत्वेन तद्वाधाच्च । अन्यथा विश्वजिदादिवत् पवमानेष्टीनामपि फलकल्पनया अग्न्यङ्गत्वस्यैवानापत्तेः, तथाप्यनारभ्याधीततुल्येनाधानप्रकरणाधीतवाक्येन सर्वेषामाधानाङ्गतया संभाव्यमानानां पूर्णाहुत्यादिहोमानां साक्षादाहवनीयाङ्गत्वावगमात् पवमानेष्टीनामपि तदङ्गत्वावगतिः । अत एव तत्र द्वितीयार्थे सप्तमी । आहवनीयस्यासिद्धत्वेन होमाङ्गत्वासंभवात् । अतश्चोभयोरप्याधानपवमानेष्ट्योरग्न्यङ्गत्वात् परस्पराङ्गाङ्गिभावाभावेनानर्थक्यतदङ्गन्यायासंभवात् वारणादेः स्वतोऽसन्निहितासु पवमानेष्टिष्वेव निवेशानुपपत्तेः वाक्येन सर्वयज्ञार्थत्वमिति ॥

वार्तिककारस्तु—अश्रुतवाक्यकल्पने प्रमाणाभावात् कल्पनेऽपि वा तेन यज्ञरूपाणां पवमानेष्टीनां आहवनीयाङ्गत्वानुपपत्तेः तासामाधानाङ्गत्वमेव । अत एव कल्पितेन वाक्येनाधानाङ्गभूतानामेव पूर्णाहुत्यादिहोमानामाहवनीयाधिकरणत्वसिद्धिः, न तु तेषां साक्षादाहवनीयाङ्गत्वम् , सप्तम्या द्वितीयार्थलक्षणार्थां प्रमाणाभावात् । अत एव तदाधानविशेषजन्यपरमापूर्वविशिष्टाग्निवाचिनोऽप्याहवनीयप्रातिपदिकस्यासिद्धार्थकत्वात् आधानजन्योत्पत्त्यपूर्वविशिष्टाग्नावेव लक्षणेत्यप्यवगन्तव्यम् । न ह्यन्यथा तेषूक्तविधाहवनीयप्रापकमन्यत् प्रमाणमस्ति ।

यद्यपि च पवमानेष्वङ्गभूतानां प्राकृतानां होमानामातिदेश-
प्राप्तमुख्याहवनीयाधिकरणकत्वबाधेऽपि सति संभवे प्रकृतिदृष्टस्य
आधानविशेषप्रयोज्यापूर्वविशिष्टाग्न्याधिकरणकत्वस्य साद्यस्के
अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः पौर्वापर्यस्येव बाधे प्रमाणाभावात् उ-
क्तविधाहवनीयाधिकरणकत्वप्रापकमन्यदस्ति प्रमाणम् । इदमेव
च पवमानेष्वङ्गभूतानां हविःश्रपणपिष्टलेपफलीकरणहोमानां
उक्तविधगार्हपत्यान्वाहार्यपचनाधिकरणकत्वप्राप्तौ प्रमाणमिष्य-
ते तथापि अप्राकृतानामाधानसम्बन्धिहोमानां उक्तविधाहवनी-
याधिकरणत्वसिद्धाविदमेव वाक्यं शरणम् ।

यत्तु भवदेवेन प्रधानदेशत्वादङ्गानां तल्लाभ इत्युक्तम्,
तदाधानस्य कुण्डत्रयसाधारणत्वात् व्यवस्थालाभे प्रमाणाभा-
वादुपेक्षितम् । तस्मात् सत्यपि वचने पवमानेष्वङ्गिनामाहवनी-
याङ्गत्वासंभवात् आधानाङ्गभूतासु सतीष्वेतासु प्रकृतयज्ञाभावा-
दनिवेश इत्याह । तत्र चायमभिप्रायः न्यायसुधाकृता विवृतः-

यज्ञशब्दः प्रधानयज्ञानामेवाभिधायकः । (१) “स एष यज्ञः प-
ञ्चविधः-अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः,
इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया तथैव शक्तिग्रहात् । न च पशोरङ्गभूत-
स्यात्रोपादानादासिद्धिः । पशुपदस्य निरूढपशुबंधस्यैवात्र ग्रह-
णात् । अत एवैकादशे ‘पञ्चभिर्युनक्ति पांक्तो यज्ञ’ इति यज्ञप-
दश्रवणात् (२) “अग्निं युनक्ति शवसा घृतेनेति युनक्ती”त्येत-
द्वाक्यत्रिहितस्याग्नियोगस्य प्रधानमात्रार्थत्वं भाष्यकारेण
सिद्धान्तितम् ।

वार्तिककारेण च यज्ञसंयोगस्य गुणवाक्यस्थत्वेन
तद्दूषितम् । अतश्च पवमानेष्वङ्गिनामाधानाङ्गत्वेन यज्ञा-

ङ्गत्वाभावात् वारणादेः सार्वत्रिकत्वमिति, तन्न ; यज्ञपदस्य यज्ञ-
तिपर्यायस्यातिरिक्तशक्तिकल्पने प्रमाणाभावात् । अन्यथा
“(१) सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते” (२)“एष वै सप्तदशः प्र-
जापतिर्ब्रह्मन्वायत्तः” इत्यादावपि प्रधानयज्ञग्रहणापत्तौ
आज्यभागादिषु ध्रौवाज्यवषट्कारादिप्राप्सनापत्तेः । अतएवै-
कादशे यज्ञशब्दो यागमात्रवचनश्चेदङ्गयागानपि ब्रवीतीतीति वा-
र्तिककृताभिहितम् ।

तस्मादेवमभिप्रायो वाच्यः—सर्वत्रैव प्रकृतनिवेशः स्वोद्देश्य-
स्य लक्षणीयापूर्वेण व्यभिचरितसम्बन्धे प्रकरणादङ्गीक्रियते ।
यथा “ब्रीहीन् प्रोक्षति” इत्यादौ । अत एव तादृशस्थले प्रधा-
नसम्बन्धानुपपत्तौ आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन स्वतोऽसन्निहिते-
नाप्यङ्गेन प्रधानोपस्थापितेन धर्मसम्बन्ध इष्ट एव, यथा मनो-
तामन्त्रस्य सवनीयेन । तत्र ह्यग्नेरव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धाभावेन
प्रकरणं विना अपूर्वसाधनलक्षणानुपपत्तेः तेन प्रधानसम्बन्धा-
वश्यंभावात् तत्रानुपपत्तौ तदङ्गभूतसवनयिसम्बन्धः कथञ्चिदु-
पस्थित्याऽङ्गीक्रियते । प्रकृते तु यज्ञशब्देनैवाऽव्यभिचरितापूर्व-
साधनत्वोपस्थितौ तदर्थं प्रकरणानुप्रवेशायोगात् प्रधानसम्ब-
न्धस्यैवाप्रसक्तौ क्वस्यस्तदुपस्थापिताङ्गसम्बन्धः ।

एवं सत्यपि यदि पवमानेष्टिसन्निधाविदमाम्नायेत ततो भ-
वेत्तन्मात्राङ्गं वारणादि । तदा हि अनुवादस्य पुरोवादसापेक्षतायां
सति संभवे सन्निहितपुरोवादविषयत्वौचित्यात् तन्मात्रविषयता
भवत्येव ।

अत एव “ब्रीहिभिर्यजेत,” “सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य
यूपः” (३)“प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति” इति प्रकरणा-

तिदेशादिना सन्निहितपुरोवादविषयत्वलाभः । अत्र हि अव्य-
भिचरितक्रतुसम्बन्धेनैवापूर्वमाधानत्वोपस्थितेः तदर्थं प्रकरणा-
नुप्रवेशाभावेऽपि अनुवादस्य पुरोवादसापेक्षत्वात् तल्लाभः ।
प्रकृते तु पवमानेष्टीनां स्वतस्सन्निधानाभावात् सन्निहितस्य
चाधानविधेः पुरोवादत्वाभावात् वाक्यमात्रेण सर्वयज्ञार्थत्वं वा-
रणादेः । तत्रापि च यज्ञोद्देशेन विधानात् “एष वै सप्तदशः
प्रजापति” रितिवत् न प्रकृतिमात्रार्थत्वम् ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे पात्राणामान्तं धारणात् तैरेवोपादानला-
घवेन दर्शाद्यनुष्ठानोपपत्तावपि दैवात् तेषां नाशे दर्शाद्यर्थम-
नियतानामुत्पत्तिः । सिद्धान्ते वारणानामेवेति द्रष्टव्यम् ।

सूत्रं तु गुणानां वारणादीनां आधानभिन्नयज्ञार्थत्वात् तैरे-
वासम्बन्धानां तदङ्गभूते अवतारसम्भवात् पवमानेष्टीनां च स्वतस्स-
न्निधानाभावे यज्ञान्तरैस्सप्तत्वादसम्बन्ध इति व्याख्येयम् ।

अथ वा सर्वयज्ञार्थत्वस्य “पूषा प्रपिष्ट” इतिवदार्थात् पूर्वा-
धिकरणे निविदां सामिधेन्यङ्गत्वमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थत्वेन
व्याख्येयम् ॥

इति द्वादशं वारणाधिकरणम् ।

अथ त्रयोदशं वार्त्रघ्न्याधिकरणम् (१३) ॥

सू-मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥ ३-१-२३ ॥ (सि)

(विषयसंशयौ)

आज्यभागक्रमे समाप्तातानां वार्त्रघ्नीवृधन्वतीमन्त्राणां
किं लिङ्गकर्मौ बाधित्वा (१) “वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनृच्येते, वृध-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २११

न्वती अमावास्यायां” इति वाक्याभ्यां प्रधानयागाङ्गत्वम् ? उत-
लिङ्गक्रमाभ्यामाज्यभागाङ्गत्वमेव । वाक्यद्वयं तु व्यवस्थार्थमिति
विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

पूर्वपक्षे च सप्तम्या द्वितीयार्थत्वलक्षणात् गौणश्रुतिविनि-
योगोपयोगिचिन्तनेन पादाध्यायसङ्गतिः । पूर्वं च वाक्येन
दुर्बलप्रमाणोपजीवने समर्थिते तदपवादकरणादनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

विद्वद्वाक्ये च कर्मान्तरत्वावेदकप्रमाणाभावात् तत्र मन्त्र-
विनियोजकत्वानुपपत्तावपि आग्नेयादिषु तदुपपत्तेः नानयोः
व्यवस्थार्थत्वमित्यधिकाशङ्कोत्थानात् पौर्णमास्यधिकरणेनापौन-
रुक्त्यम् । तत्र कालकृतव्यवस्थापक्षस्य पौर्णमास्यधिकरण एव
निराकृतत्वात् कर्मकृतव्यवस्थापक्षस्य तत्तत्कालीनप्रधानाङ्गभू-
ताज्यभागकर्मत्वलक्षणापवादकत्वेन गुरुभूतत्वात् लाघवेन पौ-
र्णमास्यमावास्यापदाभ्यां निरूढलक्षणया प्रधानानि, सप्तम्या
च कर्मत्वमुक्त्वा तदुद्देशेन मन्त्रो विनियुज्यते ।

न च लिङ्गक्रमबाधः । क्रमस्य तावत् दुर्बलत्वेन बाधस्य
गुणत्वात् । एवं च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावेन लिङ्ग-
स्याप्रयोजकत्वाच्च ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणगतवाक्यापेक्षया लिङ्गस्यापि मन्त्रगतस्य
दौर्बल्यमेव । अत एव “यद्यप्यन्यदेवत्यः पशु” इति वाक्येन
मनोतामन्त्रस्य लौङ्गिकी सवनीयाङ्गता बाध्यत इति वक्ष्यते ।
बीजं चात्र (२)बलाबलाधिकरणे वक्ष्यते । प्रशास्तर्यजेति म-
न्त्रलिङ्गे “मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानुचाहे” इति ब्राह्मणवाक्यस्य

बाधस्तु सामान्यविशेषादिरूपप्रमेयबलाबलेन द्रष्टव्यः । न तु वाक्यदौर्बल्येनेति ध्येयम् । तस्मात् प्रधानमात्राङ्गत्वमेवेति प्राप्ते—
(सिद्धान्तः)

ब्रूमः—दुर्बलस्यापि प्रमाणस्याबाधेनोपपत्तौ तद्बाधे प्रमाणा-
भावात् नात्र प्रधानाङ्गत्वसम्भवः । न ह्यत्र सोमप्रकाशकस्य म-
न्त्रस्य कथमपि लिङ्गाविरोधस्संभवति । अमावास्यायां सोम-
स्याधिष्ठानत्वेनाप्यभावात् ।

न च पौर्णमास्यां सोमस्य देवतात्वाभावेऽपि अग्निप्रका-
शकस्य सोमप्रकाशकस्य च मन्त्रस्य समुच्चयाङ्गीकारेणाग्नी-
षोमदेवताप्रकाशकत्वोपपत्तेः लिङ्गाविरोध इति वाच्यम् । पुरो-
नुवाक्यामन्वाहेत्युपादेयगतैकत्वस्य विवक्षितत्वात् पुत्रेष्टिवच्च “द्वे
द्वे पुरोनुवाक्ये भवत” इति विध्यभावात् एकस्मिन् कर्मणि अ-
नुवाक्याद्वयानुपपत्तेः । क्रमबाधश्चोभयत्र स्पष्ट एव ।

अस्तुतस्तु न केवलमबाधपक्षपातितयैव वाक्येन तयोरबा-
धः । अपि तु नियमविधिलाघवानुरोधेनापीत्युक्तं पौर्णमास्यधि-
करणे । अत एव तदनुरोधेन लक्षणाङ्गीकरणमप्यदोषः ।

एवं च प्रधानक्रमास्नातानां अनुवाक्यान्तराणां बाधः ।
आज्यभागयोश्चाश्रुतानुवाक्याकल्पनं नाश्रितं भवति । तस्मात्
व्यवस्थार्थमेवेदं वाक्यद्वयम् । सा च कर्मकृतेत्युक्तमेव पौर्ण-
मास्यधिकरणे ॥

प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

सूत्रं तु प्रधानस्यानुवाक्यानां च मिथो न प्रयोजनप्रयोज-
निसम्बन्धः, लिङ्गादिबाधापत्तेरिति व्याख्येयम् ॥

इति त्रयोदशं वार्त्रघ्न्यधिकरणम् ॥

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २१३

अथ चतुर्दशं हस्तावनेजनादीनां कृत्स्न-
प्राकरणिकाङ्गताधिकरणम् ॥ (१४)

मू-आनन्तर्यमचोदना ॥ ३-१-२४ ॥ (सि)

(विषयः)

दर्शपूर्णमासयोः “हस्तावनेनिक्ते” इति विधाय श्रुतं
“उलपरार्जीस्तृणाती” ति । तत्रावनेजनं द्वितीयाश्रुत्या अदृष्टविध-
या दृष्टविधयैव वा हस्तसंस्कारार्थम् । तदपि कर्तृत्वांशेन । न तु
भोक्तृत्वांशेन, मलापकर्षणार्थत्वात् । यद्यपि पूर्वमेव शुद्ध्यन्त-
रमप्यनुष्ठितमस्ति तथापि मन्त्रानेकत्वे स्मृतिदार्ढ्यवत् शुद्ध्य-
न्तरस्यापि बाधकाभावः ।

अत एवास्य सिद्धान्ते सर्वार्थत्वेऽपि न पूर्वपदार्थाङ्गत्वमि-
त्यर्थक्रमेण पाठक्रमं बाधित्वा न सर्वादावनुष्ठानम् । ततश्चावने-
जनसंस्कृतस्य कर्तृहस्तस्य उपयोगापेक्षायामुत्तरकालभाविपदा-
र्थसाधनत्वमित्पप्यविवादमेव ।

(संशयः)

उत्तरपदार्थस्तु किमव्यवहितानन्तर एव, अथवा सर्व ए-
वेति सन्दिह्यते । अत एव श्रुतिविनियोगोपयोगिहस्तनिष्ठापूर्व-
साधनत्वविचारात् पादाध्यायसङ्गतिः । तत्प्रसङ्गाच्च उयोतिष्ठो-
मप्रकरणस्थं “मुष्टीकरोति,” “वाचं यच्छती”त्याद्यप्युदाहरणम् ।

इदं हि द्वयमपि लिङ्गान्मनःप्रणिधानद्वारा दीक्षितकर्तृसंस्का-
रकं सत् करिष्यमाणकर्मार्यमेव, दीक्षितत्वपुरस्कारेण विहितस्य
सर्वार्थत्वेऽपि पूर्वपदार्थाङ्गत्वानुपपत्तेः । अतस्तत्राप्यव्यवहितो-
त्तराभ्यातदीक्षितावेदनमात्रार्थत्वम् ? उत वाग्विसर्गाङ्गुलिविस-
र्गपूर्वभावियावत्पदार्थत्वमिति विचारः ।

(सङ्गतिः)

पादसङ्गत्यभावेऽपि प्रासङ्गिको द्रष्टव्यः । श्रुत्यैव वा मुष्टि-
वाग्यमयोः संस्कारार्थत्वमित्यपि सुवचम् । मुष्टीकरणस्य वाग्यम-
मात्राङ्गत्वशङ्का तु उभयोरपि कर्तृसंस्कारकत्वेन परस्प-
राङ्गत्वानुपपत्तेर्नातीवादार्तव्यः । अनन्तरा त्वानन्तर्यरूपक्रमाप-
वादात् स्पष्टा ।

(पूर्वपक्षः)

अत्र आनन्तर्यादव्यवहितपदार्थाङ्गत्वमेव । नचानन्तर्यस्य
बहुषु पठितेषु कस्यचिदधर्जनीयत्वात् नाङ्गतानियामकत्वमिति
वाच्यम् । सन्निधिविशेषाम्नानवैयर्थ्यपरिहारार्थं तस्यापि प्रकर-
णादिकल्पनेनाङ्गताग्राहकत्वात् । अन्यथा उपहोमानां विकृत्यङ्ग-
त्वानुपपत्तेः । न च सन्निधानस्य नियामकत्वेऽपि प्रकृते सर्वार्थ-
ताग्राहकप्रकरणविरोधात् तदसम्भवः । साधारणस्य प्रकरणस्य
विशेषनिष्ठानन्तर्येणोपसङ्ग्रहोपपत्तेः । अन्यथा “शुन्धध्व”मिति प्रो-
क्षणमन्त्रस्यापि प्रकरणात् सर्वप्रधानाङ्गभूतपात्रप्रोक्षणाङ्गत्वा-
पत्तेः सन्निधानात् सान्नाय्याङ्गभूतपात्रप्रोक्षणार्थता वक्ष्यमाणा
विरुध्येत ।

अतो विरुद्धविषये प्रकरणस्य प्राबल्येऽपि अचिरुद्धविषये
उपसंहार एवेति पूर्वपक्षवादी मन्यते । अतश्चावनेजनमुलपरा-
जिस्तरणाङ्गम् । मुष्टीकरणवाग्यमौ चाध्वर्युकर्तृकदीक्षितावेदनफ-
लीभूतज्ञानजननद्वारा आवेदनाङ्गम् । न तु सर्वाङ्गम् ।

(सिद्धान्तः)

सिद्धान्तवादी तु न वाक्यादिमात्रकल्पनया शीघ्रप्रवृत्तेन प्र-
करणेन प्रमितस्य सर्वार्थत्वस्य प्रकरणादिकल्पनसापेक्षेण पश्चा-
त्प्रवृत्तेन सन्निधिना युक्त उपसंहारः, तथात्वे विकल्पापत्तेः ।

अत एव न यत्र सामान्यशास्त्रस्य प्रथमप्रवृत्तिकत्वं तत्रैवोपसंहार इति वक्ष्यते । शुन्धनमन्त्रस्य तु न प्रकरणात् झटित्येव सर्वप्रधानाङ्गत्वावगमः । द्वारकल्पनासापेक्षत्वात् । सान्नाय्याङ्गता तु सन्निधिना तद्वारस्य तद्विपात्रशुन्धनरूपस्य क्लृप्तत्वात् झटित्यवगम्यत इति युक्तः तत्र सन्निधानेन प्रकरणस्योपसंहारः । प्रकृते तु द्वारक्लृप्तेः सर्वत्राविशेषात् वैपरीत्यमिति वैषम्यम् ।

वस्तुतस्तु अवर्जनीयत्वात् बहुषु किञ्चिदानन्तर्यस्य नाङ्गताग्राहकत्वमपि । न च सन्निधिविशेषाम्नानवैयर्थ्यम् । क्रमनियमार्थत्वेन तस्योपपत्तेः । अत एव यत्रोपहोमादौ न प्रकरणान्तरेणार्थवत्ता तत्राङ्गताग्राहकत्वमपि । तत्राङ्गत्वे भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहात् क्रमनियामकत्वानुपपत्तिः । अतः आनन्तर्यस्य अनियामकत्वात् प्रकरणेन हस्तावनेजनस्य करिष्यमाणसर्वपदार्थाङ्गत्वमेव । कृतसंस्कारकत्वेन प्रधानमात्रार्थत्वशङ्कानुपपत्तेः ।

न च मलापकर्षणार्थत्वादस्य पिष्टलेपप्राग्भाविपदार्थाङ्गत्वमेव युक्तमिति न्यःयसुधाक्लृदुक्तं युक्तम् । हस्तावनेजनप्राग्भाविमलापकर्षणार्थस्यास्य पिष्टलेपसम्बन्धिमलनिवर्तकत्वाभावेऽपि सर्वपदार्थाङ्गभूते तन्मलाभावसम्पादकत्वेन सर्वार्थत्वोपपत्तेः । सुष्टीकरणवाग्यमयोस्तु अङ्गुलिवाग्विसर्गप्राक्कालीनत्वेन यजमानकर्तव्यसर्वपदार्थाङ्गत्वमेव, तदुत्तरकर्तव्यपदार्थसम्बन्धिनः प्रधानस्य पृथक्प्रयत्नापेक्षत्वेन एतज्जन्यत्वाभावात् ।

नचैत्रं तदुत्तरभाविप्रधानाङ्गत्वस्यैवाभावेन कथं प्रधानप्रकरणेनाङ्गमात्रार्थत्वमिति वाच्यम् । आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन तदुपपत्तेः । तस्मात् सर्वार्थत्वम् ॥

सूत्रं स्पष्टम् ॥

ननु प्रकरणस्यापि वाक्येन बाधोपपत्तेः कथं सर्वार्थत्वं ?

नह्याख्यातद्वययच्छब्दतुमुन्प्रत्ययाभावे एकवाक्यत्वमेव ना-
स्तीति नियमस्समास्ति । पश्य मृगो धावतीत्यादौ व्यभिचारात् ,
अत आह—

सू—वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥ ३-१-२५ ॥

दर्शनभावनायाः कर्मसाकाङ्क्षत्वात् धावनभावनायां
तस्यां कर्मत्वेनान्वयोपपत्तेः युक्ता तत्रैकवाक्यता । प्रकृते त्ववने-
जनभावनानां सत्यप्यपूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्रहणार्थं भाव-
नान्तरापेक्षणे शाब्दबोधे हस्तादीनामेव कर्मत्वेनान्वयात् विभ-
ज्यमानसाकङ्क्षत्वाभावेनैकवाक्यत्वानुपपत्तेः ।

प्रयोजनमुलपराजिस्तरणस्यारादुपकारकत्वेन प्रधानमा-
त्रार्थत्वात् गृहमेधीये लोपेन हस्तावनेजनस्यापि लोपः पूर्वपक्षे ।
सिद्धान्ते तु आज्यभागाङ्गत्वेन करणमिति विस्मृतस्यापि हस्ता-
वनेजनादेः उलपराजिस्तरणानन्तरं करणमित्यपि प्रयोजनं
द्रष्टव्यम् ॥

इति हस्तावनेजनाधिकरणम् ॥

अथ पञ्चदशमाग्नेयचतुर्धाकरणाधिकरणम् ॥ (१५)

सू—शेषस्तु गुणसंयुक्तस्साधारणः प्रतीयेत

मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥ ३-१-२६ ॥

(विषयः)

दर्शपूर्णमासयोः “आग्नेयं चतुर्धा करोति” इति श्रुतम् ।
तत्र किं हविष्ममेव तदुद्देश्यतावच्छेदकं ? अग्निसम्बन्धिहविष्मं
वा ? उत पुरोडाशत्वमेव वा ? उताग्निदेवताकहविष्मम् ? इति
विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायतद्गतिःस्पष्टा । सर्वार्थत्वापवादाच्चानन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

अत्र द्वितीयया चतुर्धाकरणं प्रति प्राधान्यात् तद्धितार्थ-
स्थोद्देश्यता प्रतीयते । तस्य च सर्वनामार्थकत्वात् स्ववाक्योपात्ता-
भावे प्राकरणिकपरामर्शित्वावगतेः प्रकृतप्रधानसाक्षात्सम्बन्धि-
हविर्मात्रोद्देश्यतावगतेः अग्निसम्बन्धित्वरूपविशेषणस्याप्यविव-
क्षितत्वात् हविर्मात्रस्य च चतुर्धाकरणम् । नह्यत्र परस्परानन्वयो
व्युत्पत्तिसिद्धः येन विशिष्टोद्देशः शङ्कयेत । (१) पौर्णमास्यधिकरणे
द्रव्यदेवतयोः परस्परानन्वयस्य स्थापितत्वात् ।

अस्तु वा कथंचिद्विशेषणविवक्षा, तथापि प्रधानभूतद्रव्य-
सङ्कोचपरिहारार्थं सम्बन्धसामान्ये तद्धितस्यानुशासनिकीं लक्ष-
णामङ्गीकृत्य अग्निसम्बन्धित्वमात्रं तद्विशेषणम्, (२) 'गुणे त्व-
न्याय्यकल्पने'ति न्यायात् । सम्बन्धस्य च विशेषापेक्षायां
हविर्निरूपितदेवतात्वाधिष्ठानत्वकत्वसम्बन्धस्याश्रयणात् सर्वेषां
पुरोडाशानां अग्नीषोमीयाण्यस्य "वेद्यां हवींषी"तिवद्वा अग्नि-
सम्बन्ध्यङ्गहविषोऽपि चतुर्धाकरणम् ।

अस्तु वा (३) "तच्चतुर्धा कृत्वा पुरोडाशं बर्हिषदं करोती"ति
शतपथश्रुतिगतेन वाक्येन सिद्धान्तवदुपसंहारात् अग्निसम्बन्धि-
पुरोडाशमात्रस्यैव चतुर्धाकरणम् । आग्नेयपदस्य च पुरोडाशमात्र-
परत्वेऽपि शाखान्तरीयत्वादस्य वाक्यस्य नानर्थक्यम् ।

अस्तु वा रुक्षणाभयादेव आग्नेयमिति देवतातद्धितः ।
तथाप्यग्नीषोमीयादावप्यस्येवाग्नेः देवतात्वमिति तस्यापि चतुर्धा-
करणोपपत्तिः । घटपटावानयेत्यादौ कर्मत्वस्यैव द्वन्द्वान्ते श्रुतस्य

तद्वितार्थस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् त्यज्यमानद्रव्योद्देशकर्मत्वरूपे
देवतात्वे व्यासक्तत्वस्य बाधाश्च । अतश्च द्वित्य ढविन्थमातुःद्वि-
त्थमातृव्यपदेशवत् उभयदेवत्वस्याप्याग्नेयपदव्यपदेश्यत्वोपपत्तेः
युक्तं पुरोडाशमात्रस्य चतुर्धाकरणम् ।

अस्तु वा व्यासक्तं देवतात्वम् । तथापि प्रधानभूतद्रव्य-
सङ्कोचपरिहारायाग्निपदं स्वशक्यघटितमधिष्ठानं लक्षयित्वा त-
न्निष्ठदेवतात्वमेव हविर्विशेषणत्वेनावगमयतीति न कश्चित् पुरो-
डाशमात्रचतुर्धाकरणे विरोधः । यदि हि प्रमाणान्तरप्रामितसो-
मादिसापेक्षस्याग्निप्रातिपदिकार्थमात्रस्यानेन देवतात्वमुच्यते त-
तस्सापेक्षत्वेन तद्वितवृत्तिभङ्ग आपद्येत । अग्निपदेनैव तु मनो-
तास्थाग्निपदेनेव सोमादेरपि लक्षणायां न कश्चिद्विरोधः ।

अतश्च यथैव(१)“आग्नेयस्य मस्तकं विरुज्य प्राशित्रमवद्यती”
त्यस्य सर्वविषयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति सिद्धम् ।

सूत्रं तु उद्देश्यविशेषणसंयुक्तश्लेषः साधारणः प्रतीयेत ।
चतुर्धाकरणाख्यस्य श्लेषस्याग्नेश्चोद्देश्यविशेषणस्य मिथस्सम्बन्धा-
भावादिति व्याख्येयम् ॥

इति पूर्वपक्षः ।

सू-व्यवस्था वाऽर्थ(२)स्य श्रुतिसंयोगात् लिङ्गस्यार्थेन
सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥३-१-२७॥

(सिद्धान्तः)

आग्नेयस्यैव वा चतुर्धाकरणम्, प्रचुरप्रयोगेण देवतामात्रश-
क्तस्य तद्वितस्य सम्बन्धसामान्यलक्षकत्वानुपपत्तेः । अत एव
तदनुशासनमपि लक्षणिकमेव ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २१९

न च प्रधानभूतसर्वनामार्थकतद्धितार्थद्रव्यसङ्कोचपरिहाराय लक्षणानङ्गीकरणम् । शुक्लः पट इत्यादौ सङ्कोचार्थ एव विशेषणे लक्षणानङ्गीकरणात् । अन्यथा विशेषणमात्रोच्छेदापत्तेः । एतेनाग्निपदेनैव मनोतास्थाग्निपदवत् सोमादिलक्षणेत्यप्यपास्तम् । तत्र केवलाग्निदेवताकत्वाभावेन तदङ्गीकारेऽपि प्रकृते तदङ्गीकारे प्रमाणाभावात् ।

न च देवतावाचित्वाङ्गीकारेऽपि अग्नीषोमीयादौ उभयोरपि देवतात्वसत्वाच्चतुर्धाकरणविषयत्वोपपत्तिः । इतरेतरयोगरूप-चार्थविहितद्वन्द्वेन साहित्यस्य विवक्षितत्वात् सहितयोरेव देवतात्वं प्रत्यन्वयोपपत्तेः । अतएव देवतात्वमप्यखण्डोपाधिरूपम् , न तु त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वमेवेति न व्यासक्तत्वाविघातः । घटपटावानयेत्यत्र उद्देश्यत्वेन तद्विशेषणस्य साहित्यस्याविवक्षितत्वात् प्रत्येकं कर्मतेति विशेषः । अत एव तदभिप्रायेणैव द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यत इति प्रवादः । अतश्चाग्नीषोमीयादावग्नेर्देवतात्वाभावात् केवलाग्निदेवत्यस्यैव चतुर्धाकरणम् ।

यत्तु अग्निदेवताकत्वं प्रकृतद्रव्यविशेषणमविवक्षितमिति, तत्र ब्रूमः—यन्मते सम्बन्धसामान्ये तद्धितः तन्मते तावत्कारकतातिरिक्तसम्बन्धेन परस्परान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वेन विशिष्टोद्देशे नैव किञ्चित् बाधकमस्ति । यस्यापि देवतातद्धितस्तस्यापि किमपूर्वसाधनत्वस्य लक्षकं ? प्रकृतद्रव्यमात्रं वा ? प्रकृतहविष्टं वा ? नाद्यः; “सूक्तहविषोरि”ति नियमेन देवतातद्धितस्य द्रव्यमात्रवाचित्वाभावात् । नान्त्यः; हविःपरत्वस्य देवतावाचित्वप्रतीतिं विना अनुपपत्तेः । न हि सूक्ते हविषि वा वाच्ये देवतातद्धितस्तेन नियम्यते । येन हविःपरत्वं प्रथमत एवा-

वबुध्येत । सूक्ते हविषि वा वाच्येऽपि अधीतादितद्धितस्य सम्बन्धसामान्यतद्धितस्य वा दृश्यमानत्वात् । अपि तु देवतातद्धितस्य सतस्सूक्तहविर्वाचित्वनियमः तेन क्रियते । अतश्च उपजीव्यस्य प्रथमावगतस्य देवतात्वस्यैवापूर्वसाधनलक्षकत्वोपपत्तेः तदेव प्रातीतिकमुद्देश्यतावच्छेदकम् । देवतात्वस्य च नियमेनानुयोगिप्रतियोगिसापेक्षत्वात्(१) हविरार्तिन्यायेनाग्नेर्हविषश्च विवक्षाङ्गीकारात् देवतायाश्च द्रव्यान्वयस्याव्युत्पन्नत्वेऽपि “अर्धमन्तर्वेदि मिनोती”तिवत् तद्धितान्तपदेनाग्निदेवताकहविष्टस्य लक्षणयोद्देश्यतावच्छेदकत्वोपपत्तिः ।

एवं चाग्निदेवताकस्य आज्यभागहविषोऽपि “विद्यां हवींष्यासादयती”तिवत् चतुर्धाकरणप्रसक्तौ शाखान्तरीयेण “तच्चतुर्धा कृत्वे”ति वचनेन तच्छब्दपरामृष्टपुरोडाशपरेणास्य स्वविषये उपसंहारादग्निदेवताकपुरोडाशमात्रस्य चतुर्धाकरणोपपत्तिः । आज्यभागाङ्गस्यापि वा ध्रौवाज्यस्य सर्वार्थत्वेन प्रतिपत्यनर्हत्वात् अनेनैव तस्योपसंहारः । एतादृशोपसंहारे च बीजं विकल्पानापत्तिः, शक्यतावच्छेदकानवच्छिन्नपदार्थलक्षणानुपपत्तिश्च । अन्यथा उपसंहारानङ्गीकारे शाखान्तरीयत्वेऽपि विकल्पापत्तिः । आग्नेयपदस्यैव पुरोडाशमात्रपरत्वलक्षणयोपसंहाराङ्गीकारे तु आग्नेयपदेन शक्यतावच्छेदकानवच्छिन्नाग्नीषोमीयादिलक्षणापत्तिः । अतः पुरोडाशपदस्यैव शक्यतावच्छेदकावच्छिन्नाग्नेयमात्रपरत्वलक्षणया उक्तविधमुपसंहाराङ्गीकरणं युक्तम् । तदा हि सामान्यशास्त्रस्य क्लृप्तत्वेऽपि प्रथमप्रवृत्तिकत्वाभावात् फलतः परिसंख्यावान्तरभेदः तन्मात्रसंज्ञोचरूपोपसंहारोऽङ्गीक्रियत इति न विकल्पापत्तिः ।

नचैवमपि परस्परौपसंहारे द्वयोस्सार्थक्योपपत्तावपि अन्य-
तरेणान्यतरोपसंहारे सामान्यशास्त्रस्यानर्थक्यम् । 'तं चतुर्धा कृत्वे'
त्यत्र तु प्राप्तचतुर्धाकरणोत्तरकालत्वविशिष्टबहिषस्वकरणकभा-
वनायाः भक्षणाङ्गत्वेन विधानाच्चतुर्धाकरणविध्यभावेन सामा-
न्यविधित्वाभावात् कथमुपसंहार इति वाच्यम् । क्रमविधानार्थ-
मप्यनूद्यमानस्य तेनोपसंहारोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु तस्य शाखान्तरीयत्वात् तच्छाखीयपुरुषान् प्रति
चतुर्धाकरणस्यापि विध्युपपत्तिः । नचैवं वाक्यभेदापत्तिः ।
स्वोद्देश्यसम्बन्धिन्या एव चतुर्धाकरणभावनायाः उत्तरकाल-
तासम्बन्धेनैवोत्तरभावनायां वैशिष्ट्योपपत्तेः । यद्यपि स्वशा-
खीयवाक्याभावे शाखान्तरीयपुरुषान् प्रति चतुर्धाकरणं प्राप्नो-
त्येव, तथापि स्वशाखीयवाक्यसत्त्वे तस्यैवाभ्युदयशिरस्कत्वक-
ल्पनया विधायकत्वकल्पनात् सामान्यशास्त्रत्वोपपत्तिः । एवमेक-
शाखीयवाक्यद्वयस्थलेऽपि यद्धि सामान्यवाक्यस्याभ्युदयशिरस्क-
त्वकल्पनयापि संभवत्प्राप्तिकार्थप्रापणफलकत्वेन सामान्यशास्त्रत्व-
संभवः, यथा अनारभ्याधीतसाप्तदश्यवाक्यस्य सामिधेनीसम्बन्ध-
मात्रप्रापकतया तत्रापि युक्तोपसंहारो मित्रविन्दादिप्रकरणस्थसाप्त-
दश्यवाक्येन । यत्र तु न कथमपि सामान्यवाक्यसार्थक्यं तत्र
विकल्प एवागत्याङ्गीक्रियते । तत्रापि वाक्यद्वयप्रमितमभ्युदयकारि
भवतीत्येवं कल्पनया उपसंहार एवेत्यन्यदेतत् ।

यत्तु प्राशिन्नावदानवत् सत्यप्याग्नेयपदश्रवणे सर्वार्थत्वमि-
त्युक्तम् । तत्प्राशिन्त्रमवद्यतीति सामान्यवाक्येन सर्वहविषां प्रा-
शिन्नावदानप्राप्तौ प्रदेशविशेषापेक्षायां आग्नेयस्येतिवाक्येन आ-
ग्नेयोद्देशेन मस्तकप्रदेशनियममात्रकरणात् अन्यपरत्वेन सामा-
न्यवाक्योपसंहाराशक्तेः हविरन्तरे प्रदेशनियमाप्राप्तावपि प्राशि-

प्रावदानप्राप्तौ बाधकाभावात् । प्रकृते तु तद्विशेषवाक्यस्यान्यपरत्व
भावेन उपसंहारस्यावश्यकत्वात् सर्वार्थत्वानुपपत्तेः परिहर्तव्यम् ।

अत एवात्र प्राशित्रावदानस्यावान्तरप्रकरणादेव प्राप्तः तद-
न्यथानुपपत्त्या च विभागापरपर्यायस्य विरुजनस्यापि प्राप्तः
तदनूय मस्तकमात्रमाग्नेयोद्देशेनापादानत्वेन विधीयते । अत एव
द्वितीयया विभागसंस्कार्यतया प्रतीयमानस्यापि मस्तकस्य दृष्टा-
र्थत्वाद्यनुरोधेनापादानत्वलक्षणायामपि न दोषः ।

अस्तुवा आग्नेयमस्तकापादानकस्य विभागस्यैव प्राशित्रावदा-
नोद्देशेन विधिः । स्फोटनापरपर्यायो विभागो नार्थप्राप्तः । अ-
स्मिंश्च पक्षे विधेयसापेक्ष्यादेव प्राशित्रावदानस्याग्नेयमात्रविषय-
स्योद्देश्यत्वावगमेऽपि न तस्योत्पत्तिवाक्येऽपि तन्मात्रविषयत्व-
मित्यन्यत्र विस्तरः ॥

मूत्रं तु आग्नेय एव चतुर्धाकरणव्यवस्था । देवतात्वरूप-
स्यार्थस्य तद्धितश्रुतिसंयोगात् ।

न चास्यापूर्वसाधनत्वपरिचायकत्वमात्रतया स्वरूपस्याविव-
क्षितत्वाद्नादरः । छिद्रत्वेऽप्यर्थेनापूर्वसाधनत्वेनान्यूनानतिरि-
क्तवृत्तितया सम्बन्धात् । प्राशित्रावदानवाक्ये तु आग्नेयपदस्य
मस्तकोपलक्षणार्थत्वात् न तस्य व्यवस्थेति व्याख्येयम् । प्रयो-
जनं स्पष्टम् ॥

इति पञ्चदशमाग्नेयचतुर्धाकरणाधिकरणम् ॥ १५ ॥

श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।

मीमांसाकौस्तुभाख्या शेषाख्यायै पाद आद्योयम् ॥

इति पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीणश्रीरुद्रदेवसूनोः

खण्डदेवस्य कृतौ मीमांसाकौस्तुभे

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

श्रीरस्तु

श्रीः
मीमांसाकौस्तुभे ।

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

सू-अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावस्स्यात् त-
स्माद्बुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥

३-२-१ ॥ (सि)

(विषय संशयौ)

एवं श्रुतिविनियोगोपयोगिविचारे समाप्ते इदानीं श्रुत्युप-
जीविल्लिङ्गाविनियोगोपयोगिविचारः प्रारभ्यते ।

लिङ्गं नामाङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यताकृतिकारकत्वान्यतर-
वाचकपदकल्पनानुकूला क्लृप्तपदार्थनिष्ठा योग्यता । यथा 'सु-
वेणावद्यती'सत्र क्लृप्तपदार्थनिष्ठा द्रवमित्युद्देश्यवाचिपदकल्प-
नानुकूला योग्यता लिङ्गम्, यथा वा संस्कारविधयन्यथानुपप-
त्त्या संस्कार्यस्य विनियोगकल्पनास्थले द्रव्यनियामकपदकल्प-
नात् कृतिकारकत्ववाचिपदकल्पनानुकूला क्लृप्तसंस्कारनिष्ठा यो-
ग्यता लिङ्गम् ।

यद्यपि च तत्रोद्देश्यवाचकमपि पदं कल्प्यते तथापि कृति-
कारकत्ववाचिपदस्य तावत् कल्पनान्न क्षतिः ।

एवं मन्त्रेष्वपि क्लृप्तेषु स्वप्रतिपाद्यार्थं प्रत्युद्देश्यताप्रतिपा-

दकपदकल्पनानुकूलास्ति योग्यता । अतस्सापि लिङ्गम् । सा चान्यथानुपपत्तिरूपत्वाद्द्वयतिरेकव्याप्तिरूपा । तच्च तत्पदरूप-श्रुतिकल्पनाद्वारा तत्तत्पदार्थं प्रति क्लृप्तपदार्थस्य तत्पदार्थस्य वा पदार्थान्तरं प्रति विनियोगे कारणम् । तत्र च वस्तुसामर्थ्य-रूपस्य लिङ्गविशेषस्य विचारामम्भवेनैतावतैव प्रायशः पर्यवसानम् । मन्त्रसामर्थ्यरूपे तु विचार्यते—किं तेन शक्यैव प्रतिपाद्यमानेऽर्थे विनियोगः ? किं वा लक्षणया विनियोगो ? गौण्या वा प्रतिपाद्यमानेऽपीति ।

(सङ्गतिः)

लिङ्गप्रयोज्यविनियोगोपयोगिचिन्तनस्य पादार्थत्वात् पादाध्यायसङ्गतिस्स्पष्टा । अनन्तरा तु युक्तं प्रसक्षश्रुतेर्विशेष-निष्ठत्वादसर्वविषयत्वं चतुर्धाकरणस्य, लिङ्गस्य तु न तथात्व-मिति पूर्वपक्षोत्थापनात् द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र दर्शपूर्णमासादिप्रकरणे समाप्तातानां श्रुतिविनियुक्तानां मन्त्राणामधिकाराख्यप्रकरणात् क्रतुसम्बन्धेऽवगते द्वार-विशेषे मन्त्रालिङ्गेन विनियोगः क्रियते । तत्रापि योग्यतारूपस्य लिङ्गस्य सत्यपि देवदत्तस्य पाकयोग्यत्वे आकाङ्क्षाभावे पाके विनियोगादर्शनात् आकाङ्क्षापि सहकारिणी । सा च यथैव मन्त्रप्रकरणिनोः, तथा द्वारस्यापि, तदभावेऽपि सम्बन्धानुपपत्तेः ।

एवं च यथैव मुख्यस्य कुशच्छेदनस्य स्मारकापेक्षायां तदङ्गत्वेन मन्त्रो “वाहिर्देवसदनं दामी” अयं विनियुज्यते, यथा गौण-स्याप्युल्लपाख्यसुगन्धितृणविशेषच्छेदनस्य स्मारकापेक्षायां विनियुज्यत एव । न हि प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिर्विरुध्यते ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२५

न च जघन्यवृत्तिजन्यशाब्दबोधं मुख्यार्थबाधस्यपि कार-
णत्वात् कथं तदभावे गौणेऽर्थे विनियोग इति वाच्यम् । “य-
ष्टाः प्रवेशय” ‘छत्रिणो गच्छन्ती’ त्यादौ तदभावे तात्पर्यमा-
त्रेण जघन्यवृत्तिदर्शनेन तात्पर्यानुपपत्तेरेव तत्कारणत्वावसा-
यात् प्रकृते च गौणार्थविषयकस्मारकाकाङ्क्षाया एव तात्पर्य-
ग्राहकत्वात् तस्मिन् विनियोगोपपत्तेः । अत एव मन्त्रस्य मु-
ख्यार्थविनियोगेन निराकाङ्क्षस्यापि न क्षतिः ।

न च गौणार्थस्मारकाकाङ्क्षाया ध्यानाद्युपायान्तरेण निवृ-
त्तिः। आकाङ्क्षायास्तात्पर्यग्राहकत्वमात्रेणाप्युपपत्तावनुपस्थितध्या-
नाद्याक्षेपकत्वे प्रमाणाभावात् , वृत्तिप्रमापितप्रतिमन्त्रनियम-
स्याङ्गत्वमित्येकस्यैव विनियोगस्य कल्पनोपपत्तौ ध्यानादीनां
तत्कल्पने गौरवाच्च । अत एव गौणमुख्यार्थभेदेन विनियो-
मकल्पनात् पूर्वपक्षेऽपि गौरवमिदमपास्तम् । तस्मात् सर्वत्र वि-
नियोगः ।

एवं च दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितानां पूषानुमन्त्रणमन्त्रा-
दीनां प्रकरण एव गौण्या वृत्त्या निवेशोपपत्तेरुत्कर्षोऽपि ना-
श्रितो भवति ।

न च मन्त्राणां गौणार्थाकाङ्क्षायां वृत्तिप्रमाप्यप्रसङ्गत्वक-
ल्पनेऽपि प्रकृतेऽग्न्यादिरूपस्य गौणार्थस्य संनिहितमुख्य-
मन्त्रान्तरेण निराकाङ्क्षत्वात् कथं तत्र पूषानुमन्त्रणमन्त्रस्य गौ-
णस्य निवेश इति वाच्यम् । प्राकरणिकेऽन्यदेवताकेऽनाम्नात-
मन्त्रके वा कर्मणि निवेशोपपत्तेस्तत्रानुपस्थितध्यानाद्युपाया-
क्षेपापेक्षयोपस्थितपूषानुमन्त्रणमन्त्रनिवेशकल्पनस्यैवाचित्वादि-

ति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः,)

अभिधीयते—मुख्य एवार्थे मन्त्राणां विनियोगः, तत्रैव मन्त्रप्रकरणद्वाराकाङ्क्षामात्रसहकृतेन लिङ्गेन शीघ्रं श्रुतिकल्पनात् । जघन्यार्थविषये तु तात्पर्यग्रहाख्यकारणापेक्षत्वेन श्रुतिकल्पने विच्छम्बितत्वम् ।

न च गौणार्थनिष्ठाकाङ्क्षयैव तात्पर्यग्रहः । तस्याः ध्यानादिमुख्यापायान्तरेणैव निवृत्तिसिद्धेः ।

न चाक्षेपकत्वकल्पनागौरवभिया क्लृप्तमन्त्रग्राहकत्वम् । ध्यानादीनामपि स्मृतिकारणतया क्लृप्तानां कारणत्वस्यानाक्षेपात् । अनुष्ठानाक्षेपस्य तु मन्त्रेऽपि तुल्यत्वाच्च ।

न च गौणमुख्यार्थनिष्ठाकाङ्क्षयोर्मन्त्रनियामकत्वे विनिगमनाविरहः; गौणार्थशाब्दबोधं प्रति शक्यसम्बन्धग्रहस्य हेतुत्वेन शक्योपस्थितेः प्राथमिकत्वात् कर्तृनिष्ठाकांक्षाया एव मन्त्रनियामकत्वोपपत्तेः । अतश्च मुख्यसम्बन्धेन निराकाङ्क्षस्य मन्त्रस्य न पश्चादुपस्थितेन गौणेन सम्बन्धः, अन्यतराकाङ्क्षाहेतुकस्वसम्बन्धस्योभयाकाङ्क्षाहेतुकस्वसम्बन्धापेक्षया दौर्बल्यात् ।

न च विकृताकाङ्क्षावदन्यतराकांक्षाया अप्यनन्यथासिद्धत्वाद्दिनियोजकत्वम्, ध्यानाद्युपायान्तरेणापि गौणार्थविषयकस्मृतिसिद्धेरुक्तत्वात् । अत एव ध्यानादिमुख्योपायान्तरासम्भवे गौणोपायान्तरसाधारण्येनैतन्मन्त्रस्यापि कदाचित्प्राप्तिसम्भवेऽपि नैतन्मन्त्रनियामकत्वम्, मन्त्राम्नानान्यथानुपपत्तेः तन्नियमकारणस्य प्रथमावगतमुख्यविनियोगेनैवोपशान्तत्वात् ।

एवं च यत् पूर्वपक्षे गौणमुख्यसाधारण्येनैकैव श्रुतिः क-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२७

ल्पत इत्युक्तम्, तत् कल्पनयोः शीघ्रमन्थरप्रवृत्तत्वेनैककालप्रवृत्तिकत्वाभावादपास्तम् ।

वस्तुतस्तु उद्देश्ययोस्समकालोपस्थितावप्याग्नेयादिषु प्रयाजादीनां प्रत्येकमेव श्रुतिकल्पनेति वक्ष्यते । तस्मान्मुख्यमात्रार्थत्वम् ।

सूत्रं तु शक्यसम्बन्धग्रहसापेक्षत्वेन मुख्यार्थाभिधानसंयोगात् खलु गौणार्थशेषताभावे तत् । ततश्च प्रथमावगतेन मुख्येनैव सम्बन्धो युक्तः । स्वेनैवार्थेन नित्यं प्रमाणान्तरमनपेक्ष्य मन्त्राणां संयोगादिति व्याख्येयम् ॥

स्-संस्कारत्वादचोदिते न स्यात् ॥ ३-२-२ ॥

यत्त्वेवं सति पूषानुमन्त्रणमन्त्रादीनामुत्कर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्, तदुत्कर्षस्य गुणत्वादप्रयोजकम् । न हि लिङ्गेन प्रकरणबाध उत्कर्षो दोषः ।

न च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावः । यागानुमन्त्रणसमाख्याया एव तत्त्वात् ।

न च प्रकरणादिनापि तात्पर्यग्रहे लोके मुख्यार्थत्वादर्शनात्कथमुत्कर्षकल्पनेति वाच्यम् । दूरस्थस्यापि साकांक्षस्य कथञ्चिदुपस्थितिसत्त्वे मुख्योपायान्तरनिराकांक्षसंनिधिरूपस्य प्रकरणस्य तात्पर्यग्राहकत्वादर्शनात् । अत एव व्यवहितपदान्वयवत् व्यवहितवाक्यान्वयोऽपि ग्रन्थव्यवहारादौ लोके दृष्टः । यदि तु कथञ्चिल्लोके ईदृशविषयेऽपि गौणप्रकरणिकार्थग्रहणं दृश्येत तदा वक्तृविवक्षायाः प्रकारान्तरेण ज्ञाने सतीति ध्येयम् ।

न च प्रकरणे पाठप्रशात्प्रकरणिनो ज्ञाप्यमानेनानेन क-
थमुपकर्तव्यमित्याकांक्षैव गौणार्थतात्पर्यग्राहिकास्तिवति वाच्यम् ।
तस्या अप्यनिर्धारितद्वारिकायाः क्लृप्तद्वारकेण दूरस्थेनाप्यन्व-
योपपत्तौ तद्ग्राहकत्वे प्रमाणाभावात् । अत एव प्रकरणपाठो-
ऽपि पारायणाद्युपयोगी तादृशक्रमसिद्ध्यर्थं न नान्तरीयका-
कांक्षोत्तेजकम् । इदं चोत्कर्षाभिधानं प्रकरणे मुख्यार्थविरो-
धिगुणान्तरसत्त्वं एव ज्ञेयम् । तदभावे तु क्लृप्तमुख्यार्थवि-
ध्यभावेऽपि मान्त्रवर्णिकमुख्यार्थविधिकल्पनोपपत्तेः ।

अत एवोपांशुयाजादेर्यात्थानुवाक्यमन्त्राणां नोत्कर्षः । तस-
श्चायमत्र क्रमः—मुख्यार्थविधिसत्त्वे तत्रैव विनियोगः । तदभावे
मान्त्रवर्णिकमुख्यार्थविधिकल्पनम्, विरोधिगुणसत्त्वे तत्कर्षः ।
तस्यापि सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावेनासम्भवे प्रकरण
एव गौणार्थविषयकत्वकल्पनम् । तस्याप्यनुपयुक्तसंज्ञणाद्यस-
म्भवादिनाऽसम्भवे तदर्थाभिधानस्यैवाहृष्टार्थत्वकल्पनया जप-
रूपस्वाङ्गीकरणमिति ॥

सूत्रं तु विरोधिनि गुणे चोदिते सति यत्र गुणश्चोदितः
तत्रोत्कर्षाभिधानं न दोषस्स्यात् । लिङ्गेन सामान्यसम्बन्ध-
ग्राहकप्रमाणसहकृतेन मुख्यार्थसंस्कारकत्वस्यैवावगमादिति व्या-
ख्येयम् । प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति प्रथमं लिङ्गाधिकरणम् ॥



तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२९

अथ द्वितीयमैन्द्रयाधिकरणम् (२) ॥

सू-वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ॥ ३-२-३ ॥

(विषयः)

अथौ श्रुतं—“कदाचन स्तरीरसीत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत” इति ।

(संशयः)

तत्र किमयं मन्त्रः मुख्यसामर्थ्योपपृष्ठतद्धितश्रुत्या इन्द्राङ्गम् ? उत गौणसामर्थ्योपपृष्ठकारकश्रुत्या गार्हपत्याङ्गमिति विचारः ।

(सङ्गतिः)

तत्र गौणसामर्थ्यस्य विनियोजकत्वाभाववद्विनियोजकश्रुतिसहायत्वरूपविनियोगप्रयोजकत्वाभावस्यापि पूर्ववत्प्रसक्तस्यापवादकरणात् पादाध्यायानन्तरसङ्गतयः ।

यस्तु भाष्यकारेण “निवेशनस्सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत” इत्युदाहृतम् । तत् “विश्वारूपाऽभिचष्टे शचीभिः । देव इव सविता सत्यधर्मैन्द्रो न तस्थौ समरे वसूना”मिति मन्त्रशेष उपमार्थेन नकारणेन्द्रस्योपस्थानतया गुणत्वेन सङ्कीर्तनादग्रे च “वसूनां पावकश्चास्मी”ति वसुश्रेष्ठत्वकथनेन प्राधान्यावगतेः मुख्यसामर्थ्यस्यैव कारकश्रुत्युपपृष्ठभक्तया स्वस्यैव स्वोपमानेन कथञ्चिद्गौणसामर्थ्यस्य च तद्धितश्रुत्युपपृष्ठभक्तया च वैपरीत्यादुपेक्षितम् ।

न च तद्धितश्रुतिर्दौर्बल्य एव तर्ह्यस्तुदाहरणता । तस्य बलाबलाधिकरणसिद्धत्वेनैतदाधिकरणविषयत्वाभावात् गौणसामर्थ्यस्य विनियोजकश्रुत्यसाहयतामात्रत्वेनैतदाधिकरणविषयः । अत एव

न तेन पौनरुक्त्यमपि । अतः पूर्वोक्तमेवोदाहरणम् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पूर्ववादिहापि तात्पर्यज्ञानस्य लक्षणादिजन्यशाब्दबोधे कारणत्वेन तद्ग्राहकाभावाच्च गौणसामर्थ्यस्य द्वितीयाश्रुतिसहायत्वम् ।

न च द्वितीयाप्रमितविनियोगस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वम्, शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य कारणत्वेन गौणसामर्थ्यज्ञानाभावे विनियोगप्रमाण एवानुपपत्तेः, प्रथमोपास्थितैन्द्रतद्धितश्रुत्या इन्द्राङ्गत्वस्यैवावगमेनायोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च ।

न च प्राथमिकत्वेऽपि तद्धितश्रुतेः कारकश्रुतितो दौर्बल्यम्, तद्धितस्यापि प्राधान्येन मन्त्रप्रतिपाद्यस्वरूपे देवतात्वे शक्तत्वेन दौर्बल्ये प्रमाणाभावात् । अत एव श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायेन केवलस्य लिङ्गस्य दौर्बल्येऽपि तद्धितश्रुसानुकूल्यादिन्द्राङ्गत्वोपपत्तिरिति विशेषाशङ्कासत्वाच्च तेन पौनरुक्त्यम् ।

अतश्च मन्त्रे गौणत्वस्य तात्पर्यग्राहकाभावात् प्रत्युत द्वितीयान्तपद एव जघन्यवृत्त्याश्रयणे तद्धितश्रुतेस्तात्पर्यग्राहिकायास्तत्त्वात् तत्रैव तदाश्रयणं तेन द्वितीयैव प्रतियोगित्वलक्षिका गार्हपत्यसमीपे स्थित्वेन्द्रं प्रकाशयेदिति 'गुणे त्वन्याय्यकल्पने' ति न्यायाद्गार्हपत्यप्रातिपदिकमेवेन्द्रे गौणम्, यज्ञभाषनत्वसादृश्यात् ।

अथ वा गार्हपत्यप्रातिपदिकं गृहपतेरयमिति व्युत्पत्त्या इन्द्रे यौगिकमस्तु रूढिबलीयस्त्वात् अग्नेरेव कर्मत्वं तच्च न मन्त्रसाध्याभिधानं प्रति । तस्याशाब्दत्वेनान्वयानुपपत्तेः । अपि तु धातुवाच्यसमीपावस्थानं प्रति ।

न च प्रकाशनक्रियातिरिक्तक्रियायां मन्त्रस्य करणत्वा-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३१

संभवात्तस्मिन्नन्वयानुपपत्तिः, (१) 'उपान्मन्त्रकरण' इत्यनेनो-
पपूर्वात्तिष्ठतेर्धातोर्मन्त्रकरणके प्रकाशनाख्ये व्यापारे व-
र्तमानादात्मनेपदविधानेन प्रकाशनपरत्वाभावे आत्मनेपदा-
नुपपत्तिश्चेति वाच्यम् । (२) 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'ति पूर्व-
सूत्रेणैव प्रकाशनार्थात्तिष्ठतेरात्मनेपदविधानेनैतत्सूत्रे प्रकाशनव्य-
तिरिक्तस्यापि व्यापारस्य मन्त्रकरणकत्वे आत्मनेपदविध्यर्थ-
त्वात् । अतश्च समीपस्थितावेव मन्त्रः करणम् ।

न च बाधः । एतत्स्मृतिबलेनैव समीपस्थितेरभिधानप्रयो-
जनकत्वावसायाद्द्वैन्द्रमन्त्रस्यापि समीपस्थितिसाध्येन्द्राभिधान-
करणत्वेन समीपस्थितावौपचारिककरणकत्वोपपत्तेः । अत एव
स्वसाध्येन्द्राभिधानसाधकत्वस्य सम्बन्धविधयैव भानोपपत्तेर्न
धातोरभिधानलक्षणापि । अतश्च वाच्य एव व्यापारे मन्त्रस्य
करणत्वमग्नेश्च कर्मत्वम् ।

न च वाच्यस्य तिष्ठतिधात्वर्थस्याकर्मकत्वात् कथं तत्राग्नेः
कर्मत्वेनान्वयः । (३) 'अकर्मकाच्च' त्युत्तरसूत्रेणाकर्मकात्तिष्ठतेरा-
त्मनेपदविधानेनास्मिन् सूत्रे तिष्ठतिवाच्यस्याप्यर्थस्य सामीप्य-
रूपफलावच्छेदेन सकर्मकत्वविवक्षणात् । एवं सामीप्यस्य
प्रतियोगितासम्बन्धेनाग्न्याश्रयत्वाद्गनेस्स्थितिकर्मत्वोपपत्तिः ।
तस्मात् द्वितीयाश्रुतेरन्यथाप्युपपन्नत्वाल्लिङ्गेन तत्सहकृततद्वि-
श्रुत्या वा इन्द्रप्रकाशकत्वमेव मन्त्रस्येति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्यार्थत्वावगमेन नात्र मु-

रुयार्थकत्वम् ।

न च योग्यताज्ञानाभावाच्छ्रौतविनियोगानुपपत्तिः । अयो-
यतानिश्चयाभावात्त्रेण शाब्दबोधोपपत्तौ योग्यताज्ञानस्य
कारणत्वकल्पने प्रमाणाभावात् । अतस्सामग्रीसत्त्वेन श्रौतविनि-
योगोपपत्तेः तस्यैव बलव्रतस्तात्पर्यग्राहकस्य सत्त्वेन मन्त्रगतेन्द्र-
पदस्य यज्ञसाधनत्वसादृश्यादिन्द्रातिधात्वर्थानुसाराद्वाग्नौ जघ-
न्यवृत्त्याश्रयणम् ।

न च तद्धितश्रुत्या द्वितीयाश्रुतेर्बाधः । तद्धितात्तस्यापि
प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वरूपस्य देवतात्वस्य मन्त्रं प्रति गुणत्वेनो-
पस्थितत्वाद्विपरीतविशेषणभावकल्पनां विना तद्धितेन झटिति द्वि-
तीयावन्मन्त्रस्येन्द्राङ्गत्वप्रमाणानुपपत्तेः, इन्द्रोद्देशेन मन्त्रविधावे-
कप्रसरताभङ्गापत्तेश्च, मन्त्रस्येन्द्रसम्बन्धे समीपस्थितिं प्रत्यवि-
शेषणत्वेन तां प्रति मन्त्रवैशिष्ट्यासम्भवाद्विशिष्टविध्यसम्भ-
वेन प्रत्येकं गार्हपत्योद्देशेन समीपस्थितिविधौ वाक्यभेदादा-
त्मनेपदविरोधापत्तेश्च, चयने इन्द्रस्यानुपयोगेनोद्देश्यत्वानु-
पपत्तेश्च ।

एतेन तद्धितस्य स्वतो विनियोजकत्वाभावेऽपि गार्हपत्यपदे
लक्षणातात्पर्यग्राहकत्वमात्राङ्गीकरणान्न वाक्यभेदादिदोष इत्यपा-
स्तम् । अनुपयोगीन्द्रप्रकाशनार्थत्वानुपपत्तेः, विना कारणं विधौ
लक्षणाङ्गीकारे प्रमाणाभावाच्च तद्धितस्य शक्यार्थबोधकालीने-
न्द्रप्रकाशकत्वानुवादमात्रत्वेन लक्षणां विनाप्युपपत्तेः । गार्हप-
त्यपदस्यावयवयोगेनेन्द्रपरत्वपक्षे रूढित्यागापत्तेश्च । समी-
पस्थितिं प्रत्येव गार्हपत्यस्य कर्मतेति पक्षस्तु मन्त्रस्यौपचारि-
करणत्वापत्तेः समीपस्थितेश्च गार्हपत्यसंस्कारार्थत्वे इन्द्राभिधा-
नार्थत्वायोगान्मन्त्रस्य तद्वारौपचारिककरणत्वस्याप्यनुपपत्ता-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३३

वात्मनेपदानुपपत्तेः आत्मनेपदानुरोधेन वेन्द्राभिधानार्थत्वा-
ङ्गीकारे गार्हपत्यस्य सकतुवदनीप्सितकर्मत्वायोगात्, ईप्सितक-
र्मत्वाङ्गीकारे चोद्देश्यानेकत्वनिमित्तवाक्यभेदापत्तेरयुक्तः ।

तस्मात् द्वितीयान्ततृतीयान्ते च पदे यथाश्रुते एवाङ्गीकृत्य धातुनैव
समीपावस्थानविशिष्टमभिधानमात्मनेपदरूपतात्पर्यग्राहकानुरोधेन
लक्षयित्वा तत्रैव मन्त्रस्य करणत्वेन गार्हपत्यस्य च कर्मत्वेना-
न्वयोऽङ्गीक्रियते । गार्हपत्यस्य च साधनत्वेन चयने उपयोगा-
भावेऽपि संस्कार्यत्वेन तत्सत्त्वाद्भिधानकर्मत्वोपपत्तिः । तस्मा-
द्गौणे गार्हपत्य एव मन्त्रस्य श्रुत्या विनियोगायुक्तमेव गौण-
सामर्थ्यस्य तदुपपृष्ठकत्वम् ॥

सूत्रं स्पष्टम् ॥

सू-गुणादप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहे-
तुत्वात् ॥ ३-२-४ ॥

नन्वस्तु श्रुत्या गार्हपत्ये विनियोगः, तथापि न गौण-
त्वाश्रयणम् । श्रुतिशास्त्रस्य शक्तिरूपसम्बन्धतात्पर्यग्रहहेतुत्वे-
नाप्युपपत्तेः । अतश्च मुख्यवृत्त्यैव श्रौतविनियोगनिर्वाहे न गौण-
त्वाश्रयणमित्याशङ्क्याह—लोकप्रसिद्धगौणवृत्त्याऽप्यभिधानोपप-
त्तावन्यपरस्यालौकिकशक्तितात्पर्यग्राहकत्वकल्पनाप्रमाणाभावे-
न गौणाभिधानमेव न्यायमिति ।

प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति द्वितीयमैन्द्राधिकरणम् ॥

अथ तृतीयं हविष्कृदाह्वानाधिकरणम् ॥ (३)
सू-तथाह्वानमपीति चेत् ॥ ३-२-५ ॥ (पू)
(विषयसंशयौ)

दर्शपूर्णमासयोः “हविष्कृदेहीति विरघ्नन्नाह्वयती”ति श्रुतम् ।
तत्र किं हविष्कृदेहीति मन्त्रो वाक्येन गौणेऽवघाते विनियुज्यते ?
क्लिङ्गेन वा मुख्य एवाह्वाने ? इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

गौणसामर्थ्यस्य श्रुतिसहायत्ववत् प्रबलवाक्यसहायत्व-
स्यापि प्रसक्तस्य वाक्यविनियोगसिद्धापवादकरणात् पादाध्या-
यानन्तरसङ्गतयः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र नाह्वानाङ्गं मन्त्रः । “पत्न्येव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति देवा-
नृषीन् पितृन् साऽभिद्रुसावहन्ती”तिवचनेनावघातस्य पत्नीकर्तृक-
त्वेऽपि पत्नी स्वयमेवोपोत्तिष्ठति न त्वाहूतेखेवकारेण पक्षप्राप्ता-
ह्वानाभावनियमप्रतीतेराह्वानविध्यन्तरस्य चानन्यथासिद्धस्या-
भावात् मन्त्रस्य तदङ्गत्वानुपपत्तेः ।

अत एव तत्र त्रिरभ्यासविधिः, सहायार्थत्वात्, तस्य च प्राप्ता
वघातकालानुवाद इत्यपास्तम् । विना कारणं काललक्षणायां
प्रमाणाभावाच्च । अतो(१) “लक्षणहेत्वोः क्रियाया” इतिशतृप्र-
त्ययस्य प्रयोजकत्वापरपर्याये हेतौ स्मृते “रभिचरन् यजे-
ते”तिवन्मन्त्रपाठस्यावघातभावनाङ्गत्वमेव । व्युत्पन्नश्चोदन्
भुञ्जानो गच्छती”सादौ शतृप्रत्ययोपात्तक्रियायामपि सुबन्तान्वयः ।

न चैवं प्राप्तावघातोद्देशेन मन्त्रत्रिरभ्यासयोर्विधौ वाक्य-
भेदापत्तिः । अवघातक्रियाया वितुषीभावफलकत्वावश्यभावेन

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३५

तत्र त्रिरभ्यासविध्यनुपपत्तेः । शाखान्तरे त्रिरभ्यस्तस्यैव मन्त्र-
स्य पठितत्वेन त्रिरित्यस्यानुवादात् तदनापत्तेः ।

वस्तुतस्तु अवघाते समाख्याप्राप्तस्याध्वर्योर्वाचनिकेन
पत्नीकर्तृकत्वेन बाधादवघ्नन्निति पुंस्त्वस्यापि विधेयत्वापत्तेः
मन्त्रपुंस्त्वोभयविशिष्टावघातविधिरेवायम् ।

एवं च पत्नीवाक्येऽपि गुणादवघातान्तरविधिरेव । द्वयोस्त-
यो 'त्रीहीनवहन्ती' त्यनेन संस्कार्यसम्बन्धेऽपि दृष्टार्थत्वाद्वि-
कल्पः । अत एव पत्नीकर्तृकावघाते "अवरक्षो दिव" इति
मन्त्रोऽपि निस्सपन्नः । प्रकृतवाक्यविधेयस्य विशिष्टावघातस्य
विधायकस्त्वाहयतिपरः प्रत्यय एव । धातुराख्यातांशश्च साधु-
त्वार्थमनुवादौ, आख्यातांशस्य "तत्करोति तदाचष्टे" इत्येवं-
प्रकाशनार्थत्वमङ्गीकृत्य मन्त्रेणाध्वर्युराह्वानमाचष्टे इत्येवं शक्या-
र्थबोधकालीनाह्वानप्रकाशनस्य प्राप्तस्यानुवादात् । अतो मन्त्र
पुंस्त्वविशिष्टावघातभावनैव शतृप्रत्ययोपात्ता विधीयत इति
मन्त्रस्य गौणावघाताङ्गत्वमेव । गौणीवृत्तिप्रकारश्चावघातेऽपि
कथञ्चित् स्थाली पचतीतिवत् कर्तृत्वमुपचर्य, अचेतनेऽपि चेतन-
त्वमारोप्य हेऽवघात ! त्वमेहि सम्पन्नो भव इत्यर्थाङ्गीकारेण
द्रष्टव्यः ।

सूत्रं आह्वानशक्तोऽपि हविष्कृदेहीति मन्त्रः तथा
ऐन्द्रीवदयथार्थे विनियुज्यते इति व्याख्येयम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सूत्रेण कालविधिश्चोदितत्वात् ॥३-२-६ ॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

नात्र गौणेऽवघाते मन्त्रस्य विनियोगः । वचनस्य मुख्या-
ह्वानसम्बन्धेऽनुवादकत्वेनाप्युपपत्तेः । मुख्यविशेष्यभूताह्वानभाष-

नासम्बन्धस्याभ्यर्हितत्वाच्च त्रिरित्यस्यावघातेऽन्वयानुपपत्तेर-
श्रुतमन्त्रपाठक्रियाविषयत्वापत्तेश्च । विना कारणमाख्याते
आनुशासनिकया अपि प्रकाशनलक्षणया घातोस्ताधुत्वपारार्थ्य-
विशिष्टार्थविध्यादेश्वान्याय्यत्वाच्च ।

नचैवकारेणाह्वानस्य पर्युदासात् तत्र मन्त्रादिसम्बन्धानुप-
पत्तेस्सर्वदोषाङ्गीकरणम् । तत्रेतरस्य सर्वस्य प्राप्तत्वेनावघाता-
नुवादेन पत्नीमात्रविधानादेवकारार्थविशिष्टपत्नीकर्तृकावघाता-
न्तरविधौ गौरवविकल्पाद्यापत्तेः । अत एव 'पत्न्येव हविष्कृदु-
पोत्तिष्ठती' त्यत्र पत्न्येव हविष्कृत् न त्वन्येत्येवकारार्थो, न तु
पत्नी स्वयमेवोपोत्तिष्ठति न त्वाहूतेत्येवकारार्थः ।

न चैवमनाहूताया अपि स्वपदार्थकरणोपपत्तेराह्वानस्य
नित्यप्राप्त्यभावात् कथं तत्र मन्त्रसम्बन्धानुवाद इति वाच्यम् ।
मन्त्रस्यावघातावान्तरप्रकरणे पठितस्य तत्सम्बन्धनिर्वाहार्थं
“बाहुभ्यां सध्यास” मित्यादिमन्त्रवन्मान्त्रवर्णिकक्रियानियम-
विधिकल्पकत्वोपपत्तेः ।

अत एव नित्यप्राप्तत्वेऽपि चयनादिवदध्वर्युकर्तृकत्वसिद्ध्यर्थं
विधिरिति न्यायसुधोक्तमपास्तम् । विधेयान्तरसत्त्वेन संभव-
त्प्राप्तिकायाः क्रियायाः विधौ गौरवात्, मन्त्रपाठस्याध्वर्युकर्तृ-
कत्वसिद्धौ पृथक्प्रयत्नानापाद्ये आह्वाने ऽध्वर्युकर्तृकत्वस्यार्थ-
सिद्धत्वाच्च । प्रथमस्य तु विधेयान्तराभावात् पृथक् प्रयत्नापाद्य-
त्वेनाध्वर्युकर्तृकत्वसिद्धेश्च विधिरिति विशेषः । तेनावघातार्थं त-
त्काले आह्वानस्य तत्र च मन्त्रस्य नित्यप्राप्तस्यानुवादात् केवल-
माह्वाने त्रिरभ्यासमात्रमस्यां शाखायां विधीयते । आह्वानस्य
मन्त्रपाठातिरिक्तप्रयत्नानापाद्यत्वेन च नात्र वेदिप्रोक्षणमन्त्रव-
दाह्वानमन्त्रस्य सकृत् पाठप्रसङ्गः । अवघ्नान्निति तु शतृपत्ययस्य

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३७

लक्षणार्थत्वात् शयाना भुञ्जते यवना 'इतिवदवघातकर्तृत्वावस्थ-
स्याहानकर्तृत्वप्रतीतेरवघाते च पत्नीकर्तृकत्वेनाध्वर्युकर्तृकत्वा-
भावेऽप्यन्वारम्भविधानेनाध्वर्योः कर्तृत्वोपचारेण तत्कर्तृकस्य
वर्तमानस्यावघातस्याहानं प्रति कालिकसम्बन्धेन विधित्वाव-
सायादवघातकाले आह्वयतीत्यर्थप्रतीतेस्तस्य चार्थप्राप्तत्वादानुवाद
एव । अत एव काललक्षणापि शत्रुप्रत्ययोपात्तलक्षणत्वघटकतया
आपाद्यमाना नातीव दोषमावहति । कालीनत्वस्य सम्बन्ध-
विधया भानोपपत्तेर्न सापि ।

वस्तुतस्तु पत्नीकर्तृकेऽवघातेऽन्वारम्भकर्तृत्वमात्रेणाध्वर्योः
कर्तृत्वायोगादवहन्ति धातौ तदर्थसाधनीभूतान्वारम्भलक्षणापत्तेः
नायं लक्षणे शत्रुप्रत्ययः । अपि तु प्रयोजकत्वापरपर्याये हेतौ । अत-
श्चाभिचरन्त्यजेतेतिवदवघातफलमाहानमित्यर्थोऽनूद्यते । अस्मि-
श्च पक्षे शत्रुप्रत्ययस्य कर्तृत्वार्थकस्य न स्वतन्त्रकर्तृत्वमर्थः ।
फलीभूतावघातकर्तृभूतायाः पत्न्या आहानकर्तृत्वासंभवादवघन-
न्निति पुंस्त्वानुपपत्तेः । अपि तु प्रयोजककर्तृत्वमवघातं कारय-
न्नाह्वयतीति । सर्वथा अवघनन्निसस्यानुवादकत्वादाहानानुवादेन
त्रिरभ्यासमात्रविधानान्न गौणावघाताङ्गत्वं मन्त्रस्येति सिद्धम् ।

सूत्रं नावघाताङ्गं मन्त्रः, अपि तु कालाद्यनुवादपूर्वस्त्रि-
रभ्यासविधिरेव कालादेरर्थप्राप्तत्वादिति व्याख्येयम् ॥

सू-गुणाभावात् ॥ ३-२-७ ॥

गुणोऽपि मुख्यार्थसादृश्यं नात्र श्रुतिप्रतीयमानं कि-
ञ्चिद्दृश्यते ।

अथ वा वाक्यादवघाताङ्गत्वासंभवेऽपि लिङ्गादेव तत्सं-
भवं मन्वानं प्रत्युत्तरं सामर्थ्यरूपगुणाभावादिति ॥

सू-लिङ्गाच्च ॥ ३-२-८ ॥

“वाग्वा हविष्कृदाचमेव तदाह्वयती”सैकान्तिकस्त्रीलिङ्गायां
पत्न्यामेव स्त्रीलिङ्गवाकसादृश्यमुपपद्यते । न त्ववघाते ॥

सू-विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ३-२-९ ॥

अध्वर्युकर्तृकावघाताङ्गतया मन्त्रोपदेशे पत्नीकर्तृकस्य “अव
रक्षो दिवस्सपत्नं वधयास”मिति मन्त्रसाध्यस्यावघातस्य तवमते
भिन्नत्वात्पक्षे तद्विधिकोपो वैकल्पिकत्वात् स्यात् ॥ प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति तृतीयं हविष्कृदाह्वानाधिकरणम् ॥

अथ चतुर्थं वाग्विसर्गाधिकरणम् ॥ (४)

सू-तथोत्थानविसर्जने ॥ ३-२-१० ॥(सि)

(विषयसंशयौ)

ज्योतिष्टोमे-“उत्तिष्ठन्नन्वाहाग्नीदग्नीन् विहरे”ति । तथात्रैव
“व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजती”ति । दर्शपूर्णमासयोश्च “प्रणीताः
प्रणेष्यन् वाचं यच्छति, तां सहविष्कृता विसृजती”तिश्रुतम् । तत्रा-
पि पूर्ववदेव वाक्येन गौणयोरुत्थानवाग्विसर्गयोर्मन्त्रा विनियुज्य-
न्ते ? उत मुख्येष्वेवार्थेषु लिङ्गादिति संशयः ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गतिश्च । आतिदेशिकी त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र सर्वत्र मुख्यक्रियान्तरसत्त्वात्तस्याश्च साधुत्वमात्रार्थत्वे
प्रमाणाभावादवघ्नन्नित्यस्य लक्षणां विनापि हेतुत्वमात्रतयोपपत्तेः
त्रिरभ्यासस्य च विधेयान्तरस्य सत्त्वेन प्रबलस्यापि ब्राह्मणवाक्य-
स्यान्यथोपपत्तिसंभवाद्युक्तो लैङ्गिको विनियोगः । प्रकृते तु विं
धेयान्तराभावेनोत्तिष्ठन्नित्यस्य लक्षणार्थत्वमस्तीकृत्य कालस्यैव

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३९

तव मते विधेयत्वात् विधौ लक्षणापत्तेरुत्थानस्य च सामर्थ्यात् करिष्यमाणदेशान्तरविहितकार्यार्थत्वेन कृतार्थस्य मन्त्रपाठार्थत्वायोगेन शत्रुप्रत्ययस्य कारणत्वरूपहेतुत्वार्थत्वायोगादवश्यं फलत्वरूपहेतुत्वार्थमङ्गीकृत्य मन्त्रपाठस्यैव गौणसामर्थ्यनोत्थानाङ्गत्वं युक्तम् । व्रतवाक्ये तु शत्रुप्रत्ययस्याभावादितिकरणश्रुत्या वा विसर्गाङ्गत्वमेवावगम्यते ।

यद्यपि चेतिकरणस्थले वाक्यीयो विनियोगोऽभ्युपगम्येत तथापि ब्राह्मणवाक्यत्वेनास्य प्राबल्याद्युक्तं विनियोजकत्वम्, मन्त्रलिङ्गानुरोधमात्रेण विधौ काललक्षणायां प्रमाणाभावात् । न हीयं शत्रुप्रत्ययस्थल इवावश्यक्यपि, येन नात्यन्तदोषाय भवेत् । तस्मादत्रापि युक्तो गौणे विनियोगः । हविष्कृद्वाक्ये तु तृतीयै-
वैन्श्चेतिवद्विनियोगकर्त्तीति न काचिदनुपपत्तिः ।

काललक्षणायां हविष्कृत्प्रातिपदिकेन मन्त्रपाठलक्षणा तु तत्रापि तुल्यैवेति मम मन्त्रमात्रलक्षणायामपि न कश्चिद्विरोधः । तस्मात्तत्रापि गौणे विनियोगः । गौणीवृत्तिप्रकारश्चाग्नीन्मन्त्रे तावद्दग्नीच्छब्देनोत्थानमेव यज्ञसाधनत्वाविशेषेण कथञ्चिदुक्त्वा तत्र च चैतन्यमध्यारोप्य त्वमग्निविहरणादि साधयेत्येवम् । लोटो वा-
प्राप्तकालतार्थत्वमङ्गीकृत्य विहरणस्य प्राप्तः काल इत्येवम् ।

न चाध्वर्युकर्तृकोत्थानस्याग्नीध्रकर्तृकाग्निविहरणसाधनत्वानुपपत्तिः । अत्रत्यपूर्वपक्षवादिमतेऽस्य मन्त्रस्य प्रैषत्वाभावेनाग्निविहरणादेः “प्रैषेषु पराधिकारा” दिति न्यायविषयत्वाभावादाग्नीध्रकर्तृकत्वानुपपत्तेः समाख्याया आध्वर्यवत्वात् । सिद्धान्ते ह्यस्य प्रैषत्वेन पराधिकारत्वे प्राप्ते मन्त्रवर्णादाग्नीध्रविधिर्युक्तः ।

एवं व्रतमन्त्रेऽपि व्रतानियमं कृणुत नाशयतेति हिंसार्थकत्वं कृणोतेरङ्गीकृत्य व्याख्येम् । वागधिष्ठानतात्वादिभेदाच्च

बहुवचनम् । चरतेति पाठेऽपि 'चर गतिभक्षणयो'रिसनुशा-
सनान्नाशनापरपर्यायभक्षणार्थत्वमङ्गीकृत्य स एवार्थः । हवि-
ष्कृन्मन्त्रेऽपि भक्षणेन हविर्नाशकत्वं दन्तादिनिष्ठं वाच्युपचर्ष
त्वमेहि प्रकटीभवेति व्याख्येयम् । अतोऽत्र गौणे विनि-
योग इति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नात्रापि गौणे विनियोगः । प्रबलस्यापि ब्रा-
ह्मणवाक्यस्य कालविधायित्वेनाप्युपपत्तेः ।

न च लक्षणा; शतृप्रत्ययस्य लक्षणार्थत्वमङ्गीकृत्य श्रुत्यै-
वान्वयोपपत्तेः । अत एव कालस्यापि सम्बन्धविधया भानो-
पपत्तेर्न लक्षणा । अन्यथोत्थत्नाङ्गत्वमपि प्रकाशकत्वसम्बन्धे-
नेति तस्यापि लक्षणापत्तिः । एवमितिकरणस्यापि मन्त्रस्वरूप-
मात्रपरामर्शकत्वाददृश्यत्वाच्च लुप्तविभक्तिकत्वेन करणत्वादेर्ल-
क्षणयैव भानान्न श्रुतित्वं न्यायसुधोक्तं युक्तम् । ब्राह्मणवाक्यत्वेन
प्राबल्येऽपि च सतिसम्प्रथर्षलक्षणया कालिकसम्बन्धेनोपलक्ष-
णार्थत्वोपपत्तौ नावश्यं करणत्वलक्षणयानपेक्षिताङ्गाङ्गिभावपर-
त्वं युक्तमाश्रयितुम् । हविष्कृद्वाक्ये तु सत्यामप्यैन्द्रीवत् तृती-
यया करणत्वोक्तौ वाग्यमापेक्षितावधिसमर्पकत्वेन तद्विधिपदै-
कवाक्यत्वोपपत्तौ वाक्यभेदे प्रमाणाभावात् तृतीयाया अपीत्थं-
भूतलक्षणार्थतामङ्गीकृत्य कालविधिरेव । क्लृप्तश्चोत्तरपदार्थविधि-
पाठक्रमेणोत्थानस्य कालः मन्त्रपाठक्रमेण च व्रतहविष्कृन्मन्त्रयोः ।
स च तत्र तत्र विधीयते । अतोऽत्रापि ब्राह्मणवाक्यानामन्यपर-
त्वाल्लिङ्गेन मुख्य एव विनियोगः । सूत्रप्रयोजने स्पष्टे ॥

इति चतुर्थमुत्थानवाग्विसर्गाधिकरणम् ॥

अथ पञ्चमं सूक्तवाकाधिकरणम् ॥ (५)

॥ सू-सूक्तवाके च कालविधिः

परार्थत्वात् ॥ ३-२-११ ॥ (पू)

(विषयः)

दर्शपूर्णमासयोः सूक्तवाकस्ममाम्नातः स किं लिङ्गादि-
ष्टदेवताप्रकाशनार्थ एव ? अथ वा “सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहर-
ती” ति तृतीयाश्रुत्या प्रहरणाङ्गमपीति विचारः ।

(सङ्गतिः)

मुख्यसामर्थ्यस्य विनियोजकत्वं गौणसामर्थ्यस्य च श्रुति-
सहायत्वमित्यभिहिते सतिसम्भवे मुख्यसामर्थ्यस्यापि तत्स-
हायत्वमित्युपपादनात् पादाध्यायसङ्गतिः । कालविध्यपवादा-
च्चानन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्रहरणस्य द्वितीयया प्रस्तरसंस्कारकत्वेनेव सूक्तवा-
कस्यापि लिङ्गेनेष्टदेवताप्रकाशनार्थत्वेन कृतार्थत्वात् “दर्शपूर्ण-
मासाभ्यामिष्टे” तिवत् वचनस्य कालविधित्वेनाप्युपपत्तेर्न प्र-
हरणाङ्गत्वं सूक्तवाकस्य ।

न च तत्र त्वाप्रत्ययेनेवेह कालस्य केनाप्यनुपात्तत्वात् “ह-
विष्कृता वाचं विसृजती” तिवच्च वाक्यभेदादेर्लक्षणाकारण-
स्याप्यभावात् न तृतीयया प्रहरणाङ्गत्वस्याकाङ्क्षेत्थापनेनाप्युपप-
त्तिरिति वाच्यम् । (१) “इत्थम्भूतलक्षणे तृतीये” त्यनुशासनेन
करणत्वस्येव गमकत्वरूपस्य लक्षणत्वस्यापि तृतीयाशक्यत्वाव-
धारणात् कालिकसम्बन्धेनेह सूक्तवाकस्य लक्षणत्वेन प्रहरणा-

न्वयोपपत्तेः लक्षणां विनापि वाक्यस्य कालविधिफलकत्वेना-
न्यपरत्वसम्भवात् कृतार्थयोरङ्गाङ्गिभावपरत्वानुपपत्तेः ।

न च ज्ञाननिरूपितजनकत्वरूपस्य लक्षणत्वस्य वाच्यत्वे-
ऽपि ज्ञानस्वेहानुपात्तत्वात् तदुपात्तभावनानिरूपितकरणत्वापे-
क्षया विलम्बोपास्थितिकत्वेन तस्य दौर्बल्यमिति पार्थसारथ्यु-
क्तं युक्तम् । ज्ञाननिरूपितस्यापि शक्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वे-
नोपादानोपपत्तेः । अन्यथा करणत्वानुशासनेनैव करणत्वस्य श्रु-
तक्रियानिरूपितस्यापि शक्यतावच्छेदकत्वासम्भवे योग्यतयैवा-
ध्याहृतज्ञानक्रियानिरूपितत्वोपपत्त्या लक्षणत्वसिद्धेः पृथगनु-
शासनवैयर्थ्यापत्तिः ।

न चैवमपि गमकत्वस्याकारकत्वेन धात्वर्थान्वयप्रतीतेः प्र-
धानभूतभावनानिरूपितकारकत्वापेक्षया दौर्बल्यमिति वाच्यम् ।
अकारकस्यापि निमित्तादेर्भावनान्वयाङ्गीकारेण गमकत्वस्यापि
भावनविषयत्वेन तुल्यत्वात् । अत एव विशेष्यभूतसुवन्तार्थ-
प्रकारकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति प्रत्ययजन्योपास्थितिर्भावन-
विशेष्यतासम्बन्धेन कारणं लाघवात् । अत उपपदविभ-
क्तितः कारकविभक्तेः प्राबल्ये प्रमाणाभावात् कृतार्थत्वव-
लेन तृतीयाया इत्थम्भूतलक्षणार्थतामङ्गीकृत्य विनैव लक्षणां
कालविधिफलकत्वमेव युक्तम् । अस्तु वा लक्षणा, तथापि
सिद्धान्ते प्रहरतौ मान्त्रवर्णिकतत्तदग्न्यादिप्रसकेदेवताविधिक-
ल्पनापूर्वकैकहोमलक्षणाङ्गीकारात् तदपेक्षयानुशासनिकी तृती-
याया इत्थम्भूतलक्षणत्वलक्षणा अपेक्षिताविधानापाद्रिका युक्तैव ।

किञ्च तव मन्त्रेऽपि लक्षणा, 'अजुषते' ति भूतनिर्देशस्य
वर्तमानप्रहरणविषयत्वानुपपत्तेः । अत इदं प्राकरणिकं पुरोडाशा-
दि अग्न्यादिरजुषतेत्येवमिष्टप्रकाशनार्थ एव लिङ्गात् सूक्त-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४३

वाको, न तु प्रहरणाङ्गम् । वचनस्य कालविशिष्टप्रहरणविधिपर-
त्वात् । क्लृप्तश्चानूयाजोत्तरं सूक्तवाकपाठात्तत्काल इति न कि-
ञ्चिदनुपपन्नम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सू-उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥

३-२-१२ ॥ (सि)

(अथ सिद्धान्तः)

तृतीयाश्रुत्या कृतार्थस्यापि प्रहरणाङ्गत्वेनोपदेशः विना का-
रणं गमकत्वलक्षणाङ्गीकारे प्रमाणाभावात् ।

न च तत्राप्यनुशासनबलाच्छक्तिः; तस्य लाक्षणिकत्वेना-
प्युपपत्तेः लाघवात् प्रचुरप्रयोगाच्च करणत्व एव शक्त्यङ्गीकारा-
दुत्तरसूत्रवक्ष्यमाणन्यायेन प्रहरतौ जघन्ये होमलक्षणायाः फ-
लमुखत्वेनादोषत्वाच्च ।

यत्तु मन्त्रेऽपि लक्षणेत्युक्तं, तत् 'अजुषते' यस्य पुरोडा-
शविषयत्वेऽपि अग्न्यादिः पुरोडाशादि सोवितवान् यत्तु यज-
मान 'आशास्ते' आयुरादि तदनेन प्रत्यक्षनिर्दिष्टेन प्रस्तराख्येन
हविषेत्यग्निमेण सहैकवाक्यत्वाल्लक्षणां विनापि प्रहरणप्रकाशकत्वो-
पपत्तेरकिञ्चित्करम् ।

यद्यपि चा "गिरिद" मित्याद्येव श्रूयेत तथापि न लक्षणा,
इदंशब्देन प्रत्यक्षनिर्दिष्टप्रस्तरग्रहणात् ।

एवञ्च पुरोडाशादेर्हुतत्वेनेदंशब्दव्यपदेश्यत्वानुपपत्तेः अ-
जुषतेति भूतनिर्देश "आशंसायां भूतवच्चे" त्यनुशासनात् स्तु-
त्यर्थत्वेन नानुपपन्नः । अतः प्रहरणाङ्गमपि सूक्तवाकः ।

“सूक्तवाक एव याज्या(१)प्रस्तर आहुति” इति सूक्तवाकस्य वस्तुतो ऽयाज्यारूपस्यापि त्यागसाधनीभूतमन्त्रत्वसादृश्याद्याज्याशब्दव्यपदेशस्तुत्यर्थमुपपद्यते । काळविधौ तु तदभावादनुपपन्नः ।

कथं पुनरस्य न मुख्यमेव याज्यात्वम् ? तदुच्यते—याज्यात्वं हि याज्ञिकप्रसिद्धैरवयवयोगाच्च होतृप्रवचनविहितस्यज्यमानद्रव्यसम्बन्धयुद्देशाङ्गभूतदेवताप्रकाशकमन्त्रत्वरूपमवगम्यते । न च तत्सूक्तवाके होमरूपप्रहरणसाधनीभूते संभवति, यागहोमयोर्भेदात् । अत्र च मन्त्रत्वग्रहणं याज्यादौ पठ्यमानदेवतापदस्योद्देशारण्यस्य याज्यात्वव्यावृत्त्यर्थम् । होतृवेदे विहितस्य “चतुर्होत्रा ग्रामकामं याजयेद्दि” त्यादौ यागसाधनीभूतस्य चतुर्होतृमन्त्रस्य याज्यात्वव्यावृत्त्यर्थं देवताप्रकाशकेत्युक्तम् । सूक्तभाक्त्वरूपदेवताप्रकाशनार्थत्वं स्तोत्रमन्त्राणामपीति तद्द्रव्यावृत्त्यर्थं द्रव्येत्यादि । ऋग्वेदविहितदर्विहोममन्त्राणां सूक्तवाकस्य च व्यावृत्त्यर्थं त्यागविशेषणम् । आवाहनादिमन्त्राणां सूक्तवाकस्य चाग्नेयादियागाङ्गभूतदेवताप्रकाशकत्वात् याज्यात्वप्रसक्तौ वर्तमानवाचिशानरूपत्यग्रहणम् । आध्वर्यवाणा “मग्ना रेइ पत्नीवाः सजुर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिव स्वाहे”ति पात्रीवतादियागमन्त्राणां व्यावृत्त्यर्थं होतृप्रवचनविहितेति विशेषणम् । मैत्रावरुणादियाज्यासु तत्सिध्यै प्रवचनेत्युक्तम् ।

न चैवमपि मृगारेष्व्यादिविकृतिष्वध्वर्युवेदे विहितास्वर्ण्यौपदेशिकयाज्यानां यजुर्वेद एव विधानेन याज्यात्वानापत्तिप्रसङ्गाद्वषट्कारादितद्धर्मानापत्तिरिति वाच्यम् । तासां स्वरूपेण याज्यात्वाभावेऽपि याज्याकार्यविधानेन तद्धर्मप्राप्त्युपपत्तेः ।

यत्तु काचित्कं दर्शपूर्णमासादिमात्रे याज्यादिविधानं तदकृ-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४५

त्सन्त्वाद्धात्रस्य ऋग्वेदस्थशाखान्तरविहितयाज्याद्यनुवादकमेवेति न तेष्वप्राप्तिः । अस्तुवा तदनुरोधेन मन्त्रत्वादिवत्प्रसिद्धविषयत्वसमानाधिकरणो याज्यात्वमखण्डोपाधिरूपो धर्मविशेषः ।

न चैवं 'सूक्तवाक्येऽपि सूक्तवाक्य एव याज्ये'ति प्रसिद्धेः सत्त्वाद्याज्यात्वापत्तिः, अस्या एवकारोपबद्धत्वेन विरुद्धत्वात् । न ह्ययं याज्यान्तरनिवृत्त्यर्थः । तस्यापि प्राप्तत्वात् । अतोऽयाज्यात्वेऽप्ययमेव याज्येति स्तुत्यर्थः । अत एव प्रस्तरे आहुतित्वस्य मुख्यत्वान्न तत्रैवकारः प्रयुक्तः । सूक्तवाक्यस्य च निगदत्वेन प्रसिद्धेः निगदानां च याज्यात्वाभावस्य "अयाज्या वै निगदा" इत्यनेन स्थलान्तरेऽनुवादादाज्यात्वं स्पष्टम् । अत एव न तत्र तद्धर्माः ।

न च याज्यात्वाभावेऽपि सूक्तवाक्य एव याज्येति नामान्तिदेशेन तद्धर्मप्राप्तिः । अस्यार्थवादत्वेन प्रसिद्धसादृश्यमात्रेणोपपत्तौ तदन्तर्गतस्य याज्यानाम्न "उपशयो यूषो भवती"तिवदान्तिदेशकत्वात् । कार्यापत्त्या तद्धर्मप्राप्तिस्तु प्रहरणे याज्यान्तरस्याविहितत्वाद्नाशञ्छ्रौत् । तत्सिद्धं मुख्ययाज्यात्वाभावेऽपि यागसाधनीभूतमन्त्रत्वसाम्याद्याज्यात्वव्यपदेशः प्रहरणाङ्गं तु सूक्तवाक्य इति ॥ सूत्रं स्पष्टम् ॥

सू-स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ ३-२-१३ ॥

नन्वग्न्यादिप्रकाशकेन सूक्तवाक्येन तद्रहितप्रहरणप्रकाशनासम्भवात् कथं तस्य तदङ्गत्वम् ? अत आह-स 'सूक्तवाको देवताकल्पनार्थोऽङ्गत्वेन रूपेण प्रहरणं प्रति संयोगात् आघारोपांशु-याजादिमन्त्रवत् । अत्र चाग्नेयादियागेष्वग्न्यादीनां प्रत्येकं देवतात्वेऽप्येतद्यागान्तर्गतोद्देशनिरूपितदेवतात्वस्य 'पुत्रनिष्ठपूतत्वादि-वृत्तिफलत्वस्यैव लाघवेन व्यासज्यवृत्त्येकस्यैव कल्पनम् । अतश्च

परप्रयुक्ताग्न्यादिवृत्तिना एकेन देवतात्वेनैकस्यैवैतत्प्रस्तरद्रव्यकस्य त्यागस्य कल्पनम् । शाब्दत्वार्थं चाजहत्स्वार्थलक्षणया आघारयतिवत् प्रहरतिना लक्षणाद्धोमत्वसिद्धिः । एकहोमकल्पनाच्च सत्यपि मन्त्रे प्रत्येकाधिष्ठानप्रकाशने यजमानेन समस्तान्यधिष्ठानान्युद्दिश्य युगपत् त्यागः कार्यः । याज्ञिकानां त्वेकद्रव्यकत्वेऽपि प्रत्येकत्यागकरणे मूलं न पश्यामः । सूत्रं स्पष्टम् ॥

सू—प्रतिपात्तिरिति चेत् ॥ ३-२-१४ ॥

ननु—प्रहरतिना होमलक्षणायां तस्योद्देश्यत्यागप्रक्षेपरूप-
क्रियासमुदायरूपत्वात् तत्र च प्रक्षेपमात्रस्य प्रकृतिप्रतिपात्तित्वे-
ऽपि त्यागस्य स्विष्टकृदादाविवारादुपकारकत्वापत्तेः प्रस्तरमिति
द्वितीयोक्तप्रस्तरकर्मत्वस्य प्रक्षेप एवान्वयात् पदार्थैकदेशेऽ-
न्वयापत्तिः ।

न चोत्तरार्थादितुल्यत्वम् । तत्र पञ्चम्या प्रक्षेपांशं प्रत्यपि
गुणत्वेनैवोत्तरार्थे विहिते पश्चात्प्रयोजनाकाङ्क्षायां कल्पितविधौ
प्रक्षेपमात्रं प्रत्युत्तरार्थस्य संस्कार्यत्वोपपत्तेः । अतश्च द्वितीयया
प्रस्तरस्य प्रहरणमात्रप्रतिपाद्यत्वावगतेः प्रहरतिना होमलक्षणा-
योगादनाकाङ्क्षितविनियोगस्य सूक्तवाक्यस्य गौण्या वृत्त्या प्रहर-
णमात्रे विनियोगानुपपत्तेः तस्मिन् सूक्तवाक्यस्य कालार्थ एव
संयोग इति चेत्—

सू—स्विष्टकृद्दुभयसंस्कारस्स्यात् ॥ ३-२-१५ ॥

अत्रापि स्विष्टकृत्तुल्यतैव । न च पदार्थैकदेशेऽन्वयापत्तिः ।
शाब्दस्य कर्मत्वस्य प्रथमतः पदार्थभूतायां भावनायामेवान्वयेन
पश्चात् पाठिकान्वयवेलायां प्रक्षेपमात्रान्वयोपपत्तेः ।

न च भावनाख्यस्य यत्रस्यापि जन्यक्रियाभेदेन शब्दान्त-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४७

रविधया भिन्नत्वात् प्रक्षेपमात्रजनकीभूते यत्र तदन्वयाङ्गीकारापत्तौ तद्दोषतादवस्थयमिति वाच्यम् । क्रियाभेदेऽपि जन्यतावच्छेदकस्य होमत्वस्य व्यासक्तस्यैकत्वेन जनकीभूतयत्रवैजात्ये प्रमाणाभावेन शब्दान्तरन्यायाविषयत्वात् । समूहालम्बनवदनेकक्रियाजनकीभूतैकयत्राङ्गीकारेण तदन्वयोपपत्तेः । अतश्च स्विष्टकृद्देव प्रक्षेपांश उपयुक्तप्रस्तरप्रतिपत्त्यर्थः, त्यागांशश्चारादुपकारकः, उद्देशांशेन देवतासंस्कारार्थः । तत्र त्वयं विशेषः—स्विष्टकृति त्यागान्तर्गतस्योद्देश्यस्थानुपयुक्ताग्निस्विष्टकृद्विषयत्वेनारादुपकारकत्वमेव । मन्त्रगतस्य त्विष्टेऽप्यमानदेवतासंस्कारकत्वम् । प्रकृते तु त्यागान्तर्गतस्यापीति ।

प्रयोजनं स्पष्टम् । पूर्वपक्षे सूक्तवाकपाठकाले प्रहरणं सिद्धान्ते त्वन्त इत्याद्युह्यं च ॥

इति पञ्चमं सूक्तवाकाधिकरणम् ॥

अथ षष्ठं सूक्तवाकस्य विभज्य
विनियोगाधिकरणम् (६)

सू—कृत्सोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥ ३-२-१६ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

तदेवं श्रुतिप्रमाणके प्रहरणाङ्गत्वे मुख्यसामर्थ्यस्य सहायत्वे निरूपितेऽधुना प्रसङ्गाच्छ्रुतिविनियुक्तस्य सूक्तवाकस्य मुख्यसामर्थ्यादिष्टदेवताप्रकाशनार्थत्वमप्यस्ति ? नवा ? इति चिन्तनात् पादाध्यायान्तरसङ्गतयः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्रबलप्रमाणेन प्रमिते प्रहरणाङ्गत्वे तेनैव निराकाङ्क्षस्य

सूक्तवाक्येषु देवताप्रकाशनविषये लिङ्गेन श्रुतिकल्पनानुपपत्तेर्न्यायविरोधेऽपीष्टदेवताप्रकाशनाङ्गम् ।

न चात्राविरोधोऽपि । सूक्तवाक्यपदस्याध्येतृप्रामिध्या समस्तानुवाके रूढत्वात् । भवन्मते चेष्टदेवताप्रकाशकपदसमुदायस्यैव पाठेन सूक्तवाक्यव्यवपाठापत्या सूक्तवाक्यपदेऽवयवलक्षणाप्रसङ्गेन प्रातिपदिकश्रुतेर्बाधापत्तेः ।

न च सुष्ठूक्तं वक्ति असौ सूक्तवाक्य इति व्युत्पत्त्या सूक्तवाक्यशब्दस्य क्लृप्तावयवयोगेनोपपत्तेस्त्वन्त्ररूढिकल्पनानवकाशः । तथात्वे पारायणाध्ययनजपादावपि कतिपयदेवतावाचिपदानामेवाभितस्तन्त्रपदोपेतानां पाठेन सूक्तवाक्यपदार्थसम्पत्त्यापत्तेः ।

अथ तत्राध्येतृप्रसिद्ध्या यावदात्मना तदेवतापदसमूहस्यैव तन्त्रपदोपेतस्य सूक्तवाक्यपदवाच्यत्वम् , ततो लब्धात्मिकायास्समूहरूढेरवयवयोगस्य दुर्बलत्वान्न तद्वलेनैकदेशप्रयोगसिद्धिः । अतश्च श्रुतिविरोधे लिङ्गस्य विनियोजकत्वायोगान्नेष्टदेवताप्रकाशनार्थत्वं सूक्तवाक्यस्य । अस्तु वा तत् , तथापि नेष्टदेवताप्रकाशनस्य सूक्तवाक्यप्रयोजकत्वम् , अपि तु प्रहरणस्यैव विनियोजकप्रमाणद्वयसत्त्वे प्रबलप्रमाणप्रामित्यैव विशेषिणः प्रयोजकत्वकल्पनौचित्यात् । अतश्चायुरादिवदानुषङ्गिकमस्त्विष्टदेवताप्रकाशनम् । प्रहरणं पुनरिष्टानिष्टदेवतापदसाधारण्येन सूक्तवाक्यप्रयोजनं न विरुध्यते । अतश्च सम्पूर्णसूक्तवाक्यपौर्णमास्याममावास्यायां च प्रयोक्तव्य इति फलितम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

धिकरणसिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४९

सू-यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥ ३-२-१७(सि)

(सिद्धान्तः)

ससं प्रबलप्रमाणप्रमिते दुर्बलप्रमाणस्यानवतारो यदि दुर्बलप्रमाणानुपजीवि प्रबलं भवेत् , यथा ऐन्द्यादौ; प्रकृते तृपजीवित्वाद्द्वयोरपि विनियोजकत्वम् ।

तथा हि-श्रुतिर्हि लिङ्गं यदि बाधेत ततो मन्त्रवर्णकल्पित-देवताकहोमान्तर्गतस्य देवतोद्देशस्यानुपयुक्तसंस्कारकत्वानुपपत्तेरारादुपकारकत्वं प्रसज्येत । अतस्तस्य दृष्टविधया सामवायिकत्वलाभार्थं प्रहरणविधिरेव लिङ्गोच्चीतमिष्टदेवतासंस्कारार्थत्वं मन्त्रस्याप्यनुमन्यते । एतेनानुषङ्गिकदेवतासंस्कारार्थत्वपक्षोऽपि निरस्तः । तस्मिन्नपि पक्षेऽनुपयुक्तदेवतापदांशे आरादुपकारकत्वप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् ।

अत एव सूक्तवाकस्येष्टदेवताप्रकाशनमेव प्रयोजकं, न तु होमः । ततश्च विभज्य विनियोगसिद्धिः । इष्टदेवताप्रकाशनस्यापि प्रयोजकत्वं मन्त्रलिङ्गाधीनत्वात् संनिपसोपकारकत्वकल्पनामूलकत्वाच्च विभज्य विनियोगविषय एव, न तु होमाभावेऽपि सूक्तवाकपाठविषये । यदनेन हविषेति हि मन्त्रे प्रत्यक्षनिर्दिष्टस्य प्रस्तरहविष आयुरादिफलस्य च निर्देशेन तदंशेन होमस्यैव प्रयोजकत्वावगतेः एकदेशपाठस्य साकाङ्क्षत्वेनायुक्तत्वाच्च । अत एवावभृथादौ आज्यभागाङ्गेष्टदेवताप्रकाशनार्थतया न सूक्तवाकपाठः । अपूर्वत्वेन प्रस्तराभावेन च होमाभावात् । प्रस्तरनाशादौ त्वाज्येन होमस्य सत्त्वात् तत्पाठ इष्ट एव । अयं चाविकलो न्याय उक्तमप्रयाजस्विष्टकृन्मन्त्रादिष्वपि ज्ञेयः ।

तत्रापि सत्यपि महाप्रकरणसहकृतेन स्पष्टलिङ्गेनावाहनम-

न्त्रवक्ष्यमाणदेवतासंस्कारार्थत्वे क्रमसहितावान्तरप्रकरणसहकृ-
तेन लिङ्गेन मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पनद्वारोत्तमप्रयाजाङ्गत्वमपि त-
न्मन्त्रस्यावधार्यते ।

अस्तु वा वचनादेव स्विष्टकृन्मन्त्रस्य स्विष्टकृद्यागाङ्गत्वादस्या-
प्युत्तमप्रयाजाङ्गत्वम् । न हि स्विष्टकृति मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पन-
द्वारा लिङ्गस्य विनियोजकत्वं संभवति । चतुर्थ्युपात्ताग्निस्विष्टकृद्दे-
वतावरोधात् । तेनावश्यं स्विष्टकृति वाचनिक एव मन्त्रविनियोगो
वाच्यः । तद्वच्चोत्तमप्रयाजेऽप्यस्तु । अतश्चोत्तमप्रयाजान्तर्गत-
देवतोद्देशस्य संनिपत्योपकारकत्वलाभार्थं वचनेनापि वक्ष्यमा-
णदेवताप्रकाशकलिङ्गोपजीवनाद्विभज्यविनियोगादिसिद्धिः ।

न चैवमपि स्विष्टकृद्देवतोद्देशाशस्यानुपयुक्तदेवताकत्वेन-
राटुपकारकत्वस्य निश्चितत्वात्तन्मन्त्रस्य लैङ्गिकेष्ट्यक्ष्यमाणदे-
वतासंस्कारार्थत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । स्विष्टकृच्छब्दस्य यौ-
गिकत्वबलेन तत्सिद्धेः ।

तथा हि—यथैव सूक्तवाक्यशब्दस्य सुष्टूक्तं वक्तीति व्युत्पत्त्या
यौगिकत्वाद्विभज्य विनियोग इत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते तथैव स्विष्ट-
कृच्छब्दोऽपीष्टमग्न्यादिदेवतारूपं सुष्टु करोतीति व्युत्पत्त्या यौ-
गिकससन् प्रकृतयागाङ्गभूताग्निविशेषणमिति तावन्निर्विवादम् ।

योगोऽपि च नेष्टदेवतासम्बन्ध्युत्तरार्धादिप्रतिपादकत्वेन ।
प्रक्षेपस्यैव तत्त्वेनाग्नौ देवताभूते तदभावात् । अतश्चा (योगोपपाद-
कापेक्षायां मन्त्र “अयाळग्निरग्नेः प्रिया धामानी”त्यादिना “हो-
तः पावके”त्यादिवाक्यशेषात् स्विष्टकृद्देवतारूपो)ग्निः होतृरूपेणा-
ज्यभागादिसम्बन्ध्यग्न्यादेः प्रियाणि धामान्यधिष्ठानानीष्टवानि-
त्येवमवगतस्य योगस्याश्रयणीयत्वावगतेः स्विष्टकृद्देवताभूता-

() एतत्कुण्डलान्तर्गतो भागः ‘ख’ पुस्तके नास्ति ।

धिकरणसिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५१

ग्न्यादिविशेषणीभूतेष्टयक्षयमाणदेवतावृत्तिमुष्टुभावकारित्वरूपध-
र्मवशेनापि विभज्य विनियोगादिप्रतीत्युपपत्तिः । तस्मात् सिद्धं
सूक्तवाक उद्देशांशस्योपयुक्तदेवतासंस्कारत्वलाभार्थं लिङ्गादपि
विनियोग इति । सूत्रं स्पष्टम् ॥

सू-वचनादिति चेत् ॥ ३-२-१८ ॥

यत्तु सूक्तवाकपदस्य कृत्स्नसूक्तवाके रूढत्वात् प्रातिपदिक-
श्रुतिबाधापत्तेः तदनुरोधेनोद्देशांशे आरादुपकारकत्वकल्पनस्या-
पि न्याय्यत्वात् न तल्लिङ्गस्य विनियोजकत्वमित्युक्तम् । तत्राह-

सू-प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्न-

शब्दः ॥ ३-२-१९ ॥

अत्र भाष्यकारेणैवं सूत्रं व्याख्यातम्—अभ्युपगम्यैव सू-
क्तवाकपदस्य रूढिप्रयोगद्वयवर्तिप्रहरणद्वयोद्देशेन कृत्स्नस्य सूक्त-
वाकस्य विधानेऽप्येकैकप्रहरणेऽवयवशः प्रयोगो न विरुध्यते ।
यथा—“चातुर्विधैभ्यश्शतं देयम्” “एकादशिनान् प्रायणीयोद-
यनीययोरालभेर” अित्यादौ समुदायोद्देशेन कृत्स्नविधिरेकैकवे-
दविदश्च शतचतुर्थांशः, प्रायणीये पञ्च पञ्चवः उदयनीये षड्वि-
स्रवयवशः प्रयोगः तथा प्रकृतेऽपीति ।

तत्त्वेवं दूषितम्—न समुदायस्य फलसाधनता, यज्या-
दिपदे लक्षणापत्तेः । अपि तु समुदायिनामेव । तत्र तु
फलं प्रत्युपादेयत्वात्तद्विषयामपि नेतिकर्तव्यतान्वये साहि-
स्यविवक्षा उद्देश्यत्वात् । अतश्च प्रत्येकमेव षण्णां यागानामि-
तिकर्तव्यतान्वयात् प्रयाजादीनामिव प्रत्येकमेव प्रहरणान्व-
यः । सूक्तवाकोऽपि च तदङ्गत्वात् प्रत्येकमेव कर्तव्यत-
या कृत्स्नः प्राप्नोतीति कालैक्याप्रयाणामर्थे प्रहरणतन्त्रतया

तन्त्रेण प्राप्तावपि तस्य नावयवशः प्रयोगसिद्धिः । शतदानवि-
धौ तु सम्प्रदानस्यासंस्कार्यत्वेनोपादेयत्वात् साहित्यविवक्षा ।

एवं प्रायणीयवाक्येऽपि द्वादशाहाङ्गभूतैकादशिनोद्देशेन प्राय-
णीयोदयनीयरूपदेशस्य विधेयत्वात् तत्साहित्यविवक्षा । अतश्च
तत्र युक्तोऽवयवशः प्रयोगः ।

एवं यत्रोत्पत्तिवैलायामेव व्यक्त्यैकत्वमवधारितम्, यथा—“च-
तुर्जुहां गृह्णाती” सादौ चतुर्गृहीतैकत्वस्य तत्रापि प्रयाजत्रयोद्दे-
शेन विधानेऽप्यावृत्त्यनुपपत्तेरवयवशः प्रयोगः । प्रकृते तूत्पत्त्यव-
गतस्य सूक्तवाकस्वरूपस्यावृत्तावप्यवाधान्नावयवशः प्रयोग इति ।

स्वयं च प्रातिपदिकश्रुतिविरोध एव परिहृतः—नायमेक-
स्सूक्तवाकः । देवतापदानां परस्परान्वयाभावेनैकार्थ्यप्रतिपादक-
त्वाभावादेकवाक्यत्वानुपपत्तेः । अपि त्वभितस्तन्त्रपदोपेता एकै-
कदेवतापदमध्या बहवस्सूक्तवाकाः । अतश्च विभक्तस्यैव सू-
क्तवाकत्वेन तृतीयया प्रहरणं प्रति करणत्वेन विधानात्प्रातिपदि-
कतृतीयाश्रयविरोधः । एकवचनं परं पाशाधिकरणन्यायेन बहु-
त्वलक्षणार्थम् । एवं चेष्टदेवताप्रकाशनरूपलौकिककार्यानुरोधेनै-
कप्रहरणप्रयोगे सूक्तवाकत्रयपाठोपपत्तिः । अभितस्तन्त्रपदानां
तु लाघवात् सकृत्पाठ इति ।

तदपि पुनर्वातिककारेण दूषितम्—न बहवस्सूक्तवाकाः,
वैश्वानरादिवाक्यवदुपक्रमोपसंहारैक्येनैकवाक्यत्वोपपत्तेः । न
च तत्तद्देवतापदानां संभूयैकार्थ्यप्रतिपादकत्वाभावात्तदसम्भ-
वः । प्रत्येकपदानामेकार्थ्यप्रतिपादकत्वाभावेऽपि यदनेन ह-
विषेत्यनेनैकवाक्यतयैकप्रयोजनत्वोपपत्तेः । उपपादितश्च तदेक-
वाक्यतया पूर्वाधिकरण एव सूक्तवाकार्थः ।

यद्यपि चेष्टदेवताप्रकाशनस्यैव सूक्तवाक्यप्रयोजकत्वादर्थ-

धिकरणसिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५३

तः प्राधान्यं तथापि प्रहरणस्यापि शाब्दबोधेऽङ्गित्वेनार्थतोऽपि वा प्राधान्यसन्वादेकप्रयोजनत्वोपपत्तिः । यदि च तत्तद्देवता-प्रकाशनानामेव शब्दतोऽपि प्राधान्यमङ्गीकृत्य नानावाक्यत्वमि-
ष्येत ततो “या ते अग्ने” इत्यादिवदभितस्तन्त्रपदानामप्यनुष-
ङ्गेण पृथक् पाठापत्तिः । सूक्तवाक्येनेत्येकवचनबलाच्चानियमे-
नैकस्यैव सूक्तवाक्यस्य श्रुत्या विनियोगापत्तेः तदंश एव च स-
न्निपसोपकारकत्वलाभार्थमिष्टदेवताप्रकाशनार्थत्वकल्पनोपपत्तेर्न सू-
क्तवाक्यत्रयपाठसिद्धिः । अतोऽन्यथा परिहृतम्-न सूक्तवाक्यपद-
स्य प्रत्येकं समुदाये वा शक्तिः, गौरवात् । अपि तु सुष्ठुक्तं व-
क्तीति व्युत्पत्त्यैकप्रयोगवृत्तियावदिष्टदेवताप्रकाशकमन्त्रविशेषे
योगरूढः । अतश्चेष्टदेवताप्रकाशनकार्यानुरोधेनानिष्टदेवताप्रका-
शकपदानुच्चारणेऽपि न सूक्तवाक्यप्रतिपदिकश्रुतिविरोधः ।

यस्मिन् प्रयोगे यावत्सः प्राकृत्यो वैकृत्यो वा देवता इष्टा-
स्तावत्पदसमुदायस्यैवाभितस्तन्त्रपदोपेतस्यावयवप्रसिध्या सूक्त-
वाक्यपदवाच्यत्वावधारणात्तावत् एव शाब्दबोधकालीनप्रहर-
णप्राधान्यमादायैकवाक्यत्वोपपत्तेश्च ।

न चैवमध्ययनादिकाल इष्टत्वाभावेन फलोपहितेष्टदेवताप्र-
काशकमन्त्रत्वाभावात् सूक्तवाक्यपदप्रयोगानुपपत्तेस्तदर्थं स्वरूप-
योग्यतामात्रेण शक्त्यङ्गीकारे चानिष्टदेवताप्रकाशकपदानामपि
योग्यतामात्रेण प्रयोगोपपत्तेरध्ययनादिकाले च द्वित्रिदेवतापद-
सहितमन्त्रपाठमात्रेणापि सूक्तवाक्यत्वसिद्ध्यापत्तौ वैदिकानां या-
वच्छ्रुतदेवतापदसहितमन्त्रपाठ एव तत्प्रसिद्धिविरोधापत्तेरव-
श्यं तत्र रूढरेव कल्पनीयत्वात् तथा च योगवाधेन क्रतुकाले-
ऽपि समस्तस्यैव पाठावगतेः कथं न श्रुतिविरोध इति वाच्यम् ।
सूक्तवाक्यशब्दस्याध्ययनादिकालीनवैदिकप्रसिद्ध्यानुरोधेन दर्श-

पूर्णमासीययावद्देवतापदसमुदायसहितमन्त्रे निरूढलक्षणाङ्गी-
कारात् । अश्वकर्णादौ तु शक्यसम्बन्धप्रतीत्यभावात् क्लृप्ताव-
यवशक्तिबाधेनाप्यतिरिक्तशक्तिकल्पनमिति वैषम्यम् । तस्मात्
श्रुतिविरोधाभावादुपजीव्यत्वेन मुख्यसामर्थ्यस्यापि युक्तमेव
विनियोजकत्वम् ।

प्रयोजनं विभज्य विनियोगादि स्पष्टम् । सूत्रं च प्रकर-
णस्य प्रकृष्टकरणस्यावयवशक्तिरूपस्याविभागात् प्रत्यभिज्ञा-
नाडूढिकल्पनानुपपत्तेरुभे प्रत्यवयवप्रयोगेऽपि कृत्स्नस्सूक्तवाकश-
ब्दार्थो नानुपपन्न इति व्याख्येयम् ॥

इति षष्ठं सूक्तवाकस्य विभज्यविनियोगाधिकरणम् ॥

अथ सप्तमं लिङ्गक्रमसमाख्याधिकरणम् ॥ (७)

सू—लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समा-
म्नानम् ॥ ३-२-२० ॥

(विषयसंशयौ)

काम्येष्टिकाण्डे(१)“ऐन्द्रागमेकादशकपालं निर्वपेद्यस्य स-
जाता वीयु”रित्याद्याः काम्येष्टयस्समाम्नाताः । तेनैव क्रमेण म-
न्त्रकाण्डे तत्तल्लिङ्गा एव काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमित्येवं समा-
ख्याता “इन्द्राग्नी रोचना दिवः” इत्याद्या मन्त्रास्समाम्नाताः ।
ते किं लिङ्गमात्रादिन्द्राग्न्यादिदैवत्यकर्ममात्राङ्गं ? किं वा क्रमस-
माख्यानुरोधेन काम्येष्टिष्वेवेति सन्देहः ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५५

(सङ्गतिः)

लिङ्गविनियोगोपयोग्युद्देश्यतदवच्छेदकविचारालिङ्गोपजी-
विप्रमाणान्तरविचाराच्च पादाध्यायसङ्गती । पूर्वं श्रुतेर्जघन्यप्रमाणा-
पेक्षत्वे निरूपिते लिङ्गस्यापीह तन्निरूपणात्प्रासङ्गिकी त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र स्वाध्यायविध्यध्यापितस्य मन्त्रजातस्य प्रयोजनाकाङ्क्ष-
त्वादाकाङ्क्षासहकृतेन योग्यतारूपेण लिङ्गेन मन्त्रस्येन्द्राग्निप्रकाश-
नार्थत्वकल्पनोपपत्तेर्न लिङ्गस्य सामान्यसम्बन्धप्रमाणापेक्षा ।

न च लिङ्गं सामान्यतः क्रतुसम्बन्धेऽवगवते एव द्वारविशेषवि-
नियोजकमित्यत्रापि किञ्चिन्नियामकमस्ति । श्रुतिवदेव पूर्वं क्रतुसम्ब-
न्धानवगमेऽप्याकाङ्क्षासहकृतलिङ्गेन वहनयोग्यस्य पुरुषस्याका-
ङ्क्षायां सखां वहने विनियोगवदिन्द्राग्नी प्रकाशनेऽपि विनियोगो-
पपत्तेः । न चेन्द्राग्निप्रकाशनस्वरूपे वैयर्थ्यादस्त्येवापूर्वसाधनत्व-
कल्पनातात्पर्यग्रहार्थं प्रमाणान्तरापेक्षेति वाच्यम् । श्रुत्यादेरपि त-
दपेक्षत्वेन लिङ्गस्यैव विशिष्य तदपेक्षत्वोद्धोषे प्रमाणाभावात् ।
अस्ति चात्रापूर्वसाधनत्वकल्पनातात्पर्यग्राहकं प्रमाणम् । इन्द्रा-
ग्न्यादिदेवतानां क्रत्वव्यभिचारित्वेन जुहूवत्क्रतूपस्थापकत्वोप-
पत्तेः । देवतात्वं हि यागैकनिरूपितं विहितत्वघटितं चेति न
लौकिकम् । न च तस्यालौकिकत्वेऽपि तत्त्वेन रूपेण मन्त्रेणा-
प्रकाशनादधिष्ठानमात्रस्य चेन्द्राग्न्यादेर्मन्त्रार्थवादादौ यागं विना-
पि स्वर्गभेर्वादिस्थत्वेन प्रतिपादनाल्लौकिकत्वावगतेः कथमव्य-
भिचरितक्रतुसम्बन्ध इति वाच्यम् । मन्त्रार्थवादादेरन्यपरत्वेन
स्वर्गादिस्थत्वे प्रमाणाभावात् । स्वार्थपरेण च तद्धितादिना क्रत्व-
व्यभिचारित्वेनैव तदुपस्थितेः ।

किञ्च क्रत्वव्यभिचाराभावेऽप्यस्ति तावत्तेषां क्रतुसम्ब-

न्धः । अतश्च स्मारकविधयैव क्रतूपस्थित्युपपत्तेरानर्थक्यभिया च लौकिकनिराकरणोपपत्तेः परिशेषादेवापूर्वसाधनत्वलक्षणोपपत्तेर्न तदर्थं प्रमाणान्तरापेक्षा । अतो निरपेक्षेण लिङ्गेन क्रमसमाख्ययोर्बाधात् सर्वार्थत्वमित्येवं प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नाकाङ्क्षाभावे योग्यतामात्ररूपस्य लिङ्गस्य विनियोजकशब्दकल्पकत्वं युक्तम् । वहनयोग्यस्यापि पुंसो नैरपेक्ष्ये सति वहने विनियोगादर्शनात् ।

न च मन्त्रगतायाः प्रयोजनाकाङ्क्षायास्सत्वान्न क्षतिरिति वाच्यम् । वाचस्तोमादावर्थवृत्तिगुणप्रकाशनद्वारैव विनियोगसत्त्वेन मन्त्राणां स्वतो निराकाङ्क्षत्वात् । अतश्च प्रकरणक्रमादिना पुनराकाङ्क्षामुत्थाप्य सामान्यतः क्रत्वन्तरसम्बन्धेऽवगते द्वारविशेषजिज्ञासायां लिङ्गान्मुख्यगौणाद्यर्थसम्बन्धोपपत्तिः ।

इदमेव च लिङ्गस्य सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणसापेक्षत्वं न श्रुत्यादेरित्यत्र बीजम्, आकांक्षां विनापि तत्राङ्गताबोधात् ।

न च वाक्येनैव ब्राह्मणगतेन सर्वेषां मन्त्राणां वाचस्तोमाङ्गत्वेन निराकाङ्क्षत्वावगतेर्न प्रकरणादिना दुर्बलेनाकाङ्क्षोत्थापनसम्भवः । तत्तन्मन्त्रविशेषविषयाणां तत्तत्प्रकरणादीनामवाधेनोपपत्तौ सर्वसाधारण्येन तत्तन्मन्त्रपाठकालोत्पन्नप्रयोजनाकाङ्क्षावेलायामनुपस्थितेन वाचस्तोमवाक्येन बाधायोगात्, अन्यत्र वचनविनियुक्तमन्त्रविषये नैराकाङ्क्षोत्पादनायोगेन तत्साहचर्यात्प्रकरणादिविनियुक्तविषयेऽपि तदयोगाच्च । अतश्च वाचस्तोमवाक्येन सर्वेषां मन्त्राणां विनियोगेऽपि प्रमाणान्तरेण तत्र तत्राकांक्षोत्थापनाद्युक्तस्तत्र लिङ्गेन विनियोगः । तच्च प्रमाणान्तरं काचिद्वाक्यं—यथा वषट्कारादिमन्त्राणां “एष वै सप्तदशः

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५७

प्रजापतिर्यज्ञेऽन्वायत्” इति । “बर्हिर्देवसदनं दामी”त्यादीनां प्रकरणम् । प्रकृते च क्रमस्समाख्या च ! पूषानुमन्त्रणमन्त्रादावपि समाख्येत्युक्तमेव । नच प्रबलप्रमाणेन विनियुक्तस्यापि दुर्बलेनान्यत्राकाङ्क्षोत्थापनेन विनियोगे समाख्यासहकृतमुख्यलिङ्गेनान्यत्र विनियुक्तस्यापि पूषानुमन्त्रणमन्त्रस्य प्रकरणसहकृतगौणलिङ्गेन दर्शपूर्णमासयोरावाहनदिमन्त्रवन्मन्त्रान्तरसमुच्चयेनापि विनियोगोपपत्तिः । तन्मात्रविषयप्रमाणद्वयस्थले मन्त्रपाठकालोत्पन्नप्रयोजनाकाङ्क्षावेलायामुपस्थितेन प्रबलप्रमाणेन दुर्बलस्य बाधोपपत्तेः ।

अत एव गार्हपत्याङ्गताबोधकश्रुत्यैवेन्द्राङ्गत्वस्य बाधो, न तु वाचस्तोमवाक्येन । अतस्सिद्धं सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणेनैवाकाङ्क्षोत्थापने सति लिङ्गस्य विनियोजकत्वमिति । अतश्च क्रमसमाख्यानुरोधेन काम्येष्टिविषयत्वमेव ।

न चान्यत्राप्यव्याभिचरितक्रतुसम्बन्धरूपव्याप्तिबलेनाकाङ्क्षोत्थापनसम्भवः । प्रकरणपाठादौ हेतुप्रकरणपठितेन मया कथमस्योपकर्तव्यमिति जायतेऽपेक्षा, न त्वव्याभिचरितक्रतुसम्बन्धेऽपि । व्याप्तेर्बोधकत्वनैयत्येऽप्याकाङ्क्षोत्थापकत्वासंभवात् । न हि बह्विषये निराकाङ्क्षस्य बह्व्यनुमितौ जातायां तद्विषये पुनराकाङ्क्षोपजायते । अत एव जुहादिप्रतिपादकस्याप्यनारभ्याधीतस्य मन्त्रस्य सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तराभावसत्त्वे नैव दर्शाङ्गत्वम्, किन्तु वाचस्तोमाद्यङ्गतैवेति ध्येयम् ।

अतश्च यद्यपीन्द्राग्न्यादीनामपूर्वाव्याभिचारस्स्यात् तथापि न तन्मन्त्राणां सर्वार्थत्वम् । किमुत यदा नैव सः ।

ननु-कोऽयमव्याभिचरितसम्बन्धो नाम ? या या जुहूस्सा सा क्रतुसाधनमित्येवं व्याप्तिरूप इति चेत्-हन्त हिरण्यादेरप्यपूर्वसाधनत्वयोग्यत्वात्तदव्याभिचारापत्तिः । सर्वव्यक्तानां फलो-

पधाननैयत्याभावाद्वाभिचार इति चेत्-जुहादावपि तुल्यमेतत् ।
 किञ्चैवमिन्द्रादेः कथं व्यभिचारित्वम् ? तस्य स्वर्गमेवादिस्थ-
 त्वेऽपि क्रतुसम्बन्धाव्यभिचारात् । न हेतादृशी काचिदिन्द्रव्य-
 क्तिरस्ति, या नापूर्वीयसूक्तहविर्भाक्, प्रमाणाभावादिति चेत्-न;
 अपूर्वमात्रनिरूपितसाधनतावच्छेदकीभूतो यो धर्मस्तदवच्छिन्न-
 स्यापूर्वाव्यभिचार इति नियमाङ्गीकारात् । भवति चाकारवि-
 शेषत्वरूपजुहूत्वादि तथा कार्यान्तरं प्रति काष्ठत्वादिना
 साधनत्वेनाकारविशेषत्वादिना तत्त्वे प्रमाणाभावात् । हिरण्या-
 देस्तु तत्त्वेनैव कार्यान्तरसाधनतेति वैषम्यम् ।

इन्द्रादिस्थलेऽपि पदस्यैवास्मन्मते देवतात्वादानुपूर्वीयवि-
 शेषविशिष्टवर्णत्वस्यापूर्वीयसाधनतावच्छेदकत्वेऽपि कार्यान्तरं प्र-
 त्यपि साधनत्वाद्वाभिचारः ।

अस्त्येव हि तादृशानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णत्वेन स्वार्थबोधं
 प्रत्यपि करणता । अन्यथा तदवच्छिन्नस्य प्रातिपदिकसंज्ञानुप-
 पत्तेः । स्वार्थस्य चापूर्वसाधनत्वकल्पने प्रमाणाभावान्न तद्द्वारा-
 रापि पदस्यापूर्वाव्यभिचारः । अग्न्यादिपदस्य तु व्यभिचारस्स्पष्ट
 एव । अतोऽव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धस्यैवाभावात् सत्त्वेऽपि वा
 तेनाकाङ्क्षानुत्थापनान्न सर्वार्थत्वम् । स्मारकविधया बोधनाका-
 ङ्क्षोत्थापनं तु दूरभ्रष्टमेव । अत एव यत्राध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञान-
 नस्योपनिषज्जन्यजीवात्मज्ञानस्य वा स्वत एव साकाङ्क्षस्य ना-
 काङ्क्षोत्थापकप्रमाणापेक्षा तत्र भवत्येव सामर्थ्यमात्रात्प्रमाणान्त-
 राभावेऽपि क्रत्वङ्गता ।

वस्तुतस्तु कृष्यादिवन्नित्यप्राप्तस्य विधिकल्पने प्रमाणाभा-
 वेन विधेयत्वाभावान्न तत्राङ्गताबोधः, अपि तु जन्यत्वमात्र-
 बोधः । अङ्गत्वं परं “यदेव विद्यया करोती” सनेन कथञ्चिदवधेयम् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५९

प्रकृते तु सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणं विना लिङ्गमात्रेण विनियोगायोगात् क्रमसमाख्यानुरोधेन मन्त्राणां काम्येष्टिविषयत्वमेव ।

न च प्रबलेन क्रमेणैव सामान्यसम्बन्धबोधोपपत्तेः कथं दुर्बलसमाख्यायास्तद्बोधकत्वमिति वाच्यम् । यत्र पाथिकृतीयादिकेवलाग्निदेवत्येष्टावातिदेशिकमन्त्रप्राप्त्या न प्रधाने याज्याद्यपेक्षा, वाचनिकसामुद्रश्याम्नानाच्च सामिधेनीध्वाग्नेयऋक्द्र्यापेक्षा, तत्र तदिष्टिक्रमात्ताग्नेयमन्त्रद्रव्यस्यापेक्षाक्रमेण प्रथमातिक्रमे कारणाभावेन च सामिधेनीषु निवेशप्रसक्तौ समाख्यया तन्निवर्तनात् । न हि तया क्रमस्य बाधः, सङ्कोचो वा । तस्य याज्यादिकार्ये निवेशेऽप्यविरोधात् । अपि त्वपेक्षितविधानादिरूपस्य न्यायस्यैव । स तु समाख्यातो दुर्बल एवेति न किञ्चिद्बाधकम् ।

न च तर्हि काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमित्येवं समाख्ययैवेष्टासिद्ध्युपपत्तेर्न क्वचित् क्रमस्यासाधारण्येन सामान्यसम्बन्धबोधकत्वमिति वाच्यम् । यत्राग्निवारुणीष्टिक्रमे तत्तद्देवत्ययाज्यानुवाक्ये पठित्वा सोमारौद्रीष्टिक्रमाम्नाततद्देवत्ययाज्यानुवाक्यापाठात्पूर्वमाग्नेय्यो मनो ऋचः पृथुपाजवत्यश्च समाम्नाताः तत्र तासां लिङ्गविनियुक्तमन्त्रान्तरेण बाधादुत्तरेष्टियाज्यादिकार्ये समाख्यामात्रेण विनियोगानुपपत्तेः लिङ्गसहकृतसमाख्ययान्यत्र विनियोगप्रसक्तौ क्रमेण तां बाधित्वोत्तरेष्टिसामिधेनीकार्ये निवेशाङ्गीकारात् ।

न च क्रमः पूर्वस्यामपीष्टौ साधारणः । पूर्वैष्टिसामिधेनीस्थानस्य तदीययाज्यादिपाठेन व्यवधानात् । अत उत्तरेष्टिसामिधेनीकार्ये एव क्रमान्निवेशः । एवं च तासां धाव्यासमाख्याप्युपपन्ना भवति ।

अपि च यत्रैन्द्राग्रयागद्वयक्रमे याज्यानुवाक्यायुगलद्वयमा-
म्नातम् तत्र क्रमानङ्गीकारे पूर्वस्योत्तरं युगलमुत्तरस्य पूर्वमित्ये-
वमपि प्रसज्येतेति तद्व्यावृत्त्यर्थं क्रमग्रहणम् । प्रयोजनं सूत्रं च
स्पष्टम् ॥

इति सप्तमं लिङ्गक्रमसमाख्याधिकरणम् ॥

अथाष्टममाग्नेय्यधिकरणम् ॥ (८)

सू-अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥३-२-२१॥

(विषयसंशयौ)

ज्योतिष्टोमे-आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्ध्या सदो, वैष्ण-
व्या हविर्धानमित्यादि श्रूयते । तत्र किं प्रकरणे पठितमपठितं
वाग्न्यादिप्रकाशकं ऋद्धमात्रं तृतीयया तत्तदुपस्थानाङ्गत्वेन वि-
नियुज्यते ? उत यत् प्रकरणे पठितं कार्यान्तरे च विशिष्य
विनियुक्तं यथा--'अग्र आयाहि वीतय' इत्यादि स्तोत्रादौ तदेवात्र
विनियुज्यत इति चिन्त्यते ।

(सङ्गतिः)

श्रुतिप्रमाणकेऽप्यत्र विनियोगेऽङ्गतावच्छेदकस्याग्न्यादिप्र-
काशकऋक्त्वस्य लिङ्गप्रमेयत्वात्तदुपयोगिचिन्तनस्य पादसङ्ग-
त्यविरोधः । अध्यायसङ्गतिस्तु स्पष्टैव । शुद्धस्य लिङ्गस्यापि विनि-
योजकत्वात् सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणापेक्षत्वेऽपि श्रुतेस्त-
दभावे विनियोजकत्वोपपत्तेर्न तदपेक्षेत्येवं पूर्वपक्षोत्थानादनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र सर्वमेव प्रबलं प्रमाणं न दुर्बलेनाविरोधिनापि सङ्कोच-
यितुमलम्, सङ्कोचस्यापि बाधापरपर्यायत्वात् । अन्यथा प्रयाजा-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पदः । २६१

देरप्यानन्तर्यात् पौरोडाशिकसमाख्यया चाग्नेयमात्राङ्गत्वापत्तिः ।
अतश्चात्र तृतीयया श्रुत्याग्निदेवत्यऋद्धमात्रस्यैव प्रकृताप्रकृत-
साधारण्येनाग्नेयीप्रातिपदिकश्रुत्याभिहितस्याग्नीध्रोपस्थानाङ्गत्वेन
विशिष्टविध्युत्तरकल्पविशेषणविधिना विनियोगान्न प्रकर-
णादिना सङ्कोचोपपत्तिः । न ह्यत्र “ब्रीहीन् प्रोक्षती” त्यादाविवं
यथाश्रुतार्थे आनर्थक्यम्, येन तत्परिहारार्थमपूर्वसाधनत्वलक्षणा-
तात्पर्यग्रहाय दुर्बलस्याप्यधिकाराख्यप्रकरणस्योपजीवनात्तेन
स्वविषये सङ्कोच्येत । उपादेयत्वात् न तदाशङ्काप्याग्नेयीपदेऽस्ति ।
अत एव यत्राग्नीध्रोपस्थानस्वरूपे तदाशङ्का, तत्रास्त्येवापूर्वसाध-
नत्वलक्षणार्थं तदनुप्रवेशः ।

न चैतावता प्रकृताग्नेयीमात्रग्रहणापत्तिः । अप्रकृताभिरपि
प्रकृतापूर्वसाधनीभूताग्नीध्रोपस्थानसम्भवात् । न चाग्नेयीशब्दस्य
यौगिकत्वात् सन्निहितव्यक्तिवाचित्वप्रतीतेः प्रकृतमात्रग्रहणोपप-
त्तिः । यौगिकानामप्यवयवार्थविशिष्टव्यक्तिमात्रवाचित्वेन स-
न्निहितवाचित्वे प्रमाणाभावात् । पाचकादौ काचित्की संनिहि-
तव्यक्तिप्रतीतिस्तु प्रमाणान्तरादेव ।

न चैवमप्याग्नेयीशब्दस्य तद्धितान्तत्वात् तस्य च सर्वनामा-
र्थवृत्तित्वेन सन्निहितव्यक्तिवाचित्वस्य स्थापितत्वात् कथमप्रकृ-
तग्रहणापेक्षेति वाच्यम् । ‘अग्न आयाहि वीतय’ इत्यादीनामेक-
प्रकरणपठितत्वेऽपि प्रदेशान्तरस्थत्वेनासन्निहितत्वात् । पाठस-
न्निहितपरत्वमात्रं हि सर्वनाम्नां व्युत्पत्तिसिद्धम्, न प्रकरणसन्नि-
हितत्वमपि । असम्बन्धिपदाव्यवधाने तादृशविषये कापि प्रयोगा-
दर्शनात् । अतस्सन्निहितवाचित्वासम्भवात् सर्वग्रहणोपपत्तिः ।

यत्तु न्यायसुधाकृता अन्यैश्चाग्निदेवत्यत्वऋक्त्वसन्नि-
हितत्वादीनां मन्त्रविशेषोपलक्षणत्वादेकेन चोपलक्षणेन प्र-

कृतऋकार्यसिद्धौ उपलक्षणान्तरानपेक्षणादाग्निदेवसत्वऋक्त्वयो-
श्श्रुतत्वाविशेषेणोभयोरप्युपलक्षणत्वेऽपि सन्निहितत्वस्य विग्रह-
वाक्यस्थसर्वनामगम्यत्वेन विलम्बितप्रतीतिकत्वादाविवक्षावगते-
स्सर्वग्रहणमित्येवं समाहितम् । तन्न ; विशेषणत्वेनैवान्वयसम्भ-
वे उपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात् । अस्तु वोपलक्षणत्वं, तथाप्यु-
पादेयस्थले विशेषणत्ववत् सर्वेषामवोपलक्षणत्वे किं बाधकम् ?
किञ्च ऋक्त्वमपि नैव श्रुतं, स्त्रीत्वमात्रस्यैव स्त्रीप्रत्ययेनोक्तत्वात् ।
अतोऽग्निदेवत्वत्वापेक्षया तस्यापि विलम्बोपस्थितिकत्वादाविव-
क्षापात्तिः ।

किञ्च सन्निहितोपलक्षितव्यक्तिविशेषत्वमपि न विलम्बितम्,
तस्य तद्धितवाच्यत्वेन गुणाधिकरणे व्यवस्थापनात् ।

यदपि भवदेवेन विशेष्यभूते सर्वनामार्थे यत्र विशेषणी-
भूतदेवताया विधानं तत्रैव सर्वनाम्नस्सन्निहितावलम्बित्वम्, य-
था-आग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादौ । न तु यत्र सर्वनामार्थ एव वि-
धीयते विशेषणं तु नैव श्रुतं प्राप्तं वा न तत्र संनिहितावल-
म्बित्वमिति । तदपि यदि पूर्वमताभिप्रायकं तदा तद्दूषणेनैव नि-
रासः । यदि तु न, तत ईदृशनियमे प्रमाणाभावः 'तेनाक्षमुपा-
ज्ज्या'दित्यादौ व्यभिचारश्चेत्युपेक्षितम् । तस्मादुक्तप्रकारेणैव
सर्वग्रहणम् ।

अस्तु वा कथञ्चिदाग्नेयीपदेन प्रकृतग्रहणं, तथापि
ब्रह्मोदनप्राशनादौ यत्र 'चतुरो ब्राह्मणान् भोजये'दित्येव श्रुतम्
तत्र सर्वनामश्रवणाभावादाधानाङ्गभूतऋत्विङ्मात्रग्रहणे नैव
किञ्चिद्बीजम् । नहीदं ब्राह्मणसंस्कारार्थं भोजनम्, अपि तु
ब्राह्मोदनिकाग्निसंस्कारकौदनप्रतिपत्त्यर्थम् । तन्नाशे पुनर्भोज-
नानुष्ठानादर्शनात् ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६३

एवं सत्यपि यदि प्रकृतमात्रग्रहणे किञ्चित्प्रमाणं भवेत् ततो
“यजमानपञ्चमा” इतिवत्कर्तृनियमांशे स्यादपि संस्कार्यत्वम्, न
तु तदस्तीति सर्वग्रहणमेव ।

न चैवं प्रकृतमात्रे नियामकान्तराभावेऽप्यप्रकृतग्रहणे तस्या
आग्नीध्रोपस्थानस्वरूपार्थत्वे आनर्थक्यापत्तेरपूर्वार्थत्वकल्पनस्या-
प्यावश्यकत्वात् क्लृप्तापूर्वार्थतायाः प्रकृताया एवाग्नीध्रोपस्थानरू-
पद्वारान्तरसम्बन्धमात्रकरणेन लाघवात्तदुपजीविविधिश्रुत्या च
प्रातिपदिकश्रुतेरपि सङ्कोचोपपत्तेः प्रकृतमात्रग्रहणोपपत्तिरिति
वाच्यम् । प्रकृताया अपि ग्रहणेऽस्मिन्वाक्य उपस्थानपदेऽपूर्व-
साधनत्वलक्षणया आवश्यकत्वात् । न हि तत् स्वरूपेण द्वारम्,
तत्कार्यापत्ते ऊहाद्यनापत्तेः । तावत्तैव चाप्रकृताया अप्यपूर्वार्थ-
त्वोपपत्तेर्नानर्थक्यम् ।

अपि च प्रकृताया अपि न साक्षादपूर्वार्थत्वम् । क्लृप्ततद्धो-
धकप्रमाणाभावात् । न हि प्रकरणं स्वातन्त्र्येण वाक्यान्तरकल्प-
नद्वारा वा तत्र प्रमाणम्, गौरवात् । तथात्वे च प्रोक्षणादेरपि
तेनैवापूर्वार्थत्वोपपत्तेर्ब्रह्मादीनां यथाश्रुतानामेव द्वारत्वेन ग्र-
हणाद्यवादीनां द्वारत्वानुपपत्तेः । अपि त्वपूर्वसाधनीभूतस्तोत्रा-
र्थत्वमेव । न च तावतोपस्थानविधौ कश्चिदुपयोगः अपूर्वसाधनी-
भूतोपस्थानार्थत्वालाभात् ।

अस्तु वा प्रकृतायास्तोत्रादिवाक्येषु स्वातन्त्र्येणापूर्वार्थत्व-
क्लृप्तिः, तथापि तस्या दीक्षणीयावाङ्मनियमन्यायेन स्तोत्रज-
न्यापूर्वार्थत्वस्यैव क्लृप्तेऽप्योतिष्ठोमापूर्वार्थत्वस्योपस्थानजन्यापू-
र्वार्थत्वस्य वा क्लृप्तत्वाभावेन तत्कल्पनस्यावश्यकत्वान्नात्र प्रकृ-
ताभिर्विशेषः । यत्किञ्चिदपूर्वार्थत्वक्लृप्तिमात्रेण प्रकृतग्रहणे त्वप्र-
कृतानामपि तत्र तत्र क्रत्वन्तरे विनियुक्तत्वादविशेषः । तस्मात्

सर्वग्रहणम् । यदि परं प्रकृतानां विशिष्य स्तोत्रादौ विनियोगेन निराकाङ्क्षान्वादन्यतराकाङ्क्षायुक्तसामान्यवाक्येन कथं विनियोग इत्याशङ्क्येत ततोऽस्त्वप्रकृतानामेव प्रयोजनसाकाङ्क्षाणां विनियोगः । सर्वथा न प्रकृतमात्रग्रहणम् ।

मूत्रं तु, अयं मन्त्रविधिरधिकारेऽधिकृतमन्त्रविषयेऽतदाख्येषु तद्भिन्नेषु चावगन्तव्यः । यदि परं विशिष्य शिष्टत्वादधिकृतानां निराकाङ्क्षत्वमाशङ्क्येत ततोऽस्तु तद्भिन्ने एवेति व्याख्येयम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सू-तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ ३-२-२२ ॥

(अथ सिद्धान्तः)

नैवजातीयकस्थले सर्वग्रहणम् । प्रातिपदिकश्रुते विनियोजकतृतीयादिश्रुतेश्चाविशेषप्रवृत्तावपि सर्वोपजीव्यप्रधानभूतविधिश्रुतेर्लाघवोपजीवनेन प्रकृतमात्रविषयत्वात् । तथा हि-यद्यपि तावदत्र मन्त्रविशिष्टोपस्थानमेवापूर्वसाधनीभूताग्नीध्रमण्डपसंस्कारार्थत्वेन विधीयते तथापि आर्थिकेन विशेषणविधिनोपस्थानोद्देशेन मन्त्रविधानोपपत्तिः । तत्रापि चोपस्थानस्वरूपे आनर्थक्यादपूर्वसाधनलक्षणा समस्त्येव, तथापि सर्वत्रापूर्वसाधनीभूतोद्देशेनाङ्गविधावर्थादपूर्वोद्देशेनापि तद्विधानस्यावश्यकत्वात्तस्य च विधिकल्पनां विनानुपपत्तेः तदप्यावश्यकम् । तदेतदवघातादिविधावगत्याङ्गीकृतम् । प्रकृते त्वप्रकृतग्रहणेऽपूर्वसम्बन्धस्य तत्साधनीभूतसम्बन्धस्य च उभयस्यापि श्रूयमाणेन विधिना श्रूयार्थाभ्यां करणे गौरवापत्तेः प्रकृतग्रहणे च तत्राप्यपूर्वसम्बन्धस्य क्लृप्तत्वात् केवलमपूर्वसाधनीभूतसम्बन्धमात्रस्य करणेन लाघवोपपत्तेस्तद्ग्रहणमेव लाघवोपजीविनी विधिश्रुतिरनुमन्यते ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६५

अत एव यद्यप्यपूर्वसम्बन्धस्वकल्पकेन विशेष्योपस्थितेन च कार्यान्तरसम्बन्धेनैव निराकाङ्क्षः, तथापि चैतदाकाङ्क्षयैव तदुपजीवनं नानुपपन्नम् ।

यद्यपि च प्रकृताग्नेयीमन्त्रस्यापि स्तोत्रापूर्वसम्बन्धकल्पाव-
प्युपस्थानजन्यापूर्वसम्बन्धकल्पनावश्यभावेन गौरवस्याविशिष्ट-
त्वान्नानया युक्त्या प्रकृतनियमसिद्धान्तयितुं शक्यते तथापि
यत्र ब्रह्मौदनप्राशनान्नाभूतब्राह्मणविधौ प्राशनस्य प्रतिपत्तित्वेन
दृष्टार्थत्वादाधानाद्यपूर्वसाधनलक्षणा तत्र तदपूर्वसम्बन्धस्य
ऋत्विजां प्रयोगाङ्गत्वेन नित्यप्राप्तत्वात्प्रकृतग्रहणोपपत्तिः ।

अत एव यत्रा 'त्रेयाय हिरण्यं ददाती'त्यादावृत्तिक्षेत्रे-
यस्य न नियता प्राप्तिः तत्र विधिश्रुतेरपूर्वसम्बन्धाक्षेपकत्वस्या-
वश्यकत्वान्न कदाचित्प्रकृतसत्त्वेऽपि तन्नियमः । तस्मादाक्षेपणी-
यापूर्वसम्बन्धस्य कार्यान्तरार्थत्वमप्यन्यत्र नियमेन क्लृप्तौ तन्मा-
त्रोपजीवनेनान्यत्र कार्यान्तरसम्बन्धमात्रकरणमित्येतस्यैतद-
धिकरणन्यायस्याग्नेयीरूपोदाहरणसम्भवेऽपि न विघातः ।

अत एवा'अग्निमुपनिधाय स्तुवीते'त्यादावाक्षेपणीयस्तोत्रा-
पूर्वसम्बन्धस्याहवनीयादावप्राप्तत्वान्न तन्नियमः । प्रत्युताहवनी-
यादेर्वचनं विना बहिर्नयने दोषश्रवणाल्लौकिकाग्निनियम एवेति
सप्तमे वक्ष्यते । आग्नेयीवाक्ये प्रकृतनियमसाधनप्रकारस्तु यद्य-
न्विष्यमाणोऽप्याक्षेपणीयापूर्वसाधनीभूतकार्यान्तरार्थत्वेन विनि-
योगो नैव लभ्यते तदैवम् । आग्नेयीतिताद्धितस्य सन्निहितप-
रामर्शित्वात्प्रकृतग्रहणमिति ।

न चैकस्मिन्नपि प्रकरणे प्रदेशान्तरस्थत्वेनासम्बन्धिवा-
क्यान्तरव्यवधानात्सन्निहितपरामर्शित्वबाधः । स्वपदसन्निहिता-
भावे स्ववाक्यसन्निहितपरामर्शित्ववत्स्ववाक्यसन्निहिताभावे व्य-

वहितवाक्यसंनिहितपरामर्शित्ववच्च तस्याप्यभावे तद्धितेनैकप्रकरणव्यवहितवाक्यसंनिहितमात्रपरामर्शस्योपपत्तौ तद्वाधे प्रमाणाभावात् ।

न च संनिहितस्यापि निराकाङ्क्षस्य न परामर्शः । सर्वनामादिस्थले “एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञाना”मित्यादौ निराकाङ्क्षस्याप्यन्यतराकाङ्क्षया संनिहितत्वमात्रे परामर्शव्युत्पत्तेः ।

किञ्चाग्नेयीनां कासाञ्चिद्विशिष्य स्तोत्रादौ विनियोगेऽपि ज्योतिष्टोमप्रकरणे पार्थक्येन पाठस्यापि सत्त्वात्तद्वलेन च तासां ज्योतिष्टोमापूर्वसम्बन्धस्यापि क्लृप्तेरुपस्थानवाक्येन छाद्यवोपजीविना तासामेव ग्रहणमित्यपि सुवचम् ।

सूत्रमपि तदाख्योऽधिकृत एव मन्त्रादिं नियम्येत । आग्नेयीस्थले तावत्प्रकरणस्थत्वमात्रेण तद्धितेन तत्परामर्शात्प्रकरणपाठेन ज्योतिष्टोमापूर्वसम्बन्धस्य क्लृप्तेश्चान्यत्र च ब्रह्मादिनप्राशनादिविधौ छाद्यवाक्योपपत्तेरपि सत्त्वाच्चेति व्याख्येयम् ॥

सू—अनर्थकश्चोपदेशस्यादसम्बन्धात्फलवत्ता

नद्युपस्थानं फलवत् ॥३—२—२३॥

ननु—नात्रापूर्वसाधनीभूतोपस्थानत्वेनोद्देश्यता येनापूर्वसम्बन्धलाभार्थं प्रकृतिनियमस्स्यात् । आग्नेयोपस्थानस्य क्रत्वनैकान्तिकत्वाभावेनाधानवत्तत्स्वरूपार्थत्वेऽपि मन्त्रस्य बाधकाभावात् । अतश्चोपस्थानजन्यापूर्वार्थत्वस्यैवाभावे सुतरां ज्योतिष्टोमापूर्वार्थत्वाभावात् किमर्थं पाठोपजीवनमिति चेत् न ; उपस्थानस्वरूपार्थत्वे यागादिस्वरूपार्थत्वमन्त्रोपदेशस्यानर्थक्यापत्तेः । आहवनीयादीनां त्वदृष्टघटितत्वान्न तदिति विशेषः । अतश्चापूर्वसाधनलक्षणा तावदावश्यक्येव । तत्राऽपि यद्युपस्थानस्यादृष्टार्थत्वं स्या-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६७

तदा तन्मन्त्रस्यापि प्रोक्षणमन्त्रवदुपस्थानजन्यादृष्टार्थत्वमेव दी-
क्षणीयावाङ्मनियमन्यायेन भवेत् तस्य त्वभिधानफलकस्य करि-
ष्यमाणमण्डपवृत्तिपदार्थानुष्ठानोपयोगितया दृष्टार्थत्वादवघातम-
न्त्रवदेव तन्मन्त्रस्य क्रत्वपूर्वार्थत्वमावश्यकम् । अतश्च तल्ला-
भार्थं युक्तं प्रकरणपाठोपजीवनमिति ।

यदा त्वाग्नीध्रोद्देशेनैव मन्त्रविधिः, उपस्थानं तु मन्त्रस्याभिधा-
नमात्रव्यापारकत्वस्वाभाव्यादग्रआयाहीत्याद्यामन्त्रणविभक्त्यादे-
श्च समीपस्थित्याक्षेपकत्वात्प्राप्तमिति पक्षस्समाश्रीयते, तदा
आग्नीध्रस्वरूपस्य जुहूवत्क्रत्वव्यभिचारेऽपि लौकिकत्वेन तस्मिन्ना-
नर्थक्यादपूर्वसाधनलक्षणार्थं प्रकरणपाठाद्युपजीवनमावश्यकमेव ।
अतो युक्तमेव प्रकृतग्रहणम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

यत्तु प्रकृतानां स्तोत्रादिप्रयोजनान्तरनिराकाङ्क्षत्वात्प्रयो-
जनैसाकाङ्क्षाणामप्रकृतानामेव ग्रहणमित्युक्तम् । तत्राह—

सू-सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥ ३-२-२३ ॥

वाचस्तोमादौ सर्वेषामेव मन्त्राणामुपदिष्टत्वेन निराकाङ्क्ष-
त्वाविशेषादित्याशयः । प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति अष्टममायेत्यधिकरणम् ॥

अथ नवमं भक्षाधिकरणम् ॥ ९ ॥ (भक्षपेटिका)

सू-लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥

३-२-२४ ॥ (पृ)

(विषयः)

ज्योतिष्टोमे—“(१)भक्षेहि मा विश दीर्घायुत्वाय शंतनुत्वाय
रायस्पोषाय वचसे सुप्रजास्त्वायेहि वसो पुरावसो प्रियो मे
हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा वाहुभ्यां सद्यसां नृचक्षमं त्वा देव सोम
सुचक्षा अवख्येषं” “हिन्वे मे गात्रा हरिवो गणान्मे मा विती-
तृषः । शिवो मे सप्तऋषीनुपतिष्ठस्व मा मे वाङ्नाभिपतिगाः”
“मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाक् जुषाणा सोमस्य तृप्यतु”, वसु-
मद्गणस्य, रुद्रवद्गणस्यादित्यवद्गणस्य, सोमदेव ते मतिविदः प्रात-
स्सवनस्य, माध्यंदिनस्य सवनस्य, तृतीयस्य सवनस्य गायत्रच्छ-
न्दसस्त्रिष्टुब्छन्दसो जगतीच्छन्दसोऽग्निहुत इन्प्रपीतस्य नराशं-
सपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहृतस्योपहृतो भक्षयामी”त्यं
मन्त्रो भक्षानुवाक इत्येवं समाख्यातस्समाज्जातः ।

(संशयः)

तत्र मन्द्राभिभूतिरित्यादिर्भक्षयामीत्यन्तस्तावद्भक्षण एव
विनियुज्यत इत्यत्रिवादः । साधयिष्यते चोत्तराधिकरणे । पूर्वा-
वयवानां तु किं भक्षमन्त्रैकवाक्यतया भक्षण एव विनियोगाः ?
अथ वा सद्यसासमित्यन्तो ग्रहणे नृचक्षसमित्यादिरवख्येषमि-
त्यन्तोऽवेक्षणे, ‘हिन्वे’त्यादि‘रतिगा’ इत्यन्तश्च सम्यक्करण
इत्येवं सन्देहः ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्यद्वितीयः पादः । २६९

(सङ्गतिः)

सिद्धान्ते लिङ्गविनियोगसत्त्वात्तदुपयोग्युद्देश्यतावच्छेदक-
निरूपणाच्च पादाध्यायसङ्गतिः ।

अनन्तरा तु क्रतुसम्बन्धरहितद्वारसम्बन्धानुपपत्तेः प्रकृत-
ग्रहणेऽभिहिते प्रकृतेतरग्रहणादेरपूर्वसम्बन्धाभावाच्च द्वारतेत्येवं
पूर्वपक्षोत्थानाद्द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि ग्रहणाद्यर्थत्वे लिङ्गमस्ति प्रमाणं तथापि ग्रह-
णादिस्वरूपार्थत्वे मन्त्रनियमस्यानर्थक्यापत्तेर्ग्रहणादेरविहितत्वे-
न चापूर्वं प्रत्यङ्गत्ववत्साधनत्वस्याप्ययोगादपूर्वसाधनत्वलक्षणा-
या अप्यनुपपत्तेः उद्देश्यत्वासंभवान्न ग्रहणाद्यङ्गत्वेन मन्त्र-
विधिर्युक्तः ।

न च साधनत्वासम्भवेऽप्यपूर्वप्रयोजकत्वस्य तावत्सत्त्वा-
त्तेन रूपेणोद्देश्यत्वोपपत्तिः ; अवेशनस्य भक्षणजनकत्वेन तद-
भावाद्ग्रहणस्यापि नैयत्येन भक्षणजनकत्वाभावाच्च कथञ्चिद्वा
ग्रहणमात्रस्य पाक्षिकप्राप्तौ बाहुद्वयकरणकत्वस्य कथमप्यप्राप्ते-
श्च । सम्यग्जरणस्य तदनुकूलव्यापारस्य वा भक्षणजनकत्वं
तुत्तरकालीनत्वाद्वाहतमेव । अतोऽपूर्वप्रयोजकत्वस्याभावाच्च त-
त्त्वेनाप्युद्देश्यता ।

न च सम्यग्जरणस्य भक्षणजनकत्वाभावेऽपि तज्जन्यत्व-
सत्त्वात् स्वर्गमन्त्रे स्वर्गस्येवापूर्वजनकजन्यत्वेन द्वारत्वोपपत्तिः ।
सम्यग्जरणस्य भक्षणजन्यत्वेऽपि गलकवल्लसंयोगरूपस्य भक्ष-
णस्यात्र हविःप्रतिपत्त्यर्थत्वेन सम्यग्जरणफलकत्वाभावात्तत्प्र-
काशनस्योपयोगाभावेनानुपपत्तेः । अतो न लिङ्गाद्ग्रहणार्थत्वम् ।

अत एव च बलाबलाधिकरणवक्ष्यमाणलिङ्गबलीयस्त्वेना-
पि न पौनरुक्त्यम् ।

वस्तुतस्तु नात्र लिङ्गमपि मुख्यमस्ति । सघेर्हि सार्थत्वस्म-
रणेन ग्रहणवाचित्वाभावात् । चक्षिणो भाषणार्थत्वस्मरणे-
नावेक्षणार्थतानुपपत्तेश्च हिनोतेर्गत्यर्थत्वान्न सम्यग्जरणार्थत्व-
मपि । अतश्च ग्रहणाद्यर्थत्वेऽपि लक्षणापत्तेर्वरं विहितभक्षण-
लक्षकत्वमेव ।

वस्तुतस्तु न तदपि, देवस्य त्वेत्यादिपदवत्स्वशक्यार्थस्यैव
भक्षणाविशेषणत्वोपपत्तेः तद्वदेव च तादृशभक्षणप्रतिपादनस्या-
भ्युदयकारित्वकल्पनान्नानर्थक्यमपि ।

यद्यपि चाख्यातभेदान्न तद्वदिह विशिष्टशाब्दबोधप्रयोज-
कीभूताकाङ्क्षारूपलिङ्गसत्त्वं तथा 'प्येकं वृणीत' इत्यादिवेदेकवा-
क्यतालाभार्थमासक्तिमात्रेण तत्कल्पनमपि नानुपपन्नम् ।

वस्तुतस्तु सत्यप्याख्यातभेदे उपक्रमोपसंहारैक्ये सत्ये-
कवाक्यताप्रयोजकीभूताकाङ्क्षारूपत्वस्य वैश्वानरवाक्यादौ व्युत्पा-
दनात् तत्रापि च भक्षेहीत्यादिना भक्षस्यैवोपक्रमात् 'भक्षया-
मी'त्यनेन तस्यैवोपसंहारादुपक्रमोपसंहारैक्यावगतैरैकवाक्यता-
प्रयोजकीभूताकाङ्क्षारूपलिङ्गोपपत्तिः । इदमेव च मूले वाक्यतो-
पगमनसापथ्यपदेन व्यवहृतम् ।

न च 'भक्षेही'त्यस्य ग्रहणार्थत्वेऽप्युपपत्तरेकान्तत उभयो-
र्भक्षमात्रविषयत्वानुपपत्तिः । भक्षणस्यैव दीर्घायुष्टादिफलकत्वा-
त्तदन्वयानुरोधेनैवोपक्रमस्य भक्षणार्थत्वावधारणोपपत्तेः । अतश्च
युक्तैवोक्तविधलिङ्गादेकवाक्यतादि कल्पयित्वा सर्वस्यापि भ-
क्षणार्थता ।

एवं च भक्षानुवाकसमाख्यापि मुख्यवृत्त्यैवोपपन्ना भवि-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७१

पति । इतरथा भक्षसमुदायाश्रयिषु लिङ्गसमवायाद्भक्षशब्दो गौ-
णस्स्यात् । अतश्च सर्वस्याप्यनुवाकस्य भक्षार्थत्वमेव । सू-
त्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

(अथ सिद्धान्तः)

सू-तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य
चादितत्वात् ॥३-२-२५॥ (सि)

न सर्वस्य भक्षणे विनियोगः । किन्तु तत्तदवयवानाम् ।
तस्मादपकर्ष एव । तत्तदाख्यातेन तत्तदर्थस्य मुख्यविशेष्यतया
प्रतीतरथाभिधानरूपेण लिङ्गन ग्रहणाद्यर्थत्वानिश्चयात् ।

यद्यपि चात्रोपक्रमोपसंहाराभ्यामेकवाक्यतोपगमनसामर्थ्य-
रूपं लिङ्गं क्लृप्तमित्येकवाक्यतावगमस्यात्तथापि ग्रहणादिप्रका-
शकस्य मन्त्रभागस्य वाक्येनैव भक्षणाङ्गतेति ततोऽपि प्रबला-
दरथाभिधानलिङ्गाद्ग्रहणाद्यङ्गत्वनिश्चयस्सुलभ एव । वैश्वानरा-
दिवाक्येषु नैवंविधं किञ्चिदस्ति प्रबलं वाक्यभेदसाधकमिति
न तदङ्गीकारः ।

वस्तुतस्तूपक्रमस्य साधारणत्वात् प्रत्युत मुख्यसामर्थ्या-
नुरोधेन ग्रहणत्रिषय एवोपपत्तेर्नात्रैकवाक्यतोपगमनसामर्थ्यमपि।

यत्तु दीर्घायुत्वेत्यादेरनन्वय एव भक्षणार्थत्वताप्त्यर्थाहक
इत्युक्तम् । तस्य ग्रहणफलीभूतभक्षणफलत्वेनापि स्तावकतयान्व-
योपपत्तेरमाधकम् ।

यत्तु सध्यादेर्द्विसाद्यर्थकत्वान्न ग्रहणादौ मुख्यसामर्थ्यम-
स्तीत्युक्तम्, तन्न; भूसत्तायामिति वत्तद्ग्रहणादावपि वृद्धप्रयोगेण

स्मृतेरुपलक्षणत्वान्मुख्यसामर्थ्योपपत्तेः, प्रकृते च दृष्टार्थतालाभाय ग्रहणाद्यर्थत्वनिर्णयोपपत्तेश्च । हिनोतेस्तु गत्यर्थतास्मरणेनैव सम्यग्जरणफलकतावगतिः । मे गात्राणि हिन्व गच्छ गणानीन्द्रियाणि मा वितृष्णान कुरु सप्तऋषीन् सप्त प्राणानुपतिष्ठस्व वाङ्नाभिमतिक्रम्य च मा गा इत्येवमर्थावगमादिगात्रगमनफलीभृतसम्यग्जरणावगतिस्सुलभैव । अतो मुख्यसामर्थ्यं युक्तमेव ।

यत्तु ग्रहणादेरपूर्वसम्बन्धस्य नियतप्राप्त्यभावान्नोद्देश्यतेत्युक्तम् । तन्न ग्रहणादेर्भक्षविध्वाक्षेपेण नित्यप्राप्त्यभावेऽपि तत्तन्मन्त्राणां समाख्यासहकृतावान्तरप्रकरणेन भक्षाङ्गत्वेऽवगते तदङ्गत्वेन मान्त्रवार्णिकक्रियाविधिकल्पनोपत्तेर्बाहुभ्यां गृहीत्वावेक्षे सम्यग्जरणायेत्येतान्येव वा पदानि भक्षविध्येकवाक्यतया कल्प्यन्ते । तत्र च बहुत्वांशेऽपूर्वविधिः, ग्रहणांशे नियमविधिः, अवेक्षणांशे त्वपूर्वविधिरदृष्टार्थत्वं च । अस्तु वा वमनविरेकसाधनीभूतद्रव्यसंसर्गपरिहारार्थत्वेनावेक्षणविधिर्दृष्टार्थ एव । अवेक्षणस्य दृष्टार्थत्वलाभायैव च भक्षणस्यापि सम्यग्जरणपर्यन्तस्यैव भक्षणविधिना विधानम् । वमनविरेकनिमित्तकप्रायश्चित्ताम्नानादेव सम्यग्जरणपर्यन्तस्य भक्षणस्य प्रतिपत्तित्वावगतिः सम्यग्जरणमन्त्रस्यैव च मान्त्रवार्णिकसम्यग्जरणपर्यन्तत्वकल्पकत्वम् । भक्षणे च कदाचित्सम्यग्जरणपर्यन्तत्वस्य स्वतास्मिद्धत्वेऽपि नैयत्येन तत्सिद्धिफलकता मन्त्रस्य न विरुध्यते । नैयत्येन तत्सिद्धिश्च न भक्षणभात्रेणेति सम्यग्जरणविरोधिविनाडीगतिप्रतिबन्धकफलाज्जवावस्थानरूपव्यापारोऽपि तेनैवाक्षिप्यते ।

यद्यपि चासौ कदाचिदेवापेक्षितः तथापि विनाडीतिरूपप्रतिबन्धकसम्भावनायां नित्यमनुष्ठेयत्वाद्युक्तस्तत्स्मारकतया नैयत्येन मन्त्रविनियोगः । .

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७३

यद्यपि च भक्षमन्त्रेण भक्षणस्मरणसत्त्वे तेषामपि ग्रहणा-
दीनां स्मरणं संभाव्यते तथापि तत्तन्मन्त्राभ्यानात्तन्मियमोपपत्तिः ।

यद्यपि चाग्रये जुष्टमिति मन्त्रस्याग्निदेवताकनिर्वापप्रकाश-
कत्ववदस्यापि ग्रहणादिविशिष्टभक्षणप्रकाशकत्वाङ्गीकारेण मन्त्रै-
कत्वमभ्युपगम्यापि ग्रहणाद्यङ्गत्वं शक्येत वक्तुम् , तथाप्युप-
क्रमोपसंहारैक्यादिरूपैकवाक्यतोपगमनसामर्थ्याभावे स्वरसतः
प्रतीयमानतत्तदाख्यातगतमुख्यविशेष्यार्थकत्वबाधे प्रमाणाभावात्
नात्र भेदाङ्गीकारः । 'एकं वृणीते' इत्यादौ तु सत्यप्याख्यातभेदे
विकल्पपरिहारार्थं सर्वेषां विधित्वकल्पनागौरवपरिहारार्थञ्चैकवा-
क्यत्वाभ्युपगमः । तस्माद्युक्तं भेदेनैव ग्रहणाद्यङ्गत्वम् । समाख्या
तु भक्षसम्बन्धनुवाक इति साक्षात्परंपरासाधारण्येनाप्युपप-
न्ना । समाख्याबलादेव हि मान्त्रवर्णिकग्रहणादेर्भक्षाङ्गत्वसिद्धिः ।
अन्यथा हि महाप्रकरणात् ज्योतिष्टोमसम्बन्धिग्रहणमात्राङ्गतापत्तिः

अस्तु वा अवान्तरप्रकरणादेव तदङ्गत्वम् । तथापि अनु-
वादरूपा सती नानुपपन्नैव ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे ग्रहणमन्त्रादेर्नैयत्याभावः । पाठक्रमेण च
मन्त्रपाठान्ते भक्षणम् । सिद्धान्ते तु ग्रहणादेर्नैयत्येन तत्तन्मन्त्रा-
न्तेऽनुष्ठानम् । हिन्वेत्यस्य च भक्षणान्तेऽर्थक्रमानुरोधेन पाठः
इति स्पष्टम् । सूत्रे रूपपदेन लिङ्गं उद्देशपदेन सामान्यसम्बन्धबो-
धकं प्रमाणं विवक्षितम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥

इति नवमं लिङ्गसमाख्याधिकरणम् ॥

(भक्षाधिकरणम्)

अथ दशमं गुणाभिधानाधिकरणम् ॥ (१०)

सू—गुणाभिधानान्मन्त्रादिरेकमन्त्रस्स्यात्
तयोरेकार्थसंयोगात् ॥ ३-२-२६ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

तस्मिन्नेवानुवाके किं 'मन्त्राभिभूति'रित्यादिः तृप्यत्त्वित्य-
न्तः तृप्तौ विनियोक्तव्यः ? उत भक्षमन्त्रैकवाक्यतया भक्षण इति
सन्देहः । पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । आपवादिकी त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पूर्ववदेव लिङ्गात् तृप्यत्त्वम् । न च तस्या भक्षणानु-
निष्पन्नत्वेनानुष्ठेयाया अङ्गित्वानुपपत्तिः । ग्रहणादिवदननुष्ठे-
यत्वेऽपि सम्यग्जरणवत् तदनुकूलव्यापारस्य भक्षणगतबाहु-
ल्यस्य कृतिसाध्यत्वेनानुष्ठेयत्वोपपत्तेः । अत एव तद्गदिह
मन्त्रास्त्रानसामर्थ्यात् भक्षणस्य तृप्तिपर्यन्तत्वसिद्धिः । तस्य च
भक्षणगतबाहुल्यं विनाऽसिद्धेः तन्नियमाक्षेपकत्वमपि ।

अस्तु वा कथमपि तृप्तेरननुष्ठेयत्वम् । तथापि तस्या
भक्षणजन्यायाः स्वर्गवन्मन्त्रप्रकाश्यत्वोपपत्तिः । यद्यपि सोम-
प्रतिपत्यर्थत्वात् भक्षणस्य तृप्तिर्न मुख्यं फलम्, तथापि पुरोडा-
शादिभक्षणवत् कर्तृनियमांशेन क्रियात् एव वा कर्तव्यानुष्ठान-
सामर्थ्यजनकतृप्तिरूपभक्षयितृसंस्कारार्थत्वस्याप्यानुषङ्गिकस्य व-
क्ष्यमाणत्वात् फलत्वाविघातेन मन्त्रप्रकाश्यत्वोपपत्तिः । यदि
कर्तव्यानुष्ठानसामर्थ्याधानारूप एव भक्षयितुः संस्कार उच्यते
ततोऽस्तु तर्पयतिना तल्लक्षणा । सर्वथा स्वतन्त्राख्यातस्यैकवाक्य-
त्वकल्यना निष्प्रमाणिकैवेत्येवं प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

ब्रूमः—“अल्पं भक्षयती” त्यनेनैव भक्षणगतबाहुल्यस्य तृप्ति-
जनकस्य पर्युदस्तत्वात् न तावत् भक्षणे सम्यग्जरणपर्यन्त-
त्वस्येव तृप्तिपर्यन्तत्वस्य कल्पनावसरः । अत एव तृप्तेर्भक्षणेना-
जननान्न तस्याः स्वर्गवज्जन्यत्वमात्रेण प्रकाश्यत्वोपपत्तिः । फल-
त्वं त्वस्याः सोमप्रतिपत्त्यर्थत्वात् भक्षणस्य दूरभ्रष्टमेव । न हि
तृप्तिकर्तव्यानुष्ठानसामर्थ्यजनकतयाप्यानुषङ्गिकं फलम् । तृप्त्य-
भावेऽपि भक्षणेनौषधविधयाप्यनुष्ठाने सामर्थ्यजननात् । अत
एव तावन्मात्रमेवानुषङ्गिकं फलम्, न तु तृप्तिपर्यन्तम् । ताव-
न्मात्रस्यापि च न स्वर्गवत्प्रकाशनाहर्त्वं, येन तर्पयतिना लक्षणयापि
प्रकाश्येत । अनुष्ठानसामर्थ्यजननस्य दृष्टफलत्वेनासम्भवितत्वा-
शङ्काभावात् तन्निश्चयरूपश्रद्धाजननार्थं स्मारकमन्त्रानपे-
क्षणात् । स्वर्गस्य त्वदृष्टफलत्वात् तदिति वैषम्यम् । अतश्च
लिङ्गविनियोगासम्भवात् असत्यप्येकवाक्येनोपगमनरूपे लिङ्गे
स्पष्टे “एकं वृणीत” इतिवत् कथञ्चित् तदनुमायैकवाक्यता-
कल्पनादिद्वारा स्वार्थस्य भक्षविशेषणत्वप्रतिपादनार्थं एवायं
मन्त्रैकदेशः । स्वतन्त्राख्यातश्रवणेऽपि च तृप्तेरिति करणाद्य-
ध्याहारेण भक्षणविशेषणत्वोपपत्तिः—तृप्यत्वित्येतदर्थं भक्षया-
मीति । सर्वस्य मन्त्रस्य स्वार्थविशिष्टभक्षणप्रकाशकत्वात् विशे-
ष्यांशे दृष्टार्थत्वेऽपि विशेषणांशेऽदृष्टार्थत्वाङ्गीकारान्न वैयर्थ्यम् ।

अथ वा तृप्यत्वित्यादिना लक्षणया भक्षणस्तुतिरदृष्टार्था ।
अतश्च सर्वोऽपि मन्त्रः प्राशस्त्यविशिष्टभक्षणं प्रतिपादयति ।
अस्मिंश्च पक्षे लोद् प्राप्तकालत्वे प्रार्थनायां वा द्रष्टव्यः । तस्मात्
तृप्तिपरस्यापि भक्षमन्त्रैकवाक्यतया भक्षणाङ्गत्वमेवेति सिद्धम् ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे समन्त्रं भक्षणं कृत्वा तृप्तिमन्त्रपाठः ।

सिद्धान्ते तु यथाम्नामिति ॥

सूत्रं तु लिङ्गविनियोगासम्भवात् मन्द्रादिभक्षयाम्भ्यन्त एव मन्त्रः स्यात् । गुणस्य तृप्तिरूपस्य विशेषणस्य प्राशस्त्यस्य वाऽभिधानेन तयोर्मन्त्रभागयोः विशिष्टैकार्थवृत्तित्वापपत्तेरिति व्याख्येयम् ॥

इति दशमं गुणाभिधानाधिकरणम् ॥

अथैकादशमिन्द्रपीताधिकरणम् ॥ (११)

सू-लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्रा-
णाममन्त्रत्वम् ॥३-२-२७ ॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

भक्षमन्त्र एव किं लिङ्गादिन्द्रदेवस्ययागाभ्यासमात्राङ्गम् । तद्भिन्नाभ्यासानां तु अमन्त्रकं भक्षणम् ? । उत तेषूहेन मन्त्रः ? उतानूहेनैवेति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

अत्र चानैन्द्रप्रदानेषु लिङ्गप्रमाणकभक्षमन्त्रविनियोगस्य सिद्धान्त्याभिप्रेतस्य पूर्वपक्षद्वयेऽप्यनङ्गीकारात् पादाध्यायसङ्गतिः । तेनोहपक्षस्य पादलक्षणासङ्गतत्वान्न स्वतन्त्रकोटित्वम् । अपित्वाद्यकोटिफलीभूतस्यानैन्द्राणाममन्त्रकत्वस्याक्षेपमात्रमितिन्यायसुधाकारोक्तमपास्तम् । अनैन्द्रप्रदानेषु लिङ्गप्रमाणकमन्त्रविनियोगस्य सिद्धान्त्याभिप्रेतस्य प्रतिपक्षतयोहोपन्यासेन सङ्गत्युपपत्तेः । अस्यापि पूर्वपक्षे फलाक्षेपस्य निष्प्रयोजनत्वाच्च । अनन्तरसङ्गतिस्तु भक्षमन्त्रैकवाक्यतया तृप्तिमन्त्रस्य भक्ष-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७७

णाङ्गत्वेऽभिहिते भक्षमात्रस्यैव किंदेवत्यसोमभक्षणाङ्गतेति
विचारात्प्रासङ्गिकी ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र न तावत्प्रकरणेन सर्वप्रदानाङ्गभूतभक्षणाङ्गत्वम् । इन्द्र-
पीतस्येति पदेनेन्द्रदेवत्यसोममात्रप्रकाशनेन लिङ्गात्तद्वाधावगतेः ।
न च इन्द्रेण यस्मिन् सवने पीत इति बहुव्रीहिमङ्गीकृत्येन्द्रपीतपद-
स्य सवनविशेषणत्वाङ्गीकारादन्यदेवत्यस्यापि च सोमस्योक्तविध-
सवनसम्बन्धित्वेन प्रकाशनोपपत्तेर्लिङ्गविरोधात्सर्वार्थत्वोपपत्ति-
रिति वाच्यम् । इन्द्रपीतपदस्येन्द्रेण पीतस्वीकृत इति वा इन्द्रा-
य त्यक्त इति वा तत्पुरुषोपपत्तौ बहुव्रीहेरङ्गीकाराभावात् ।
तत्पुरुषे हि पूर्वपद एव सम्बन्धिनि लक्षणा, बहुव्रीहौ तु पदद्वये-
ऽप्यन्यपदार्थे लक्षणेति गौरवम् ।

बहुव्रीहावेकस्मिन्पद एव विशिष्टार्थलक्षणा इतरत्तात्पर्य-
ग्राहकमित्यङ्गीकारेऽपि च लक्ष्यतावच्छेदके गौरवात् । तात्पर्यग्रा-
हकस्य च वाक्यार्थान्वयर्थप्रतिपादकत्वाद्गौरवं समस्त्येव । न ह्य-
न्यपदार्थे बहुव्रीहेःशक्तिः, येन तत्पुरुषादपि लाघवं शक्येत ।
एकहायन्यादिपदेऽन्यपदार्थलक्षणाया एवास्माभिः प्रतिपादनात् ।
अस्तु वा तदाप्यवयवार्थोपस्थितिसापेक्षत्वादन्यपदार्थोपस्थितेर्बहु-
व्रीहौ गौरवम् । सर्वथा तत्पुरुषो लघुभूत एव ।

किञ्च नात्र बहुव्रीहेर्लक्षणानुगमः । “समानाधिकरणानां बहु-
व्रीहीरिष्यत्,” इति कात्यायनस्मरणात् व्यधिकरणप्रदानां तदनु-
पपत्तेः । (१) “सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहा”विति ज्ञापकबलेन हि क-
ण्ठेकाल इत्यादौ सप्तम्यन्त एव स आश्रितः, नान्यत्र । तत्पुरुषे तु

(१) “कर्तृकरणे कृता बहुल”मिति स्मरणाल्लक्षणानुगमो नानुपपन्नः । बहुलग्रहणेन कर्तृकरणातिरिक्तस्य कृता समासाभ्युपगमाच्चतुर्थी तत्पुरुषस्याप्युपपत्तेः ।

न चैवमपीन्द्रपीतपदे(२) “बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपद”मिति स्मरणानुसारात्पूर्वपदे प्रकृतिस्वरस्येकारोदात्तत्वस्य बहुव्रीहिज्ञापकस्य वैदिकैः पठ्यमानत्वाद्बहुव्रीहित्वावगतेस्तत्पुरुषाङ्गीकारे चान्तोदात्तत्वापत्तेः कथं तत्पुरुषाङ्गीकरणमिति वाच्यम् । सस्यपि बहुव्रीहिज्ञापके स्वरे प्रधानभूतस्वार्थानुग्रहाय तत्पुरुषावधारणाच्छब्दधर्मस्य स्वरस्यैवाङ्गुणविरोधन्यायेन “सुप्तिडुपग्रहालिङ्गनराणा” मित्येवं व्यत्ययेन व्याख्यानात् ।

यदि तु ‘स्थूलपृषतीमालभेते’त्यादौ महाभाष्यकारेण स्वरान्निर्णयाभिधानात्समासगतलाघवापेक्षयाङ्गधर्मस्यापि स्वरस्यैव प्राबल्यमित्याश्रीयित तथापीन्द्रपीतपदे बहुव्रीहेरपि सामानाधिकरण्यासम्भवेन स्थूलपृषतीपदवल्लक्षणानुगतत्वाभावादवश्यं समासस्वरयोरन्यतरस्यागतिकत्वे व्याख्येये अङ्गधर्मत्वात्स्वरस्यैव तद्युक्तम् ।

वस्तुतस्तु तत्पुरुषेऽपि पठ्यमानस्वरो नैवानुपपन्नः । (३) ‘तृतीया कर्मणी’त्यनेन कर्मणि क्तान्त उपपदे परे तृतीयान्तपूर्वपदप्रकृतिस्वरमित्याभिधानात् तृतीयासमासे ऽपि विवाक्षितस्वरोपपत्तेः ।

यद्यपि चात्र पीतपदे तत्कर्तृलक्षणया चतुर्थीसमासोऽङ्गीक्रियेत तथापि(४) ‘चतुर्थी तदर्थे’ इत्यनेन तदुपपत्तिः । यदि तु देवतार्थत्वस्य नवमे निराकरणात्तत्प्रवृत्तिरित्याशङ्कोत तदा

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७९

‘क्ते चे’ति सूत्रात्पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वसिद्धिर्द्रष्टव्या । अतस्स्वर-
स्यानिर्णायकत्वाललाघवाद्ङ्गभूतसवनपरत्वापत्तेश्च बहुव्रीहित्वा-
नुपपत्तेः प्रधानभूतसोमपरत्वलाभाय तत्पुरुषाङ्गीकरणमेव युक्तम् ।
ततश्चानिन्द्रदेवत्यसोमभक्षणे लिङ्गविनियोगासम्भवान्न तावदु-
पदेशप्रमाणेनैव मन्त्रप्राप्तिः ।

नाप्यतिदेशप्रमाणेनोहितस्य । यागाख्यकर्मण एकत्वेन प्रकर-
णाविशेषाच्च अन्येषां धर्माणां सर्वार्थत्वावगतेरभ्यासानां प्रकृ-
तिविकारभावानुपपत्तेः । अतश्च सत्यपि सामान्यविधौ “त्रीहीणां
मेध सुमनस्यमान” इति मन्त्रवदिन्द्रलिङ्गकानां मन्त्राणामि-
न्द्रदेवत्यसोममात्रभक्षाद्यङ्गत्वावगतेरन्येषाममन्त्रकमेव भक्षणम् ।
सूत्रं स्पष्टम् ॥

अत्र च सूत्रे भाष्यादौ यद्यपीन्द्रमात्रभिन्नस्यामन्त्रकता प्रती-
यते तथापि लिङ्गाविशेषात् पितृदेवत्यप्रदानेषु पितृपीतपदयुक्तस्य
नराशंसदेवत्यप्रदानेषु च नराशंसपीतपदयुक्तस्य विभज्य सूक्त-
वाकवद्विनियोगावधारणादिन्द्रादिभिन्नप्रदानानाममन्त्रकं भक्षण-
मित्येवमवगन्तव्यम् ।

न च नाराशंसदेवत्यप्रदानस्य बौधायनीयादिकल्पेष्वदर्श-
नादभावः । वार्तिककृता सिद्धान्ते प्रातस्सवनादिशब्दानां तत्स-
मानाधिकरणानां च वसुमद्गणादिशब्दानां गायत्रच्छन्दःप्रभृ-
तीनामिन्द्रपीतादीनां च प्रतिसवनं क्रमेण विभज्य विनियोगा-
भिधानेन माध्यन्दिने सवने नाराशंसदेवत्यप्रदानस्यावश्यकत्वेन
कल्पान्तरे तत्सद्भावकल्पनोपपत्तेः । अतश्च सवनत्रयस्थेऽप्यै-
न्द्रप्रदाने प्रातस्सवनादिशब्दानां सामानाधिकरण्यपदान्तरयु-
क्तानां विनियोगे यथासवनं विभज्य प्रयोगेऽपीन्द्रपीतपदस्य
सवनत्रयेऽपि प्रयोगः ।

एवं नाराशंसदेवत्ये पितृदेवत्येऽपि द्रष्टव्यम् । तद्भिन्नानां तु यवेष्विवा मन्त्रकत्वम् ॥

(इति प्रथमः पूर्वपक्षः)

सू—यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥

३-२-२८ ॥

(अथ द्वितीयः पूर्वपक्षः)

सत्यमैन्द्रादिष्वेवोपदेशेन मन्त्रः । तद्भिन्नेष्वपि त्वतिदेशेन संभवत् केन वार्येत । सत्यपि यागैकत्वेऽभ्यासानां भेदाच्छ्रयणादिव्यवस्थावत्प्रकृतिविकृतिभावस्याप्युपपत्तेः ।

न च प्रकरणाविशेषात्पारिप्लवत्वम्, मानग्रहणमन्त्रानुरोधेन धर्माणामैन्द्रमात्रप्रदानविषयत्वापपत्तेः । तथाहि—“इन्द्राय त्वा वसुमते सोमं मिनोमि । इन्द्राय त्वा वसुमते सोमं गृह्णामी” ति सोममानग्रहणमन्त्रयोस्तावालिङ्गादैन्द्रप्रदानायसोममानाद्यङ्गत्वं वादित्रयसिद्धम् । अतस्तत्प्रकाश्ययोर्मानग्रहणयोरपि तन्मात्राङ्गत्वम् । इष्यते च सर्वविषयतया संभाव्यमानस्यापि प्रधानस्याङ्गानुरोधेनाल्पविषयत्वम् । अर्थिमात्रविषयत्वेन प्रतीयमानानामपि क्रतुविधीनामङ्गभूताग्निविद्याजनकाधानाध्ययनानुरोधेन त्रैवर्णिकमात्रविषयत्वाङ्गीकारात् । अत एव मानग्रहणसंस्कार्यस्य सोमस्यापि तन्मात्राङ्गत्वम् । एवं चोत्पत्तिवाक्ये सोमो विजातीययागत्वसामानाधिकरण्येनैव विधीयते न त्ववच्छेदकावच्छेदेन ।

अथ वा नैव तत्र सोमविधिः । संस्कारविध्यनुपपत्त्यैवेन्द्रप्रदानाङ्गतायाः प्राप्तिः सम्भवात् । अतश्चोत्पत्तिवाक्यस्थं सोमपदमप्युपदेशातिदेशप्रापितसोमानुवादमात्रमित्यपि ध्येयम् ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८१

सोमधर्माणां त्वभिषवादीनां तन्मात्रार्थत्वं निरङ्कुशमेव । त-
त्संवलितत्वाच्च दीक्षणीयादयोऽपि तन्मात्राङ्गमेवेत्यनैन्द्रप्रदाना-
नां द्रव्यादिधर्मसाकाङ्क्षाणामव्यक्तत्वसामान्यादैन्द्रप्रदानविकृ-
तित्वोपपत्तेरतिदेशप्राप्तस्य भक्षमन्त्रस्य समवेतार्थत्वादूहन्या-
येनोहितस्य प्रयोगस्तत्र नानुपपन्नः ।

एवं च नाराशंसदेवत्यपितृदेवत्यप्रदानेष्वप्यूहेनैव भक्ष-
मन्त्रप्राप्त्युपपत्तौ पुनस्तदाम्नानमूहितस्य मन्त्रत्वसिद्ध्यर्थं न
विरुध्यते । एवं च षोडशिन्यतिरात्रे च पितृदेवत्येऽनुष्टुप्छन्दस
इति भक्षमन्त्रं नयतीति सामान्यतोऽस्मिन् मन्त्रे पदान्तरनिष्ठतयोह-
स्य प्राप्तत्वात्तद्विशेषस्य जगतीच्छन्दःपदेऽनुष्टुप्छन्दःपदोहरूप-
स्य विधानमवकल्पते । इतरथा षोडशिन्यतिरात्रे च भक्षमन्त्र-
स्यानूहितस्यैव पितृदेवत्यप्रदानत्वेन प्राप्तेर्विशेषविधानं नोपपद्येता

यद्यपि चाग्निष्टोमान्तप्रदानानामेव समानविधानत्वमिति
तत्रत्यपितृदेवत्यप्रदान एव पितृपीतपदयुक्तो मन्त्रः उपदेशेन
प्राप्यते तथापि षोडशयतिरात्रयोस्तातीयसवनिकपितृदेवत्य-
प्रदानविकृतित्वस्यैव सादृश्यविशेषणावगतेरनूहितस्यैव भक्षम-
न्त्रस्यातिदेशेन प्राप्त्यापत्तेः विशिष्टविधाने गौरवापत्तिः ।

एवं सवनविशेषणत्वसिद्धान्तेऽपि द्रष्टव्यम् । अस्मन्मते त्वै-
न्द्रप्रदानस्यैव प्रकृतित्वात्प्रकृतौ सत्यपि मन्त्रत्वसिद्ध्यर्थं तदुप-
देशे वस्तुतः प्रकृतिप्राप्ते इन्द्रपदस्थानापन्नत्वेन पितृपदस्योहत्वो-
पपत्तेः युक्तं तदघटितमन्त्रे ऊहविशेषविधानम् ।

यद्यपि च जगतीच्छन्दःपदे ऊहस्याप्रसक्तत्वान्न तदनुवा-
देनानुष्टुप्छन्दःपदमात्रविधिर्ममापि शक्यते वक्तुं तथा-
प्यस्मिन्मन्त्रे पदान्तरेऽपि तावदूहस्य मन्मते प्राप्तत्वाद्युक्तस्तत्रा-
नुष्टुप्पदविशिष्टोहविधिः । छन्दःपदवत्त्वसाधर्म्याच्च जगती-

पदस्थानत्वलाभः। वार्तिकमप्येवमेव व्याख्येयम् । तस्माद्यथादेव-
तमूहेन प्रयोगः ॥ सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति द्वितीयः पूर्वपक्षः)

(अत्रान्तरागर्भिणीत्वेन पश्चादधिकरणानि । तत्र
प्रथममभ्युन्नीताधिकरणम् ।) १२ ॥

सू-पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥

३-२-२९ ॥

(विषयसंशयौ)

एवं पूर्वपक्ष एवावस्थिते प्रसङ्गाद्दहितमन्त्रप्रयोगगतविशेष-
विचारः क्रियते । प्रातस्सवने तृतीयसवने च सवनमुखीयेषु
सर्वेषु चमसेष्विन्द्रार्थं सकृद्धृतेषु ये तावद्धोतृब्रह्मोद्रातृयजमा-
नानां वैकल्पिकसदस्ययुक्तानां मध्यतःकारिणां चमसास्तेष्व-
नुवषट्कारेऽपि हुतेषु पश्चाद्दोत्रकाणां मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसि-
पौतृनेष्ट्रच्छावाकाग्नीध्राणां ये चमसास्तेषु द्रोणकलशात्सोमा-
न्तरं सशेषेष्वेवाभ्युन्नीय तैर्मित्रावरुणादिदेवतान्तरेभ्यो हुत्वा
भक्षयते । तत्र किं पूर्वहोमदेवताभूतेन्द्रपदमपि भक्षमन्त्रे कीर्तयि-
तव्यं उत नेति विचार्यते । अत्र चाच्छावाकचमसेन प्रातस्स-
वने तदानीमहोमादनुदाहरणत्वं तृतीयसवने तूदाहरणमेव ।

(सङ्गतिः)

अत्र च भक्षमन्त्रस्य लिङ्गादिन्द्रदेवस्य पूर्वप्रदानाङ्गत्वस्यैव
पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षोक्तस्याक्षिप्य समाधानात्पादाध्यायानन्तरसङ्ग-
तयः। आद्यपूर्वपक्षमात्रोपजीवित्वेऽपि वा अस्याधिकरणस्यैतदधिक-
रणाषवादभूताग्निमाधिकरणस्योहपक्षोपजीवित्वात्तदुत्तरमारम्भः ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८३

(सिद्धान्तः)

तत्र पूर्वदेवताशेषस्य सख्यभ्युत्थीयमानेन संसर्गे ऽभ्युत्थीत-
स्यैवोत्तरदेवतासम्बन्धेन शेषस्य पूर्वदेवतासम्बन्धानपायादुभ-
योरपि भक्षणाख्यसंस्कारावश्यभावे तन्मन्त्रे उत्तरप्रदानाङ्गभूता-
या देवताया ऊर्ध्वेनोपलक्षणवत्पूर्वप्रदानाङ्गभूतस्यापीन्द्रस्योपल-
क्षणं लिङ्गेन न विरुध्यते ।

यद्यपि चोभयोरपि संसृष्टत्वान्नात्र भक्षणस्य तन्मन्त्रोच्चा-
रणस्य वा पृथगनुष्ठानं तथापि तन्त्रेणैव भक्ष्यमाणे सोमे सूक्त-
वाक्यदितरपदतन्त्रत्वेऽपि इन्द्रामित्रावरुणपीतस्येत्येवमुभयोरप्यु-
पलक्षणत्वं न विरुध्यते । अत एव ब्राह्मणाच्छंसिचमसे पूर्वो-
त्तरप्रदानयोरिन्द्रमात्रदेवत्यत्वेऽपि सकृदुच्चरितेन्द्रपदेनैवोभयापूर्-
वीयत्वेन तदनुसन्धानं द्रष्टव्यम् ।

एवं माध्यन्दिनसवनस्य सवनमुखीयेष्वपि । तत्रापि सर्वच-
मसानां पूर्वोत्तरप्रदानयोरिन्द्रमात्रदेवत्वत्वात् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति सिद्धान्तः)

सू-अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम् ॥३-२-३०॥ (पू)

(अथ पूर्वपक्षः)

होमकाले तावत्संसृष्टत्वादुभयोरप्याश्रावणप्रत्याश्रावणादि-
भिरुक्तदेवतासम्बन्धो ऽवसीयते ।

न च संसर्गेऽपि वायव्येन्द्रवायवसोमवद्ग्रहणकालीनविवेक-
मात्रेण बुद्ध्या निष्कर्षोपपत्तिः । तत्र ग्रहणकाले देवतासंयोगसत्त्वेन
बुद्ध्या निष्कर्षोपपत्तावप्युन्नयने देवताविधेर्बोधायनीयादिकल्पे-
ष्वदर्शनेनाभ्युत्थीतमात्रस्योत्तरदेवतासम्बन्धकल्पने प्रमत्ताभा-
वात्स्यामकालीनस्य च याज्यामन्त्रवर्णकल्प्यदेवतासम्बन्धस्य

संसृष्टविषयत्वान्निष्कर्षानुपपत्तैः ।

न चोन्नयने देवताविध्यभावे याज्यामन्त्रवर्णे याग्यविशेष-
तयैव देवताप्राप्तेरव्यक्तत्वभङ्गः । उक्तविधावव्यक्तत्वभङ्गेऽप्युत्पत्ति-
वाक्ये विहितदेवताकेष्टिभिन्नयागत्वरूपस्यैव तस्याङ्गीकारात् ।
अत्रोपांशुयाजव्यावृत्त्यै इष्टिभिन्नेतिविशेषणम् ।

न च शेषस्योत्तरदेवतोद्देशेन त्यागेऽपि पूर्वदेवतासम्बन्ध-
स्यापि सत्त्वात्तदुपलक्षणत्वोपपत्तिः । प्रतिगृहीतत्वाख्यस्य हि देव-
तासम्बन्धस्य नवमे निषेत्स्यमानत्वेनानिष्टत्वात्तदुद्देशेन च त्य-
क्तत्वरूपस्य च त्यागनाशेन नाशादन्यथा त्यक्तस्य कालान्तरे पर-
म्पर्यापि विनिमयप्रतिग्रहादिना लब्धस्य देवतासम्बन्धानपगमेन
'देवस्त्वं न गृह्णीया'दिति निषेधातिक्रमापत्तेरेतन्निषेधबलेन देव-
तायास्स्वीकाराख्यससम्बन्धो वाच्यः ।

न च तत्र प्रमाणाभावः । अस्य यथेष्टविनियोगानर्हतासम्पाद-
कत्वापरपर्यायस्य स्वीकारस्य 'देवस्त्वं न गृह्णीया'दिति निषेधवि-
षयीभूतदेवस्वपदालम्बनतयाऽवश्यकल्प्यत्वात् ।

न च यथेष्टविनियोगानर्हत्वस्य त्यागेनैवोपपत्तेस्तत्संपादक-
देवतानिष्ठपदार्थान्तरकल्पने गौरवापत्तिः । 'अस्त्वं न गृह्णीया'दिति
निषेधविषयीभूतास्वपदालम्बनस्य यथेष्टविनियोगानर्हत्वस्य
त्यागेनैव जननात्तद्व्यतिरिक्तस्य देवस्वपदालम्बनस्य वाक्यद्वय-
वैयर्थ्यभयेनावश्यं वाच्यत्वात् । अतश्चानुद्देश्यत्यागस्थले स्वत्वा-
भावमात्रं, देवतोद्देश्यकत्यागस्थले देवतास्वीकारोऽपि, मनुष्योद्दे-
श्यकत्यागस्थले तद्गोर्गार्हत्वमप्यधिकमिति विवेकः ।

मास्तु वा देवस्वपदावलम्बनतया देवतास्वीकारासिद्धिः ।
तथाप्यकृतेऽपि त्यागे याज्ञिकानां निर्वापप्रभृति प्रतिपत्ति-
पर्यन्तं देवतासम्बन्धिहाविर्ब्यवहारदर्शनादवश्यं देवतास-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८५

म्बन्धो द्रव्ये कश्चिद्भ्युपेयः । न ह्यसौ देवतोद्देशेनोपक-
ल्पितत्वमात्रं, प्रतिपत्त्युत्तरं लौकिकव्यवहारेण तस्यासंभवात् ।
अतोऽवश्यं प्रतिपत्तिनाश्यः कश्चिद्देवतासम्बन्धोऽभ्युपेयः ।
तस्य च धर्मिग्राहकप्रमाणेन देवतान्तरसम्बन्धिविरोधित्वा-
वगतेस्तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणस्यास्य तत्सामानाधिकरण्या-
नुपपत्तेरवश्यं शेषस्योत्तरदेवतासम्बन्धे पूर्वदेवतासम्बन्धोऽप-
गच्छतीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

न चैवं पूर्वदेवतासम्बन्धापगमेऽपि तस्य भूतत्वमात्रेणोपल-
क्षणत्वोपपत्तिः । मध्यतःकारिचमससाध्येन्द्रप्रदाने विद्यमानस्यैव
सम्बन्धस्योपलक्षणत्वेन होत्रकचमससाध्येन्द्रप्रदाने भूतपूर्वगत्या
तदुपलक्षणत्वाङ्गीकारे वैरूप्यापत्तेः । अतो मित्रावरुणपतिस्ये-
त्याद्येवोपलक्षणम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सू—(१)अग्रहणाद्वाऽनपायस्स्यात् ॥ ३—२—३१ ॥

(पुनस्सिद्धान्तः)

न शेषस्योत्तरदेवतासम्बन्धः, पूर्वदेवतासम्बन्धयपनयो
वा, उन्नीतमात्रस्यैवोत्तरदेवतासम्बन्धात् ।

यद्यपि च त्यागवेलायां संसृष्टत्वान्न विवेकप्रतीतिः, तथाप्यु-
न्नयनवेलायां विवेकोपपत्तेः वायव्यैन्द्रवायवसोमवत्यागवेलाया-
मपि तस्यैव त्यागोपपत्तिः ।

यद्यपि च नोन्नयनवेलायां प्रकृतौ विकृतौ वा देवतास-

(१) यद्यपिदं सूत्रं 'अग्रहणाद्वाऽनपायः स्या'दित्येव भाष्यशास्त्रदी-
पिकामुद्रितपुस्तकेषूपलभ्यते पठितं, तथापि सर्वेषु कौस्तुभा-
दर्शेषु मदीये प्राचीनतमहस्तलिखितभाष्यपुस्तके कृतहलवृत्तौ च
'अग्रहणाद्वाऽनपायः स्या'दित्येवसूत्रानुपूर्वादर्शनात् मुद्रितपुस्तकपा-
ठस्वीकारे प्रकृतसिद्धान्तविरोधात् । मयापि स एव पाठस्स्वीकृतः ।

स्वन्धस्तथापि प्रकृतौ तावदुन्नयनस्य दृष्टार्थत्वाद्यागीयद्रव्य-
संस्कारकत्वावगतेः विकृतावपि प्राकृतोन्नयनानुवादेन द्रोण-
कलशापादानकत्वमात्रविधानेन प्राकृतकार्यापन्नतयोन्नयनान-
न्तरविधानेन वा पुनरभ्युन्नीतस्यैव फलचमसहृदयादिवद्यागी-
यत्वप्रतीतेः पूर्वशेषस्य च यागीयद्रव्याधारभूतपात्रोपलक्षण-
तया 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाती'तिवदभ्युन्नीतसंस्कारमात्र-
त्वावगतेः उत्तरयागार्थत्वे प्रमाणाभावः ।

एवं परमसिद्धान्ते प्रकृतिविकाराभावेऽप्युन्नयनस्य दृष्टार्थ-
त्वादेव यागीयद्रव्यसंस्कारार्थत्वावगतेः पूर्वशेषस्योत्तरयागा-
र्थत्वे प्रमाणाभावो द्रष्टव्यः ।

वस्तुतस्तून्नयनेऽपि चाश्रावणकाले देवतासम्बन्ध इत्यादि
भाष्यवार्तिकग्रन्थाद्देवतासम्बन्धविधिःकल्पान्तरेऽस्तीत्यभ्युपग-
न्तव्यम् । अन्यथा अव्यक्तत्वनिर्वचनानुपपत्तेः ।

न चोत्पत्तिवाक्येऽविहितदेवताकेष्टिभिन्नयागत्वं तत् । उत्पत्ति-
वाक्येऽविहितदेवताकज्योतिष्टोमभिन्नयागत्वेन विनिगमनाविर-
हात् । अतः स्वाङ्गतयाऽविहितदेवताकत्वमेव तत् ।

न चास्यापि पूर्वोक्तेन विनिगमनाविरहः । 'ऐन्द्रवायवं
शृङ्गाती'स्मादौ ग्रहणसम्बन्धितयाऽग्रे देवताविधिवैयर्थ्यस्यैव
नियामकत्वात् । अतश्चोन्नयनेऽपि देवतासम्बन्धसत्त्वाद्भ्युन्नी-
तस्यैवोत्तरयागार्थत्वं न पूर्वशेषस्येति तस्य पूर्वदेवतासम्बन्धान-
पायात्तत्प्रतिपत्तिरूपे भक्षणे कर्तव्ये उपलक्षणीय एवेन्द्रः । यदि
हुन्नयनस्योन्नीतसंसर्गस्य वा पूर्वशेषप्रतिपत्त्यर्थता प्रयाजशेषा-
भिधारणवद्भवेत् ततो विशेषप्रतिपत्त्या सामान्यप्रतिपत्तिरूपस्य
भक्षणस्य बाधान्नोपलक्ष्येतापि । न तु तदस्ति । शेषस्य पात्रोपल-
क्षणत्वेन श्रुतस्य प्राधान्यलक्षणायां प्रमाणाभावादभ्युन्नीतस्यो-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८७

त्तरयागाङ्गत्वेन विधाने वाक्यभेदाच्च । अतो भक्षणरूपप्रतिपत्ते-
रावश्यकत्वादुपलक्षणीय एवेन्द्र इति सिद्धम् ।

प्रयोजनस्य पक्षोक्तत्वेऽप्युहस्यैन्द्रप्रदानमात्रसम्बन्धित्वस्य
वा स्थायित्वाभावादेतद्विचारहेतुभूतस्य पूर्वशेषवृत्त्युत्तरयागा-
ङ्गत्वसदसद्भावरूपस्य विचारस्य स्थायिनः स्थायिभूतं प्रयो-
जनमुत्तरयागकालेऽभ्युन्नीतस्यैव देवतासम्बन्धानुसन्धानमित्ये-
वंविधं द्रष्टव्यम् ॥ सूत्रं स्पष्टम् ॥

इत्यन्तरागभिण्यां प्रथमं पुनरभ्युन्नीताधिकरणम् ॥
(पुनरभ्युन्नीतपूर्वदेवतोपलक्षणाधिकरणम्) (१२)

अथ द्वितीयं पात्नीवते द्विदेवत्यदेवतो-
पलक्षणाधिकरणम् ॥ (१३)

सू-पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥ ३-३-३२ ॥
(विषयसंशयौ)

द्विदेवत्यशेषार्धमादित्यस्थालीस्थसोमे प्रातस्सवने सम-
वनीय तृतीयसवने संसृष्टादित्यस्थालीस्थसोमेन सह पूर्वगृहीता-
ग्रयणस्थालीस्थसोमः पात्रान्तरे कृत्वा पुनराग्रयणस्थाल्यां
गृह्यते । पश्चाच्चो'पांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद्गृह्णाती'ति
श्रुतम् । तस्मिन्पात्नीवते तच्छेषे भक्ष्यमाणे किं मन्त्रे तद्देवताग्निः
पत्नीवानूहेनोपलक्षणीयः ? उत द्विदेवत्यशेषार्धस्यापि संसृष्टत्वात्त-
द्देवता अपि वाय्विन्द्रवायुमित्रावरुणाश्विनोऽपीति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

पूर्वाधिकरणव्युत्पादितस्य पूर्वदेवतासम्बन्धापनयस्यापवा-
दादनन्तरसङ्गतिः । अपादानभूताग्रयणापेतरूपाद्दस्तुसामर्थ्या-
दनाग्रयणरूपस्यापि पूर्वशेषस्य पात्नीवतयागाङ्गत्वाभिधानाच्च

पादाध्यायसङ्गतिः ।

अत्र च यद्यपीदं सङ्गतित्रयमूहविषयविचारहेतुभूतपूर्वशेषा-
पनयनविचार एव सम्भवतीति नोहविशेषविचारस्यैह कश्चि-
दुपयोगः, तथापि इन्द्रपीताधिकरणमध्ये चिन्तनात्तेनापि
सङ्गतिलाभार्थं तदीयद्वितीयपूर्वपक्षोपजीवनेन तत्करणं नाती-
वासङ्गतम् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र गृह्णातीत्यस्य कर्माकाङ्क्षाया आवश्यकत्वात् स्ववा-
क्ये कर्मकारकान्तराश्रुतेराग्रयणाख्यसोमस्यैव कर्मत्वेनान्व-
यात्तस्यैव पत्नीवद्देवतासम्बन्धेन पात्नीवतयागाङ्गत्वप्रतीते-
स्तत्संसृष्टस्यापि पूर्वशेषस्योत्तरदेवतासम्बन्धाभावात्पूर्ववत्पूर्व-
देवतासम्बन्धापनयानुपपत्तेस्तस्यापि प्रतिपत्त्यर्थं भक्षणावश्यं-
भावे चमसवद्गृहाभ्यासानामप्येन्द्रयागाभ्यासप्रकृतितयाऽतिदेश-
प्राप्ते मन्त्रे ऊहेन सर्वदेवतोपलक्षणम् ।

न चाग्रयणादित्यपादानविभक्तिश्रवणाद्वितीयाषष्ठयोरभा-
वेन तस्य कर्मत्वानुपपत्तेरपादनापेतस्य चाग्रयणानाग्रयणसाधा-
रणस्य संसृष्टस्य सोमरसस्य ग्रहणकर्मत्वेनान्वयोपपत्तेः पूर्वशे-
षस्याप्युत्तरदेवतासम्बन्धोपपत्तिरिति वाच्यम् । अपेतद्रव्यस्या-
शाब्दत्वेन ग्रहणकर्मत्वेनान्वयानुपपत्तेः । अतश्च तद्वाचकपदा-
ध्याहारापेक्षया पञ्चम्या एव कर्मत्वलक्षणाया न्याय्यत्वाद्युक्त-
माग्रयणस्यैव कर्मत्वम् । अस्तु वाऽऽग्रयणापेतस्यैव कर्मत्वं, तथा
प्याग्रयणशेषस्यैव तदपेतत्वं न त्वनाग्रयणशेषस्य । तस्य पूर्वशेषा-
दपेतत्वात् । अतस्तस्योत्तरदेवतासम्बन्धाभावेन पूर्वदेवतासम्बन्धा-
नप्राप्त्यात्पूर्ववत्सर्वोपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८९

सू-ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ॥ ३-२-३३ ॥ (सि)

(अथ सिद्धान्तः)

नाग्रयणस्यैव पत्नीवद्देवतासम्बन्धः, तस्यापादानमात्रतया श्रवणेन ग्रहणकर्मत्वाभावात् ।

न च प्रयाजशेषवल्लक्षणा । अपादानत्वेऽप्यदृष्टार्थत्वाभावात् ।

न च कर्माकाङ्क्षावशात्सा । अपादानसामर्थ्येनोपस्थितस्यापे-
तस्यैव कर्मत्वेनान्वयोपपत्तेः ।

न च तस्याशाब्दत्वम्, उक्तविधयोपस्थितस्य पत्नीवदिति
तद्धितेन परामर्शसंभवात् । यच्चाग्रयणावयवस्यैव तदपेतत्वं न
त्वनाग्रयणावयवस्येत्युक्तम् । तत् 'वृक्षात् पर्णं पतती'त्यादौ कङ्क-
कुररादिपत्रस्यापि वृक्षपत्रवद्दृक्षापादानकत्वप्रतीतेः प्रकृतेऽप्याग्र-
यणावयववदनाग्रयणावयवस्याग्रयणापेतत्वोपपत्तेरयुक्तम् ।

न चैवं संसृष्टस्य सोमरसस्याग्रयणापादानकत्ववदनाग्रय-
णापादानकत्वस्यापि सत्त्वादाग्रयणापादानकत्वरूपस्य विशेषण-
स्यान्ययोगव्यावर्तकत्वाभावेन विशेषणत्वानुपपत्तिः । स्वसंसृष्टा-
नाग्रयणयोगव्यावर्तकत्वाभावेऽप्ययोगव्यावर्तकत्वेनासंसृष्टान्ययो-
गव्यावर्तकत्वेन वा विशेषणत्वोपपत्तेः ।

अतश्च नाग्रयणस्यापि पूर्वशेषस्य पत्नीवद्देवतासम्बन्धा-
त्तस्य च पूर्वदेवतासम्बन्धापनयं विना पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षन्या-
येनानुपपत्तेः अपनीतदेवतासम्बन्धरूपसोमभक्षणेनापनीतस-
म्बन्धदेवतोपलक्षयितव्या ।

ननु सम्बन्धापनयेऽपि भूतपूर्वगत्योपलक्षणं पूर्वदेवताया
युक्तमेव । न च प्रकृतौ तथाऽनुपलक्षणादप्राकृतकार्यापत्तिः । इन्द्र-
पीतस्येति क्तप्रत्ययेन भूतकालवाचिना भूतस्यैवोपलक्षणीयत्वा-

वगतेः । प्रकृतौ च भूतसम्बन्धाभावेनादिकर्मणि क्तप्रत्ययमङ्गीकृत्य यस्येन्द्रसम्बन्धोत्पत्तिक्षणो वृत्तः तस्येत्यर्थावगमात् प्रकृतौ सम्बन्धसत्त्वकाल इव विकृतौ तन्नाशकालेऽप्युत्पत्तिक्षणवृत्तित्वस्याविशेषादुपलक्षणोपपत्तिरिति चेत्-

न ; पीतशब्दस्यात्र स्वीकाराख्यसम्बन्धवाचित्वात्तस्य च लोके नाशदशायां स्वीकृत इत्येवं प्रयोगाभावेन विद्यमानस्यैव प्रत्ययेन कथञ्चिद्वाच्यत्वेनावधारणात्प्रतीतिवशेन विद्यमानफलसमानकालीनव्यापारातीतत्वस्यैव क्तप्रत्ययेन सर्वत्राभिधानाच्च विद्यमानस्यैव सम्बन्धाख्यफलस्य प्रकृतावुपलक्षणेन विकृतौ तदभावादप्राकृतकार्यकारितापातेन विकृतावुपलक्षणानुपपत्तेः । तस्मात्पत्नीवदेवतैवोपलक्षणीया । स्थायिविचारप्रयोजनं त्यागकाले आग्रयणस्यैवानुसन्धानाभावः । सूत्रं स्पष्टम् ॥

इत्यन्तरागर्भिण्यां द्वितीयं पात्नीवताधिकरणम् (१३)

अथ तृतीयं पात्नीवते त्वष्टुरदेवतात्वाधिकरणम् (१४)

सू-त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात् ॥ ३-२-३४ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

तस्मिन्नेव पात्नीवतयागाङ्गभूते भक्षमन्त्रे किं त्वष्टुरप्युद्देशेनोपलक्षणम् ? उत नेति विचार्यते । (१) “अग्रा ३ इ पत्नीवा ३ ससजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिबे”त्याध्वर्यवमन्त्रलिङ्गात्त्वष्टुरपि पात्नीवतयागाङ्गत्वमस्ति न वेति स्थायिविचारस्य पादाध्यायसङ्गतिस्स्पष्टा । पात्नीवतयागे पूर्वं द्रव्यविचारे कृतेऽधुना देवताविचारात्प्रासङ्गिकी । ऊहविचारसङ्गतिस्तु पूर्ववदेव ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९१

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि तावद्विधौ पत्नीवन्मात्रस्य तद्धितेन देवतात्वमुक्तम्, तथापि पत्नीवच्छब्दस्य यौगिकस्य नित्यं विशेष्यसाकाङ्क्षत्वादवश्यं प्रमाणान्तरेण विशेष्यं पूरणीयम् । न च शब्दस्य देवतात्वात्पूरणवैयर्थ्यम्, तथात्वेऽपि प्रातिपदिकत्वसिद्ध्यर्थं तदपेक्षणात् ।

ननु त्यागकालीनोच्चारणविषयत्वरूपदेवतात्वस्य तद्धितार्थत्वाच्चदुनुरोधेनार्थपरस्यापि प्रातिपदिकस्य लक्षणया शब्दपरत्वमङ्गीकृत्य शब्दस्य देवतात्वमिष्टम् । अतश्च त्यागकालेऽर्थानुसन्धानं विनापि पत्नीवच्छब्दमात्रप्रयोगेण शास्त्रार्थोपपत्तेः यत्र चतुर्थ्यपि न प्रयोक्तव्या तत्र विशेष्यवाचकपदप्रयोगस्य कोपयोगः ? परं प्रथमैव साधुत्वार्थमुच्चारणीयेति चेत्—

न ; अर्थप्रत्ययानुकूलचतुर्थ्यन्तपदोच्चारणरूपस्यैवोद्देशस्य वृद्धव्यवहारार्थागघटकत्वावगमेन चतुर्थ्यन्तपदोच्चारणवच्छब्दस्यार्थप्रत्ययस्याप्यावश्यकत्वेन तत्र विशेष्यापेक्षार्यां तद्वाचकचतुर्थ्यन्तशब्दोच्चारणस्यावश्यकत्वात् । अत एव त्यागस्य मानसत्वेऽप्युक्तविधोद्देशस्य निराकाङ्क्षत्वसिद्ध्यर्थं तद्वाचकपदप्रयोगोऽपि याज्ञिकानां सङ्गच्छते । तस्मात्सिद्धं विशेष्यसाकाङ्क्षयौगिकपदस्थले तत्समर्पणं प्रमाणान्तरेणेति ।

तदिह यथैवाग्निरूपस्य विशेष्यस्य मन्त्रवर्णेन समर्पणं तथैव त्वष्टुरपि । तस्यापि मन्त्रवर्णेन देवतात्वाभिधानात् । तथाहि—

यद्यपि तावदग्रेरिव शब्दतः पानपदलक्ष्यस्वीकारः प्रतीयते पत्नीवच्छब्दसामानाधिकरण्यं च तथापि त्वष्टुस्सहत्ववाचिसज्जशब्देन साहित्यावगमात्तस्य चैकक्रियान्वयानिमित्तकत्वात्त्वष्टुरप्यर्थाद्विशिष्टविधौ विशेषणविधिवत्स्वीकाराख्यपानसम्ब-

न्धावगतेस्तस्य च तदुद्देशेन सागं विनानुपपत्तेर्देवतात्वासिद्धिः ।
 अत एव तद्भलेन पत्नीवत्तायामपि तस्य साहित्यम् ।
 एवं च देवशब्दोऽपि देवतात्वपरस्सङ्गच्छते । अतश्च मन्त्रे
 त्वष्टुरपि स्वीकारान्वयित्वेनाग्निवद्विधौ पत्नीवच्छब्दविशेष्यत्व-
 प्रतीतेस्तस्यापि देवतात्वम् । तत्राप्यग्नित्वष्टूर्ने व्यासक्ता विशे-
 ष्यता । मन्त्रे भिन्नपदोपादानेन प्रत्येकमेव तत्प्रतीतेः । अपि
 तु प्रत्येकमेव समुच्चयेन । अतश्च 'पत्नीवते ऽग्रये त्वष्ट्र इदं न ममे'-
 ति त्यागसिद्धिः । अथ वा मन्त्रे त्वष्टृसाहित्यविशिष्टस्याग्नेरुपा-
 दानाद्विधावपि तादृशस्यैव विशेष्यता । तेन पत्नीवते त्वष्टृ-
 साहितायाग्रय इति त्यागः । तेन त्वष्टुरप्युपलक्षणम् । सूत्रं
 स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सू—अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥ ३-२-३५(सि)

(अथ सिद्धान्तः)

नाग्निना तुल्यस्त्वष्ट्रा । शाब्देनपाया तु लक्षितस्वीकारान्वयेन
 शीघ्रप्रतीतिविशेष्यत्वेनाग्निनासहभावश्रुत्यन्यथानुपपत्तिकल्पित-
 स्वीकारसम्बन्धबललभ्यविशेष्यत्वस्य त्वष्टृस्साम्यानुपपत्तेः ।
 न चान्यथानुपपत्तिरपि,

‘सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।’

इत्यादौ क्रियान्वयाभावेऽपि विद्यमानत्वमात्रेण सहभाव-
 दर्शनात् । अतश्च त्वष्टृस्स्वीकारसम्बन्धाभावेऽप्यग्निस्तुल्यर्थं
 विद्यमानत्वोपचारेण सहभावसङ्कीर्तनोपपत्तेः न मन्त्रादपि
 सहभावप्रतीतिरेकान्तिकी । देवशब्दोऽपि न देवताशब्दादिव
 देवतात्वमाह । मनुष्यत्वादिवदिन्द्रादिष्टात्तिजातिवाचित्वात् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९३

देवतात्ववाचित्वेऽपि वा यागान्तरगतस्यैव देवतात्वस्याग्निस्तु-
त्यर्थं सङ्कीर्तनोपपत्तेश्च । तस्मान्न त्वष्ट्रोपलक्षणीयः । स्थायिवि-
चारप्रयोजनं सूत्रं च स्पष्टम् ॥

इत्यन्तरागर्भिण्यां तृतीयं त्वष्ट्राधिकरणम् ॥ (१४)

अथ चतुर्थं त्रिंशदधिकरणम् ॥ (१५)

सू-त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥ ३-२-३६ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

तद्यागाङ्गभूतभक्षमन्त्र एव किं त्रयस्त्रिंशद्देवतोपलक्षयित-
व्या ? नेति विचारः । अत्रापि “एभिरग्ने सरथं याह्वर्वाङ्नाना रथं
वो विभवो ह्यश्वाः । पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रिंश्व देवाननुष्वधमावह मादय
स्वे”ति याज्यामन्त्रवर्णात्तेषां पत्नीवतयागे देवतात्वमस्ति न
वेति स्थायिविचारस्य पादाध्यायसङ्गतिः पूर्ववत् । आतिदेशिकी
त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

अधिकाशङ्का तु पूर्वं त्वष्टुः पत्नीवच्छब्दसामानाधिकरण्या-
भावात् प्रत्युत(१) “सहयुक्ते ऽप्रधाने” इत्यनुशासनेन गुण-
त्वस्यैवावगतेः नाग्निस्तुल्यत्वमित्युक्तम् । प्रकृते तु यथैवाध्वर्यवमन्त्रे
अग्नेः पत्नीवच्छब्दसामानाधिकरण्यं तथाऽग्नीत्प्रयोज्ये याज्यामन्त्रे
त्रयस्त्रिंशद्देवानामपीत्यविशेषाद्बुभयोरपि विशेष्यत्वम् ।

न चैवं पत्नीवतमिति विधावग्न्यंशे एकवचनान्तेन विग्रहः
त्रयस्त्रिंशदंशे च बहुवचनान्तेनेत्येवं वैरूप्यापत्तिः । उभयांशे
ऽविशेषेण बहुवचनान्तेनैव विग्रहोपपत्तेः । अत एव तत्तन्मन्त्रे

उभयोरपि नैरपेक्ष्येण पत्नीवत्पदसामानाधिकरण्यावगमान्नैरपे-
क्ष्येणैव विशेष्यत्वावगमेऽपि विधानुभयोस्तात्पर्यग्राहकमहकृतेन
पत्नीवच्छब्देन युगपदाभिधानाद्दुपादेयसाहित्यस्य विवक्षितत्वा-
द्दुभयोस्समुच्चयोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु याज्यामन्त्रेऽग्नेः पत्नीवत्पदसामानाधिकरण्या-
भावेऽपि विशेष्यमात्रस्याग्नेश्रवणादेकवाक्योपादानेन त्रयस्त्रिं-
शदेवैस्समुच्चयोपपत्तिः ।

अस्तु वा याज्यामन्त्रे उत्तरार्धे हे अग्ने पत्नीवतो देवान्स्वधां
सोमाख्यमन्नमनु लक्ष्मीकृत्वाऽऽवह मादयस्व चेत्येवमर्थके त्रय-
स्त्रिंशद्देवानामेव सोमसम्बन्धावगमादग्नेश्च तदावाहनकरणार्थ-
मेव पूर्वार्धे हे अग्ने त्वमेभिस्त्रयस्त्रिंशद्देवैस्सह सरथं समानं रथमधिरुह्य
नानारथैर्वा आयाहि, यतस्तेऽन्वा विभवन्तीत्यर्थके आवाह-
नात् अग्नेर्हविस्सम्बन्धाभावावगमेनाध्वर्यवमन्त्रे च तस्य
हविस्सम्बन्धावगमेनाग्नेः पाक्षिकं विशेष्यत्वम् । नत्वेतावता त्रय-
स्त्रिंशद्देवानां विशेष्यत्वे किञ्चिद्वाधकमस्ति । तेषां याज्यामन्त्रे
नित्यमेव हविस्सम्बन्धावगमादिति ।

(सिद्धान्तः)

सा त्वेवं परिहर्तव्या—न त्रयस्त्रिंशद्देवा उपलक्षणीयाः ।
तेषां याज्यामन्त्रेऽपि त्यागोद्देश्यत्वानवगमेन पत्नीवत्पदविशे-
ष्यत्वायोगात् ।

यद्यपि हि तेषामग्निदत्तेन सोमेन मदश्श्रूयते तथापि यज-
मानेन तावदन्नय एव दत्त इति गम्यते । अन्यथा अग्निर्कर्तृकमा-
दनश्रवणानुपपत्तेः । अतश्च यद्यपि तेषां मादनं मुख्यं स्यात्त-
थापि न यजमानकर्तृकत्यागोद्देश्यत्वावगमः । अग्नेरेव त्वाध्व-
र्यवमन्त्रवर्णाद्याज्यामन्त्रेऽपि साक्षादग्नीधा आवाहनात्तत् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९५

वस्तुतस्तु मादनस्याप्यग्निकर्तृकस्याग्निगतस्वामित्वख्यापनार्थमेवोपादानमित्याध्वर्यवमन्त्रवर्णानुसारेण कल्प्यमानत्वादग्नेरेव देवतात्वमविरुद्धम् । तेन न त्रयस्त्रिंशद्देवा उपलक्षणीयाः । स्थायिविचारप्रयोजनं सूत्रं च स्पष्टम् ॥

इत्यन्तरागभिष्णां चतुर्थं त्रिंशदधिकरणम् ॥(१५)

अथ पञ्चममनुवषट्कारदेवतानुपलक्षणाधिकरणम् (१६)

सू-वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥ ३-२-३८ ॥(पू)

(विषयसंशयसङ्गतयः)

अनुवषट्कारदेवताभूतोऽग्निर्भक्षमन्त्रे उपलक्षणीयो नवेति विचार्यते । अत्रातिदेशिकी अनन्तरसङ्गतिः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्रानुवषट्कारयागस्तावन्न ज्योतिष्टोमयागाभ्यासः । अपि तु कर्मान्तरमित्यविवादम् । 'अग्नये ऽनु यजती'ति तन्त्रसारधृते विधौ प्राप्तयागानुवादेनाग्निदेवताया वषट्कारयागोत्तरत्वस्य चानुशब्दोक्तस्य विधाने वाक्यभेदापत्तेः विशिष्टकर्मविध्यवश्यंभावात् तस्य च "सोमस्याग्ने विहीत्यनुयजती"त्यनेन मन्त्रविधिना मन्त्रवर्णिके सोमाख्यद्रव्ये समर्पिते धर्मान्तराकाङ्क्षायां प्रकरणात् ज्योतिष्टोमाङ्गभूतेऽप्यस्मिन्यागे वैमृधवत्सोमद्रव्यकत्वसादृश्यात्तदीयविध्यन्तप्राप्तेरतिदेशेन यागीयसोमभक्षणे तन्मन्त्रे च प्राप्ते युक्तमेवानैन्द्रप्रदानोत्तरवत्तदीयदेवताभूताग्न्युपलक्षणम् । तत्रापि "द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति । द्विर्होतस्य वषट्करोती"त्यादौ यागभेदेन भक्षणावृत्तिदर्शनादनुवषट्काराङ्गभक्षणस्य पृथगेवानुष्ठानम् । तत्र च तद्देवतोपलक्षणम् ।

अथ वैन्द्रवायवादौ भक्षणावृत्तेर्वाचनिकत्वस्य वक्ष्यमाण-
त्वादन्यत्र वषट्कारानुवषट्कारयागाङ्गभूतयोस्सोमभक्षयोस्तन्त्रे-
णानुष्ठानात्तत्रैव देवताद्वयोपलक्षणम् ।

नन्वेतस्यानुवषट्कारयागस्य कर्मान्तरत्वेऽपि पृथक्सोम-
ग्रहणविध्यभावात्कथञ्चिदतिदेशेन तत्प्राप्तिसम्भवेऽपि वा “यद्ध-
विर्वहति तेन शेषेण संयोजयति देवता”मित्यर्थवादेन वषट्कार-
देवतायै यद्धविर्वहति तच्छेषेणानुवषट्कारदेवतां संयोजयतीत्य-
र्थकेन वषट्कारयागीयसोमशेषद्रव्यकत्वप्रतीतेस्तदा चोत्तरार्धा-
दिवत्प्रतिपत्तिलक्षणसत्त्वेनानुवषट्कारयागस्य प्रतिपत्तिकर्मत्वा-
वसायात् ।

यद्वा “सोमस्याग्रे वीहीत्यनुवषट्करोति । तेनैव संस्थितान्सो-
मान्भक्षयन्ति । स एव सोमस्य स्विष्टकृ”दिति^६ द्रव्यप्रतिपत्त्यर्थ-
स्विष्टकृद्यागरूपत्वसंस्तवादपि च तन्निश्चयावगतेस्सङ्कर्षे च स्वि-
ष्टकृद्रत्तन्त्रानुष्ठानमनुवषट्कारयागस्य पूर्वपक्षयित्वा वषट्कारया-
गानन्तर्यरूपक्रमपृथक्त्वाद्द्विदेवत्येष्वनुवषट्कारानिषेधरूपलिङ्गाच्च
वक्ष्यमाणाया आवृत्तेरर्थकर्मत्वे तन्त्रानुष्ठानप्रसङ्गेनानुपपत्तेः प्र-
तिपत्तिकर्मत्वद्योतकत्वात् प्रतिपत्तिकर्मत्वं तावदविवादम् ।

न च ‘तेनैव संस्थितान् सोमान् भक्षयन्ती’त्यत्र सोमस्य
भक्षणार्थमवशोषितस्य स्वरूपेण समाप्तिरूपसंस्थानुपपत्तेर्भक्ष-
णस्यापि सोमजन्यत्वेन जन्याभिप्रायेण संस्थावादानुपपत्तेः
कार्याभिप्रायेण तद्व्याख्यानस्यावश्यकत्वादानुवषट्कारस्यार्थक-
र्मत्वाभावे च तेन कार्यसमाप्ताभिधानानुपपत्तेस्संस्थालिङ्गात्त-
स्यार्थकर्मत्वमिति केषांचिदुक्तं युक्तम् । अनुवषट्कारस्याश्रयि-
कर्मत्वेन त्यागांशरूपकार्याभिप्रायेण तदुपपत्तेः ।

अतोऽस्य प्रतिपत्तिकर्मत्वात्तस्यार्थकर्मभूतसोमयागविकृति-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९७

त्वानुपपत्तेः कथमप्राप्त एव भक्षे तन्मन्त्रे च देवतोपलक्षण-
मिति चेत्—

तत्र प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽपि निष्कासावभृथवाजिनयागन्यायेने-
तिकर्तव्यताकाङ्क्षायां सोमजन्ययागत्वसादृश्येनातिदेशोपपत्तेः ।
यथा च वाजिनादियागस्य प्रतिपत्तिकर्मत्वं तथा तत्र तत्र नि-
रूपयिष्यामः । अतो युक्तमुपलक्षणमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—सत्यमनुवषट्कारयागः कर्मान्तरम्, वषट्-
कारयागाङ्गं प्रतिपत्तिकर्म च, तथापि तस्यानैन्द्रप्रदानेषु ताव-
दतिदेशेनैव प्राप्तत्वात्प्रकृतावेवानुपलक्षणेन नोपलक्षणाशङ्का ।

न च प्रकृतावेवानुवषट्कारयागस्यातिदेशप्राप्ते भक्षमन्त्रे
देवतोपलक्षणसम्भवः । प्रकृतावेवैन्द्रयागे होत्रकचमसेष्वनुवषट्-
कारस्यैवाभावात् । मध्यतः कारिचमसेषु तत्सत्त्वेऽपि वा तस्य प्रया-
जादिवत्कृत्स्नविधानत्वेनेतिकर्तव्यतानपेक्षणादतिदेशानुपपत्तेर्भ-
क्षस्य तन्मन्त्रस्य वाऽप्राप्तावृहेन देवतोपलक्षणस्याप्रसक्तेः ।
यदि तु कथञ्चित् “सोमं भक्षयती”त्यनेन वेदिवाहिन्यायेनाङ्गप्रधा-
नसाधारणसोमोद्देशेन भक्षणविधिमङ्गीकृत्यानुवषट्कारयागाङ्ग-
भृतस्यापि सोमस्य भक्षणमुपदेशत एव प्राप्तमित्युच्यते तथा-
पि तन्मन्त्रस्य “व्रीहीणां मेघ” इति वदसामर्थ्येन तत्राविनि-
धोगादूहप्रसक्तिर्दूरतरैव । अत एवेन्द्रपीताधिकरणसिद्धान्तरी-
त्या तद्विनियोगस्तु नैवानिष्टः । अत एवेन्द्रपीताधिकरणप्रयो-
जनस्यानुवषट्कारयागोऽपि विषय इत्येवं कथनार्थत्वादस्या-
धिकरणस्य पादाध्यायसङ्गतिः । स्थायिविचारप्रयोजनं साधा-
रणाङ्गव्यतिरिक्तप्रधानमात्राङ्गानामनुवषट्कारयागाङ्गत्वासिद्धिः ।

सूत्रं त्वनुवषट्कारदेवतापि नोपलक्षणीया । तस्यास्त्वया-

गाङ्गभूतद्रव्यमात्रत्वसत्त्वे ऽप्यतिदेशाभावेन प्रकृतकार्यापश्यभा-
वात्कर्तृवत् । यथाध्वर्युणा पाने क्रियमाणे पूर्वं होत्रा पीतोऽपि
न होतृपीतस्येत्येवमुपलक्ष्यते तद्वदिति व्याख्येयम् ॥

इत्यन्तरागर्हिण्यां पञ्चममनुवषट्कारदेवतानुपलक्ष-
णाधिकरणम् ॥ (१६)

अथानैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाधिकरणम् (१७)

सू-छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३-२-३८॥

इन्द्रपीताधिकरणाऽऽद्यपूर्वपक्षवादी ऊहपक्षं दूषयति-नानै-
न्द्रेषूहः । यागैकत्वेन प्रकृतिविकारभावासम्भवात् ।

न चाभ्यासानामेव सोमफलचमसाभ्यासानामिव कथञ्चि-
त्फलवत्त्वेनाङ्गग्राहित्वोपपत्तेः प्रकृतिविकारभावोपपत्तिः । तद्व-
दिह नित्यानित्यसंयोगविरोधादेस्समानविध्यभावहेतोरभावेन
प्रकरणात्सर्वाभ्यासानां समानविधानत्वोपपत्तेः ।

न चेहापि मानग्रहणमन्त्रयोरिन्द्रप्रदानमात्रविषयत्वात्त-
दनुरोधेन च मानग्रहणयोस्तत्संस्कार्यस्य सोमस्य तत्संस्कारा-
णां चाभिषवादीनां तत्संवलितानां च दीक्षणीयादीनामप्यैन्द्र-
प्रदानमात्रविषयत्वावगतेस्समानविध्यभावोपपत्तिरिति वाच्यम् ।
अङ्गानुरोधेन प्रधानानां स्वस्वोद्देश्यसङ्कोचकत्वानुपपत्तेः ।

न चाग्निविध्यनुरोधेन क्रतुविध्यधिकारसङ्कोचवत्तदुपपत्तिः।
यथाविनियोगमधिकारस्य षष्ठे वक्ष्यमाणत्वादङ्गानुरोधेनाधिका-
रिसङ्कोचेऽपि तादितरश्रुतस्वोद्देश्यसङ्कोचानुपपत्तेः ।

किञ्चाग्निविध्ययोराषानाध्ययनविध्यनुनिष्पन्नयोः क्रतुवि-
ध्यप्रयुक्तत्वेन स्वतास्सिद्धयोरेवोपजीविनात् परप्रयुक्तोपजीविनां

धिकरणम्] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९९

च तदभावे स्वानुष्ठानाभावस्य प्रयुक्तिशक्तिकल्पनाभावेन वि-
धिलाघवापादकस्य परप्रयुक्तपूर्वपदार्थानन्तर्याभावे काम्य-
साधिधेन्यनुष्ठानाभावस्येव सुप्रसिद्धत्वाद्युक्तमग्निविद्ययोः क्र-
तुविध्यधिकारिसङ्कोचकत्वम् । प्रकृते तु मानग्रहणमन्त्रयोस्तदुद्दे-
श्यानां च परप्रयुक्तत्वाभावेन क्रतुविधिप्रयुक्तत्वकल्पनावश्यम्भा-
वात्सर्वाभ्यासानां च प्रकरणाविशेषेणाङ्गविनियोगप्रयोगविधि-
कल्पकत्वोपपत्तेर्न सङ्कोचे किञ्चिन्नियामकमस्ति । अत एव मान-
ग्रहणमन्त्रयोर्लिङ्गाद् 'प्रीहीणां मेध' इतिवद्वैन्द्रप्रदानमात्रविषयत्वेऽपि
मानादीनां पुरोडाशप्रतिष्ठापनस्येव सर्वविषयत्वात्तदीयमान-
ग्रहणयोर्न समन्त्रकत्वम् ।

यद्यपि च मानादीनां सर्वाभ्यासीयसोमे सकृदेवानुष्ठानान्न
तावता कश्चिदनुष्ठानोपयोगः, तथाप्यैन्द्रप्रदानोत्तरं सर्वसोमनाशे
प्रदानान्तरार्थे सोमान्तरे मीयमाने गृह्यमाणे वाऽमन्त्रकत्वा-
सिद्धिः ।

वस्तुतस्तु विधिवाक्ये वसुमन्त्रगुणस्याश्रवणा 'दिन्द्राय
वसुमते' इति मन्त्रे तत्प्रतिपादनस्य व्यर्थत्वापत्तेः वसुमत्पद-
मिन्द्रातिरिक्तप्रकृतदेवतामात्रपरम् । अतश्च मन्त्रावपि सर्वप्रदा-
नविषयावेष ।

यत्तु मूले सुब्रह्मण्यानिगदस्येन्द्रपदस्येव प्रकृतदेवतो-
पापलक्षणार्थत्वमिन्द्रपदस्येत्येवं पक्षान्तरमुपन्यस्तम्, तत्
सदृष्टान्तं लक्षणार्था प्रमाणाभावादुपेक्षितम् । सुब्रह्मण्यानिगदो-
ऽपि हि लिङ्गादिन्द्रप्रदानाङ्गमेव । अग्निष्टुत्या 'ग्नेयी सुब्रह्मण्ये' ति
तु प्राकृतस्येन्द्राभ्यासस्य "आग्नेया ग्रहा भवन्ती" ति वचनेना-
ग्निदेवत्वत्वान्वायानैवोहप्राप्तेरनुवादः । प्रकारान्तरं च नवमे वक्ष्यते ।
तत्सिद्धं नेन्द्रप्रदानमात्रविषयत्वं धर्माणामिति ।

एवं च 'सोमेन यजेते'त्यादौ न सामानाधिकरण्येन वैशि-
ष्यम् । अपि त्वच्छेदकावच्छेदेनैवेत्यपि सुलभम् । सामपदानु-
वादशङ्का तु सक्तुविनियोगविधिकल्पनाव्यावृत्तिफलकतयापि
विध्युपपत्तावनुवादत्वे धैयर्थापत्तेः पशुसोमाधिकरण एव नि-
रस्ता । अतः प्रकृतिविकृतिभावाभावान्नोहासिद्धिः ।

यत्तु "अनुष्टुप्छन्दस इति भक्षमन्त्रं नमती"त्यनुवादलिङ्गं
तदप्राप्तस्यैवानुष्टुपछन्दःपदविशिष्टस्योहस्य विधानोपपत्तेरसा-
धकम् । तत्रापि हि जगतीछन्दःपदे ऊहस्याप्राप्तत्वाद्विशिष्टविधि-
रावश्यक एव । सामान्यतो यत्र कुत्रचिद्दूहप्राप्तिस्तु न विधिष्याघ-
वापादिकेत्यतन्त्रा सा ।

मूत्रं तु नोहः, घर्माणां सर्वाभ्यासगामित्वेन प्रकृतिवि-
कारभावासम्भवात् । यस्तु पूर्वछन्दःप्रतिषेधेन छन्दोऽन्तरविधि-
स्समोऽप्युपपन्न इति व्याख्येयम् ॥

इति अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाधिकरणम् ॥ (१७)

अथ द्वितीयान्तरागर्भिण्यामैन्द्राग्नेभक्षणे
मन्त्राभावाधिकरणम् । (१८)

सू-ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥३-२-३९॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

इहाद्यपूर्वपक्षवाद्युक्तस्यैवानैन्द्रेष्वमन्त्रकत्वस्य कोष्ठशोधनि-
कार्थं विचार्यते । किं यत्रान्यसहित इन्द्रो देवता, यथेन्द्राग्न्यादौ
तत्र इन्द्रपीतस्येति मन्त्रो भवत्युत नेति । पादाध्यायानन्त-
रसङ्गतयस्स्पष्टाः ।

धिकरणम्] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ३०१

(• पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि चतुर्धाकरणाधिकरणन्यायेनैन्द्राग्न्योर्व्यास-
ष्यवृत्तिदेवतात्वान्नेन्द्रपीतपदेनेन्द्राय त्यक्त इति व्युत्पत्त्ये-
न्द्रो देवतात्वेन शक्यो व्यपदेश्युं तथापि पीतशब्दस्य त्यक्त-
त्वलक्षणार्था प्रमाणाभावाच्चतुर्थीसमासस्याननुशिष्टत्वेनान्याय्य-
त्वात्कथञ्चिदनुशासनेऽपि वा हुताहुतसमुदायस्यैव पूर्वं त्यक्त-
स्य होमेन नाशादहुतस्य च भक्ष्यमाणस्यात्यक्तत्वेनेन्द्रपीतपद-
व्यपदेशानुपपत्तेः पीतत्वमेव पीतपदेनोच्यते । पानस्य च रसा-
स्वादनरूपस्य देवतानिष्ठस्य व्यासष्य त्यक्तेऽपि सोमेऽवयवशः
प्रत्येकमुपपत्तेः इत्थिमातृवदेनेन्द्रपीतपदेन भक्ष्यमाणार्धस्य बुद्ध्या
निष्कृष्टस्य व्यपदेशोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु रसास्वादनरूपस्य पानस्य नवमे निषेत्स्यमान-
त्वात्कथञ्चिदङ्गीकारेऽपि वा त्यक्तत्ववत्समुदायस्यैव तत्सम्भवेना-
हुतमात्रे तद्व्यपदेशस्यौपचारिकत्वतौल्यापत्तेः न पीतत्वं पीतपदा-
र्थः । नाप्याहवनीयमुखप्रक्षेपरूपमौपचारिकं पानं लक्षणया
पीतपदार्थः । तथात्वेऽपि हुतस्यैव पीतपदेन व्यपदेशापत्तेः तत्सम्ब-
न्धिनो भक्ष्यमाणस्याहुतस्येन्द्रपीतपदेनोपलक्षणार्थम् । इन्द्रपीत-
पदे धातूपपदप्रत्ययसमुदाये लक्षणापत्तेः । अतोऽत्र पीतपदेन
देवस्वपदालम्बनतया पात्नीवताद्यधिकरणोपपादितो देवतास्वी-
कार एव लक्षणया प्रतिपाद्यते ।

एवं चेन्द्रेण स्वीकृत इत्येवं तृतीयासमासेऽपि “कर्तृकरणे
कृताबहुल”मित्येव लक्षणानुगतो भविष्यति । स्वीकारस्य च ध-
र्मिग्राहकप्रमाणेनावयवावयविसाधारण्येनैव कल्पनात् हुतेशषप्र-
काशने कश्चिदुपचारः ।

लोके च व्यासष्य त्यागेऽपि प्रत्येकमेव सम्प्रदानेन स्वी-

कारदर्शनात् स्वीकारस्य प्रतिदेवताभिष्टानं भेदेन कल्पनोप-
पत्तेः द्वित्यमातृवद्व्यासज्य त्यागेऽर्धस्येन्द्रपीतशब्देन व्यप-
देशोपपत्तिः । चतुर्धाकरणे तु तद्धितेन देवतात्वस्यैवोक्तत्वात्
व्यासज्यवृत्तिदेवताकस्य ग्रहणमिति वैषम्यादपौनरुक्त्यं च ।
सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

सू-एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥३-२-४०॥

(अथ सिद्धान्तः)

नान्यसहितेन्द्रदेवताके मन्त्रः । त्वदुक्तरीत्यैव रसास्वादनरू-
पस्याग्निमुखप्रक्षेपरूपस्य वा पानस्येन्द्रपीतपदेनानभिधानात् ।
स्वीकृतत्वं तु पीतपदेन लक्ष्यत इति यद्यपि शक्यते वक्तुं तथापि
स्वीकारस्य व्यासज्यवृत्तिदेवतास्थळे व्यासक्तदेवतानिरूपि-
तस्यैकस्यैव लाघवेन कल्पनोपपत्तौ तन्नानात्वकल्पने प्रमाणाभा-
वाच्चतुर्धाकरणरूपविभागवदेव नैकेन व्यपदेशोपपत्तिः । अत एव
सूत्रे देवतान्तराद्देवतान्तरनिरूपितस्वीकारादित्येवं व्याख्येयम् ।

यत्तु वार्तिकादौ यथाश्रुतसूत्रस्वारस्यास्याग एव यजमानव्या-
पारः पीतपदेन लक्ष्यत इत्यङ्गीकृत्य सिद्धान्त उपपादितः, स
स्वीकारमनङ्गीकृत्यापि सिद्धान्तशक्यते वक्तुमिति प्रौढिप्रद-
र्शनार्थम् ।

वस्तुतस्तु स्वीकाराङ्गीकरणावश्यकत्वस्यापि पात्रीविताधि-
करणादात्रुपपादनास्यागस्य च हुताहुतसमुदायविषयत्वेना
हुतमात्रविषयत्वाभावादहुतस्य चातृपदप्रत्ययसमुदायात्मकेने-
न्द्रपीतपदेन पुनरपि लक्षणापत्तेः स्वीकारस्य तु धर्मिग्राहकप्रमा-
णेनावयवावयविवृत्तित्वेनैव कल्पनालाघवेन पाघातुना स्वीका-
रमात्रं लक्षयित्वा सिद्धान्त उपपादनीयः ।

धिकरणम्] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ३०३

अमन्त्रकत्वपूर्वपक्षस्य चास्थायित्वेन स्थायिविचारप्रयोजनम्—ऐन्द्राग्नेऽपि सवनविशेषणतया भक्षमन्त्रे प्रयोज्ये तदर्था-
नुसन्धानवेष्टायां पीतपदेन व्यासज्यवृत्तिदेवतानिरूपित एक-
स्वीकारत्वान्न तस्यानुसन्धानं सिद्धान्ते । पूर्वपक्षे भिन्नत्वात्-
द्भवत्येवेति द्रष्टव्यम् । सूत्रं व्याख्यातम् ॥

इति द्वितीयान्तरागर्भिण्यां प्रथममैन्द्राग्नेभक्षे मन्त्रा-
भावाधिकरणम् । (१८)

अथ भक्षमन्त्रस्य गायत्रान्यच्छन्दस्केऽपि
विनियोगाधिकरणम् ॥ (१९)

सू-छन्दश्च देवतावत् ॥३-२-४१॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

भक्षमन्त्र एव 'गायत्रछन्दस' इत्यादि श्रुतम् । तच्च गायत्रं
छन्दो यस्येति व्युत्पत्त्यानन्तरपदोपात्ततत्सोमविशेषणं, न तु
पूर्वपदोपात्तसवनविशेषणम् । सिद्धान्तवदविमृष्टविधेयांशता-
पत्तेरित्यविवादम् । इदं तु विचार्यते—किमेतत्पदसामर्थ्यानुरो-
धेन केवलगायत्रछन्दस्केन्द्रप्रदान एव भक्षमन्त्रः । किं वान्य-
च्छन्दोयुक्तगायत्रछन्दस्केऽपीति । पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । इन्द्र-
पीतपदेनेव केवलगायत्रछन्दस्क एव प्रसक्तस्यापवादादनन्तरा ।

यद्यपि चायं विचारः इन्द्रपीताधिकरणसिद्धान्ते सवनवि-
शेषणत्वे स्थितेऽपि केवलगायत्रछन्दस्कप्रदानवत्प्रातस्सवनस-
म्बन्धिसोमभक्षण एवायं मन्त्र उतान्यसहितेऽपीत्येव शक्यते
कर्तुं तथापि पूर्वाधिकरणपवादात्तयेहापि सङ्गतिसत्त्वान्तरा
कृत्वा चिन्तारूपेणापि विचारे कश्चिद्विरोधः ।

वस्तुतस्तु सवनविशेषणत्वे गायत्रादिपदानां “गायत्रं प्रात-
स्सवनं, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं, जागतं तृतीयसवनमित्याद्यर्थ-
वादान्तरे तत्तत्सवनसामानाधिकरण्यदर्शनेन गौण्या घृत्वा तत्तत्स-
वनप्रतिपादकत्वाद्गायत्रच्छन्दःपदे कर्मधारयेणैव तत्सवनविशेषण-
त्वोपपत्तेर्नोक्तविचारप्रयोजनमस्तीतीहैव सङ्गतिः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पूर्वाधिकरणवदेव गायत्रच्छन्दःपदस्थान्यसापेक्षगाय-
त्रच्छन्दस्कप्रदानविषयत्वे बहुव्रीहिसमासभङ्गभयेन केवलगायत्र-
च्छन्दस्कप्रदानसम्बन्धिसोमपरत्वम् ।

न च ष्योतिष्ठोमे तादृशप्रदानाभावः । तत्र तदभावेऽपि
यत्र बृहस्पतिसवादौ ‘गायत्रमेतदहर्भवती’त्यादिश्रुतेः केवलगा-
यत्रादिच्छन्दस्कता तत्रास्योत्कर्षोपपत्तेः ।

न च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावः । लौकिकसोमे
केवलगायत्रच्छन्दस्कत्वस्य प्रातस्सवनसम्बन्धित्वस्येन्द्रपीतत्वा-
देश्चासम्भवेन तज्यावृत्त्या पारिशेष्यादेव विशेषणसामर्थ्याद्बृह-
स्पतिसवीयसोमप्रतीत्युपपत्तेस्तत्प्रयोजनाभावात् ।

यस्वत्र कौशिकानुवाकसमाख्यया सामान्यसम्बन्ध इत्यु-
क्तम्, तल्लोकेऽपि भक्षसद्भावाद्दुपेक्षितम् । तस्मात् बृहस्पतिस-
वीयैन्द्रप्रदान एवायं मन्त्रः । न प्राकृते । सूत्रं स्पष्टम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

सु-सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥३-२-४२॥ (सि)

(अथ सिद्धान्तः)

उपदेशातिदेशाभ्यां सर्वेष्वेवायं मन्त्रः । प्रकृतावेवायोग-
व्यावृत्तिमात्रप्रकाशनेन निवेशोपपत्तेः ।

THE
CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES,

A
COLLECTION OF RARE & EXTRAORDINARY SANSKRIT WORKS.
Nos. 350, 359, 372, & 397

मीमांसाकौस्तुभः ॥

(मीमांसासूत्रोपरि काचन विस्तृता टीका)

(द्वितीयाध्यायस्य तृतीयचतुर्थौ पादौ, तृतीयाध्यायस्य
प्रथमद्वितीयतृतीयपादाश्च)

पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीण-

श्रीखण्डदेवविरचितः

श्रीकाशीहिन्दूविश्वविद्यालयपूर्वमीमांसाप्रधानाध्यापकेन

वेदविशारदबिरुदभाजा मीमांसाकेसरिणा

पं० अ. चिन्नस्वामिशस्त्रिणा

संशोधितः श्रीजयकृष्णदासगुप्तेन मुद्रापितो विजयताम् ॥



प्रकाशक—

जयकृष्णदास-हरिदासगुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज़-आफिस, विद्याविलास प्रेस,

गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक,

बनारस सिटी ॥

सं० १९८६.

इस कार्यालय द्वारा “काशीसंस्कृतसीरिज” के अलावा और भी ३ सीरिज यथा “चौखम्बा संस्कृत सीरिज” “बनारससंस्कृतसीरिज” “हरिदाससंस्कृतसीरिज” ग्रन्थ-मालायें निकलती हैं तथा इन ४ सीरिजों के पश्चात् और भी विविध शास्त्र की पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा अन्य सब स्थानों के छपे हुए संस्कृत तथा भाषा-भाष्य के ग्रन्थ विक्रयार्थ प्रस्तुत रहते हैं, सूचीपत्र पृथक् मंगवाकर देखें, इसके अलावा हमारे यहां सर्व प्रकार की संस्कृत, हिन्दी, अङ्ग्रेजी की सुन्दर छपाई होती है, परिक्षा प्रार्थनीय है ।

पत्रादि प्रेषणास्थानम्—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

“चौखम्बा संस्कृतसीरिज” आफिस, विद्याविलास प्रेस,
गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक, बनारस सिटी ।

॥ श्रीः ॥
मीमांसाकौस्तुभस्य द्वितीयसम्पुटस्य-
विषयसूची ॥

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः—

| | |
|------------------------------------|-----|
| अधिकरणनामानि | पृ० |
| १ रथन्तराधिकरणम् | १ |
| २ अवेष्ट्यधिकरणम् | १४ |
| ३ आधानाधिकरणम् | २५ |
| ४ दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् | ३५ |
| ५ ईषालम्भाधिकरणम् | ४५ |
| ६ वत्सालम्भाधिकरणम् | ४९ |
| ७ चरूपधानाधिकरणम् | ५२ |
| ८ पात्नीवताधिकरणम् | ५५ |
| ९ अंश्वदाभ्याधिकरणम् | ५९ |
| १० चयनाधिकरणम् | ६४ |
| ११ प्रकरणान्तराधिकरणम् | ७५ |
| १२ फलसंस्कार्याधिकरणम् | ८९ |
| १३ प्रकरणान्तरप्रत्युदाहरणाधिकरणम् | ९१ |
| १४ आग्नेयस्तुत्यर्थताधिकरणम् | ९६ |

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः—

| | |
|--------------------|-----|
| १ यावज्जीवाधिकरणम् | ९९ |
| २ शाखान्तराधिकरणम् | ११२ |

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः—

| | |
|--|-----|
| १ शेषलक्षणप्रतिज्ञाधिकरणम् | १३३ |
| २ शेषलक्षणाधिकरणम् | १३४ |
| ३ शेषलक्ष्याधिकरणम् (बादर्यधिकरणम्) | १३८ |
| ४ तेषामर्थाधिकरणम् (श्रुतिविनियोगाधिकरणम्) | १४१ |
| ५ स्फ्याधिकरणम् | १५३ |
| ६ अरुणाधिकरणम् | १५५ |
| ७ ग्रहैकत्वाधिकरणम् | १६९ |
| ८ चमसाधिकरणम् | १७६ |
| ९ आनर्थक्यतद्ग्राधिकरणम् | १८७ |
| १० अभिक्रमणाधिकरणम् | १९१ |
| ११ उपवीताधिकरणम् | १९७ |

| | |
|---|-----|
| | पृ० |
| १२ वारणादीनां सर्वयज्ञार्थत्वाधिकरणम् | २०५ |
| १३ वार्त्र्ण्यधिकरणम् | २१० |
| १४ हस्तावनेजनादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्गताधिकरणम् | २१३ |
| १५ आग्नेयचतुर्धाकरणाधिकरणम् | २१६ |

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः—

| | |
|---|-----|
| १ लिङ्गाधिकरणम् (लिङ्गविनियोगाधिकरणम्) | २२३ |
| २ ऐन्द्रयधिकरणम् | २२९ |
| ३ हविष्कृदाह्वानाधिकरणम् | २३४ |
| ४ वाग्विसर्गाधिकरणम् | २३८ |
| ५ सूक्तवाकाधिकरणम् | २४१ |
| ६ सूक्तवाकस्य विभज्य विनियोगाधिकरणम् | २४७ |
| ७ लिङ्गक्रमसमाख्याधिकरणम् | २५४ |
| ८ आग्नेय्यधिकरणम् | २६० |
| ९ भक्षाधिकरणम् | २६८ |
| १० गुणामिधानाधिकरणम् | २७४ |
| ११ इन्द्रपीताधिकरणम् | २७६ |
| १२ अभ्युन्नीताधिकरणम् | २८२ |
| १३ पात्नीवते द्विदैवत्यदेवतोपलक्षणाधिकरणम् | २८७ |
| १४ पात्नीवते त्वष्टुरदेवतात्वाधिकरणम् | २९० |
| १५ त्रिंशदधिकरणम् | २९३ |
| १६ अनुवषट्कारदेवतानुपलक्षणाधिकरणम् | २९५ |
| १७ अनेन्द्राग्नभक्षणे मन्त्राभावाधिकरणम् | २९८ |
| १८ ऐन्द्राग्नभक्षणे मन्त्राभावाधिकरणम् | ३०० |
| १९ भक्षणमन्त्रस्य गायत्रान्यछन्दस्केऽपि विनियोगाधिकरणम् | ३०३ |

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः—

| | |
|--|-----|
| १ उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम् (उपक्रमाधिकरणम्) | ३०९ |
| २ गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणम् | ३१९ |
| ४ प्रकरणाधिकरणम् | ३२९ |
| ५ क्रमाधिकरणम् | ३३६ |
| ६ समाख्याधिकरणम् | ३४४ |
| ७ बलाबलाधिकरणम् | ३४७ |

छन्दस्केऽपिविनियोगः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ३०५

न चैवं छन्दोऽन्तराणामपि सत्त्वेन तत्सापेक्षत्वात्समासानु-
पपत्तिः । प्रकृतौ केवलगायत्रच्छन्दस्कप्रदानाभावेन निससापेक्ष-
त्वात्समासोपपत्तेः ।

न च प्रकृतौ तदभावेऽपि बृहस्पतिसवे तत्सत्त्वान्न निस-
सापेक्षता । (१)यस्तस्तम्भे“त्यादिछन्दोऽन्तराणां सूक्तमुखीये
विनियोगेन तदभावात् ।

न च सोमसाध्यप्रदाने गायत्रच्छन्दस्कत्वस्य साक्षात्सम्ब-
न्धेन सम्भवे स्तोत्रादिद्वारकपरम्परासम्बन्धेनान्याय्यत्वात्
बृहस्पतिसवे च सत्यपि परम्परासम्बन्धेन छन्दोऽन्तरे साक्षात्प्र-
दाने तदभावात्केवलगायत्रच्छन्दस्कत्वसत्त्वेनोत्कर्षोपपत्तिः ।
गायत्रं छन्दो यस्येति बहुव्रीहिणा साक्षात्परम्परासम्बन्धसाधा-
रण्येन गायत्रच्छन्दस्कत्वाभिधानात् प्रकृतौ च प्रकरणाख्य-
तात्पर्यग्राहकसत्त्वेन परम्परासम्बन्धेनापि निवेशोपपत्तावुत्कर्ष-
कल्पनानुपपत्तेः ।

न चावश्यं परम्परासम्बन्धेन ग्रहणेऽपि सापेक्षता । सत्य-
पि स्तोत्रादौ छन्दोऽन्तरे सर्वच्छन्दसां व्यासज्यसाधनत्वाभावेन
स्वस्वावान्तरकार्ये निरपेक्षत्वात् । अतो युक्तः प्राकृत एवैन्द्र-
प्रदाने लिङ्गाद्विनियोगः । इदं च तदीययाज्यायां गायत्रच्छन्द-
स्कता नास्तीति कृत्वा चिन्तयोक्तम् ।

यदा तु प्रातःसवनस्येन्द्रप्रदान एव ज्योतिष्टोमे गायत्र-
च्छन्दस्कयाज्याम्नानं प्रसिद्धं तदोत्कर्षपूर्वपक्षासम्भवाच्चैवेदम-
धिकरणम् ।

अथवा गायत्रच्छन्दःपदं सवनविशेषणमेवाङ्गीकृत्यापवा-
दलिप्सया चान्तरैव किं केवलमेव यस्मिन्सवने गायत्रं

१. यस्तस्तम्भ सहसा विज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो
रवेण । तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥
(ऋ. सं. ४-५-६-१.) इति त्रिष्टुप्छन्दस्कानां ऋचामाप्तानादित्यर्थः ।

छन्दः तत्रायं मन्त्रः ? उतान्यसहितच्छन्दस्केऽपीति सन्दिह्य
समासबलान्मान्त्रवर्णिकतादृशकर्मान्तरविधिकल्पनयापि केवल-
गायत्रच्छन्दस्कप्रातस्सवन एवायं मन्त्र इति पूर्वपक्षिते समा-
सस्य पूर्वोक्तरीत्यैवोपपत्तौ विध्यन्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्य-
सहितगायत्रच्छन्दस्केऽपीति सिद्धान्तः कार्यः । तदा चेन्द्रपी-
तपदमपि वस्तुतस्सवनविशेषणत्वादुदाहरणम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥

वृत्तमधिकरणम् ॥

(अथेन्द्रपीताधिकरणसिद्धान्तः)

सू०—सर्वेषां त्वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वा-
त्सवनाधिकारो हि ॥ ३-२-४३ ॥

इदानीमिन्द्रपीताधिकरणसिद्धान्तोऽभिधीयते—एन्द्रानैन्द्र-
प्रदानसाधारण्येन सर्वेषामुपदेशेनैव मन्त्रः । इन्द्रपीतपदस्य
बहुव्रीह्यङ्गीकारेण सवनविशेषणत्वात् ।

तथाहि—यद्यपि तत्पुरुषो लक्षणाद्वयापादकबहुव्रीह्यपेक्षया
लघुभूतः तथापीह तत्पुरुषोऽपि लक्षणाद्वयापादकत्वादविशिष्टः ।
तत्पुरुषे हि पूर्वपदे तावदेका लक्षणेत्यविवादम् । अपरा च
पीतपदे मुख्यपानासम्भवात् सक्तत्वलक्षणा ।

यद्यपि चेयं बहुव्रीहावपितुल्या, तथापि तन्मते त्यागविषय-
स्य हुताहुतसमुदायस्यैव पीतपदेनोक्तत्वादिन्द्राय त्यक्तस्समुदायो
यस्मिन् सवने तस्य प्रातस्सवनस्य सम्बन्धी यः पात्रस्थो यत्कि-
ञ्चिद्देवत्यस्सोमस्तस्यावयवं भक्षयामीत्येवमर्थो नानुपपन्नः । तत्पु-
रुषे तु ते इत्यादि पुरोवर्तिनिर्देशस्य पात्रस्थसोमविषयत्वात्तद्वि-
शेषणीभूतेनेन्द्रपीतपदेन सक्तसमुदायावयवस्य हुतावशिष्टस्य पुन-
रपि लक्षणापत्तिः । यद्यपि(१) ‘चैन्द्राग्ने तु लिङ्गभावादि’त्यधिक-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ३०७

रणोक्तरीत्या स्वीकार एव पाधातुना लक्ष्यते, तस्य चावय-
वावयविसाधारणत्वात् भक्ष्यमाणावयवनिष्ठस्यैव स्वीकारस्य पा-
धातुना लक्षणात्तत्पुरुषेऽपि नोक्तदोषापत्तिः, तथाप्यवयवगतस्य
स्वीकारस्यावयवस्वीकारोपास्थितिसापेक्षत्वेन विलम्बोपास्थिति-
कत्वाच्च बहुव्रीहितुल्यत्वमस्यैव ।

न चैवमपि बहुव्रीहिनियामकाभावः । प्रकरणविशेषस्यैवं
तत्त्वात् गायत्रच्छन्दआदिपदेन गायत्रं प्रातस्सवनमित्यादितात्प-
र्यग्राहकानुगृहीतसवनैकविशेषणत्वेन प्रायपाठाच्च ।

एतेन प्रातस्सवनादिपदसामानाधिकरण्येऽपि प्रातस्सूयत
इति व्युत्पत्त्या प्रातस्सवनादिपदस्यैव सोमविशेषणत्वमित्यपा-
स्तम् । उभयोपपत्तौ प्रकरणविशेषस्यैव नियामकत्वात्, प्रातस्सव-
नादिपदानां तु रूढ्या यज्ञभागवचनत्वेनावयवव्युत्पत्तिकल्पनायो-
गाच्च । न चैवमपि बहुव्रीहेस्समानाधिकरणत्वाभावादननुशिष्टत्वम्
“सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहा”विति ज्ञापकस्य विभक्तिमात्रे बहुव्री-
हिद्योतकत्वेनेन्द्रेण यस्मिन्सवने स्वीकृत इत्येवं व्यधिकरणबहुव्री-
हेरप्यनुशिष्टत्वात् ।

वस्तुतस्तु विभक्तिमात्रे द्योतकत्वे ‘समानाधिकरणानां
बहुव्रीहिरिष्यत’ इति कात्यायनवचनस्य निर्विषयत्वापत्तेः सप्तमी-
विषय एव तस्य द्योतकता । प्रकृते त्वर्शआद्यचप्रत्ययं मत्वर्थीयं भा-
वव्युत्पन्नं पीतशब्दोपरि कृत्वा “पीतप्रातिबद्धवत्सा”मित्यादिवत् पी-
तमस्पास्तीति पीतः इन्द्रः पीतो यस्मिन्सवन इति व्युत्पत्त्या समा-
नाधिकरण एव बहुव्रीहिरिति न कश्चिद्दोषः । ततश्च वसुमद्गणस्य
गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्येत्यादित्रिकत्रयं क्रमेण प्रातस्सवनादिवि-
शेषणम्, तच्च सोमस्य, स चावयवद्वारा भक्षणस्य,—उक्तविशेषण-
युक्तस्य सवनस्य सम्बन्धी यस्सोमस्तस्यावयवं भक्षयामीति । ततश्च

युक्तस्सर्वेष्वेवानैन्द्रेष्वैन्द्रेषु चाविकारेणैव भक्षमन्त्रः ।

अस्मिंश्च पक्षे वसुमहणादित्रिकत्रयस्य प्रातस्सवनादित्रये क्रमेणान्वयात्सूक्तवाकत्रद्विभज्य विनियोगोऽपि सिद्धो भवति ॥ प्रयोजनं तत्तत्पक्षोपपादनेनैव स्फुटम् ॥

सूत्रं सर्वेषां त्वैकमन्त्र्यं, यतोऽयं सवनाधिकारः तत्र हेतुः पानस्य भाक्तत्वादिति व्याख्येयम् ॥

यदि तु पीतशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तिरस्मिन्पक्षे विभाव्यते तदास्तिवन्द्रेण पीतमस्मिन्निति बहुव्रीहिः । तत्रापि तु निष्ठान्तत्वेन पूर्वनिपातशङ्कायां तु तत्पुरुष एवायं लक्षणया सवनपरः । सोम-परस्वे तैत्तिरीयशाखायामिन्द्रपीतपदस्य प्रातस्सवनादिभेदेन पृथ-क् पाठवैयर्थ्यापत्तेः । लिङ्गादेवेन्द्रप्रदाने प्रातस्सवनादिपदानां विभागोपपत्तेः । अतस्तस्य लक्षणया सवनपरत्वाद्युक्तमेव सर्वत्रै-कमन्त्र्यम् । विभागोऽपि च तैत्तिरीयशाखाक्रमेणैव बोध्यः । याज्ञिकास्तुहमेवामनन्ति ॥

(इतीन्द्रपीताधिकरणम्)

मीमांसाम्बुनिधिं प्रमथ्य सुदृढैर्न्यायोच्चयैर्निर्जरैः
कृत्वा जैमिनिमूत्रमन्दरममुं वेदं तथा वासुकिम् ।
यद्दालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः
श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥

श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।

मीमांसाकौस्तुभाख्या शेषाध्याये द्वितीयाङ्घ्रिः ।

इति श्रीरुद्रदेवसूनुखण्डदेवकृतौ मीमांसा-
कौस्तुभे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

श्रीः ।

मीमांसाकौस्तुभे

तृतीयाध्यायस्म तृतीयः पादः ॥

प्रथमं उच्चैस्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम् । (१)

(उपक्रमाधिकरणम्)

सू-श्रुतेर्जाताधिकारस्स्यात् ॥३-३-१॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

ज्योतिष्टोमे—(१)प्रजापतिरकामयत प्रजासृजेयेति स तपो-
ऽतप्यत, तस्मात्तेपानात्त्रयो देवा अजायन्ताग्निर्वायुरादित्यः, ते
तपोऽतप्यन्त, तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्ताग्नेऋग्वेदः,
वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात्सामवेद” इत्युपक्रम्य “उच्चैर्ऋचा क्रियते,
उपांशु यजुषा, उच्चैस्साम्ना, उच्चैर्निगदेनेति श्रुतम् । तत्र किमृचा
ऋङ्मन्त्रेण यत् क्रियते तदुच्चैरित्यर्थाङ्गीकारादुच्चैश्चादिकमर्थप्रका-
शनादिरूपऋगादिमन्त्रकार्याङ्गत्वेन विनियुज्यते ? किं वा
ऋचा ऋग्वेदेनेत्यर्थाङ्गीकारात्तद्वेदाविहितकर्माङ्गत्वेनेति वि-
चार्यते ।

(सङ्गतिः)

अत्र च लिङ्गकल्पकप्रमाणगम्यविनियोगोपयोगिचिन्तनं
पादार्थः । तानि च नात्रप्रकरणस्थानसमाख्यारूपाणि । न तु
श्रुतिलिङ्गे अपि । यथा चैतत्तथा बलाबलाधिकरणे वक्ष्यते ।

(वाक्यलक्षणम्)

तत्र वाक्यं नामाङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यत्वकृतिकारकत्वान्यतरपदार्थकल्पनानुकूलः श्रुतपदसन्निधिः । यथा 'धेनुर्दक्षिणा' 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयती'त्यादौ । अस्ति ह्यत्राङ्गत्वघटकीभूतकर्मत्वकरणत्वादिरूपपदार्थकल्पनानुकूलत्वं श्रुतपदसंनिधेः । कल्पनाशब्देन च संसर्गविधालक्षणासाधारण्येन शाक्तिजन्यपदार्थोपस्थितिभिन्नबोधमात्रं विवक्षितम् । तेन न श्रुतावतिव्याप्तिः । नापि संसर्गविधया भासमानकरणताके 'धेनुर्दक्षिणे'त्यादावव्याप्तिः । 'प्रयाजशेषेणे'त्यादौ तु तृतीययैव कर्मत्वस्य धातुना च करणत्वस्य लक्षणात् कल्पना स्फुटैव । श्रुतपदसंनिधेश्च योग्यताज्ञानं विना कर्मत्वादिकल्पकत्वानुपपत्तेः योग्यतारूपलिङ्गानुमापकत्वम् । श्रुतस्यैव पदस्य कर्मत्वादिलक्षकत्वाङ्गीकारेण कर्मत्वादिवाचकपदरूपश्रुतिकल्पकत्वाभावेऽपि च श्रुतस्य पदस्य तत्तात्पर्यकत्वरूपधर्मवैशिष्ट्यरूपेण कल्पनाच्छ्रुतिकल्पकत्वोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु एतादृशश्रुतिकल्पनस्य संसर्गविधया भासमानकरणत्वस्थले वक्तुमशक्यत्वाच्छ्रुतितो दौर्बल्यानापत्तेः धेनुदक्षिणापदयोश्च सुबन्तयोः परस्परान्वयस्याव्युत्पन्नत्वादावश्यकभावनान्वयस्य च प्रथमान्तयोर्धेनुदक्षिणापदयोरसंभवादवश्यं धेनुप्रातिपदिकोत्तरप्रथमया करणत्वं, दक्षिणापदेन च तत्कार्यवृत्तिकर्मत्वं लक्षयित्वान्वयस्य वाच्यत्वाल्लक्षणे कल्पनाशब्देन लक्षणाजन्योपस्थितिरेवाभिप्रेता । 'उच्चै'रित्यादौ निपातादिस्थलेऽपि लुप्तविभक्त्यर्थस्य प्रातिपदिकेनैव लक्षणान्नाव्याप्तिः ।

प्रकरणादिस्वरूपं तु तत्र तत्र निरूपयिष्यते । तदिह लिङ्गकल्पकं वाक्यमुच्चैष्ट्वादीनां विनियोजकम् ।

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३११

यद्यपि च तत्पूर्वपक्षे सिद्धान्ते च तुल्यं तथापि तद्गम्यवि-
नियो गोपयोग्योद्देश्यतावच्छेदकविचारणात्पादाध्यायसङ्गतिः ।

अत एव पक्षद्वयेऽपि 'ऋचा क्रियते' इत्यस्यैवोद्देश्यसमर्पकता ।
न तु सिद्धान्तेऽपि वेदशब्दस्य । सा तु किं ऋगादिपदवाच्यऋगादि-
मन्त्राणामेवोद्देश्यघटकत्वेन ? उत ऋक्पदलक्ष्यवेदस्योद्देश्यवाचक-
त्वेनेत्येतावत्संदिग्धम् । अनन्तरा तु श्रुतिमात्रकल्पकप्रमाणगम्य-
विनियोगे विचारिते ऽधुनोभयकल्पकप्रमाणगम्याविनियोगविचा-
रावसरात् स्पष्टा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र विधेयाया उच्चैष्ट्यादिभावनायास्संनिहितानन्यपरे उद्दे-
श्य(१)समर्पके संभवति न तावदर्थवादस्थमेव वेदपदमुद्देश्य-
समर्पकमिति वक्तुं शक्यम् ।

अथ तस्य तत्प्रतिपादकत्वासंभवेऽपि लक्षणातात्पर्यग्राह-
कत्वाङ्गीकारादृगादिपदमेव वेदलक्षणयोद्देश्यघटकसमर्पकमित्यु-
च्यते, ततः श्रौतार्थस्यैव ऋगादेरुद्देश्यघटकत्वोपपत्तेर्न तावत्तद-
नुपपत्तिर्लक्षणावीजम् । नाप्यार्थवादिकवेदपदसमभिव्याहारानुप-
पत्तिः । ऋच्यपि वेदत्वस्य पर्याप्तत्वेन व्याप्यधर्मावच्छिन्नसम्ब-
न्धिनोऽपि विधेयस्य व्यापकधर्मवत्सम्बन्धित्वेन स्तुत्युपपत्तेः ।
नहि वेदत्वं मन्त्रब्राह्मणात्मके ग्रन्थे पर्याप्तं, द्वित्रिवाक्याध्यायिनि
शूद्रे वेदाध्ययनप्रयुक्तदोषानापत्तिप्रसङ्गात् । अस्तु वा तत्तथा,
तथाप्यवयवसम्बन्धिनोऽपि विधेयस्य परम्परयाऽवयविसम्बन्ध-
स्यापि सत्त्वादपां स्तुत्या वेतसावकास्तुतिवद्वेदपदेन स्तुत्युप-
पत्तिः । अस्तु वा वेदपदऋगादिपदयोः परस्परविरुद्धार्थकत्वं
तथापि न वेदपदानुरोधेन ऋगादिपदे लक्षणा । अपि तु तदनु-

रोधेन वेदपद एव वेदैकदेशस्य, अर्थवादस्य स्वभावात् एव लक्षणाभाजनतया तत्रैव लक्षणौचित्यात् ।

न चार्थवादगतस्याप्युपक्रमस्थत्वेनासञ्जातविरोधित्वात्प्राबल्यमिति वाच्यम् । असञ्जातविरोधित्वं ह्युद्देश्यप्रतिपादकत्वे नियामकमुच्यते ? ऋकपदलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वे वा ? नाद्यः; वेदपदमात्रश्रवणेन विधेयाञ्चैष्ट्यादिभावनापदश्रवणं विना तत्प्रतियोगिकोद्देश्यत्वनिर्णयायोगात्तदुपस्थितिवेलायां विरोधिनोऽपि ऋगादिपदस्योपस्थितत्वेन निर्णयवेलायामसञ्जातविरोधित्वाभावात् । अत एव विधेयोपस्थितिवेलायामेवोपस्थितस्य ऋगादिपदवाच्यस्यैवार्थस्योद्देश्यघटकत्वोपपत्तौ तस्य लक्षणातात्पर्यग्राहकत्वमिति द्वितीयस्त्वनाशङ्का एव ।

अत एव यत्र प्रथमोपस्थितिजन्यनिर्णयोत्तरमेवोत्तरोपस्थितिस्तत्रैव प्रथमस्यासञ्जातविरोधित्वात्प्राबल्यमिति (१) “मुख्यं वा पूर्वचोदना”दित्यत्रैव वक्ष्यते, नत्वत्र । अस्तु वा तत्, तथापि नेहोपक्रमस्य प्राबल्यम्, परत्वेनापच्छेदन्यायेनोपसंहारस्यैव प्राबल्योपपत्तेः ।

न च तद्वदिहार्थवादसापेक्षत्वेन पूर्वानिरपेक्षत्वाभावात्तन्न्यायाप्रवृत्तिः । विधेः स्तुत्यंशे तदपेक्षायामपि वाच्यार्थपरत्वांशे तदपेक्षाभावात् । अतश्च यथैव ‘नेदं रजतं’ ‘न कलञ्जं भक्षये’दित्यादौ निषेध्यप्राप्त्यर्थं भ्रमरागाद्यपेक्षत्वेऽपि तद्गतप्रामाण्याद्यनपेक्षत्वात्परस्यैव प्राबल्यं तद्वदिहापीति न कश्चिद्विरोधः ।

मास्तु वेहाप्यपच्छेदन्यायप्रवृत्तिः, तथाप्युपसंहारस्य विध्यन्तर्गतत्वाद्विधेश्चार्थवादापेक्षया प्राधान्यात्प्राबल्योपपत्तिः । नहि प्रधानमप्युपसंहारस्थं दुर्बलम्, अङ्गगुणविरोधन्यायस्य

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३१३

‘मुख्यं वा पूर्वचादेना’दिति न्यायापवादकत्वात् । अन्यथा “य इष्ट्या पशुना सोमेने” तत्रोपसंहारस्थस्यापि सोमयागस्य प्रधानत्वात्पूर्वानुग्रहो वक्ष्यमाणो विरुध्येत । अतश्च सत्यपि विरोधे नोपक्रमस्य प्राबल्यम् ।

वस्तुतस्तु नेह विरोधोऽपि । वेदत्वस्य प्रत्येकवृत्तितया ऋच्यप्यविरोधात् । अत एव यत्राश्वप्रतिग्रहेष्ट्यादौ विरोधः तत्रोपक्रमानुसारेण दातृविषयत्वमिष्टमेव । तस्माद्दृगादिकार्योद्देशेनैव ऋगादिवृत्तितयोच्चेष्टादिविधिः ।

सूत्रं तु ऋगादिशब्दस्य श्रुतिवृत्तत्वलाभाय ऋगादिजातस्यैवोद्देश्यत्वेनाधिकारस्स्यादिति व्याख्येयम् ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

सू-वेदो वा प्रायदर्शनात् ३-३-२ ॥ (सि)

(अथ सिद्धान्तः)

नात्र ऋगादिकार्यस्योद्देश्यत्वम्, अपि तृग्वेदादिविहितस्यैव, उपक्रमस्थवेदपदविरोधापत्तेः ।

तथाहि-न तावद्देदत्वं प्रत्येकवृत्ति, वाक्यमात्राध्ययने वेदाध्ययनप्रसिद्ध्यभावात् । न हि द्वित्रिवाक्याध्ययनेन वेदपारायणादिविध्यर्थमनुष्ठितं मन्यन्ते ।

यत्तु द्वित्रिवाक्य(१)श्रवणे शूद्रस्य दोषानापत्तिरिति । तत्रोच्यते—सर्वत्र विधिवाक्ये ‘कूष्माण्डं दद्या’दित्यादौ जातेस्तदवच्छिन्नावयविव्यक्तेश्च साधनत्वं तदाक्षिप्तं च जात्यनवच्छिन्नानामप्यवयवानाम् । अवयवावयविसाधनत्वयोश्चैकपदोपादानादुपादेयस्थले साहित्यस्य विवक्षितत्वान्नावयवोपादानमात्रेण

१ वाक्याध्ययने ।

शास्त्रार्थनिष्पत्तिः । अत एव साहित्यरूपाङ्गासम्भवे नित्यादौ तन्मात्रोपादानमिष्टमेव । 'कूशमाण्डं न भक्षये'दित्यदिनिषेधस्थले त्वनुवाद्यगतत्वेन साहित्यस्य विवक्षितत्वादवयवभक्षणेऽपि प्रत्यवायः ।

अतश्चेह शूद्रस्य द्वित्रिवाक्याध्ययनेऽपि दोषः, पारायणादौ तु समस्तग्रहणमिति सिद्धं भवति । 'अहरहस्स्वाध्यायमधीयीते'त्यादौ तु प्रत्यहं सर्वस्वाध्यायपाठासम्भवादेकदेशग्रहणमिति विशेषः । तेन मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मके ग्रन्थे पर्याप्तत्वाद्वेदत्वस्य ऋक्त्वादिनोपसंहारानुपपत्तेः विरोधे सत्युपक्रमस्थत्वाद्वेदत्वस्यैवोद्देश्यघटकत्वम् ।

तथाहि-वेदशब्दस्तावदर्थत्वादास्थितोऽपि प्रथमोपस्थितत्वात्स्वार्थस्य स्तुतिविषयत्वं बोधयन्नविधेयस्य स्तुत्यभागाद्विधेयतामेवाक्षिपति । विधियोग्यविधेयान्तरलाभे तु तदपेक्षितोद्देश्यतां तद्भक्ततां वा । अतश्च तादृशोच्चैष्ट्यादिरूपविधेयलाभाद्वेदपदार्थ उद्देश्यघटकतां प्रतिपद्यते । ततश्च तस्यासञ्जातविरोधित्वात् पश्चादुपनिपतदगादिपदं न स्वार्थस्योद्देश्यघटकतां बोधयितुमलम् ।

अतश्च यथैव "यो होता सोऽध्वर्यु"रित्यत्रोपसंहारस्थमध्वर्युपदमेव कार्यलक्षणां भजते तथेहाप्युपसंहारस्थमृगादिपदमेव तदनुरोधेन वेदलक्षकम् । अत एव विधेरुद्देश्यघटकापेक्षायां प्रथमोपस्थितार्थत्वादोक्तीतत्रेदरूपोद्देश्यघटकलाभेऽपि तस्य स्तुतिविषयत्वेनान्वितस्योद्देश्यघटकत्वेनान्वयायोगादुपस्थापकपदान्तरापेक्षायां समभिव्याहृतस्य ऋगादिपदस्यैव लक्षणया तदुपस्थापकत्वं न विरुध्यते । अतश्चापेक्षाक्रमेण ऋगादिपदानां प्रमाणान्तरोपस्थितोद्देश्यघटकशब्दबोधजनकत्वस्यैवावधारणात् तैः स्वशक्यार्थस्योद्देश्यघटकत्वाप्रमापणात्तद्विषय-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३१५

उत्पत्तिप्रतिबन्धलक्षणो बाध उपक्रमस्थवेदपदानुरोधेनावग-
म्यते । अत एवाथमप्राप्तबाध इति भण्यते ।

अत एव यत्र परस्यापि सामग्रीसत्त्वे स्वविषयप्रमाजनक-
त्वमप्रतिबद्धं, तत्र तस्यार्थान्तरे पूर्वसाकाङ्क्षत्वेऽपि स्वविषयप्र-
मोत्पत्तेरप्रतिबन्धात्तेनैव पूर्वस्य स्वाविरोधिविषयपरत्वमुपक-
ल्प्य स्वविरोधिविषये मिथ्यात्वबोधनाद्बाधः, यथाऽपच्छेदादि-
स्थले । अत एव स प्राप्तबाध इति भण्यते । नत्वयं प्रकृतेऽस्ति ।
उत्तरस्य पूर्वविरुद्धविषयकप्रमाजनने विध्यपेक्षाभावेन साम-
ग्यभावात् । अतोऽत्रोपक्रमस्यैव प्राबल्यम् ।

ननु सत्यमुपक्रमापेक्षया तत्प्रतिबद्धात्मलाभस्योपसंहारस्य
दौर्बल्यम् । प्रतिबन्ध एव त्विहोपक्रमस्थेनाप्यर्थवादत्वादङ्गभूतेन
प्रधानभूतस्य विधेरशक्यसम्पादः । अत एव यत्र नाङ्गप्रधा-
भावस्तत्रैकैवाक्यत्वादाविति परस्य प्रथमोपस्थितापेक्षया दौर्ब-
ल्यम्, यथा 'यो होता सोऽध्वर्यु'रित्पादौ । प्रकृते तु यथैव
'य इच्छे'त्यादानुपसंहारस्थस्यापि प्रधानभूतस्य सोमस्य धर्मा-
नुग्रहस्तथैव विधेरपीति चेत्—

सत्यं प्रधानभूतस्योपसंहारस्थस्यापि प्राबल्यं, न त्विह
तथा, प्रधानभूतस्यो'च्चैः क्रियत' इत्यस्य विधेर्विरोधाभावात् ।
विरुद्धस्य च ऋगादिपदस्य न विध्यन्तर्भावः । उद्देश्यघ-
टकत्वाप्रमापणात् । अतो नायमङ्गगुणविरोधन्यायस्य विषयः ।

अत एव यत्रोत्तरस्यापि पूर्वाविरोधेन कार्यान्तरपरत्वासं-
भवः तत्र परस्यापि शक्यार्थपरत्वात्तस्य च प्राधान्यादङ्ग-
गुणविरोधन्यायापवादक उपक्रमन्यायस्य, यथा 'य इच्छे'त्यादौ ।

वस्तुतस्तु न तत्रोपक्रमन्यायोऽपि । यजेतेति प्रत्ययाभिहि-
तसर्वभावनोद्देशेन विविदिषावाक्यवद्वाशब्दार्थविशेषकालविधेः

(१)पकरणान्तराधिकरणे व्युत्पादितत्वेनेष्ट्यादिपदानामनुवाद-
मात्रतया तदभावात् ।

एतेन यत्कौश्चिदेतस्याङ्गुणविरोधन्यायोदाहरणत्वसिद्ध्य-
र्थमिष्ट्यादिवाक्ये वाक्यत्रयमेवाङ्गीकृत्योपक्रमन्यायाभाव इत्युक्तं
तदपास्तम् । अस्मदुक्तरीसैकवाक्यत्वोपपत्तौ तदङ्गीकारे प्रमाणाभा-
वात् । यदपि च तद्ग्रन्थादेकवाक्यत्वे सत्युपक्रमन्यायस्यैव प्राबल्यं
तदभावे एव त्वङ्गुणविरोधन्यायस्येति प्रतीयते तत् “चतुरो
मुष्टीन्निर्वपती”त्यादावेकवाक्यत्वेऽपि मुष्टीनां प्राधान्यात्सप्तदश-
शरावे चरावनुग्रह इत्येवं पूर्वपक्षकरणं सिद्धान्ते चोभयोः क्रि-
यान्वयित्वात्प्राधान्याभावोपपादनं दुर्घटं स्यादित्येवमुपेक्षितम् ।
तस्मात्सत्यप्यङ्गुणविरोधन्यायस्योपक्रमन्यायापवादकत्वे प्राधा-
न्यापहवेनैव प्रकृतसिद्धान्तोपपादनं द्रष्टव्यम् । तत्सिद्धमृगवेदादि-
विहितकर्मोद्देशेन तदीयमन्त्रवृत्तित्वसम्बन्धेनोच्चैष्ट्यादिविधिरिति ।

सूत्रं तु वेदो बोद्देश्यताघटकः प्राये वाक्योपक्रमे वेदश-
ब्ददर्शनादिति व्याख्येयम् ॥

सू-लिङ्गाच्च ॥ ९-३-३ ॥

“ऋग्भिः प्रातर्दिवि देवे ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अहः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः” इत्यत्र
द्वितीयतृतीयपादस्थयोर्वेदशब्दयोरुपसंहारस्थत्वेऽप्यनेकत्वात्तद-
नुरोधेनोपक्रमस्थस्याप्येकस्य ऋक्पदस्यैव लक्षणया वेदपरत्वं,
चतुर्थपादे वेदैरिति बहुवचनादप्ययमर्थो निश्चीयते । अतश्च
प्रकृतोदाहरणे सत्यपि लक्षणाविशेषे प्रयुक्तत्वाद्गादिशब्दा एव
वेदपरा न तु वैपरीसम् ॥

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३१७

सू-(१)त्रयीविद्या च तद्विदि ॥ ३-३-४ ॥

लोकेऽपि च वेदत्रयीविदि त्रैविद्यशब्दः प्रयुज्यते । त्रयीश-
ब्दश्च ऋग्यजुस्सामसु प्रसिद्धः । अतश्च त्रयीशब्दस्य वेदत्रये ल-
क्षणात् तत्पर्यायाणामृगादिशब्दानामपि तल्लक्षकत्वमवसीयते ।
अतोऽपि तत्रैव लक्षणा ॥

सू-व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥ ३-३-५ ॥

नन्वेवं यत्रैकमेव कर्म वेदत्रयेऽपि सामानातं तत्र तदङ्गभूते
मन्त्रे तव मते उच्चैष्ट्वादीनां विकल्पापत्तिः । मम तु ऋचां यजु-
र्वेदपाठनिबन्धने व्यतिक्रमेऽपि ऋक्त्वानपायाद्यथाश्रुत्येव स्व-
रानुष्ठानान्न पक्षे बाध इति चेत् ।

सू-(२)न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥ ३-२-६ ॥

न सामानानमात्रेण स्वरप्राप्तिः । ऋवा क्रियत इत्यत्र
कुञ्जा विधानस्यैवोद्देश्यताघटकत्वेनोपादानमित्येवं वक्ष्यमाण-
त्वात् । विधानं च भूयस्त्वादिना एकास्मिन्नेव वेद इति नानेक-
स्वरप्राप्तिः । यत्रापि नान्यन्निर्णायकं तत्रापि कर्मान्तरत्वापत्तेर्न
तदनेकता । अस्तु वा तत्रागत्या विकल्पोऽपि ।

सर्वस्मिन्निवेशेऽपि न साङ्कर्यमिति सूत्रव्याख्या ॥

सू-वेदसंयोगान्न प्रकरणेन(३)बाध्यते ॥ ३-२-७ ॥

नन्वस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणे पाठाद्वेदधर्मत्वपक्षे प्रकरण-

१ एतत्सूत्रात् पूर्वं “धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः”
इति सूत्रमुपलभ्यते भाष्यशास्त्रदीपिकादिषु । परं तु कौस्तुभा-
दर्शेषु सूत्रमिदं अधिकरणान्ते दृश्यते ।

२ सूत्रस्यास्य ‘न सर्वस्मिन्नविशेषात्’ इति पाठोऽन्यत्र दृश्यते ।

३ बाध्यते ।

बाधः प्रसज्येत । ऋगादिधर्मत्वपक्षे हि ऋक्त्वादिधर्माणां प्रत्येक-
वृत्तित्वात् ज्योतिष्टोमप्रकरणेऽपि च ऋक्त्वावच्छिन्नजन्यकार्यस्य
सत्त्वाद्युक्तः प्रकरणानुप्रवेशः । तत्र तु वेदत्वस्य व्यासज्यवृत्ति-
त्वेन प्रकरणस्थवाक्येष्वपर्याप्तत्वात्प्रकरणेनोद्देश्यस्य स्वविषय
उपसंहारानुपपत्तेर्वाक्यप्रमितोद्देश्यवाधेनैव प्रकरणानुग्रहो वाच्यः ।
न चासौ युक्तः । तेन वेदत्वावच्छिन्नविहितकर्मभावोद्देशेन
स्वरविधानात् प्रकरणबाध इति चेत्—

न; वाक्येन प्रकरणबाधस्येष्टत्वात् । न चैवं कस्या-
पि कर्मणो वेदत्वावच्छिन्नविहितत्वाभावात्स्वरविध्यनुपप-
त्तिः । द्वौ घटौ रूपवन्तौ कर्तव्यावित्यादौ रूपकर्तव्यता-
याः प्रत्येकान्वयेऽपि द्वित्वस्य तदितरसंख्यावाच्छिन्नव्या-
वर्तनेनैवोद्देश्यतावच्छेदकत्ववद्वेदत्वस्याप्युपपत्तेः । न ह्यत्र वेदत्व-
मुद्देश्यविशेषणम् । क्रियते इत्युद्देश्यसमर्पकस्य पदस्य साकाङ्क्ष-
त्वेन हविरार्तिवदुद्देश्यतावच्छेदकत्वप्रतीतिः । अत एव ऋचा
ऋग्वेदेन यत्क्रियते विधीयते तत्रोच्चैष्टं कर्तव्यमिति विध्यध्या-
हारोऽपि ध्येयः । श्रूयमाणस्यैव प्रत्ययस्य विपरिणामेन विधि-
त्वकल्पनेत्यन्ये । सर्वथा प्रकरणबाधो न दोषाय ।

सूत्रं वेदसंयोगात्सर्वस्मिन्क्रतौ निवेशः प्राप्तः प्रकरणेन न
बाधितुं शक्य इति तदेव बाध्यत इति यत्र च दोषायेति व्या-
ख्येयम् । बाधेतैति पाठे निवेशमुच्चैष्टादिधर्मः प्रकरणानुरोधेन
बाधेतैति यत्तत्रैति व्याख्येयम् ॥

सू—धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥३—३—८॥

ऋक्धर्मत्वपक्षे साम्नोऽपि 'ऋच्यध्यूढं साम गायती'ति वच-
नेन ऋच्येव मेयत्वात्पुनस्तद्धर्मत्वेनोच्चैष्टविधिरनर्थकः ।

यद्यपि च प्रजापतिहृदयाद्यनृकसामविषयकत्वेन । सार्थक्यं

सिद्धान्तः] : तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३१९

शक्येत तथाप्यल्पविषयत्वं तावत्तदवस्थमेव । वेदधर्मत्वे तु न क-
श्चिदोषः ॥ प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इत्युपक्रमाधिकरणं प्रथमम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणम् ॥ (२)

सू-गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन

वेदसंयोगः ॥ ३-३-९ ॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

आधानं तावद्याजुर्वैदिकमित्यविवादम् । तदङ्गत्वेन च
वारवन्तीयादीनि सामान्याम्नातानि । तेषां च पाठस्सामवेदे नि-
र्विवादः । अयमेवोत्पत्तिविधिश्चन्देनाभिप्रेतः । न त्वन्य आग्ने-
यादिवदुत्पत्तिविधिरस्ति । विनियोगविधिरपि च भाष्यकारमते
तत्रैव । 'य एवं विद्वानग्निमाधत्त' इत्यनूद्याधानं "वारवन्तीयं गाय-
ती"ति विधानात् । प्रयोगविधिस्तु सर्वेषामङ्गानां प्रधानविधिविधे
यत्वाद्याजुर्वैदिक एव । 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यत्र च करोतिन्ना
तृतीयान्तपदसमभिव्याहाराद्द्वेदकरणकव्यापारो विधानारूपो
ऽभिधीयते ।

तत्र किमुत्पत्तिविधानरूपस्य विनियोगविधानरूपस्य वा
व्यापारस्याभिधानात् सामसूचैस्स्वरः ? उत प्रयोगविधानरूप-
व्यापाराभिधानादुपांशुत्वमिति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

उद्देश्यतावच्छेदकघटकविशेषचिन्तनाच्च पादाध्यायसङ्गतिः ।

ऋगादिपदार्थे निरूपिते तदनन्तरभाविकरोतिधात्वर्थनि-
रूपणाच्चानन्तरा । उत्पत्तिविनियोगविधिवेदानिवन्धनस्वरङ्गा-

नस्य प्राथमिकस्य बलवत्त्वापवादाद्वा सा ।

(पूर्वपक्षः ।)

तत्र प्रयोगविधेर्विनियोगोत्पत्तिसापेक्षत्वात्तयोः पूर्वभावि-
त्वेन तन्निबन्धनस्वरस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेनासञ्जातविरोधित्वा-
द्बलवत्त्वं पूर्वाधिकरणन्यायेनैव । अत एव प्रयोगविधेस्तत्सापे-
क्षत्वान्नापच्छेदन्यायोऽपि । त्रयाणामप्येतेषां सामरूपान्गविषयत्वा-
न्नाङ्गगुणविरोधन्यायोऽपि । न हि प्रधानभूत आधानेऽस्माभिरु-
पांशुत्वं बाध्यते, येन स आपाद्येत ।

किञ्चोत्पत्तिविनियोगयोः प्रतिपदार्थं भिन्नत्वात्तन्निबन्धन-
स्वरस्य विशेषविहितत्वमसावकाशत्वं च । अतस्तेनानेकाङ्गप्रधा-
नसाधारणप्रयोगविधिनबन्धनस्वरस्य सामान्यविहितस्यान्यत्र
सावकाशस्य च बाध इति प्राप्ते-

(भाष्यकारीयः सिद्धान्तः)

भाष्यकारेण तावत्प्रयोगविध्याश्रयस्य स्वरस्य बलवत्त्व-
मित्येवं सिद्धान्तितम् । तस्यायमाशयः-स्यादयमुपक्रमप्राव-
ल्यादिन्यायो यद्युत्पत्तिविनियोगकालयोस्स्वरापेक्षा भवेत् ।
तस्य तु कालादिवत्प्रयोगविधिविशेषणत्वेनापेक्षितत्वात्तन्निबन्ध-
नस्यैव स्वरस्य प्राबल्यम् ।

यद्यपि चातद्विशेषणत्वाभावेऽपि तदनन्तरमपेक्ष्यत इत्यु-
च्यते तथापि तदपेक्षादशायां प्रयोगस्यैव वा व्यवधानेन पूर्व-
मुपस्थितत्वात्तन्निबन्धनस्वरस्यैव ग्रहणम् । अतश्च यथैव प्रमाण-
बलाबलस्य पूर्वमुपस्थितत्वेऽपि प्रमेयविरोधसापेक्षत्वात्तदालोच-
नदशायां प्रमेयबलाबलस्यैव पुरस्स्फूर्तिकत्वेन निर्णायकत्वं
एवमिहापि द्रष्टव्यम् । इष्यते चायं न्यायः उत्पत्तिविनियोगयोः
परस्परविरोधे ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३२१

किञ्चोपांशुत्वमङ्गधर्मोऽपि समानप्रमाणकप्रधानवृत्तित्वा-
कत्वात्प्रधानप्रत्यासन्नमिति बलवत् । अतस्तेनानीदृशमुच्चैर्द्धं वा
ध्यते । अयं च न्यायोऽङ्गगुणन्यायाद्भिन्न एवेति न तेनापि
पौनरुक्त्यम् ।

सूत्रं तु मुख्यगुणशब्दाभ्यां समानप्रमाणकप्रधानवृत्तित्वाकं
तद्भिन्नं च विवक्षितत्वाद्वाख्याख्येयम् ।

वार्तिककाराशयस्तु—न प्रयोगविधिवेदनिबन्धनत्वं स्वर-
स्य । प्रयोगविधिर्हि न कचिदपि वेदे पार्थक्येन श्रुतः । अङ्गवाक्या-
न्येव हि प्रधानवाक्यैकवाक्यतामापन्नानि प्रयोगविधिशब्दार्थः ।
अतश्च परिशेषात्तद्वाक्यानां वेदेनैव तस्य वेदविशेषावधारणम् ।
ततश्च यत्राङ्गप्रधानवाक्ययोरेकवेदस्थत्वं तत्र प्रयोगवेदनिबन्धन-
स्वराङ्गीकारेऽप्यविरोधान्नैव कश्चिद्विचारः । यत्रापि नानावेदस्थ-
त्वं तत्रापि प्रयोगविधेः प्रधानांशेऽन्यवेदीयत्वेनान्यस्वरापादक-
त्वाद्भांशे च वेदान्तरीयत्वेनोत्पत्तिविनियोगविध्यनुकूलस्वर-
स्यैवापादान्नैव कश्चिद्विरोध इति न विचारावसरः ।

न चाङ्गस्य प्रयोगविधिवेदनिबन्धनस्वराविषयत्वेऽपि का-
लादिवत्प्रयोगान्वयित्वात्स्वरस्य तस्य चाङ्गप्रधानसाधारणत्वा-
त्प्रधानान्वयिस्वरस्यैव वेदत्रयाविहितानुमितविधिविहितान्त्र-
यवद्वेदान्तरीयाङ्गेऽपि निवेशोपपत्तेः वेदान्तरीयविनियोगविधि-
निबन्धनस्वरबाधोपपत्तिरिति वाच्यम् । प्रधानविधिवेदनिबन्ध-
नस्य स्वरस्य प्रधानमात्रोद्देशेनैव विहितस्याङ्गेषु कल्पनीयत्वात्तेषु
च क्लृप्तस्य वेदान्तरीयाङ्गोत्पत्तिविनियोगप्रयोगविधिवेदनिबन्ध-
नस्वरस्य बाधानुपपत्तेः ।

अत एव ऋग्वेदादित्रयस्य हौत्राध्वर्यवौद्रात्रसमाख्याभि-
हौत्रादिकर्तृप्राप्तेस्तद्वेदविहिते कर्मणि वक्ष्यमाणत्वाज्ज्योति-

ष्टोमाद्यङ्गभूतस्तोत्रादेराधानाङ्गभूतसाम्नां चोद्गातृकर्तृकत्वसिद्धिः ।
अन्यथा भवदुक्तयुक्तिनिचयेन तत्राप्यध्वर्युर्कर्तृकत्वापत्तेः
वल्गुप्रकल्पत्वेनैव च प्रयोगवचनाश्रितस्य चोदकाश्रितपेक्षया
दौर्बल्यमिति श्येने उद्गातृमात्रकर्तृकत्वबाधेन नानाकर्तृकत्वसिद्धिः ।

अत एव यत्र प्रधानसम्बन्धिन एव धर्मस्याङ्गोद्देशेनापि वि-
धानात्तेष्वपि वल्गुप्रतैव । यथा 'अप्स्ववभूथेन चरन्ती'त्यादौ तृती-
यानिर्देशेन साङ्गस्यैव करणत्वावगमेनाङ्गे प्रधानसम्बन्धिन एव
धर्मस्याङ्गोद्देशेनाप्यपां विधानात् तत्र चोदकाश्रितस्याग्नेर्दौ-
र्बल्यमेव ।

प्रकृते तूपांशुत्वस्य प्रधानमात्रोद्देशेन विहितस्याङ्गे कल्प-
नीयत्वात्प्रधानप्रयोगविधेश्च वेदान्तरीययागांशे याजुर्वैदिकत्वा-
भावेन स्वतः उपांशुत्वाप्रापकत्वान्नाधानसाममूपांशुत्वसिद्धिः ।
अपि तु सामोत्पत्तिविनियोगप्रयोगाणां सामवैदिकत्वादुच्चैष्टादि-
सिद्धिरेव स्यादिति । अतोऽन्यथाधिकरणं वर्णितम्—

नाधानसाम्नां सामवेदे विनियोगो वस्तुतस्तस्मिन् ।
कृत्वाचिन्तया विचारस्य तु नैव किञ्चित्फलं पश्यामः ।
अपि तु यजुर्वेदे एव । पाठापरपर्यायोत्पत्तिरेव तु सामवेदे ।
अतश्च प्रधानप्रयोगविधिरेव सामांशे उत्पत्तिविध्यनुसारेण
सामवैदिकस्मन्तुच्चैष्ट्वं विधत्ते उत विनियोगविध्यनुसारेण
याजुर्वैदिकस्मन्तुपांशुत्वमिति सन्देहः ।

अस्मिंश्च पक्षे करोतेः प्रयोगविधिव्यापाराभिधायित्वस्य
निर्णीतत्वात्तदर्थविचारभावेऽपि चापवादिक्येवानन्तरसङ्गतिः ।
पादाध्यायसङ्गतिस्तु पूर्ववदेव ।

तत्रोत्पत्तिविनियोगयोरुभयोरप्येकसाममात्रविषयत्वात्सा-
वकाशनिरवकाशसामान्यविशेषभावन्याययोरिहासम्भवेऽपि भा-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३२३

ष्यकारोक्तरीत्यैवोत्पत्तेः प्राथमिकत्वेनासञ्जातविरोधित्ववदुत्तर-
भाविविनियोगोपजीव्यत्वाच्च तद्विध्यनुसारेणैव प्रयोगविधेर्वेदवि-
शेषीयत्वनिश्चयात्तद्वेदानिबन्धन एव स्वरो बलवानिति प्राप्ते--

(वार्तिककारीयः सिद्धान्तः)

सिद्धान्तितम्-यद्यप्युत्पत्तिः प्राथमिकी तथापि न तदानीं
स्वरापेक्षा । यदा च प्रयोगविकाले सा तदा वित्तियुक्तस्य
प्रयोगेन विनियोगविधिरेव पुरस्फूर्तिकः नोत्पत्तिविधिः । वि-
नियोगविधिना व्यवहितत्वाद्द्विनियोगविधेः फलनिरुवितत्वेनो-
त्पत्तिविध्यपेक्षया प्राधान्याच्च । अतश्च तदनुसारेणैव प्रयोगविधे-
र्वेदविशेषीयत्वनिश्चयात्तद्वेदानिबन्धनस्योपांशुत्वस्वरस्यैव बल-
वत्वम् । सोऽयमप्राप्तबाधः ।

न चैवं तेनैव न्यायेनाध्वर्युकर्तृकत्वापात्तिः । न्यायेन तदा-
पत्तावपि वचनेनैव वैकल्पिकब्रह्मोद्गातृकर्तृकत्वाङ्गीकारात् ।

न चैवं तुल्यन्यायत्वाद्दर्शपूर्णमासाद्यङ्गेष्वपि वेदान्तरोत्प-
त्तिकेषु विनियोगविधिनिबन्धनस्वरापात्तिः । न्यायेन प्राप्तावपि
वचनेन बाधात् ।

तथाहि-दर्शपूर्णमासयोरेव तावदङ्गप्रधानयोस्तत्तद्विनियोग-
विध्यनुसारेण प्रयोगविधित उपांशुत्वादौ प्राप्ते 'मन्द्रमाज्यभा-
गान्तं, परं मध्यमया, उत्तमयानूयाजादीति वचनेन प्राप्तबाधविध-
या भागधर्मस्य स्वरस्य विधानात् मन्द्रादिस्वरः तत्रापि विशेषव-
चनादिना क्वचिदुच्चैश्चादीत्येव ध्येयम् ।

एवं तद्विकृतीनामप्यकाम्यानां प्रधानांशे प्राकृताङ्गांशे त-
त्कार्यापन्नाङ्गांशे च तावत्प्रकृतस्वरस्यैव ग्रहणम् ।

न च तत्रौपदेशिकनानावेदस्वरस्यैव प्राबल्यम् । "उच्चैर्ऋचा
क्रियत" इत्यस्यान्यपरत्वेनाप्युपपत्तौ क्लृप्तोपकारप्राकृतस्वरस्य

श्येने कर्त्रादिवद्भाधानुपपत्तेः । प्राकृताङ्गांशे औपदेशिकत्वस्याप्य-
भावाच्च । अप्राकृताङ्गांशेऽपि च प्राकृतस्यैव स्वरस्य ग्रहणम् ।
प्रकृतौ स्वरस्य भागधर्मत्वेन तद्भागागारम्भकाप्राकृतवृत्तित्वेऽप्यप्रा-
कृतकार्यकारितानापत्तेः । काम्यासु तु “यज्ञाथर्वणं वै काम्या
इष्टयस्ता उपांशु कर्तव्या” इति वचने प्रधानमात्रे उपांशुत्वम् ।
“अप्स्ववभृथेन चरन्ती”तिवत् तृतीयानिर्देशाभावेन साङ्गोऽस्या-
प्रवृत्तेः । एवमस्यापवादकानि विशेषवचनानि द्रष्टव्यानि ।

एवं ज्योतिष्टोमेऽपि तत्तद्विनियोगविध्यनुसारेण नानावेदस्व-
रे प्राप्ते दर्शपूर्णमासप्राकृताङ्गविषये श्येनन्यायेन प्राकृतेन स्वरेण
तस्य बाधः । तत्रापि ‘यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु
चरन्ती’त्यनेनाग्नीषोमीयपशुप्राग्भाविपदार्थाङ्गत्वेन विहितमुपां-
शुत्वं सामान्यविहितं नानावेदस्वरमिव प्राकृतमपि स्वरं बाधते ।
तमपि च “यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रू-
यात्, मन्द्रं प्रायणीयायां, मन्द्रतरमातिथ्यायामुपांशूपसत्स्वि”त्या-
दिनिरवकाशविशेषवचनविहिताः स्वरा दीक्षणीयादिप्रधानमात्रांशे
बाधन्ते, न तु तदङ्गांशेऽपि । ‘यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयस्ता
उपांशु कर्तव्या’ इतिवत्प्रधानमात्रोद्देशेन विहितत्वात् ।

अत एव “उच्चैः प्रवर्ग्येण”त्यनेना “प्स्ववभृथेन चरन्ती”तिव-
त्साङ्ग एवोच्चैष्ट्वाविधानात्साङ्ग एव प्रवर्ग्ये उपांशुत्वबाधकता ।

न चैवमप्यग्नीषोमीयप्राग्भावित्वादेवोपसत्सूपांशुत्वासिद्धे ‘रु-
पांशूपसत्स्वि’ति पृथग्विधिवैयर्थ्यम् । उपसत्पदस्य निरव-
काशविषयातिरिक्तपदार्थमात्रोपलक्षणत्वमङ्गीकृत्यौचित्येन दी-
क्षणीयादिस्वरप्रशंसार्थत्वेनाप्युपपत्तौ भिन्नवाक्यत्वापादकवि-
ध्यन्तरकल्पने प्रमाणाभावात् । अत एव नानेन तस्योपसंहार
इत्यपि ध्येयम् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३२५

अग्नीषोमीयादौ तु दर्शपूर्णमासप्रकृतिके प्राकृतं त्रैस्वर्यमेव । अतत्प्रकृतिके तु नानावेदस्वर एव । तद्विनियोगविध्यनुसारात् । सुत्यायां त्वङ्गप्रधानसाधारण्येन 'मन्द्रं प्रातस्सवने चरन्ती'त्यादिवचनविहितैस्सवनक्रमेण मन्द्रमध्यमोत्तमस्वरैः प्राकृतानां सवनीयादौ स्तोत्रादौ च नानावेदस्वरस्य बाधः ।

न च प्रातस्सवनादिशब्दानामवयवव्युत्पत्त्या सामभागाभ्यासविशेषवाचित्वान्मन्द्रं प्रायणीयायामितिवत् प्रधानमात्र एव निवेशशङ्काः । चरन्तीति प्रयोगवाचिधातुसमभिव्याहारात्प्रातस्सवनादिशब्दस्यापि स्वशक्यघटितप्रयोगैकदेशलक्षकत्वावगतेः प्रायणीयादिवैलक्षण्यात् ।

यत्तु वार्तिके सप्तमीनिर्देशाद्यावांस्तत्तदाधारो मन्त्रस्तत्र सर्वत्रायं स्वर इति प्रतीतेरङ्गप्रधानसाधारण्यं सवनस्वरस्येत्युक्तम्, तत् प्रायणीयादिष्वपि तथाप्रसक्तेर्मन्त्रस्य चाकाशाधारस्य सवनाधारत्वानुपपत्तेरङ्गतासम्बन्धेनैव सप्तम्या व्याख्येयत्वादुपेक्षितम् । सुत्योत्तरकालीनेषु तु दर्शपूर्णमासप्रकृतिकेषु प्राकृतोऽपूर्वेषु नानावेदस्वर इति स्पष्टमेव । एतेन ज्योतिष्टोमविकारा व्याख्याताः ।

यस्वस्यां स्वरचर्चायां वार्तिके प्रकारान्तरेण स्वरानयनं तदस्थायिभाष्यकारमते स्थित्वा तदुपवर्णनाच्च दोषाय । अतश्चान्यत्र स्वरान्तरप्राप्तावप्याधानस्याप्युपांशुत्वमव्याहतमेव । प्रयोजनं स्पष्टम् ।

सूत्रं गुणमुख्यशब्दाभ्यामुत्पत्तिविनियोगयोर्विवक्षितत्वात्स्पष्टम् ॥

इति द्वितीयं गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणम् ॥ २ ॥

सू-भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥ ३-३-१० ॥

(विषयसंशयसङ्गनयः)

एवं तावद्यत्र वेदान्तर उत्पत्तिर्वेदान्तरे च विनियोगः तत्र विनियोगविधिनिबन्धनः स्वर इत्युक्तम् । यत्र तु वेदान्तरे फलसम्बन्धश्रवणात् विनियोगः वेदान्तरे च कर्त्रादिश्रवणात्प्रयोगः तत्रापि प्रयोगकाल एव स्वरापेक्षणाद्युक्तितौल्येन विनियोगविधेरपि प्रयोगविधितो दौर्बल्यात्प्रयोगविधिनिबन्धन एव प्रधानांशे स्वर इत्यप्यर्थसिद्धम् ।

न च स्वरस्य प्रयोगविधावनन्वयः । तथात्वे तदाश्रयस्य मन्त्रस्य साङ्गप्रधानसम्बन्धापत्तेरिति केषां चिदुक्तं युक्तम् । प्रयोगविधावेवापेक्षाक्रमेणान्वयेऽपि मन्त्रस्य लिङ्गेन प्रधानमात्र एवान्वयोपपत्तेः ।

एवं यत्र वेदान्तर एव विनियोगो वेदान्तरे चाख्यातसामानाधिकरण्यं विना वसन्ते ज्योतिष्टोम इत्येवं रूपेण कालदेशान्वयः तत्रापि प्रयोगविधित्वात्तन्निबन्धन एव स्वर इति बोधव्यम् । आख्यातसामानाधिकरण्ये सति प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मान्तरत्वापत्तेः ।

एवं च यत्र प्रयोगविधिपरिचायकं विनियोगविधिपरिचायकं वा कालफलादिकं भेदेन वेदद्वयेऽप्यस्ति तत्र विनिगमनाविरहादिनोभयत्रापि तद्विधित्वानिश्रयात्स्वरविकल्पे प्राप्ते यत्रोत्पत्तिस्तद्वेदनिबन्धन स्वर इत्यविवादम् । अतस्तादृशविषये कोत्पत्तिरिति विचारणीयम् ।

एवं यत्र कालफलाद्यनुपादाय उत्पत्त्यन्वयी गुणः कर्ममात्रं बोभयत्र श्रुतं तत्राप्येवं विचारः । पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । प्रासाङ्गिकी त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यत्र तावदुत्पत्त्यन्वयी द्रव्यदेवतास्तोत्रशस्त्रादिरुभ-
यत्रापि गुणस्ववाक्ये श्रुतः, तत्र विनिगमनाविरहेणोभयत्रा-
प्युत्पत्तिविधिः ।

न चैवमुत्पन्नस्योत्पत्त्ययोगात्कर्मान्तरत्वापत्तिः । पिङ्गाक्ष्ये-
कहायनीशब्दवत्सहप्रवृत्तेर्युगपाद्विधायकत्वात् । तद्देव विशेषणां-
शविधिफलकत्वान्न वैयर्थ्यमपि ।

न चैवं वाजिनादिस्थलेऽपि तथापत्तिः । पाठक्रमस्य नि-
यामकत्वेन सह प्रवृत्त्यभावात् ।

एवं यत्रापि कर्ममात्रं वेदद्वये श्रुतं तत्रापि नाभ्यासात् क-
र्मान्तरत्वम्, वाक्यान्तरोपात्तगुणान्वयार्थत्वेनानन्यपरत्वाभावात् ।
नापि तदर्थमेकत्रानुवादः । विनिगमनाविरहादुभयत्र लिङ्गादिस-
त्वेनैकत्र तदर्थत्यागापत्तेश्च । अतस्तत्राप्युभयत्रोत्पत्तिविधिः ।

यत्र तूभयत्रापि कालादिश्रवणं तत्र विध्यन्तराक्षिप्ताया
उत्पत्तेर्वेदविशेषे नियन्तुमेवाशक्यत्वम् । अतश्च सर्वत्रैवंजातीयके
स्वरविकल्प इति प्राप्ते--

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते--अङ्गबाहुल्येन प्रधानोत्पत्तिविधिनिर्णयः,
सेवकबाहुल्येन राजावस्थाननिर्णयवत् ।

वस्तुतस्त्वस्य व्यभिचरितत्वात्कर्मस्वरूपपरिचायकद्रव्यदे-
वतादिसाकल्यसत्त्वस्यैव तन्निर्णायकत्वम् । तत्रापि द्वैविध्ये
बहिरङ्गत्वेऽप्यव्यभिचाराद्देवताया एव, न तु द्रव्यस्य । अतश्च ता-
दृशगुणसत्त्वे तेनैव विधिनिश्चयादन्यत्र स्ववाक्योपात्तोत्पत्त्यन्व-
यिगुणसत्त्वेऽपि तदनुवादेनैवाविरोधिगुणाविधानम् । विरोधिगुण-
सत्त्वे तु तेन भेद एव ।

न च पिङ्गाक्ष्येकहायनीन्यायः । तद्विद्वैकवाक्यत्वाभावेन सहप्रवृत्त्यभावात् । अतस्तत्र भेद एव । कालफलादिरूपविध्यन्तरान्वयिगुणसत्त्वे तु तस्य प्रयोगादिविधायितामात्रम् । उत्पत्त्यंशे त्वनुवाद एव । यत्र तूभयत्रापि स्ववाक्ये कर्ममात्रश्रवणं वाक्यान्तरे चैकत्र देवतादिविधिरपरत्र तु तद्विधायैवाविरोधिगुणान्तरश्रवणं तत्र सत्यप्युभयत्रापि लिङ्गादिश्रवणात्पिङ्गाक्ष्येकहायनीन्यायेन विधित्वे एकत्रैव देवताविधिसमाभिध्याहारवत्युत्पत्तिविधितात्पर्यकत्वम् । अपरत्र तु सत्यप्युत्पत्तिविधित्वे न तत्तात्पर्यकता । वाक्यान्तरोपात्तगुणत्रिनियोगोपयोगिप्रकरणोज्जीवनार्थत्वात् । अत एव न तत्रानारभ्याधीतता ।

यत्र तु वेदान्तरे लङन्तेन कर्ममात्रमुक्त्वा वाक्यान्तरे गुणोपादानं तत्र पूर्ववाक्यस्य नैव विधित्वम् । अपि तु अनुवादत्वमेव गुणविधानार्थम् । तत्र तु तस्यानारभ्याधीतत्वेऽन्तान् विशेषः ।

वस्तुतस्तु लिङन्तस्थलेऽपि नोभयोर्विधित्वं विहितविधानायोगात् पिङ्गाक्षीन्यायस्यैकवाक्यत्वप्रयुक्तत्वाच्च । अपि तु परिचायकतानुरोधेनैकस्य विधित्वमपरस्यानुवादतेति बोध्यम् ।

अतश्चोत्पत्तिविधिवेदनिबन्धन एव स्वरो बलीयानिति सिद्धम् । वाक्यान्तरे विरोधिस्वसमानगुणश्रवणे तु भेदः । एवमुभयत्र कर्ममात्रश्रवणेऽपि बोध्यम् ।

प्रयोजनं सूत्रं च स्पष्टम् ॥

(वृत्तमधिकरणम्)



अथ प्रकरणाधिकरणं चतुर्थम् ॥ (४)
 सू-असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थि-
 त्वात् ॥ ३-३-११ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

'शेषः परार्थत्वा'दित्यत्र प्रमाणं विना पारार्थ्यस्य वक्तुमश-
 क्यत्वाच्छ्रुत्यादिकमपि प्रमाणमुपक्षिप्तम् । तत्र च श्रुतिवाक्ययोर्लि-
 ङ्गस्य च(१) तद्भूताधिकरणे(२) सामर्थ्याधिकरणे च स्वरूपेण
 विनियोजकत्वस्योक्तत्वादङ्गाङ्गितयोरवच्छेदकमात्रं निरूपितम् ।
 इदानीं तु प्रकरणादीनां स्वरूपेणैव विनियोजकत्वमाक्षिप्य समा-
 धीयते । स्वस्यापि कथञ्चिन्स्वोपयोगित्वात्पादाध्यायसङ्गतिः ।

अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणे वेदान्तरीयशुद्धोत्पत्तिविधेः प्र-
 करणोज्जीवनार्थत्वेऽभिहिते प्रकरणस्यैवाक्षेपाद्द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र न प्रकरणं नाम किञ्चिदस्ति विनियोजकम् । तद्धि य-
 दि सन्निधिमात्रं भवेत् ततो गोदोहनादेरपि दर्शाद्यङ्गत्वप्रसङ्गः ।

अथ साकाङ्क्षत्वमात्रं, ततो विकृतेरपि प्राकृताङ्गविषये सा-
 काङ्क्षत्वात् तदङ्गत्वस्य च प्रकरणगम्यत्वापत्तिः ।

अथ साकाङ्क्षत्वे सति सन्निधिपठितत्वम्, ततो विकृतावुप-
 होमादौ तदापत्तिः ।

अथोभयाकाङ्क्षाविशिष्टं तत्प्रकरणमित्युच्येत, ततो म-
 न्त्राणामपि सन्निधौ पाठात्प्रकरणाद्दर्शाद्यङ्गत्वप्रसङ्गः ।

न चेष्टापत्तिः । अत एव तत्र तत्र मूले तथा व्यवहार
 इति वाच्यम् । मन्त्राणां सिद्धरूपत्वेन प्रकरणाविषयत्वात् ।

अत एव लिङ्गादेव तत्राङ्गत्वम् । प्रकरणं त्वधिकाराख्यं सामान्यसम्बन्धबोधकमेव । अस्तु वा कचिल्लिङ्गाभावे तस्यैव स्थानविधयाङ्गताबोधकत्वं न तु प्रकरणविधया । सिद्धान्ते सिद्धरूपस्य प्रकरणविषयत्वानङ्गीकारात् । अर्थप्रकाशनादिरूपाक्रियाविशिष्टत्वेन क्रियारूपत्वं तु लिङ्गाद्यभावादनाशङ्कामेव ।

अथेतिकर्तव्यतात्वेन साकाङ्क्षत्वविशिष्टसन्निधौ पाठः प्रकरणमित्युच्यते, तत इतिकर्तव्यतात्वस्यैवाशक्यनिर्वचनत्वम् । तद्धिन तावत्प्रकरणेन फले जन्यमाने सहकारिकारणत्वम्, अग्नीषोमीयादेरप्याग्नेयाङ्गत्वापत्तेः; प्रयाजादीनां प्राधान्यापत्तेश्च ।

न चाग्नेयादीनां फलं प्रति करणत्वेन प्राधान्येऽपि न प्रयाजादीनां तत्प्रति करणता येन प्राधान्यमाशङ्क्यते । अपि त्वपूर्वे एव तेन जन्यमाने सहकारिकारणत्वमिति वाच्यम् । तथात्वेऽपि विकृतौ फलकारणत्वेन सौर्षे लब्धेऽप्यपूर्वकारणत्वेन प्रयाजादिवदाग्नेयस्थापि जनकत्वाविशेषादतिदेशपत्तेरपूर्वस्य धर्मिग्राहकप्रमाणेन स्वकार्यजनकजन्यत्वेन क्लृप्तस्य कारणान्तरानपेक्षत्वाच्च ।

एतेन नापूर्वं प्रत्याग्नेयादीनामिव प्रयाजादीनां कारणत्वमात्रम् । अपि तु करणत्वमेव स्वस्वावान्तरादृष्टद्वारा । (१) ततश्चाग्नेयादौ तदभावान्न विकृतावतिदेश इत्यपास्तम् । (२) कारणानपेक्षत्ववत्करणानपेक्षत्वस्यापि तुल्यत्वात् । नापि करणजनकत्वमितिकर्तव्यतात्वम्, प्रयाजादिषु तस्य बाधितत्वात्, द्रव्यादावपि तत्सत्त्वेन प्रकरणग्राह्यत्वापत्तेश्च ।

एतेन करणानुग्राहकत्वमितिकर्तव्यतात्वमित्यपि निरस्तम् । करणतद्व्यापारतत्कार्यजनकत्वातिरिक्तस्यानुग्राहकत्वस्य दुर्व-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३३१

चत्वात्। एवमन्योत्पादकस्वभावव्यापारत्वमेवाख्यातार्थो न तु या-
गानुकूलयत्नत्वम् । तस्य च विशेषापेक्षार्यां प्रयाजादीनां त-
त्वेनान्वयः । अतश्च व्यापारसामान्यरूपभावनापेक्षितविशे-
षत्वमेवेतिकर्तव्यतात्वमिति पार्थसारथिमतमपास्तम् । निरुक्ते-
तिकर्तव्यताकाङ्गालक्षणप्रकरणस्य निरुक्तसम्बन्धबोधकत्वेऽपि
तदघटिताङ्गत्वबोधकत्वानुपपत्तेः । प्रयाजानां करणतद्वापार-
तत्कार्यजनकत्वायोगेन करणादीनामन्यपदवाच्यत्वायोगात् ।
प्रयाजादीनामुक्तविधभावनाविशेषत्वानुपपत्तेश्च ।

किञ्च प्रधानवाक्ये ऽपूर्वकल्पनातः पूर्वमाख्यातार्थोपस्थि-
तिदशायामन्यपदार्थो न तावदपूर्वं सम्भवति । यागस्तु प्रयाजा-
द्यजन्यत्वाद्वाहित एव ।

न च फलम्, समप्राधान्यापत्तेः । न च फलं प्रति यागस्यै-
व समानपदश्रुत्या करणत्वं प्रयाजादीनां तु कारणत्वमेवेति न
साम्यमिति वाच्यम् । प्रयाजादीनामपि स्वस्वाट्टरूपव्यापार-
सत्त्वेन करणत्वस्य दुर्निवारत्वात् । यागस्य साक्षात्फलेन समान-
पदोपात्तत्वाभावेन भावनाद्वारैव तस्य वाच्यत्वात्तदपेक्षया
भावनारूपाणां प्रयाजादीनामेव कारणत्वस्य वक्तुमुचितत्वाच्च ।
अस्मन्मते तु यागानुकूलस्य यत्नस्यैव भावनापदार्थत्वात्तस्य
च यागजननेनैव क्लृप्तप्रयोजनस्य फलकरणत्वकल्पनानुपपत्ति-
रिति वैषम्यम् ।

किञ्चैवं प्रधानस्य स्वतो निराकाङ्क्षत्वादन्यतराकाङ्क्षैव प्र-
कृतौ प्रयाजाद्यङ्गत्वापत्तिः । विकृतौ च भावनाया विशेषापे-
क्षायामक्लृप्तोपकारैरपि सन्निहितैरुपहोमैरेव निराकाङ्क्षत्वोपप-
त्तेर्नातिदेशकल्पनापत्तिः ।

अतश्चेतिकर्तव्यतात्वस्य दुर्निरूपत्वात्तद्वटितस्य प्रकर-

णस्यापि दुर्निरूपत्वमिति न तेन प्रयाजादीनां दर्शाद्यङ्गत्वम् । अपि तु फलाकाङ्क्षायां विश्वजिन्न्यायेन दर्शपूर्णमासफलानुषङ्गेण वा “वर्म भ्रातृव्याभिभूत्या” इत्यर्थवादेन वा फलं पौरोडाशिक-समाख्यया वा तत्साध्याग्नेयाद्यङ्गत्वं सन्निधानमात्रेण वोपहो-मवत् षड्यागाङ्गत्वमिति प्राप्ते--

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते-अस्ति प्रकरणं नाम चतुर्थं प्रमाणम् । न च तन्निर्वचनासम्भवः । अवगतफलसम्बन्धसन्निहितवाक्यप्रमितपदार्थवृत्ति यत्पूर्वप्रमाणानवगताङ्गताकविषये इतिकर्तव्यतात्वप्रकारकापेक्षणं तस्यैव तच्चात् । अस्ति हि दर्शपूर्णमासादौ प्रयाजादिविषये तत्, दर्शपूर्णमासयोस्स्वर्गादिवाक्यैः फलसम्बन्धस्यावगतत्वात् ।

अत एव फलसम्बन्धानवगतौ न समिध्यागस्य सत्यपीतिकर्तव्यताकाङ्गत्वे तन्नूनपाद्यागाङ्गता । अङ्गिनस्सन्निहितवाक्यप्रमितेति विशेषणाच्च नासन्निहितज्योतिष्टोमाद्यङ्गत्वं प्रयाजादीनाम् । अङ्गस्य पूर्वप्रमाणानवगताङ्गताकेति विशेषणाच्च न प्रोक्षणादीनां श्रुतिलिङ्गवाक्यैरवगतव्रीह्याद्यङ्गभावानां प्रकरणादर्शाद्यङ्गतापत्तिः ।

न चेष्टापत्या तत्पदवैयर्थ्यम् । प्रोक्षणादीनां श्रुत्यादिनैवाङ्गत्वावगतौ व्रीह्यादिपदे आङ्गितावच्छेदकलक्षणातात्पर्यग्राहकतामात्रस्य प्रकरणकृत्यत्वात् । तदपि चेदं नेतिकर्तव्यताकाङ्गालक्षणस्य विनियोजकप्रमाणस्य कृत्यम् । अपि तु सन्निध्यपरपर्यायस्याधिकाराख्यस्यैव । लोके तस्यैव तथा क्लृप्तत्वात् ।

न चापूर्वसाधनीभूताङ्गत्वस्य श्रुत्यादिगम्यत्वेऽप्यपूर्वाङ्गत्वस्य यागाङ्गत्वस्य वा कथंभावात्मकप्रकरणगम्यत्वोपपत्तिः । अपूर्वा-

दिकं प्रति प्रयोज्यत्वमात्रेणैव सम्बन्धोपपत्तावङ्गत्वकल्पने प्रमाणाभावात्, अपूर्वसाधनीभूताङ्गत्वस्यापूर्वाङ्गत्वं विनानुपपत्तेस्तस्यार्थसिद्धत्वेन प्रकरणव्यापारानपेक्षणाच्च । अत्र च प्रकरणोत्तरप्रमाणानां (१)बलाबलाधिकरणवक्ष्यमाणन्यायेन मन्थरप्रवृत्तित्वादङ्गताबोधकत्वानुपपत्तेर्व्यावर्त्याभावात्पूर्वपदं सिद्धानुवादमात्रम् ।

एवं वाक्यपदमप्येकवाक्योपात्तपदसन्निहिते वृहस्पतिसवादाववश्यं वाक्यादिप्रमाणेनाङ्गत्वावगमात् तेनैव व्यावृत्तिसिद्धेस्स्पष्टार्थमेव । “वामदेव्यं गायती”त्यादौ च प्रमाणान्तरेणानवगताङ्गताकसामविषयेऽवगतफलस्य स्तोत्रस्य सन्निहितस्य स्वसाधनीभूतऋगक्षराभिव्यक्त्यर्थमपेक्षासत्त्वात्प्रकरणेनाङ्गत्वप्राप्तौ तद्व्यावृत्त्यर्थमितिकर्तव्यतात्वेति विशेषणम् । तस्य ऋगक्षराभिव्यक्त्यर्थं सामापेक्षायामपीतिकर्तव्यतात्वेन सिद्धरूपसामविषयेऽनपेक्षणात् ।

न चेतिकर्तव्यतात्वमेव दुर्निरूपम्, सर्वत्र ह्यशक्तस्य करणत्वायोगात् शक्तिः करणनिष्ठा समस्तीति निर्विवादम् । सा चास्मन्मते पदार्थान्तरमेव दण्डादिधर्मः । धर्मस्य च जन्यधर्मिष्टित्वात् जन्यत्वमेव रूपादिवदित्युत्सर्गः । क्वचिदेव तु बाधकसत्त्वेन कारणानिर्वचनेऽनादित्वमपि । अत एव दण्डादिवृत्तिशक्तिरनवस्थादोषभीत्याऽनादिरेव । यागादिवृत्तिशक्तिस्त्वपूर्वजननानुकूला उत्सर्गतस्वकारणमपेक्षमाणा यागस्यैव कारणत्वकल्पनेऽनवस्थापत्तेस्सन्निहितं प्रयोजनापेक्षं प्रयाजादि स्वकारणत्वेन गृह्णातीति इयमेवाकाङ्क्षेतिकर्तव्यताकाङ्क्षा । अत एव यावत्कारणलाभमेव तस्याजन्यत्वकल्पनान्नानवस्थादोषः । द्रव्यदेवत्वामदेवादिसिद्धपदार्थस्य तु न कर-

णवृत्तिशक्तिजनकत्वम् । दृष्टविधयैव करणजनकत्वेन प्रयोजनाना-
काङ्क्षत्वात् । स्वस्वनियमादृष्टोपहितस्य तु करणं प्रयजनकत्वा-
त्तन्निष्ठशक्तिजनकत्वमिष्टमेव । नियमादृष्टोपहितत्वं च नोदा-
सीनस्येति अवान्तरक्रियायुक्तस्य द्रव्यादेरितिकर्तव्यतात्व-
व्यवहारोऽपि शास्त्रे एतन्मूलक एव । तत्सिद्धं स्वकरणनिष्ठश-
क्तिजनकाकाङ्क्षत्वं भावनाया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षत्वम् । शक्ति-
रेव मूले सामर्थ्योद्बोधपदेन व्यवह्रियत इति द्रष्टव्यम् ।

न चैवमपि वामदेव्यादेस्सामर्थ्यादेव स्तोत्राङ्गतावगमादन-
वगताङ्गताकेति विशेषणादेव व्यावृत्तिसिद्धेरितिकर्तव्यतात्व-
प्रकारकेति विशेषणानर्थक्यमिति वाच्यम् । सामर्थ्यमात्रस्याति-
प्रसक्तत्वात्सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावाच्चाङ्गताबोधकत्वा-
नुपपत्तेः ।

अस्तु वा सूत्रस्वारस्यादितिकर्तव्यताकाङ्क्षत्वमेव प्रक-
रणम् । तस्य तु योग्यविषयजिज्ञासायां प्रमाणान्तरानवगतेत्या-
दिविशेषणम् । न तु तस्य लक्षणे प्रवेशः । श्रुत्यादि सर्वप्रमाणसाधा-
रणस्य व्यावर्तकत्वादाकाङ्क्षाया आसत्तिसहकारेणैव कार-
णत्वात् ज्योतिष्टोमाद्यनङ्गत्वस्य तदभावादेवोपपत्तेः संनिहिते-
त्यादि विशेषणस्य प्रकरणलक्षणे प्रवेशः ।

अस्तु वा विकृतावातिदेशिकस्य प्राकरणीकत्वव्यावृत्तये
सः । सत्यपि प्रकरणे विनिगमनाविरहेणैव नाङ्गताबोधो भवे-
दिति प्रतिबन्धक्रीभूतविनिगमनाविरहनिवृत्त्यर्थं फलवत्त्वविशे-
षणं, न तु तस्यापि प्रकरणशरीरत्वम् । तस्मादितिकर्तव्यताका-
ङ्क्षत्वमेव सन्निहितप्रतियोगिकं प्रकरणम् ।

न चैवमपि विकृतावुपहोमाकाङ्क्षया कल्पितायामितिकर्त-

व्यताकाङ्क्षायामपि प्रकरणत्वापत्तेर्लक्षणे(१) उत्थितत्वमप्याकाङ्क्षाविशेषणं देयमिति वाच्यम् । तस्य स्थानकल्पितस्य सत्यपि प्रकरणत्वे कल्प्यत्वेन शास्त्रे तत्त्वेन व्यवहाराभावेऽपि अलक्ष्यत्वाभावात् ।

न चैवमप्युक्तविधेतिकर्तव्यतात्वस्याङ्गत्वाघटकत्वात्कथमङ्गत्वे प्रामाण्यं तदघटितप्रकरणस्येति वाच्यम् । भावनाकरणनिष्ठशक्तिजनकत्वस्य भावनाकारकत्वरूपतयाङ्गताघटकत्वात् । तदयमत्र बोधक्रमः—प्रधानगतेतिकर्तव्यताकाङ्क्षया प्रयाजादिगतप्रयोजनाकाङ्क्षासहकृतया प्रयाजवाक्यस्य प्रधानवाक्यस्य च स्वस्वावान्तरवाक्यार्थे समाप्तस्यापि महावाक्यैकदेशत्वरूपपदसन्निध्याख्यवाक्यकल्पनया सन्निहितपारिभाषिकपदानां च पदार्थोपस्थितिद्वारा तन्निष्ठाश्रुतपदान्तरकल्पनानुकूलयोग्यतानुमापकत्वाद्योग्यतारूपलिङ्गकल्पनया श्रुतेतिकर्तव्यतात्ववाचिपदरूपां श्रुतिं कल्पयित्वा ऽङ्गत्वघटकीभूतेतिकर्तव्यतात्वरूपं कृतिकारकत्वं बोध्यत इति साङ्गत्वबोधे प्रमाणम् । वाक्यैकवाक्यत्वकल्पनाप्रकारश्च—समिधो यजति इत्थं दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । तस्मात्सिद्धं प्रकरणस्याप्यङ्गत्वे प्रमाणत्वम् ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे तुल्यन्यायतया विकृतेरपीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाभावादतिदेशासिद्धिः । सिद्धान्ते तु तत्सिद्धिरिति द्रष्टव्यम् । विध्यन्ताधिकरणे तु आकाङ्क्षणीयालाभनिमित्तकाकाङ्क्षाशान्तिरिति पूर्वपक्षास्थानाद्द्रष्टव्यम् ।

सूत्रे ऽसंयुक्तपदं प्रमाणान्तरसंयुक्तस्य प्रयोजनानाकाङ्क्षत्वात्प्रयाजगतप्रयोजनाकाङ्क्षारूपसहकारिकारणद्योतनार्थं सद्विषयपरम् । तच्चेतिकर्तव्यतात्पररूपात्प्रकरणादङ्गमिति शेषः ॥

इति चतुर्थं प्रकरणाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं क्रमाधिकरणम् । (५)

सू-क्रमश्च देशसामान्यात् ॥३-३-१२॥ (सि)

(विषयसंशयसङ्गतयः)

अत्र क्रमाख्यस्य प्रमाणस्याक्षेपसमाधानम् । पूर्ववदेव पा-
दाध्यायसङ्गतिः । अनन्तरा त्वस्य प्रकरणकल्पनया विनियोज-
कत्वात्तदुत्तरमारम्भ इति द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र क्रमो नाम सादेश्यस्थानापरपर्यायो द्विविधस्तत्रा-
भिप्रेतः--अनुष्ठानसादेश्यं पाठसादेश्यं च । अन्त्यम-
पि द्वेषा--यथाक्रमपाठस्सन्निधिपाठश्च । त्रयमपीदमुभयाका-
ङ्क्षाक्रमात्राकाङ्क्षा चेति । प्रधानाकाङ्क्षा चात्रेतिकर्तव्यताकाङ्क्षाभि-
न्नाकाङ्क्षा द्रष्टव्या । तस्याः प्रकरणत्वेन स्थानत्वाभावात् ।

न चास्य षड्विधस्यापि विनियोजकत्वं सम्भवति । तथा
हि-न तावदनुष्ठानसादेश्यस्य तत्, पशुधर्माणां ह्यग्नीषोमीयाङ्ग-
त्वावगमात्पूर्वमौपवसथ्येऽहन्येवानुष्ठानमित्यत्र प्रमाणमस्ति । स-
त्यपि तत्र पाठे प्रकरणेनानर्थक्यतदङ्गन्यायसहकृतेन पशुत्रये-
ऽप्यङ्गत्वावगमात्तेषां कालभेदेन तत्र तत्रानुष्ठानप्रतीतेः । न हि
प्रयोजनावगमात्पूर्वमनुष्ठानावगतिः ।

अत एवान्यत्रापि विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनस्यैवापत्तेः
नानुष्ठानसादेश्यस्मरणमस्ति । प्रधानाकाङ्क्षयाऽनुष्ठानसादेश्यं
त्वन्यत्र सम्भाव्यमानमपि साक्षाद्वाक्यकल्पकत्वेनैव तस्योपप-
त्तौ प्रकरणकल्पकत्वे प्रमाणाभावान्न पञ्चमप्रमाणेऽन्तर्भवति ।
एतेनोभयाकाङ्क्षया पाठक्रमोऽपि व्याख्यातः ।

किञ्च यत्र ब्राह्मणे एकमेव प्रधानं संहितायां चैकमेव त-

पूर्वपक्षः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३३७

दपोक्षितं याज्यानुवाक्यायुगलं तत्र वाचनिकाङ्गसन्दंश-
रूपाधिकारेणैव सन्निधिरूपेण तत्सिद्धेः सङ्कीर्णत्वम् । यत्राप्यने-
कानि प्रधानानि तत्रापि सन्निधानरूपाधिकारस्य साधारणत्वेन
सर्वेषां मन्त्राणां सर्वार्थत्वात् पाठक्रमस्यानिर्णायकत्वम् । न ह्य-
धिकारः पाठक्रमाद्दुर्बल इत्यत्र प्रमाणमस्ति, कल्पनाया(१)स्स-
मत्वात्, प्रत्युत तस्यैवेतरनिष्ठाकाङ्क्षासन्निधिकार्यप्रतिबन्धकत्वस्य
निष्प्रमाणकस्य कल्पनेन दुर्बलत्वाच्च केषामधिकार इत्येवं विशे-
षजिज्ञासाभावेन स्पष्टस्योपसंहाराविषयत्वाच्च । यत्र दर्शपूर्णमा-
सादौ स्पष्टलिङ्गकयाज्याद्याम्नानेनैवाग्नेयादीनां नैराकाङ्क्ष्यं
तत्र परिशेषादेवोपांशुयाजे साकाङ्क्ष(२)सन्निधिना याज्या-
नुवाक्यायुगलस्याङ्गत्वसिद्धेः कृतं पाठक्रमेण ।

एवं निराकाङ्क्षप्रधानसंनिधिस्थलेऽपि परिशेषादेवोपांशु-
याजे 'दन्धिर्नामासी'त्यनुमन्त्रणमन्त्रस्यान्यतराकाङ्क्षासहकृताधि-
कारेण प्रधानाकाङ्क्षां परिकल्प्य विनियोगोपपत्तेः कृतं पाठक्रमेण ।

एवं संनिधिपाठोऽपि निराकर्तव्यः । साकाङ्क्षप्रधानस्थले
तावत्सान्नाय्यसन्निधिपठितपात्रशुन्धनमन्त्रे साकाङ्क्षबुद्धिविपरि-
वृत्तिरूपाधिकारस्याग्नेयादिसाधारणत्वात् तस्य च पूर्वोक्तयु-
क्त्या "आनन्तर्यमचोदने"तिन्यायेन च प्रयाजादाविवाव्यवहित-
सन्निध्यपेक्षया प्राबल्यान्न केवलसान्नाय्याङ्गत्वम् ।

किञ्चात्र लिङ्गेनैव विनियोगान्न सन्निधेर्विनियोजकत्वम् ।
तस्य सामान्यसम्बन्धबोधकत्वेनाविनियोजकत्वात् । निराकाङ्क्ष-
सन्निधिस्तु विकृतावुपहोमादेर्विनियोजकत्वेनोच्यमानो नैव युक्तः,
विकृतेरितिकर्तव्यताकाङ्क्षाया जागरूकत्वात् ।

न च क्लृप्तप्रयोजनत्वेन प्राकृतैरेव तच्छान्तिः । प्रकृतौ याव-

१. स्समानत्वात् । २ सन्निधानात् ।

प्रमाणप्रमितत्वेनेतिकर्तव्यताकाङ्क्षानिवर्तकत्वदर्शनादिहाप्युपहो-
मादिसहकृतानामेव तन्निवर्तकत्वात् ।

पार्थसारथिमते क्लृप्तप्रयोजनत्वस्याकिञ्चित्करत्वेन व्यापार-
सामान्यस्य विशेषापेक्षायां सन्निहितोपहोमानामेव तत्त्वेनान्वयो-
पत्तावुभयाकाङ्क्षाया अव्याहृतत्वाच्च । तस्मान्न षड्विधस्यापि
स्थानस्य विनियोजकत्वमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—क्रमश्च षड्विधोऽपि स्थानापरपर्यायो विनियो-
जकः । तथाहि—

अनुष्ठानसादेश्यस्थले तावत्प्रकरणेन क्लृप्तप्रयोजनस्य दैक्ष-
पशुयागस्याक्लृप्तप्रयोजनानां च पशुधर्मादीनां समानदेशेऽनुष्ठा-
नादेव तेषां फलवदङ्गत्वम् ।

न च प्रमाणासिद्धिः । तदनुष्ठानक्रमनियामकस्याग्नीषोमप्रण-
यनविध्यनन्तरपाठस्य सत्त्वेन तदनन्तरमनुष्ठानावगमोपपत्तेः ।

यद्यपि च पाठस्य स्वविरोधफलवत्ताप्रतिसन्धाने सखनुष्ठा-
ननियामकत्वं व्यभिचरितं तथापि तदप्रतिसंधानदशायामुत्प-
त्तिवाक्ये इष्टसामान्यस्य भाव्यत्वावगममात्रेणानुष्ठानावगतेः पा-
ठस्य तन्नियामकत्वात्तदनुष्ठानसादेश्योपपत्तिः ।

वस्तुतस्त्वङ्गप्रयोगस्य प्रधानवाक्य एव विधेयत्वात्फलवि-
शेषानवगमेऽनुष्ठानस्य दुरवगमत्वादेवं वाच्यम्—नाग्नीषोमप्रणयन-
स्य पशुधर्मैः क्रमः, भिन्नप्रयोगपरिग्रहस्य भावित्वात् । अपि
त्व“ग्नीषोमाभ्यां प्रणीयाथ पशुतन्त्र”मित्यादिकल्पसूत्रानुसारेण
श्रुतिवाक्यमपि क्त्वाप्रत्ययान्तमेवास्तीत्यवगम्यते । सोऽपि च
कालविधिरेव । न त्वङ्गाङ्गिभावविधिः । पशुधर्माणां श्रुत्यादिभिः

पशुसंस्कारार्थत्वेन क्लृप्तप्रयोजनत्वात् ।

अस्तु वौषट्पथ्येऽहनि पशुतन्त्रमिसाकारिका श्रुतिः ।
सर्वथा कालस्य फलावगमनिरपेक्षस्यैव प्रयोगविधायित्वादनु-
ष्ठानसादेश्योपपत्तिः ।

नन्वेवमपि पशुधर्माणां श्रुत्यादिभिरेवाङ्गत्वावगमान्नानुष्ठा-
नसादेश्यस्य विनियोजकत्वम् । ये त्वारादुपकारकाः पशुमाकृ-
ताङ्गसन्दष्टास्तेषामवान्तरप्रकरणेनैवाशीषोमीयाङ्गत्वसिद्धेः नैव
तस्य तत् । ये त्वप्राकृतपशुधर्मसन्दष्टा असंदष्टा एव वा, तेषां बल-
वता महाप्रकरणेन ज्योतिष्टोमाङ्गत्वस्यैवापातात्कृतमनुष्ठानसा-
देश्येनेति चेत्—

सस्यमेवम्—तथापि पशुधर्माणां तद्विधावपूर्वसाधनलक्षणा-
तात्पर्यग्राहकतामात्रेण विनियोजकत्वव्यवहारो भाक्तो मूले ।

वास्तवं त्वादाहरणमेवम्—यत्र फलवदेकं समाम्नातं
स्थलान्तरे चानारभ्यविधयाऽफलमारादुपकारकं तयोश्चोभयोरपि
वचनद्वयात्स्वतन्त्रैककालकर्तव्यता तत्र तस्याफलस्य फलवदङ्ग-
त्वमनुष्ठानसादेश्यादिति ।

न च तत्राप्यफले विश्वजिन्न्यायादिसर्वप्रमाणाभाव एव
तस्योदयात् । अत एव सिद्धमनुष्ठानसादेश्यस्य विनियोजकत्वं
तच्च फलवतो दर्वीहोमत्वेनापूर्वत्वे उभयाकाङ्क्षया विकृतित्वे त्व-
भ्यतराकाङ्क्षयेति ध्येयम् ।

एवं पाठक्रमोऽपि । लोके देवदत्तविष्णुमित्रयज्ञदत्तेभ्यो
नीलपीतरक्तवस्त्राणि देयानीत्यादौ तेनान्वयदर्शनात् ।

न चाधिकारेण सङ्कीर्णत्वादसङ्कीर्णोदाहरणाभावः । स-
त्यपि चोपांशुयाजादौ याज्यानुवाक्यादेरनुमन्त्रणादेश्च परिशे-
षसिद्धाधिकारेणैवाङ्गत्वावगतिसिद्धावुदाहरणान्तरत्वोपपत्तेः ।

परिशेषसिद्धिश्चाग्रेयादौ स्पष्टलिङ्गकयाज्यानुवाक्यानुमन्त्र-
णैरवरोधात्सुलभैवेति नात्रैवासङ्कीर्णत्वोपपादनाय यतितव्यम् ।

काम्ययाज्यानुवाक्यास्थले तु लिङ्गस्यैव विनियोजकत्वा-
त्क्रमस्य चापूर्वविशेषसम्बन्धित्वलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वमात्रत्वेन
विनियोजकत्वं स्पष्टमेव । तस्मादीदृगुदाहरणं वाच्यम्—

यत्र विभिन्नफलकानेकप्रधानान्नामं ब्राह्मणे, मन्त्रे च तेनैव
क्रमेण जपादिमन्त्रोच्चारणविधानं तत्र तत्तद्विधीनां पाठक्रमेणैव
तत्तत्प्रधानविध्युपस्थापकत्वात्तत्तत्प्रधानाङ्गता तत्तन्मन्त्रोच्चारण-
स्य पाठक्रमेणैव ।

न चात्राप्यधिकाराशङ्का । मन्त्रकाण्डे वाचनिकाङ्गसन्दंशाय
शब्दाद्यभावेन तस्यानुद्भवात् ।

न चैवं मन्त्रपाठक्रमस्यापि नियमेन विवक्षितग्रन्थान्तरस्थप्र-
धानविध्युपस्थापकत्वे प्रमाणाभावादङ्गत्वानुपपत्तेः उच्चारणा-
नां विश्वजिन्यायेन स्वर्गफलकत्वापत्तिः । आद्यमन्त्रोच्चारण-
विधितः पूर्वमाद्यप्रधानसम्बन्धितया वाचनिकान्तिमाङ्गान्नेन
तदुत्तराम्नाताद्योच्चारणविधेर्द्वितीयप्रधानविध्युपस्थापकत्वोपपत्त्या
तदुत्तरेषामपि तदुत्तरोपस्थापकत्वोपपत्तेः ।

अत एवाद्यस्यैव वाचनिकेनाधिकारात्तदङ्गत्वमेव सर्वेषामि-
त्यनाशङ्क्यम् । वाचनिकस्यान्तिमत्वेन तदाधिकारविच्छेदात् ।
अत्र जपादिमन्त्रोच्चारणस्यारादुपकारकत्वाल्लिङ्गादिविषयत्वा-
भावख्यापनायोदाहरणत्वम् । अत्रापि पूर्ववद्वीहोमादिरूपत्वे ।
उभयाकाङ्क्षाविकृतिरूपत्वे त्वन्यतराकाङ्क्षेति द्रष्टव्यम् ।

एवं संनिधेरप्यधिकारापरपर्यायस्य विनियोजकत्वम् । स हि
क्वचिद्वाचनिकाङ्गसन्दंशायशब्दादिना विभाव्यते । क्वचित्तं वि-
नैव फलवत्प्रधानविध्युत्तरं अफलस्याम्नानात् । तस्य च विनियोज-

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३४१

कत्वोदाहरणं यद्यपि न शुन्धनमन्त्रः संभवति, तस्य लिङ्ग-
विनियुक्तत्वेन संनिधानप्रमाणकविनियोगाविषयत्वात् । अत एव
तत्र पाठाव्यवाहितसंनिधिरपूर्वाविशेषलक्षणातात्पर्यग्राहक एव ।

न च त्रीह्यादाविव बुद्धिविपरिवृत्तिरूपाधिकारेण गौणप्रक-
रणेन सर्वार्थत्वावगमान्नात्यन्तसंनिधेस्सान्नाय्यापूर्वमात्रसम्ब-
न्धित्वलक्षणा तात्पर्यग्राहकत्वम् । गौणप्रकरणात् सर्वार्थत्वकल्पने
आग्नेयादौ पात्रप्रोक्षणाविध्यभावेन मान्त्रवार्णिकतत्क्रियाविधिक-
ल्पनया तदापत्तेर्लाघवाल्लिप्सया क्लृप्तो यत्र सान्नाय्ये तदीयपात्रे
प्रोक्षणाविधिः तत्रैव द्वारस्य क्लृप्तत्वेन निवेशौचित्यात् ।

वस्तुतस्तु द्वारगतक्लृप्तत्वेन सान्नाय्यमात्रविषयत्वाङ्गीकारे
पाठसंनिधानस्याकिञ्चित्करत्वापत्तेः आग्नेयादिपात्रप्रोक्षणास्यापि
सामानानाच्च वाचनिकाङ्गसन्दंशगम्यावान्तराधिकारेण सांना-
य्यमात्रविषयत्वं तस्य चाभिक्रमणन्यायेन महाधिकारापेक्षया
शीघ्रोपस्थितिकत्वाद्बलवत्त्वं युक्तमेव ।

वस्तुतस्तु तैत्तिरीयशाखायां पुरांडाशपात्रप्रोक्षणे पृथगेत-
स्यैव मन्त्रस्य पाठादुभयत्रापि मन्त्रसंसंनिधिविनियोज्यस्त-
थाप्युपहोमानां विकृत्यङ्गत्वे संनिधिपाठस्योदाहरणत्वं तेषामुक्त-
प्रमाणातिरेकेणाविनियोगात् ।

न च प्रकरणाद्विनियोगः, प्रथमावगतेन क्लृप्तोपकारप्राकृता-
ङ्गसम्बन्धेनैवैतिकर्तव्यताकाङ्क्षाशान्तेः ।

यद्यपि च प्रकृतौ वस्तुतो यावत्प्रमाणप्रमितानामिति
कर्तव्यताकाङ्क्षाशामकत्वं दृष्टं तथापि न तत्त्वेन रूपेण तत् ,
अपि तु संहितप्रयाजादित्वेनैव, तेनैव रूपेण जनकतया क्रतूपका-
रोद्देशेन विहितत्वात् , अतश्च तादृशरूपस्य विकृतावपि सत्त्वान्न

प्रकरणोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु सहितत्वमपि न तन्त्रम्, अपितु प्रयाजादिजन्याह-
ष्टत्वमेव । तच्च साङ्गजन्यमेवेति प्रकृतौ साहित्यस्याप्यङ्गत्वान्न
तद्विनैकैकेनाङ्गेन तत्सिद्धिः । गृहमेधीयादौ च आज्यभागयोः
परप्रयुक्ताङ्गान्तरसाहित्यानाक्षेपकत्वेन स्वतस्तदनपेक्षत्वात्तद्विनैव
साङ्गत्वोपपत्तेराकाङ्क्षाशामकत्वोपपत्तिः । विकृत्यन्तरे च प्राकृ-
ताङ्गमात्रेणोपहोमानन्वयेऽपि प्रकृतौ तेषामाकाङ्क्षाशामकत्वस्य
वत्कृत्वाद्विकृत्याकाङ्क्षाशामकत्वं नानुपपन्नम् ।

अत एव तत्रोपहोमविधिं दृष्ट्वा तदन्यथानुपपत्त्यैव विकृते-
राकाङ्क्षामुपजीव्य तेषां तदङ्गत्वेऽवगते तत्साहित्यस्याप्यङ्गत्वा-
वगमान्न प्राकृताङ्गमात्रेण क्रतूपकारसिद्धिः । तस्माद्युक्तमिदमु-
दाहरणम् ।

उभयाकाङ्क्षा संनिधेर्विनियोजकत्वे तु यद्यपि नैवोदाहरणं
संभवि । तादृशस्थले सर्वत्र योग्यतारूपलिङ्गस्यैव विनियोजकत्वात्
तथापि तस्यापूर्वविशेषोपस्थापनादिना तदुपयोगित्वाद्विनियोज-
कत्वव्यवहार इति सिद्धं क्रमस्य विनियोजकत्वम् ।

क्रमसामान्यलक्षणं तु—इतिकर्तव्यतात्वेनायोग्यसम्बन्धयोर्वा-
क्यार्थयोस्संनिधिः । इतिकर्तव्यतात्वेनायोग्यत्वं द्वेषा-काचित्तदा-
काङ्क्षाविरहात्, यथा विकृतौ । कचिदव्यापारात्मकत्वात्,
यथाऽनुमन्त्रणजपादिमन्त्रादौ । अत्र चैकवाक्योपात्तत्रीहियागा-
दिसंनिधेरपि तथात्वप्रसङ्गाद्वाक्यार्थेत्युक्तम् ।

प्रयाजाद्यङ्गवाक्यप्रधानवाक्यार्थयोस्संनिधौ स्थानत्वापत्ति-
निरासार्थमाद्यविशेषणम् । अनुष्ठानसादेश्यसङ्ग्रहार्थमर्थपदग्रह-
णम् । अत्रारादुपकारकस्थले तावद्विकृत्याकाङ्क्षायां एव कल्प-
नीयत्वात्प्रकरणकल्पनसापेक्षत्वम् । अनुमन्त्रणादिसिद्धपदार्थ

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३४३

स्थले तु प्रधानाकाङ्क्षा तन्नियमादृष्टद्वारा चेतिकर्तव्यतात्वमिति द्वितयकल्पनसापेक्षत्वम् ।

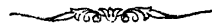
अत एव सर्वेषु क्रमभेदेष्वयं विभागः निराकाङ्क्षानुष्ठानसादेश्यस्थले तावत्प्रधानाकाङ्क्षाया एव कल्पनीयत्वात्प्रकरणादौर्बल्यं स्पष्टमेव । साकाङ्क्षानुष्ठानसन्निधेस्त्वारादुपकारकस्थले यद्यपि न किञ्चित्कल्प्यं तथापि पाठसंनिधिमात्रघटितात्प्रकरणादौर्बल्यं सुसम्पादमेव । विधिसंनिधानस्य पुरस्फूर्तिकतया तद्धटितप्रकरणस्य प्राबल्यात् ।

अत एव तादृशस्थलेऽन्यसमीपेऽनुष्ठीयमानस्यापि पाठसंनिहितफलवदङ्गत्वमेव । अनुष्ठानसंनिहितफलवतस्तु परं साकाङ्क्षत्वे प्रसङ्गेनोपकारः । अनयोस्तु द्विविधयोः परस्परविरोधे निराकाङ्क्षानुष्ठानसादेश्यस्य दौर्बल्यं स्पष्टमेव ।

एवं पाठसादेश्याद्विविधादप्यनुष्ठानसादेश्यस्य दौर्बल्यं पूर्वोक्तविधयानुसन्धेयम् ।

पाठसादेश्ययोस्तु परस्परं विरोधे यथाक्रमपाठस्य संनिधिपाठापेक्षया दौर्बल्यमेकग्रन्थस्थताघटितत्वेनेतरस्य प्राबल्यात् । भिन्नग्रन्थस्थसंनिधेस्तु वैपरीत्यम् । तस्मात्सिद्धं षड्विधस्यापि क्रमस्य विनियोगोपयोगित्वम् । सूत्रं प्रयोजनं च स्पष्टम् ॥

इति पञ्चमं क्रमाधिकरणम् ।



अथ षष्ठं समाख्याधिकरणम् ॥ ६ ॥

सू-आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥ ३-३-१३ ॥ (सि)

(विषयसंशयौ)

दर्शपूर्णमासादिषु याजुर्वैदिकपदार्थेष्वध्वर्यवमिति समाख्या, आर्ग्वैदिकेषु हौत्रमिति समाख्या, सामवैदिकेष्वौद्गात्रमिति समाख्या वेद एव प्रयुक्ता । तथा होतृचमसः पौरोडाशिकमित्याद्यपि पात्रविशेषे दार्शपूर्णमासिकपदार्थेषु च वेद एव प्रयुक्ता । क्वचिच्च सोमचमस इत्याद्या याज्ञिकप्रयुक्ता लौकिकी । द्विविधापि सा न विनियोगे स्वतन्त्रं प्रमाणमित्याक्षिप्यते ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । अनन्तरा तु क्रमकल्पकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र समाख्या तावन्न यौगिकी अध्वर्युकर्तृकलौकिक-पदार्थेषु प्रयोगाभावेनावयवार्थव्यभिचारात् । अतश्चाश्वकर्णप-ङ्कजादिशब्दवद्गुहा योगरूढा वेत्यङ्गीकर्तव्यम् ।

न च रूढत्वेऽप्यपेक्षाबलादाध्वर्यवसमाख्यासादृश्येनाध्व-र्युसमाख्योपस्थितेर्युक्तस्तया कर्तृनियम इति भर्तृमित्रादिमतं शङ्काम् । रूढशब्दसादृश्यमात्रेणोपदेशविषये नियमायोगात् । इतरथा सुतरां कण्वरथन्तरे रथन्तरधर्मातिदेशापत्तेः । अ-स्तु वारुणाधिकरणाद्युपपादितरीत्या कुत्रापि योगरूढ्यनङ्गी-कारात्समाख्याया यौगिकत्वं तथापि नास्या स्वातन्त्र्येण मान-त्वम्, विध्यभावेन पदार्थमात्रवाचिन्यास्तमाख्याया विनियोज-कत्वायोगात् ।

सिद्धान्तः] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३४५

यद्यपि चाप्रामाण्यत्वेन तत्कल्पनया प्रयोगविध्येकवाक्य-
त्वेन वा तदुपपत्तिः तथाप्याध्वर्यवमित्यादौ प्रकृत्याध्वर्युस्ताद्धि-
तेन पदार्था अन्वाधानादयः । (१)कर्तृतादिरूपस्तु सम्बन्धो न
कस्यचिद्वाच्य इति कथं तथा तन्नियमसिद्धिः ।

यदि तु वैयाकरणवत्सम्बन्धसामान्येऽपि शक्तिरित्यभ्युपग-
म्यते तदापि विशेषलाभाभावस्तदवस्थ एव ।

किञ्चैवं पदश्रुत्यैव विनियोगोपपत्तेः कृतं समाख्यया । न
हि 'सोमेन यजेते'त्यादौ समाख्यया यागस्य (२)करणत्वमिष्टम् ।

एतेन यद्यपि मीमांसकमते सम्बन्धस्य संसर्गविधया ल-
क्षणया वा भानं तथापि न समाख्यायास्स्वातन्त्र्यम्, पदश्रुतिव-
देव वाक्यविधया विनियोजकत्वोपपत्तेः । न ह्य'ध्रियोऽष्टाक-
पाल'इत्यादावग्रेरष्टत्वादेर्वा विनियोगस्सामाख्यानिक इष्टः । अस्तु
वा सा (३)स्वतन्त्रं मानं, तथापि कथं सा स्थानादिकल्पिका । प्रकृ-
तिप्रत्ययाभ्यां स्वशक्यार्थस्य सम्बन्धसामान्यस्य चोपस्थितावा-
काङ्क्षादिवशेन कर्तृतादिरूपसम्बन्धविशेषपरत्वप्रमापणोपपत्तेः ।
यापि हि लौकिकी समाख्या तस्यां श्रुतिन्यायेन मूलश्रुतिकल्प-
कत्वेऽपि न स्थानादिकल्पकत्वम् । वैदिक्यास्तु न तदपीति दुर्ल-
भतरं षष्ठप्रमाणमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—समाख्यापि षष्ठं प्रमाणम् । तथा हि—
सर्वत्र क्लृप्तावयवशक्तिकं पदं द्विविधं—प्रकृतविधौ वा-
क्यार्थान्वयवयवार्थकं तद्भिन्नं चेति । तत्राद्यं "निर्मन्थयेनेष्टकाः पच-
न्ति" "प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामबहन्ती"त्यादौ मन्थन-
प्रोक्षणादेः पाकावघाताद्यन्वयात्तत्र वाक्येनैव विनियोगः । द्वि-

१. कर्तृताख्यस्तु । २. फलकरणत्वं । ३. स्वातन्त्र्येण ।

४४ मी० कौ०

तीयं 'त्वाध्वर्यवमधीते' 'प्रैतुं होतुश्चमस' इत्याद्यन्यपरविधिमन्त्रार्थवादादौ । तत्राध्वर्यवादेः कर्तुर्भक्षणस्य चाध्ययनादावनन्वयात्तत्र च विशेष्यमात्रस्य काण्डपात्रादेः प्रकृतक्रियान्वये जाते विशेष्ये विशेषणरूपावयवार्थाऽन्वयस्य सिद्धवन्निर्देशात्तदन्यथानुपपत्त्या अवयवार्थसम्बन्धबोधकं वाक्यमाकाङ्क्षायोग्यतादिवशेन कल्पयित्वा कर्तृतादिरूपसम्बन्धः प्रतीयते । तस्य च न वाक्यादिना प्रमाणान्तरेण सिद्धिरिति सिद्धस्सामाख्यानिको विनियोगः ।

यद्यपि चैतादृशे विषये विध्यन्तरानुपपत्तिसिद्धौ मान्त्रवर्णिकार्थवादिको वा कर्तृताविधिरित्यपि शक्यते व्यवहर्तुं तथापि तत्र योगिकोपमान्यथानुपपत्तेरेव कारणत्वात्तयैव व्यवहारः । यत्र तु याज्ञिकप्रसिद्धिमात्रं तत्र विधेस्तदन्यथानुपपत्तिमात्रकल्पकत्वाद्युक्त एव तथा व्यवहारः । अत्र च समाख्ययावयवार्थयोस्तंसर्गविधादिना सम्बन्धे बुद्धे तन्निर्देशान्यथानुपपत्त्या न स्वतन्त्रविधिः कल्प्यते - अध्वर्युरन्वाधानादि कुर्यादिति; गौरवापत्तेः । अपि त्वन्वाधानादिवाक्यस्याध्वर्युं वृणीते इत्यध्वर्युवाक्यस्य चैकवाक्यतासम्पादकपदमात्रं-यमध्वर्युं वृणीते सोऽग्नीन्वाद्धातीति । तच्च द्वयोर्विध्योः कथञ्चिदेकबुद्धिस्थितेत्येवंविधां स्थानकल्पनां विना न सम्भवतीति तत् कल्पयित्वा पूर्ववदेवाध्वर्योस्तन्नियमादृष्टद्वारेतिकर्तव्यतात्वं प्रकल्प्यान्वाधानस्य तदाकाङ्क्षारूपप्रकरणकल्पनया द्वयोर्विध्योर्महाविध्येकदेशत्वाख्यपदसंनिधिरूपं वाक्यं कल्प्यते । तश्चाध्वर्युमात्रनिष्ठं योग्यतारूपं लिङ्गं प्रकल्प्यैकवाक्यतासम्पादकपदरूपश्रुतिकल्पनाद्युक्तमस्याऽषष्ठप्रमाणत्वम् ॥

प्रयोजनं रूढत्वसम्बन्धानवगमादिपूर्वपक्षेऽन्वाधानादावध्व-

योर्नियमाभावः । श्रुत्याद्यन्तर्भावपूर्वपक्षे स्थानाद्यपेक्षया प्राब-
ल्यम् , सिद्धान्ते नेति द्रष्टव्यम् ॥ सूत्रं स्पष्टम् ॥

इति षष्ठं समाख्याधिकरणम् ॥

अथ सप्तमं श्रुतिलिङ्गादीनां प्राबल्यदौर्बल्याधिकरणम् ॥
(बलाबलाधिकरणम्) (७)

सू-श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां
समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥३-३-१४॥

तदेवं श्रुत्यादीनां षण्णां विनियोगहेतुत्वमुक्तम् । इहेदानीं
तेषां समवाये कस्य दौर्बल्यमिति चिन्त्यते । समवायश्च विरोधे
सत्येकविषयत्वम् , तद्यथा-प्रमाणानां विषयशेषः । स
यत्रैको द्वयोः प्रमाणयोर्विरुद्धानेक(१)शेष्यन्वयित्वाच्च विरुध्यते,
यथा-एकैवैन्द्री श्रुतिलिङ्गयोर्गार्हपत्येन्द्ररूप(२)शेष्यन्वयित्वात् ।
यत्र वा प्रमाणविषयशेषानेकत्वेऽपि शेषविषयीभूतशेष्ये-
कत्वम् , यथा-एकस्मिन् गार्हपत्ये श्रुत्यैन्द्रीशेषः , लिङ्गाच्च तेनैव
द्वारेण प्रकरणस्थाऽऽनेयी, तत्राऽपि शेषिण एव परम्परया
कथञ्चित्प्रमाणाविषयत्वाद्विरुद्धानेकशेषान्वयितया च विरुद्धत्वा-
त्समवायः । अयं च शेषसमवायत्वेनैव वार्तिके व्यवहृतः ।
अस्माभिस्तु सूत्रस्वारस्यात्प्रमाणसमवाय एव कथंचिद्व्यवहि-
यते । अत्र च न विरोधमात्रं समवायस्य; सत्यपि विरोधेऽश्वमहि-
षादिवदेकविषयत्वाभावे बलाबलस्याभावात् ।

१ विशेष्यान्वयाच्च ।

२ विशेष्यान्वयित्वात् ।

नाप्येकविषयत्वमात्रम् । सत्यप्यरुणया क्रीणातीत्यादावारु-
प्यसाधनीभूतक्रयार्थत्वरूपैकार्थविषयत्वे श्रुतिवाक्यप्रकरणानां
विरोधाभावेन तदभावात् ।

वस्तुतस्तु श्रुतेरेव तत्र विनियोजकत्वं, वाक्यप्रकरणयो-
स्तद्देश्यविशेषणसमर्पणमात्र एव व्यापार इति नैकविषयत्वम् ।
अतश्च द्वयोः प्रमाणयोरेकविषयत्वमेव समवायशब्दार्थः । तत्र
क्वचिदेकस्मिच्छेषे द्वयोः प्रमाणयोर्विभिन्नशेषिविषयत्वेन ज्ञापक-
त्वात् । क्वचिच्च द्वयोश्शेषयोरैकरूप्येणैकशेषविषयत्वेन ज्ञापक-
त्वात् । अत्र चैकरूप्यग्रहणं वैमृधप्रयाजादीनामेकदर्शपूर्णमासाख्य
शेषिविषयत्वेन वाक्यप्रकरणज्ञाप्यत्वेऽपि न समवायः, द्वारैक्या-
भावात् । अस्मिंश्च स्थलद्वये प्रमाणयोः प्रबलदुर्बलभावे बाध एव ।
साम्ये त्वाद्ये समुच्चयः, द्वितीये विकल्प इति द्रष्टव्यम् ॥

यत्र त्वेकस्यैव शेषस्यैकशेषिविषयत्व एव प्रमाणद्वयं तत्र
वैषम्ये प्रबलस्यैव विनियोजकत्वं न दुर्बलस्येति । तत्रापि नैक-
विषयत्वाख्यस्समवायः । अस्तु वा तत्रापि सः । प्रयोजनाभावाच्च न
विचारविषयः । साम्ये त्वेकस्यैव विनियोजकत्वमितरस्य तु पुन-
श्श्रुतित्वेन प्रयोजनान्तरकल्पनम् । विनिगमकाभावे तु द्वयोर-
प्यभ्युदयशिरस्कत्वकल्पनया विनियोजकत्वं कर्मान्तरत्वकल्पनया
विषयभेद एव वेति द्रष्टव्यम् ॥

तदिह यथैव विनियोजकप्रमाणानां समवाये बलाबलं
चिन्त्यते, तथा सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणानामुद्देश्यविशेष-
लक्षणातात्पर्यग्राहकाणां च परस्परं समवायेऽपि बलाबलं
चिन्तनीयम् । इदं च तत्र तत्र प्रकटीकरिष्यते । तदिह वाक्या-
दिप्रमाणदौर्बल्यस्य तावत्तद्गम्यविनियोगापवादोपयोगित्वात्पा-
दाध्यायसङ्गतिरूपैव । दौर्बल्यं च प्रतियोगिप्रमाणगतप्राबल्य-

सापेक्षमिति तन्निरूपणमर्थसिद्धम् ।

एवं च श्रुतिलिङ्गयोः श्रुत्योर्लिङ्गयोश्च परस्परविरोधे बला-
बलविचारः प्रासङ्गिक इति नातीव तत्र पादसङ्गतौ यतितव्यम् ।
तत्र शेष्यनेकत्वे तावच्छ्रुत्योः श्रुतिलिङ्गयोश्चेदमुदाहरणम् —

(श्रुतिलिङ्गविरोधोदाहरणम्)

अथौ “कदाचन स्तरीरसीत्यैव्या गार्हपत्यमुपातिष्ठते” इति
श्रुतम् । तत्रायं मन्त्रः किं तद्धितश्रुत्या लिङ्गेन चेन्द्राङ्गमपि ?
किं वा तृतीयया गार्हपत्यस्यैवाङ्गमिति सन्देहः ।

न चास्य विचारस्य प्रासङ्गिकत्वे कथं प्रथमतः कर्तव्यता ?
पादसङ्गतस्य विचारस्यैव प्रथमतः कर्तव्यत्वौचित्यादिति वाच्यम् ।
वाक्यापेक्षया श्रुतिप्राबल्यस्य पूर्वनिराकरणीयत्वेऽपि श्रुतेः
श्रुत्यपेक्षया लिङ्गापेक्षया च प्राबल्ये सिद्धे वाक्यापेक्षया तस्य
सुखोपपादत्वेनास्य विचारस्य प्राथम्योपपत्तेः ।

अनन्तरा तु पूर्वप्रमाणस्वरूपेऽवगते तद्गतबलाबलविचारो-
दयात् स्पष्टा ।

तत्र तृतीयश्रुत्या तावदयं मन्त्रो गार्हपत्याङ्गमित्यविवादमेव ।

न चात्र मन्त्रविशिष्टोपस्थानस्य गार्हपत्याङ्गत्वेन विधा-
नादारुण्यादिवन्मन्त्रस्य धात्वर्थाङ्गत्वमेव तथा भवेन्न गार्हप-
त्याङ्गत्वमिति वाच्यम् । अभिधानस्य मन्त्रसामर्थ्यबलेन समी-
पस्थितेश्चामन्त्रणविभक्तिबलेन प्राप्तत्वादिह लाघवेन गार्हपत्यो-
द्देशेन मन्त्रमात्रस्यैवेन्द्रियकामवाक्यवत् विधेयत्वात् । अतश्च युक्तमेव
तृतीयया तदङ्गत्वेन विनियोगः । द्वितीयायाः श्रुतित्वपक्षे च
तथापि सः । इन्द्राङ्गत्वमपि च तद्धितश्रुत्या । स हि प्राधान्येन
प्रकाश्यत्वरूपं देवतात्वं वदन्मन्त्रं प्रतीन्द्रस्य प्राधान्यमभिधत्त
इति अङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यतावाचित्वाद्युक्त एव तद्धितश्रुत्या

पदश्रुत्या वेन्द्राङ्गत्वेन विनियोगः । न हि(१) कारकविभक्तेरेव कचिदधिको विशेषः ।

न चेन्द्रस्य चयने विनियोगाभावादनुद्देश्यत्वं, तत्र विनियोगाभावेऽपि तदङ्गभूतेन्द्रदेवत्वे ऽविहितमन्त्रके होमे इन्द्रस्योपयोगसम्भवेनोद्देश्यत्वोपपत्तेः । अतश्च समुच्चयेनैवोभयाङ्गत्वम्, प्रतिप्रधानं गुणावृत्तेर्युक्तत्वेन विकल्पस्याप्रसक्तत्वात् । वस्तुतस्तूपक्रमस्थत्वात्ताद्धितश्रुतेरेव प्राबल्यमिति प्राप्ते--

प्राधान्येन प्रकाश्यत्वस्य तद्धितार्थत्वेऽपि प्राधान्यस्य विशेष्यतया तद्धितादनुपस्थितेर्न तस्य वस्तुतो मुख्यश्रुतित्वलक्षणाक्रान्तत्वम् । प्राधान्यमपि च नाङ्गत्वघटकीभूतेऽपि सत्त्वाख्यं तदर्थः, अपि तु भावनावच्छाब्दबोधे विशेष्यत्वमात्रम् । अतश्चोक्तप्राधान्येनोपसिद्धत्वाख्यं तल्लक्षयित्वा विनियोगस्ताद्धितश्रुत्या बोध्येतेति कारकश्रुतितो दौर्बल्यम् । अन्यानि च दौर्बल्यकारणान्यैन्द्राधिकरण एव निरूपितानि ।

न चैवं तेन पौनरुक्त्यम् । तत्र गौणसामर्थ्यस्य श्रुतिसहायत्वमात्रनिरूपणात् । तत्सिद्धं श्रुत्योर्विरोधे कारकश्रुतेर्बलीयस्त्वमिति ॥

तथा कारकश्रुत्योरपि विरोधे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'त्यादौ बलाबलं सामान्यविशेषभावादिना द्रष्टव्यम् ।

तथा शेषानेकत्वे विजातीयश्रुत्योर्विरोधे 'सोमेन यजेते'त्यादौ पदश्रुत्यपेक्षया कारकश्रुतेरुपजीवकत्वेन दौर्बल्यं भावार्थाधिकरणे व्याख्यातम् । समानजातीयश्रुत्योर्विरोधे एकस्मिन्नेव पदहोमे सप्तमीश्रुत्या पदेनाहवनीयस्य बाधः ।

तदेवं श्रुत्योर्विरोधे बलाबलं वर्णितम् ।

श्रुतिलिङ्गविरोधे तूभयोरपि समबलत्वमेवेत्याशङ्कते--

तथाहि-मन्त्रे इन्द्रपदस्य मुख्यसामर्थ्यादिन्द्राङ्गत्वयोग्यतारूपं
लिङ्गं तावत्प्रत्यक्षमेव ।

न च तस्याङ्गत्ववाचिपदरूपश्रुतिकल्पनसापेक्षत्वेन दुर्बलत्वम् ।
तत्कल्पनं विनापि तस्यास्तदङ्गत्वबोधकत्वोपपत्तेः । अतश्चोभ-
योरपि तुल्यबलत्वात्प्रतिप्रधानावृत्तेर्न्याय्यत्वेनोभयोरपि समुच्च-
येनाङ्गता । अस्ति चात्र सामान्यसम्बन्धबोधकं प्रकरणम् । इन्द्रस्य
च विनियोगः पूर्ववदेव द्रष्टव्यः ।

किञ्च यद्यपि लिङ्गस्य श्रुतिकल्पकत्वं भवेत् तथाप्यवगते-
ऽपि मन्त्रस्य गार्हपत्याङ्गत्वे इन्द्रस्य स्मारकाकाङ्क्षयैव सहकृतं
लिङ्गं मन्त्रस्येन्द्राङ्गताबोधकम् । इष्यत एव हि प्रबलप्रमाणावगत-
प्रकृतिसम्बन्धस्यापि प्रयाजादेरन्यतराकाङ्क्षयैव विकृतिसम्ब-
न्धित्वम् ।

न चोपायान्तराक्षेपेण स्मारकाकाङ्क्षाशान्तिः । विकृताव-
पि दृष्टार्थाङ्गविषये तुल्यत्वात् ।

किञ्च श्रुतेरप्यसमर्थविनियोगायोगेनास्त्येव स्वावगताङ्ग-
तापर्यवसानार्थं गौणसामर्थ्यापेक्षा । तस्य च मुख्यसामर्थ्योपजी-
वित्वेन श्रुतेरपि स्वपर्यवसानार्थं मुख्यसामर्थ्योपजीवित्वात्तस्य
प्राबल्यमेवावगम्यते । अतश्चैन्द्र्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन कथ-
ञ्चिच्छ्रुतिरेव व्याख्येया । सर्वथा न गार्हपत्यमात्राङ्गमयं मन्त्र
इति प्राप्ते--

अभिधीयते-न तावल्लिङ्गं(१) स्वत एव प्रमाणं 'वेदो-
ऽखिलो धर्ममूल'मिति स्मृत्या वेदस्यैव क्लृप्तस्यानुमानिकस्य वा

धर्मबोधकत्वनियमादर्थ्याहाराहारनिराकरणाच्च ।

किञ्च विहितत्वघटितमङ्गत्वं न विधिकल्पनां विना निर्वहति । स च लिङ्गादिशब्दैकगम्य इत्यवश्यं लिङ्गादिशब्दस्तावत् कल्पनीय एव । अतश्च शब्दोपस्थितस्यैव शब्देनान्वयात्कृतिकारकत्वादिवाचकस्यापि पदस्य कल्पनेति न लिङ्गं स्वतः प्रमाणम् । अत एवाङ्गत्ववाचिपदकल्पनानुकूला योग्यता श्रुतपदार्थनिष्ठा लिङ्गमिष्टमित्युक्तम् ।

किञ्च यद्यप्यङ्गत्वकल्पनानुकूलैव सा लिङ्गमित्याश्रित्य लिङ्गं श्रुतिं च कल्पयेत्तथापि श्रुतिस्थले श्रावणप्रत्यक्षेण विधिवाक्येऽवगते झटित्येवाङ्गत्वरूपार्थावगतिः । लिङ्गस्थले तु प्रत्यक्षेण मन्त्रपदेऽवगते तेन शक्यार्थावगमोत्तरं तदङ्गत्वयोग्यताज्ञानात्तदङ्गत्वप्रतीतिरिति दौर्बल्यम् ।

यन्ववगतेऽपि श्रुत्या विनियोगे इन्द्रस्य स्मारकापेक्षयैवास्य विनियोग इति, तन्न स्मारकाकांक्षाया अविशेषोपस्थितध्यानाद्युपायान्तराक्षेपेणापि निवृत्तिसिद्धेः एतन्मन्त्रनियमे प्रमाणाभावात् । विकृतिस्थले तु देवतारूपाङ्गापेक्षया आक्षेपेणानिवृत्तेः सादृश्यविशेषोपस्थितप्राकृताङ्गनियमो नायुक्तः ।

यदपि श्रुतेरप्यसमर्थविनियोगायोगेन सामर्थ्यापेक्षामित्युक्तं तद्योग्यतानिश्चयस्य श्रुतशब्दजन्यशाब्दबोधे कारणत्वाभावादयोग्यतानिश्चयाभावमात्रेण श्रौतविनियोगोपपत्तेः उत्तरकालं तदपेक्षायामपि विनियोगप्रमारूपे कार्येऽविप्रकर्षाभावाल्लिङ्गोपजीवित्वाभावेन परास्तम् । तस्मात् श्रुत्यैव गार्हपत्याङ्गत्वेन मन्त्रविनियोगः ।

नन्वङ्गत्वं नाम परोद्देशप्रवृत्तकृतिकारकत्वेन विहितत्वम् । तत्र परोद्देश्यताकृतिकारकत्वयोश्श्रौतत्वेऽपि परस्परसमभिव्याह-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३५३

तगार्हपत्यप्रातिपदिकगम्यत्वेन वाक्यीयत्वाल्लिङ्गविरोधस्य तत्कृ-
तत्वेन श्रुतिकृतत्वाभावात्कथमत्र लिङ्गं बाध्यमिति चेत्-न;
एवमपि विधिवाक्यत्वेन तस्य मन्त्रगतलिङ्गापेक्षया प्राबल्यात् ।
वक्ष्यते हि 'यद्यप्यन्यदेवत्यः पशु'रिसादौ तत् ।

वस्तुतस्तु यथैव नायं केवलश्रुतिविरोधः, एवं न केव-
लवाक्यविरोधोऽपि । गार्हपत्यपदसमाभिव्याहारस्यैन्द्राधिक-
रणपूर्वपक्षन्यायेन समीपस्थितिविशेषणत्वादिनाप्युपपत्तेः ।
अतश्चायमुभयविरोधोऽपि सन् कृतिकारकत्वादेर्भावनान्वयि-
तया प्राधान्यात्तद्वोधकतृतीयादेरपि प्राधान्यावगतेः 'प्रधा-
नेन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायात् श्रुतिविरोध एवेति भण्यते,
न वाक्यविरोधः । अत एव यत्र वाक्यमेव परस्य कृतिकारक-
त्वादेश्च गमकं तत्रैव तद्विनियोगस्तेन प्रमाणान्तरविरोधश्च । प्रकृते
तु केवलं श्रुतिलिङ्गविरोध एवेति युक्तस्तथा तस्य बाधः । बा-
ध्यलिङ्गविषयोऽपि चात्र केवलमिन्द्रपदमेव । अवशिष्टपदानां
तु तदेकवाक्यतयेन्द्राङ्गत्वान्न तद्विषयत्वम् । अतश्च तदंशे श्रुति-
वाक्यविरोध एव ।

वस्तुतस्तु श्रुत्येन्द्रपदस्य गार्हपत्याङ्गत्वे प्रमापिते अवशिष्ट-
पदानां तदेकवाक्यतया गार्हपत्याङ्गत्वस्यैवापत्तेर्न तदंशे
श्रुतेर्व्यापार इति सा वस्तुतस्तात्पर्यगत्येन्द्रपदमात्रविषयिण्येवेति
ध्येयम् ॥

एवमेकस्मिञ्छेषिणि शेषानेकत्वस्य श्रुतिलिङ्गविरोधोदा-
हरणं-एकस्मिञ्छेषिणि गार्हपत्ये चयनाधेयतासम्पत्त्यर्थं स्मर-
णापेक्षे प्रकरणपाठितासंयुक्ताग्रेय्या लिङ्गेन प्राप्नुवन्त्याः श्रुति-
प्राप्तैर्न्या बाध इति द्रष्टव्यम् । तदा चाग्रेय्यमन्त्रस्य सामान्यस-
म्बन्धसत्त्वेऽन्यत्राप्युत्कर्षः, नो चेज्जपादौ विनियोग इति ध्येयम् ॥

(श्रुतिवाक्यविरोधोदाहरणम्)

श्रुतिवाक्ययोर्विरोधे-‘आग्नेय’ इत्यादौ सम्बन्धसामान्ये तद्धितमभ्युपगम्य वाक्यादग्नेरष्टाकपालाङ्गत्वं श्रुत्या देवतातद्धितत्वादेवगतेन यागाङ्गत्वेन बाध्यते । सर्वत्र चोत्तरोत्तरप्रमाणस्य पूर्वपूर्वप्रमाणकल्पकत्वावश्यकत्वस्य तत्तत्स्वरूपनिरूपणावसर एवोक्तत्वादौर्बल्यम् । वार्तिके त्वारूप्यस्य वाक्यायमेकहायन्यङ्गत्वं श्रौतेन क्रयाङ्गत्वेन बाध्यत इत्युक्तम् । तदेकहायनीसम्बन्धस्याव्युत्पन्नत्वादव्युत्पन्नपदसन्निधेर्वाक्यत्वानुपपत्तेरुपेक्षितम् ।

शेषानेकत्वे तु क्रमप्रकरणादिनाग्निष्टोमस्तोत्राङ्गतामापन्नगिरापदव्यतिरिक्तप्रगाथैकवाक्यतापन्नगिरापदस्यापि तदेकवाक्यत्वेनाङ्गत्वप्रसक्तौ ‘परं कृत्वोद्गोय’मिति विकारार्थतद्धितश्रुत्या इरापदविधानम् ।

यद्यपि नेयं मुख्या श्रुतिस्तथापि गौणश्रुतेरेवोदाहरणम् । मुख्यश्रुतेस्त्वन्यन्मृग्यम् ।

वस्तुतस्तु गिरापदव्यतिरिक्तप्रगाथस्येव गिरापदस्यापि तेनैव प्रमाणेन स्तोत्राङ्गत्वोपपत्तेर्नायमेकान्तेन श्रुतिवाक्यविरोधः । किन्तु यत्र तद्व्यतिरिक्तपदानां लिङ्गेन स्वार्थाङ्गत्वं तस्य च देवस्य त्वादिपदचद्वाक्येनैवेतरपदार्थाङ्गत्वं तत्र तत्स्थाने पदान्तरस्य श्रुत्या विधाने दष्टव्यम् ।

(श्रुतिप्रकरणविरोधोदाहरणम्)

श्रुतिप्रकरणविरोधे-एकविंशत्याद्यनुवचनानां प्रकरणाद्दर्शाद्यङ्गत्वप्रसक्तौ प्रतिष्ठाकामस्येति गौणषष्ठीश्रुत्या पुरुषार्थत्वम् । द्वादशाहीनस्येति न श्रुतिप्रकरणविरोधोदाहरणम् । अपि तु श्रुतिक्रमविरोधोदाहरणमेव, द्वादशत्वस्य सिद्धरूपत्वेन प्रकरणाविषयत्वात् ।

यत्स्वत्र राणककारेण प्राकृताङ्गानुवादेन विधानादस्यापि प्रकरणविषयत्वमित्युक्तम् । तदहीने उपसदामातिदेशिकत्वेऽपि ज्योतिष्टोमे औपदेशिकत्वात्तदनुवादेन विहितस्य द्वादशत्वस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणविषयत्वानुपपत्तेरुपेक्षितम् ।

शेषानेकत्वे तु प्रतिष्ठाकामदर्शपूर्णमासप्रयोगे प्रकरणात्प्राग्दश्यानुवचनेऽङ्गत्वेन प्रसक्ते षष्ठीश्रुत्यैकविंशत्यनुवचनविधानम् । यद्यपि चात्र नित्यानुवचनस्याग्निसामिन्धनाङ्गत्वमेव वास्तवम्, न तु दर्शाद्यपूर्वीयप्रयोगाङ्गत्वमपि; तस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वेनान्यथासिद्धेः । प्रतिष्ठाकामीयत्वं तु नोद्देश्यतावच्छेदकमपि ।

एवं काम्यानुवचनस्यापि श्रुत्या प्रतिष्ठाङ्गत्वमेव, न तु तत्कामीयदर्शादिप्रयोगाङ्गत्वं प्रमाणाभावात्, तथापि सम्बन्धमात्रेऽङ्गत्वमुपचर्य वार्तिककारेणोदाहृतमित्युदाहृतम् । वस्तुतस्तु युक्तमुदाहरणमूह्यम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

(श्रुतिक्रमविरोधोदाहरणम् ।)

श्रुतिक्रमविरोधे-परिव्याणादियूपधर्माणामनुष्ठानसादेऽयादग्नीषोमीयाङ्गत्वे तदीययूपाङ्गत्वे वा प्रसक्ते द्वितीयाश्रुत्या यूपसंस्कारार्थत्वावगमात् यूपस्वरूपे चानर्थक्याभावेनापूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकदुर्बलप्रमाणापेक्षया अभावादनुवादस्य संनिहितगामित्वासिद्धर्थं तदपेक्षणेऽपि च यूपस्योपदेशातिदेशाभ्यामवगताङ्गभावस्याप्यग्नीषोमीयप्रयोगान्तःपातोत्पत्तित्वाभावेन भिन्नकालानुष्ठितस्य ज्योतिष्टोमसम्बन्धिसर्वपशुयागार्थं व्यक्तिसाधारणत्वावगतेस्तदुद्देशेन विहितानां परिव्याणादीनां सर्वपशुयागसम्बन्धियूपाङ्गत्वमिति तान्युदाहरणम् । एवं 'रशनया यूपं परिव्ययती'त्यनेनोक्तयूपकर्मकपरिव्याणोद्देशेन विहिताया रशनाया अपि सर्वसम्बन्धिपरिव्याणाङ्गत्वम् । तद्धर्माणां च दर्भमयत्वा-

दीनां तादृशरशनाङ्गत्वम् ।

न च परिव्याणादीनामग्नीषोमीयपशुमात्रसम्बन्धियुवाङ्गत्वे-
ऽपि पश्वन्तरेऽतिदेशेन प्राप्स्युपपत्तेर्यूपस्यैकत्वेन च सकृदनुष्टि-
तानामेव प्रसङ्गेन सिध्युपपत्तेः सर्वसम्बन्धे फलाभावः । परिव्या-
णे फलाभावेऽपि रशनाविधौ द्वितीयान्तयूपपदसमभिव्याहारम-
हिम्नैतद्यूपसम्बन्धिपरिव्याणत्वावच्छेदेन रशनातद्धर्मविधानात्
सवनीयपश्वरथापूर्वपरिव्याणान्तरेऽपि रशना तद्धर्मप्राप्तिरूपफलस-
त्त्वात् । सवनीये हि “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्य-
यती”ति परिव्याणं कालविशेषे विहितम् । तच्च न सर्वार्थम् । एत-
द्वाक्ये यूपस्वरूपे आनर्थक्येनाभिं संमार्ष्टी”तिवदपूर्वसाधनलक्षणार्-
थमनुष्ठानसादेश्यापेक्षणेन सवनीयार्थत्वस्यैवावगतेः प्रकृतकार्यस्य
सिद्धत्वाच्च न तदर्थमपि । अतश्चापूर्वे तस्मिन्नपि रशनात-
द्धर्मप्राप्तिः फलम् । प्रकारान्तरं चाग्रे निरूपयिष्यते । एवं यथाक्रम-
पाठस्य सन्निधौ पाठस्य च श्रुतिविरोधे उदाहरणमूह्यम् ।

शेषानेकत्वे तु संनिधानात् पशुकामसाध्यप्रणयनप्रयोगे च
सिद्धरूपस्य चमसस्य प्रसक्तौ श्रौतेन गोदोहनेन बाधः । इदमपि
च श्रुतिप्रकरणविरोधवत् सम्बन्धमात्रे विरोधादुदाहृतम् ।

(श्रुतिसमाख्ययोर्विरोधोदाहरणम् ।)

श्रुतिसमाख्ययोर्विरोधे पौरुडाशिकमिति समाख्याते काण्डे
सामान्नात ‘इषे त्वे’त्ययं मन्त्रः समाख्यया पुरोडाशाङ्गत्वेन प्रस-
क्तः “इषे त्वेति शाखां छिनत्ती”तीतिकरणाख्यगौणश्रुत्या
शाखाच्छेदनाङ्गत्वेन विनियुज्यते ।

न चात्राधिकारस्य प्रकरणेन साक्षाद्यागाङ्गत्वावगतेरयं
श्रुतिक्रमविरोधः । यागस्य स्पष्टलिङ्गकमन्त्रान्तरावरुद्धत्वेना-
स्य साक्षात्त्रानन्वये आनर्थक्यतदङ्गन्यायेनाङ्गेषु प्रसक्तौ समा-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३२७

ख्यानुरोधेन पुरोडाशाङ्गतोपपत्तेः । अत एवोपजीव्यसमाख्यानु-
रोधेन क्रमसङ्कोचः ।

अथवा यत्रानारभ्याधीते मन्त्रे ऋतुविशेषाङ्गत्वबोधिका
समाख्या तत्रान्यक्रत्वङ्गत्वे श्रुत्यन्तरमूह्यम् । शेषानेकत्वे तु
हौत्रसमाख्यातायां ऋतुयाजयाज्यायां समाख्याया होतरि प्रसक्ते
यजमानस्य याज्येति गौणषष्ठीश्रुत्या यजमानः कर्तेत्युदाहार्यम् ।
तस्मात्सिद्धं श्रुतेः स्वोत्तरेभ्यः प्राबल्यम् ॥

(द्व्योर्लिङ्गयोर्विरोधे उदाहरणम्)

एवं लिङ्गस्यापि लिङ्गेन विरोधे—मन्त्राणां गौणसामर्थ्येन
गौणार्थाङ्गत्वे प्रसक्ते मुख्यसामर्थ्येन मुख्यार्थाङ्गत्वम् । शेषानेकत्वे
त्वेकस्मिञ्छेपिणि गौणमुख्यसामर्थ्येन मन्त्रद्वयमुदाहार्यम् ॥

(लिङ्गवाक्यविरोधोदाहरणम्)

लिङ्गस्य वाक्येन विरोधे तु “स्योनं ते सदनं कृणोमि घृ-
तस्य धारया सुशेवं कल्पयामि । तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीही-
णां मेध सुमनस्यमान” इति मन्त्रः पूर्वोत्तरार्थयोरेकत्र संनिधा-
नात्मकेन वाक्येन सदनमात्राङ्गत्वेन प्रसक्तौ लिङ्गेन पूर्वार्ध स-
दने उत्तरार्धं च सादन इत्येवं विभज्य विनियुज्यते ।

न चात्र भिन्नप्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेष्यराहित्यरूपैका-
र्थ्यस्याख्यातभेदेनाभावादेकवाक्यत्वाप्रसक्तेः कथं लिङ्गेन तस्य
बाध इति वाच्यम् । प्रतीतितः ऐक्यार्थाभावेऽपि तच्छब्दस्य पूर्व-
सापेक्षत्वेन ‘ये यज्ञपतिं वर्धानि’त्यादौ यच्छब्दस्येव विभज्यमा-
नसाकाङ्क्षत्वात्तन्मात्रेणैव तद्वदेवार्थैकत्वमपि प्रकल्प एकवाक्यत्वो-
पपत्तेः । शक्यते ह्याख्यातोपात्ताया अपि भावनाया भावनान्तरे
प्रकारतया साकाङ्क्षत्वे सखन्वयः ‘पश्य मृगो धावती’त्यादिव-
त्कल्पयितुम् । अत एवाख्यातस्थोत्सर्गतो मुख्यविशेष्यतयैव

स्वार्थप्रतिपादकत्वेऽपि साकाङ्क्षस्थले प्रकारतया तत्कल्पनमपि नातीव दोषाय ।

अत एव प्रकारत्वेन स्वार्थबोधकल्पनाप्यसञ्जातविरोधि-
त्वादाकाङ्क्षात्प्रापकतच्छब्दश्रवणाभावाच्च न पूर्वाख्याते । अपि
त्वीदृशं सदनकरणं यस्य क्वचित्प्रतिष्ठापनं साध्यमित्येवमुत्तर-
भावनाया एव प्रकारत्वकल्पनादुत्तराख्यात एव ।

एवं च सदनकरणे पूर्वार्धस्य लिङ्गेनैव विनियोगेऽप्युत्तर-
ार्धस्य देवस्य त्वादिपदस्य निर्वापादिपदैकवाक्यतया निर्वाप इव
पूर्वार्धैकवाक्यतया सदनकरणे विनियोगो नानुपपन्नः ।

नन्वेवं वाक्यस्य प्रसक्तावपि कथं लिङ्गेन तद्वाधः ? यावता
देवस्य त्वादिपदवदस्यापि पृथक्प्रयोगे साकाङ्क्षत्वेनानर्थक्यप्र-
सङ्ग इति चेत्-तच्छब्दो हि पूर्वप्रसिद्धिमात्रमपेक्षते, न तु वाक्यायां
पूर्वप्रसिद्धिम्, प्रकरणप्रसिद्ध्यापि लोके तद्दर्शनात् । वेदेऽपि 'तप्ते
पयसि दध्यानयती'ति वाक्यान्तरप्रापितस्य पयस 'स्सा वैश्वदे-
वी'ति तच्छब्देन परामर्शाच्च । यच्छब्द एव हि तच्छब्दार्थं स्ववा-
क्योपस्थितं नियमेनापेक्षते 'येन कर्मणेर्त्सेत्तत्र जयाञ्जुहुया'दि-
त्यादौ तथैव व्युत्पत्तिदर्शनात्, न तु तच्छब्दोऽपि । अतश्च तच्छ-
ब्दस्य स्ववाक्योपस्थितमात्रपरामर्शित्वनियमाभावाद्भिज्यमान-
साकाङ्क्षत्वाभावेनार्थैकत्वकल्पनानुपपत्तेः युक्तो लिङ्गमात्रेण पुरो-
डाशसादन एवोत्तरार्धस्य विनियोगः ।

एवं सत्यपि देवस्य वेत्यादिपदस्यानर्थक्यं पृथक् प्रयोगे भवेत्
ततो भवेदप्युत्तरार्धस्य सदने विनियोगः । लिङ्गावगतापूर्वसाध-
नीभूतपुरोडाशसादनार्थत्वेन सुतरां सार्थक्यात् । तस्मात्सिद्धमुत्त-
रार्धस्य लिङ्गात्सादनाङ्गत्वमेव, न तु वाक्यात्सदनाङ्गत्वमिति ।
अत्र च सर्वत्रोत्तरोत्तरप्रमाणस्य पूर्वपूर्वप्रमाणकल्पनाप्रकारस्स-

वोऽपि तत्तत्प्रमाणस्वरूपनिरूपणावसरे एव प्रपञ्चित इति नेह पृथक्प्रपञ्च्यते । शेषानेकत्वे त्वेकस्मिन्नेव सदनकरणे शेषिणि वाक्यादुत्तरार्थस्यापि शेषत्वे प्रसक्ते लिङ्गादपूर्वार्थस्यैव तदिती-
दमेव भङ्गान्तरेण द्रष्टव्यम् ।

यच्चत्र वार्तिककृतोदाहरणान्तरमुक्तं—‘होता यक्षन्मित्रावरु-
णौ प्रशास्तारौ प्रशास्तादनुना सोमं पिबतां प्रशास्तर्यजेति प्रैषपा-
ठस्य ‘मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानुचाहे’ति वाक्येन मैत्रावरुण-
कर्तृकत्वे प्रसक्ते स्वात्मनि प्रशास्तृशब्दवाच्ये मैत्रावरुणे स्व-
स्यैव प्रैषासम्भवालिङ्गेनान्यकर्तृकत्वम्, तत्रा ‘पीतरमन्यस्तेषां
यतो विशेषस्या’दिति न्यायेनाच्छावाके प्राप्ते सामान्यसमाख्यया
होतुरेव लिङ्गेन प्रतिप्रसव इति; तद्ब्राह्मणवाक्यस्य मन्त्रलिङ्गेन
बाधायोगादुपेक्षितम् । न हि मन्त्रलिङ्गं तदपेक्षया प्रबलम्, मन्त्रस्य
ब्राह्मणविहितार्थप्रकाशकत्वेन तत्परतन्त्रत्वात् । अन्यथा मनोताम-
न्त्रस्यापि सामान्यसम्बन्धग्राहिप्रमाणसत्त्वेन लिङ्गात्सवनीयाङ्गत्वा-
पत्तौ “यद्यप्यन्यदेवत्यः पशुराग्नेय्येव मनोता कार्ये”ति वाक्यावग-
ताग्नीषोमीयाङ्गत्वबाधापत्तेः । न हीयं श्रुतिः, येन लिङ्गं बाधेत ।
अन्यदेवत्यपशुशेषत्वस्य समभिव्याहारगम्यत्वात् तेनात्र श्रौत-
त्वोक्तिरपि वार्तिककारीया नातीवार्तव्या । यथा च नास्य
वाक्यस्य वागव्यादिपशावूहनिवर्तकत्वं तस्य प्रकृतावन्यायनि-
गदत्वेनाप्रसक्तत्वात्, किं तूत्कर्षनिवर्तकत्वमेव, तथा मन्त्रा-
धिकरण एव प्रपञ्चितम्, दशमे चोपपादायिष्यते । अतश्च ब्राह्म-
णवाक्यस्य मन्त्रलिङ्गेन बाधायोगान्नेदमुदाहरणं लिङ्गवाक्यवि-
रोधे सङ्गच्छते ।

कथं तर्ह्यस्य प्रैषस्य होतृकर्तृकत्वसिद्धिः ? उच्यते—दुर्ब-
लस्यापि प्रमाणस्य विशेषविषयत्वे तेन प्रबलस्यापि सामान्य-

विषयस्य सङ्कोच इष्टः । 'यस्मिन्देक्षे मृगः कृष्ण' इत्यादि-
स्मृत्या क्रतुस्मृतिश्रुतिसङ्कोचस्य प्रमेयबलाबलवत्त्वन्पायेन सा-
धितत्वात् । तदिहापि ब्राह्मणवाक्यस्य सामान्यविषयत्वान्मन्त्र-
लिङ्गस्य विशेषविषयत्वेन बाधकता, न तु लिङ्गत्वेनेति नेदं लि-
ङ्गवाक्योदाहरणं, न वा प्रैषस्य होतृकर्तृकत्वसिद्धिः ।

न च होतुः प्रैषपाठकर्तृत्वे प्रैषार्थस्य याज्यामन्त्रपाठस्य
मैत्रावरुणकर्तृकत्वापत्तेर्होता यक्षदिति मन्त्रोपक्रमे होतुर्याज्याम-
न्त्रपाठकर्तृत्वलिङ्गानुपपत्तिः । तत्रत्यहोतृशब्दस्या'थ कस्माद्-
होतृभ्यस्सञ्च्यो होत्रंशसस्तुभ्यो होता यक्षदिति प्रेष्यती-
ति पृष्ट्वा "प्राणो वै होता प्राणस्सर्वत्विज, इति प्रतिवचनकरणा-
द्गौण्या वृत्त्या मैत्रावरुणपरत्वतात्पर्यावगतेः ।

(लिङ्गप्रकरणविरोधोदाहरणम्)

लिङ्गप्रकरणविरोधे तु-पूषानुमन्त्रणमन्त्रस्य प्रकरणेन दर्शपूर्ण-
मासयोर्विनीयोगे प्राप्ते समाख्यासहकृतलिङ्गात्पूणदेवस्यकर्माङ्गत्वम् ।
इदं च सिद्धरूपत्वान्मन्त्रस्याधिकाराख्यप्रकरणविरोधे ज्ञेयम् ।

मुख्यप्रकरणविरोधे त्वन्यदूह्यम् । एवमग्रेऽपि । शेषानेकत्वे
तु पूषानुमन्त्रण एव प्रकरणादाश्रेये प्राप्ते मुख्यलिङ्गकेनानुमन्त्र-
णेन बाधः ।

(लिङ्गक्रमविरोधोदाहरणम्)

लिङ्गक्रमविरोधे-‘उपहृत उपह्वयस्वे’ह्वनयोर्यथाक्रमं पाठा-
त्प्रश्नप्रतिवचनशेषत्वे क्रमेणावगते लिङ्गाद्वैपरीत्यम् । एवं क्रमा-
न्तरविरोधेऽपि द्रष्टव्यम् । शेषानेकत्वे त्वन्यदेवत्याविकृतिसन्नि-
धावन्यदेवसानुमन्त्रणस्याम्नातस्य तद्देवत्यानुमन्त्रणेन बाधः ।

(लिङ्गसमाख्याविरोधोदाहरणम्)

लिङ्गसमाख्याविरोधे-मनो ऋचः पृथुवाजवत्योश्च क्रमस-

हकृतयाज्यासमाख्यया (१)सोमारौद्रयागे याज्यात्वे प्रसक्ते ऽग्नि-
प्रकाशनलिङ्गात्क्रमसहकृतात्तदीये सामिधेनीकार्ये निवेश इति ॥
शेषानेकत्वे तु(२) मनोऋचामेव सोमारौद्रयागे याज्यात्वप्रसक्तौ
तद्देवत्ययाज्यानुवाक्याभ्यां लिङ्गप्राप्ताभ्यां बाधः ।

(वाक्ययोर्विरोधोदाहरणम्)

वाक्ययोर्विरोधे-उपांशुत्वस्य “त्सरा वा एषा यज्ञस्ये”ति
व्यवेतयज्ञपदैकवाक्यत्वाद्यज्ञभागधर्मत्वं “तस्माद्यत्किञ्चिद्गनी-
षोमीयात्तेनोपांशु चरन्ती”त्यनेन सन्निहितयत्किञ्चित्पदैक-
वाक्यतयावगतपदार्थधर्मत्वेन बाध्यते । शेषानेकत्वे तु ‘पञ्चदश
सामिधेनीरनुब्रूयात्, सप्तदश वैश्यस्ये’ति ।

(वाक्यप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणम्)

वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे-पूषानुमन्त्रणमन्त्रगतस्या‘हं देवयज्य-
या पुष्टिमान् भृषास’मिति पदसमुदायस्य प्रकरणाद्दर्शयिज्ञत्वे प्रस-
क्ते पूषपदैकवाक्यत्वात्पूषदेवत्यकर्माङ्गत्वम् । तथा श्रुतिविनियुक्त-
स्यापि सूक्तवाकस्योपजीव्येन लिङ्गेनेष्टदेवताप्रकाशनार्थत्वस्था-
पनात्तदनुरोधेन पौर्णमास्यामग्नीषोमादिपदानि, अमावास्यायाञ्चै-
न्द्राग्न्यादिपदानि विभज्य प्रयोज्यानीत्यस्यापि स्थापितत्वा-
द्गनीषोमपदैकवाक्यतापन्नाना‘मिदं हविरजुषेता’ मित्यादीनाम-
मावास्यायां प्रयोगः, इन्द्राग्न्यादिपदैकवाक्यतापन्नानां चे‘दं हवि-
रित्यादीनां पौर्णमास्यां प्रयोग इत्येवं प्रकरणादिदं हविरजुष-

१. तैत्तिरीयसंहितायां द्वितीयकाण्डे द्वितीयप्रपाठके दशमानु-
वाके “यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात् तस्मा एतः सोमारौद्र चरुं निर्व-
पेत्” इति वाक्यविहितो यागः सोमारौद्रयागः ।

२. तै.सं.का.१-प्र.८. द्वाविंशेऽनुवाके “प्र बाहवासिस्रुतं” इत्यु-
च्योऽनन्तरं “अग्निं वः पूर्व्यं गिरा देवं” इत्याद्या याष्यदृच आम्नाताः
ताः मनोऋच इत्युच्यन्ते ।

तेत्यस्य द्विरावृत्तिप्रसक्तौ तत्तद्देवतापदैकवाक्यतया विभज्य विनियोग इति । तत्र च मन्त्रपदानां सिद्धरूपत्वात् श्रुतिविनियुक्तत्वाच्च मुख्यप्रकरणविषयत्वाभावेऽप्यधिकाराख्यप्रकरणस्याङ्गताबोधकतयाऽपूर्वसाधनलक्षणातात्पर्यग्राहकतयैतद्विषयेऽपि प्रसक्तत्वाद्युक्तो वाक्येन बाधः ।

मुख्यप्रकरणोदाहरणं तु वैमृधस्य प्रयाजादिवद्दर्शाङ्गत्वप्रसक्तौ वाक्येन पौर्णमासमात्राङ्गत्वमिति । यथा चात्र प्रकरणं वाक्यस्यापि कल्पकं तथा तत्स्वरूपनिरूपणप्रसङ्ग एव निरूपितम् । पौर्णमासांशे तु प्रकरणं सदपि दुर्बलत्वादनुवादः । शेषानेकत्वे तु वेदिकरणवृत्तिहविरभिवासनोत्तरत्वस्याधिकाराख्यप्रकरणान्मुख्यप्रकरणादेव वा दर्शाङ्गत्वे सिद्धे 'पूर्वेद्युरमावास्याया'मित्यनेन पूर्वेद्युः कालः । न हि समम्याः प्राधान्यमर्थः, येनात्र श्रुतित्वं शक्येत अधिकरणत्वमात्रस्य तदर्थत्वात् । अत एव समम्यन्तस्थले शेषत्वमेव श्रौतं न तु शेषित्वम् ॥

(वाक्यक्रमविरोधोदाहरणम्)

वाक्यक्रमयोर्विरोधे-परिव्याणकरणक्रियमाणानुवादिमन्त्रगतपरिवीरसिपरिवीतपदयोः लिङ्गादेवाग्नीषोमीयक्रमबाधेन यावत्परिव्याणशेषत्वेऽवगते तदेकवाक्यतापन्नपदान्तराणां तथैव क्रमबाधेन वाक्यात् सवनीयपरिव्याणार्थत्वम् । शेषानेकत्वे तु "वृषा पवस्व धारये"ति राजन्पस्य प्रतिपदं कुर्या"दिति इतिकरणरूपगौणश्रुत्याऽऽद्यपादमात्रस्यैव विनियोगाद्वितीयमारभ्य यथाक्रमपाठेन नित्यप्रतिपद्वितीयादिपादप्रसक्तौ नैमित्तिकप्रतिपदाद्यपादैकवाक्यतापन्नद्वितीयादिपदानां वाक्येन प्राप्तिः ॥

(वाक्यसमाख्याविरोधोदाहरणम्)

वाक्यसमाख्ययोर्विरोधे--भक्षानुवाकगतसध्यासमित्यादे-

लिङ्गाद्ग्रहणादौ विनियोगेऽवगते तदेकवाक्यतापन्नशेषपदानां समाख्यया भक्षाङ्गत्वप्रसक्तौ वाक्याद्ग्रहणाद्यङ्गत्वमिति । शेषानेकत्वे तु प्रेषानुवचने समाख्यया होतृप्राप्तेर्वाक्येन मैत्रावरुणविधानमिति ॥

(प्रकरणयोर्विरोधोदाहरणम्)

प्रकरणयोर्विरोधे—अभिक्रमणादेर्महाप्रकरणा(१)दर्शपूर्णमासाङ्गत्वप्रसक्तौ प्रयाजाङ्गत्वमवान्तरप्रकरणात् । शेषानेकत्वे तु यत्रानेकसमुदाये महाप्रकरणादेकधर्मप्राप्तिरवान्तरप्रकरणाच्च तद्विरुद्धधर्माणां, तादृशस्थलमूह्यम् ।

(प्रकरणक्रमयोर्विरोधोदाहरणम्)

प्रकरणक्रमयोर्विरोधे—अनेकेष्टिपशुसोमयागात्मके राजसूयेऽभिषेचनीयो नाम सोमयागः । तत्संनिधा“वक्षैदर्विच्यती”त्यादिना विदेवनाद्ययागरूपमाम्नातम् । तस्य चायागत्वादेव राजसूयफलसम्बन्धे बाधितेऽङ्गत्वावश्यकभावेन संनिधिलक्षणक्रमादभिषेचनीयमात्राङ्गत्वप्रसक्तौ प्रकरणाद्राजसूययागाङ्गत्वम् ।

न चाभिषेचनीयस्यापि फलवत्त्वेनाप्रतिबन्धाकाङ्क्षत्वादवान्तरप्रकरणोपपत्तेर्वैपरीत्यशङ्का । तस्य विकृतित्वेन प्राकृताङ्गैरेव परिपूर्णत्वात्तदनुपपत्तेः ।

ननु विकृतावपि कचिदस्येव प्रकरणं यत्र प्राकृताङ्गानुवादेन प्राकृतकार्यापन्नमपूर्वं वाङ्गं विधीयते, यथा—शराः, पृषत्ता चानूयाजेषु । तत्र हि निरङ्गाङ्गस्यैव प्राकृताङ्गस्य विकृत्या ह्यग्रणे साकाङ्क्षत्वानिवृत्तेरङ्गस्यापि प्राकृताङ्गग्रहणसमय एव ग्रहणम् । अस्तु वा प्राकृताङ्गानुवादेन विहितापूर्वाङ्गस्थले उपहोमादिवत्सन्निधाना-

देव ग्रहणं तथापि प्राकृतकायापन्नाङ्गस्थले तावद्युक्तमेव प्राकृताङ्ग-
ग्रहणसमये ग्रहणम् ।

यद्यपि चात्र वाक्यीय एव विनियोगः, तथाप्यनिवृत्ताकाङ्क्षा-
यामेव विकृत्या ग्रहणान्मूले प्रकरणविनियोज्यत्वव्यवहारः ।

यत्तु तादृशाङ्गसन्दंशपतितमसंयुक्तं क्रियारूपं च तद्विकृ-
तौ प्रकरणेनैव ग्राह्यम्, अनयोश्च सन्निहितप्रतियोगितेतिकर्तव्यता-
काङ्क्षाया अनिवृत्तत्वात् ।

यदपि चासंयुक्तं नोक्तविधप्राकृताङ्गसम्बन्ध्यङ्गसन्दष्टम्, अपि
तु प्रधानोत्तरमुक्तविधाङ्गात्पूर्वं समाम्नातं तदपि प्रकरणेनैव
गृह्यते । उक्तहेतोस्तत्राप्यविशिष्टत्वात् । अतश्च प्रकृतेऽपि प्राकृतमा-
हेन्द्रस्तोत्रानुवादेन 'माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रथमभिषेच्यत' इति वाक्य-
विहितादभिषेकात्पूर्वमभिषेचनीयोत्तरं विदेवनादीनां पाठात्तेषां
प्रकरणग्राह्यत्वोपपत्तिरिति चेत्--

सत्यप्याभिषेकस्य माहेन्द्रस्तोत्राङ्गत्वे तस्याप्राकृतकार्यापन्न-
त्वेन भवदुक्तरीत्यैव प्रकरणग्राह्यत्वाभावात्तत्पूर्वभाविनामपि प्र-
करणग्राह्यत्वानुपपत्तेः ।

वस्तुतस्त्वभिषेचनीयान्तिमप्राकृताङ्गसम्बन्धिवैकृतगुणविध्यु-
त्तरकालं विदेवनादीनामभिषेकस्य चास्नानात्तादृशोत्पत्तिविधौ
च माहेन्द्रस्याश्रवणेन तस्य माहेन्द्राङ्गत्वानुपपत्तिः ।

न चोत्पत्तिवाक्ये तदङ्गत्वाश्रवणेऽपि संनिधिप्रकरणं च
बाधित्वा वाक्यान्तरेण तदङ्गत्वोपपत्तिः । तद्वाक्यस्य प्रतिशब्द-
योगेनाभिषेके माहेन्द्रस्तोत्रकालतामात्रविधायकत्वेन स्तोत्राङ्ग-
ताविधायकत्वाभावात् । एवं सद्यपि यद्ययमेवाभिषेकविधि-
स्यात् ततो बृहस्पतिसर्वादिवदार्थादेतदुर्नीतेन वाक्येन भवे-
दपि तदङ्गत्वं, न त्वेतदस्तीत्युक्तम् । अतश्चोत्पत्तिवाक्य

एव प्रयोजनजिज्ञासायां सन्निधानात्प्रकरणाद्वा प्रयोजनस्या-
वगमान्माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यत इति कालार्थ एव
संयोग इति वक्ष्यते । तेनाभिषेकस्यापूर्वत्वविधयापि मा-
हेन्द्रस्तोत्राङ्गत्वाभावात्तत्पूर्वभाविनां विदेवनादीनामभिषेचनी-
यप्रकरणविनियोज्यत्वशङ्कानुपपत्तेस्संनिधानादनुष्ठानसादेश्याद्वा-
भिषेचनीयाङ्गत्वं वाच्यम् । तच्च दुर्बलं प्रकरणात् । तेन हि
विदेवनाद्यभिषेकान्तानां राजसूयाङ्गत्वमवगम्यते ।

ननु राजसूयो नाम न कश्चिदर्थान्तरम् । अपि त्विष्टिपशुसामे-
यागा एव । ते च सर्वे प्रत्येकं विकृतित्वान्निराकाङ्क्षा एवेति न
प्रकरणं तस्येति चेत्—न प्रत्येकजन्यपरमापूर्वाणां प्राकृतैरङ्गैर्नै-
राकाङ्क्षेऽपि सर्वयागजन्यैकपरमापूर्वस्य साकाङ्क्षत्वात्तज्जननानुकूल-
प्रत्येकापूर्वनिष्ठयोग्यतासम्पादकत्वेन प्रकरणग्राह्यत्वोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु तादृशपरमापूर्वानङ्गीकारेऽपि पवित्रादारभ्य क्षत्रस्य
धृतिं यावाद्विधिषु ‘राजसूयाय हेना उत्पुनाती’त्यनेनोपक्रमात्
‘राजसूयेनजानस्सर्वमायुरेती’त्युपसंहाराद्वाचनिकाङ्गसन्दर्शने
राजसूयत्वेन रूपेण सर्वेषामेवाकाङ्क्षोन्नीतेति सर्वप्रकरणोपपत्तिः
अत एव विदेवनादीनामारुपकारकत्वात्तत्काले तन्त्रेणानुष्ठाना-
वगतेः प्रकृतौ क्रमबाधफलालाभेऽपि नामातिदेशेन पवित्रादि-
विकारे विदेवनादिधर्मप्राप्तिरूपफलोपपत्तिः ।

एवं प्रकरणस्य यथाक्रमपाठेनापि विरोधे उदाहरणं मृग्यम् ।
शेषानेकत्वे तु यथाक्रमं पाठाद्विरापदस्याग्नीषोमस्तोत्राङ्ग-
त्वप्रसक्तावधिकाराख्यप्रकरणादिरा पदस्य तदङ्गत्वमिति । उदा-
हरणान्तरं वा यथापेक्षितमूह्यम् ।

(प्रकरणसमाख्ययोर्विरोधोदाहरणम्)

प्रकरणसमाख्ययोर्विरोधे—पौरौडाशिकसमाख्यया प्रयाजा-

दीनां पुरोडाशाङ्गत्वे तत्साध्याग्नेयादियागमात्राङ्गत्वे वा प्रसक्ते प्रकरणस्थयागाङ्गत्वमिति । शेषानेकत्वे तु यथोचितमूहम् ॥

(क्रमयोर्विरोधोदाहरणम्)

क्रमयोर्विरोधे—काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डे संनिधिलक्षण-
क्रमाद्वयोरैन्द्राग्रयोर्याज्याद्वयेऽप्यनियमेन प्राप्ते र्यथाक्रमं पाठेना-
त्यन्तप्रधानप्रत्यासन्नत्वात्क्रमेण विनियोग इति ।

यद्यपि च क्रमाधिकरणे एकग्रन्थस्थसंनिध्यपेक्षया यथाक्रमं
पाठस्य दौर्बल्यमुक्तं तथापि प्रकृते तस्य भिन्नग्रन्थस्थत्वात्तदपे-
क्षया पाठस्य प्राबल्याविरोधः । क्रमान्तरस्य तु परस्परबलाबलं
तल्लैबोक्तम् । उदाहरणं तूहम् ।

एवं शेषानेकत्वेऽपीदमेवोदाहरणं 'स्योनं त' इति मन्त्रवद्यो-
ज्यम् । क्रमान्तरे तूहम् ।

(क्रमसमाख्याविरोधोदाहरणम्)

क्रमसमाख्ययोर्विरोधे पौरोडाशिकसमाख्याते काण्डे समा-
म्नातस्य मन्त्रस्य "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यादा" इत्यादे-
स्समाख्यया पुरोडाशाङ्गत्वे तत्साध्याग्नेयादियागीयपात्रप्रोक्षणा-
ङ्गत्वे प्रसक्तेऽवान्तरसंनिधानात्सान्नाय्यापूर्वसाधनीभूतत्वप्रमा-
पणेन तदीयपात्रप्रोक्षणाङ्गत्वम् । तथा चात्र महाधिकाराख्यगौणप्र-
करणेन समाख्यां संनिधिं च बाधित्वा न सर्वसम्बन्धिपा-
त्राङ्गत्वं तथा क्रमाधिकरण एव व्युत्पादितम् । यथा च समा-
ख्यास्थानादिकल्पिका तथा समाख्याधिकरणे ।

एवं क्रमान्तरैस्समाख्याविरोधेऽप्युदाहरण मूहम् । शेषाने-
कत्वे तु यथोचितमसङ्कीर्णमूहम् ।

(समाख्ययोर्विरोधोदाहरणम्)

एवं समाख्ययोरपि सामान्यविशेषभावादिना विरोधः
शेष्यनेकत्वे शेषानेकत्वे च चोदाहर्तव्यः ।

(श्रुत्यादीनां प्राबल्यदौर्बल्ये क्वचित्त्वैपरीत्यमपि)

एवं तावक्च्छ्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वस्य प्राबल्यमुक्तम् । क्वचित्त्वैपरीत्यमपि तत् । तथा पूर्वपूर्वस्यानुमानिकत्वे उत्तरोत्तरस्य च प्रत्यक्षत्वे । अत एव वैदिकमन्यार्थदर्शनरूपमन्यथासिद्धं लिङ्गं स्मृत्यनुमितश्रुत्यपेक्षया प्रबलम् स्मृतेर्मूलान्तरस्यापि सम्भावितत्वादन्यार्थदर्शनस्याप्यन्यथानुपपत्तिविधया लिङ्गत्वाच्च । अत्र च मातुलकन्यापरिणयनस्यानुदाहरणत्वेऽप्यन्यदुदाहरणमूहम् ।

यत्र च दुर्बलस्यापि प्रमाणस्यात्यन्तमानर्थक्यं विषयाभावात्तत्र प्रबलस्यापि सङ्कोचरूपं बाधमङ्गीकृत्य दुर्बलस्य प्राबल्यम्, यथा वषट्कारानिमित्तभक्षादेः प्रबलेन श्रुत्यादिना प्रतिपाद्यावच्छेदेन प्राप्तस्य यजमानचमस इति समाख्यया विषयान्तरं प्रतिपद्यमानाया यजमानकर्तृकभक्षान्तरस्य सोमसंस्कारार्थत्वेन विधानात्प्रतिपाद्यसोमैकदेशसंस्कारकत्वं वक्ष्यते ।

अत एव पूर्वोक्तबाधविषयाणां दुर्बलप्रमाणानामस्ति काश्चिद्विषय इति युक्तस्तथा बाधः ।

तथाहि-पौरोडाशिकं हौत्रमित्यादिसमाख्यायास्तावत्सामान्यविषयत्वाच्छुन्धनमन्त्रादिव्यतिरिक्तविषयत्वेनाप्युपपत्तिः क्रमप्रकरणवाक्यानां च पारायणाद्युपयोगितयापि क्वचिदाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादौ पार्ष्टिकान्वयविषयत्वेनापि वाक्यस्योपपत्तिः ।

लिङ्गं तु गौणीवृत्त्युपयोगशक्यार्थप्रतिपादनेनोपयुज्यत एव ।

एवं यत्र प्रबलप्रमाणस्याविशेषप्रवृत्तावानर्थक्यं गौरवं वा यथा-व्रीहीन्प्रोक्षती'त्यादौ 'स्रुवेणावद्यती'त्यादौ तत्र व्रीहिस्वरूपार्थत्वे आनर्थक्यमवदानमात्रार्थत्वे चायसावष्टम्भादियोग्यताकल्पना गौरवमिति तत्र प्रकरणेन स्वाभाविकयोग्यतया च दुर्बलयापि सङ्कोचः प्रबलस्येति ।

(प्राप्ताप्राप्तबाधभेदनिरूपणम्)

ननु लिङ्गादेर्मन्थरप्रवृत्तिकत्वेन श्रुतिसत्त्वेऽङ्गताबोधकत्वानु-
पपत्तेः अप्रसक्तस्य च विनियोगस्य कथं बाध इति चेत्-ससम् ।
अत एवास्याप्राप्तबाधत्वमिति वदन्ति । तत्त्वं चाङ्गताबोधकलिङ्गा-
दिकल्प्यश्रुतिकल्पनप्रतिबन्धकत्वं श्रुत्याहिगार्हपत्याङ्गत्वे मन्त्र-
स्य प्रमिते निराकाङ्क्षत्वाल्लिङ्गेन श्रुतिकल्पनानुपपत्तेरिन्द्राङ्गत्व-
मप्राप्तमेव ।

एवं दाशमिकोऽपि क्वचिदप्राप्तबाधः । यथा-गृहमेधीये “आ-
ज्यभागौ यजती”त्यनेन प्रयाजादीनां तत्प्रापकप्रमाणकल्पनप्रति-
बन्धकत्वात् । यत्र तु प्रापकप्रमाणं क्लृप्तं तत्र प्राप्तबाधः, यथा-
सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण ।

ननु यदि सामान्यशास्त्रेण पदेऽप्याहवनीय इत्यवगतं तदा
कथं तस्य बाधः ? न ह्यत्र नेदं रजतमित्यादिवन्मिथ्यात्वबोधरूपो
बाधस्सम्भवति सामान्यशास्त्रस्यापि निर्दुष्टत्वेन तज्जन्यबाधस्य
दोषाजन्यतया तस्य मिथ्यात्वार्थोपात् ।

न च करणानिष्टदोषाभावेऽपि वस्तुतः करणे विशेषविष-
यातिरिक्तविषयक एव शेषादर्शनकृतप्रमादरूपप्रमातृदोषेण प्र-
मातुः भ्रमरूपतद्विषयकत्वबोधोपपत्तेर्विशेषदर्शनेन तन्मिथ्यात्वो-
पपत्तिरिति वाच्यम् । एतादृशप्राप्तबाधस्य श्रुतिलिङ्गादिष्वपि सं-
भवात् । तत्रापि हि गार्हपत्याङ्गतारूपविशेषादर्शने प्रमातुर्लिङ्गमा-
त्रदर्शनेन श्रुतिकल्पनद्वारेन्द्राङ्गताविषयकत्वभ्रमस्य सम्भवात् ।
अतस्सर्वत्रैव प्राप्तबाधत्वमिति चेत्-न ; प्राप्तबाधत्वं नाम क्लृ-
प्तस्य बोधकस्य विशेषविषयताप्रतिबन्धकत्वम् । न चै-
तच्छ्रुतिलिङ्गादिषु सम्भवति । तत्र बोधिकाया लिङ्गकल्प्यश्रुते-
नियमेनाकल्पितत्वात्कदाचित्कल्पिताया अपि प्रत्यक्षश्रुत्या

तस्या एव मिथ्यात्वकल्पनाच्च । सामान्यशास्त्रस्य तु क्लृप्तत्वे-
नाकल्पनीयत्वाद्धोमान्तरे आहवनीयाभावापर्याया च तन्मि-
थ्यात्वकल्पनस्याप्ययोगात्क्लृप्तस्य तस्य विशेषशास्त्रेण स्व-
विषयविषयता प्रतिबन्धमात्रं क्रियत इति सोऽयमप्राप्तबाधः ।
एवं च सामान्यशास्त्रं विशेषविषयातिरिक्तविषयं विशेषात्सम्प-
द्यते । एवमुपदेशातिदेशानित्यनैमित्तिकपौर्वापर्यादिबाधेष्वपि द्र-
ष्टव्यम् । अत एव तार्तीयोऽप्राप्तबाध इत्युत्सर्गमात्रम् ।

नन्वर्थलोपप्रत्याम्नानादिबाधेषु भवेदप्येवं निषेधरूपवाच-
निकबाधस्यले तु न प्रापकशास्त्रस्य स्वविषयता प्रतिबद्ध्यते ।
निषेधस्य निषेध्यप्राप्तिसापेक्षत्वेन प्रापकशास्त्रस्य तद्विषयत्वाव-
श्यभावात् ।

न च तत्र भ्रान्तिप्राप्तं निषिध्यत इति शक्यं वक्तुम् । प्रापक-
शास्त्रस्य वस्तुतस्तदातिरिक्तविषयकत्वे भ्रमासंभवात् । तथा
हि-पदशास्त्रं पदं विधाय चरितार्थं नाहवनीयशास्त्रमपेक्षते । अ-
तश्च येन पदशास्त्रं प्रथमतो दृष्टं तस्य पश्चादवगम्यमानेन सामा-
न्यशास्त्रेण न भ्रमः, न वा विशेष दर्शनात्तन्निवृत्तिः विशेषादर्श-
नाभावे भ्रमकारणाभावात् ।

अत एव तदा सामान्यशास्त्रं तद्व्यतिरिक्तविषयतां झटि-
त्येव प्रतिपद्यते । येन तु सामान्यशास्त्रं पूर्वमाकलितं तस्य साम-
ग्रीसत्त्वाद्भ्रमो जायत इति तन्निवृत्तिर्विशेषदर्शनजन्या । अत एव
तत्र तद्व्यतिरिक्तविषयत्वं सामान्यशास्त्रस्य पश्चादेवावगम्यते, न तु
प्रथमावगमकाले । बाधश्च तत्र विशेषशास्त्रफलं, न तु वाक्यार्थः ।
प्रकृते तु बाधो “न तौ पशौ करोती”ति सामान्यशास्त्रस्यैवार्थो
न तु फलं, विधेयान्तराभावात् । अतश्च येन तावदतिदेशशास्त्रमेव
प्रथमत आलोचितं तस्यास्तु नाम विशेषादर्शनसहकृतप्रापकशास्त्रा-

दाज्यभागयोरपि भ्रान्तां प्राप्तिमालोच्य निषेधशास्त्रार्थाविगमो-
पपत्तेः पश्चाद्विशेषदर्शने सति प्रापकशास्त्रस्य तद्व्यतिरिक्तविषय-
त्वकल्पनरूपबाधः ।

यदा तु निषेधशास्त्रमेव प्रथमत आलोच्यते तदा तदर्था-
लोचनोत्तरं निषेध्यप्राप्त्यपेक्षयां प्रापकशास्त्रालोचनात्तेन च
विशेषदर्शनसत्त्वेनाज्यभागभ्रान्तिजननायोगान्निषेधपर्यवसानानु-
पपत्तेरवश्यं प्रापकशास्त्रस्याज्यभागप्रमाजनकत्वमेव निषेधेनाभ्यु-
पगन्तव्यम् । प्रापकशास्त्रस्य विशेषनिष्ठत्वे तु तदावश्यकमेव ।
तस्माच्छास्त्रप्राप्तस्य निषेधे सर्वत्र प्रमारूपैव प्राप्तिः । अत एव
तत्र सर्वत्र विकल्प एवेति मीमांसकमर्यादा ।

न चैवं यत्र रागप्राप्तस्य निषेधस्तत्रापि निषेध्यप्रापकरागस्य
बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनप्रमाजनकत्वापत्तेः विकल्पापत्तिः ।
बलवदनिष्ठानुबन्धित्वज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति प्रतिबन्धकतया तदभाव-
स्यैव कारणत्वेन बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वज्ञानस्याकारणतया रा-
गेण तत्प्रमाया अजननादिष्टसाधत्वप्रमाजननेऽपि तस्य निषेधावग-
तानिष्टसाधनत्वेन विरोधाभावान्न तदंशे रागबाधकत्वम् । या तु तत्र
सामग्रीसत्त्वे प्रवृत्तिस्सा सामग्न्यभावे न जायत इति दैववशसम्पन्नं
बाधकत्वम् । सामग्री हि बलवदनिष्ठानुबन्धित्वज्ञानाभावघटिता ।
अनिष्टसाधनत्वज्ञाने विद्यमानेऽपि हि यदाऽनिष्टगतद्वेषापेक्षयेष्टगत-
रागस्योत्कटत्वरूपं बलवत्त्वं तदा सामग्रीसम्पत्तिः । यदा त्विष्टगत-
रागापेक्षयाऽनिष्टगतस्योत्कटत्वरूपं बलवत्त्वं तदा तदभावात्प्रवृत्त्य-
भावः । अतश्च रागप्रमितेर्विरोधाभावान्न विकल्पापत्तिः । अतः
कथं प्राप्तबाधत्वावच्छेदेन प्रापकशास्त्रस्य बाधकशास्त्रेण स्वविषय-
कताप्रतिबन्ध इति चेत्-न; प्रयोगे प्रापकशास्त्रीयविषयताप्रतिब-
न्धेन बाधकाभावात् । रागप्राप्तनिषेधे त्वर्थवशसम्पन्नप्रवृत्तिप्रति-

करणम्] तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः । ३७१

बन्धकत्वेऽपि प्रमाणस्य विषयताप्रतिबन्धाभावाद्वाधव्यवहारो
भाक्त इत्यनुसन्धेयम् । तस्मात्सिद्धं श्रुतिलिङ्गादावप्राप्तबाध एवेति ॥
सूत्रं प्रयोजनं च स्पष्टम् ॥

इति श्रीपूर्वोत्तरमीमांसापारावारधुरीणश्रीरुद्रदेवसूनुश्रीखण्डदेव-
कृतौ मीमांसाकौस्तुभे तृतीयाध्याये तृतीयपादे सप्तमं
बलाबलाधिकरणम् ॥

समाप्तोऽयं मीमांसाकौस्तुभः ॥

श्रीविश्वेशार्पणमस्तु ॥

हमारे यहां हर तरहकी छपाई व जिल्दसार्जिका कार्य भी होता है ।

हर तरह के संस्कृत ग्रन्थ तथा भाषा पुस्तकों के मिलने का पता—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,

विद्याविलास प्रेस, गोपालमन्दिर लेन,

बनारस सिटी ।

श्रीः ॥

नमश्शिवाभ्याम् ॥

श्रीखण्डदेवविरचितः

॥ मीमांसाकौस्तुभः ॥

प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥ (अर्थवादपादः)

(प्रथममर्थवादप्रामाण्याधिकरणम्)

विघ्नध्वान्तनिवारणैकतरणिर्भक्तैकचिन्तामणि-

विद्याकाननगाहनैकसरणिर्मच्चित्तभूषामणिः ।

भूयादेष कुतर्ककर्कशाधियां हर्ताऽपहर्ता तथा

मोहानां सुधियां सदैव सविता कात्यायनीशात्मजः ॥ १ ॥

बृन्दाविपिनविहारी गिरिवरधारी स्वकीयसुखकारी ।

मच्चित्तरङ्गचारी भूयान्नुत्यप्रियः कृष्णः ॥ २ ॥

शश्वद्बोधतरङ्गा विद्यागङ्गोत्तमाङ्गे यस्य ।

श्रीरुद्रदेवसंज्ञं जनकं वन्दे सदा स्फूर्त्यै ॥ ३ ॥

सूत्रम्—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां
तस्मादनित्यमुच्यते ॥ १-२-१. ॥ (पू)

(विषयसंशयौ)

अत्र “(१)सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्द्रस्य रुद्रत्वम्”

१. तै. सं. १-५-१. पुरा कदाचित् देवा असुरैस्साकं युयुत्सवः
कदाचिदस्माकं पराजये जीवनाथमिदं भविष्यतीति मन्वानाः स्वनिक-
टस्थममूल्यं वस्तुजातमग्नौ निधाय योद्धुमगच्छन् । तत् दृष्ट्वा लो-

“(१)वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति” इत्यादयोऽर्थवादा धर्माधर्मयोः प्रमाणं नवेति सन्देहः ।

(सङ्गतिः)

अत्र लक्षणसङ्गतिर्धर्माधर्मयोः प्रमाणनिरूपणात् सुलभैव । (२)यस्यापि मते वेदप्रामाण्यनिरूपणमध्यायार्थः, तस्याप्यस्मिन्नधिकरणे तावत्सङ्गतिस्सुलभैव । पादसमनन्तरसङ्गतिस्तु विध्यतिरिक्तवेदवाक्यप्रामाण्यनिरूपणात् स्पष्टा । नामधेयस्य च विध्यन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वान्नातिप्रसङ्गः । वाक्यपदेन वा पदरूपस्य नामधेयादेर्निरासः । अनन्तरसङ्गतिरपि पूर्वाधिकरणे विध्यर्थमपि निरूपितेऽपौरुषेयत्वे कर्तृस्मरणाभावरूपयुक्तिसाम्यादर्थवादेशु प्रसक्ते तद्वदेव धर्मप्रमोत्पादकत्वमस्ति ? न वा ? इति विचाराद्गृह्यन्ते ॥

(पूर्वपक्षः)

तत्राप्रमाणं धर्माधर्मयोरर्थवादा इति पूर्वः पक्षः । तथाहि- एते किं स्वातन्त्र्येण तयोः प्रमाणम् ? विध्येकवाक्यत्वेन वा ?

भाकृष्टचित्तोऽग्निः तैर्वस्तुभिस्साकं पलायते स्म । युद्धे जयं प्राप्य प्रति- निवृत्ता देवा अग्निमपश्यन्तस्तमन्विष्य क्वचित् लब्ध्वा स्वीयानि वस्तूनि ततोऽगृह्णन् इति पूर्वसन्दर्भः । एवं गृहीतः सोऽग्निः अरो- दीत । यस्मादरुदत्त तस्मात् तस्य रुद्रत्वम्, इति प्रकृतवाक्यार्थः ।

१. तै. सं. २-१-१. “वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः” इति विधि- सन्निधिपठितोऽयमर्थवादः। वायुः क्षेपिष्ठा क्षिप्रगामिनी देवता । वैशब्दः प्रसिद्धौ। स्वेन भागधेयेन स्वसम्बन्धिना श्वेतपशुरूपेण हविषा यज- मानस्तं प्रीणयति यदि स वायुः एनं यजमानं भूतिं प्रापयत्येवेत्यर्थः

२. प्राभाकरमतमिदम् ।

आद्येऽपि किं स्वशक्त्या ? (१)लक्षणाध्याहारादिभिर्वा ? नाद्यः; सदसद्रूपसिद्धार्थबोधकत्वेन धर्माधर्मबोधानुत्पादनात् । न द्वितीयः; लक्षणादिकं हि तात्पर्यानुपपत्त्या वा स्यात्,? अन्वयानुपपत्त्या वा ? न तावत्तात्पर्यानुपपत्तिः; धर्माधर्मतात्पर्यकत्वस्य प्रमाणान्तरेणासिद्धेः । न चाध्ययनविधिनैवार्थज्ञानार्थत्वेनाध्ययनं विदधता निष्प्रयोजनार्थज्ञानस्य भाव्यत्वानुपपत्तेः प्रयोजनवदर्थज्ञानार्थत्वमध्ययनस्य बोधयता अर्थवादानां धर्माधर्मयोस्तात्पर्यमवगम्यते । अतश्च स्वरसतस्तेषां विधिवत्तदनवाप्तेः लक्षणासिद्धिरिति वाच्यम् । अर्थज्ञानार्थत्वमध्ययनस्य लोकत एव सिद्धमिति तदंशे विधिवैफलयात् । न चार्थज्ञाने उपायान्तरस्यापि पक्षे प्राप्तत्वादध्ययननियमांशे विधेरर्थवत्तास्तिवति वाच्यम् । नियमस्याप्यध्ययने तत्कार्ये वाऽर्थज्ञानेऽनुपयोगेन विधिवैयर्थ्यात् । न चावघातादिनियमवदपूर्वसाधनत्वो-

१. अध्याहारोऽश्रुताक्षेपो व्यत्यासो व्यवधिः पदैः । मतो विपरिणामोऽसौ प्रकृतिप्रत्ययान्यथा । वाक्यान्यथात्वकरणं व्यवधारणकल्पना । इति प्राचां सङ्ग्रहश्लोकस्यार्थः । तत्राध्याहारस्यो दाहरणम्-विश्वजिता यजेतेति । अत्र स्वर्गकामपदाध्याहारः ॥ अश्रुताक्षेपस्योदाहरणम्-भाट्टमते शब्दादप्रतीतस्याप्यपूर्वस्याक्षेपः ॥ 'उपहृत उपह्वयस्व' इत्यत्र क्रमवैपरीत्येन पूर्वभागस्य सोमभक्षणार्थमाज्ञाप्रश्ने उत्तरभागस्याज्ञादाने विनियोगः । पदव्यवधानोदाहरणम्— "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति" इत्यत्र ये प्रतितिष्ठन्ति प्रतितिष्ठान्ति ते एता रात्रीरुपयन्ति उपेयुः इति यच्छब्दस्य व्यवहितेन प्रतितिष्ठन्तिपदेनान्वयः ॥ विपरिणामस्याप्येतदेवोदाहरणम्, 'प्रतितिष्ठन्ति' 'उपयन्ति' इत्यनयोः प्रतितिष्ठान्ति, उपेयुः इति विपरिणामात् ॥ व्यवधारकल्पना तु-यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्" इत्यत्र । अत्र हि उपक्रमे दातुरेवं प्रजापतेरिष्टिकरणावगमात् तदनुरोधेन प्रतिगृह्णीयात्' इत्यस्य दानार्थकता कल्प्यते ॥ लक्षणा तु सिद्धान्तिनोक्तैव ॥

पयोगादर्थवत्ता । अध्ययनविधेरनारभ्याधीतत्वेन प्रकरणादपूर्वसाधनत्वानुपस्थितेः ।

न च(१) पर्णतादाविवाव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धात्तदुपस्थानम्, अर्थज्ञानस्य क्रतुं विनाऽप्यध्यापनादिद्वारा द्रव्यार्जनोपयोगसम्भवेन व्यभिचारात् ।

न च नियमस्य पुरुषार्थत्वकल्पनया स्वर्गार्थं पापक्षयार्थं वा विधिरर्थवानस्त्विति वाच्यम्, एवमप्यध्ययनविधेरर्थज्ञानार्थत्वेनाध्ययनविधाने व्यापारोऽस्ति ? न वा ? आद्ये विध्यानर्थक्यम् । अन्त्ये अर्थवादानां प्रयोजनवदर्थतात्पर्यकत्वस्याध्ययनविध्यधीनत्वाभावात् तल्लक्षणासिद्धिः ।

एतेन “अनधीयाना व्रात्या भवन्ती” तिवचनादध्ययनाकरणे प्रत्यवायावगतावपि भावनाया भाव्यापेक्षयां दृष्टत्वात्प्रयोजनवदर्थज्ञानमेव भाव्यत्वेनाध्ययनविधिस्वीकरोतीत्यपास्तम् । अध्ययनविधेरर्थज्ञानभाव्यकत्वे तात्पर्यस्वीकारे लोकसिद्धत्वाद्विध्यानर्थक्यम् । अस्वीकारे भावनाया लोकदृष्टनान्तरीयकतया अर्थज्ञाने भाव्यतया सम्बध्यमानेऽप्यर्थवादक्रतं भूतार्थज्ञानमेव भाव्यतया सम्बध्येत, न प्रयोजनवदर्थज्ञानम्; विधितात्पर्याभावात् । अतश्च लक्षणाया असिद्धिस्तदवस्थैव ।

किञ्च सत्यामपि लक्षणादिसिद्धौ अनेकेष्वर्थवादिषु लक्षणाद्यपेक्षयाऽध्ययनविधेरैकस्य अदृष्टार्थत्वकल्पनोचिता । आवश्यकं चाध्ययनविधेरदृष्टार्थत्वं(२) हुंफडाद्यध्ययनांशे । अत एवावैरूप्यादर्थवादांशेऽप्यदृष्टार्थत्वमेव कल्प्यम् ।

१ ‘यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पाप’ श्लोक ७ शृणोति’ इति वाक्यविहितपलाशवृक्षीयत्वादिवदित्यर्थः ।

२ हुंफडादीनामर्थाभावादिति भावः ।

न चैवं विध्यध्ययनस्याप्यदृष्टार्थत्वापत्तेस्तेषां धर्मं प्रामा-
ण्यानापत्तिः, तदध्ययनस्यादृष्टार्थत्वेऽपि स्वशक्त्यैव विधीनां
प्रयोजनवदर्थप्रमापकत्वरूपप्रामाण्योपपत्तेः । अतोऽध्ययन-
विधिस्स्वर्गार्थं पापक्षयार्थमेव वाऽध्ययनं विधत्ते, यथाश्रुतार्थज्ञा-
नार्थं वा । अध्ययनमेव वा समानपदोपात्तत्वात् भावनाभाव्यम-
स्तु । न चैवमन्त्यपक्षद्वये प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, अपुरुषार्थत्वादिति
वाच्यम् । “अनधीयाना” इति वाक्येनाकरणे प्रत्यवायबोधना-
देव प्रवृत्तिसिद्धेः । एवंच सर्वथा नाध्ययनविधिस्तात्पर्यग्राहक-
इति सिद्धम् । तस्मान्न तावत्तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम् ।

नाप्यन्वयानुपपत्तिः । “वायुर्वै क्षेपिष्ठे” त्यादिपदार्थान्वय-
स्योपपन्नतरत्वात् । यद्यपि “ग्रावाणः प्लवन्ते” “(१)यजमानः
प्रस्तर” इत्यादिष्वन्वयानुपपत्तिर्धर्माधर्मलक्षणाबीजं शक्यते व-
क्तुम्, तथापि धर्माधर्मयोर्निर्धारणाभावः । ग्रावाणोऽपि प्लवन्ते
अतोऽन्येन चेतनेन प्लवितव्यम्, अथ वा ग्रावाणोऽपि मूर्खा यत्र
प्लवन्ते तत्राऽन्येन जानता कथं प्लवितव्यमिति । यदि तु निषे-
धकल्पनातो विधिकल्पनायां लाघवं नियामकं शक्येत, ततो
“(२)न बाहुभ्यां नर्दां तरे” दित्यादिशास्त्रविरोधो वक्ष्यमा-
णो दुष्परिहरः । तस्मादुभयथापि स्वातन्त्र्यपक्षोऽयुक्तः ।

अथ विधिनिषेधैकवाक्यताबलेन प्राशस्त्याप्राशस्त्यलक्ष-
णया प्रामाण्यमुच्यते, ततो वाक्यस्वारस्येन भिन्नवाक्यत्वप्रतीते-
र्नैकवाक्यत्व एव प्रमाणं पश्यामः । नचान्यत् प्राशस्त्याप्राश-
स्त्यलक्षणायां प्रमाणमस्ति । अध्ययनविध्यदृष्टार्थत्वस्य स्था-
पितत्वात् ।

किञ्च किमिदं प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं वा ? तद्धि गुणवत्त्वं दो-

षवत्वं वा तच्छब्दवाच्यत्वेन लोके प्रसिद्धम्, तद्यदि विधि-
निषेधविषयत्वम्, इष्टानिष्टफलकत्वविशिष्टैतिकर्तव्यताकत्वं वा
गुणदोषवत्त्वम् ? तदन्यतस्सिद्धत्वान्नार्थवादापेक्षम् । न च स्तु-
तिनिन्दयोर्विधিনিषेधोपकारकत्वं सम्भवति, ताश्च इच्छानिच्छो-
त्पादकत्वेन वा स्यात् ? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिबन्धकालस्योत्साहनि-
वर्तकत्वेन वा ? नाद्यः; विधিনিषेधाक्षिप्तेष्टानिष्टमूलकत्वादेव तत्सि-
द्धेः । नान्त्यः; प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूताविधিনিषेधाभ्यामेव तत्सिद्धेः।
एतेन साक्षात्प्रवृत्तिहेतुत्वं प्रत्युक्तम् । अर्थवादोपात्तस्तुतिनिन्दा-
भ्यामेव तत्सिद्धेः विधিনিषेधवैयर्थ्यशङ्का तु अर्थवादेभ्यस्स्वर-
सतस्तुतिनिन्दयोरप्रतीतेः अध्ययनविधिवशेन च प्रयोजनव-
त्त्वावगमेऽपि स्तुतिनिन्दालक्षकत्व एव प्रमाणाभावान्निराकर्तव्या ।

किञ्च सत्यपि विधेः प्राशस्त्यापेक्षत्वे निरर्थवादाकविधौ
विधेरेव प्राशस्त्यप्रतिपादने दृष्टशक्तिकस्य प्राशस्त्यपरत्वोप-
पत्तौ नादृष्टशक्तिकार्थवादापेक्षणं युक्तम् । एवंचानर्थकित्वादा-
योग्यत्वाच्च विद्यमानोऽपि सान्निधिर्नैकवाक्यत्वकारणमिति न
धर्माधर्मयोः प्रमाणमर्थवादाः । न च धर्माधर्मयोः प्रामाण्यसम्भवः;
वायुक्षेपिष्टत्वादीनां मानान्तरप्राप्तत्वेनानधिगतार्थगन्तृत्वरूपमु-
ख्यप्रामाण्यासम्भवात् । 'ग्रावाणः पुवन्त' इत्यादौ याथार्थ्यल-
क्षणस्याप्यसम्भवाच्च । तस्मादप्रमाणमर्थवादाः ॥

सूत्रं तु आमनायस्य(१)तद्भूताधिकरणे अंशत्रयविशिष्ट-
भावनारूपक्रियाप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्यस्य स्थापितत्वात्, अत-
त्प्रतिपादकानामर्थवादानां, आनर्थक्यम् प्रयोजनवदर्थराहि-
त्यम् । तस्मादप्रमाणमेवंजातीयकमर्थवादजातमिति व्याख्येयम् ॥

यत्तु मूले आदावर्थवादमन्त्रनामधेयानां त्रयाणां सामान्य-

तोऽप्रामाण्यपूर्वपक्षं कृत्वा तथैव सिद्धान्तमूत्रे निराकरणं कृतं,
तत् पृथगाधिकरणे मन्त्रनामधेययोः पृथगप्रामाण्यस्य निराकरि-
ष्यमाणत्वेन पुनरुक्तत्वादानुपयुक्तत्वाच्चोपेक्षितम् । मूले तु शि-
ष्यशिक्षार्थं कृतमिति वेदितव्यम् ॥ १ ॥

मू-शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ॥ १-२-२ ॥ (पू)

किञ्च 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे' त्यादौ धर्मप्रमानुत्पादनेऽपि स्वार्थेऽपि
तावत्सत्यत्वनिश्चयः । 'सोऽरोदी'दित्यादावप्यतीतार्थकथनेन यो-
ग्यानुपलब्ध्यभावान्न स्वार्थासत्यत्वनिश्चयः । "स्तेनं मनोऽनृत-
वादिनी वाग्नि" त्यत्र तु स्तेयमनृतवदनशीलत्वञ्च वाङ्मनस-
योऽरुच्यमानं योग्यानुपलब्ध्या स्वार्थेऽप्यप्रामाण्यमापादयति ।
यदि त्वौपचारिकं स्तेनशब्दलाक्षितं प्रच्छन्नरूपत्वं मनसो, वा-
चश्च प्रायिकमनृतवादिनीत्वमनूद्येत, ततो (?)भूतानुवादाद-
प्रामाण्यम् ।

अथ तु प्रामाण्यलिप्सया पूर्वोक्तदूषणगणमभ्युपगम्याप्य-
ध्याहारादिभिर्विधिः कल्पयेत-वाङ्मनसे अपि यतः स्तेनानृतवा-
दिनी तस्मादन्येनापि पुंसा स्तेयं मृषोद्यञ्च कर्तव्यमिति, तत्रा-
प्ययमपूर्वविधिर्वा स्यात् ? परिसंख्याविधिर्वा ?-द्रव्यार्जनं वाग्व्य-
वहारं वा कुर्वन् स्तेयातिरिक्तं मृषोद्यातिरिक्तञ्चोपायं न कुर्वीते
ति । नियमविधिर्वा-स्तेयं मृषोद्यञ्च कुर्वीतैवेति । नाद्यः; प्राप्ता-
र्थत्वात्, स्वगार्थत्वकल्पने च गौरवापत्तेः; 'स्तेयं न कुर्यात्' 'ना-
नृतं वदे' दिसत्यादिशास्त्रस्यापूर्वाविषयकत्वकल्पनाय संकोचरू-
पवाधापत्तेश्च । न द्वितीयः; दोषत्रयापत्तेः, परिसंख्याफलकत्व-

स्य सत्यां गतावन्याय्यत्वाच्च । 'ब्राह्मणः प्रतिग्रहादिना द्रव्य-
मार्जयेत्' 'सत्यमेव वदे'दित्यादिशास्त्रविरोधश्च तदवस्थः ।

एवं यद्यपि गौरवत्रैदोष्यभिया (१) ऋतौ भार्यामुपेया' दितिव-
नियमविध्याश्रयणं, तथापि "स्तेयं न कुर्या"दित्यादिशास्त्रविरो-
धस्तदवस्थ एव । न च (२) ग्रहणाग्रहणवाट्टिकल्पः, क्लृप्तकल्प्यत्वेन
वैषम्यात् । न च (३) "न तौ पशौ करोती" तिवत् कल्प्यविधिप्रा-
प्तेनापि क्लृप्ताविधिविहितस्योपजीव्यत्वात् विकल्पोऽस्त्विति वा-
च्यम् । तद्वदिह निषेधस्य रागप्राप्तस्तेयानृतवादोपजीवनेन कल्प्य-
विध्युपजीवकत्वाभावात् । अतश्शास्त्रविरोधापत्तेरप्यप्रमाणम् ।

किञ्च "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नाग्निः" "आर्चिरेवाग्नेर्नक्तं
ददृशे न धूम" इत्यादेर्दृष्टविरोधात् स्वार्थेऽप्यप्रामाण्यं निर्विवा-
दम् । एवं तदुपपादकस्य—"दिवाग्निरादित्यं गतो रात्रावादि-
त्यस्त" मित्यस्यापि । अतश्च निराळम्बनत्वात्सिद्धान्त्यभिप्रे-
तस्तावकत्वेन विध्यैकवाक्यतापि दुरूपपादा ।

तथोदाहरणान्तरेऽपि "न चैतद्विन्नो ब्राह्मणास्मो वयमब्रा-
ह्मणा वे" त्यत्र दृष्टविरोधः ।

ननु नायं दृष्टविरोधः, (४) "सवर्णेभ्यस्सवर्णासु जायन्ते हि
सजातय" इत्यादिशास्त्रगम्यत्वाद्ब्राह्मणत्वादीनाम् । ब्राह्मण-

१ गौ. ध. ५-१. अस्य नियमविधित्वं परिसंख्याविधित्वमित्युभ-
यमप्यङ्गीकृतं शास्त्रकारैः ।

२ अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्र
विहितप्रतिषेधात् यथा विकल्पः तथेत्यर्थः ।

३ तौ आज्यभागौ पशुयागे न करोतीत्यर्थः । अतिदेशस्य कल्प्य-
त्वेन तत्प्रापितयोः आज्यभागयोः अतिदेशप्राप्तपदार्थविषयकेण
निषेधेनात्यन्तबाधायोगात् विकल्प एवाङ्गीक्रियते तद्वदिहाप्यस्तु
इत्याशाङ्कनुराशयः ।

४ याज्ञ. स्मृ. १.२० ।

मातापितृसम्बन्धानभिज्ञस्य चक्षुस्सन्निकृष्टेऽपि ब्राह्मणोऽयमित्यननुभवाच्च । न च ब्राह्मणमातापितृसम्बन्धस्य ब्राह्मणत्वजात्यभिव्यञ्जकस्यानुपस्थितेर्न क्षतिरिति वाच्यम्, नैवोत्पादकब्राह्मणत्वजातिज्ञानस्य सहकारित्वम्, आत्माश्रयापत्तेः ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणत्वादिजातावेव मानाभावः, विश्वामित्रादौ साङ्कर्यप्रसङ्गात् । अतो विशुद्धमातापितृजन्यत्वं, (१) “शमो दमस्तपश्शां चं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्मं कर्म स्वभावजम्” इतिस्मृतेर्वा शमदमादिजन्यादृष्टवत्त्वं ब्राह्मणत्वम् । तस्य च प्रत्यक्षागोचरत्वात् कथं दृष्टविरोधोदाहरणत्वमिति चेत्-न; ब्राह्मणोऽयमित्यनुगतप्रतीत्या घटत्वादिजातिवत् ब्राह्मणत्वादिजातिस्वीकारे बाधकाभावात् । न च साङ्कर्यम्, विश्वामित्रे तपःप्रभावेन ब्राह्मणाधिकृतकर्मधिकारोत्पत्तावपि (२) ब्राह्मणत्वजातेरस्वीकारात् । एवं “मासेन शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयादि” त्यादावपि न शूद्रत्वादिजातिमत्ता । अत एव शूद्रीभवतीत्यभूततद्भाववाचिच्चिप्रत्ययपयोगः । न चाभिव्यञ्जकाभावः; ब्राह्मणत्वजातिमन्मातापितृसम्बन्धजन्यत्वस्याभिव्यञ्जकत्वात् । एकत्वेऽपि चोत्पादकव्यक्तिसम्बन्धित्वेनाभिव्यञ्जकत्वम्, उत्पाद्यव्यक्तिसम्बन्धित्वेन चाभिव्यङ्ग्यतेति न विरोधः । तच्चाभिव्यञ्जकज्ञानं मातुः प्रत्यक्षेण, अन्येषां त्वाप्तोपदेशादिनेत्येतावान् विशेषः । न त्वेतावताऽभिव्यञ्जकज्ञानवतश्चक्षुषा ब्राह्मणत्वप्रत्यक्षे काश्चिद्विरोधः ।

अत्र “(३) विन्नास्वेष विधिस्मृत” इतिवचनादभिव्यञ्जके

१. भगवद्गी. १. ८४.

२. ब्राह्मणत्वादि. इति क. पु.

३. याज्ञ. स्मृ. १. ९२. विन्नासु विवाहितास्वित्यर्थः ।

विवाहितपदं देयम् । तेन कुण्डगोलकयोर्ध्वभिचारोत्पन्नयोर्न ब्राह्मणत्वमिति कोचित् ।

वस्तुतस्तु गौरवापत्तेर्न विवाहितपददानम् । गौर्गव्युत्पन्नस्य गोत्ववद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नस्यैव ब्राह्मणत्वोपपत्तेः । 'विन्नास्वि'ति वचनं तु (१)ब्राह्मणादिविहितकर्मानधिकारमात्रप्रतिपादनपरम् । कुण्डगोलकयोस्तु सत्येव ब्राह्मण्येऽवान्तरसंज्ञाकरणं कार्यविशेषविधानार्थम् । अत एव श्राद्धे(२) तयोर्निषेधो ब्राह्मणत्वेन प्रसक्तत्वात् सङ्गच्छते । न चोक्तविधाभिव्यञ्जकस्य सृष्ट्याद्यब्राह्मणे ऽभावादव्यापकत्वम् । अस्मन्मते प्रलयप्रतिपादकवचनानामर्थवादत्वेन सृष्ट्यादेरनङ्गीकारात् ।

यत्तु शमादिवचनं, तन्न शमादिजन्यादृष्टवस्वं ब्राह्मणत्वमित्येतत्परम्, गौरवापत्तेः । नापि शमादीनां तदभिव्यञ्जकत्वपरम्, (३)शमादिमित्यदुष्टशूद्रे व्यभिचारात् । अतः प्रायिकद्योतकत्वपरम्, शमाद्यधिकारविधानार्थं वेति द्रष्टव्यम् । तस्माद्ब्राह्मणत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तद्विरुद्धं "न चैतद्विन्न" इत्यादिवचनं स्वार्थेऽप्यप्रमाणम् ।

तथा "(४)को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वेती" त्यादीनां स्वर्गसद्भावाज्ञानप्रतिपादना न्नस्वार्थेपि प्रामाण्यम्; "उयोतिष्ठोमेन स्वर्गकामो यजेते" त्यादिशास्त्रस्य ज्ञापकस्य सत्त्वेन शास्त्रविरोधात् । अत्र शास्त्रविरोधदृष्टविरोधयोरुदाहरणद्वयं (५)परिहारभेदात् प्रदर्शितम् । व्युत्क्रमश्च परि-

१. ब्राह्मणाधिकारविहित. इति क. पु.

२. शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ । म. स्मृ. ३.१५६. इति मन्वाद्युक्तो निषेधः इत्यर्थः ।

३. शमादिमति दुष्टशूद्रे. इति. ख पु.

४. तै. सं. ६-१-१

५. परिहारहेतुभेदात्. इति क. पु.

हारसूत्रक्रमानुरोधेन । तत्कारणं तु तत्रैव प्रदर्शयिष्यते ॥
सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥ २ ॥

सू-तथा फलाभावात् । ॥ १-२-३ ॥ (पू)

(१)गर्गत्रिरात्रब्राह्मणं प्रकृत्य श्रूयते-“शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद” इति । अत्र गर्गत्रिरात्रब्राह्मणार्थज्ञानकाले उच्यमानाया वर्तमानमुखशोभाया योग्यानुपलब्धिबाधितत्वात् स्वार्थेऽप्रामाण्यम् । न हि तज्ज्ञानकाले मुखशोभा दृश्यते, आयासेन विपरीतशोषदर्शनात् । अथ ज्ञानफलानुवादः, तदपि प्रत्यक्षत्रिरुद्धम्, तदानीमजायमानत्वात् । न च कालान्तरे भविष्यतीत्यत्र (२)प्रमाणमस्ति । नच ‘शोभत’ इत्यस्यैव विभक्तिव्यत्ययेन भविष्यदर्थकत्वं परिकल्प्य रात्रिसत्रवत्फलपरत्वसम्भवात्, ज्ञानस्य गर्गत्रिरात्रानुष्ठानयोग्यतासंपादनद्वारा तत्कर्तृसंस्कारस्य (३)तीर्थे स्नाती’ त्यादिवत्परार्थत्वेन प्रयोजनानाकाङ्क्षत्वात्फलपरत्वकल्पनानुपपत्तेः । अतश्च पर्णमयीन्यायेनैवास्य फलकल्पकत्वासम्भवादप्रामाण्यम् । न च तेन पौनरुक्त्यम्-एतत्सूत्रे फलपरत्वासम्भवेनानर्थक्यमाशंक्यते, तत्र तु फलपरत्वासम्भवेनैवार्थत्वादत्वं सिद्धान्त्यत इत्यदोषः ॥ सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥३॥

१. गर्गत्रिरात्रो नाम त्रिसुत्याकोऽहीनविशेषः । गर्गत्रिरात्रेण प्रजाति भूमानं गच्छत्यभिस्वर्गलोकं जयति (आप. श्रौ. २२-१५-१.) इति विहितः ।

२ नियामकं इति क. पु.

३ तै. सं. ६-१-१ ज्योतिष्टोमप्रकरणे विहितस्य तीर्थस्नानस्य यथा तदीयकर्तृसंस्कारद्वारा ज्योतिष्टोमाङ्गत्वात् न स्वतन्त्रफलापेक्षा तद्वदित्यर्थः । तीर्थस्नानस्य क्रतुयुक्तपुरुषसंस्कारद्वारा कत्वङ्गत्वं तु-तीयाध्यायचतुर्थपादे सिद्धान्तितम् । यत्र ऋष्याद्यो महात्मानो नियमेन स्नान्ति सोऽवतारदेशस्तीर्थमित्यभिधीयते ।

सू-अन्यानर्थक्यात् । ॥ १-२-४ ॥ (पू)

“पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति” “पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति” “तरति मृत्युं, तरति पाप्मानं, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद” इति ।

अत्रापि पर्णमयधिकरणन्यायेन पूर्णाहुतेराधानाङ्गभूतकर्मरूपत्वात् प्रयाजादिवत्प्रयोजनानपेक्षत्वम् । (१) मूले तु अग्निसंस्कारकत्वान्न तदित्युक्तम् । पशुबन्धस्यापि ज्योतिष्टोमाङ्गभूतकर्मरूपत्वादेव न फलापेक्षत्वम् । अश्वमेधज्ञानस्य तु गर्गत्रिरात्रब्राह्मणज्ञानवत् कर्तृसंस्कारकत्वादेव प्रयोजनानपेक्षत्वम् । अतश्चानपेक्षत्वादेवैतेषां फलकल्पकत्वासंभवः । अभ्युपेत्यापि तु फलकल्पकत्वं प्रामाण्य उच्यमाने यदि तावत्स्वतन्त्रफलार्थत्वं ततो वाक्येन कल्पेन प्रकरणावगतक्रत्वर्थत्वबाधः । (२) अथायुरादिवदानुषङ्गिकफलार्थत्वं, ततः पूर्णाहुत्यादिनैव सर्वकामावाप्तौ जातायां तदुत्तरभाविनां क्रतुविधीनामानर्थक्यप्रसङ्गः । न हि पूर्णाहुतिमग्न्युत्पादकाधानाङ्गभूतामकृत्वा अग्निसाधयेषु कर्मस्वधिका-

१. भाष्यकारेण-पवमानेष्टीनां नाधानाङ्गत्वम्, किन्तु आधानवत् साक्षादेवाग्निसंस्कारद्वाराऽग्न्यङ्गत्वम्-इत्युक्तम् ।

२. दर्शपूर्णमासप्रकरणे-“सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति” इति वाक्येन सूक्तवाकाख्यमन्त्रकरणकं प्रस्तरप्रहरणमाज्ञातम् । सूक्तवाको नाम “इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्” इत्यनुवाकपठितो मन्त्रविशेषः । प्रस्तरौ वेद्यां हविरासादनार्थं मास्तरितौ दर्भमुष्टिः । प्रहरणं अग्नौ प्रक्षेपः । तत्र “आयुराशास्ते, सुप्रजास्त्वमाशास्ते,” इत्यादय आयुरादिप्रार्थनारूपा आज्ञाताः प्रस्तरप्रहरणस्य दर्शपूर्णमासाङ्गभूतत्वात् तदुपकारकत्वं विनानान्यत् पृथक् फलं तस्य, तथापि तन्मन्त्रप्रतिपाद्यानामायुरादिफलानामपि आनुषङ्गिकतया प्रस्तरजन्यत्वमङ्गीक्रियते, तद्वदिति भावः ।

रस्सम्भवति । न चाग्नीषोमीयमकृत्वा ज्योतिष्टोमे साङ्गतास्ति । अश्वमेधज्ञानं विना चाश्वमेधाकरणमसामर्थ्यात् स्पष्टम् । अतश्च पूर्वभाविभिः पूर्णाहुत्यादिभिरेव तत्तत्फलावाप्तौ तदुत्तरभाविनां क्रतुविधीनामानर्थक्यप्रसङ्गो दुर्वारः ॥ (१)सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥

सू-अभागिप्रतिषेधात् ॥ १-२-५ ॥ (पू)

“न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवी”त्यत्रान्तरिक्षे दिवि वा तावच्चयनस्याप्राप्तत्वात् प्रतिषेधयोग्यत्वम् । एवं पर्युदासोऽपि निराकर्तव्यः; अनन्तरिक्षे अदिवि च पृथिव्यां चयनस्य नित्यप्राप्तत्वात् । पृथिवीचयनप्रतिषेधोऽपि चयनविधेः प्रामाण्ये ऽप्रामाण्ये बोभयथाप्यनुपपन्नः । न हि चयनं कुर्वता पृथिवीचयन(२)प्रतिषेधार्थंशक्यते सम्पादयितुम् । अकुर्वतस्तु प्राप्त्यभावादेव प्रतिषेधवैयर्थ्यम् । एवं पर्युदासानुपपत्तिरपि द्रष्टव्या । अतो नामान्तरेण चयनप्रतिषेधार्थमेव तदित्यङ्गीकर्तव्यम् । तथाच तद्विधिवैयर्थ्यमपि । न च(३)ग्रहणाग्रहणवत् पाक्षिकत्वसिध्यर्थः प्रतिषेधोऽर्थवान् स्यादिति वाच्यम्; (४)पशुकामश्चिन्वीत’ “प्रजाकामश्चिन्वीते” त्यादिवाक्यै(५)रग्नेः काम्यत्वावगमादेव पाक्षिकत्वसिद्धेः प्रतिषेधवैफलयात् । न चैतरग्नेः काम्यत्वावगमेऽपि “अथातोऽग्निमग्निष्टोमेने” त्यादिवचनै-

१. सूत्रं नियन्त्रितम् । इति क. पु. २ निषेधार्थः इति क. पु.

३. अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति’इति वाक्यद्वयं ध्रूयते । तत्र पूर्ववाक्यविहितस्य षोडशिग्रहणस्य पाक्षिकत्वसिध्यर्थं प्रतिषेध उत्तरवाक्येन क्रियते तद्वदिहापीत्यर्थः ।

४. तै. आ. १-२६-४.

५. इष्टकोपधानसम्पादितस्थण्डिलविशेषोऽग्निपदार्थः ।

(१)स्संयोगपृथक्त्वन्यायेन क्रत्वर्थत्वस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् तस्य पाक्षिकत्वार्थं प्रतिषेधोऽर्थवानिति वाच्यम् । उत्तरवेदिमात्रेणापि निरग्रिकस्यापि क्रतुप्रयोगस्य “ते यद्यग्निं चेष्यमाणा भवन्ती”ति सत्रे(२) समारोपणकालादिगुणविधिपरे वाक्ये सिद्धवत्पाक्षिकत्वानुवादादिभिर्लिङ्गैः(३)र्दशमे वक्ष्यमाणत्वात् । अत एव (४)अग्निं सोमाङ्गमिच्छता” मिति कात्यायनोऽप्युक्तवान् । साग्निके प्रयोगे परं(५) “उत्तरवेद्यां ह्यग्निश्चीयत” इति वचनादग्न्युत्तरवेद्योऽसमुच्चयस्सङ्घर्ष उक्तः । न त्वेतावता क्रत्वर्थस्याग्रे-नित्यत्वम् । अतश्चाग्नेः पाक्षिकत्वस्य सिद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं प्रतिषेधानर्थक्यम् । किञ्च पृथिवीचयननिषेधस्य चयनक्रियायां कल्पत्वेन क्लृप्तचयनविधेः पाक्षिकत्वापादनायोगः । अत एव-जातीयकं स्वार्थेऽप्यप्रमाणम् । अप्रतिषेधभागित्वादिति सूत्रार्थः॥

सू-अनित्यसंयोगात् ॥ १-२-६ ॥ (पू)

(६)“बबरः प्रावाहणिरकामयत वाचः प्रवदिता स्यामिति” इत्यत्र स्वार्थपरत्वे अनित्यसंयोगः परं प्रसज्येत । न ह्यनित्यं बबरनामानं पुरुषं प्रतिपादयतो वेदस्य स्वार्थे प्रामाण्यं सम्भरति, आदिमत्तादोषप्रसङ्गात् । यद्यपि च “(७)परं तु श्रुतिसामान्यमात्र” मित्यत्र एतद्दोषपरिहारार्थं बबरादिशब्दानां नित्यसिद्धवात्वादिपरत्वमुक्तम्, तथाप्यत्रार्थवादानां कथमपि प्रामा-

१. एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्, इति न्यायः ।

एकस्य कर्मणो दध्यादेर्द्रव्यस्य बोभयोद्देशेन विधायकं वाक्यद्वयं यत्र स संयोगपृथक्त्वन्यायः ।

२. समारोप. इति ख. पु.

३. १०-३-८

४. का. श्रौ. १६-१, २.

५. तै. आ. १. २६-३.

६. तै. सं. ७-२-१०-२.

७. पू. मी. १-१-३१.

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १५

ण्ये निराकृते बबरादिशब्दानां श्रौतार्थत्यागकारणाभावान्न
लक्षणया वाय्वादिपरत्वं युक्तमाश्रयितुम् । अतश्चानित्यसंयोग-
प्रसङ्गरतदवस्थ एवेत्याक्षिप्यते । सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥ ६ ॥
तस्मादप्रमाणार्थवादा इति पूर्वः पक्षः ॥

सू-विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां
स्युः ॥ १-२-७ ॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । सत्यमर्थवादानां न स्वार्थवृ-
त्त्या धर्माधर्मप्रमोपयोगसम्भवः, प्राशस्त्यलक्षणया विध्येकवा-
क्यत्वेन तदुपयोगस्तु दुर्वारः । तत्रापि प्राशस्त्यलक्षणायां यद्य-
पि नान्वयानुपपत्तिर्बीजम्, तथाप्यध्ययनविध्यवगततात्पर्यानुप-
पत्तिरेव बीजम् । तथा हि—“स्वाध्यायोऽध्येतव्य” इत्यत्र (१०)
“प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च” इति स्मृत्या तव्यप्रत्ययस्य
प्रैषवाचित्वात् (११) प्रैषस्य च प्राप्तविषयत्वप्रवर्तनात्मकत्वसमुदा-
यरूपत्वात्, ब्राह्मणे च प्राप्तविषयत्वासम्भवेन समुदायासम्भवेऽपि
तदेकदेशलक्षणया तव्यप्रत्ययेन प्रवर्तनाऽभिधीयते । तस्याश्च
प्रवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपत्वात् प्रवृत्तिरूपार्थभावनापि तेनैवाक्षि-
प्यते । तस्याश्च भाव्यापेक्षायां कर्मोत्पन्नतव्यप्रत्ययोपात्तकर्मत्व-
स्य स्वाध्यायस्य भाव्यत्वेनान्वये जाते अध्ययनस्य (१२) भावा-
र्थाधिकरणन्यायेन करणत्वेनान्वयः कल्प्यते । स्वाध्यायस्य

१ पा. सू. ३-३-१६३.

२. प्रवर्तनस्मृतिः प्राप्ते प्रैष इत्यभिधीयते ।

अप्राप्तप्रापणं सर्वं विधित्वं प्रतिपद्यते ॥

३. पू. मी. २. १. २.

चाध्ययनं प्रत्युत्पाद्यत्वरूपकर्मत्वासम्भवादाप्यत्वरूपं तदाश्री-
यते । ततश्चाध्ययनेनाक्षरग्रहणद्वारा स्वाध्यायं प्राप्नुयादित्यर्थः ।
निष्प्रयोजनस्य च स्वाध्यायस्य कर्मत्वानुपपत्तेः प्रयोजनाका-
क्षायां दृष्टसम्भवे ऽदृष्टकल्पनानुपपत्तेः स्वाध्यायजन्यं दृष्टमर्थ-
ज्ञानादिप्रयोजनमाश्रीयते ।

नचैवं संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या प्रयोजनकल्पनायां (१)स-
क्तुष्वपि तदापत्तिः; प्रयोजनस्येह सामर्थ्यलभ्यत्वेनाकल्प्यत्वात् ।
अतश्च यथावघातादेरपूर्वसाधनीभूतव्रीहिवितुषीभावरूपसंस्का-
रार्थस्याप्यपूर्वार्थत्व एव विधेस्तात्पर्यम्, तथाऽध्ययनस्याप्यर्थ-
ज्ञानादिसाधनस्वाध्यायाक्षरग्रहणरूपसंस्कारसाधनस्यार्थज्ञानाद्य-
र्थत्व एवाध्ययनविधेस्तात्पर्यम् । एवंच निष्प्रयोजनार्थज्ञानस्य
प्रयोजनत्वासम्भवात् प्रयोजनवत्तामर्थस्य स्वाध्यायविधिरवबोध-
यति । एवंचार्थवादानां (२)वाच्यार्थस्य निष्प्रयोजनत्वात्तदस-
म्भवे लाक्षणिकस्यापि प्राशस्त्यस्य गौणसामर्थ्यलभ्यत्वेन दृ-
ष्टत्वात् तत्परत्वं स्वाध्यायविधिवलादवगम्यते ।

यत्तु वार्तिके-साक्षादध्ययनस्यैवार्थज्ञानभावनाकरणत्वमुक्त्वा
अर्थवादानां प्राशस्त्यलक्षणोपपादिता, तद्भलेन च भवदेवेनाध्य-
यनस्यार्थकर्मत्वं, स्वाध्यायस्य तु सक्तुन्यायेन विनियोगभङ्गं
परिकल्प्याध्ययनार्थत्वमेवेत्युक्तम्, तन्न-उक्तविधया संस्कारक-
र्मत्वोपपत्तौ विनियोगभङ्गे प्रमाणाभावात्; वार्तिककृता तु स्थला-
न्तरे(३) वादर्यधिकरणादौ संस्कारकर्मत्वस्याप्युक्तत्वादतिशया-
र्थमत्रार्थकर्मत्वमुक्तम् । यस्त्वस्मिन् पक्षे स्वाध्यायस्य संस्कार्य-

१. "सक्तून जुहोति"इत्यत्र द्वितीयाश्रवणेऽपि सक्तूनां भूतभाव्यु-
पयोगाभावेन कर्मत्वासम्भवात् द्वितीयायाः करणत्वलक्षकत्वमङ्गीकृ-
त्य सक्तुकरणकहोमविधिरेवाङ्गीकृतो द्वितीये, तद्विरुध्येतेति भावः ।

२ वाक्यार्थस्य इति ग. पु. ।

३. पू. मी. ३-१-३. . .

त्वेनोद्देश्यत्वात्तद्विशेषणस्यैकत्वस्याविवक्षापत्तेः शाखान्तराधिकरणवार्तिकव्युत्पादितैकशाखाध्ययनविरोधप्रसङ्गः, स चैकत्वाविवक्षायामपि स्वाध्यायपदे स्वशब्देनात्मीयवाचिना पित्रादिपरम्परया आगताया एव शाखायाः कर्मव्युत्पत्त्या वाच्यत्वावधारणात् अनेकशाखाध्ययने च स्वशब्दवैयर्थ्यापत्तेः “अध्वर्युं वृणीत” इतिवच्चार्थज्ञानार्थतादशायामुपादेयत्वेनैकत्वविवक्षोपपत्तिरित्येवं तत्रैव भिराकरिष्यते ।

यत्तु पूर्वपक्षवादिना प्रयोजनवदर्थज्ञानार्थत्वेऽध्ययनस्य लोकत एव प्राप्तत्वाद्द्विध्यानर्थक्यमुक्तम्, तत्र भवदेवः—शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम् ; असत्यामपि शब्दशक्तौ सति तात्पर्यज्ञाने गौरश्वः, पुरुष, इत्यत्राध्याहारादिना गौर्दुह्यताम्, अश्वो गच्छति, पुरुषो वर्तते इत्येवं शाब्दबोधदर्शनात्, सत्यामपि च तस्यामसति तात्पर्यज्ञाने नानार्थस्थले(१)नार्थविशेषावधारणम्, तेन शब्दोच्चारणमात्रं शब्दवृत्तिज्ञानमात्रं वा नार्थबोधजनकम्, (२)किन्तु तात्पर्यज्ञानसहकृतं तत्, तच्च लोके पुरुषाशयवशादुन्नीयते, वेदे तु तदभावादर्थज्ञानोद्देश्यकाध्ययनविधिवशादेव तात्पर्यमुन्नेयम् । अतश्च विधिवाक्यानामप्यध्ययनविध्यभावे सति नैवार्थपरत्वमिति अध्ययनविधिरेव सकलस्य वेदस्यार्थतात्पर्यनिश्चायक इति न सत्यपि दृष्टार्थत्वे विधिवैफल्यमिति । (३)“अध्ययनविधिना इतरे सर्वे विधायकास्स्वात्मा च विनियुज्यते” इति(४)यथाश्रुतवार्तिकग्रन्था-

१ अर्थविशेषानवधारणं इति ग. पुस्तके ।

२ एवं च तात्पर्यं इति क. पु. ।

३ तं. वा. पू. १३. पं. २०

४ यथाश्रुतेति नास्ति क. पुस्तके ।

३ मी० कौ०

(१)दप्ययमर्थो निश्चीयते-इति ।

न त्वेतद्युक्तमिव-शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वे शुकादिवाक्यात्(२) निस्तात्पर्यकाच्छाब्दबोधान्नापत्तेः । अतो लक्षणादिजन्यशाब्दबोधे नानार्थस्थले च तस्य कारणत्वं न सर्वत्र, व्यभिचारात् । न चैकार्थकारणभावकल्पनालाघवेन शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वेऽवधृते शुकादिवाक्येऽपीश्वरतात्पर्यज्ञानं शब्दनिष्ठधर्मविशेषरूपतात्पर्यज्ञानं वा कारणत्वेन कल्पयतामिति वाच्यम् ; तात्पर्यज्ञानस्यानेकार्थबोधकपदजन्यशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वकल्पनेना(२)स्मन्मतेऽपि लाघवस्याविशिष्टत्वात् । अस्तु वा सर्वत्रैव कारणत्वं, तथापि शुकादिवाक्यस्थले तात्पर्यग्राहकाभावेन बोधानुपपत्तिरनिवार्यैव ।

अथ तत्र शब्दस्वभावादेव तात्पर्यमनुमाय बोधः, तदा प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिरिति कृतमध्ययनविधिना ।

किंच अध्ययनविधेरर्थज्ञानतात्पर्यकत्वे किमन्यद्ग्राहकमिति या गतिस्तस्य साऽन्येषामपि विधीनामिति न किञ्चिदेतत् । अत एवं परिहर्तव्यम्-सामर्थ्यापेक्षया प्रत्यक्षश्रुतेः शीघ्रप्रवृत्तत्वेनावघातादिवदध्ययनविधिरनधिगतमेव प्रयोजनवदर्थज्ञानार्थत्वमध्ययनस्यावबोधयति, तत्फलं चार्थवादिषु प्राशस्त्यतात्पर्यकत्वबोधः ।

यद्यपीदं फलं विधिषु न सम्भवति, अध्ययनविध्यभावेऽपि विधिषु शब्दस्वभावादेवार्थतात्पर्यकत्वावधारणसम्भवात्, तथाऽप्यर्थवादेऽप्येव सम्भवन्नासति बाधके त्यक्तं युक्तम् । सर्वसाधारण्येन तत्फलं त्वध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवत् एव पुंसो लाभात् क्रतुविधीनां ज्ञानाक्षेपशक्तिकल्पनानुपपत्तेरुपायान्तर-

१ अप्ययमर्थोऽवगम्यत इति निश्चीयते इति क. पु. ।

२ असत्तात्पर्य इति क. पु.

३ अस्मिन् मते इति क. पु.

निवृत्तिफलका(१)ध्ययननियमः । एतद्विध्यभावे हि क्रतुविधयोऽनुष्ठेयार्थज्ञानार्थं पक्षे पुस्तकपाठाद्युपायान्तरमप्याक्षिपेरन् । अतस्तद्व्यावृत्त्या नियमफलकत्वमध्ययनविधेरुपपन्नमेव । न च येनापि त्रैवर्णिकेन नित्यत्वावेदकप्रमाणाभावान्नार्थज्ञानं सम्पादितम्, तद्विषये कथं तद्व्यावृत्तिसिद्धिः; “अनर्थायाना व्रासा भवन्ति”(२)“स्थाणुरयं भारवाहः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्” इत्याद्यकरणनिन्दाश्रवणोन्नीतविधिवलेन नित्यत्वप्रतीतेः । अतस्साधारण्येन नियमफलकत्वेऽपि अर्थवादादिषु प्रयोजनवदर्थतात्पर्यकत्वेऽपि न काचित्क्षतिः । वार्तिकं तु सिद्ध्यदपि प्रमाणान्तरेण विधिषु प्रयोजनवदर्थपरत्वमध्ययनविधिवलेनाऽपि सिद्ध्यतीत्येतदर्थम् ।

यच्च स्तोभाद्यंशे अदृष्टार्थत्वादितरांशे चार्थज्ञानार्थत्वे अपूर्वविधिनियमविधित्वकृतवैरूप्यापत्तिरित्युक्तम्, तन्न ; स्तोभानामपि सामभागपरिपूरकत्वेन दृष्टार्थत्वस्य (३)नवपे वक्ष्यमाणत्वान्न तदंशेऽपूर्वविधित्वम् । अतश्च दृष्टत्वेन भाव्यत्वानुगमादर्थज्ञानं सामभागपरिपूर्तिश्चेत्यनेकोद्देश्यताऽप्यनाशङ्क्या ।

यन्वकरणे प्रत्यवायिभ्यैव प्रवृत्तिसिद्धेरध्ययनमेव भाव्यमस्तीत्युक्तम्, तत् तव्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वोक्तेरपास्तम् । अवशिष्यते तु स्वाध्यायद्वारा यथाश्रुतार्थज्ञानस्यैव भाव्यत्वम् ; तत्त्वेवं निराकर्तव्यम्—व्रात्यताबोधकवाक्येनाध्ययनस्य गृहीतपदपदार्थसङ्गतिकस्य ‘स्थाणुरयं भारवाहः’ इति वचनाच्च यथाश्रुतार्थज्ञानस्याप्यावश्यकत्वबोधनादेव प्राप्त्युपपत्तेरेतद्वाक्यानर्थव्यप्रसङ्गात् अनेन वाक्येन प्रयोजनवदर्थज्ञानसाधनीभूतस्वा-

१ अध्ययनविधिनियम इति क. पु.

२. निरु. ३. पू. मी. ९. २. ५.

ध्यायोद्देशेनैवाध्ययनं विधीयत इति । तेन सिद्धाऽध्ययनवि-
ध्यनुरोधेनार्थवादिषु प्रयोजनवदर्थान्तरलक्षणा । तच्चार्थान्तरं स्तु-
तिनिन्दारूपमेवेति विधिनिषेधापेक्षितत्वान्निर्णीयते । कथम्?—स-
र्वत्र हि चेतनप्रवृत्तिः क्वचित्स्वेच्छया क्वचित्परप्रवर्तनाजनितयेच्छ-
येत्यविवादम्, तद्यत्र शब्दश्रवणोत्तरं प्रवृत्तिः, तत्र परस्य प्रवर्त-
नेन प्रवर्तकत्वं निश्चीयते । प्रवर्तना चेयं पुरुषप्रवृत्तिहेतुः प्रवर्त-
यितुर्धर्मः, प्रवर्तयितुर्धर्मत्वाभावे 'देवदत्तो मां प्रवर्तयति न यज्ञ-
दत्त' इति व्यवस्थानुपपत्तेः ।

अथास्य प्रवर्तनाज्ञापनमात्रेण प्रवर्तकत्वं, नाश्रयत्वेन, ततो
'देवदत्तस्त्वां प्रवर्तयती'तिवाक्यप्रयोक्तुः यज्ञदत्तस्य प्रवर्तकत्वा-
पत्तिः । लोके चाहमेनं प्रवर्तयामीति प्रवर्तयितुरनुभवात्तद्धर्मत्वम् ।
अत्र चाचार्यत्वादेः प्रवर्तयितुर्धर्मत्वेऽपि प्रवृत्तिहेतुत्वा-
भावादाद्यं विशेषणम् । धर्मपदश्च समवेतत्वपरम्, अतश्च
लोकनिन्दादेः प्रवृत्तिहेतुत्वेऽपि प्रवर्तयितुर्धर्मत्वसमवेतत्वाभावा-
दपरम् । पुरुषप्रवृत्तिश्च परसमवेता विवक्षिता । तेनाचार्यसमवे-
तफलस्य दुग्धपानादेर्गामानयेतिवाक्योच्चारणानुकूलाचार्यनि-
ष्ठप्रवृत्तिहेतुत्वेऽपि शिष्यप्रवृत्तिहेतुत्वे प्रमाणाभावान्नातिप्रसङ्गः ।
स च धर्मो लोके प्रैषादिरूपः पुरुषाशयविशेषः, वेदे तु (?) तदभा-
वाल्लिङ्गादिनिष्ठ एव कश्चित्कल्प्यः । प्रैषादीनां हि प्रवृत्तिहेतुत्वमा-
न्वर्थप्रेषितोऽहं गामानयामित्यनुभवसिद्धम् । हेतुत्वं चात्र न जनक-
त्वं प्रमाणाभावात्, अपि तु प्रयोजकत्वं, तच्च प्रवृत्तिकारणीभू-
तेष्टमाधनज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् । प्रवर्तनारूपस्याशयादे-
र्ज्ञानेनेष्टसाधनत्वानुमानात् । अतो युक्तं प्रैषादीनां निरुक्तप्रवृ-
त्तिहेतुत्वम् ।

अतश्च प्रवर्तनाज्ञानकारणजिज्ञासायां शब्दश्रवणोत्तरभावित्वादावापोद्वापाभ्यां घटादिपदशक्तिवदेव वृद्धव्यवहारेण लिङ्गादीनां प्रैषादिरूपप्रवर्तनायां शक्तिर्निश्चीयते । (१) “विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्” “लाट्च” लिङर्थे लेट्” इत्याद्यनुशासनबलादप्ययमर्थो निश्चीयते । तत्र विधिर्निकृष्टस्य प्रेरणम् ; अयमेव च व्याकरणे प्रैषः । लोके तु प्राप्ते विषये निकृष्टस्य प्रेरणमिति विवेकः । निमन्त्रणमावश्यकं श्राद्धादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा; इदमेवातिसर्गपदेनाभिधीयते । अधीष्टं सत्कारपूर्वको व्यापारः । अत्र नानार्थकत्वपरिहाराय प्रवर्तनात्वमेवैकं शक्यतावच्छेदकं घटत्वादिवत् । वस्तुतस्तु लाघवादानुकूलव्यापारत्वमेव शक्यतावच्छेदकम्, प्रवृत्तिनिरूपितत्वं तु वाक्यार्थविधया लभ्यम्, आख्यातार्थकृतौ स्वर्गादिनिरूपितत्ववत् । प्रवर्तकनिष्ठत्वं च योग्यतालभ्यमिति द्रष्टव्यम् ।

अथ वा विध्यादिषु चतुर्षु वैदिके च वक्ष्यमाणे अलौकिके धर्मे प्रवर्तनात्वमखण्डोपाधिः प्रवृत्तिप्रयोजकतावच्छेदककोटिप्रविष्टतया कल्प्यते, तद्वच्छिन्नविषयकज्ञानप्रयोज्यतावच्छेदकं चाव्यवहितोत्तरत्वसंबन्धेन तादृशज्ञानविशिष्टप्रवृत्तित्वम् । नातस्तदनुत्तरप्रवृत्तौ व्यभिचारः । अखण्डोपाधिरेव च लिङ्गादिपदशक्यतावच्छेदक इति तत्त्वम् । अतो विध्यादय एव चत्वारो व्यक्तिस्थानीया लोके लक्ष्याः, सम्प्रश्नप्रार्थनयोस्त्वतिरिक्तैव शक्तिः, आनुशासनिकी वा लक्षणा । एतेषां च पुरुषाशयविशेषाणां प्रैषादीनां वेदे ऽसंभवात् प्रवर्तनात्वेन च शक्तेर्लिङ्गादिषु गृहीतत्वात्तदनुरोधेन प्रवर्तनाविशेषरूपो विधिप्रेरणानियोगापरनामधेयरूपोऽलौकिको धर्मस्स्थायी कल्प्यते । स च प्रैषादिवत्प्रवर्तकधर्मत्वावगतेर्वेदे च

पुरुषाभावादन्वयस्य च यागादेरसिद्धत्वेन प्रवृत्तिविषयत्वेन च प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः पारिशेष्याल्लिङ्गादेरेव प्रवर्तकत्वावधारणात्, लिङ्गादेश्च वर्णरूपत्वेन स्थायित्वात्तन्निष्ठोऽवधार्यते । तस्य च प्रवृत्तिहेतुत्वादुक्तलक्षणाव्याहतिः ।

अत्र षष्ठे शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिः—नातिरिक्तधर्मान्तरकल्पनम्, तथा सति तत्सद्भावस्तस्य च प्रवृत्तिहेतुत्वं लिङ्गादिनिष्ठत्वं तल्लक्ष्यत्वमिति चतुष्टयकल्पनाद्गौरवापत्तेः । अतो लाघवादर्थभावनाभिधानानुकूलशक्तेरभिधाय्याया लिङ्गादिनिष्ठत्वेन क्लृप्तायाः (१)केवलं प्रवृत्तिहेतुत्वं लिङ्गादिलक्ष्यत्वं च कल्प्यम् । (२),अतः सैव प्रवर्तनात्वेन लिङ्गाद्यभिहिता प्रवृत्तिहेतुर्विध्यादिपदाभिधेया चेति । तन्न ; तर्हि ततोऽप्यतिलाघवेनेष्टसाधनत्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वेनापि क्लृप्तस्य लिङ्गादिलक्ष्यत्वमात्रकल्पनया (३)प्रवर्तनाविशेषत्वोपपत्तेर्जितं मण्डनेन ।

न चेष्टसाधनत्वस्य यागादिनिष्ठत्वेन लिङ्गादिनिष्ठत्वाभावाद्यागादेश्चासिद्धत्वेन प्रवर्तकत्वायोगात् प्रवर्तनायाः प्रवर्तकनिष्ठत्वस्य स्थापितत्वान्नेष्टसाधनत्वस्य प्रवर्तनाविशेषत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् ; तर्हि फलेच्छाया उपायेच्छाया वा सिद्धत्वेन लिङ्गां प्रवर्तयतीतिवदिच्छा मां प्रवर्तयतीत्यनुभवाच्च प्रवर्तकत्वोपपत्तेस्तान्निष्ठत्वेन क्लृप्तस्येच्छात्वस्य प्रवृत्तिहेतुत्वं इच्छात्वेन (४)कामपदाभिधेयत्वेऽपि प्रवर्तनात्वेन लिङ्गादिवाच्यत्वं परिकल्प्य प्रवर्तनाविशेषत्वोपपत्त्या विनिगमनाविरहात् ।

न चेच्छायाः प्रवर्तकत्वे इच्छात्वे प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेऽपि हेतुतावच्छेदकत्वस्य क्लृप्तत्वाल्लाघवेन तस्यैव प्रवर्तनाविशे-

१ केवलं इति नास्ति क. पु.

२ अतः इति नास्ति क. पु.

३ प्रवर्तनात्वोपपत्तेः क. पु. ४ कामपदाभिहितत्वेऽपि. इति. ग. पु.

षत्वोपपत्तौ न तदादाय शक्तेर्विनिगमनाविरहशङ्क्यः इति वाच्यम्, इच्छावत् कृतिसाध्यत्वज्ञानस्यापि सिद्धत्वेन प्रवर्तकत्वात्तन्निष्ठज्ञानत्वस्य प्रवर्तनात्वेन लिङादिपदवाच्यत्वकल्पनया प्रवर्तनाविशेषत्वोपपत्तौ तदादायेच्छात्वेऽपि विनिगमनाविरहस्यावारणात् ।

न चेच्छात्वादीनामतिप्रसक्तत्वेन प्रवर्तकमात्रनिष्ठत्वाभावान्न तेषां प्रवृत्तिहेतुत्वकल्पनाशङ्का; शक्तेरपि लिङादिष्वतिप्रसक्तत्वस्य तुल्यत्वात् । तस्मात् क्लृप्तैर्विनिगमनाविरहाद्धर्मान्तरकल्पनैवोचितेत्युत्पश्यामः ।

नचैवं धर्मान्तरस्यापि लिङादिनिष्ठत्वमिच्छादिनिष्ठत्वं वाऽऽदाय विनिगमनाविरहः । इच्छादेरस्थायित्वेन स्थायिधर्मान्तराश्रयत्वानुपपत्तेः । इदमेव धर्मान्तरं शाब्दीभावनेत्युच्यते ।

एवं 'न कलञ्जं भक्षेयत्' 'ब्राह्मणो न सुरां पिबे' दित्यादौ प्रवर्तनावन्निवर्तनापि लिङाद्यर्थः, साऽपि च पुरुषनिष्ठनिवृत्तिहेतुर्निवर्तयितुर्धर्मः 'अहमेनं निवर्तयामी'त्यनुभवसिद्धः । तद्विशेषाश्च प्रेषादयो लोके । धर्मान्तरञ्च निवारणानिषेधप्रतिषेधापरनामधेयं वेदे तथैव प्रसाध्यम् । तत्र त्वेतावान् विशेषः—न शुद्धो लिङादिः प्रवर्तनावन्निवर्तनामभिधत्ते । किन्तु नञ्समभिव्याहृत एव, तत्र नञो द्योतकत्वमात्रम् । लिङादेरेव तु निवर्तनायां शक्तिः, निपातोपसर्गाणां द्योतकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । अथाऽपि तेषां वाचकत्वं स्यात्, तथाऽपि "तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ्" इति स्मरणान्दभाववाचित्वेन क्लृप्तस्य नञो निवर्तनावाचित्वकल्पने मानाभावः । लिङादिसमभिव्याहाराभावे च घटो नास्तीत्यादौ निवर्तनाया अप्रतीतेः । तस्याप्रतीतद्योतकत्वकल्पने गौरवप्रसं-

गाच्च । “अमानोनाः प्रतिषेध” इति तु द्योतकत्वेनाप्युपपन्नम् । तदयमत्र वाक्यार्थः—कलञ्जभक्षणब्राह्मणकर्तृकसुराकर्मकपानादिभावनां प्रवृत्तिरूपामाख्यातवाच्यामुद्दिश्य लिङ्गा तन्निवृत्तिफलका व्यापाररूपा निवर्तना विधीयते, नञस्तु प्रवृत्त्यभाववाचित्वेन प्रधानभूतभावनासम्बन्धेऽपि निवर्तनाद्योतकत्वमविरुद्धम् । शुद्धप्रवृत्तेश्चोद्देश्यत्वासम्भवात् द्विविधान्यायेन धात्वर्थतत्कारकयोर्दोषान्तर्गत्या कृतिविशेषणत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् तद्विवक्षायामपि कर्तृकर्मादिकारकनिष्ठलिङ्गसंख्यादिविशेषणानामविवक्षा उद्देश्यविशेषणत्वादुपपन्ना ।

न च लिङ्गः प्रवर्तनावाचित्वेन नञश्चाभाववाचित्वेन क्लृप्तस्य निवर्तनावाचित्वकल्पने गौरवापत्तेः प्रवर्तनाभाव एव निषेधाधिकारे वाक्यार्थोऽस्त्विति वाच्यम् ; लिङ्गनिष्ठप्रवर्तनाभावबोधेऽपि रागादिना प्रवृत्तौ प्रसवायानापत्तिप्रमङ्गात् ।

न च रागादिनिष्ठप्रवर्तनाभाव एव वाक्यार्थः, तस्या लोके वेदे वा लिङ्गादिवाच्यत्वेनावलृप्तेः, तत्रापि शक्तिकल्पने गौरवतादवस्थापत्तेः ।

एतेन नञोऽभाववाचकस्यापि लिङ्गादिसमभिव्याहारे सति निवर्तनावाचित्वम्, ‘अमानोनाः प्रतिषेधे’ इति प्रसिद्धेः, न तु लिङ्गः प्रवर्तनावाचित्वेन क्लृप्तस्य, गौरवात् । अतश्च रागाद्यर्थप्राप्तां पानादिप्रवर्तनां लिङ्गादिनोद्दिश्य नञा निवर्तना विधीयते इत्यपास्तम् । रागादिनिष्ठप्रवर्तनावाचित्वस्य लोके वेदे वा अक्लृप्तत्वेनानुवादायोगात्, स्वनिष्ठप्रवर्तनायाश्चाप्राप्तत्वेन लिङ्गादिनाऽननुवादात् । विधाने वाक्यभेदो विकल्पापत्तिश्च । अत एवायं पक्षो वार्तिककृता “ते (ये) वा” मित्यादिनाऽन्यमतत्वेनोक्तः । केषांचित्त्वत्र स्वमतत्वप्रामितिर्भ्रम एव ।

वस्तुतस्तु-ल्लिङ्गोऽपि न निवर्तनायां शक्तिः, किन्त्वनुकूलव्यापारत्वे ऽखण्डोपाधौ वा । तत्र यथा नञोऽभावे प्रवृत्तिनिरूपितत्वं संसर्गः, एवं नञ्सत्त्वे प्रवृत्त्यभावनिरूपितत्वमिति न किञ्चित्कल्प्यम् । अत्रापि निवृत्तिहेतुत्वं नाम प्रवृत्त्यभावप्रयोजकत्वमेव, न तु निवृत्तिः पदार्थान्तरं, हेतुत्वं वा जनकत्वम्, प्रमाणाभावात् । प्रजोकत्वं च प्रवृत्त्यभावकारणीभूतानिष्टसाधनत्वानुमितिजनकज्ञानविषयत्वं पूर्ववत् । अनिष्टसाधनत्वज्ञानस्याभावकारणता च योगक्षेमसाधारणी, तत्त्वं चाभावप्रतियोगिप्रवृत्तिसामग्रीविघटकत्वम् । अनिष्टसाधनत्वे हि बुद्धेऽनिष्टबोधात्तद्गतं बलवत्त्वं झटिति बुद्ध्यत इति बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानात्प्रवृत्तिकारणीभूतबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावप्रतिबन्धस्तुल्लभः । अतश्चात्रापि प्रवृत्तेस्तदभावस्यानुकूलत्वस्य चान्यत एव भानाल्लिङ्गो नातिरिक्ता निषेधस्थले शक्तिः, किन्तु विधिसाधारण्येनाखण्डोपाधावेवेति सिद्धम् । तेन सिद्धा निषेधाधिकारेऽपि निवर्तनाविशेषरूपनिवारणापरनामधेया शाब्दी भावना । चेतनप्रवृत्तिनिवृत्त्योश्चेष्टानिष्टसाधनताज्ञानं विनाऽसम्भवात् विधिनिषेधाभ्यामिष्टानिष्टसाधनत्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्याक्षिप्यते । तयोश्च शाब्दीभावनयोर्भाव्यापेक्षायां आख्यातवाच्या प्रवृत्तिर्विधिरूपायाम्, नञ्वाच्या च तन्निवृत्तिः निषेधरूपायां भाव्यत्वेनान्वीयते । करणाकाङ्क्षायां च प्रेरणानिवारणयोः स्वरूपेण प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकत्वायोगाल्लिङ्गादिजन्यं तयोर्ज्ञानमेव करणम् । केचित्तु लिङ्गभावनयोः सम्बन्धरूपशक्तिस्मरणमेव करणम् । भावनाज्ञानं त्ववान्तरव्यापार इत्याहुः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां च स्तुतिनिन्दयोरन्वयः । तथा हि-विधिनिषेधाभ्यामिष्टानिष्टसाधनत्वाक्षेपात्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतेच्छानिच्छोत्पत्तावपि तात्का-

लिकेष्टानिष्टसाधनत्वस्यापि प्रत्यक्षेणावगतेः । द्वेषोत्साहसम्भवेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावप्रसङ्गात्तदपनायकापेक्षायां लोके तदपनयन-शक्तत्वेनावगतस्य स्तुतिनिन्दाज्ञानस्यानुग्राहकत्वं परिकल्प्यते । ज्योतिष्टोमसुरापानादिरूपसाधनयोश्च द्वेषोत्साहौ हि निसर्ग-सिद्धौ । तन्निवर्तकत्वं च स्तुतिनिन्दयो रुचिद्वेषोत्पादनद्वारा बहु-क्षीरादिवाक्येषु लोकसिद्धमेव । अतस्स्तुतिनिन्दाप्रतिपादकापेक्षायां प्रयोजनापेक्षिणामर्थवादानामेव तल्लक्षकत्वं कल्प्यते । न च फल-पदेन वा प्रशस्तफलयुक्तत्वाद्विध्यादिपदेन वा निर्दोषविधि-निषेधविहितत्वादितिकर्तव्यतापैदर्था विशिष्टेतिकर्तव्यताकत्वा-त्प्रशस्तोऽप्रशस्त इत्येवं तत्प्रतिपादनसम्भवः, तेषां श्रौतफलादि-परत्वेन लाक्षणिकस्तुतिनिन्दागमकत्वकल्पनानौचित्यात् । न च रात्रिसत्रन्यायेन फलादिपरत्वेऽप्याकांक्षितप्राशस्त्यादिकल्पना-परत्वसम्भवः । प्रयोजनाकांक्षिभिस्सन्निहितैरर्थवादैरेव तत्प्रति-पादनसम्भवेनानुपपत्त्यभावात् । यत्र तु सन्निधावर्थवादाभाव-स्तत्राप्यानुमानिकवचनातिदेशेन तत्प्राप्तिः ।

ननु-नार्थवादानामतिदेशेन प्राप्तिः, सा हि प्रयाजाद्यतिदे-शेन वा स्यात् ? भिन्नेन वा ? नाद्यः, अर्थभावनया इतिक-र्तव्यताकांक्षया कल्पितेनातिदेशेन प्राप्तानां प्रयाजादीनामर्थभा-वनासम्बन्धोत्तरकालमंशत्रयविशिष्टभावनावगमे सति विधिप्र-वृत्तौ प्राशस्त्यापेक्षायां विरम्यव्यापारत्वेन क्लृप्तातिदेशस्य त-त्प्रापकत्वानुपपत्तेः । नान्त्यः; विधेरेव प्रवर्तनावाचकस्यापि रात्रिसत्रन्यायेन प्राशस्त्यादिपरत्वोपपत्तौ स्वतन्त्रातिदेशकल्पने गौरवात् इति चेत् ? प्रयाजादिप्राप्तेः पूर्वमप्युत्पत्तिवाक्य इष्टसा-मान्यवदितिकर्तव्यतासामान्येनाप्यंशत्रयवैशिष्ट्योपपत्त्या विधे-र्भावनासम्बन्धोपपत्तौ तस्य प्राशस्त्यापेक्षायामवश्यकल्प्येनैके-

नैवातिदेशेनोभयप्राप्त्युपपत्तौ विधेः प्राशस्त्यपरत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् ।

न च—शाब्दभावनायास्मादृश्याभावः । निर्वपतिधातुमद्वाक्यसम्बन्धित्वरूपस्य शब्दसादृश्यस्यार्थभावनायामिव शब्दभावनायामपि तुल्यत्वात् ।

नचैवं विश्वजिति ज्योतिष्टोमिकार्थवादातिदेशे सति तत् एव (१)रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकफलकल्पनोपपत्तौ विश्वजिन्यायभङ्गप्रसङ्गः । अप्राकृतकार्यकारित्वप्रसंगेनार्थवादानां फलकल्पकत्वानापत्तेः ।

न च फलाकांक्षायां सत्यामप्राकृतकार्यकारित्वं न दोषः । यूपावटास्तरणबर्हिषोऽपि धर्माकांक्षायां बर्हिर्धर्माणां तत्कल्पनापत्तेः ।

अथ तत्र लौकिकोपायाक्षेपकल्पनात्तन्निवृत्तिः, तदा प्रकृतेऽपि स्वर्गकल्पनयेति तुल्यम् । अस्तु वा यदि ज्योतिष्टोमे फलत्रिधिसरूपार्थवादश्रवणं तदा विश्वजित्यतिदेशप्राप्तार्थवादिकफलकल्पनम् । सर्वथा विश्वजिति स्वर्ग एव फलम् । तदधिकरणन्यायस्तु (२)पिण्डापितृयज्ञादिविषयो भविष्यतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । तन्त्ररत्नन्यायमुधयोस्तु प्राशस्त्यानतिदेशकथनेऽभिप्रायं न विद्मः ।

एवं नामातिदेशेऽपि नाम्नाऽग्निहोत्रधर्माणामन्येषामिव प्राशस्त्यस्यापि तद्धर्मस्य लक्षणया प्राप्तिर्द्रष्टव्या । (३)“एतद्वाह्यणा-

१. रात्रिसत्रन्यायश्चतुर्थाध्यायाये तृतीयपादेऽष्टमाधिकरणे द्रष्टव्यः ।

२. “अमावास्यायामपराह्णे पिण्डापितृयज्ञेन चरन्ति” इति पिण्डापितृयज्ञविधायके वाक्ये फलाश्रवणात् सान्निधावर्थावादाभावाच्च रात्रिसत्रन्यायाप्रवृत्तेः अपूर्वत्वाच्च प्रकृतितोऽर्थवादातिदेशस्याप्यभावात् स्वर्गवाचकफलकल्पनेनैव तत्र फलाकाङ्क्षा शमनीयेति भावः ।

नि पञ्च हवींषि” इत्यादौ वचनातिदेशे तु तत्प्राप्तिरविवादैव । यत्र तु प्रकृतावेव दर्बीहोमेषु चोपदेशातिदेशयोरभावस्तत्र विधेरेव प्राशस्त्यापेक्षत्वात्तस्यैव प्राशस्त्यकल्पकत्वमपि रात्रिमन्त्रन्यायेनोचितम्, न तु फलादिपदानाम्, तेषां तदनपेक्षत्वात् । यत्र तु सन्निधायर्थवादाः पठितास्तत्र विधेरुभयपरत्वकल्पने प्रमाणाभावादर्थवादा एव प्रयोजनापेक्षा लक्षणया प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं वा विधिनिषेधापेक्षितं प्रतिपादयन्ति । तच्च प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं वा रुच्यरुचियोग्यत्वरूपं निर्वाच्यम् । रुच्यरुचियोग्यत्वज्ञानस्यापि प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिबन्धकरुच्यरुचियोग्यत्वज्ञानविरोधित्वेन प्रवृत्तिनिवृत्त्युपयोगित्वात् । तत्त्वं च बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वानुबन्धित्वयोग्यत्वम् । तज्ज्ञानस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणत्वमविवादमेव । अत उक्तविधमेव प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं वा सर्वत्रार्थवादैर्लक्ष्यते । योग्यतावच्छेदकीभूताः परं गुणदोषाः क्वचित् “वायुर्वै क्षेपिष्ठा” इत्यादौ शक्त्या प्रतिपाद्यन्ते, क्वचित्तु “यजमानः प्रस्तरः” इत्यादौ गौण्यादिनेति विशेषः । रुच्यरुचियोग्यत्वरूपप्राशस्त्याप्राशस्त्यलक्षणा तु सर्वत्राविशिष्टेति ध्येयम् ॥

वाक्ये चेयं लक्षणा, नैकस्मिन्पदे, इतरपदानां वैयर्थ्यापत्तेः । तेषां तात्पर्यग्राहकत्वकल्पने च विनिगमनाविरहः । लक्षणाप्रकारश्च गुणवादसूत्रे स्पष्टीकरिष्यते । तच्च प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं वा शाब्दभावनैवान्वेति—‘यागेन स्वर्गं भावयेत्प्राशस्तत्वात्, ‘न सुरां पिबेदप्राशस्तत्वा’दिति । अतश्च विध्यर्थवाद्योरेकवाक्यत्वसिद्धिः । तत्रापि पदैकवाक्यतैव, विध्यर्थवादानां स्वस्वार्थबोधे सामान्यभावादित्युत्तराधिकरणे वक्ष्यते । अतश्चार्थवादसम्बन्धेऽर्थवादप्ररोचितमेव कर्माभ्युदयकारीत्यध्ययनविधिवशेन कल्पनान्नान्यत्प्ररोचनं कर्माङ्गमित्यपि नियमसिद्धिः । य-

त्रापि केवलार्थवादश्रवणं तत्रापि विधिकल्पनया प्रामाण्योपपत्तिः(१)रौदुम्बराधिकरणे वक्ष्यते ।

तस्मात्सिद्धं साधनेतिकर्तव्यताविषयद्वेषोत्साहानिवर्तकस्तु-
तिनिन्दालक्षकत्वमर्थवादानां, न तु स्वार्थपरत्वमपि, प्रमाणा-
भावात्; युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्तेश्च । एवं च यत्र सुखनर-
कादिरूपफले निसर्गत एव रुच्यरुची, तत्र प्रयोजनाभावात्,

“यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्” ॥

इत्यादीनां न प्राशस्त्याप्राशस्त्यलक्षकत्वं, किन्तु विधिनि-
षेधापेक्षितस्वर्गनरकादिस्वरूपपरत्वमेव ।

एवं दूरस्थानामपि विनाशिदेहादिव्यतिरिक्तनित्यकर्तृभो-
क्तरूपात्मप्रतिपादिकानामुपनिषदां परलोककर्मविध्यपेक्षितोक्त-
रूपात्मपरत्वमेव । उक्तविधात्मज्ञानस्य चानाराभ्यार्थतस्यापि
सामर्थ्यात्(२)“यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वी-
र्यवत्तरं भवति” इति वाक्याद्वा क्रत्वङ्गत्वाविरोधः । असंसारि-
सगुणनिर्गुणात्मप्रतिपादिकानां तूभयविधोपासनाविध्यपेक्षितत्वे-
न स्वार्थपराणामेवाभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वमिति वार्तिके व्याकर-
णाधिकरण उपपादयिष्यते । तेन सिद्धमर्थवादानां प्रामाण्यम् ।

सूत्रं तु-विधीनां विधेयानां, स्तुत्यर्थेन स्तावकत्वेन,
विधिनैकवाक्यत्वसम्भवादर्थवादाः प्रमाणं स्युरिति व्याख्ये-
यम् ॥ ७ ॥

तुल्यं च सांप्रदायिकम् ॥ १-२-८ ॥

किञ्चाध्ययनधर्माणां स्वाध्यायानध्यायपरिपालनादीनां

यथा प्रमाणभूताविध्यध्ययने क्रियमाणेऽनुष्ठानं वैदिकानाम्, तथाथवादाध्ययनेऽपि । तेषां हि न स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थत्वम्, फलाश्रवणात् ।

(१) "तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च श्रुतिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यस्सरहस्यो द्विजन्मना" ॥

इति स्मरणेन धर्माणामध्ययनाङ्गत्वावगमाच्च । न चाध्ययने तत्कार्ये वार्थज्ञाने धर्माणामनुपयोगेनानर्थक्यात्तत्पूर्वकञ्जयोतिष्ठोमादिकर्माङ्गत्वं वक्तुं शक्यम्, वाक्यप्रकरणाभ्यामध्ययनाङ्गत्वेनावधारितानां धर्माणां क्रत्वङ्गत्वे प्रमाणाभावात् । उपयोगस्त्वध्ययन एव विघ्ननिवृत्त्यर्थत्वेनोपपन्न इति द्वादशे वक्ष्यते । तेनाप्रामाण्येऽर्थवादानां तदध्ययनमध्ययनाङ्गधर्मानुष्ठानं च साम्प्रदायिकपदाभिधेयं विधिवदनुष्ठीयमानमनुपपन्नं स्यात्, अतस्तद्वदेव प्रमाणम् ।

अथवा-पूर्वपक्षिणाऽप्रामाण्येऽप्यर्थवादानामध्ययनस्यादृष्टार्थत्वाङ्गीकारात्, धर्माणामपि प्रयाजादिवद्वा विघ्नसमाप्त्यर्थत्वेन वाऽध्ययनाङ्गत्वोपपत्त्या पूर्वव्याख्याया अयोगेऽपि अर्थवादानामर्थपरत्वाभावेऽदृष्टार्थस्याध्ययनस्य (२)सर्वौषधावघातवत्सकृत्प्रयोगापत्तेः आवृत्तेरविस्मरणप्रयोजनाभावेन च धारणाध्ययनस्य साम्प्रदायिकपदाभिधेयस्यानुपपत्तिः । प्रयोजनवदर्थपरत्वे हि व्रीहिवघातवदावृत्तिर्धारणाध्ययनं च विधाविधोपपद्येत । तस्मात्तद्वदेवार्थपरत्वम् । सूत्रं व्याख्यातम् ॥८॥

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधस्स्यात् श-

ब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्यते ॥ १-२-९ ॥

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ३१

अनेन सूत्रेण पूर्वपक्ष्युक्तानां शास्त्रविरोधादीनां सामान्यतः परिहारोऽभिधीयते । या शास्त्रविरोधादिकाऽनुपपत्तिस्साऽस्मत्पक्षमप्राप्ता, प्रयोगे अनुष्ठाने हि, स्तेयादीनामुच्यमाने, विरोधस्स्यात्, अस्माकं मते पुनः शब्दस्य श्रौतोऽर्थः, अप्रयोजनभूतः, उत्तरसूत्रोक्तरीत्याऽविवक्षित इति यावत् । अथवा-शब्दस्य विधेः, अनुग्रहार्थस्सन्नयमर्थवादः, अप्रयोगभूतः प्रयोगमप्राप्तः, न प्रयोगं विधत्त इति यावत् । तस्मात्प्रामाण्यमुपपद्येत । विधिकल्पकत्वे श्रौतार्थपरत्वे वा भवदुक्तदोषास्स्युः, न तु स्तुत्यर्थत्व इति भावः । ‘अप्राप्ताञ्चानुपपत्ति’ मिति पाठे याऽनुपपत्तिस्तामप्राप्तां मन्यामह इत्यध्याहारः । ‘अप्राप्तं चानुपपत्ति’ मिति पाठे त्वस्मद्वाख्यानमनुपपत्तिमप्राप्तमिति व्याख्येयम् ॥ ९ ॥

गुणवादस्तु ॥ १-५-१० ॥

ननु-(१)“स एवैनं भूर्तिं गमयति,” इत्यादिभिः पदैः स्तुतिप्रतीतावपि “वायुर्वै क्षेपिष्ठा” इत्यादिभ्यस्तदप्रतीतेः कथं तेषां स्तावकतासम्भवः ?

उच्यते-गुणागुणरूपस्तुतिनिन्दावादस्तु सर्वत्र यथासम्भवं कल्प्यः, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य, क्षिप्रदेवतासाध्यं कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यतीति सर्वेषामपि पदानां स्तुत्युपपादकत्वेनाविरोधात् ।

एवं-(२)“सोऽरोदीद्यदरोदत्तिद्बुद्रस्य रुद्रत्वं, यदश्रु व्यशीर्यत तद्रजतमभवत्, पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवति, तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयम्” इत्यत्रापि बर्हिश्शब्दलक्षिते यज्ञे “यथा-

श्रद्धं दक्षिणां ददाति” इत्यादिसामान्यविहितदक्षिणाके स्वे-
च्छाप्राप्तरजतदाननिषेधस्यायमर्थवादः । तत्र स इति तच्छब्देन
“तदग्निर्न्यकामयत” इति पूर्वोपक्रान्तोऽग्निः परामृश्यते । ‘तद्र-
जतमित्यत्र तच्छब्देनाश्रु, अत्र “पुरास्य संवत्सरा” दिति
रजतदाननिन्दा । तदुपपत्तिश्च ‘सोऽरोदी’दित्यादिः । कार-
णानुरूपत्वात्कार्यस्य रोदनप्रभवरजतदानाद्रोदनं भवतीति रज-
तदाननिन्दा । अतो रजतदाननिषेधे दोषाभावरूपगुणवादोप-
पत्तिः । न च-रुद्रोदनरजताश्रुप्रभवत्वसंवत्सरोदनादीनां
प्रमाणाभावात्प्रत्यक्षविरोधाच्च निरालम्बननिन्दानुपपत्तिः ।
गौण्या वृत्त्या सर्वत्रालम्बनोपपत्तेः । तथाहि-रुद्रशब्दस्तावद्वा-
करणे रोदनकर्तृवाचित्वेन व्याख्यातः । स च “रुद्रमग्निं
प्रजाः प्राहुः” इत्यरुद्रत्यप्यग्नौ रूद्र्या प्रयुक्तः, तत्र च तत्सि-
द्धिसूत्रोक्तन्यायेन रुद्रशब्दाभिधेयत्वसादृश्याद्रोदनकर्तृत्वमुपच-
र्यते, अश्रुणश्च चक्षुर्ग्राह्यवर्णसारूप्यादन्यत्र च कार्ये समवायि-
कारणसादृश्यदर्शनाद्रजते तत्प्रभवत्वोपचारः । धनत्यागेन
चात्यन्तोदारस्यापि गृहे दुःखदर्शनात्तत्सामान्येन रोदनोप-
न्यासः ।

अत एवासस्यार्थप्रतिपादनादप्रामाण्यं नाशङ्क्यम्, अस-
त्यर्थे तात्पर्याभावात्; तात्पर्यविषयीभूतायाश्च निन्दाया-
स्सत्यत्वात् । असत्यार्थोपादानं तु लक्षणोपायत्वेन साधुत्वोपा-
यत्वेनैवाऽसत्यविषयान्वाख्यानं न विरुद्ध्यते । न ह्युपाख्यानं
स्वरूपसत्प्राशस्त्याप्राशस्त्यज्ञान उपयुज्यते, अपि तु तज्ज्ञानम् ।
अतश्च रज्ज्वां सर्पज्ञानस्येव भयकारणत्वमसत्योपाख्यानज्ञा-
नस्य प्राशस्त्याप्राशस्त्यज्ञानकारणत्वं, तस्य च प्रवृत्तिनिवृत्ति-
हेतुत्वं न विहन्यते । यत्र हि न ज्ञानमात्रेणोपयोगः, यथा अर्थ-

भावनान्शेषु, तत्रापि ज्ञानमात्रोपयोगे वेदस्य निष्फलत्वेनाप्रामा-
ण्यापत्तेस्तत्रार्थ एव तात्पर्यात्सत्यत्वाश्रयणम् । शब्दभावनान्शेषु
तु ज्ञानमात्रोपयोगा(१)न्न सर्वांशोपायसत्यत्वादरः ।

अत एव लोकेऽर्थासत्यत्व एव स्तुतिबुद्धिः, अर्थसत्यत्वे तु
वक्तारो भवन्ति-कात्र स्तुतिर्निन्दा वा सत्यमेवैतदिति । सत्यपि
चार्थासत्यत्वज्ञाने प्राशस्त्याप्राशस्त्यज्ञानस्य वेदकृतत्वात्प्रवृत्तिनि-
वृत्तिजनकत्वोपपत्तिः । अत एव लोके मेधादिहेतुभूते वचादिभ-
क्षणे मेधाद्यनिच्छन्तं पुरुषं प्रवर्तयितुं तदभिप्रेतं सौभाग्यमस-
त्यमप्युपन्यस्य तं नियुञ्जते । सोऽपि च सौभाग्यासत्यतां जा-
नन्नपि सर्वथा मामगं पुरुषार्थं प्रवर्तयतीति ज्ञात्वा प्रवर्तत एवेति
सर्वस्वसंवेद्यम् । तस्मादेवमादौ शक्यार्थासत्यत्वेऽपि गौण्या वृत्त्या
कथञ्चिदर्थसत्यत्वमापाद्य लक्षणया निन्दोपपत्तेः प्रामाण्यं सि-
द्धम् । एवं स्तुत्यर्थवादेऽप्यर्थसत्यत्वानादरो द्रष्टव्यः । एवं यत्रापि
अन्यद्विधौ, अन्यच्चार्थवादे मंकीर्त्यते, यथा(२) “वेतसशाख-
याऽवकाभिश्चार्णि विकर्षति” इति, “आपो वै शान्ताश्शान्ताभि-
रेवास्य शुचं शमयति” इति च, तत्राप्यपां स्तुत्याऽऽज्जन्यानां
वेतसावकानां स्तुतिर्लक्षितलक्षणया न विरुद्धयते ।

सूत्रं तु-तत्सिद्धिमूत्रोक्तरीत्या गौणवृत्तिप्रकाररूपो गुण-
वादः स्तुतिहेतुर्ज्ञेय इति व्याख्येयम् ॥ १० ॥

रूपात्प्रायात् ॥ १-२-११ ॥

अतः परं पूर्वपक्षयुक्तस्तेनाद्युदाहरणेषु तत्सिद्धिमूत्रोक्तगौण-
वृत्तिप्रकारनिरूपणार्थानि सूत्राणि ।

तत्र-“हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति” इत्यस्य विधे-

१. सर्वान्शोपायेति० ख. ग. पु. २. तै. सं. ५. ४. ४.
५ मी० कौ०

श्लेषः “स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्” इति । अत्र वाङ्मन-
सयोर्निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था । अत्यन्तप्रशस्तयोरपि हि वाङ्-
मनमयोः स्तेनानृतवादयोगाद्धिरण्यादूनत्वम् । अतो ‘न हि निन्दा
निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुं’, इति न्यायेन हिरण्यस्तुतिः,
न तु निन्दया स्वतन्त्रनिषेधोन्नयनम् । निषेधैकवाक्यताविरहे नि-
न्दात्वस्यैवासिद्धेः; क्लृप्तविधेयकवाक्यत्वसम्भवे वाक्यभेदापाद-
कनिषेधोन्नयनस्यान्याय्यत्वाच्च । मनसश्च स्तेनस्यैव प्रच्छन्नरूप-
त्वात्तत्कार्यकारित्वं गौणतानिमित्तम् । । वाचश्च प्रायशोऽनृत-
वादिनीत्वाद्भूमा ॥ ११ ॥

दूरभूयस्त्वात् ॥ १-२-१२ ॥

“धूम एव” इत्यादिः, (१) “तस्माद्दिवाग्निरादित्यं गतो रात्रा-
वादित्यस्तं” इत्यादिश्रोपपाद्योपपादकरूपेण सर्वोऽर्थवादः (२)
“अग्निज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहा” इत्यादि (३) मिश्रलिङ्गकमन्त्र-
विधेश्लेषः । उभयोर्देवतयोरैकत्र सन्निधानेन चोभयदैवत्यहोम-
स्तुतेरुपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु केवललिङ्गकमिश्रलिङ्गकमन्त्रविध्योर्मध्येऽयं पठि-
तोऽपि मिश्रलिङ्गविधेः (४) “उभाभ्यां सायं हूयते, उभाभ्यां प्रातः,
न देवताभ्यस्समदं दधाति” इत्यर्थवादान्तराम्नानात्, ‘अग्नि-
ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्वाहेति सायं जुहोति” इत्यादेः केवलमन्त्र-
विधेरेवायं श्लेषः—यस्माद्दिवाग्नेरदर्शनादादित्यान्तर्गतिस्सूर्य-
स्यैव चातो ज्योतिष्टुं, एवं रात्रावप्यग्नेः । अतः केवलदैवत्यावेव
युक्ताविति । दूरस्थस्य च भूयस्त्वेन यद्दर्शनं तद्दृशिना लक्षयि-

१. तै. ब्रा. २. १. २-९. २. तै. ब्रा. २. १. २. १०.

३. अग्निस्सूर्ययोरुभयोः प्रतिपादनान्मिश्रत्वम् ॥ ४. तै. ब्रा. २. १. २. १०.

त्वा तद्विषयत्वाभावेऽग्न्यादौ नञा बोध्यत आदित्यं स्तोतुमि-
ति पूर्ववत् भूमैवात्र गौणवृत्तिनिमित्तम् ।

वस्तुनस्तु—‘न ददृश’ इति वाक्यस्य मुख्यो दर्शनाविषय
आकाशादिरित्यर्थः । तद्वत्तस्य दूरस्थवृत्तिभूयस्त्वप्रकारकदर्श-
नाविषयत्वरूपस्य गुणस्यैकसम्बन्धिदर्शनेनापरसम्बन्धिस्मरण-
मिति न्यायेनोपस्थितस्याग्न्यादौ योगादेव गौणत्वोपपत्तेर्न गु-
णांशेऽपि लक्षणेति तत्त्वम् । एवमेव गौण्युपपत्तिस्सर्वत्रोपपा-
दनीया ॥ १२ ॥

स्त्र्यपराधात्कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् (नात्) ॥ १-१-१३ ॥

“न चैतद्विद्म” इत्ययं प्रवरानुमन्त्रणसन्धिविशेषः । अब्रा-
ह्मणस्यापि प्रवरानुमन्त्रणेन ब्राह्मण्यं भवतीत्येतत्स्तुत्यर्थमुपपा-
दयितुं स्वस्यैव ब्राह्मणत्वाज्ञानोपन्यासः । पूर्ववच्चात्रापि ज्ञानगतं
प्राशस्त्यं ‘विदि’ धातुना लक्षयित्वा तद्विषयत्वं नञा ब्राह्मणत्वे
प्रतिषिद्ध्यते । लक्षणां विना चोपपत्तिः पूर्ववत् । सम्भवति हि
ब्राह्मणत्वस्य दुर्ज्ञानत्वं, मातुर्व्यभिचाररूपापराधसम्भवात् । न-
चापराधेऽपि (१) “बीजाद्योनिर्बलीयसी” इति पसिद्धेर्मातृजात्यैव
जातिनिश्चयः, “माता भस्त्रा पितुः पुत्रो (यस्माज्जा) येन जा-
तस्स एव सः” इति बीजावापकर्तुः पुत्रस्सम्भवतीति स्मरणात्
तस्य च नानाजातित्वोपपत्तेर्निश्चयायोगात् । अत एव क्षेत्रिजा-
त्यापि न व्यभिचारोत्पन्ने जातिनिश्चयः । अतश्च ब्राह्मणत्वस्य
दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचनं गौणं, प्रशंसा च गौणी निमित्तम् ॥ १६ ॥

आकालिकेप्सा ॥ १-२-१४ ॥

“को हि तद्वेद” इत्ययं प्राग्ब्रंशे (२) “द्विद्व्यनीकाशान् करोति”

इत्यस्य विधेश्शेषः । सर्वस्य हि सद्यः फलं यथाभिमतं न तथा कालान्तरभावि । अतश्चातीकाशकरणं सद्यो धूमनिर्गमफलकत्वेन प्रशंसितुं कालान्तरभाविस्वर्गनिन्दा । अत्र ऐहिकवदाभिमतरत्वरूपप्राशस्त्यमेवागुष्मिकफलपरामर्शिना तच्छब्देन तद्गतं लक्षयित्वा तस्यानवकृप्तिः “को हि तद्वेद” इत्यनेनोच्यत इति प्रशंसैव गौणीवृत्तिनिमित्तम् । (लक्षणाभावो वा पूर्ववत्)

सूत्रं तु-यत्तदानीमेवोत्पद्यते तदाकालिकं, तस्यैव चेप्सा सर्वस्याभिमता, अतस्तामभिप्रेत्यायं गुणवाद इति । अकालिकमिति पाठेऽपि, काले विप्रकर्षे, भवं कालिकं, न कालिकमकालिकमिति व्युत्पत्त्या च स एवार्थः ॥ १४ ॥

विद्याप्रशंसा ॥ १-२-१५ ॥

“शोभतेऽस्य मुखं” इत्यादिश्च गर्गत्रिरात्रविधेश्शेषस्तस्तु-त्यर्थः, यज्ज्ञानस्याप्येवं फलं, किमुत तस्य गर्गत्रिरात्रस्येति । शोभत एव हि शिष्यैरुद्दीक्ष्यमाणं ज्ञातुर्गुरोर्मुखम् । अतस्तदनुवादोऽयं प्रशंसार्थः, न तु ज्ञानफलं; तस्य सामर्थ्यात् क्रत्वर्थकर्तृसंस्कारकत्वेन फलानपेक्षत्वस्य त्वर्थैवोक्तत्वात् । यद्यपि चेयं न शोभापदाभिधेया, लावण्यादेरेव तत्पदवाच्यत्वेन लोकप्रसिद्धत्वात्, तथापि प्रीतिजनकत्वेन तत्कार्यकारित्वाद्गौण्या तदभिधानम् ।

सूत्रं-या विद्या फलहेतुत्वेनोक्ता सा प्रशंसोति व्याख्येयम् ॥ १५ ॥

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥ १-२-१६ ॥

“पूर्णाहुत्या सर्वान्” इत्यादयोऽर्थवादाः पूर्णाहुत्यादिवि-

धीनां शेषाः, न तु स्वतन्त्रफलविधयः, पूर्णाहुत्यादीनां त्वदुक्त-
रीत्यैव फलानपेक्षत्वात् । सर्वकामावाप्तिवचनं च सर्वकामजनक-
कर्माधिकारसम्पादनादौणम् । पूर्णाहुत्यादौ कृत एव हि तत्त-
दुत्तरकर्माधिकारः । यद्यपि चेहैव सर्वशब्दानुरोधात्सुरकन्यागम-
नादिजनककर्माधिकारः कथमप्यसम्भवी, तथापि सर्वमोदनं भु-
ञ्जत इतिवत्सर्वत्वमाधिकारिकं सम्भवमात्रापेक्षमित्यर्थः ॥ १६ ॥

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः

फलविशेषस्यात् ॥ १-२-१७ ॥

यद्यपि च पूर्णाहुत्यादेस्सर्वफलसाधनत्वं स्यात्, तथापि
नान्यानर्थक्यम्, कर्मतारतम्येन फलतारतम्योपपत्तेः । अवश्यं चा-
न्यत्राप्याग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिष्वेकफलकेषु कर्मस्वल्पेनैव मह-
तःफलस्याप्तौ महति कर्मणि समानपरिमाणत्वेऽपि निस्सारशमी-
मयत्वादिनैव तदाप्तौ ससारहिरण्मयस्रुक्करणे प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्विधिवै-
यर्थ्यप्रसङ्गात्फलतारतम्यं कल्प्यम् । दृष्टं च लोकेऽपि वृष्ट्या-
दितारतम्येन फलतारतम्यम् । “ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं
पुण्यपापयोः” इति स्मरणं, “यदग्निहोत्रं जुहोत्यथ गृहमेधिन-
माप्नोत्येकया रात्र्या, अथ दशसंवत्सरानग्निहोत्रं जुहोत्यथ द-
र्शपूर्णमासयाजिन आप्नोति”, इत्याद्यर्थवादाश्चासुमेवार्थं ग-
मयन्ति ॥ १७ ॥

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥ १-३-१८ ॥

शुद्धपृथिवीचयननिषेधो “हिरण्यं निधाय चेतव्य” मित्य-
स्य विधेर्नहिनिन्दान्यायेन स्तुत्यर्थो नित्यानुवादो वाङ्मनसयो-
रिव । तदुपपादकत्वेन चेतरावपि प्रतिषेधौ नित्यानुवादौ । यथा

चान्तारिक्षे दिवि वा चयनं च प्रसिद्धं, तथा हिरण्यरहितायां पृथिव्यामपीति हिरण्यस्तुतिः । अनिसंप्रयोगस्तु अर्थवादप्रामा-
ण्ये स्थापिते “परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं” इत्यनेन न्यायेन बवर-
शब्दस्य शब्दालुकारित्वं प्रावाहणिशब्दस्य च प्रकर्षेण वहतीति
व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्य नित्यवायुपरत्वाङ्गीकारात्तस्य च वाक्छब्दल-
क्षितध्वनिमात्रप्रवदनकामयितृत्वेन स्तुत्युपपत्तेः परिहृतः ॥

प्रयोजनं तु—

(१) रात्रिसत्रे प्रतिष्ठा स्या(२)दञ्जने घृतसंस्थितिः ।

(३) तथा श्येनादिशब्दानां नामता भेदकारणम् ॥

(४) वारुणेष्ट्यां तथा दानं (५) यमनं वैदिकं तथा ।

(१) ‘प्रतिष्ठिष्ठन्नि ह वै एता रात्रिरुपयन्ति’ इत्यर्थवादबलादे-
व रात्रिसत्राख्ये कर्मणि प्रतिष्ठाख्यं फलामिति निर्णीतं चतुर्थतृतीये ।

(४-३-६)

(२) ‘अकाशशर्करा उपद्घ्याति’ इत्यत्र शर्कराणामञ्जनं केन द्र-
व्येणेत्यपेक्षायां स्वसन्निधिपठिते ‘तेजो वै घृतं’ इत्यर्थवादे घृतस्यैव
स्तवनाद्विधिस्तुत्योरेकवाक्यत्वसिद्ध्यर्थं पूर्ववाक्ये घृतस्यैव विधेय-
त्वमङ्गीकृत्य तेनैवाञ्जनमिति निर्णीतं प्रथमचतुर्थे । (१-४-१९)

(३) ‘श्येनेनाभिचरन्यजेते’त्यादौ श्येनपदस्य विधेयगुणसमर्प-
कत्वं उत कर्मनामधेयत्वमिति सन्देहे ‘यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते
एवमयं द्विषन्ते भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते यमभिचारति श्येनेन’ इत्यर्थवा-
दे श्येनसादृश्योक्तिबलादेव विधिगतस्य श्येनपदस्य कर्मनामधेयत्व-
मुररीकृतं प्रथमचतुर्थे । (१-४-५)

(४) ‘यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपाला-
न्निर्वपे’ दित्यत्राश्वप्रतिग्रहीतुरेवाश्वसमसङ्ख्याकोष्टिप्रतीतावपि उ-
पक्रमस्थार्थवादे ‘प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्स स्वां देवतामार्हत्’
इत्यादिनाऽश्वदातुरेव वरुणग्रहरूपजलोदरप्राप्तेः इष्टिकरणेन च तन्नि-
वृत्त्यभिधानात्तदनुसारेण दातुरेवेयमिष्टिः, न प्रतिग्रहीतुः, इति नि-
र्णीतं तृतीयचतुर्थे । (३-४-१४)

(५) ‘वि वा एष इन्द्रियेण वीर्षेण ध्वयेते यस्सोमं वामिति यस्सो-

(१)सोमयागपरत्वं च ज्योतिष्टोमपदस्य यत् ॥

(२)निवेशनं च धायानामिध्यमानऋगुत्तरम् ।

(३)सोमविद्याप्रज्ञानां च नित्यत्वं षष्ठमंस्थितम् ॥

प्रवाप्ती स्यात्तस्मा एतं सोमेन्द्रं श्यामाकञ्चरुं निर्वपेत्' इति वाक्य-
विहिता श्यामाकोष्टिः यागाङ्गद्रव्यसंस्कारकत्वेन विहितभक्षणविशिष्ट-
सोमस्य वमने कर्तव्या ? उत लोकिकस्य वमनविरेकार्थमेव पीतस्य
सोमस्य वमन इति संशये उपक्रमस्थार्थवादे सोमवमनकर्तुरिन्द्र-
वीर्यव्युद्धिरूपदोषश्रवणात्तस्य च लोकेऽभावेन वैदिकसोमवमन एव
कस्यचनानृष्टस्य दोषस्योत्पत्त्यङ्गीकारावश्यकभावेन तन्निर्घातार्थवैदि-
कसोमवमन एवेयमिष्टिः, न तु लौकिके इति सिद्धान्तितं तत्रैव ।

(१) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजते'त्यत्र ज्योतिष्टोमपदस्य
'त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदश एकविंशः, एतानि वाव तानि ज्योतिषिषि, य
एतस्य स्तोमाः' इत्यर्थवादबलात् त्रिवृदादिस्तामचतुष्टयवत्सोमयाग
एव वाच्योऽर्थः इति निर्णीतं चतुर्थचतुर्थे । (४-४-१२)

२. प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोस्सामिधेनीनां पञ्चदशत्वमुक्तम् । वि-
कृतौ च तदधिका सप्तदशैकविंशत्यादिका सङ्ख्याक्ता । तत्र संख्या-
सम्पत्त्यर्थं तावत्य ऋचः दाशतयीभ्यस्सामनेयाः । आनीयमानानामु-
च्चामादावन्ते मध्ये वा यत्र कुत्रचिदनियमेन वा समावेशः इति संशये
'इयं वै समिध्यमानवती असौ समिद्धवती, यदन्तरा तद्वाद्या' इत्यर्थ
वादे समिद्धमानवतीसमिद्धवत्योरन्तराल एव धाय्याशब्दशब्दिता-
नां निवेशकथनात्तदनुसारेण तत्रैव निवेशो धाय्याशब्दवाच्यानाम् ।
इतरासां त्वन्ते इति निर्णीतं पञ्चमद्वितीये । इध्यमानऋक् 'समिध्यमा-
नोऽध्वरे' इति इध्यमानपदघटिता प्राकृतसामिधेनीषु ऋक्षु नवमार्ऋ-
क् । इयमेव च समिध्यमानवती । 'समिद्धो अग्न आहुत देवान् याक्षि
स्वध्वर' इति समिद्धपदघटिता समिद्धवती दशमी ॥ (५-३-३)

यत्तत्र न्यायमालायांमस्मिन्नाधिकरणे 'समिध्यमानो अध्वरे' इत्य-
सावृगष्टमी । 'समिद्धो अग्न आहुत' इत्यसौ नवमी इति पाठ उपलभ्य
ते स लेखकप्रमादकृत इत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

३. 'जायमानो वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इत्यर्थवादे ऋणत्रयसङ्कीर्तनादेव तदपा-

(१)द्वयोः प्रणयनं मध्यपर्वणोत्सप्तमोदितम् ।

(२)अर्थवादगतैर्लिङ्गैः प्रकृतित्वं तथाष्टमे ॥

(३)स्थानापत्तिरिरादीनां (४)चरुरोदनवाच्यपि ।

(५)उत्तराणां त्रयाधिक्य(६)मृत्विक्च ब्राह्मणो भवेत् ॥

करणरूपाणां सोमयागस्य विद्यायाः प्रजोत्पादनस्य च नित्यत्वमुक्तं षष्ठ्यद्वितीये । (६-२-११)

१. चातुर्मास्येषु 'द्वयोः प्रणयन्तीति' श्रुतम् । तच्चान्निप्रणयनं कयोर्द्वयोः पत्रैणोरिति संशये 'ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रघासास्साकमेधाश्च' इत्यनन्तरोदितार्थवादे वरुणप्रघाससाकमेधाख्यमध्यमपर्वणोः स्तवनाद्धिधस्तुत्योरेकवाक्यतासम्पत्त्यर्थं तयोरेव मध्यमयोः प्रणयनमिति निर्णीतं सप्तमत्ृतीये । (७-३-८)

२. इन्द्रिशुसोमादीनां प्रकृतिविकृतिभावस्तत्र तत्र श्रुतार्थवाद्बलादेव निर्णीतोऽष्टमे ।

३. "यज्ञा यज्ञा वा अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे । प्र प्र वयममृतं जानवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम," इति मन्त्रे "पेरं कृत्वोद्रेय" मित्तीरापदविधानं कुत्रेति संशये "न गिरागिरेति ब्रूयात्" इति निषेद्यानुवादबलाद्गिरापदकार्य एवेरापदविधानमिति निर्णयः कृतो नवमप्रथमान्त्ये । (९-१-१७)

४. "आद्रित्यः प्रायणीयः पयसि चरुः" इत्यत्र चरुशब्दस्थालीवाची ? उतौदनवाची ? इति संशये 'आदितिमोदनेने'ति वावथशेषे विवरणात् चरुशब्द ओदनवाचीति राज्ञान्तितं दशमे । (१०-१-१०)

५. "वाग्यतस्तिस्त्रो दोहयित्वा विसृष्टवागनन्वारभ्य तूष्णीमुक्तरा दोहयेत्" इति विहितमुत्तरासां गवां दोहनम् । ताश्च गावः कपि. अलाधिकरणन्यायेन त्रित्वं पर्यवस्यन्ति ? उताधिकसंख्याका दोग्धव्या ? इति संशये—"नास्यैनां रात्रिं कुमाराश्च न पयो लभन्ते, नाग्निहोत्रं जुहोती"त्यर्थवादे साकल्यप्रतीतेर्न त्रित्वनियमः, किन्तु यावत्स्वं दोहनमिति निरधार्यैकादशप्रथमे । (११-१-७)

६. सर्वं वैदिकं कर्म त्रैवर्णिकाधिकारिकमित्युक्तम् । तत्राविज्येऽपि त्रैवर्णिकानामधिकारः ? उत ब्राह्मणानामेवेति संशये "पते

अर्थवादप्रमाणत्वे सर्वे तदुपपद्यते ॥

सर्वसाधारणं तु—पूर्वपक्षे प्रकारान्तरेणापि प्ररोचितमनु-
ष्ठितमभ्युदयकारि, सिद्धान्ते त्वर्थवादप्ररोचितमेव (१)तदिति द्र-
ष्टव्यम् ॥ १८ ॥

इत्यर्थवादप्रामाण्याधिकरणं प्रथमम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमौदुम्बराधिकरणम् ॥

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१-२-१९॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

(२)“औदुम्बरो यूपो भवत्यूर्वा उदुम्बर ऊर्कपर्शव ऊर्जैवा-
स्मा ऊर्जं पशूनाप्नोत्यूर्जोऽवरुध्यै” इत्यादिषु विधायकत्वेन
वा प्रामाण्यं (३)स्तावकत्वेनैव वेति सन्देहः । पादाध्यायसङ्ग-
ती स्पष्टे । आक्षेपिकी त्वनन्तरा । ऊर्जा अन्नरूपेणौदुम्बरेण
साधनेन, अस्मै यजमानाय, ऊर्जम् अन्नरूपान पशून्, आ-
प्नोत्यध्वर्युः । अतः पशुरूपान्नसमृद्ध्यै औदुम्बरो यूपो भव-
तीति वाक्यार्थः ।

वै देवा अहुतादो यद्ब्राह्मणाः, यदन्वाहार्यमाहरन्ति तानेव तेन प्रीणा-
ति” इत्यर्थवादे अन्वाहार्यादिदक्षिणार्यां ब्राह्मणानामेवाधिकारसङ्कीर्त-
नात्तदनुसारेण वैदिकेषु कर्मसु ब्राह्मणानामेवातिव्यजेऽधिकार इत्युक्तं
द्वादशान्ते (१२-४-१४) सर्वमिदमर्थवादप्रामाण्याभ्युपगम एव सि-
ध्यतीति । १. मन्त्रवदिति. क. पु. ।

२. तै. सं. २-१-२ सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः” इति वा-
क्यविहितकाम्यपशुयागसन्निधौ श्रुतमिदं वाक्यम् । याऽजा त्रीन्
वत्सान् युगपत् प्रसूते तत्रैकैकोऽपि त्रैत इत्यभिधीयते ।

३. स्तावकत्वेन वेति. क. ग. पु. ।

६ मी० कौ०

(पूर्वपक्षः)

तत्र श्रौतप्रथमापेक्षितानन्यलभ्यप्रधानभूतविधिपरत्वे सम्भवति न लाक्षणिकविध्यभ्रगमोत्तरापेक्षितसम्भावितान्य-
लाभगुणभूतस्तुतिपरत्वमुपपत्तिम् । नचास्य विधिवत्प्रयो-
जनवत्तरत्वमपि । अतो विधिरेवायम् । तत्र 'पशूनाप्नोती'ति
द्वितीयया पशूनां साध्यत्वमात्रावगमेऽपि योग्यतया ईप्सित-
त्वस्याप्यवगमाद्भाव्यत्वसिद्धिः । यस्य तु मते (१) ईप्सितत्वमेव
द्वितीयार्थस्तदा कामशब्दादिकं विनैव भाव्यत्वावगमे नैव कि-
ञ्चिद्बाधकमस्ति ।

वस्तुतस्तु "ऊर्जोऽवरुद्ध्या" इति तादर्थ्यचतुर्थ्या(२) 'र-
न्धनाय स्थाली' (३) 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा' विद्यादिवत्का-
मपदाद्यभावेऽपि भाव्यत्वावगमः स्पष्टः । ततश्च पशूनां भा-
व्यानां साधनापेक्षत्वात्सन्निधानाद्विनैव तृतीयया यागादिव-
दौदुम्बरत्वजातिस्साधनत्वेन सम्बध्यते । साध्यसाधनस-
म्बन्धस्य च क्रियागर्भत्वाद्दण्डेन घटो भवतीतिवच्च भवनक्रिया-
सम्बन्धे पुरुषव्यापाराविषयत्वेन वचनवैयर्थ्यापत्तेर्लक्षणयाऽन्त-
र्णीतणिजर्थकल्पनया वा भवतेः पुरुषव्यापारपरत्वम् । तेषैव
वा लक्षणया शक्यैव वा भावनाप्रतीतिः । धातुस्तु साधुत्वार्थमि-
त्यपि वक्तुं शक्यम् । तदयमर्थः- औदुम्बरत्वेन पशून् भावयतीति ।
साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानादेव च प्रवृत्तिसिद्धेर्नार्थो विधिना ।
यदि तु विध्यभावे सन्निहिताया औदुम्बराया एव भावनाद्देश्य-
त्वापत्तेर्विध्याग्रहः, तदा भवतीत्ययं पञ्चमलकारस्सन् विध्यर्थको

१. ईप्सितत्वमपीति. क. पु. ।

२. रन्धनं-पाकः, ।

३. अपेक्षितसर्वफलार्थं दर्शपूर्णमासबागौ कर्तव्यावित्यर्थः ।

भविष्यति ।

न च फलविधिपक्षेऽर्थवादसमभिव्याहाराभावे पञ्च-
मलकारत्वनिश्चायकाभावः, विधयेकवाक्यत्वं विनाऽर्थवादत्वा-
निश्चयेन तस्य तदनिश्चायकत्वात् । अतः “कपिञ्जलानाल-
भत” इतिवदप्राप्तार्थकत्वेनैव तन्निश्चयः । अस्तु वाऽर्थवादस्यैव
तन्निश्चायकत्वं, तथापि ‘ऊर्वा उदुम्बर’ इत्यादेः ‘ऊर्जावा-
स्मा’ इत्यन्तस्य स्तावकत्वाङ्गीकाराददोषः । न चाश्रयाभावा-
दविधानं; फले औदुम्बरायाः, “सोभापौष्णं त्रैतमालभेत प-
शुकामः” इति प्रकृतथागस्याश्रयत्वोपपत्तेः । यद्यपि च जाते-
स्साक्षाद्यागसाधनत्वासम्भवः तथापि व्रीहिदध्यादिवदेव त-
दाक्षिप्तकाष्ठस्य (१)प्रदेयत्वेन साधनत्वाविघातः । काम्यत्वादेव
चोत्पत्तिशिष्टपशुबाधकत्वमविरुद्धम् । यूपशब्दस्तु “उपशयो
यूपो भवती” तिवदर्थप्राप्तच्छेदनादिधर्मवत्तयैवानुवादः, यूप-
धर्मातिदेशार्थो वा । (२) गुणफलविधौ च भावनान्तरस्वीकारा-
दुभयविशिष्टभावनाविधानादवाक्यभेद इति द्रष्टव्यम् । अथवा
ऽतिदेशप्राप्ता यूपोत्पत्तिरेवाश्रयत्वेनान्वेति । न च प्रकरणेनैवा-
श्रयोपस्थितिः (३) कार्येति नियमस्समस्ति, अतिदेशेनापि तदुपस्था-
पनसम्भवात् । तस्माद्विधायकत्वेनैवैवंजातीयकस्य प्रामाण्यम् ।
सूत्रं व्याख्यातम् ॥ १९ ॥

लोकवदिति चेत् ॥१-२-२०॥

१. ‘प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः’ इत्यत्र
कृष्णलानामनर्हनीयानामपि यथा यागीयद्रव्यत्वं तद्वदत्रापि भवितु-
मर्हतीति हृदयम् ।

२. द्वितीयद्वितीये (२. २. १३.) इन्द्रियकामाधिकरणे निपुणतर-
मुपपादितमिदम् । ३. कर्तव्येति. पा. ।

ननु-यत्रापि लोके बुद्धिपूर्वकारिणो मात्रामपि निष्प्रयो-
जनां न प्रयुञ्जते, तत्रापीयं गौः क्रेतव्येत्यस्य बहुक्षीरा(१)स्य-
पत्येत्यादिना स्तुतिरेव दृष्टा, न तु फले विधानं, अतः कथं
स्तुत्यपेक्षया विधेरर्थवत्तरत्त्वमिति चेत् ॥ २० ॥

न पूर्वत्वात् ॥ १-२-२१ ॥

युक्तं लोके बहुक्षीरत्वादीनां विदितपूर्वत्वात्क्रियाजन्य-
त्वाच्च फलविध्यसम्भवेनागत्या स्तुतिपरत्वम्, वेदे त्वविदितफ-
लजनकत्वविधिसम्भवे विधिवलेनैव सम्भवललाक्षणिकस्तु-
तिपरत्वकल्पनं को नामाश्रयेत् ! ॥ २१ ॥

(इति पूर्वपक्षः ।)

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥ १-२-२२ ॥ (सि)

(सिद्धान्तः)

ससं फलपरत्वं युक्तं, न तु तत्सम्भवः । तथाहि-यद्य-
पि तावत्पशूनां भाव्यत्वं गम्येत तथापि भावनायां विधिसम-
भिव्याहृतायामपि सन्निहितेषितयूपपदार्थस्यैव “खादिरो यूपो
भवती” तिवद्भावत्वोपपत्तौ न विप्रकृष्टानां पशूनां तत्कल्पनं
युक्तम्, यूपभवनाक्षिप्तायां भावनायां यूपस्यैव भाव्यत्वौचि-
त्याच्च । एवं सत्यपि यदीन्द्रियकामादिपदवदनन्यपरं फलश्र-
वणं भवेत् ततः सन्निहितातिलङ्घनमप्याश्रीयेत् । न तु पशूनां
भाव्यत्वे प्रमाणमस्ति । (२)न हि द्वितीया भाव्यत्वाभिधायिनी,

१. जीवदपत्येति. क. पु. ।

२. इदं च द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे सम्मार्गाधिकरणे ग्रन्थकृ-
ता स्पष्टीकृतम् ।

जन्यत्वमात्राभिधायित्वात् । यद्यपि चेत्सितत्वाभिधायिनी, तथा-
पि “पशूनाप्नोती” ति वर्तमाननिर्देशाद्द्वर्तमानफलस्य चानुपल-
ब्ध्या बाधाद्भविष्यदर्थकल्पनाऽऽवश्यकी । न च रात्रिसत्र-
वत्तदङ्गीकारेऽप्यदोषः, औदुम्बरत्वादेर्यूपार्थत्वेनैव नैराकाङ्क्षे-
ण रात्रिसत्रवत्फलानपेक्षत्वादिति (१) वर्णमयधिकरणे वक्ष्यामः ।
न चैवं पुनरुक्तता, अनेन फलमात्रपरत्वनिराकरणेन स्तुतिपरत्वे
स्थिरीकृते तत्र रात्रिसत्रवदर्थवादस्यैव सतः फलपरत्वमाशङ्क्य
निराकारिष्यते ।

यत्तु—“सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यादिवत्तादर्थ्यचतुर्थी
फलप्रतिपादिकेत्युक्तम्, तदपि तादर्थ्ये सति—‘देवाय पुण्यं, ‘ब्रा-
ह्मणाय दुग्ध’ मिति वत्प्राधान्यमात्रावगमेऽपि भाव्यत्वानवगमा-
दसाधकमिति भवदेवेनोक्तम् । “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्या-
दौ त्वगत्या लक्षणया भाव्यत्वावगतिः ।

किञ्च आश्रयालाभादपि न गुणफलसम्बन्धोपपत्तिः । त-
था हि—न तावत्पशुयाग आश्रयः । तत्र हि प्रदेयपरिच्छेदकत्वेन
वा गुणस्य सम्बन्धः प्रकारान्तरेण वा ? (२) न तावदन्त्यः, अ-
योग्यत्वात् । आद्ये यूपग्रहणानर्थक्यम् । न च यूपपदं धर्माति-
देशकम् । तथा सति यूपधर्मवानुदुम्बरप्रकृतिक इत्यर्थावगमेऽपि
विशेष्याश्रवणेन साकाङ्क्षत्वप्रसङ्गात् । अध्याहृतविशेष्यस्यैव गु-
णद्वयविशिष्टस्य विधौ (३) गौरवाच्च । न च प्रधानभूतयागस्या-
श्रयत्वासम्भवे (४) आनर्थक्यतदङ्ग’ न्यायेन यूपेऽवतारः, आ-
श्रयत्वस्य ‘आनर्थक्यतदङ्ग’ न्यायाविषयत्वेन (५) रेवत्यविकरणे

१. ४-३-१. २. नान्त्य इति. क. पु. ।

३. गौरवप्रसङ्गाच्चेति क. पु. ।

४. आनर्थक्यतात्तदङ्गेषु० इति न्यायः तृतीयप्रथमे नवमाधिकरणे ।

५. २-२-१४

स्थापयिष्यमाणत्वात् । सत्यपि विषयत्वे यूपमात्रावतारे प्रमा-
णाभावाच्च । नापि यूपोत्पत्तिः पशुनियोजनं वाऽऽश्रयः, त-
योरातिदेशिकत्वेनाप्रकृतत्वात् । अतिदेशस्य सर्वाङ्गसाधारणस्यै-
कत्वेन तयोर्विशिष्योपस्थित्यभावाच्च । साधारणोपस्थित्या
चाश्रयत्वाङ्गीकारे जुह्वादीनामप्याश्रयत्वापत्तिः । इष्टापत्तौ च
यूपपदवैयर्थ्यतादवस्थपम् । अनेनैव च वाक्येन यूपस्याश्रयत्व
उच्यमाने वाक्यभेदः । तेनाश्रयाभावादपि न गुणफलसम्बन्धः ।
तेनातिदेशमाप्त्यूपोद्देशेनैवौदुम्बरत्वविधिः । तस्तुतिश्च सर्वोऽय-
मर्थवादः । अत उक्तरीत्या वाक्यशेषत्वमेव युक्तमिति सूत्रार्थः ॥
स्तुत्यालम्बनं च पूर्णाहुतिवत्प्रधानफलानुवादाद्द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात्स्तुतिः प्रतीयेत त-
त्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥ १-२-२३ ॥

किञ्च—तुल्यन्यायत्वात्सर्व एव फलविधिसरूपवद्द्रव्यदेव-
तागुणक्रियाविधिसरूपास्त्वया विधायकत्वेनाऽऽशङ्कनीयाः, यथा-
(१)“यजमानः प्रस्तरः” इत्यादयो द्रव्यस्य, “आग्नेयो वै ब्राह्मणः”
इत्यादयो देवतायाः, (२)“यो विदग्धस्त नैर्ऋतः, योऽश्रुतस्त
रौद्रः” इत्यादयो गुणस्य, (३)“निर्वीतं मनुष्याणाम्” (४)“इति ह
स्माह वकुर्वाग्निर्माषान्मे पचत” (५)“वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता”
(६)“अप्सुयोनिर्वा अश्वोऽप्सुजो वेतसः” इत्यादयः क्रियायाः ।
तत्र यद्यपि निर्वीतादिक्रियाविधिषु शक्यार्थविषयत्वं, तथापि वायु-
वेतसादीनां क्षेपिष्ठत्वाज्जन्यत्वस्य स्वभावादेव सिद्धेरश्वदौ च
तस्य प्रयत्नेनाप्यनिष्पत्तेरनर्थको विधिः । तस्मात्स्तुतिः प्र-

१. तै. सं. २. ६.५.

२. तै सं. २. ६.३.

३. २. ५.११.

४. शत. ब्रा. १. १. २.

५. तै. सं. २. १.१.

६. तै ब्रा. ३.८.१९.

तीयेत । स्तुतिप्रकारश्च वायूदाहरणे पूर्वमेव प्रदर्शितः । वेत-
साश्वयोस्त्वैवम् “अप्सु योनिर्वा अश्वोऽप्सुजो वेतसः स्व एवैनं
योनौ प्रतिष्ठापयति” इत्ययं(१) “वैतसे कटेऽश्वं चिनोति” इत्य-
स्यविधेःशेषः । तत्र वेतसे ऽब्जन्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वादश्वस्यापि पु-
राणेष्वब्जन्यत्वप्रसिद्धेः, कार्यकारणयोरभेदोपचारेण वेतसप्र-
कृतिभूतास्वप्सु चयनादश्वस्य स्वयोनौ प्रतिष्ठापनं कृतं भव-
तीति चयनस्तुतिः ।

यद्यपि च—स्वयोनिप्रतिष्ठापनमात्रेण न काचित्स्तुति-
बुद्धिः, तथापि(२) “आपो वै शान्ताः” इत्यर्थवादान्तरेऽपि
शान्तत्वेन यजमानकष्टशमयितृत्वावगमादेवंविधप्राशस्त्यवती-
ष्वप्सु प्रतिष्ठापनेन चयनस्य स्तुतिः प्रत्येतव्या । अतश्च
तत्सामान्यादितरेष्वपि सर्वविधिसरूपेषु तथात्वं द्रष्टव्यम् ।
नचैवं (३) ‘तत्सिद्धि’ सूत्रादावपि विध्यर्थवादाविचारस्य करिष्य-
माणत्वात्पौनरुक्त्यम्, तत्सिद्धिसूत्रस्य तावद्गुणवादिनिमित्तमात्र-
कथनपरत्वेनात्रत्यस्यैव विध्यर्थवादाविचारस्य तदर्थस्मरणात् ।
(४)निवीताद्यधिकरणानि तु कृत्वाचिन्तात्वेन व्याख्येयानि ।
अर्थवादात्कथनं तु तत्र कृत्वाचिन्तोद्धाटनम् । एवं षाष्ठमपि
(५)माषपाकाधिकरणं व्याख्येयम् । सूत्रं व्याख्यातम् ॥ २३ ॥

प्रकरणे च सम्भव(६)न्नपकर्षः कल्प्येत विध्यान-
र्थक्यं हि तं प्रति ॥ १-२-२४ ॥

किञ्च—‘यो विदग्ध’ इत्यादां यदि तावद्यच्छब्दानुरोधेन

१. तै. ब्रा. ३.८.१९. २. तै. सं. ५. ४. ४. ३. पू. मी. १. ४. २३,
४. पू. मी. ३. ४. १. ५. पू. मी. ६-६. ११.

६. यद्यपि अपकर्षो न कल्प्येत इ सेव सर्वत्र पाठस्समुपलभ्यते,
तथापि हस्तलिखितकौस्तुभपुस्तकयोर्निरहितस्यैव पाठस्यदर्श-
नात् तथैव ग्रन्थकृता व्याख्यातत्वाच्च स एष पाठो निवेशितो मया ।

दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थविदग्धत्वे निमित्ते निर्ऋत्यादिदेवतान्तरविधिः, तदा स्तावकत्वेन गतिसम्भवे नित्यभ्याष्युत्पत्तिशिष्टदेवतान्तरस्य बाधाख्योऽपकर्षः कल्प्येत । अथैतद्दोषभयाद्व्यवहितकल्पनयापि 'यो नैऋत' इति तद्धितान्तपदलाक्षितनिर्ऋतिदेवत्ययागीयद्रव्योद्देशेन विदग्धत्वाविधानं, तदा(१) "पूषा प्रपिष्टु-भाग" इति वत्प्रकरणादपकर्षः कल्प्यः । दर्शपूर्णमासप्रकरणे निर्ऋतिदेवताभावेन दर्शपूर्णमासकर्म प्रति विध्यानर्थक्यात् । न च प्रकरणे एव कर्मान्तरविधिशङ्काः, यत्तच्छब्दान्वयानुपपत्तेः । "अविदहता श्रपयितव्य" इति विधयेकवाक्यत्वसम्भवे वाक्यभेदाङ्गीकारायोगाच्च । तथाचोत्तरसूत्रे वक्ष्यति— "विधौ च वाक्यभेदस्स्यात्" इति । तस्मात्स्तावकन्वमेव युक्तम् ॥ सूत्रं व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

विधौ च वाक्यभेदस्स्यात् ॥ १-२-२५ ॥

इदं सूत्रम् स्तुतिपरस्यापि "ऊर्जोऽवरुद्ध्या" इत्यस्य फलपरत्वे शङ्क्यमाने—यदि तावत् श्रूयमाणस्यैवोभयपरत्वम्, तदा तात्पर्यानेकन्वनिमित्तो वाक्यभेदः । रात्रिसत्रन्यायेन श्रुतस्य शब्दस्य स्तुतिमात्रपरत्वेऽपि विहितस्यौदुम्बरत्वस्य फलापेक्षायां कल्पितेन शब्देन फलविधौ शङ्क्यमाने तु गौरवलक्षणो वाक्यभेदः । यद्यपि चेयं शङ्का पर्णमय्यधिकरणे निराकारिष्यते, तथाप्यत्रापि प्रसङ्गान्निराकृतेति मूले व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु—अन्तरसूत्रानुगुण्याद्विदग्धादिवाक्येष्वेव कर्मान्तरशङ्कानिराकरणार्थं वेदितव्यम् । निराकरणप्रकारश्च पूर्वमेव दर्शितः ॥ २५ ॥

इति द्वितीयमौदुम्बराधिकरणम् ॥ २ ॥

(विधिवन्निगदाधिकरणम्)

अथ तृतीयं हेतुबन्निगदाधिकरणम् ॥

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥ १-२-२६ ॥ (पू)

(विषयसंज्ञायसङ्गनयः)

चातुर्मास्येषु—(१) ‘शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते’ इति श्रुतम् । तत्र ‘तेन ह्यन्नं क्रियते’ इत्यस्य हेतुविधायित्वेन प्रामाण्यं स्तावकत्वेन वेति षब्देहः । पादाध्यायसङ्गती(२) स्पष्टे । अनन्तरा तु पूर्वत्र कामपदाद्यभावात्फलपरत्वं निराकृतम्, इह तु हेतुप्रतिपादक‘हि’शब्दश्रवणाद्धेतुविधित्वसम्भव इति पूर्वपक्षोत्थानात्पूर्वाधिकरणसिद्धान्तहेतुप्रत्युदाहरणरूपा । अत एव न पौनरुक्त्यमपि ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र हिशब्दश्रुत्याऽन्नकरणत्वस्य हेतुत्वमुच्यते । हेतोश्च साध्यापेक्षायां सन्निधानाल्लाघवाच्च होमसाधनत्वं साध्यत्वेन सम्बद्ध्यते ।

यद्यपि च पूर्वं व्याप्त्यवगममन्तरेण लोके प्रायशो न हेतुत्वावगमः, तथाप्यनवगतव्याप्तेरपि पुंसो धूमो बह्वेहेतुरित्याप्तोपदेशादेव व्याप्त्यनुमानवद्वेदावगतहेतुत्वान्यथानुपपत्त्या व्याप्तिवचनं कल्प्यते—यद्यदन्नकरणं तेन तेन होतव्यमिति । अस्ति च दर्शीपिठशूर्पादीनामन्नकरणत्वम्; पाकादिरूपव्यापारवत्त्वात्, विप्रकृष्टलाङ्गलाद्यपेक्षया साधकतमत्वाच्च ।

अत्र च तच्छब्देन शूर्पपरामर्शोऽपि न तस्य हेतौ प्रवेशः, हिश-

१. चातुर्मास्यान्नर्गतव्यवहारप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वण्याऽनातमिदमा ।

२. सङ्गतिस्त्वष्टैवेति० क. ख. पु. ।

ब्रह्मोपात्तहेतुत्वविधातुद्देश्यस्य तृतीयोपात्तस्य करणत्वस्य प्रातिप-
दिकोपात्तेन शूर्पेण विशेषेणुपपत्तत्वात् । शूर्पस्य पक्षत्वेन तद्दृत्ति-
त्वस्य हेतुतावच्छेदकत्वानुपपत्तेश्च । अत्र च 'शूर्पेण जुहोति,
तेन ह्यन्नं क्रियते' इत्युभयत्रापि वर्तमाननिर्देशाद्ब्रह्मोपपत्त-
नकालीनान्नक्रियाप्रतीतेस्तादृश्याश्वासम्भवेन तन्निरूपितकरण-
त्वस्य होमसाधनत्वं प्रति हेतुत्वासम्भवात् 'क्रियते' इत्यत्र
कृत्वा स्वार्थविषयिणी शक्तिर्लक्ष्यते—तेन कर्तुं शक्यत इति ।
अन्नक्रियाजनकशक्तेश्च सर्वदा वर्तमानत्वान्न लटोऽनुपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु शक्तिं प्रति तृतीयोपात्तस्य करणत्वस्यानन्व-
यापत्तेश्च शक्तिव्यतिरिक्तकरणत्वाभावाच्च शक्तिर्लक्षकत्वानु-
पपत्तेर्लट एव भूतत्वे भावित्वे वा लक्षणा । आवश्यकी चेयं
लक्षणा स्तुत्यालम्बनार्थं सिद्धान्तिनोऽपि । तेन तादृशान्नक्रिया-
करणत्वस्य हेतुत्वोपपत्तिः । अत्र च होमस्य (१) "करम्भपात्राणि
जुहोति" इत्युत्पत्तिवाक्येनैव प्राप्तत्वात्तदनुवादेनान्नकरणत्वहे-
तुकमन्नकरणमात्रस्य दूर्वापिठरादेस्साधनत्वं श्रुतानुमितैकदेश-
निष्पन्नवाक्येन विधीयते । शूर्पपदं चा(२)वयुत्यानुवादोऽन्नकर-
णमात्रोपलक्षणं वा । दूर्वापिठरादीनामपि होमसाधनत्वसिद्धिश्च
व्याप्तिकल्पकस्य हेतोः प्रयोजनमिति नानर्थक्यम् । नचैवं प्राश-
स्त्यसमर्पकाभावः, विधेरेवाप्राप्तिबलबन्धप्राशस्त्यलाभोपपत्तेः ।

१. का. श्रौ. सू. ५. ५. १०. दक्षिणाग्नौ यवानीषद्दर्जयित्वा तान्
पिष्ट्वा (चूर्णीकृत्य) जलेन संयुत्य तेन पिष्टेन यजमानस्य यावत्यः
प्रजाः स्युः तत एकाधिकानि पात्राणि क्रियन्त । तानि करम्भपात्राणि ।
तानि च नवीने शूर्पे निक्षिप्य तत् शूर्पं पत्नी स्वशिरसि निक्षिप्य
यजमानान्वाग्बन्धा दक्षिणेऽग्नौ जुहुयात् । एष सम्प्रदायः ॥

२. अवयुत्य समुदायात् पृथक्कृत्यानुवादः ।

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ६१

हेतुसमर्पकस्यैव वा(१)रात्रिसत्रवदुभयपरत्वकल्पनया प्राशस्त्य-
परत्वोपपत्तिः । तस्माद्धेतुविधिरेशायम् “न ह्यत्रानूयाजान्यक्ष्यन्
भवती” तिवत् ॥ सूत्रं व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥१-२-२७॥(सि)

(सिद्धान्तः)

नैवम् ; प्रथमोपस्थितत्रिधुद्देशवर्त्यनन्यप्रयोजनशूर्पपदवैय-
र्थ्यप्रसङ्गात् । अतश्शूर्पं तावदवश्यं विधेयम् । तेन प्रत्यक्ष-
श्रुतेन शूर्पेणाऽऽनुमानिकैर्द्वय्यादिभिर्न विकल्पः, न वा तस्य
तैर्वाधः । समुच्चयोऽपि शूर्पस्य नैरपेक्ष्यवाधाद्युक्तः ।
तथा हि —“(२)समर्थः पदत्रिविधः” इति सूत्रेण तावत्पदमात्रस-
म्बन्धिविधौ सामर्थ्यं विधीयत इति निर्विवादम् । (३)न चै-
तस्य समासप्रकरणस्थत्वात्पदमात्रे न सामर्थ्यविधायकत्वम्,
एतस्य परिभाषारूपत्वेन प्रकरणेनानियमात् । अन्यथा तादृ-
तविधावप्यस्य प्रवृत्त्यनापत्तेः । न च तत्र “(४)समर्थानां प्रथ-
माद्वा” इति सूत्रेण सामर्थ्यापेक्षत्वविधिः, अस्य सूत्रस्य ‘सम-
र्थानां पदानां’ मित्यनूद्य ‘प्रथमाद्वा प्रत्ययोत्पत्ति’ रिखेतद्वि-
धिपरत्वात् ।

वस्तुतस्तु नास्य समासप्रकरणस्थत्वम् । अतस्समास-
वत्पदस्य सतो विधिरित्यर्थासम्भवेऽपि प्रातिपादिकादनुशि-
ष्टस्यापि तद्वितस्य पदसम्पादकत्वात्, उभयसाधारण्येन पदस-

१. रात्रिसत्रे स्तावकस्यार्थत्वादस्य फलपरत्वमपि यथा कल्प्यते
तद्वदुभयपरत्वमिति भावः । २. पा. ख. २. १. १. ।

३. न च तस्येति ख. पु. । ४. पा. सू. ४. १. ८२ ।

स्वन्धिविधिमात्रम् । पदविधिवाद्दार्थो महाभाष्ये भासिद्धः । एवं च सुप्तिङ्विधेरपि धातुप्रातिपदिकादनुशिष्टत्वेन पदसम्बन्धित्वः त्साप्यर्थ्यापेक्षत्वमविरुद्धम् । अतश्शूर्पेणेत्यत्रापि सामर्थ्यापेक्षत्वा-
दन्यापेक्षत्वे च सामर्थ्यभङ्गापत्तेर्न समुच्चयः ।

ननु—“समर्थः पदविधिः” इत्यत्र महाभाष्यकारेण द्विविधं सामर्थ्यमुक्तम्—व्यपेक्षालक्षणमेकार्थीभावलक्षणं च । तत्र यदि तावदन्योन्यापेक्षत्वरूपं व्यपेक्षालक्षणम्, यथा ‘राजपुरुष’ इत्यत्र राजपदस्योत्थिताकाङ्क्षत्वं पुरुषपदस्य चोत्थाप्याकाङ्क्षत्वम्, तथा सति शूर्पेणेत्यत्र द्रव्यान्तरसाकाङ्क्षत्वेऽपि प्रकृतिप्रत्यययोः परस्परसापेक्षत्वान्न विरोधः । न चैवमृद्धपदसाकाङ्क्षत्वेऽपि राजपुरुष इति समासापत्तिः, “सविशेषणानां वृत्तिर्नैष्यते” इति वार्तिकेन तन्निषेधात् ।

अथ तु सूत्रवार्तिकयोरेकवाक्यतया पदान्तरसापेक्षत्वे-
ऽप्यसामर्थ्यं स्यात्, तथापि शाब्दान्वयसापेक्षत्व एव तत्, नत्वर्थान्तरसाकाङ्क्षत्वेऽपि । व्रीह्यादीनामत्रघाताद्यपेक्षत्वेऽपि साम-
र्थ्याविधातात् । अर्थैकार्थीभावलक्षणं तत्; तथापि समास-
वच्छूर्पकरणत्वयोर्विशेषणविशेष्यभावघात्रणैकार्थ्योपपत्तेर्न द्रव्या-
न्तरसापेक्षत्वेऽपि सामर्थ्यभङ्ग इति चेन्न; विशेषणत्वस्यान्य-
योगव्यावृत्तिं विनाऽसम्भवेन द्रव्यान्तरसापेक्षत्वे विशेषणत्व-
स्यैवानुपपत्तावेकार्थीभावलक्षणसामर्थ्यानुपपत्तेः ।

यद्यपि चायोगव्यावृत्तिरूपनियमफलकत्वेनापि विशेषणत्वो
पपत्तिः, तथापि शूर्पस्याविशेषाद्धोमीयसकलद्रव्याधारत्वेन वि-
धानात्तत्र चायोगव्यावृत्तिरूपस्य नियमस्य द्रव्यान्तरव्यावृत्ति
मन्तरेणासिद्धेर्न समुच्चयोपपत्तिः ।

एवञ्च यद्यपि “समर्थः पदविधिः” इत्यनेन पदमात्रविधौ

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ६३

सामर्थ्याविधिर्न स्यात् , तथापि द्रव्यत्रिधेर्नियमविधित्वात्तस्यो-
क्तविधया द्रव्यान्तरव्यावृत्तिमन्तरेण।मिद्वैर्व्यावृत्तित्वात्पर्यावगते-
स्समुच्चये च तदसिद्धेर्न पुरुषेच्छामात्रेण समुच्चयोपपत्तिः । आवृ-
त्यापादनेन तु समुच्चयपक्षो गुणानुरोधेन प्रधानावृत्त्ययोगा-
दयुक्तः । त्रिस्तरेण चैतदुपपादितम्—

(१)“समासस्सति सामर्थ्ये तच्चापीष्टं विशेषणे ।

विशेषणं व्यवच्छेत्तु विशेष्यव्यापि चोच्यते ॥”

इत्यादिना रथन्तरचरणे वार्त्तिककृता । तस्मान्न समुच्चयोऽपि ।

अतश्च मत्थक्षश्रुतेन शूर्पेणैव होमस्य निराकाङ्क्षत्वात् नानु-
मानिकानां दर्वीपिठरादीनामन्वयः ।

न च शूर्पासम्भवेऽनुकल्पत्वेनान्वयशक्यः, हिशब्दश्रुते-
रपेक्षितस्तुतिमात्रपरत्वसम्भवेऽनपेक्षितहेतुपरत्वकल्पने प्रामाण्या-
भावेन दर्वीपिठराद्यन्वयविधायिव्याप्तिकल्पने गौरवात् ।

न च स्तुतिपरत्वे लक्षणापत्तिः, अपेक्षानुरोधेन तस्या अ-
प्याश्रयणीयत्वात् ।

वस्तुतस्तु हिशब्दो हेतुत्वमेव वदन् विधिं प्रति हेतोरनपे-
क्षितत्वात् आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन स्तुतिं प्रसाश्रीयते—अन्नक-
रणत्वात्प्रशस्त इति । अतो विधिशब्दापेक्षापूर्वकत्वात् स्तुतिरेव
न्याय्या, यतोऽन्नकरणत्वस्य हेतुत्वेऽपि दर्वीपिठरादेः साधक-
तमत्वाभावेनाकरणत्वात्, साधकतमस्य च पाकादेः होमसाध-
नत्वायोगात्, अचोदनेत्येव सूत्रार्थः ॥ २७ ॥

व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥ १-२-२८ ॥

नन्वेवं शूर्पेऽपि साधकतमत्वाभावात् स्तुत्यालम्बनरू-
पार्थरहिते स्तुत्यनुपपत्तिः ॥ २८ ॥

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥ १-२-२९ ॥

अस्मत्पक्षे त्वेतस्य विधिशेषत्वेनानुवादकत्वात्, अनुवादस्य च यथाप्राप्तिं वर्णनीयत्वात्, यादृशं लोके शूर्पस्य विप्रकृष्टलाङ्गलाद्यपेक्षयाऽन्तरङ्गत्वादनं प्रति साधकतमत्वं दृश्यते, तादृशस्यैव स्तुत्यालम्बनार्थमनुवादो नानुपपन्नः । एवमेव वर्तमाननिर्देशोऽपि अनुवादत्वादुक्तरीत्या करोतेशक्तिलक्षकत्वेन लटो वा भूतभाविष्यत्काललक्षकत्वेन व्याख्येयः । अनुवादत्वादेव च लक्षणापि न दोषः । प्रत्युत स्तुत्युपपादकत्वाद्गुण एव । न हि भूते भाविनि वा तादृशी प्रीतिर्यादृशी वर्तमाने । न वा वर्तमानशक्तिके तादृशी यादृशी फलोपहिते । अतो वर्तमानशक्तिकं हेतुं कृतं करिष्यमाणं वा स्तोतुमस्मत्पक्षे 'क्रियत' इति निर्देशोपपत्तिः । हेतुविधिपक्षे तु प्रमाणान्तरसिद्धार्थानुवादकत्वाभावाद्यथाश्रुतादीषदप्यन्यथात्वकल्पनं दोष एव ।

अत एव यत्र हेतुविधिपक्षेऽपि न लक्षणा । यथा -(१)आतिथ्यायां "चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति, न ह्यत्रानूयाजान्यक्ष्यन्भवती" त्यत्र । तत्र हेतुरेवानूयाजाभावः चतुर्गृहीतत्रित्वविधिफलीभूताष्टगृहीतगतग्रहणचतुष्कनिवृत्तौ । अतश्च तत्र हेतुबलेन व्याप्तिकल्पनायामातिथ्याव्यतिरिक्तायामपि खण्डेष्टावनूयाजाभावे सति चतुर्गृहीतत्रित्वप्राप्तेरष्टगृहीतानिवृत्तिमोद्धिः । प्रकृतौ च "अष्टावुपभृति शृङ्गाति" इत्यत्र चतुष्कद्रयलक्षणाद्योतेनार्थत्वादेतस्य प्रयाजार्थं जुहां समानयने नियोगतोऽर्द्धमेव समानेतव्यमिति लभ्यते । अन्यथा हि प्रयाजानूयाजयोर्मिलित्वा पञ्चसंख्याकत्वात्

१. सामयामे कीक्षानन्तरदिने सोमकथणानन्तरं क्रियमाण इष्टि-विशेष आतिथ्या ।

(१) 'समं स्यादश्रुतत्वा' दितिन्यायेन प्रयाजद्वयार्थं किञ्चिदधिक-
स्तुत्रत्रयस्यैवानयनं प्रसज्येत । यथा च न प्रकारान्तरेण चतु-
ष्कद्वयसिद्धिः, तथा चतुर्थ(२) उपपादयिष्यते । अतश्च तत्र
लक्षणाभावाद्देतुविधित्वमेव, प्रकृते तु लक्षणाप्रसङ्गात् स्तुति-
परत्वाङ्गीकारः ॥ २९ ॥

(३) यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात् ॥ १-२-३० ॥

यद्यपि चायं हेतुविधिस्स्यात्, तथापि शूर्पगतस्यैवात्रकर-
णत्वस्य हेतुत्वमवतिष्ठेत्, न दर्वापिठरादिगतस्यापि, शूर्पस्यैव
होमसाधनत्वनिर्देशात् । न च शूर्पगतहोमसाधनत्वे साङ्ख्येऽन्य-
गतान्नकरणत्वस्य(४) हेतुता सम्भवति, सामानाधिकरण्याभा-
वात् । सन्निहितपरामर्शिसर्वनामोत्तरतृतीयाश्रवणेन पदश्रु-
त्या तद्गतस्यैवान्नकरणत्वस्याभिधानाच्च । न चान्नकणत्वस्य
हेतुत्वं प्रत्युद्देश्यत्वात्तद्विशेषणाविवक्षा, अन्नकरणत्वस्य स्वरू-
पतो लोकावगतस्यापि सोमादिवद्विधेयत्वेनानुद्देश्यत्वात् ।

यत्तु धूमादिवत्पक्षवृत्तित्वेन हेतोरविशेषणमित्युक्तम् । तन्न,
धूमादौ विशेषधर्मेण व्याप्त्यनवगमाद्युक्ता धूमत्वादिना सामा-
न्येन हेतुता । वेदे तु प्रमाणान्तरेण व्याप्त्यनवगमात्, विशेष-
तश्श्रुतहेत्वन्वयानुपपत्तेर्विशेषव्याप्तिकल्पनयाऽप्युपपत्तौ न श्रुतप-
रित्यागे प्रमाणमस्ति । दृष्टं च लोकेऽपि विशेषतस्तृणधूमदर्श-
नात् तृणाग्रेरनुमानम् । अतो यद्यदन्नकरणं शूर्पं तेन तेन होत-

१. जै. सू. १०-३-५३.

२. चतुर्थप्रथमान्त्याधिकरणे 'तदष्टसंख्य'मित्यत्र ।

३. इतस्सूत्रत्रयमेकसूत्रतया परिगणितं भाष्यादौ ।

४. त्वस्यापि. क. पु. ।

व्यमिति व्याप्तिकल्पनादसमर्थशूर्पव्यावृत्तिः परं भवेत्, न तु द्रव्यादिप्राप्तिः । इदं च वस्तुतो लक्षणाप्रसंगेन स्तुतिपरत्वस्यै-
वोक्तत्वाद्भ्युपेत्यवादेऽयं योक्तम् । तत्प्रयोजनं च नानूयाजाभा-
वमात्रस्य हेतुत्वम्, किन्तु बहुवचनश्रवणात् बहुनूयाजाभाव
स्यानूयाजसामान्याभावरूपस्य । अतोऽवमृथे वर्हिरनूयाजमात्रा-
भावेऽपि न व्यभिचारः ॥ ३० ॥

सामान्यादिति चेत् ॥ १-२-३१ ॥

ननु — अविशेषप्रवृत्ततृतीयारूपप्रत्ययश्रुत्यनुरोधेन पदश्रुति-
वाधादङ्गकरणसामान्यस्यैव हेतुत्वं स्यादिति चेत् ?-॥ ३१ ॥

अव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥ १-२-३२ ॥

प्रत्ययश्रुत्यंगीकारे हि यद्यद्गृहीतं तस्य तस्यैव काचिदन्ननिमि-
त्तताऽस्त्येवेत्यनवस्थितत्वाद्यात्किञ्चित् द्रव्यं होमे प्रसज्येत । तादृश-
स्य च होमाक्षेपादेव प्राप्तत्वादनर्थकोऽङ्गकरणशब्दः । अतश्च
प्रत्ययश्रुतेरानर्थक्यप्रतिहतत्वाद्दुर्बलश्रुत्यनुरोधो न दोषाय ॥ ३२ ॥

इति तृतीयं हेतुवन्निगदाधिकरणम् (हेत्वधिकरणम्)

अथ चतुर्थं मन्त्राधिकरणम् ॥

तदर्थशास्त्रात् ॥ १-२-३३ ॥ (पू)

(विषयसंशयसङ्गतयः)

‘मन्त्रानर्थक्य’मित्यन्तस्य एकसूत्रत्वेऽपि व्याख्यासौकर्यार्थं
खण्डशः प्रत्येकं पञ्चम्यन्तसूत्रावयवोपन्यासः । इह मन्त्रानुदा-

हृत्य किं तेषां धर्मे प्रामाण्यमुत नेति-विचारः । अत्र पादाध्या-
यसङ्गती पूर्ववत् ॥

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यप्यर्थवादवदेवाऽध्ययनविधिनाऽध्ययनसंस्कार्यता
मन्त्राणामवगता, तथापि मन्त्राणामुपयोगापेक्षार्यां न तावत्
विधिवत्स्वतो विधायकत्वेनोपयोगसम्भवः, विधिविहितार्थानु-
वादकत्वात्; यच्छब्दादिना विधिशक्तिप्रतिबन्धाच्च ।

नापि स्तावकत्वेन, अर्थवादवत्प्रदेशान्तरविहितस्तुत्यसम्भवात्।
तथा हि—मन्त्राणां स्तावकत्वमर्थवादवत्पदैकवाक्यतया वा ?
वाक्यैकवाक्यतया वा ? नाद्यः ; प्रदेशान्तरस्थत्वात् । नान्त्यः ;
पदार्थविधया लक्ष्यस्तुतिमात्रप्रतिपादनेऽपि अर्थवादवदेव स्वा-
र्थबोधे समाप्त्यभावात् । अतो न स्तावकत्वम् । विस्तरेण चै-
तत्(१)द्वितीये द्वयमपि निराकरिष्यते । अत एवार्थवादप्रामा-
ण्यहेतुप्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षोत्थानादर्थवादविचारसङ्गतिः ।
अनन्तराधिकरणद्वयस्य त्वाक्षेपसमाधानार्थत्वेनार्थवादाधिकरण-
शेषत्वादव्यवधायकत्वम् । प्रकरणान्तरत्वेन चानन्तरसङ्गसभा-
वेऽपि न दोषः ।

नापि स्मारकत्वेन; तथाङ्गीकारेऽप्यनधिगतार्थगन्तृत्व-
रूपस्य प्रमाकरणत्वरूपस्य वा प्रामाण्यस्य तावदयोगस्तदवस्थ
एव । किञ्च इदं स्मरणमपि यत्किञ्चित्स्वार्थमात्रविषयकम् ?
कर्मसमवेतानुष्ठेयार्थविषयकं वा ? नाद्यः, अनुपयोगात् ; सांज्ञां
मन्त्रत्वस्य(२)द्वितीये वक्ष्यमाणत्वात्तेषां चार्थाभावेनाव्यापक-
त्वाच्च । नान्त्यः, अनुष्ठेयार्थस्मरणस्य ध्यानादिनाप्युपपत्तौ

मन्त्रवैयर्थ्यात्; वाचकमन्त्रशब्दस्मरणस्यार्थस्मरणाधीनत्वेन वै-
परीत्याञ्च ।

किञ्च—प्रोत्साहनानुमन्त्रणादिमन्त्राणां (१)“अगन्म-
सुव” रित्यादीनां कर्मसमवेतार्थाभिधायित्वेऽप्यननुष्ठेयार्थक-
त्वान्न स्मरणोपयोग इत्यव्यापकत्वं तदवस्थमेव । जपादिम-
न्त्राणां तु कर्मसमवेतार्थाभिधायित्वमपि प्रायशो लक्ष्यते । एवं
यत्रापि करणमन्त्रे समवेतार्थाभिधायित्वं तत्रापि द्वित्राणामेव नि-
र्वापादिपदानां तत्, न तु (२)‘देवस्य त्वा’ दिपदानाम् । साम-
मन्त्राणां तु गीत्यात्मकत्वेनाऽवाचकत्वान्नार्थाभिधायित्वमपि ।
अतः स्मारकत्वेनाप्युपयोगासंभवात्, अध्ययनसंस्कृतानां चोप-
योगापेक्षयां प्रकरणपठितानामनारभ्याधीतानां च यथासम्भवं
श्रुतिवाक्याधिकाराख्यप्रकरणक्रमसमाख्यादिभिः प्रधानाङ्ग-
त्वेनावगतानां प्रधानविधिना मन्त्रस्वरूपमेवाङ्गीक्रियते, न
तु ब्राह्मणवाक्यवदर्थोऽपि, अनुपयोगात् । मन्त्रस्वरूपस्य च
स्वतोऽक्रियारूपत्वाद्यद्यपि नेतिकर्तव्यतात्वेनान्वयो योग्यः,
नापि स्वरूपेण प्रधानोपकारकत्वसम्भवः, तथापि प्रमाणान्तरा-
वगतमन्त्रस्वरूपाङ्गत्वनिर्वाहायोच्चारणक्रियाद्वारेण व्रीह्यादिवत्का-
रकत्वेनान्वयोऽङ्गीक्रियते । प्रायशश्च वेदे मन्त्रणा ‘मित्याहो’ पनि-
बद्धत्वादुच्चारणक्रिया श्रुतैव । यत्रापि (३)“बर्हिर्देवसदनं दामी”
त्यादौ सा न श्रुता, तत्रापि परिशेषात्सैव कल्प्या । न हि
(४)प्रत्यायनस्य पुरुषकृत्यसाद्ध्यस्य व्यापारत्वं (५) घटते ।
अत उच्चारणमेव व्यापारः । तस्य चोक्तविधया दृष्टप्रयोजना-
सम्भवाददृष्टार्थत्वम् ।

१. तै. सं. १. ६. ६. २. तै. सं. ४. १. १. ३. मै. सं. १. १. २.

४. अर्थप्रत्यायनस्येति ख. पु. ५. सम्भवति इति ग. पु.

नचैवमर्थपरत्वाभावे स्वाध्यायाध्ययनविधेरदृष्टार्थतापत्तिः, हुंफडाद्यध्ययनवन्मन्त्राध्ययनस्यापि कर्मकालीनोच्चारणप्रयोग-प्राप्त्युभावसिद्धयर्थत्वेन दृष्टार्थत्वात् । अत उच्चारणक्रियाद्वारेण मन्त्राणां प्रधानभावनाग्रहणम् ।

न च मन्त्राणामशाब्दत्वाच्छाब्दक्रतुभावनानन्वयः, क्रमा-दिकल्पितया अनेन मन्त्रेणास्य प्रधानस्योपकुर्यादित्येवंविधया श्रुत्या मन्त्राणामपि शाब्दत्वात् । एवंचार्थप्रत्यायनार्थत्वाभावा-ल्लिङ्गेन तत्तदवान्तरकार्ये बर्हिर्लवनादौ विनियोगायोगाद्दर्शपूर्ण-मासादिप्रकरणपठितानां सर्वेषां मन्त्राणां यत्रकचित्प्रयोगे प्राप्ते केषाञ्चिन्मन्त्राणां क्रियाविशेषानुष्ठानकालीनोच्चारणविधायि-शास्त्रस्याप्युपपत्तिः, अन्यथा हि लिङ्गादेवानुष्ठेयक्रियाङ्गत्वसिद्धेः पुनस्तदङ्गत्वप्रतिपादकस्य शास्त्रस्य वैयर्थ्यमेव स्यात् । यथा (१)“अधिरसि नारिरसी” त्यादयोऽग्निप्रकरणाग्नाताश्चत्वारो मन्त्रा लिङ्गादेवान्यङ्गेषुकार्यमृत्खननसाधनीभूताभ्रचादाने प्राप्ता इति (२)‘तां चतुर्भिरादत्त’ इति वचनं व्यर्थम् ।

न च चतुस्सङ्ख्याविधानार्थं तत् ; सा ह्यादानोद्देशेन वा विधीयते मन्त्रोद्देशेन वा ? न तावदाद्यः, सङ्ख्याया (३) ‘स्ति-स्र आहुती’ रितिवत्कर्मसामानाधिकरण्याभावेन साक्षादादान-सबन्धायोगात् । न चारुणैकहायनीन्यायेन मन्त्रसामानाधिक-रण्योपपत्तिः । तत्रैकहायन्या अप्राप्तत्वेन विधेयत्वात्तत्परिच्छे-दकापेक्षायां युक्तः पार्ष्णिक आरुण्येन सम्बन्धः । मन्त्राणां तु लिङ्गादेव विकल्पेनैकसङ्ख्यानां प्राप्तत्वेन परिच्छेदकानपेक्ष-त्वान्न ग्रहैकत्ववद्युक्तश्चतुस्सङ्ख्यायास्सम्बन्धः । नान्त्यः, स्वरूपेणैव मन्त्राणां चतुस्सङ्ख्यात्वेन वचनवैयर्थ्यात् । आदान-

विशिष्टमन्त्रोद्देशेन सङ्ख्याविधौ विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः ।
उभयविशिष्टादानविधिपक्षस्तु आदानस्यार्थप्राप्तत्वान्मन्त्राणां
लिङ्गादेव प्राप्तेरनाशङ्क्य एव । अतो न सङ्ख्याविधिः ।

नापि समुच्चयविधिः, तद्वाचकशब्दाद्यभावात् । अस्मत्पक्षे
तु चतुस्रसङ्ख्याकमन्त्रोच्चारणस्याऽऽदानाद्भवत्त्वसिद्धयर्थो विधि-
रर्थवान् ।

तथाग्निचयनप्रकरणाम्नात एव मन्त्रः (१) “ इमामगृभ्णत्र-
शनामृतस्ये ” त्ययं लिङ्गादेव तत्रत्याश्वरशनाग्रहणे प्राप्त इति
पुनस्तत्र “ (२) इत्यश्वाभिधानीमादत्त ” इति वचनं व्यर्थम्;
न ह्यत्र पूर्ववत्किञ्चिद्विधेयान्तरमप्याशङ्कितं शक्यम्, आदानस्य
स्वरूपेणाश्वाभिधानीसंस्कारार्थत्वेनार्थान्मन्त्रस्य च लिङ्गादेव
प्राप्तेः । न च मन्त्रस्याश्वाभिधान्यादान इव लिङ्गाविशेषण गर्द-
भरशनादानेऽपि प्राप्तेस्तत्परिसङ्ख्यार्थं वचनमर्थवद्भविष्यतीति
वाच्यम् । परिसङ्ख्या हि प्राप्त्युत्तरकालं शाब्दी वा स्यात् ?
कैङ्किप्राप्तेः पूर्वमेवाश्वाभिधान्यादाने मन्त्रविधौ कृते पश्चाद्विधेः
फलत्वेन वा ? आद्येऽप्यादानविषयिणी मन्त्रविषयिणी वा ? नाद्यः,
गर्दभरशनादानाभावे गर्दभबन्धनासम्भवेन रशनावैयर्थ्यप्रस-
ङ्गात् । अश्वाभिधानीसम्बन्ध्यादानस्य श्रौतस्य सामर्थ्यादेव
प्राप्तेरविधेयत्वात्स्वार्थस्य विधेयत्वहानिः, गर्दभाभिधान्यादान-
निवृत्तेश्च लक्षिताया विधेयत्वात् परार्थस्य विधेयत्वकल्पना,
अर्थाक्षेपप्रमाणेन प्राप्तस्य गर्दभरशनादानस्य बाधः, इति त्रैदो-
ष्यापत्तेश्च । त्रैदोष्यापत्तयैव गर्दभाभिधानीतो मन्त्रविषयपरिस-
ङ्ख्यापक्षोऽपि निराकार्यः ।

अथ लिङ्गस्यार्थाक्षेपस्य वा श्रुतिकल्पकत्वेन मन्त्र-

पूर्वपक्षः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ६१

रप्रवृत्तित्वात्ततः पूर्वमेवाश्वाभिधान्यङ्गत्वेन मन्त्रविधौ मन्त्र-
विशिष्टादानविधौ वा स्वार्थस्यैव विधेयत्वात्, परार्थे चाकाङ्क्षा-
विरहेण लिङ्गस्य श्रुत्यकल्पकत्वेन गर्दभरशनायां मन्त्रस्य प्राप-
कप्रमाणाभावेऽर्थसिद्धत्वेनाविधेयत्वात् । अत एव प्राप्त्यभावेन
प्राप्तबाधस्याप्यभावात्, त्रैदोष्यानापत्तेः फलतः परिसङ्ख्यापक्षो
युक्त इति चेत्

अश्वाभिधान्यङ्गत्वेन मन्त्रविशिष्टादानविधावप्यश्वाभिधा-
नीस्वरूप आनर्थक्यप्रसङ्गेनापूर्वसाधनत्वलक्षणयां रशनाद्वय-
स्याप्येकया प्रणाड्या एकापूर्वसाधनत्वा(१)द्यवेष्टिवावधातादे-
र्मन्त्रस्य गर्दभरशनायामपि प्राप्तेर्दुर्वारत्वात् । अतो द्विविधायामपि
परिसङ्ख्याया असम्भवान्मन्त्रस्य लिङ्गविनियोज्यत्वे वच-
नवैयर्थ्यापत्तिः; अस्मन्मते तु सत्यपि रशनाद्वयसाधारण्ये रश-
नाद्वयादानाङ्गत्वेनैव मन्त्रविधिरर्थवान् । तथा दर्शपूर्णमासप्रक-
रणास्नातः (२) “उरुप्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथता” मित्ययं
मन्त्रः लिङ्गादेव तत्रत्यपुरोडाशप्रथने प्राप्त इति पुनः “इति पुरोडाशं
प्रथयती” ति वचनं व्यर्थम् । न ह्यत्र पूर्ववन्मन्त्रस्यान्यनिवृत्तिश-
क्यते शङ्कितुम् ; । लिङ्गेतान्यत्र प्राप्त्यभावात् ।

ननु अत्र प्रथनमेव विधीयते, न मन्त्रः, लिङ्गादेव
प्राप्तेः । न च पुरोडाशान्यथानुपपत्त्या प्रथनमपि प्राप्तमेव । त्व-
राविशेषेणाऽप्रथितस्यापि पिष्टपिण्डरूपपुरोडाशस्य निष्पत्तिद-
र्शनादिति भवदेवेनोक्तत्वात् । अतः प्रथनमात्रविधायके वाक्ये
लिङ्गप्राप्तमन्त्रोपादानं (३) “यज्ञपतिमेव तत्प्रजया पशुभिश्च

१. “वीहीनवहन्ती”त्यनेन विहितोऽप्यवघातो दर्शपूर्णमासाप-
ूर्वपैकापूर्वसाधनभूतेषु यवेष्वपि यथा प्राप्नोति तद्वदित्यर्थः ।

२. तै. सं. १. १. ८.

३. तै. ब्रा. ३. २. ८.

प्रथयती” त्यर्थवादकृतयज्ञपतिप्रथनफलकत्वरूपप्रथनस्तुत्यालम्बनोपपादनार्थम् । मन्त्रे हि पुरोडाशं प्रत्यध्वर्युर्ब्रूते—उरु ते यज्ञपतिः प्रथतामिति, यश्चैवं ब्रूते स प्रथयत्येव । अतोऽध्वर्यो-राशीर्दानकर्तृत्वं यज्ञपतिप्रथनोत्पादनकर्तृत्वेनोपचर्यते । अतः पुरोडाशप्रथनस्तुतिसिद्धिः । तेन मन्त्रपुनश्श्रवणस्यार्थवादार्थत्वान्न वैयर्थ्यमिति चेन्न; मन्त्रोपादानाभावेऽपि लौकिकविनियोगेन मन्त्रस्य तावत्प्राप्तत्वात्त्वदभिप्रेतस्तुतिसिद्धेः । पुरोडाशप्रथनस्याप्यर्थप्राप्तत्वेनाविधेयत्वाद्विशेषत्वायोगेनार्थवादत्वस्यैवानुपपत्तेश्च ।

न च भवदेवोक्तविधया प्रथनविधिश्शङ्क्यः, अष्टाकपालादिशब्दैरेवाष्टसङ्ख्यावच्छिन्नकपालाधिकरणसंस्कारसंस्कृतद्रव्यविधानात् “कपालेषु पुरोडाशं श्रपयती” ति च तादृशस्यैवाधिकरणत्वस्यानुवादात्कपालाधिकरणत्वस्यैव प्राप्तेः, तस्य च प्रथनमन्तरेणायोगात्प्रथनस्य प्राप्तत्वेन विद्ध्यनुपपत्तेः । न च पिष्टस्य द्रवतरत्वे सति स्वत एव प्रथनसम्भवात् तदनुकूलकर्तृव्यापारविधानम् । तदा हि तादृशमेव पिष्टं क्रियते येन प्रथयितव्यं भवतीति वाच्यम् । कपालोपरि निधानात्पूर्वमेव “(१)मखस्य शिरोऽसीसाह यज्ञो वै मखः, तस्यैतच्छिरः, यत्पुरोडाशः” इति वाक्येन समन्त्रकपिष्टपिण्डरूपपुरोडाशकरणस्योक्तत्वात्, द्रवतरकरणे च पिण्डासम्भवात् स्वतः प्रथनासम्भवेन यावत्कपालाधिकरणतासम्पत्त्यै प्रथनकर्तृव्यताया अपि नित्यप्राप्तत्वात् । अतो विधेयाभावेन तदर्थवादत्वस्यैवायोगात्तदर्थत्वेनार्थवन्मन्त्रपुनश्श्रवणमिति दुर्घटम् । अस्मन्मते तु प्रथनानुवादेनापूर्वस्य मन्त्रस्य विधेयत्वात् स्तुतित्वेन चार्थवादत्वस्योपपत्तेः न

किञ्चिदनर्थकम् । अतश्च मन्त्रप्रामाण्ये तेषां विनियोजकरूपार्थ-
शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गादुच्चारणमात्रद्वारेण च प्रधानोपकारकत्वोप-
त्तरप्रामाण्यमेव युक्तमाश्रयितुम् ॥ ३३ ॥

वाक्यनियमात् ॥ १-२-३४ ॥

(१) “अग्निर्मूर्धा दिवः ककु” दित्यादौ नियतक्रमकपदसमू-
हरूपवाक्याम्नानमुच्चारणार्थत्वपक्षे व्युत्क्रमे उच्चारणजन्यादृष्टे
प्रमाणाभावादर्थवत्, अर्थप्रत्यायनार्थत्वपक्षे तु व्युत्क्रमेऽपि
मूर्धाग्निरित्युच्चारणार्थप्रत्ययस्याविशेषान्नियतक्रमकपदसमूहरू-
पवाक्याम्नानमनर्थकम् । न चार्थपराणामपि प्रकृतिप्रत्ययसमा-
सादिपदानां यजेत, इन्द्राग्नी, नीलोत्पलं, राजपुरुषः, नि-
ष्कौशांबिरित्यादीनां क्रमनियमो दृश्यते एवेति वाच्यम् ।
तेषु विपर्ययेऽपशब्दत्वप्रसङ्गात् । तथा हि—

प्रत्ययस्य तावत्परत्वं “(२)प्रत्ययः परश्चे” खनेनैव प्राप्ति-
द्धम् । इन्द्रशब्दस्य च “(३)अजाद्यदन्त” मित्यनेन पूर्वनियमः ।
नीलशब्दस्य च विशेषणत्वात् “(४)विशेषणं विशेष्येण बहुलं”
मित्यनेन च प्रथमानिर्दिष्टस्य विशेषणस्य “(५)प्रथमानिर्दिष्टं समा-
स उपसर्जनं” मित्यनेनोपसर्जनसंज्ञायां कृतायां, “(६)उपसर्जनं
पूर्वं”मिति पूर्वनिपातः । राजशब्दस्य च षष्ठ्यन्तत्वात् “(७)षष्ठी”
त्यनेन प्रथमानिर्दिष्टस्य पूर्ववदेव निपातः । चित्रशब्दस्य विशेष-
णत्वात् “(८)सप्तमीविशेषणे बहुब्रीहा”मित्यनेन पूर्वनि-
पातः । निरादीनाञ्च “(९)निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्ये” त्यनेन

१. तै. सं. ४. ४. ४. २. पा. सू. ३. १. १. ३. पा. सू. २. २. ३३.

४. पा. सू. २. १. ५७. ५. पा. सू. १. २. ४३. ६. पा. सू. २. २. ३०.

७. पा. सू. २. २. ८. ८. पा. सू. २. २. ३५. ९. वा १. ४. १७.

प्रथमानिर्दिष्टानां पूर्वनिपातः । अतस्सर्वत्र विपर्ययेऽपशब्द-
त्वापत्तेः क्रमनियमाश्रयणम् । यस्तु “अग्नीन्द्रा” वित्याश्वत्थाय-
नसूत्रे प्रयोगः, स इन्द्रशब्दस्योक्तरीत्या पूर्वनिपातस्मरणात्
“(१)देवताद्वन्द्वे चे” ति स्मृतस्यानङ्गोऽप्यदर्शनाच्छान्दस एव ।
राजपुरुषादिषु त्वर्थान्यत्वादपि क्रमनियमाश्रयणम् । निष्कौ-
शाम्बिरित्यादौ च विपर्यये ऽर्थशून्यत्वादपि तत् । “अग्निर्मूर्द्धे”
त्यादौ तु विपर्ययेऽप्यसाधुत्वादीनामभावात्क्रमनियमानर्थक्यम् ।

न चेहापि क्रमान्यत्वे अमन्त्रत्वापत्तिः; नियमार्थवतां
मते हि मन्त्रस्याखण्डत्वात्क्रमान्यत्वेऽमन्त्रत्वं स्यात् । तत्र तु
ज्ञानार्थत्वान्मनोतेर्मन्यतेर्वा “(२)गुधृवीपचिवचियमिमनितनि-
सदिच्छदिक्षिदिभ्यस्त्रः” इत्यौणादिके ‘त्र’ प्रत्यये कृते
मन्त्रशब्दव्युत्पत्तिरूपान्वाख्यानानुरोधेनार्थज्ञापकत्वातिरिक्तस्य
मन्त्रत्वस्याभावात्, विपर्ययेऽपि च तदनपायादमन्त्रत्वाना-
पत्तेः क्रमानर्थक्यम् । न च क्रमनियमाददृष्टं कल्प्यते । तथा
सति मन्त्रनियमादृष्टस्याप्यर्थप्रत्यायनार्थत्वपक्षेऽत्र कल्प्यत्वेन
द्विरदृष्टकल्पनापत्तेः । अस्मन्मते तु नियतक्रमोच्चारणादेकमेवा-
दृष्टमिति लाघवम् ॥ ३४ ॥

बुद्धशास्त्रात् ॥ १-२-३५ ॥

(३)“अग्नीदग्नीन्विहर” इत्यादावाग्नीध्रेण स्वकर्तव्येष्वग्नि-
विहरणादिषु प्रयोगाद्गह्विरेवावधारितेषु पुनः प्रैषशास्त्रं पिष्टपेष-
णन्यायेनानर्थकम् । न चाविद्वाद्द्विषयत्वेन प्रैषस्यार्थवत्ता(४)“न

एविद्वान्विहितोऽस्ती" त्यनेन न्यायेन यजमानस्येव ऋत्विजामप्यविदुषामनधिकारात् ।

न च प्रयोगाद्बहिरवबुद्धानामपि प्रयोगान्तस्स्मरणार्थं प्रैषोपयोगः, ब्राह्मणाभ्यासजनितसंस्कारादेव पूर्वपदार्थसमाप्त्युद्बुद्धात्स्मरणोपपत्तेः, अस्मत्पक्षे तु नैतदोषप्रसक्तिः ॥ ३५ ॥

अविद्यमानवचनात् ॥ १-२-३६ ॥

(१) "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा" इत्यादौ चतुश्शृङ्गत्वादिमतः कर्मणः तत्सम्बन्धिनो वा द्रव्यादेः प्रकृतौ विकृतौ वाऽप्रसिद्धेर्न तत्प्रकाशनार्थत्वेनास्यार्थवत्तासम्भवः । यद्यपि च गौण्या वृत्त्या होत्रादीनामेव यज्ञशृङ्गत्वाद्युपचर्य यज्ञाभिधानं, तथापि गौणरूपस्यानुष्ठेयत्वाभावान्न स्मृत्या कार्यम् । यज्ञप्रकाशनेऽपि च प्रधानमात्रप्रकाशनस्य याज्यादिनैव सिद्धत्वात् प्रयोगप्रकाशने च प्रयोगस्य विततत्वेनास्मिन्प्रदेशेऽस्य प्रयोग इत्यनवधारणात् । प्रयोगोपक्रमस्य च कामनाद्यनुरोधेनैव बुद्धिस्थत्वेन स्मारकानपेक्षत्वात् सर्वदोच्चारणशङ्कानुपपत्तेः पाठक्रमानुरोधेनैवास्योच्चारणापत्तेर्नानुष्ठेयार्थप्रकाशनार्थत्वोपपत्तिः । एवम् "मा मा हिंसी" रित्याद्यप्यप्रसक्तायां हिंसायां हिंसाप्रतिषेधानार्थक्यादविद्यमानार्थकमुदाहर्तव्यम् ॥ ३६ ॥

अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥ १-२-३७ ॥

न खलु(२) "ओषधे त्रायस्वैनं"(३) "शृणोत ग्रावाणः" इत्यादीनां पशुत्राणविषये अचेतनस्य दर्भस्य (४) प्रातरनुवाक-

१. क्र. सं. ३. ८. १०. २. तै. सं. १. २. १. ३. तै. सं. १. ३. १३

४. ज्योतिष्टोमे प्रातस्सवने ह्यात्रा पठ्यमानश्शस्त्रविशेषः ।

९ मी० कौ०

श्रवणविषये चाचेतनानां ग्राह्यामाभिमुख्यासम्भवेन सम्बोधना-
नर्हत्वात्प्रैषरूपत्वमर्थविवक्षायामुपपत्तिमत् ॥ ३७ ॥

अर्थविप्रतिषेधात् ॥ १-२-३८ ॥

(१) “अदितिर्घौरदितिरन्तरिक्ष”मित्यादावदितेर्देवतायाश्श-
ब्दरूपत्वेनैव तावद्दुत्वादि विप्रतिषिद्धम् । पुनश्चैकस्या एव दु-
त्वमन्तरिक्षत्वं च तथा । न च स्तुत्यर्थत्वेनाविरोधः, आर्थवादिक-
स्तुतिवन्मान्त्रवर्णिक्याः स्तुतेः प्रदेशान्तरस्थत्वेन विधिनाऽग्रहण-
स्य (२)द्वितीये वक्ष्यमाणत्वात्, स्वतन्त्रायास्तुतेश्चानुपयोगात् ॥ ३८ ॥

स्वाध्यायवदवचनात् ॥ १-२-३९ ॥

स्वाध्यायाध्ययनकाले हि यत् कर्मण्युपयुक्तं तस्याभ्यासः का-
र्यः, नान्यस्य । तद्यद्यर्थप्रकाशनस्य उपयोगः, तदा तदेवाभ्यस्येत ।
अक्षराणामेवेत्वभ्यासात्तदुच्चारणमेवोपयोगीति निश्चीयते ॥ ३९ ॥

अविज्ञेयात् ॥ १-२-४० ॥

(३) “अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे” इत्यादौ सामान्यत इन्द्र-
स्तुतिरूपवाक्यार्थावगमेऽप्यम्यगादिपदार्थाज्ञानात् विशेषतो वा-
क्यार्थाज्ञानम् । (४) “सृण्वेव जर्भरी” त्यादौ सामान्यतोऽपि वा-
क्यार्थानवगमात् । अर्थप्रत्यायनार्थत्वपक्षे किमेते अभिदध्युः ? ॥ ४० ॥

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥ १-२-४१ ॥

(५) “किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गात्रो नाशिरं दुहे न तप-

१. ऋ. सं. १. ६. १६. २. पू. मी. २. १. ६. अधिकरणे ।

३. ऋ. सं. २. ४. ८. ४. ऋ. सं. ८. ६. २. ५. ऋ. सं. ३. ३. २१.

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ६७

न्ति घर्मम् । आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखमघवन्न-
न्धया नः” इत्यादावनित्यार्थप्रतिपादनात्, तस्य चाकर्मा-
ङ्गत्वात्प्रतिपादनमनर्थकम् । तथाहि—एतस्य हि विश्वामित्र ऋ-
षिः । तेन किल इन्द्रः प्रार्थितः,—भो मघवन् ! कीकटेषु देश-
विशेषेषु, या गावस्ताः ते तव, किं कृष्वन्ति ? यतः आशिरं
सोमसंस्कारार्थं पयः, न दुहे, न च घर्मं तपन्ति, अतः प्रमगन्द-
स्य राज्ञः, नैचाशाखं नाम नगरं, वेदः धनं च, नः अस्माकं,
आभर, इत्येतन्नो मघवन्, रन्धय साधयेति । दीर्घश्छान्दसः ।
अत्र नैचाशाखप्रमगन्दादीनामनित्यानां संयोगान्मन्त्रानर्थक्य-
मिति पूर्वः पक्षः ॥ ४१ ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ १-२-४२ ॥(सि)

(सिद्धान्तः)

सिद्धान्तस्तु—नोच्चारणार्था मन्त्राः । तथाहि—उच्चारणं
प्रति मन्त्राणां विषयतासम्बन्धेन कारणत्वात् उच्चारणस्य मन्त्र-
जन्यत्वेऽपि तस्य क्रत्वनपेक्षितत्वेनादृष्टार्थत्वापत्तेः, दृष्टे सम्भव-
त्यदृष्टकल्पनस्यान्यायत्वाच्च, उच्चारणस्य द्वारत्वानुपपत्तेः
मन्त्राणां च श्रुत्यादिबोधितक्रत्वङ्गभावानां साक्षाद्वापारं विना
क्रत्वङ्गत्वानुपपत्तेः, व्यापारापेक्षायामर्थाभिधानमेव व्यापारत्वे-
नाङ्गीक्रियते । उच्चारणस्य पुंव्यापारत्वेन मन्त्रनिष्ठत्वाभावा-
न्मन्त्रनिष्ठस्यार्थाभिधानस्यैव तद्व्यापारत्वकल्पनौचित्याच्च ।
अतश्चानुष्ठेयार्थप्रतिपादकानां करणमन्त्राणां तावदनुष्ठानहेतु-
भूतस्मृतिजनकत्वात् कर्मोपयिकार्थाभिधानस्य तेषु व्यापार-
त्वं सुलभमेव ।

यत्रापि मन्त्रात्स्वरसतो नानुष्ठेयार्थावगतिः, इतिकरणा-
दिना च मन्त्रो विनियुज्यते (१) “इषे त्वेति शाखामाच्छिन-
त्ति” (२) “चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्” “याज्यया यजती”
सादौ तत्रापि शब्दस्यार्थाभिधानद्वारं विना दृष्टविधयाऽन्य-
द्वारा करणत्वासम्भवादध्याहारादिनाऽप्यर्थाभिधानस्यैव व्या-
पारत्वम् ।

क्रियमाणानुवादिषु तु (३) “युवा सुवासा” इत्यादिषु यद्य-
प्यर्थाभिधानं न स्वरसतः कर्मविध्यपेक्षितम्, तथाऽपि यूपपरि-
व्याणादिक्रियाया अनेकक्षणव्यासक्तत्वेन कदाचिन्मध्येऽपि बु-
द्धिबिच्छेदे सति स्मृतिसिद्ध्यर्थं स्मारकापेक्षोपपत्तेः, अनाका-
ङ्क्षितत्वेऽपि वा मन्त्राकाङ्क्षयैव कर्मणामप्याकाङ्क्षोत्थापनस-
म्भवात् कर्मणोऽप्याकाङ्क्षां परिकल्प्यानुष्ठीयमानकर्मस्मृतिदा-
र्ढ्यहेतुत्वेन दृष्टविधयैव मन्त्रान्वयोपपत्तौ अदृष्टार्थोच्चारणार्थत्व-
कल्पनानुपपत्तेरर्थाभिधानस्यैव व्यापारत्वम् ।

अत एव “युवा सुवासाः परिवीत आगादित्याहे” त्याह-
शब्दस्य ब्रूजादेशत्वेन वच्यपरपर्यायब्रूजर्थपरिभाषणरूपार्था-
भिधानपरत्वादाहशब्देन विनियोगोऽप्यवकल्पते । अत एवा-
नुमन्त्रणजपादिमन्त्रेष्वपि वेदे प्रायश आहशब्दोपबन्धादर्था-
भिधानव्यापारकत्वसिद्धिः । अतएवोक्तं (४) तन्त्रसारे—

१. आप. श्रौ. १. १. ११. आपस्तम्बश्रौतसूत्रस्यार्थतोऽनुवादोऽयम् ।

२. आप. श्रौ. २. ११. ५. ३. श्र. सं. ३. १. ३.

४. ग्रन्थोऽयं न्यायसुधाकारेण भट्टसोमेद्वरेण रक्षित इति तत्र
तत्र ग्रन्थेषुल्लेखनादवगम्यते । परं तु अनुपलम्भदोषवृषितः ।

“इत्याहोपनिबन्धश्च मन्त्राणां दृश्यते विधिः ।
ब्रूनादेशश्चाहशब्दस्सोऽभिधानाभिधायक” इति ॥

(१)न्यायसुधायामपि—

“सर्वसाधारणत्वेन विचारस्य प्रयोजनम् ।

कर्मकाले ऽनुसन्धेयो मन्त्रार्थोऽर्थपरत्वत्” इति ॥

तत्रानुमन्त्रणमन्त्रेषु तावत् कृतस्यापि यागादेरकृतत्वशङ्का-
यां (१)“यदेव श्रद्धया करोती” सेतद्राक्यविहितश्रद्धाभाव-
निमित्तवैगुण्यापत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं कृतप्रत्यवेक्षापेक्षत्वात् । अनपे-
क्षत्वेऽपि वा पूर्ववदाकाङ्क्षोत्थापनेनानुष्ठितकर्मस्मृतिदार्यहेतुत्व-
कल्पनात् दृष्टविधयैवार्थाभिधानव्यापारकत्वम् । अत एव—

“मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरन् ।

शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम्” ॥

इति तल्लक्षणमपि सङ्गच्छते ।

एवं च यत् तन्त्रत्रेऽनुमन्त्रणमन्त्राणामदृष्टार्थत्वमुक्तं पञ्च-
मे, तदनादरादिति(३)तत्रैवोपपादयिष्यामः ।

एवं यत्रापि प्रमाणान्तरेण करणमन्त्रादीनामपि समुच्चया-
वगमः, तत्राऽप्येकेन स्मृतिसिद्धावन्येषां पूर्ववदाढ्यार्थत्वकल्प-
नाद्दृष्टविधयैवाभिधानव्यापारकत्वम् ।

एवं प्रोत्साहनार्थानामपि (४)“अगन्म सुव” रिस्नादीनां
श्रद्धाजननार्थमननुष्ठेयस्यापि कर्मसमवेतस्य फलादेस्स्मृतेरपेक्षि-
तत्वात्तदर्थत्वेन दृष्टविधयैवोक्तव्यापारासिद्धिर्नवमे(५)भाष्य एवो-

१. न्याय सु. पृ. ९८.

२. छा. उ. १. १. १०.

३. भाट्टरीपिकायां पञ्चमप्रथमस्य तृतीयाधिकरणे ।

४. तै. सं. १. ६. ६. । ५. पू. मी. ९. १. ३.

पपादिता । उपस्थानमन्त्रेषु तु अभिधानार्थत्वं (१) सप्तम एवोपपा-
दयिष्यते ।

एवं स्तोत्रशस्त्रमन्त्राणामपि गुणरूपस्तुत्यङ्गत्वेन क्रमादि-
नाऽवगतानां स्पष्टमेवाऽभिधानार्थत्वम् । अभिधानरूपयोः स्तो-
त्रशस्त्रयोः परमारादुपकारकत्वं (२) द्वितीये साधितमित्यविरोधः ।

नचैवं “सूक्तं शंसती”त्यादौ सूक्तस्याभिधानं प्रति कर्म-
त्वासम्भवात्, अतएव शक्त्या अर्थप्राप्त्यभावेन सक्त्वादिव-
लक्षणया विनियोगभङ्गशङ्कानुपपत्तेरगत्या शंसतेरुच्चारण-
लक्षकत्वावसायात्, उच्चारणे च सूक्तादीनां कर्मत्वोपपत्तेरु-
च्चारणार्थत्वमेव युक्तमिति वाच्यम् । ‘गां दोग्धि पय’ इत्यादित्

“दुह्यात्पचदण्डूहधि प्रच्छि चि ब्रूजशासु जि मथमुषाम् ।

कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्” ॥

इति महावर्तिकात् (३) “अकथितं चे”ति सूत्राच्च, दुहादिधातू-
नां कर्मकारकेण युक्तस्याऽप्यपादानादिकारकविशेषैरविवक्षितस्य
कर्मसंज्ञास्मरणात्, “अर्थनिबन्धनेयं संज्ञे” ति स्मरणाच्च ब्रूजस-
मानार्थकस्य शंसतेरपि कर्मकारकेण गुणेन युक्तस्य सूक्तादेः
कर्मसंज्ञोपपत्तेर्द्वितीयाविरोधाभावात् ।

न च सूक्तस्यास्मिन्वाक्ये करणत्वरूपकारकविशेषस्य विव-
क्षितत्वात् कर्मसंज्ञानुपपत्तिः; सूक्तस्य क्रमादिप्रमाणान्तरेण
शास्त्राङ्गत्वस्य सिद्धत्वादास्मिन्वाक्येऽविवक्षायामपि बाधका-
भावात् । शंसतेरुच्चारणलक्षकत्वे “देवताशंसती” त्यत्र
देवतानामुच्चारणकर्मत्वस्य कथमप्यनुपपत्तेश्च । अत उपपन्नं

स्तोत्रशस्त्रमन्त्राणामप्यर्थाभिधानार्थत्वम् ॥

जपादीनां तु “वैष्णवीमृचमनूच्य वाचं यच्छती”त्यत्रा-
नूच्येति वच्यर्थाभिधानार्थत्वस्य स्फुटमवगमात्, “याः पुर-
स्तादिति जपे” दित्यादावपि “जपव्यक्तायां वाची” त्यनेन
वच्यर्थाभिधानार्थत्वावगमात्, अर्थस्य च कर्मासमवेतत्वेऽपि
तदभिधानस्यादृष्टार्थत्वोपपत्तेः, न मन्त्राणामुच्चारणार्थत्वं क-
ल्पनीयम् । अत एव(१) “मन्त्रो हीनस्स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाहे” त्यादीनि स्वरयुक्तजपादिमन्त्रा-
णामप्यर्थपरत्वलिङ्गानि सामान्यतः प्रवृत्तानि न सङ्कोचितानि
भवन्ति ।

यत्तु (२) द्वादशे जपादीनामदृष्टार्थत्वमुक्तम्, तन्मन्त्रसाध्या-
र्थाभिधानस्यादृष्टार्थत्वाभिप्रायेण । अस्तु वा जपादीनां कर्मा-
समवेतार्थाभिधायिनामुच्चारणमात्रार्थत्वम्, नैतावता कर्मसमवे-
तार्थाभिधायिनामपि करणमन्त्रादीनां दृष्टविधयोपयोगसम्भ-
वेऽदृष्टार्थोच्चारणार्थत्वकल्पना युक्ता । न चानुष्ठेयार्थस्मृतेर्ध्याना-
द्युपायान्तरेणापि सिद्धेर्मन्त्रानर्थक्यम् । मन्त्रास्त्रानानुपपत्त्या
मन्त्रेणैव स्मर्तव्यमिति नियमकल्पनात् । तस्य चावघातनियम-
स्येव दृष्टासम्भवेनादृष्टार्थत्वकल्पनोपपत्तेरुपायान्तरानिष्टत्तिसि-
द्धेः । यथा च क्रियाजन्यादृष्टकल्पनापेक्षया नियमादृष्टकल्पने
लाघवं तथा(३)द्वितीय उपपादयिष्यामः ।

यत्तु वाचकमन्त्रस्मरणस्यार्थस्मरणाधीनत्वेन वैपरीत्यमु-
क्तम्, तत् पूर्वपदार्थस्यैव मन्त्रस्मारकत्वोपपत्तेर्नावश्यमर्थ-
स्मरणाधीनत्वमिति परिहर्तव्यम् ।

यदपि करणमन्त्रे द्वित्राणामेव पदानां कर्मसमवेतार्थाभि-
धायित्वेऽपीतरेषां “देवस्यत्वे” त्यादीनामुच्चारणार्थत्वमावश्य-
कमिति तदपि “देवस्यत्वे” त्यादिपदानामेवोच्चारणमात्रार्थत्वे
भिन्नप्रयोजनकत्वेन “निर्वपामि” पदैकवाक्यताभङ्गापत्तेस्त-
द्वशाद्देवस्यत्वेत्यादिपदार्थविशिष्टनिर्वापप्रकाशनस्यैवाभ्युदयका-
रित्वकल्पनया तेषामपि स्वार्थाभिधायकत्वस्य(१)नवमे वक्ष्यमा-
णत्वादकिञ्चित्करम् । तेन सिद्धं मन्त्राणामर्थप्रसायनार्थत्वम् ।

नचैवं मन्त्राक्षरानुसन्धानमात्रेणैव मन्त्रार्थानुसन्धानसि-
द्धेः कर्मकाले मन्त्रोच्चारणानापत्तिः, मन्त्राणां तदनुसन्धानस्य
वा स्वतः पुरुषव्यापाराविषयत्वेन मन्त्रविनियोजकविधिविष-
यत्वायोगात् विधिविषयत्वसिद्ध्यर्थं मन्त्रविषयोच्चारणस्यावश्यं
कल्पनीयत्वात् ।

नचैवमनुसन्धानानुकूलव्यापारस्यैव विधिविषयत्वं कल्प्य-
तां किमुच्चारणेनेति वाच्यम् ? उच्चारणस्य मन्त्रविषय-
त्वात्, मन्त्रविषयकानुसन्धानजनकव्यापारापेक्षया प्रत्यासन्न-
त्वेन तस्यैव मन्त्रविनियोजकविधिविषयत्वौचित्यात् । उच्चा-
रणविधानाभावे उच्चारणैकान्तिकोच्चैश्चादिस्वरविध्यनुपपत्तेश्च ।

अत एव(२) “मिथ्या प्रयुक्त” इति प्रयोगरूपोच्चारणानुवा-
दोऽप्युपपद्यते । तेन कर्मकाले उच्चारणसंस्कृतानामेव ऋगादि-
मन्त्राणामुपयोग इति सिद्धम् ।

साममन्त्राणां तु गीत्यात्मकत्वेनार्थाभावात्तदभिधानद्वा-
रोपयोगासम्भवेऽपि ऋगक्षराभिव्यक्तिद्वारा गुणाभिधानरूप-
स्तोत्रकरणत्वात् दृष्टविधयैवोपयोगसम्भवे नादृष्टार्थोच्चारणप्र-
योजनकत्वकल्पना युक्तेति(३)नवमे निरूपयिष्यते । अतएव

१. पू. मी. ९. १. १२.

२. ‘मन्त्रो हीन’ इत्यस्य खण्डोऽयम् ।

३. पू. मी. ९. २. २.

“साम्ना स्तुवीते” ति तृतीयया साम्नः स्तोत्रं प्रति करण-
त्वमुक्तम् ।

न चैवं साम्नस्सन्ध्यक्षरेषु विश्लेषरूपऋगक्षराभिव्यक्ति-
जनकत्वेऽपि तदभाव एव सन्ध्यक्षरैर्गुणाभिधानरूपस्तोत्रजन-
नात् कथं स्तोत्रकरणत्वं साम्न इति वाच्यम् ? प्रगीतमन्त्रसा-
ध्यगुणसम्बन्धाभिधानव्यक्तेरेवाभियुक्तप्रसिध्या स्तोत्रपदवा-
च्यत्वात् । अन्यथा शस्त्रादावपि गुणाभिधानस्य सत्त्वेन स्तो-
त्रपदप्रयोगापत्तेः । तादृशस्य च गीतिरूपसामाभावेऽनिष्पाद्य-
मानत्वेन करणत्वोपपत्तेः । अतश्चार्थाभिधानविशेषकरणत्वं
साम्न्यामप्यव्याहृतमेव ।

यश्चाऽत्र (१) स्तोभाक्षराधिरूढो गतियंशः, तस्यार्थाभिधान-
करणत्वासम्भवाददृष्टार्थत्वम् । अतश्च रथन्तरादिसाम्न्यामाश्रयि-
कर्मवदुभयार्थत्वम् । यानि त्वनृक्कानि प्रजापतिहृदयादीनि, तेषां
स्तोभाक्षराधिरूढत्वात्, स्तोभाक्षराणां चाभिधेयशून्यत्वस्य न-
वमे (२) वक्ष्यमाणत्वात् नाऽर्थाभिधानरूपस्तोत्रकरणत्वमित्य-
गत्या सामविनियोगानुसारेणोच्चारणमात्रद्वाराऽदृष्टार्थत्वमेव ।

न च तत्राऽपि स्तोभाक्षराभिव्यक्त्यर्थत्वेन साम्नो दृष्टार्थ-
त्वमेव, स्तोभाक्षराणामेव परमुच्चारणद्वाराऽदृष्टार्थत्वकल्पनाऽस्त्वि-
ति वाच्यम् ; स्तोभाक्षराणां गीतिकालपरिच्छेदकत्वेन दृ-
ष्टार्थत्वस्य (३) नवमे वक्ष्यमाणस्य सामान्तरेष्विवाऽनृक्सामस्वपि
सम्भवेनाऽदृष्टार्थत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् । न च विनिगम-
नाविरहः, अनृक्साम्नां चयनादिकर्मणि विनियोगस्यैव वि-
निगमकत्वात् । अन्यथा हि स्तोभानामेव विनियोगः क्रियेत न
साम्नां, अर्थसिद्धत्वात् । तत्सिद्धं सर्वमन्त्राणां प्रयोजनवच्यम् ।

१. स्तोभलक्षणं नवमे (९-२-१०.) द्रष्टव्यम् । २. ३. पू. मी. ९. २. ९.

नन्वेवं प्रयोजनवत्त्वे सिद्धेऽपि कथं प्रामाण्यम् ? न ताव-
दनधिगतार्थगन्तृत्वलक्षणम्, विधिनाऽधिगतस्यैवाऽर्थस्य स्मर-
णात् । अत एवानुभावकत्वाभावान्न प्रमाकरणमिति चेत्—

अत्र भवदेवः—न प्रातिवेदवाक्यमनाधिगतार्थगन्तृत्वमुप-
पादनीयम् । (१)“य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजत” इत्यादावनु-
वादकत्वेन तदभावात् । किं तर्हि धर्मप्रमित्युपयोगित्वम् ?
तरुच विद्वद्वाक्यस्यैव मन्त्राणामप्युक्तविधया सम्भवत्येवेति नाप्रा-
माण्यशङ्केति । तत्र यद्यपि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मके ग्रन्थविशे-
षे वेदत्वमेकं न प्रत्येकवाक्यश्रुति, तथाऽपि न तदनधिगतार्थग-
न्तृत्वप्रयोजकम् ; अपि तु लौकिकवाक्यवद्वाक्यत्वमेव । अतश्च
तस्य प्रत्येकश्रुतित्वाद्द्विधिवाक्यस्याऽनधिगतार्थगन्तृत्वसिद्धावपि
मन्त्रवाक्यस्य तदसिद्धेरप्रामाण्यप्रसङ्गः । (२)“वेदोऽखिलो
धर्ममूल” मित्यादिस्मृत्या अखिलवेदस्य धर्ममूलत्वस्मरणानु-
पपत्तिश्च ।

किञ्च मन्त्रजन्यस्मरणस्य धर्मोत्पत्त्युपयोगित्वेऽपि न धर्म-
प्रमोत्पत्त्युपयोगित्वम्, तदभावेऽपि विधिवाक्याद्धर्मप्रमोत्पत्ते-
र्जायमानत्वात् । अतो मन्त्राणां न परम्परयाऽपि धर्मप्रमोत्पत्त्यु-
पयोगित्वम् । विद्वद्वाक्यस्य परम्परया धर्मप्रमोत्पत्त्युपयोगित्वेऽपि
साक्षादप्यनधिगतार्थगन्तृत्वं समुदायप्रतीतेरनन्यलभ्यत्वादस्ती-
ति वैषम्यम् ।

(३)सोमेश्वरस्तु—‘बर्हिर्देवसदनं दापी’ त्यादावपूर्वसा-
धनीभूतबर्हिर्देवनाङ्गत्वं मन्त्रसामर्थ्यादेवावगम्यत इति मन्त्रः
स्वाङ्गत्वबोधे प्रमाणम् । क्वचिच्च मान्त्रवर्णिकद्रव्यदेवतायागा-
दिकल्पनेऽपि प्रमाणम् । तच्च तत्र तत्राऽधिकरणे स्पष्टीभविष्यति ।

सर्वसाधारण्येन तु मन्त्रार्थाऽनुसन्धानकर्तव्यताविषये प्रामाण्यम् । मन्त्र एव हि स्वाङ्गत्वसिध्यर्थं स्वनिष्ठमर्थाभिधानारूपं व्यापारं कल्पयतीति तत्र प्रामाण्यमित्याह ।

तदपि न, अर्थाऽनुसन्धानजनकत्वेन वा मन्त्राणां प्रामाण्यं मन्यसे ? अर्थाऽनुसन्धानरूपव्यापारकल्पकत्वेन वा ? नाद्यः ; अनुसन्धानस्य जपमन्त्रेष्वनधिगतविषयत्वेऽपि करणादिमन्त्रेष्वधिगतविषयत्वात् स्मृतिरूपत्वेन तज्जनकस्य प्रमाणत्वानुपपत्तेः । नान्त्यः; लिङ्गादिविनियुक्तेषु स्वयं तत्कल्पकत्वेऽपि स्तोत्रशस्त्रादौ 'आहे' त्येवं विनियुक्तेषु च त्वयैवाभिधानस्य क्लृप्तत्वाभिधानेनाऽव्यापकत्वात् । किञ्च साममन्त्रेष्वेवमप्यव्याप्तिदुर्वारा । तेषामर्थाभावेन तदनुसन्धानाजनकत्वात् । अथ तेषामपि प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणाभिधानरूपस्तोत्रलक्षणशब्दप्रमाजनकसामग्र्यन्तर्गतत्वेन प्रामाण्यं, ततोऽप्यनृक्साम्नां तदभावादप्रामाण्यापत्तिस्तदवस्थैव ।

एतेन मन्त्राणां स्मारकत्वेनानुभावकत्वघटितप्रमाकरणत्वरूपप्रामाण्याभावेऽपि यथार्थज्ञानकरणत्वलक्षणं प्रामाण्यं सम्भवत्येवेति कौश्रिदुक्तमपास्तम् ; अनृक्सामसु तस्याप्यसम्भवात् ।

अत एव वाच्यम्—सर्वत्र गामानयेत्यादौ संसर्गविषयकशब्दबोधं प्रति यथा शब्दः करणं, पदार्थज्ञानमवान्तरव्यापारः तथा पदार्था एव करणम्, तज्ज्ञानमवान्तरव्यापारः । शब्दस्तु पदार्थज्ञानं प्रति करणत्वेनोपक्षीण इत्यपि मतान्तरमाचार्यैस्तर्कपादे

(१)पदार्थानां तु मूलत्वं युक्तं तद्भावभावतः'

इत्यादिनोपपादितम् । न च भूतभाविपदार्थानां नियत-
पूर्ववृत्तित्वाभावात्करणत्वानुपपत्तिः, भूतभाविपदार्थानां स्वरूपे-
णाऽविद्यमानानामपि ज्ञानविषयत्वेन सत्त्वाज्ज्ञाततायामिव शाब्द-
बोधं प्रत्यपि करणत्वोपपत्तेः ।

अत एवोक्तं न्यायसुधाकृता—‘अतीतानागतयोरप्यति-
क्रान्तदिवसादिगतसङ्ख्यादिवज्ज्ञाततायां करणत्वोपपत्ति’रिति ।
नैयायिकमते मौनिवाक्यस्थले शब्दस्याऽप्यविद्यमानत्वाच्च । अतश्च
यथा ज्ञानविषयत्वेनैव शब्दस्य करणत्वोपपत्तिः, तथा मन्म-
तेऽप्युपपत्तिः । तेन पदार्थानामपि शाब्दप्रमितिकरणत्वात्स-
र्वमन्त्राणाञ्च स्वविनियोगविधौ प्रयोगविधौ च पदार्थत्वेनान्व-
याद्धर्मविषयकशब्दप्रमाकरणत्वोपपत्तेर्युक्तं प्रामाण्यम् ।

न चैवं व्रीह्यादीनामपि पदार्थविधया प्रामाण्यापत्तिः, इ-
ष्टापत्तेः । न च (१)‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म’ इत्यस्मिन् सूत्रे
धर्मं चोदनारूपस्य वेदशब्दस्यैव प्रामाण्यमिति नियमकरणात्
व्रीह्याद्यर्थस्य प्रामाण्याङ्गीकारे च तद्भङ्गापत्तिरिति वाच्यम् ।
तत्रत्यचोदनाशब्दस्य (२)‘चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वाक्यम्’
(३)‘चोदनाचोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिन’ इति भाष्यवार्तिक-
स्वरसाद्विधिमात्रवचनत्वेन तस्मिन् सूत्रे ईदृशनियमाकरणात् ।
अत एव तत्सूत्रं न प्रथमाध्यायार्थप्रतिज्ञापरम्, अपि तु प्रथमपाद-
व्युत्पाद्यविधिप्रामाण्यप्रतिज्ञापरमेवेति(४) स्मृत्यधिकरणे वक्ष्यामः।
नियमोऽपि तेनेदृश एव क्रियते-धर्म एव प्रमाणं चोदनेति ।
यद्यपि च चोदनैव प्रमाणमित्यपि नियमः क्रियेत, तथाऽपि
प्राधान्येन सैव प्रमाणमित्येवंपरो द्रष्टव्यः । न त्वेतावताऽन्येषां

१. जै. सू. १. १. २.

२. शा. भा. पृ. ३. पं. ९.

३. इलो. वा. अ. ५. इलो. ११. पृ. २११.

४. पू. मी. १. ३. १.

प्रामाण्यनिषेधः । तस्मात्सिद्धं पदार्थविधया सर्वमन्त्राणां प्रामा-
ण्यमिति ।

अस्तु वा मन्त्राणां प्रमाजनकत्वाभावेऽप्युक्ताविधया प्रयो-
जनवस्वमात्रेणैवोपयोगो धर्म, तावतैवाध्ययनविधेरुपपत्तेरुपयो-
गविशेषविचार एव मन्त्राधिकरणशरीरम् । अर्थवादोपयोगप्रस-
ङ्गाच्चाध्यायासङ्गतोऽप्यर्थो नासङ्गत इति द्रष्टव्यम् । साङ्गवेदो-
पयोग एव वा जिज्ञासितत्वाद्ध्यायार्थ इत्यपि सुवचम् । उपयो-
गोऽपि मन्त्राणां प्रायशो धर्म एव, नत्वधर्म इत्यपि च ध्येयम् ।

सूत्रं तु—यथैव लोके वाक्यस्य वाक्यार्थप्रमापकत्वं दृष्टं,
तथा तन्मन्त्रेष्वप्यविशिष्टमिति व्याख्येयम् ।

यत्तु लिङ्गादेव विनियोगोपपत्तौ पुनः क्वचित्ताद्विषये विनि-
योजकशास्त्रवैयर्थ्यमिति तन्न; (१)तत्र शास्त्रस्य मन्त्रविनियो-
जकत्वानभ्युपगमात् ॥ ४२ ॥

ननु तर्हि(२) “तां चतुर्भिरादत्त” इत्यत्रादानस्यार्थप्राप्ति-
त्वात्, मन्त्राणां च तत्र लिङ्गादेव प्राप्तेः, सङ्ख्यायाश्चादाने म-
न्त्रे वा विधातुमशक्यत्वस्य (३)पूर्वमेवोक्तत्वात्, विधेयाभावेन
पुनश्श्रवणानर्थक्यमिति चेत्—

गुणार्था वा पुनश्श्रुतिः ॥ १-२-४३ ॥

श्रुतार्थानुपपत्तिरूपस्याक्षेपस्य श्रुतिकल्पनाधीनप्रामाण्यस्य
लिङ्गस्य वा प्रत्यक्षश्रुत्यपेक्षया मन्थरप्रवृत्तित्वात्, ततः पूर्वमेव
प्रत्यक्षश्रुत्या मन्त्रसङ्ख्याभयविशिष्टादानविधानोत्तरं(४)अह-
णैकहायनीन्यायेन मन्त्रसङ्ख्यायोः पार्ष्टिकान्वयोपपत्तावर्थात्स-

१. तत्रेति नास्ति. ख. पु. २. तै. सं. ५. १. १.

३. अस्मिन्नेवाधिकरणे 'तदर्थ' सूत्र इत्यर्थः ४. पू. मी. ३. १. ६.

मृच्चयसिद्धेः एतद्विध्यभावे(१)चाक्षेपमन्त्रलिङ्गाभ्यामादानमन्त्रयोः प्राप्तिसम्भवे तद्विषये विधिप्रवृत्तिफल आलोच्यमानेऽन्यलभ्यसङ्ख्याविधानार्थं तच्छ्रवणमिति फलावधारणात् वस्तुतो विशिष्टविधिरूपत्वेऽपि फलतो गुणविधानार्था पुनश्श्रुतिः । न चात्र “चतुर्भि” रिति तृतीयया चतुर्णामपि मन्त्राणां करणमन्त्रत्वावगतेराद्यमन्त्रत्रयजन्यस्मृतेश्च नष्टत्वेनान्तिममन्त्रोच्चारणानन्तरक्रियमाणक्रियां प्रति करणत्वानुपपत्तिः । (२)“तुषपक्वा भवन्ती”त्यादौ परम्परयाऽपि करणत्वस्य बहुशो दृष्टत्वेनाऽऽद्यानां त्रयाणां संस्कारद्वाराऽपि करणत्वोपपत्तेः ॥४३॥

परिसङ्ख्या ॥ १-२-४४ ॥

“इमामगृभ्ण” न्नित्यादेश्च परिसङ्ख्यार्थत्वेन न वैयर्थ्यम् । न च परिसङ्ख्यायां(३) त्रैदोष्यं, अप्राप्तपरिसङ्ख्याङ्गीकारात् । तथाहि—यावल्लिङ्गेन श्रुतिं कल्पयित्वा मन्त्रस्य रशनाद्वयादानाङ्गत्वमवगम्यते, तावदश्वाभिधान्यङ्गत्वेन प्रत्यक्षया श्रुत्या मन्त्रस्य विनियोगान्न तावत्स्वार्थस्य विधेयत्वहानिः; अश्वाभिधान्यङ्गत्वस्य प्राग्वचनादस्मादप्राप्तेः । अत एव गर्दभाभिधान्यङ्गत्वनिवृत्तिरूपपरार्थस्य विधेयत्वं न कल्प्यम्, तस्याः प्रापकप्रमाणाभावादेव सिद्धेः । अत एव प्राप्त्यभावान्न प्राप्तबाधोऽपि । अतोऽत्राश्वाभिधान्युद्देशेनैव मन्त्रो विधीयते । आदानं त्वर्थप्राप्तमनूद्यते । अतश्च पूर्ववद्विधिप्रवृत्तेः फल आलोच्यमाने लिङ्गकल्प्यश्रुतिप्रतिबन्धद्वारा गर्दभरशनानिवृत्तेः फलत्वकल्पनात् फलतः परिसङ्ख्येति भाष्यकाराभिप्रायः ।

१. भावेऽपि चेति. ख. पु. २. तै. सं. ५. २. ४. निर्ऋतिदेवताकाः तिस्र इष्टकास्तुषैः पक्वा भवेयुरित्यर्थः । ३. त्रैदोष्यापत्तिरिति. ख. पु.

वार्तिककारास्तु-याव(१) दादानमपि प्राप्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या मन्त्रविशिष्टादानस्यैवाश्वाभिधान्यङ्गत्वेन विध्युपपत्तौ न धातुपारार्थ्यम् । कारकयोश्च मन्त्राश्वाभिधानीरूपयोरन्योन्यसम्बन्धो युक्तः । न च विशिष्टविधौ षष्ठविधिप्रकारापत्तेर्भाष्यकाररीत्या चतुर्थविधिप्रका(२)राश्रयणमेव युक्तमिति वाच्यम् । आक्षेपतोऽपि पूर्वं शीघ्रप्रवृत्तिकस्याऽक्षेपप्रतीक्षायां प्रमाणाभावेन तस्यामवस्थायामादानस्य प्राप्त्यभावेन विशिष्टविधित्वोपपत्तेः अन्यफलकत्वेनाऽस्य विशिष्टविधेर्दोषत्वाभावाच्च । अतो मन्त्रविशिष्टादानस्याश्वाभिधानीसंस्कारार्थत्वेन विधानाद्दोषाभिधान्यादानेऽप्राप्ते त्रैदोष्याप्रसङ्गात् वस्तुतोऽपूर्वविधित्वेऽपि पूर्ववत् फलतः परिसङ्ख्यात्वव्यपदेशसिद्धिः । अत एव सर्वत्रापूर्वविधित्वेऽपि यत्रैवाप्राप्तप्रापणं विधिप्रवृत्तेः फलं स एवापूर्वविधिशब्देन व्यपदिश्यते । यत्र त्वप्राप्तांशपूरणं तस्याः फलं स नियमविधिपदेना(३)भिधीयते ।

अत एव “व्रीहीनवहन्ती” त्यत्र यावदुर्थाक्षेपात्पुरोडाशानिष्पत्यर्थं वितुषीभावजनकत्वेन विदलनादिसाधारण्येनावघातः पक्षे प्राप्यते, तावत्पूर्वमेव प्रत्यक्षया श्रुत्याऽवघाते विधीयमाने न तत्प्राप्तिरेव तत्र विधिप्रवृत्तेः फलम् । एतद्विध्यभावेऽर्थाक्षेपादेवावघातस्य प्राप्तिसम्भवात् । किन्तु यथाऽवघातोऽर्थाक्षेपात्प्राप्यते, तथा विदलनादिकमपि विकल्पेन । अतश्च विदलनादिप्राप्तिपक्षेऽवघातस्याऽप्राप्तत्वात् तदप्राप्तांश(४)प्रापणरूपो नियम एव विधेः फलम् । न च विदलनादिनिवृत्तिरेव विधेः फलं किं न स्यादिति वाच्यम् ? अप्राप्तांशप्रापणरूपस्य नियमस्याक-

१. यावदुर्थादा. इति. क. पु. २. राज्ञीकरणमिति. क. ख. पु.

३. अभिधीयत इति नास्ति. ख. क. पु. ४. पूरण इति. क. ख. पु.

रणे उपायान्तराक्षेपस्य निराकर्तुमशक्यत्वात् । करणे चार्था-
देवान्यनिवृत्तेस्सिद्ध्युपपत्तेः फलत्वायोगात्, नियमस्य विधे-
यावघातगतत्वेन प्रत्यासन्नत्वाच्च ।

यत्र तु प्रत्यक्षविध्यभावे द्वयोश्शेषयोरैकस्मिन् शेषिणि शे-
षिद्वये वैकस्य शेषस्य नियता प्राप्तिर्दुर्बलप्रमाणेन सम्भाव्यते,
यथा गृहमेधीये आज्यभागप्रयाजयोरतिदेशेन, प्रकृतमन्त्रस्य वा-
ऽश्वगर्दभरशनादानयोर्लिङ्गेन, तत्र प्रत्यक्षविधेः (१) प्रवृत्तत्वात् ।
वस्तुतोऽपूर्वविधित्वेऽपि (२) “आज्यभागौ यजती” त्यनेन वि-
हिताभ्यां क्लृप्तोपकाराभ्यामाज्यभागाभ्यामेव गृहमेधीयाकाङ्क्षा-
निवृत्तेरतिदेशाकल्पनात् फलतः प्रयाजादिशेषान्तरनिवृत्तिः ।

“इमामगृभ्ण” न्नित्यस्य च प्रत्यक्षश्रुत्याऽश्वरशनादान एव
विनियुक्तस्य निराकाङ्क्षत्वेन लौकिकश्रुत्यकल्पनादर्थाद्द्विर्दभाभि-
धानीरूपशेष्यन्तरनिवृत्तिः । अत्र हि विधेयस्य नियतप्राप्तत्वाच्चै-
(३) तत्प्राप्तिर्नियमो वा फलम्, अपित्वन्यनिवृत्तिरेवाऽगत्या फल-
त्वेनाऽऽश्रीयते । अतः फलतः परिसङ्ख्याङ्गीकरणान्न त्रैदोष्यमि-
साहुः ।

यत्र तु प्रापकप्रमाणोत्तरं शास्त्रप्रवृत्तिः यथा (४) “प-
ञ्च पञ्चनखा भक्ष्या” इत्यादौ, तत्र त्रैदोष्यम् । तत्र भक्षणस्य
रागप्राप्तत्वात्, ततः (५) पूर्वमेव विधाने फलकल्पनापत्तेः, अ-
भक्ष्यप्रक्रमाच्चाविधेयत्वात् स्वार्थहानिः । पञ्चातिरिक्तपञ्चनख-
भक्षणस्यापि रागप्राप्तत्वान्निवृत्तेःशास्त्रमन्तरेणासिद्धेः (६) विधेय-
त्वकल्पना । अत एव प्राप्तबाधोऽपि । प्रापकप्रमाणोत्तरं प्रवृत्ता-

१. पूर्वप्र. इति. क. ख. पु.

२. मै. सं. १. १०. १५.

३. न तदिति क. पु.

४. वाल्मी. रा. इति. १७. ३९.

५. पूर्वमेव चेति क. ख. पु.

६. विधिविधेयत्व इति. ख. पु.

वपि च यत्र नञादिश्रवणमेवकारो वा, तत्र प्राप्तपरिसङ्ख्याया-
मपि स्वार्थहानिपरार्थकल्पनयोरभावान्न त्रैदोष्यम् । यथा
(१)“नाऽनृतं वदेत्” “अत्र ह्येवाऽऽवपन्ती” त्यादौ ।

यत्तु न्यायसुधायामेवकारस्थले श्रौतो नियम इत्युक्तम्,
तत् ‘सत्यमेव वदे’ दित्यादौ सत्यवदनस्य नियतप्राप्त्यभावादेव-
कारस्याऽयोगव्यावृत्त्य(२)भिप्रायेण ।

यत्र तु नियता कर्तव्यस्य प्राप्त्यस्तत्रायोगव्यावृत्त्यसम्भवा-
दन्ययोगव्यावृत्त्यर्थकत्वमादाय श्रौतपरिसङ्ख्यात्वमावश्यकम् ।
अत एव विवृद्धस्तोमकेषु “एकविंशेनाऽतिरात्रेण प्रजाकामं याज-
येयु” रित्यादिवाक्यविहितेषु क्रतुषु सङ्ख्यायाः पृथक्त्वनिवेशात्
तत्सम्पत्तये अनियमेन सर्वस्तोत्रेषु साम्नामृचां चागमेनावापे
प्राप्ते “त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप्, अत्र
ह्येवाऽऽवपन्ति, अत एवोद्वपन्ती” त्यनेन गायत्र्यादिष्वेवाऽऽवापो
नान्यास्विति परिसङ्ख्या । अतश्च गायत्र्यादीनां पवमानेष्वेव स-
त्वात् तद्विषय एवाऽयमावापः, नान्यस्तोत्रेषु । सोऽपि च सा-
म्नामेव न ऋचां, तासामृगधिकरणत्वस्यासम्भवात् । अतश्च
तत्राऽऽगम्यमानसामाधारभूतगायत्र्यादीनामभ्यास एव । स्तोत्रा-
न्तरेषु तु साम्नामपि नाऽऽवापः, किन्त्वभ्यासेनैव सङ्ख्यासम्पत्तिः

यद्यपि नाऽयं सामावापो बहिष्पवमाने सम्भवति, तत्र
सामैकत्वस्य प्रत्यक्षशिष्टत्वात् । तथाऽपि माध्यन्दिनपवमानार्धव-
पवमानयोरेव गायत्र्यादिसत्त्वान्निविशते । बहिष्पवमाने त्वेकस्य
साम्नोऽभ्यास एव । ऋचां तु सङ्ख्यायाः (३)पृथक्त्वनिवेशि-
त्वात्तत्सम्पत्तये “पराग्वबहिष्पवमानेन स्तुवत” इति पराकञ्च-

१. तै. सं. २. ५. ५. २. वृत्त्यर्थकत्वाभीति. क. ख. पु.
३. पृथक्त्वेन निवेशीति. क. ख. पु.
११ मी० कौ०

वदवाच्यानभ्यासविधानाच्चागम एव । स्तोत्रान्तरेषु तु यद्यपि सङ्ख्यासम्पत्तये न्यायेनाऽऽगम एव प्रसक्तः, तथाऽपि बहिष्पवमाने न्यायप्राप्तृगगागमप्राप्तिफलकानभ्यासपुनर्विधिः (१)स्तोत्रान्तरे तदागमपरिसङ्ख्यार्थस्सम्पद्यत इति तेष्वृचामप्यभ्यास एव । तत्सिद्धं “अत्र ह्येवाऽऽवपन्ती” त्ययं स्तोत्रान्तरे सामागमपरिसङ्ख्यार्थ एवकार इति । एवं यत्र विवृद्धस्तोमक्रतुशेषत्वेनौपदेशिकं कौत्सादिसाम विहितम्, तत्र तस्य प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिन्यायेन सर्वस्तोत्रेषु प्रकृतसामबाधेनापि निवेशस्य नियमेन प्राप्तत्वाद् अत्र ह्येवावपन्तीत्ययं पवमानद्वयव्यतिरिक्तविषयपरिसङ्ख्यार्थ एव ।

न च कौत्सादेः कण्वरथन्तरादिवत्स्वयोनित्वेव गेयत्वप्राप्तेः प्राकृतगायत्र्यादिष्वप्राप्तत्वेन परिसङ्ख्यानुपपत्तिः, कण्वरथन्तरयोर्नेर्हि वैश्यस्तोम(२)प्रकरणपठितत्वेन तदङ्गत्वावगमात्प्राकृतऋगाधारत्वानुपपत्तिर्युक्ता । कौत्सादीनां त्वनारभ्याधीतत्वेन सत्यपि वचनेन क्रत्वङ्गत्वावगमे तदाधारभूताया योनेः प्रकरणपाठाभावेनाङ्गत्वानवगमात् प्राकृतऋगाधारत्वस्य(३)दशमे वक्ष्यमाणत्वात् । ये त्वविवृद्धस्तोमकाः क्रतवां यथा(४) “त्रिवृद्धमिष्टुदग्निष्टोम” इत्यादयः तेषु सङ्ख्यानुरोधेन प्राकृतसर्वस्तोत्रेषु सर्वसामसु तदाधारभूतासु च ऋक्षु निवृत्तासु यत्तदङ्गत्वेनौपदेशिककौत्सादिसामाम्नातं तन्निवेशार्थमानियमेना(५)प्राकृतसामोद्वापे प्राप्ते ‘अत एवावपन्ती’ त्यनेन गायत्र्यादिभ्य एवेति नियमकरणात्स एव परं श्रौतो नियमः, न तु ‘अत्र ह्येवावपन्ती’ त्ययम्, किन्तु श्रौतः पारसङ्ख्याविधिरेवेति सिद्धम् ।

१. स्तोत्रान्तरागमेति. क. पु.

२. प्रकरणे पाठनेति. क. पु.

३. पू. मी. १०. ४. १०.

४. तां. ब्रा. १७. ६. १.

५. यतः कुतश्चित्प्रा. इति. क. ख. पु.

वस्तुतस्त्वेवकारस्यान्ययोग(१)व्यवच्छेदार्थकत्वेन श्रौतपरिसङ्ख्यारूपत्वे तस्या निषेधतुल्यतया(२) “न तौ पशौ करोती” तिवाट्टिकल्पापत्तेर्नेयं श्रौती परिसङ्ख्या, अपि तु यावन्न्यायेन सर्वत्र सामागमः प्राप्यते तावत्पूर्वमेव गायत्र्याधारकत्वेन विधीयते । अतश्चाप्राप्तविधिरेवायं परिसङ्ख्याफलको न तु श्रौती परिसङ्ख्या ।

यद्यपि च गायत्र्यादिषु सामावापविधौ कृते न स्तोत्रान्तरेषु तदाकाङ्क्षाशान्तिरिति प्रापकप्रमाणप्रतिबन्धाभावाद्नाऽत्र फलतः परिसङ्ख्यात्वं शक्यते वक्तुम् । तथाऽप्यत्रावापविधौ कृते तत्प्रयोजनजिज्ञासायां प्रयोजनान्तरासम्भवेन गमकविधया स्तोत्रान्तरेष्वभ्यासाविधिकल्पनेन परिसङ्ख्याफलकत्वोपपत्तिः । अतश्चाऽऽवपन्ती(३)त्यत्र धात्वर्थविधिरपि सम्पद्यते । एवकारस्तु फलप्राप्तानुवादो न तु स्वार्थविधायक इति द्रष्टव्यम् । एवञ्च रागप्राप्त एवाऽर्थे यत्रैवकारस्य नञो वा श्रवणं तत्रैव श्रौती परिसङ्ख्या नाऽन्यत्र । अत एव श्रौतपरिसङ्ख्यायां ‘नाऽनृतं वदे’ दि(४)त्युदाहरणमुक्तं न्यायसुधाकृता । प्रकृते तु लौकिकप्राप्तेः पूर्वं प्रत्यक्षश्रुतेः प्रवृत्तत्वात् फलतः परिसङ्ख्यैवेत्युक्तम् ।

यस्वश्वाभिधान्युद्देशेन मन्त्राविशिष्टादानाविधानेऽप्यश्वाभिधानीस्वरूप आनर्थक्यादपूर्वसाधनलक्षणायामेकया प्रणाल्यैकापूर्वसाधनत्वाद्यत्रेणैव गर्दभाभिधान्यामपि मन्त्रप्राप्तिरनिवार्येति, तन्न । “व्रीहीन्प्रोक्षती” त्यादौ व्रीहिपदेनाऽपूर्वसाधनत्वे लक्ष्यमाणे प्रकृतापूर्वसाधनत्वमेव लाघवाल्लक्ष्यते, न तु प्रकृतापूर्वसा-

१. व्यावृत्त्यर्थ इति. क. ख. पु.

२. कापी. ब्रा. ३. प.

३. त्ययमिति क. पु.

४. त्येवादाहरणेति. ख. पु.

धनीभूतत्रीहित्वमपीति युक्ता यवेषु धर्मप्राप्तिः । प्रकृते त्वपूर्वसाधनत्वमात्रलक्षणायां लिङ्गकल्पश्रुत्याविशेषेण प्रत्यक्षश्रुतिवैयर्थ्यापत्तेरगत्या प्रकृतापूर्वसाधनीभूताऽऽवाभिधानीत्वलक्षणाश्रयणान्न गर्दभाभिधान्यां मन्त्रापत्तिः ।

न चात्राऽपि सर्वस्य यजुर्वेदस्याऽऽध्वर्यवसमाख्यानाद्यजुर्वेदविहितपदार्थानामध्वर्युकर्तृकत्वावगतेः प्रत्यक्षश्रुत्याऽऽदानविधाने च तदासिद्धेस्तत्सिध्यर्थमर्थप्राप्तादानविधानेन श्रुतेरर्थवत्वोपपत्तेरऽऽवाभिधानीत्वलक्षणायां प्रमाणाभावाद्गर्दभाभिधान्यां मन्त्रप्राप्तिरनिवार्येति वाच्यम् । रशनाबन्धनस्य प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वेनाध्वर्युकर्तृकत्वे सिद्धे बन्धनार्थादानस्यान्यकर्तृकत्वानुपपत्तेरध्वर्युकर्तृकत्वस्य विधिं विनैव सिद्धेः ।

एतेन(१) 'यदि यजुषो यज्ञो आर्तिर्मायाद्भुव इति दक्षिणे' त्यस्यापि प्रायश्चित्तस्योपक्रमानुसारेण वेदधर्मत्वस्य(२)तृतीये ऋष्यस्थापयिष्यमाणत्वाद्विध्यभावे अविज्ञातप्रायश्चित्ततापत्तेरतत्प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थो विधिरर्थवानिति परास्तम् । आदानविध्यभावेऽपि मन्त्रस्यैव यजुर्वेदपठितत्वेन एतत्प्रायश्चित्तप्राप्त्युपपत्तेः । आदानभ्रेषे बन्धनभ्रेषस्याप्यवश्यम्भावेन तन्निमित्तमेतत्प्रायश्चित्तस्योपपत्तेश्च । किञ्च यथा(३) "रथन्तरे प्रस्तूयमाने सम्मीलयेत्, बृहति प्रस्तूयमाने समुद्रं मनसा ध्याये" दित्यादौ प्रतिनियतनिर्देशान्यथानुपपत्त्याऽपूर्वसाधनीभूतरथन्तरत्वादि लक्षणापक्षस्याप्याश्रयणान्न धर्माणां साङ्कर्यमिति(४)वक्ष्यते, तथाऽत्रापि(५) "युञ्जायां रासभं युवमिति गर्दभ" मित्येवं प्रतिनि-

१. श. ब्रा. ११. ५. ८. ६.

२ पू. मी. ३. ३. १.

३. तां. ब्रा. ७. ७. १५.

४. नवमद्वितीयचतुर्दशे ।

५. तै. सं. ५. १. २.

यतनिर्देशान्यथानुपपत्त्याऽश्वाभिधानीत्वादेरेव लक्षणोति न मन्त्रसाङ्ख्यम् ।

न च तत्रत्यमस्वरसकारणं कण्ठरथन्तरादौ बृहद्रथन्तरधर्माप्रसाक्तिरूपमत्रास्ति, अश्वाभिधानीकार्यापन्नस्य विकृतावसिद्धेः । अतो बृहद्रथन्तरस्थल एव परं पृष्ठस्तोत्रजन्यापूर्वैक्येऽपि बृहद्रथन्तरसामाश्रयतत्प्रतिषाद्यगुणाभिधानजन्यापूर्वरूपवान्तरकार्यसाधनलक्षणाश्रयणात्प्रकृतौ (१)धर्मव्यवस्थोपपत्तेः । कण्ठरथन्तरे च स्वाश्रयऋग्वाच्यगुणाभिधानस्य प्राकृतगुणाभिधानजन्यापूर्वार्थत्वस्यैव लाघवेन हिरण्यगर्भमन्त्रवत्कल्पनात्प्राकृतकार्यापन्नत्वेन तत्प्रयुक्तधर्मप्राप्त्युपपत्तिः । प्रकृते त्ववान्तरकार्यभेदाभावात्प्रतिनियतनिर्देशबलादश्वाभिधानीत्वलक्षणायामपि न किञ्चिद्वाधकमस्तीति युक्तं परिसङ्ख्या ।

अत्र च परिसङ्ख्यादिलक्षणेषु विधिरसायनोक्तदृषणाऽनवकाशार्थमेवं यतितव्यम्—यत्र निषेधापरपर्याया निवृत्तिः शब्दतः फलतो वा शास्त्रतात्पर्यविषयीभूता, स परिसङ्ख्याविधिः । उक्तपरिसङ्ख्योदाहरणेषु लक्षणसमन्वयस्तु स्फुट एव । तत्र निषेधप्रतियोगी विधिविषयः भावरूपोऽभावरूपो वा(२)उपाधिर्यः कश्चिद्बोध्यः । तेनाऽनृतवदनगर्दभाभिधानीप्रयाजादीनां नाऽसङ्ग्रहः । न वाऽनेकाभावप्राप्तावेकाभावपरिसङ्ख्यायाः । अभावस्य परिसङ्ख्यायाश्च तत्र चान्यत्र च प्राप्तिसौत्सर्गिकी, न तु नियता । “नाऽनृतं वदे” दित्यादौ सत्यानृतयोरेकस्मिन्नर्थवबोधे पक्षप्राप्तत्वेन नियतप्राप्त्यभावात् । अत एव सा न लक्षणघटिका ।

१. धर्मव्यवस्थाया उप. इति. क. पु.

२. उपाधिरिति नास्ति ख. क. पु.

न चैवं “ व्रीहीनवहन्ती ” त्यादाववघाताभावव्याहृ-
 त्तरपि तात्पर्यविषयत्वात्परिसङ्ख्यालक्षणस्याऽतिव्याप्तिः, यत्प्र-
 तियोगिकाभावत्वं यस्य शास्त्रस्य तात्पर्यविषयतावच्छेदकताप-
 र्याप्त्यधिकरणं, तस्य शास्त्रस्य तत्परिसङ्ख्याविधित्वमिति विव-
 क्षितत्वात् । सर्वत्र हि परिसङ्ख्याविधौ परिसङ्ख्येयप्रतियो-
 गिकाभाव एव तात्पर्यविषयीभूतः । नियमविधौ त्ववघाताभा-
 वाभावरूपो नियमः । अत एवाभावाभावत्वस्य तात्पर्यविषय-
 तावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वेऽपि पर्याप्त्यधिकरणत्वाभावान्नातिव्या-
 प्तिः । अत एव शब्दतः फलतो वा पाक्षिकायोगव्याहृतिरूपो नि-
 यमो यस्य शास्त्रस्य तात्पर्यविषयीभूतस्स नियमविधिः । उक्तो-
 दाहरणेषु लक्षणसमन्वयस्स्फुट एव । पाक्षिकायोगश्च तन्मात्र-
 विध्यप्रवृत्तिनिबन्धनो विध्यन्तराप्रवृत्तिसहितैतद्विध्यप्रवृत्तिनिब-
 न्धनश्चेत्यादिप्रकारेण बोध्यः । “ व्रीहीनवहन्ती ” त्यादौ
 “ उत्तरेऽहन् द्विरात्रस्य गृह्यत ” इत्यादौ चाऽऽद्यः । एतद्विध्यभावे
 आक्षेपेणाऽवघातस्याऽतिरात्रसंस्थाकद्वितीयद्विरात्राऽहनि च षोड-
 शिग्रहणस्यातिदेशेन पक्षप्राप्तत्वात् । “ व्रीहिभिर्यजेते ” त्यादौ द्विती-
 यः । यवविध्यभावसहितैतद्विध्यभावे व्रीहीणामाक्षेपेण पक्षप्राप्त-
 त्वात् ।

न चैवं पाक्षिकायोगभेदेन लक्षणभेदात्परस्परव्याप्त्यति-
 व्याप्तिप्रसङ्गेन विधिरसायनोक्तदूषणतादवस्थं, विदलनाद्युपा-
 यान्तरप्रसक्तिप्रसञ्जितयत्प्रतियोगिकाभावकूटाभावत्वं यस्य शा-
 स्त्रस्य तात्पर्यविषयतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं, तस्य तन्निय-
 मविधित्वमिति विवक्षाङ्गीकारेण पाक्षिकत्वभेदस्य लक्षणकोटा-
 वप्रवेशात् ।

वस्तुतस्तु अवघातत्वावाच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभावत्व-

मेवोक्त(१)लक्षणे प्रवेश्यत इति कूटाद्यप्रवेशादपि लाघवम् । तथा च यद्दर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाभावत्वं तादृशावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं तस्य तद्दर्मवन्नियमविधित्वमिति निर्गलितोऽर्थः । तावतैव च परिसङ्ख्याविधितोऽपि भेदसिद्धेर्न कूटादिप्रवेशस्यापि प्रयोजनम् ।

एवं च यद्दर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं यस्य शास्त्रस्य तात्पर्यविषयतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम्, तस्य शास्त्रस्य तद्दर्मवत्परिसङ्ख्याविधित्वम् । एवं च “व्रीहीनवहन्ती” त्यादौ यच्छब्देनाऽवघातन्वस्य ग्रहणे नियमविधित्वमेव । अवघाताभावत्वग्रहणे तु परिसङ्ख्याविधित्वाङ्गीकारेऽपि न क्षतिः । वक्ष्यमाणविधया साङ्कर्यस्यानिवार्यत्वात् ।

न चैवमपि “व्रीहीन्प्रोक्षती” त्याद्यपूर्वविधावपि प्रोक्षणाभावाभावस्य प्रोक्षणस्यैव तात्पर्यविषयत्वादतिव्याप्तिः । निषेधमुखप्रतीतिकतयाऽभावाभावस्याऽतिरिक्तस्य प्रतियोग्यात्मकत्वानङ्गीकारेणाऽपूर्वविधौ लाघवाच्छ्रुतत्वाच्च प्रतियोगिन एव तात्पर्यविषयत्वाङ्गीकारेणाऽभावस्य तात्पर्यविषयत्वाभावात् । नियमविधौ तु प्रतियोगिनः प्राप्तत्वात्(२) सामान्याभावाभाव एव तात्पर्यविषयीभूतः । यदि तु सामान्याभावाभावोऽप्याक्षेपेण प्राप्त इत्याशङ्क्येत, तदा विदलनाद्युपायान्तरप्रसक्तिप्रसञ्जितसामान्याभावत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वं यस्य शास्त्रस्य तात्पर्यविषयतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं, तस्य शास्त्रस्य तद्दर्मावच्छिन्ननियमविधित्वमित्यादिरूपेण बोध्यम् । न तु कूटप्रवेशः । सामान्याभावे ह्यवघाताकरणप्रसञ्जितत्ववद्दिदलनकरण-

प्रसञ्जितत्वमप्यस्तीति विशिष्टाभावप्रवेशा(१)न्न कूटप्रवेशः । तावतैव विदलनाद्युपायान्तरप्रसक्तिप्रसञ्जितावघाताभावकूटाभावस्य सिद्धेर्विदलनादिव्यावृत्तिसिद्धेश्च । यदि तु सामान्याभावे विदलनकरणप्रसञ्जितत्वे प्रमाणाभाव इति विभाव्यते; ततः पूर्वोक्तलक्षणमेव सार्धीयः । माऽस्तु वा नियमविधौ पर्याप्तिविवक्षा ।

यत्तु दृष्टार्थत्वं नियमविधिलक्षणं कैश्चिदुक्तम्, तत् “उत्तरेऽहन द्विरात्रस्य गृह्यत” इत्यादावव्याप्तत्वादुपेक्षितम् । षोडशिश्रहयागाभ्यासस्याऽदृष्टार्थत्वात् । एवं च नियमपरिसङ्ख्यातिरिक्तफलकविधित्वमपूर्वविधित्वमिति(२)ति लक्षणम् । (३)एवं च यद्विषयको विधिरुक्तफलद्वयातिरिक्तफलतात्पर्यकः, तत्त्वं तदपूर्वविधित्वम् । लक्षणसमन्वयस्तु सर्वत्राऽप्यपूर्वविधौ सुधीभिरनुसन्धेयः । तच्च फलं “व्रीहीन्प्रोक्षती” त्यादौ विधेयमेव प्रोक्षणादि, “तमुक्थयेने” त्यादौ गुणकामप्रवृत्त्यादिविधेयचयनाद्यन्यदिति प्रकारभेदेऽपि न काश्चिद्विरोधः । एतेषां चोपाधीनां कचिदुदाहरणे विषयभेदेन वा विषयैक्येन वा साङ्कर्येऽपि न काश्चिद्विरोधः ।

न ह्येवंविधलक्षणसाङ्कर्याङ्गीकारे दीक्षितदण्डादन्यो दण्डो मैत्रावरुणकर्तृके प्रैषानुवचने प्रसज्येतेत्यादिदूषणानां प्रसङ्गलेशोऽप्यस्ति । (४)“क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छती” त्यस्या(५)भावे दीक्षितदण्डस्य यजमानधारण एव विनियोगाल्लौकिकस्यैव दण्डस्य नियमविधिः, ‘दण्डी’

१ न कूटप्रवेश इति नास्ति ख. पु.

२. इति लक्षणमिति नास्ति. ख.पु.

३. तत्त्वञ्चेति क. पु.

४. तै. सं. ६. १. ४.

५. दण्डीत्यस्य चोपस्योर. इति ख. पु.

त्यस्यैवाभावे च दीक्षितदण्डस्य मैत्रावरुणाय दत्तस्य प्रयोजना-
पेक्षायामालम्बनतया कार्यमात्रे समुच्चित्य प्राप्तौ दण्डीत्ययं प्रैषा-
नुवचनातिरिक्तकार्यान्तरपरिसङ्ख्याविधिस्सम्पद्यते । ततश्च तदु-
भयाङ्गीकारे(१) लौकिकदण्डस्यापि ग्रहणापत्तिरिति हि (२)दूष-

१. तत्साङ्कर्याङ्गीकार इति क. ख. पु.

२. दूषणमिदं श्रीमदप्पय्यदीक्षितैर्विधिरसायने 'यद्येकानेकवि-
ध्यप्रसृतिमुखभव' इति दशमश्लोके 'दैक्षादन्योऽपि दण्डः प्रकृति-
जुषि भवेत्प्रैषकार्ये प्रशास्तु' रित्यादिना दत्तम् । तस्याऽयं पिण्डीभू-
तोऽर्थः—ज्योतिष्टोमे दीक्षाप्रकरणे 'दण्डेन दीक्षयती' त्यनेन दीक्षा-
भिव्यञ्जकतया दीक्षितहस्ते दण्डदानं विहितम् । तत्र द्वितीयदिनक-
र्तव्यसोमक्रयणानन्तरं तस्यैव दण्डस्य मैत्रावरुणाय दानं विहितं
'क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छती'ति । तत्रैव च मैत्रावरुण-
कर्तृकेषु प्रैषानुवचनेषु दण्डवैशिष्ट्यमपि विहितं 'दण्डी प्रैषानन्वाहे'
ति । तथा च दीक्षितेन दत्तं दण्डमवलम्ब्यैव तिष्ठन्मैत्रावरुणः अग्नी-
षोमीयपश्वादौ प्रैषानुवचनं करोतीति स्थितिः ।

सति चैवं तन्मात्रविध्यप्रवृत्तिदशायां विध्यन्तराप्रवृत्तिसहितै-
तद्विध्यप्रवृत्तिदशायां वा या पाक्षिकी अप्राप्तिस्तादृशाऽप्राप्तांशपूर-
को नियमविधिरिति नियमविधिलक्षणमङ्गीकरणीयम् । अतश्चानि-
यमेकानेकविध्यप्रवृत्ताविति विवक्षणे 'दण्डी प्रैषानन्वाहे' त्यत्र त-
न्मात्रविध्यप्रवृत्तिविवक्षायां 'क्रीते सोम' इति विधेस्सत्त्वात्तत्प्रापि-
तस्य मैत्रावरुणदण्डस्य कार्यापेक्षायां सत्यां तत्कर्तृकप्रेषानुवचन-
वत्कार्यान्तरेष्वपि दण्डस्य समुच्चित्य प्राप्तिसंभवात्तादितरकार्या
न्तरव्यावृत्तिरूपपरिसङ्ख्याविधित्वं 'दण्डी प्रैषानि' ति वाक्यस्य
प्राप्नोति । 'क्रीते सोम' इति वाक्याप्रवृत्तिसहकृतैतद्विध्यप्रवृत्तिवि-
वक्षणे तु 'दण्डेन दीक्षयती'ति विधिमात्रसत्त्वेन तत्प्रापितदीक्षितद-
ण्डस्य आन्तं दीक्षितेनैव धारणीयत्वमापतेत् । ततश्च मैत्रावरुणस्य
प्रेषानुवचनसमये आलम्बनापेक्षायामनियमेन यस्य कस्याचिदालम्ब-
नप्राप्तौ दण्डस्यैवालम्बनत्वं विदधदयं नियमविधिस्संपद्यते । अत-
श्चैकस्मिन्नेव वाक्ये नियमपरिसङ्ख्याविधिलक्षणसाङ्कर्यमेकानेकप्रवृत्ति-

णम् ; तच्च न युज्यते, तार्किकफलानेकत्वेऽपि वस्तुतः “क्रीते-
सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छती” त्यनेन मैत्रावरुणार्थत्वेन
विनियुक्तस्य(१)दीक्षितदण्डस्य प्रयोजनापेक्षायां ‘दण्डी प्रेषान-
न्वाहे’ त्यनेन कार्यविधानादन्यस्याऽप्रसक्तेः । एवमन्यत्राप्यु-
क्तम् । एतानि च लक्षणानि सुधीभिर्विधिरसायनोक्तोदाहरणेषु
योज्यानि ।

न चान्यत्र सुयोज्यत्वेऽपि(२) ‘यदि सोमं न विन्देत् पूती-
कानभिषुणुया’ दित्यादौ सोमाभावे पूतीकानां मन्दसदृशतया प्रा-
प्त्यभावेन तत्र पूतीकप्राप्तेरेव तात्पर्यविषयत्वात्, तदभावाभा-
वस्य प्रोक्षण इव तात्पर्यविषयत्वे च प्रमाणाभावान्नियमविधि-
त्वानुपपत्तिः, एतद्वचनस्य सुसदृशप्राप्तिन्यायप्रवृत्त्युत्तरप्रवृत्तौ
प्रमाणाभावेन पूर्वप्रवृत्तस्याऽस्य पूतीकप्रापकत्वानुपपत्तेः ।

यत्र तु(३) “हिरण्यगर्भस्समवर्तताऽग्र इत्याधारमाधारय-
ती” त्यादौ हिरण्यगर्भप्रकाशकस्य मन्त्रस्य ऐन्द्राधारे कथमपि
प्राप्त्यसम्भवः, तत्र सत्यपि क्लृप्तनियमादृष्टजनकत्वेनोत्तराधारे
मन्त्रविधौ(४) ‘औदुम्बरो यूपो भवती’ तिवदपूर्वविधित्वेऽपि
न क्षतिः। ‘सर्वे द्रव्याविधयो नियमविधय’ इत्यादिवादस्तु(५) हीषा-

विवक्षणकृतमापद्यते । किञ्च द्वितीयपक्षे दैक्षे पशौ दीक्षितदण्डादन्य-
स्यैव लौकिकदण्डस्य प्राप्त्यापत्तिरिति ।

१. दीक्षितेति नास्ति ख, पु, २. तां. ब्रा. ९. ५. ३.

३. अग्निचयनाङ्गभूतवायुदेवताकः पशुयागो विहितः । तदङ्ग-
त्वेन प्रकृतित अतिदिष्टयोराधारयोर्द्वितीयाधारे मन्त्रोऽयं विहितः ॥

४. तै. सं. २. १. ९.

५. ‘सौभरमुक्थयानां ब्रह्मसाम भवती’ति वाक्यविहितसौभराध्य-
सामविशेषस्य वृष्ट्यादिफलोद्देशेन विधानं ‘यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्य-
कामो यस्स्वर्गकामस्स सौभरेण स्तुधीते’ति । तस्यैव च तत्तत्फल-

दीर्णा वृष्ट्यादिफलार्थत्वे अपूर्वविधित्वापत्तेरित्यादिव्यवहारा-
दौत्सर्गिक एव । अत एव सर्वेष्वेव वाक्येषु विषयभेदेन विषयै-
क्येन वा क्रमेण यौगपद्येन वा अनेकफलतात्पर्यकत्वेऽपि
कचित्केनचिद्व्यवहारो मूले नाऽनुपपन्नः । तद्यथा—प्रकृतौ
'स्रुवेणाऽऽधारमाधारयती' त्यत्रैवाऽप्राप्तहोमप्रापणमभ्युदयशिर-
स्कत्वं, याजुर्वेदिकप्रायश्चित्तप्राप्तिरित्याद्यनेकफलतात्पर्यकत्वाद्-
पूर्वविधित्वं, पुनश्च तस्मिन्नेव विषये अध्वर्युकर्तृकत्वादिफलमादाय
नियमविधित्वं, पुनश्च स्रुवविषये तदित्यनेकरूपता । न ह्येषां
मध्ये एकस्यैव तात्पर्यविषयता नाऽन्येषां, अनुनिष्पन्नत्वादिति
वाच्यम् । तात्पर्याभावे तदभावप्रयुक्तवैगुण्यानापत्तेः । अत ए-
वाऽप्राप्तप्रापकविधावपि न तद्विधिजन्यबोधस्याऽऽवश्यकत्वं स-
र्वेषामिष्टम् । एवं वार्तिकोक्ते "ब्रीहीन्प्रोक्षती" त्यत्रापि(१) 'अग्न-
ये वो जुष्टं प्रोक्षामी' त्येतन्मन्त्रकल्प्यविधितः पूर्वप्रवृत्तेरप्राप्तप्रो-
क्षणप्रापकत्वं, तार्किकतत्प्राप्त्यालोचनोत्तरकालं त्वभ्युदयशिर-
स्कत्वं, प्रायश्चित्तप्राप्तिरध्वर्युकर्तृकत्वं, चेत्यादिफलप्रापकत्वाद्ने-
करूपता । 'ब्रीहीन्वहन्ती' सत्राप्याक्षेपतः पूर्व(२) प्रवृत्ताऽवघा-
तप्रापकत्वाद्पूर्वविधित्वं, तार्किकतत्प्राप्त्यालोचने तु तन्नियम-
फलकत्वं, तार्किकतन्मन्त्रवर्णकल्प्यावघातनियमप्राप्त्यालोचने
त्वभ्युदयशिरस्कत्वं, प्रायश्चित्तप्राप्तिं च(३) तद्विषयामङ्गीकृत्याऽपू-

साधनत्वेन विधायमानस्य हीषादयो नियम्यन्ते 'हीषिति वृष्टिका-
माय निधनं कुर्याद्गीर्त्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाये'ति । वृ-
ष्टिसाधनीभूतसौभरे हीषिति निधनं पठेदिति तदर्थः । प्रस्ताषोद्धृथि-
प्रतिहारोपद्रवनिधनाख्यभागपञ्चकात्मनस्साम्नोऽन्तिमो भागो नि-
धनमिस्युच्यते ॥

१. तै. सं. १. १. ४. २. प्रवृत्तावप्राप्तावघातेति. क. ख. पु.
३. तात्पर्यविषयामङ्गीकृत्येति ख. पु.

र्वविधित्वं, अध्वर्युकर्तृकत्वाद्यादाय च नियमविधित्वमिसादि तत्तद्विधिष्वनेकरूपत्वेऽपि क्वचित्केनचिद्रूपेण व्यवहार इति नाऽत्र रूपान्तरलक्षणातिप्रसङ्गोद्भावनं युक्तम् ।

वस्तुतस्तु 'अवरक्ष' इत्यवघातमन्त्रस्य नाऽवघाते स्फुटं लिङ्गमिति तेन नाऽवघातनियमप्राप्तिः, "अग्रये वो जुष्टं प्रोक्षामी" ति प्रोक्षणलिङ्गमन्त्रस्याऽप्याग्नेयाङ्गभूतदर्भादिसाधारण्यापत्तेर्व्रीहिमात्रविषयतया प्रोक्षणप्राप्त्यनुपपत्तेः "व्रीहीन्प्रोक्षती" त्ययं दर्भादिपरिसङ्ख्यार्थ इत्यपि शक्यते वक्तुमिति ध्येयम् ।

न चैवं प्रोक्षणावघातादिविधीनां यवादिपरिसङ्ख्याफलकत्वस्थाप्यापत्तिः, सम्भावितेषु ह्यनेकेषु फलेषु यदेकमनेकं वा प्रामाणिकं फलं तत्रैव शास्त्रस्य तात्पर्यं, न तु प्रमाणबाधितेऽपि । प्रमाणबाधाऽबाधौ च तत्र तत्राऽधिकरणे स्फुटावेव । यत्रापि च न स्फुटौ तत्रापि स्वयमूहौ । यथाऽत्रैव यवादिपरिसङ्ख्यायाम् । व्रीहिपदेन ह्यपूर्वसाधनत्वमात्रमेव लाघवाल्लक्ष्यते, न तु तत्साधनीभूत(१) व्रीहित्वजातिरपि, गौरवात् । अतश्च गौरवपरास्तत्त्वान्न परिसङ्ख्याफलकत्वम् । (२) "इमामगृभ्णन्नि" त्यादौ(३) "युञ्जाथाँ रासभं युवमिति गर्दभ" मिति प्रतिनियतनिर्देशान्यथानुपपत्त्या गौरवाश्रयणेनाऽपि परिसङ्ख्याफलकत्वम् ।

न च लिङ्गादेव 'युञ्जाथामि'ति मन्त्रस्य गर्दभाङ्गत्वसिद्धेर्नाऽयं प्रतिनियतनिर्देश इति वाच्यम्, युवमिति पुरुषाश्वयोरुपादानेन लिङ्गसाधारण्यात् । अतः तत्राऽगत्याऽन्यपरिसङ्ख्याफलकत्वाङ्गीकारेऽपि न प्रकृते तदाश्रयणम् । अत एव यत्र परिसङ्ख्याङ्गीका-

१. व्रीहित्वमपीति ख. पु.

२. तै. सं. ४. १. २.

३. तै. सं. ५. १. २.

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १३

हेऽपि न गौरवं, तत्र वाक्यस्याऽभ्युदयशिरस्कत्वयाजुर्वेदिकप्राय-
श्चित्तादिप्राप्तिरूपफलान्तरतात्पर्यकत्वेऽपि परिसङ्ख्याफलकत्वम् ।
यथा(१) 'आज्यभागौ यजती' त्यादौ । अत एव क्वचिदेव नियम-
विधित्वसम्भवेऽपूर्वविधित्वानङ्गीकारः, यत्राऽपूर्वविधित्वं गौरव-
पराहतम् । यथा हीषादौ व्यवस्थार्थत्वसम्भवे गुणफलसम्बन्ध-
स्याऽदृष्टान्तरकल्पनापादकस्य, न तु सर्वत्र । "पुरोडाशं प्रथयती"
त्यादावध्वर्युकर्तृकत्वनियमफलकत्वेऽपि याजुर्वेदिकप्रायश्चित्त-
प्राप्तिफलकत्वेनाऽपूर्वविधित्वविशयम्भावात् । अतस्सर्वत्रैव प्रा-
यशः फलसाङ्कर्यसत्त्वेन मूले क्वचित्केनचिद्व्यवहारस्यैच्छिकत्वा
त्त्रेतरलक्षणातिप्रसङ्गकथनं न युज्यते । अतश्चोक्तलक्षणानां
तदुदाहरणानां च वार्तिकाद्युक्तानामनुपपत्त्यभावाद्विधिरसायनो-
क्तलक्षणाक्षेप उदाहरणक्षेपश्च न सङ्गच्छते । आक्षेपाक्षेपप्रस-
ङ्गेन न्यायशैथिल्यकरणन्तु तत्तदधिकरणप्रसङ्गेन तत्र तत्र प्राय-
शो निराकारिष्यत इति विधिरसायनोक्तदूषणानामनवकाशः॥४४॥

अर्थवादो वा ॥ १-२-४५ ॥

"उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयती" सत्र मन्त्रोपादानं "य-
ज्ञपतिमेवे" त्थर्थावादात्म्यनार्थम् । आत्म्यनप्रकारश्च पूर्वमेव
प्रदर्शितः ।

यत्तु प्रथनस्याप्यर्थप्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वाद्विधिशेषत्वाभावेनाऽर्थ-
वाद्त्वस्यैवानुपपत्तिरिति, तत्प्राप्तस्यापि प्रथनस्याऽध्वर्युकर्तृक-
त्वार्थं विधानोपपत्तेः परिहर्तव्यम् । तस्माद्यज्ञपतिप्रथनफलकत्वेन
पुरोडाशप्रथनं स्तोतुं मन्त्रोपादानम् । न च यज्ञपतिप्रथनस्य पुरो-

१. चानुमास्यान्तर्गतगृहमेधीयेष्टिसान्निधिपठितेति ।

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । ९५

यासम्बन्धित्वेन कल्प्यते न तु सर्वमन्त्रप्रतिपाद्यम् । एकसम्बन्ध-
कल्पनेनाऽपि मन्त्रस्य प्रयोजनाकाङ्क्षानिवृत्तेः, तृतीयादिविनियु-
क्तवत्सकलमन्त्रकरणत्वानवगमाच्च । प्रकृते तु “उरु प्रथस्वे”-
त्यस्य लिङ्गविनियुक्तत्वात्प्रथनक्रियाप्रकाशकत्वेनैव मन्त्रनै-
राकाङ्क्षोपपत्तेस्सूक्तवाकादिवत्सकलस्य करणत्वानवगमेन
फलकल्पकत्वानुपपत्तिः ।

न चैवं “ममाग्ने वर्च” इत्यस्यापि इन्धाना इति लिङ्गादेव
विनियोगात्फलकल्पकत्वानुपपत्तिः, इन्धाना इति लिङ्गादग्नि-
धारणार्थत्वावगमेऽप्याद्याग्निधारणमात्रार्थत्वस्य “इति पूर्व-
मग्निं परिगृह्णाती”ति विधिं विनाऽसिद्धेरितिकरणविनियुक्त-
त्वेन फलकल्पकत्वोपपत्तेः । न हि(१) पूर्वमिति पदं पूर्वाग्नि-
रूपाहवनीयपरं, गार्हपत्येन्धनेऽस्य विनियोगात् । तत्त्वेऽपि
वा(२) इतिकरणविनियुक्तत्वात्फलकल्पकत्वे न किञ्चिद्वाधक-
म् । प्रकृते तु लिङ्गविनियुक्तत्वान्न प्रथनफलत्वं यज्ञपतिप्रथ-
नस्य कल्पनीयम्, किन्तु प्रथनफलानुवादकत्वमेव “आयुर्दा
अग्ने” इत्यादिव “दुरु ते यज्ञपतिः प्रथता” मित्यस्य द्रष्टव्यम् ।
तस्मान्मन्त्रवर्णिकफलकल्पनानुपपत्तेरर्थादालम्बनार्थमुक्तवि-
धया मन्त्रोपादानमर्थवादिति सिद्धम् । यद्यपि च मन्त्रोपादा-
नाभावेऽपि लैङ्गिकविनियोगेन मन्त्रस्य प्राप्तत्वात्तावतैव
स्वाभिमतस्तुत्यालम्बनासिद्धिः, तथापि स्पष्टीकरणार्थं मन्त्रो-
पादानम् ॥ ४५ ॥

१. पूर्वपदमिति क. ख. पु. २. इतिकरणविनियुक्तत्वान-
वगमेन फलकल्पकत्वोपपत्तेरिति क. ख. पु.

अविरुद्धं परम् ॥ १-२-४६ ॥

यत्तु नियतक्रमाम्नानं, तदर्थपरत्वे सति नियमादृष्टकल्पना-
याऽप्यविरुद्धम् । आवश्यकी च क्रमानियमाऽदृष्टकल्पना पूर्वपक्षि-
णोऽपि । क्रमान्यत्वेऽपि (१)मन्त्रोच्चारणे विशेषाऽनवगमेनो-
च्चारणादेवाऽदृष्टोत्पत्तौ बाधकाभावात् । प्रयाजादिक्रमवदुच्चा-
रणक्रमस्याप्यदृष्टार्थत्वावश्यम्भावात् ॥ ४६ ॥

संप्रैषे कर्मगर्हानुपालम्भसंस्कारत्वात् ॥ १-२-४७ ॥

या च “अग्नीदग्नीन्विहरे” ति संप्रैषे बुद्धबोधनासम्भ-
वादाभिधानरूपकर्मगर्हाऽभिहिता, सा स्वाध्यायकालीनज्ञानस्य
क्षणिकत्वेन नष्टत्वात्स्मरणाख्यसंस्काररूपबोधसम्भवेन नोपा-
लम्भः । प्रैषनियमाच्च नोपायान्तरस्य पूर्वपदार्थसमाप्त्यादे-
स्स्मारकत्वम् । न चैवं “विभूरसी” त्यादिमन्त्रान्तरस्याऽपि
विहरणाङ्गत्वेनाम्नानात्प्रैषानर्थक्यं, मन्त्रद्वयाम्नानबलात्सृ-
तिदार्यहेतुत्वेन प्रैषस्य वा साङ्गाग्निविहरणभावनास्मारकत्वा-
“द्विभूरसी” त्यादेश्चाग्निविहरणमात्रस्मारकत्वाद्ग्नविहरणा-
ङ्गभूतमन्त्रस्मारकत्वेनैव प्रैषार्थवत्वोपपत्तेः ॥ ४७ ॥

अभिधानेऽर्थवादः ॥ १-२-४८ ॥

(२)“चत्वारि शृङ्गे” त्यस्य कर्मसमवेतार्थप्रकाशनार्थं
चतस्रो होत्राः, त्रीणि सवनानि, द्वे पत्नीयजमानौ, (३) सप्त छन्दाः-

१. मन्त्राक्षरोच्चारणेति क. पु.

२. ऋ. स. १०.

३. गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीरूपाणि सप्त
छन्दांसि ।

सि यस्य सः, त्रिभिर्वेदैर्बद्धः, कामान्वर्षतीति वृषभः, रोरवीति फलार्थं मह्यं कुरुतेत्यावेदयति, महो देवः, मर्त्यान् मनुष्यान्, अधिकारित्वेन स्वीकृतवानिति गौण्या वृत्त्या यागस्तुतिरिति भाष्यकारेण व्याख्यातम् ।

तद्विनियोगाऽननुसारित्वाद्वातिककृताऽन्यथा व्याख्यातम् । अयं हि ऋग्वेदे विषुवत्संज्ञके एकाहे अतिदेशप्राप्तेषु होत्रादीनां चतुर्णामाज्यसंज्ञकेषु शस्त्रेषु मध्ये होतुराज्ये 'आग्नेयं होता शंसती' ति वचनादग्निस्तावके विनियुक्तोऽग्निप्रकाशक इत्य-विवादम् । विषुवतश्च "सूर्यदेवस्यं ह्येतदह" रिति श्रुतेरादित्य-देवतात्वेन संस्तवात्तेजस्त्वसामान्यादादित्यरूपेणाऽग्नेः स्तुतिरुप-वर्ण्यते—चत्वारो दिवसयामाः, त्रयः शीतोष्णवर्षाकालाः, द्वे अयने, सप्त अश्वाः शृङ्गादिरूपेण यस्य सः, सवनत्रये बद्धः, वृष्टिहेतुत्वाद्दृषभः, रोरवीति गर्जितेन, महो देवो मर्त्यानाविवेश उत्साहकारित्वात् । अतश्च यद्यपि स्तोत्रशस्त्राणामदृष्टार्थत्वान्ना-ऽस्य कर्मसमवेताऽग्निप्रकाशनार्थत्वं, तथाऽपि 'त्रयो अस्य पादा' इति सर्वनाम्ना सन्निहिताऽग्निपरामर्शेनाऽग्निस्तुत्यर्थत्वेनाऽवधारणान्नाऽऽनर्थक्यम् । एवं(१) "ओषधे त्रायस्वैन" मित्यादा-वप्यचेतने स्तुत्यर्थं चैतन्याध्यारोपेण सम्बोधनरूपत्वमुप-पादनीयम् ॥ ४८ ॥

गुणाद्विप्रतिषेधस्स्यात् ॥ १-२-४९ ॥

यस्तु(२) "अदितिद्यौरादितिरन्तरिक्ष" मित्यादावर्थविप्र-तिषेधशङ्कितः, स द्युत्वादीनां स्वरूपेणाऽविवक्षितत्वाद्गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमेवोपात्तत्वात्, त्वमेव माता त्वमेव पितेर्यादिवन्न

दोषाय ॥ ४९ ॥

विद्याऽवचनमसंयोगात् ॥ १-२-५० ॥

यत्तु स्वाध्यायाऽध्ययनकालेऽर्थप्रकाशनानभ्यासरूपं विद्याया
अवचनं, तत्कर्मकाल एवाऽर्थाभिधानस्याऽभ्यासमन्तरेणैव सौक-
र्यादिति द्रष्टव्यम् ॥ ५० ॥

सतः परमविज्ञानम् ॥ १-२-५१ ॥

यदपि परमर्थाज्ञानाख्यं कारणमुक्तं, तत्सत एवाऽर्थस्य
प्रमादालस्यादिनाऽविज्ञेयत्वाद्द्रष्टव्यम् । अर्थसत्ताऽवधारणं तु नि-
गमनिरुक्तव्याकरणप्रकरणऋषिदेवतास्मरणादिना यथासम्भव-
मुपपादनीयम् । तद्यथा—

“अभ्यक्सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति ।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुकानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥”

इत्यस्यामृचि (१) छन्दोमद्वितीयेऽहनि विनियुक्तायामगस्त्येन

१. द्वादशाहे द्वादश दीक्षाः द्वादशोपसदः द्वादश सुत्याः । तत्र द्वाद-
शसु सुत्यासु प्रथमोत्तमे अहनी वर्जयित्वा मध्यगतानां द्वादशानामह्नां
कृत्स्नैरेवमाग्नाता—‘पृष्ठ्यषडहस्त्रयश्छन्दोमाः अविवाक्यं दशम-
मह’ इति । अस्याऽयमर्थः—यषडहस्स पृष्ठ्यः, पृष्ठस्तोत्रसाधनी-
भूतरथन्तरादिविशिष्टः । माहेन्द्रस्तोत्राख्यं यत्पृष्ठस्तोत्रं तत्प्रथमदिने
रथन्तरेण साम्ना कर्तव्यं, द्वितीयदिने बृहता, तृतीयदिने वैरूपेण,
चतुर्थदिने वैराजेन, पञ्चमदिने शाकरेण, षष्ठादिने रैवतेनेति या-
वत् । ततस्त्रयश्छन्दोमाः । यदीयास्तोमाः गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्छन्दो-
गतसङ्ख्याभिर्मीयन्ते ते छन्दोमा इत्युच्यन्ते । गायत्र्यादिसमसङ्ख्याक-
स्तोमविशिष्टान्यहानीति यावत् । तेषां त्रयाणामह्नां मध्ये यद्वितीयमहः
अर्थाद्द्वादशाहयनवमहस्तत्रेत्यर्थः ॥

ऋषिणा इन्द्रो मरुत्वान् धनं प्रार्थितः । अत एव (१) “त्वंतून इन्द्र तं रयिं दा” इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धात्प्रथमतृतीयपादयोर्द्वितीयचतुर्थपादयोश्च सम्बन्धादयमर्थोऽवगम्यते—हे इन्द्र ! ते, या ऋष्टिः आयुधविशेषः, अम्यक् अमा सह अञ्चतीत्यम्यक्, नित्यं सहचारिणी अतिवल्लभाऽपि सा, त्वत्प्रसादेन अस्मे अस्माकमेव । येऽपि मरुतो मेघाः, सनेमि पुराणं, अभ्वं तोयं, जुनन्ति क्षिपन्ति, तेऽप्यमी त्वत्प्रियसखाः, अस्मे अस्माकमेव । कीदृशी ऋष्टिः ? अतसे शुष्कतृणे, शुशुकान दीप्तवान्, अग्निरिव । हि स्म प्रसिद्धौ, चिदित्युपमार्थः । कीदृशाश्च मेघाः ? नेत्युपमार्थे । आपो यथा द्वीपं पुलिनं प्रति, प्रयांसि अन्नाद्यानि, दधति धारयन्ति, तथेति । एवं साधारणद्रव्ये भवानस्माकं, रयिं धनं, दाः देहि, इति ॥ एवं—

“सृण्वेव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जरायुजरं मरायु” ॥

इत्यस्यामृचि भूतांशेन ऋषिणा जरामरणनिवृत्त्यर्थमश्विनौ स्तुताविति(२) “आभूतांशो अश्विनोः काममप्राः” इत्युपसंहारादवगम्यते । सृणिः अङ्कुशः, तत्र साधू सृण्वौ, अर्थात्कुञ्जरौ, ताविव जर्भरी जृम्भमाणौ, तुर्फरीतू हिंसितारौ, नितोशनं वधः, तत्कारिणौ नैतोशौ योद्धाराविति यावत् । ताविव, तुर्फरी त्वरमाणौ, पर्फरीका शोभायुक्तौ, उदन्या पिपासा, सा च चातकस्य विवक्षिता । तत्काले प्रावृषि जातौ चातकौ यथा जेमना उदकवन्तौ सन्तौ उदकलाभेन मदेरू मत्तौ भवतः, तथा यौ मदेरू मत्तौ, तौ, मे, जरायु मरायु जरामरणधर्मकं शरीरं, अजरं अमरं च कुरुतमित्यध्याहारः ॥ ५१ ॥

उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥ १-२-५२ ॥

यश्च “किन्ते कृण्वन्ती” त्यत्राऽनित्यसंयोगश्शङ्कितस्सः
(१)“परन्तु श्रुतिसामान्यमात्र” मित्यत्र परिहृत एव । कीकटाः
कृपणाः, प्रमगन्दः कुसीदवृत्तिः, तस्य वेदः धनं, नीचाशाखः
षण्डः, तदीयं धनं नैचाशाखं, तन्नोभयमपि (२)न कर्माऽर्हं, तेषां
कर्मण्यनधिकारात्; अतस्तदस्माकमाहरेति । एवं हि गौण्या वृत्त्या
प्रमगन्दादिशब्दानामर्थे क्रियमाणे सर्वेषां प्रवाहानित्यत्वान्ना-
स्त्यनित्यसंयोगः ॥ ५२ ॥

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥ १-२-५३ ॥

किञ्च “आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपातिष्ठत” इत्यर्थाभिधानलिङ्गेनोप-
स्थानोपदेशोऽर्थाभिधानपरत्व एवोपयुज्यते, नोच्चारणार्थत्वे ।
आग्नेयेति देवतातद्धितोऽयम् । देवतात्वञ्चाऽत्र प्राधान्येन
मन्त्रजन्यस्तुतिभाक्त्वम्, न त्वभिधीयमानत्वमात्रं, एकदेवत्येऽपि
मन्त्रेऽनेकदेवतान्तरपदप्रयोगे सति तद्देवत्यव्यपदेशाभावात् ।
न च प्राधान्यमर्थपरत्वं विना सम्भवतीत्यर्थपरत्वनिश्चयः ॥५३॥

ऊहः ॥ १-२-५४ ॥

तथा ऊहदर्शनं “न माता वर्द्धते न पिते” त्यादिकम-
प्यर्थपरत्व एवाऽर्थवत् । न ह्यनेन(३)पितृमात्रादीनां स्थौल्यादि-
रूपा वृद्धिः प्रतिषिध्यते, प्रत्यक्षविरोधात् । अतश्शब्दवृद्धिः
प्रतिषेद्धव्या । सोऽपि च न वर्णान्तरापजननेन, न वा स्थूलो-
च्चारणेन । वर्णान्तरापजनने पदान्तरत्वापत्तेः प्रकृतिप्राप्तप-

१. जै. सू. १. १. ३१.

२. अकर्माऽर्हमिति. ख. पु.

३. पशुमात्रादीति. ख. पु.

दवृध्यसम्भवात् । स्थूलोच्चारणस्य च नादधर्मत्वेन शब्दवृत्ति-
त्वासम्भवात् । अतो द्विवचनबहुवचनान्तत्वेनाऽर्थगताधिक्य-
द्वारा शब्दवृद्धिरूहात्मिका तेन वचनेन प्रतिषिध्यत इति वक्त-
व्यम् । प्रतिषेधश्च प्राप्तिसापेक्षः । प्राप्तिश्च पशुगणे सर्वत्र मा-
त्रादीनामभिधाने कर्तव्येऽवकल्पते नाऽन्यथा । अतश्चाऽयं प्र-
तिषेधः यथाऽग्निगुप्त्रैषस्याऽर्थपरत्वे लिङ्गं तथाऽन्यमन्त्राणामप्य-
र्थपरत्वे । सत्यां हि सर्वत्राऽर्थपरत्वेन ऊहप्राप्तौ क्वचित्प्रतिषेधोऽव-
कल्पते नाऽन्यथा ।

यद्यपि च नाऽयं निषेधविधिः, इडानिगदगतयज्ञपतिशब्द-
वन्मात्रादीनां पशुविशेषणानां (१)परार्थत्वेनोहाविषयत्वात् ।
(२)अर्थपरत्वेऽपि च पशुभेदेऽपि यत्रैकमात्रादिजन्यत्वं तत्रोह-
स्याऽप्रसक्तत्वादेव निषेधानुपपत्तिः । यत्र तु मात्रादीनां भेद-
स्तत्राऽपि मातृत्वादीनां स्त्रीत्वादिसमानाधिकरणजनकत्वादिरू-
पाणां ससम्बन्धिकत्वात्प्रतिसम्बन्धिपशुभेदप्रतीत्यैव मात्रादि-
भेदप्रतीतिसिद्धेर्न मात्रादिभेदप्रतीतिसिध्यर्थमूहप्रसक्तिः, तथा-
ऽपि न्यायसिद्धानूहानुवाद एवाऽन्यत्र मन्त्रान्तरे न्यायसि-
द्धोपोद्बलकत्वादर्थपरत्वाविवक्षायां लिङ्गमित्यविरोधः । तथा
“यद्यप्यन्यदेवत्यः पशुराग्नेय्येव मनोता कार्ये” ति वचनमपि
वायव्यादिपशौ ऊहनिषेधकमन्यत्र ऊहप्राप्तलिङ्गमुदाहृतं वार्ति-
ककृता । इदं हि (३)“त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोते” ति मनोता-
सूक्तस्याऽग्नीषोमीयाह्वायव्यादिपशावतिदेशेन प्राप्तस्याहप्रसक्तौ
आग्नेय्येव कार्येत्येवमूहप्रतिषेधार्थं वचनम् ।

वस्तुतस्तु अस्य सूक्तस्य केवलाग्निप्रकाशकस्योभयदेव-

१. अर्थपरत्वेनेति. ख. पु. २. अपाराथ्येऽपीति. क. ख. पु.

३. क्र. सं. ४. ४. ३५.

त्येऽग्नीषोमीये लिङ्गेनाऽविनियोगादुत्कर्षे प्राप्ते, ज्योतिष्टोमप्रकरणवहिर्भूतकेवलाऽग्निदेवत्ये पशुयागे च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाऽभावेनोत्कर्षाऽयोगेऽपि ज्योतिष्टोमप्रकरणादस्य सूक्तस्य केवलज्योतिष्टोमसम्बन्धावगतेः, साक्षाच्च(१) 'मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्याऽनुब्रूही'ति प्रैषवशेनाऽवदीयमानपश्वाख्यद्रव्यसम्बन्धित्वेनाऽवगतस्य मनोतासूक्तस्य ज्योतिष्टोमसम्बन्धाऽयोगादानर्थक्यतदङ्गन्यायेन ज्योतिष्टोमाङ्गभूतकेवलाग्निदेवत्यसवनीयपशुयाग उत्कर्षः प्रसक्तः, तन्निवृत्त्यर्थत्वेन प्रकृतावैतस्य वचनस्योत्कर्षनिवृत्त्यर्थत्वेनोपपत्तौ न वायव्यादिपशावप्रसक्तऋगूहनिवृत्त्यर्थत्वकल्पनमुपपत्तिम् । न हि मनोतास्थाऽग्निशब्दस्यैव ऐन्द्रीन्यायेनाऽग्नीषोमीयदेवतालक्षकत्वात्प्रकृतावन्यायनिगदस्य वायव्यादिपशावूहप्रसक्तिरास्ति ।

नन्वेतस्याऽग्निपदस्य प्रकृताऽपूर्वसाधनीभूतदेवताप्रथमाधिष्ठानप्रकाशकत्वेन मुख्यार्थत्वोपपत्तौ ऐन्द्रीन्यायानुपपत्तेरस्यैव सोमापौष्ण्यागादौ प्रथमाधिष्ठानप्रकाशनार्थमूहप्रसक्तिः, न च "पूयति वा एतदृचोऽक्षरं यदेनदूहती"ति ऋगक्षरोहनिषेधादप्रसक्तिः, अक्षरोहनिषेधेऽपि प्राकृत्या ऋचोऽसमर्थत्वेन निवृत्तायाः प्रथमाधिष्ठानप्रकाशनरूपोपकारस्य जनकापेक्षायां ऋगन्तरागमरूपस्थोहस्य दुर्निवारत्वादिति चेन्न, अग्निपदस्य मनोतापदसमानाधिकरणत्वेनैन्द्रीन्यायेन प्रकृतापूर्वसाधनीभूतदेवतालक्षकस्यैवाऽङ्गीकारात् । मनोतापदं हि 'मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्ये'ति प्रैषे अवदीयमानयागीयपश्वाख्यद्रव्योद्देश्यत्वरूपदेवतात्ववाचिचतुर्थीयोगाद्देवतापरम् । तदुद्देशेन च मनोतानुवचनस्य प्रैषबलेन विध्यवगतेर्मनोतामन्त्रो देवताप्रकाशनार्थ

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १०३

एव । अतस्तत्समानाधिकरणमग्निपदमपि मन्त्रे देवतालक्षणार्थ-
मेव । लक्षणाऽपि च नाऽन्यधिष्ठानकत्वसम्बन्धेन, यतो धान्य-
शब्दवद्वायव्यादिपशौ सम्बन्धाभावाद्दूहः प्रसज्येत । तस्य त्व-
व्याप्यवृत्तित्वाद्याप्यवृत्तिसम्बन्धेन लक्षणासम्भवे चाऽव्या-
प्यवृत्तिसम्बन्धेन तदयोगाद् 'ग्निमुखा वै देवा' इत्यर्थवादा-
नुसारेणाऽग्निमुखत्वसम्बन्धेन लक्षणाश्रयणम् । अतश्च तस्य
वायव्यादिपशौ सम्भवेन "तस्यै श्रुत" मित्यादिवदनूहः ।
अत एवाऽऽग्नेयवेत्यत्राऽग्निपदलक्ष्यदेवतातद्धितोपपत्तिः । वि-
स्तरेण चैतद्दशमे(१) वक्ष्यते । अतोऽन्याप्यनिगदत्वाद्दूहाप्रस-
क्तेरलिङ्गमिदम् ।

एवं 'छागस्य वपाया'मिति मन्त्रस्य गोपशावतिदेशप्राप्त-
स्याऽनेकैर्गोपर्यायैरूहप्रसक्तौ 'उस्राया वपाया' इति मन्त्रवि-
शेषाम्नानं नियममात्रकरणलाघवायाऽर्थपरत्वमेव ज्ञापयति ॥५४॥

विधिशब्दश्च ॥ १-२-५५ ॥

ब्राह्मणारूयविधिशब्दश्च 'शतं हिमा' इति मन्त्रगतहिमाश-
ब्दव्याख्यार्थः 'शतं वर्षाणी'त्याद्यर्थवादरूपो मन्त्राणामर्थप्रत्या-
यनार्थत्व एवाऽत्रकल्पते, नाऽन्यथा । प्रयोजनं तु—

(२)अग्निहोत्रपदं नाम, (३)आधारे यागकल्पनम् ।

१. पू. मी. १०. ४. १४.

२. 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहे' ति मन्त्रस्य विवक्षितार्थत्वे
सत्येवा 'ग्निहोत्रं जुहोती' त्यत्राऽग्निहोत्रपदस्य कर्मनामधेयत्वं सि-
ध्यति । एतच्च १-४-४ अधिकरणे विचारितम् ॥

३. 'इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर' इत्याऽऽधाराङ्गत्वेन विहितेन मन्त्रेण देवता-
याः प्रापितत्वाद्द्वयदेवतासम्बन्धान्यथाऽनुपपत्त्या यागकल्पने द्वि-
तीयोक्तं (२-२-५) सङ्गच्छते ॥

- (१)मुख्यार्थे विनियोगोऽयं (२)आमिक्षा पय एव च ॥
 (३)मन्त्रक्रमबलीयस्त्वं (४)छागस्य नियमस्तथा ।
 (५)अग्नौ पृष्ठपदं मन्त्रलक्षणार्थं वदिष्यते ॥
 (६)अभिमर्शनमन्त्राणां विकल्पसौर्ये इष्यते ।
 (७)ऊहोऽथ नवमे यस्तु(८)आधारे मन्त्रबाधनम् ॥

१. मन्त्राणामर्थवत्त्वे सत्येव 'बहिर्देवसदनं दामी' त्यादिमन्त्राणां मुख्ये कुशलवनरूप एवार्थे विनियोगः न पुनरुलपराजिलवनादाविति तार्तीथीको निर्णयः (३-२-१) सङ्गतो भवति ॥

२. 'जुषन्तां युज्यं पयः' इति मन्त्रस्याऽर्धप्रकाशकत्वे सत्येव तत्प्रतिपादितं पय एवाऽऽमिक्षापदवाच्यं न तु दध्यपीति चातुर्थिको निर्णयः (४-१-९) उपपद्यते ॥

३. आग्नेयाऽग्नीषोमीययोः ब्राह्मणपाठक्रमस्याऽन्यथात्वेऽपि मन्त्रपाठक्रमदेव तयोः क्रमः । ब्राह्मणपाठोपक्षया अन्तरङ्गत्वेन मन्त्रपाठस्य प्राबल्यादिति पाञ्चमिको (५-१-९) निर्णयः मन्त्राणां विवक्षितार्थत्व एव घटते ॥

४. एवमग्नीषोमीयपशुयागाङ्गभूतमन्त्रे 'छागस्य वपाया मेदस' इत्यस्मिञ्छागपदश्रवणाद्यागीयः पशुरज एवेति निर्णीतं षष्ठाष्टमन्त्याधिकरणे ॥

५. पृष्ठैरुपतिष्ठत' इति चयनप्रकरणे श्रुते वाक्ये पृष्ठशब्दः पृष्ठस्तोत्रसाधनरथन्तराद्याधारभूतऋग्लक्षक इत्युक्तं सप्तमत्तृतीयाऽन्त्याधिकरणे ॥

६. 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्पञ्चहोत्राऽमावास्या' मिति पौर्णमास्यमावास्याकालिकयागीयहविरभिमर्शनाङ्गत्वेन विहितयोः 'पृथिवी होते' त्यादिमन्त्रयोः सौर्येष्टौ विकल्पेन प्राप्तिः । तस्योभयकालिकाग्नेयद्वयविकृतिवत्त्वादिस्त्युक्तमष्टमप्रथमषष्ठे ॥

७. नवमे मन्त्राणां प्रकृतौ पठितानां प्राकृतकार्यभिन्नकार्यप्रकाशकत्वेन विकृतावूह उक्तः ॥

८. वायव्यपशौ 'हिरण्यगर्भस्समवर्तताऽग्र इत्याधारमाधारयतीति विहितस्य वैशेषिकमन्त्रस्य प्राकृते 'न्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर' इति मन्त्रबाधकत्वमुक्तं दशमत्तृतीयद्वितीयाधिकरणे ॥

सिद्धान्तः] प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १०५

(१) मन्त्रावृत्तिर्दीक्षितस्याऽभिवृष्ट्यादिदर्शने ।

(२) तथा करणमन्त्राणां विकल्पो द्वादशेऽपि यः ॥

सर्वमेतत्तदा सिध्येन्मन्त्रार्थश्चेद्विवक्षितः ।

तस्मादर्थप्रसायनार्था मन्त्रा इति सिद्धं प्रामाण्यम् ॥५५॥

इति मन्त्राधिकरणम् ॥ ४ ॥

मीमांसांशुनिधिं प्रमथ्य विविधैर्न्यायोच्चयैर्निर्जरैः

कृत्वा जैमिनिसूत्रमन्दरममुं वेदं तथा वासुकिम् ।

यद्गालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः

श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥

श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।

मीमांसाकौस्तुभाख्या प्रथमेऽध्याये द्वितीयाङ्घ्रिः ॥

इति पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीणश्रीरुद्रदेवसूनोः

खण्डदेवस्य कृतौ मीमांसाकौस्तुभे प्रथमाध्याये

द्वितीयः पादः समाप्तः ॥



१. दीक्षितस्य प्रयाणमध्ये वृष्ट्यादिसम्भवे पठनीयत्वेन विहितस्य मन्त्रस्य प्रतिनिमित्तमावृत्तिरित्युक्तमेकादशे ॥

२. 'भगो वां विभजत्व' त्यादिकरणमन्त्राणां त्रीहियववद्विकल्प इति द्वादशतृतीयत्रयोदशाऽधिकरणे निर्णीतम् ।

सर्वमेतन्मन्त्राणां विवक्षितार्थत्व एव साधु सङ्गच्छते । अविवक्षितार्थत्वे तु प्रतिपादनीयस्यैवाऽर्थस्याऽभावात्सर्वमिदं दत्तजलाञ्जलि स्यादिति भावः ॥

१४ मी० कौ०

॥ श्रीः ॥

मीमांसाकौस्तुभः ॥

(द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।)

अथ प्रथमं प्रतिपदाधिकरणम् ॥ १ ॥

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो
विधीयते ॥ २-१-१ ॥

(विषयसंशयौ)

एवमुक्तेषु धर्मप्रमाणेष्वधुना प्रमेयभूतं धर्मस्वरूपं निरूप्यते । तत्राऽपि धर्मप्रमाणेषूक्तेषु अर्थादेतत्प्रमाणप्रतिपाद्यो धर्म इत्येव सामान्यतो धर्मस्वरूपावगतावपि कात्स्नर्येन तदनवगमादिदानीं धर्मस्वरूपस्य विशेषतोऽवगत्यै तद्गतानेकत्वरूपो भेदो निरूप्यते । अतश्चोत्सर्गापवादाभ्यां भेद एवाऽध्यायार्थः । तत्राऽपि प्राधान्येन भावनाभेदो निरूप्यते । धात्वर्थभेदस्तु तत्सिध्यर्थम् । अवच्छेदकीभूतधात्वर्थभेदेन तदवाच्छिन्नभावनाया भेदस्य(१)शब्दान्तराधिकरणे वक्ष्यमाणत्वात् । इदं च प्रायिकम् । अत एव धात्वर्थभेदाभावेऽपि गुणादिप्रमाणेनाऽऽपतन्भावनाभेदोऽपि गुणफलाधिकारेऽङ्गीक्रियत एवेति वक्ष्यते । अपूर्वभेदस्तु भावनाभेदानुनिष्पादितया । सति हि व्यापाररूपभावनाभेदे(२) फलभेदाधीनत्वाच्चापारभेदस्य फलभूतापूर्वभेदसिद्धिः

सुलभैव । अतश्च धात्वर्थभेदापूर्वभेदयोर्भावनाभेदसिद्ध्यर्थत्वा-
त्फलस्वरूपत्वेऽपि प्राधान्येन भावनाभेदस्यैव शब्दान्तरादिभिः
षड्भिः प्रमाणैः प्रतिपाद्यत्वात् स एवैकोऽध्यायार्थः ।

तत्र च 'मानार्थीना मेयासिद्धि' रिति न्यायेन प्रमाणनिरूपण-
स्य धर्मस्वरूपनिरूपणं प्रति हेतुत्वात्(१) तदनन्तरमेतदारम्भोना-
ऽयुक्तः । अङ्गत्वादिनिरूपणस्याऽपि प्रमाणाधीनत्वे सत्यपि भेदा-
पेक्षत्वस्याऽप्याधिकत्वादयमेव भेदनिरूपणावसरः । तत्र च(२)
प्रतिपाद्यस्य भावनाभेदस्याऽपूर्वभेदाधीनत्वात् अपूर्वस्य च सा-
क्षाद्भावनाजन्यत्वाभावेन द्वारीभूतधात्वर्थादिजन्यत्वप्रतीतिः त-
द्भेदादेव भेदोऽवसीयते, नाऽन्यथा; व्यापकाभावे व्याप्याभा-
वस्य नियतत्वात् । धात्वर्थादीनां चाऽपूर्वजनकता फलकरण-
त्वाधीनेति प्रथमं फलसम्बन्ध एव किं धात्वर्थस्य ? उत सोमा-
दिद्रव्यस्य ? इति विचार्यते ।

यद्यपि च "व्रीहीनवहन्ति, व्रीहीन्प्रोक्षाती" त्यादेः द्वि-
तीययैव व्रीहादेः कर्मत्वावधारणात् परिक्षेपेणैव धात्वर्थस्य क-
रणत्वावगतेः, "दधना जुहोति" "दधनेन्द्रियकामस्य जुहुयादि"
त्यादेश्च होमस्य प्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वात् विधेयस्य गुणस्यैव क-
रणत्वावगतेस्सन्देहाभावेन नोदाहरणत्वम्, अत एव एतदधि-
करणापवादभूते(३) "तानि द्वैध" मित्यादौ(४) इन्द्रियकामाधि-
करणे च तयोरुदाहरणत्वमिष्टम्, तथाऽपि "सोमेन यजेत"(५)
"सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम" इत्यादौ किं होमादीनां
फलभावनाकरणत्वं ? उत धात्वर्थस्यैव तदिति विचार्यते ।

१. तदनन्तरमेव तदारम्भ इति. क. पु.

२. प्रतिपाद्यभावनेति. क. पु.

४. पू. मी. २. २. १०.

३. जै. सू. २. १. ६.

५. तै. सं. २. ३. २.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

(सङ्गतिः)

अत्र चाऽपूर्वभेदोपयोगिचिन्तनस्य पादार्थत्वादपूर्वभेदस्य चाऽध्यायार्थभूतभावनाभेदफलत्वात् पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । अनन्तरा तु सुवाद्यवदानानां कार्यविशेषे निरूपिते सम्प्रति स्वर्गादिरूपकार्यस्य कारणाविशेषनिरूपणाद्गृह्यया । एताद्विचारोपो-द्धातत्वेनाऽपि किं सर्वेषामेव फलभावनाकरणत्वं, उत इतरपदार्थविशेषितस्यैकस्यैवेति चिन्तनीयम् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्राथमिकभावनासम्बन्धस्य हि तावत्सर्वेषामेव पदानां सिद्धान्तिनोऽपि सम्मतत्वात् पार्ष्टिकः फलान्वयोऽपि सर्वेषामेवाऽगृह्यमाणविशेषत्वाद्द्वक्तुमुचितः, न त्वेकस्यैव फलान्वयः, इतरेषां तु तदर्थत्वमिति । न हि गृह्यते विशेषो यदेकस्यैव, करणत्वं नेतरेषामिति । समानपदश्रुत्या धात्वर्थस्य, कारकश्रुत्या सोमादीनामपि चाऽविशेषेण फलभावनाकरणत्वप्रतीतेः, सति सम्भवे प्रधानान्वयस्य न्याय्यत्वाच्च । एकस्य फलान्वायिनः फलगुणान्वये वैरूप्यस्य मत्वर्थलक्षणया वा प्रसङ्गापत्तेश्चा(१)अतश्च सर्वेषां फलसाधनत्वादेकेनाऽपि वाक्येन तत्तत्करणभेदाभिन्नभावनाविधानोपपत्तेः सत्रे एकैकस्य फलभोक्तृत्ववदेकैकस्य प्रत्येकमेव फलसाधनता । तावत्फलार्थिनस्तु सहप्रयोगेऽपि न क्षतिरिति केचित् । भिन्नप्रयोगविधिविहितानां सहप्रयोगे प्रमाणाभावेन(२)एकार्थत्वेन काम्यकर्मणामिव विकल्प एवेत्यन्ये ।

वस्तुतस्तु द्रव्यक्रियादिरूपेण करणानां भेदेऽपि तेषां परस्परसापेक्षत्वात् भावनाभेदकत्वानुपपत्तेरेकस्यां च भावनायां तृतीयादिबलेन करणानां नैरपेक्षयावगमेऽप्यरूपैकहायन्योरिव

१. अतश्चेति नास्ति. क. पु.

२. एकार्थानेककाम्येति. क. पु.

द्रव्यक्रिययोः परस्परापेक्षत्वस्वाभाव्येन तृतीयाद्यवगतनैरपेक्ष्य-
स्य(१)चोपादेयतावत्करणातिरिक्तविषयत्वाभ्युपगमात् दर्शादि-
वच्चैकपदोपादानाभावेऽप्येकवाक्योपादानात् साहित्यप्रतीतेस्त-
स्य चोपादेयगतत्वेन विवक्षितत्वात्समुच्चितसाधनत्वाभावेऽपि
साधनानां समुच्चयोपपत्तिरिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अनेकादृष्टकल्पनापत्तेर्न सर्वेषां फलसम्बन्धः । तथा हि—
फलतद्भावनाभेदाङ्गीकारे तावत् पक्षद्वयेऽप्यदृष्टभेदस्स्पष्ट एव ।
भावनैकधाङ्गीकारेऽपि च सत्यपि परमापूर्वैक्ये तत्तत्करणजन्यो-
त्पत्त्यपूर्वभेदावश्यम्भावादानेकादृष्टकल्पना । न च करणानां पर-
स्परसापेक्षत्वेन क्रमिकत्वाभावादेकमेवोत्पत्त्यपूर्व कल्प्यतामिति
वाच्यम् , तृतीयादिनाऽवगतस्याऽन्योन्यानिरपेक्षकरणत्वस्य का-
र्यनिरूपितत्वावश्यम्भावात् फले फलापूर्वे वा तदसम्भवेनोत्प-
त्त्यपूर्वनिरूपितत्वावगतेस्तद्भेदस्याऽपरिहार्यत्वात् । अत एव द-
धिपयोयागयोः क्रमिकत्वाभावेऽपि व्युत्पत्तिवाक्यावगतनैरपेक्ष्यव-
लादेवोत्पत्त्यपूर्वभेदोऽङ्गीकृतः श्रीगुरुचरणैः । अतोऽनेकादृष्टक-
ल्पनापत्तेरगत्या प्रधानसम्बन्धत्यागो मत्वर्थलक्षणाङ्गीकरणं च
न विरुध्यते । तेन धात्वर्थविशिष्टसोमादिविधानं सोमादिवि-
शिष्टधात्वर्थविधानं वा नाऽनुपपन्नम् । तथा हि—

धात्वर्थात्फलपक्षे तस्मादेवाऽपूर्वम्, सोमादीनां तु दृष्टविधयैव
धात्वर्थाङ्गत्वम् । एवं सोमादिभ्यः फलपक्षे तेभ्य एवाऽपूर्वम्,
धात्वर्थस्तु निर्व्यापाराणां सोमादीनां फलजनकत्वानुपपत्तेराश्र-
यत्वेन दृष्टविधयैव सोमाद्युपकारकः । विशिष्टविधिना सोमाद्य-
ङ्गत्वस्वीकाराच्चाऽश्रयस्य प्राकरणिकत्वाभावेऽपि न क्षतिः ।

तेनाऽनेकादृष्टकल्पनाभावादितरविशिष्टस्यैकस्यैव फलसम्बन्धः ।

न च विनिगमनाविरहात्सर्वेषामेव फलसम्बन्धसिद्धेरनेकादृष्टकल्पनमपि फलमुखत्वान्न दोषमावहतीति वाच्यम्, भावार्थाधिकरणे वक्ष्यमाणरीत्या विनिगमकस्य सत्त्वात् । तस्मादेकस्यैव फलसम्बन्ध इति सिद्धम् ॥

इति प्रथमं प्रतिपदाधिकरणम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं भावार्थाधिकरणम् ॥ २ ॥

(संशयः)

यदा चैकस्य तदा किं धात्वर्थस्य ? उत उपपदार्थस्य ? इति विचार्यते ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र फलस्य साध्यत्वात्सिद्धरूपसाधनापेक्षायां योग्यत्वात्सोमादेरेव करणत्वेनाऽन्वयो न त्वसिद्धस्य धात्वर्थस्य । साध्यस्य साध्येन(१)तत्त्वेनाऽसम्बन्धात् । अतश्च योग्यतारूपलिङ्गात्तावत्सोमादेरेव करणत्वम् ।

न च शब्दगतप्रत्यासत्त्या धात्वर्थस्यैव कथञ्चित्स्वकारकसम्पादनेन योग्यतामापन्नस्य करणत्वावगतेः पदश्रुत्या लिङ्गं बाध्येतेति वाच्यम् । फलपदापेक्षया द्वयोरपि पदान्तरोपात्तत्वेन फलसम्बन्धे पदश्रुत्यभावात् । प्राथमिकभावनासम्बन्धे विद्यमानाया अपि तस्या विरोधाभावेन सोमाद्यन्वये बाधकत्वाभावाच्च । न हि प्राथमिको भावनान्वयस्सोमादीनां सिद्धा-

न्तिनोऽनभिमतः, समुपाद्याधिकरणे सर्वेषां भावनान्वयस्य व्यु-
त्पाद्यमानत्वात् ।

न च यस्य यस्य भावनासम्बन्धे यद्यत्प्रमाणं तद्गतबलव-
त्त्वेनैव पार्ष्टिकफलसम्बन्धे निर्णयाङ्गीकरणात् धात्वर्थस्य च पद-
श्रुत्या भावनान्वयात् तस्यैव फलसम्बन्धोपपत्तोर्लिङ्गबाधोपप-
त्तिरिति वाच्यम् । तर्हि सोमाद्यन्वयबोधिकायाः कारकश्रुतेः पद-
श्रुत्यपेक्षयाऽपि प्रबलत्वेन तथा लिङ्गोज्जीवनात् । तथा हि—

पदश्रुतिर्हि सन्निधानत्वात् स्थानरूपा भवेत् एकवाक्यगतस-
न्निधानत्वाद्वाक्यरूपा वा, उभयथाऽपि श्रुत्यपेक्षया दौर्बल्यम् ।
अस्तु वा एकपदत्वात् श्रुतिरूपत्वम् । न ह्यत्र संसर्गोऽन्यसंसर्गवत्सं-
सर्गविधया भासते । तथा सति 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत'
इति साहित्यरूपसंसर्गशिऽनुशासनवैयर्थ्यापत्तेः । अपि तु
पदार्थविधयैव शक्त्या निरूढलक्षणया वा । अतश्च यद्यपि एकप-
दस्थले सामान्यतोऽन्वयस्याऽप्युपात्तत्वाच्छ्रुतिरूपत्वं, तथाऽपि
सोमादौ करणतारूपविशेषस्य तृतीयया शक्त्यैवोपात्तत्वात्कार-
कश्रुतेर्बलवत्त्वमिष्टमेव । अतश्च तदुपजीवितेन लिङ्गेन सोमादी-
नामेव पार्ष्टिकफलसम्बन्धावगमाद्धात्वर्थो यथैव(१)स्वर्गका-
माधिकरणन्यायेन भाव्यत्वात्प्रच्यावितस्तथैव करणत्वादपीति
पदश्रुत्या इतिकर्तव्यतांशे निपततीति सिद्धं धात्वर्थविशिष्टस्य सो-
मादेरेव फलकरणत्वमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—न सोमादेः फलसम्बन्धः । स हि भाव-
नान्वयनैरपेक्षेण वाऽभ्युपगम्यते ? उत तदन्वयोत्तरकालं वा ?
नाऽऽद्यः, कारकाणां परस्परान्वयानङ्गीकारात् । भावनावाचिनः

कृञो हि सम्बन्ध्यर्थके णुलादिप्रत्यये कृते कारकादिशब्दव्यु-
त्पत्तेः क्रियासम्बन्धित्वमेव कारकत्वम् । तदसति क्रियासम्बन्धे
बाधयेत । अतो न कारकाणां परस्परसम्बन्धः । सोमादिपदानां
फलपदान्वये फलपदस्य च भावनापदान्वये फलपदातिरिक्तसु-
बन्तार्थप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति फलपदजन्योपस्थितिः
कारणं, फलप्रकारकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति च प्रत्ययज-
न्योपस्थितिरित्यनेकार्थकारणभावकल्पनागौरवापत्तेश्च । अतो
लाघवात्सर्वेषां कारकाणां भावनायामेवाऽन्वयान्न तावत्सोमादे-
स्तदन्वयनैरपेक्षयेण फलान्वयोऽभ्युपगन्तुं युज्यते । तेन भाव-
नान्वयोत्तरं पार्ष्टिकः फलान्वयो वाच्यः । स चाऽसौ भावनाव-
च्छेदकीभूतस्य धात्वर्थस्यैव वक्तुमुचितो न तदनवच्छेदकीभूता-
नां द्रव्यगुणादीनाम् । अतो धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धो युक्तः ।

सूत्रं तु-ये भावनावच्छेदार्थाः कर्मशब्दाः धात्वर्था इति
यावत् । तेभ्य एव, अपूर्वोत्पत्तिरूपा वा फलोत्पत्तिरूपा वा क्रि-
या, प्रतीयेत । कुतः? एष ह्यर्थो विधेयफलभावनावच्छेदकत्वेन
सम्बन्ध्यते, न तु द्रव्यगुणादिरूपः इति व्याख्येयम् ॥ १ ॥

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥ २-१-२ ॥

ननु धात्वर्थस्याऽपि न कारकत्वातिरिक्तसम्बन्धेन भाव-
नावच्छेदकता, पचति पाकं करोति पाकेन करोत्योदनमित्येवं-
प्रकारेणैव विवरणात् । तच्च कारकत्वं द्रव्यगुणादिष्वप्यविशि-
ष्टमिति भावनावच्छेदकत्वाविशेषात्सर्वेषामेवं फलसम्बन्धप्रसक्तौ
योग्यतारूपलिङ्गाद्द्रव्यादेरेव फलसम्बन्धोपपत्तिरिति चेत् ॥ २ ॥

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि,
तस्मात्तेभ्यः पराऽऽकाङ्क्षा, भूतत्वात्स्वे
प्रयोगे ॥ २-१-३ ॥

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्या-
ख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेत ॥ २-१-४ ॥

न सोमादेः फलसम्बन्धः, तथात्वे प्रतिपदाधिकरणोक्त-
स्याऽनेकादृष्टकल्पनप्रसङ्गस्याऽनिवारणात् । तथा हि—सोमात्ता-
वदेकमपूर्वमावश्यकम् । यागस्याऽपि न दृष्टविधया सोमोपकारक-
त्वमिति ततोऽप्यपरं कल्प्यम् । यागस्याऽऽश्रयत्वेन दृष्टविधयैव
सोमोपकारकत्वमिति चेत्, किमिदमाश्रयत्वं नाम ? अवान्त-
रव्यापाररूपत्वं वा, जन्यत्वमात्रं वा, संस्कारकत्वं वा ? नाऽऽद्यः ;
तथा सति यागस्याऽपि फलजनकत्वावश्यम्भावात् तस्य
चाऽपूर्वमन्तरेणाऽनुपपत्तेः । न हि यागसोमयोरेकापूर्वजनकत्वं
सम्भवति । अपूर्वस्य शक्तिरूपत्वेन शक्तिमद्भेदे भेदस्याऽऽवश्य-
कत्वात् ।

न द्वितीयः ; यागानुष्ठानस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः । न
ह्यस्येन्द्रियकामादिहोमवत्प्रयोजनान्तरं क्लृप्तमस्ति । अतश्च तस्य
फलान्तरकल्पने पुनरदृष्टान्तरकल्पना तदवस्थैव ।

नाऽपि तृतीयः ; यागस्याऽवघातादिवत्संस्कारकत्वायोगेन
प्रोक्षणादिदृष्टद्वारकत्वावश्यम्भावात् । अतश्च यागस्य फल-
सम्बन्धे तस्मादेवाऽपूर्वम् । सोमादेस्तु सत्यपि प्राथमिके भाव-
नाकरणत्वे पार्थिकफलसम्बन्धाङ्गीकारे अपूर्वान्तरकल्पनापत्तेः ।

दृष्टविधया यागसम्बन्ध एव पार्थिवोऽङ्गीक्रियते । तेनाऽदृष्टकल्पनालाघवार्थं धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धः ।

अयमेव चाऽर्थो धातूपपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेण(१)सूत्र-कृतोक्तः । येषामुच्चारण एव स्वे वाच्ये निष्पन्नरूपस्योपलब्धिः, तानि नामानि । तस्मात्तेभ्यस्साधनाकाङ्क्षा, परादूरे । नाऽस्तीति यावत् । तदुच्चारणकाल एव तदर्थानां सिद्धत्वप्रतीतिः । अतस्तत्साधनत्वेन यागादिविधानं न दृष्टविधयोपयुज्यत इत्यदृष्टं कल्प्यम् ।

येषां तूत्पत्तौ उच्चारणकाले, स्वेऽर्थे प्रयोगो न विद्यते, स्वार्थो न विद्यत इति यावत् । तान्याख्यातानि । तस्मात्तदर्थेभ्यो निष्पन्नरूपत्वेन प्रतीयमानेभ्यस्साधनाकाङ्क्षा झटिति प्रतीयेत । अतस्तत्साधनत्वेन विधीयमानं सोमादि दृष्टविधयैवोपयुज्यत इत्यनेकादृष्टकल्पनाभावाद्धात्वार्थादेव फलमिति भावः ॥ ३, ४ ॥

ननु सम्भवत्यपूर्वाख्यावान्तरव्यापारद्वारा सोमादेः फलकरणत्वे क्रियारूपाश्रयव्याप्यत्वं विना फलकामनायां सत्यां स्वत एवाऽपूर्वोत्पत्तिद्वारा फलोत्पत्तिप्रसङ्गेन विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गादाश्रयाकाङ्क्षोपपत्तेराश्रयस्याऽपि च गुणनिष्ठकृतिफलजनकतानिर्वाहार्थत्वेन दृष्टविधयैवेन्द्रियकामहोमवत्फलान्तराभावेऽपि सोमाद्यङ्गत्वोपपत्तेर्नाऽनेकादृष्टकल्पना । सत्यामपि चाऽनेकादृष्टकल्पनायां, सत्यपि गुणनिष्ठकरणता(२)निरूपकयागनिष्ठकरणत्वकल्पनाकृते गौरवे सोमादीनामपि भावनावच्छेदकत्वाविशेषात्प्रथमसूत्रोक्तं धात्वर्थस्यैव भावनावच्छेदकत्वं नैवोपपादितमि-

त्यत आह—

आश्रितत्वात्प्रयोगस्य ॥ २-१-५ ॥

यद्यपि(१)तावत्प्राथमिकभावनासम्बन्धब्रह्मणो सोमादेरपि
करणत्वमविशिष्टं, तथाऽपि पार्ष्टिकः फलसम्बन्धो यद्गतं प्राथ-
मिकभावनासम्बन्धबोधकप्रमाणबलवत्त्वं, तस्यैव वक्तुमुचितो
नाऽन्यस्य । धात्वर्थस्य च तत् । तथा हि—यद्यपि तावत्सोमादेः
करणत्वं श्रुत्या, लक्षणया च धात्वर्थस्य, तथाऽपि प्रत्ययार्थस्य
भावनायाः प्रकृत्यर्थं प्रति “तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येने” ति
स्मृत्या प्राधान्यस्याऽनुशासितत्वात् ‘व्रीहीनवहन्ती’तिवत्प्राधा-
न्येऽवगते यागस्य श्रुत्यैव तदङ्गत्वोपपत्तिः ।

न च प्राधान्यस्याऽनुशासनेऽपि प्रत्ययस्य भावनामात्र
एव शक्तिकल्पनेन तत्प्राधान्यस्य लक्षणादिनाऽपि भानोपपत्तौ
तत्र शक्त्यकल्पनान्न ‘व्रीहीनवहन्ती’तिवत्प्राधान्यस्य श्रौतत्वेना-
ङ्गस्य श्रौतत्वमिति वाच्यम् । सत्यपि प्राधान्यस्य लाक्षणिक-
त्वे ‘परिपूर्णं पदं पदान्तरेणाऽन्वेती’ति न्यायेन सोमादिपदानां
भावनापदान्वये तस्य परिपूर्णत्वापेक्षणात्ततः पूर्वमेव यागादेरङ्ग-
त्वावगतेः तदुत्तरभाविनस्सोमाद्यङ्गत्वस्य दौर्बल्यात् । अतश्च
यथैवाऽऽग्नेयादिवाक्येऽष्टाकपालादीनां करणत्वस्य लाक्षणिक-
त्वेऽपि उपजीव्यत्वेन पूर्वभावित्वात्तदुत्तरभाविश्रौतमपि ‘व्रीहि-
भिर्भजेते’ त्यादौ व्रीहीणां करणत्वं परस्परसम्बन्धेनैव निर्वा-
ह्यते, एवं सोमादेरपीति सिद्धं धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धस्सोमा-
दीनां तदर्थतेति ।

प्रयोजनं तु—सर्वेषां फलसम्बन्धपक्षे विहितयोः क्रिया-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ११

द्रव्ययोरसम्भवे काम्ये सङ्कल्पोत्तरं, नित्ये ततः पूर्व-
मपि न प्रतिनिध्युपादानम् । उभयोरदृष्टार्थत्वेन प्रयाजादिवत्प्रति-
निध्यभावात् । प्रारब्धप्रयोगापरिसमापननिमित्तदोषपरिहारार्थं
तु यत्किञ्चिदनियतद्रव्यक्रियोपादानेन प्रयोगसमापनामिष्टमेव ।
न चैतावता तस्य प्रतिनिधित्वम्, सदृशनियमे प्रमाणाभावेन प्रति-
निधित्वानुपपत्तेः । एवं सोमादेः फलसम्बन्धपक्षेऽपि तस्याऽ-
दृष्टार्थत्वात्तदपचारे न तत्प्रतिनिध्युपादानम् । प्रक्रान्तसोमप्र-
योगस्तु यत्किञ्चिदसदृशमपि द्रव्यं गृहीत्वा समापनीय एव ।
न च प्रधानाभावे कथं प्रयोगसमाप्तिः? शिष्टविगर्हणान्यथानुपपत्त्या
प्रयोगसमाप्तिं प्रति कामनादिवत्प्रयोगप्रक्रमस्याऽप्यनुष्ठापक-
त्वस्य (१)षष्ठे वक्ष्यमाणत्वेन प्रधानसत्त्वासत्त्वयोरकिञ्चित्कर-
त्वात् । न ह्यत्र प्रधानफलं स्वर्गाद्युत्पद्यते यत्प्रधानासत्त्वे नो-
त्पद्येतेत्याशङ्कते । तस्य तु साङ्गादेशोत्पत्तेर्नैतादृशे विषये उ-
त्पत्तिसम्भवः ।

यत्तु नित्यस्थले प्रसवायध्वंसादि, तत्कामं प्रधानाभावे नो-
त्पद्यताम् । न त्वेतावता शिष्टविगर्हणान्यथानुपपत्तिकल्पितदोषप-
रिहारार्थं प्रयोगो न समापनीयः, प्रयोगारम्भस्यैवाऽनुष्ठापकस्य
सत्त्वात् । अतो यत्किञ्चिद्द्रव्यमुपादाय प्रयोगसमापनं युक्तमेव ।
न चैतावता प्रतिनिधित्वम्, सदृशनियमे प्रमाणाभावेन तत्त्वानुप-
पत्तेः । सिद्धान्ते तु सोमादेर्दृष्टार्थत्वेन युक्तस्तदपचारे प्रतिनिधिः ।

यत्तु मूले श्येनोद्भिदादिपदानां नामतासिद्धिरपि विचा-
रप्रयोजनम् । श्येनादिपदार्थस्य फलसम्बन्धे धात्वर्थसामाना-
धिकरण्या(२)सम्भवोन्न श्येनादिपदानां नामत्वम् । अत एव त-
द्विचारोऽप्यार्थादेतदधिकरणोत्तरं द्रष्टव्य इत्युक्तं, तदनादृशत् ।

तथा हि—न तावद्गुणविधित्वनिराकरणार्थानां मत्वर्थलक्षणा-
दिहेतूनामेतदधिकरणात्पूर्वमसम्भवः । एतदधिकरणपूर्वपक्षिणो-
ऽपि यागवता सोमेनेत्येवं मत्वर्थलक्षणया, विशिष्टविधिगौरवादे-
श्च सोमादिवाक्ये अवश्याङ्गीकार्यत्वेन तद्धिया उद्धिदादिवा-
क्ये उद्धित्पदार्थस्याऽपि यागरूपत्वाङ्गीकारौचित्यात् । अतश्चो-
द्धित्पदार्थस्यैव फलभावनाकरणत्वम् , यजिपदं (१)त्वर्थविशेष-
ग्राहकमित्येवंविधः परं पूर्वपक्षोऽस्तु । न त्वेतावता नामत्वसिद्धिः,
मत्वर्थलक्षणादिदोषस्य सिद्धान्तवत्पूर्वपक्षेऽप्यविशेषात् । ये तु
धातुपरार्थ्यवाक्यभेदतत्प्रख्यतञ्चपदेशादिहेतवः ते न धात्वर्थ-
करणत्वापेक्षा इति तन्निरूपणोत्तरमिव ततः पूर्वमप्युद्धावयितुं
शक्या एव ।

यदपि धात्वर्थस्य करणत्वासिद्धौ तृतीयान्तनामपदानां
धातुसामानाधिकरण्याभावान्न तन्निमित्तनामधेयत्वोपपत्तिरित्यु-
क्तं, तदुक्तहेतुभिः गुणविधित्वासम्भवे सिद्धे 'अग्निहोत्रं जु-
होती' तिवत्समभिव्याहारमात्रेणैव नामत्वेऽवगते सामानाधिक-
रण्यार्थं तात्पर्यग्राहकस्य यजेः करणत्वलक्षकत्वाङ्गीकारादुपे-
क्षणीयम् ।

तस्मात्पूर्वोक्तमेव प्रयोजनं ज्यायो न तु सूत्रकृतश्शून्यहृद-
यतापादिका नामत्वसिद्धिरपीति सिद्धम् ॥

सूत्रं तु—प्रयोगस्य प्रयुज्यमानाया भावनायाः, स-
मानपदोपात्तेन धात्वर्थेनैव पूर्वं, आश्रितत्वात् फलान्वयोऽप्यौ-
त्तरकालिकः तस्यैव स्यादित्येवं व्याख्येयम् ॥

ननु सर्वमिदं धात्वर्थातिरिक्तभावनासद्भावे समञ्जसम् । न
तु तस्यामेव प्रमाणं पश्यामः । तथा हि—पच्यादिधातवस्तावद्वि-

भावनविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १३

क्लृत्यादिरूपे फले तज्जनकव्यापारे च शक्ताः, न तु फलमात्रे तज्जनकव्यापारमात्रे वेत्याविवादम् । अन्यथा ग्रामो गमनवानि-
त्यादिप्रतीत्यापत्तेः । फलानुकूलव्यापारारम्भेऽपि फलानुत्पाद-
दशायां पाको भवतीति प्रयोगानापत्तेश्च । (१) व्यापारापगमेऽपि
फलसत्तादशायां पाको विद्यत इत्यस्याऽप्यापत्तेश्च । न च घञ-
न्तधातोः फलानुकूले व्यपारे शक्तिः, अन्यस्य फलमात्र इति
कल्पनान्नोक्तदोषापत्तिरिति वाच्यम्, अनेकशक्तिकल्पनापत्तेः । न
च तर्हि घञ एव व्यापारे शक्तिः, धातोस्तु फल एवेति वाच्यम् ।
घञो भावप्रत्ययत्वेन धात्वर्थान्तिरिक्तार्थवाचित्वानुपपत्तेः । पच्य-
र्थो विद्यते इत्यादिप्रयोगस्यैवंकल्पनायामपि निवारयितुमशक्य-
त्वाच्च । अतो न तावत्फलमात्रं धात्वर्थ इति मण्डनमतं युक्तम् ।

नाऽपि व्यापारमात्रे, त्यजिगम्योः पर्यायत्वापत्तेः । अतो
विकृत्यादिफले तज्जनकव्यापारे च तत्तद्धातूनां शक्तिः ।
साऽपि च न फलविशिष्टव्यापारे एका । तथात्वे फलस्य पदार्थै-
कदेशत्वात्पदार्थान्तरेणाऽन्वयानुपपत्तेः । अपि तु प्रत्येकमेव ।
तयोस्तु साध्यसाधनभावस्संसर्गबलभ्य इति न तत्राऽप्यति-
रिक्ता शक्तिः । शक्तावच्छेदकञ्च तत्तद्धातुत्वम् । शक्यतावच्छेद-
कमपि तत्तत्फलत्वं, तत्तत्त्रापारत्वं च । यथा पचतीत्यत्र विकृत-
त्तिः फलं तदनुकूलव्यापारश्चोभयं पच्यर्थः । व्यापारश्चाऽत्रात्म-
निष्ठः । प्रयत्नोऽधिश्रयणफूत्कारादिकञ्च शरीरगतम् । सर्वस्य
विकृत्यनुकूलत्वेन व्यापारत्वाविशेषात् । शक्तिश्च फूत्कारत्वा-
धस्सन्तापनत्वयत्नत्वादिना प्रत्येकमेव । न तु सर्वानुगता ।
अवच्छेदकमन्तरेण तस्य निर्वक्तुमशक्तेः ।

न चैवं सर्वकारकव्यापाराणां तत्त्वेन पच्यर्थत्वे नानार्थ-

कत्वापत्तिः, तदाश्रयत्वेन च सर्वकारकाणां कर्तृत्वापत्तेस्तृतीयाद्यनापत्तिश्चेति वाच्यम् । सत्यपि नानार्थत्वे तदादाविव बुद्धिस्थत्वस्य वक्तृविवक्षाया एव नियामकत्वात् । अतश्च यत्कारकव्यापारो यदा पच्यर्थत्वेन विवक्षितस्तदा तदाश्रयस्य कर्तृत्वं विवक्षितम् । अत एव काष्ठं पचति, स्थाली पचतीत्यादिप्रयोगोऽपि सङ्गच्छते । यदा तु तद्व्यापारो न विवक्षितः, तदा तदाश्रयस्य काष्ठादेर्धातूपात्तव्यापारजनकत्वेन करणत्वस्य विवक्षितत्वात् काष्ठैः पचतीत्यादिप्रयोगोऽपि नाऽसङ्गतः । अतस्सिद्धं पच्यादिधातूनां फलतद्व्यापारवाचित्वम् ।

किञ्च यत्राऽप्यस्ति, भवति, विक्लिद्यतीत्यादौ फलमेव स्पष्टं प्रतीयते न तु तज्जनको व्यापारः, तत्राऽपि व्यापारवाचित्वं धातोरव्याहृतमित्युक्तं, 'अस्त्यादावपि कर्त्रंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावने' त्येवंवदद्भिर्वैयाकरणैः, वार्तिककृता च, तदा कश्चिन्तस्सर्वजनानुभवसाक्षिकतया पच्यादौ प्रतीयमानस्य व्यापारसमूहस्य वाच्यत्वकल्पनामपह्नोतुम् ? अतश्च सर्वस्याऽपि फलानुकूलस्य यत्रादेर्धातुनैवोक्तत्वादाख्यातार्थत्वासम्भवेन प्रत्ययवाच्याया घात्वर्थातिरिक्तभावनाया असम्भवः ।

न चैवं तिङ्ार्थाभावः । फलव्यापाराश्रयस्यैव कर्मकर्त्रादिरूपस्य तिङ्ार्थत्वात् । तत्राऽपि फलव्यापारयोर्धातुलभ्यत्वादाश्रयत्वमेव लाघवाच्छक्यतावच्छेदकम् । एवमेकत्वादिसङ्ख्याऽपि (१) तिङ्ार्थः । वर्तमानादिकालश्च लडाद्यर्थः । प्रवर्तना च लिङ्ार्थः । तत्र फलं व्यापारं प्रति विशेषणम् । कर्म च फलं प्रति । कर्ता व्यापारं प्रति । सङ्ख्या कर्तृकर्मविशेषणम् । कालादिकं तु व्यापार एव, तथैवाऽनुभवात् । अतश्च सर्वत्र व्यापारविशे-

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १५

एक एव बोधः ।

न चैवं “प्रकृतिप्रस्यौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येने” ति स्मृत्या प्रत्ययार्थस्य(१)प्राधान्यावगतेः कथं प्रकृत्यर्थस्य व्यापारस्य विशेष्यतेति वाच्यम् ? (२) “भावप्रधानमाख्यातमि”ति निरुक्तस्मृत्या भावशब्दवाच्यव्यापारस्य प्राधान्यावगतेः, तस्य च “धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते” इति वैयाकरणस्मृत्या धातुवाच्यत्वावगतेः, विशेषस्मृत्यनुरोधेन सामान्यरूपायाः प्रत्ययार्थप्राधान्यस्मृतेस्सुबादिविषयत्वेन व्याख्यानात् ।

वस्तुतस्तु नेयं प्रस्यार्थप्राधान्यस्मृतिः प्रत्ययार्थत्वावच्छेदेन प्राधान्यनियामिका, लिङ्गसङ्ख्यादेः प्रत्ययार्थत्वेऽपि प्राधान्यानङ्गीकारात् । नाऽपि प्रधानस्य सतः प्रत्ययार्थत्वनियमपरा, (३)“सत्त्वप्रधानानि नामानी” ति स्मृत्या लिङ्गसङ्ख्यादीन्प्रति प्रधानस्याऽपि प्रातिपदिकार्थस्य प्रत्ययार्थत्वाभावात् । किन्तु यत्रैव प्रमाणान्तरेण सुबर्थस्य करणत्वादेः प्रातिपदिकार्थं प्रति प्राधान्यं प्रसिद्धं, तदनुवादमात्रमियं स्मृतिरिति नाऽनया व्यापारस्य धात्वर्थत्वेऽपि विशेष्यताप्रतिबन्धः । एवं च पचतीति कर्त्राख्यातस्थले एकाश्रयको विकृत्यनुकूलो वर्तमानो व्यापार इति बोधः । पच्यते इति कर्माख्यातस्थले च एकाश्रयिका या विकृत्यतिस्तदनुकूला भावनेति । पचति देवदत्तः, पच्यते तण्डुल

१. विशेष्यत्वावगतेरिति. ख. पु.

२. भावो भावना । प्रधानं प्राधान्येन मुख्यविशेष्यतया प्रतिपाद्यं यस्य तादृशमाख्यातमिति यास्कवचनस्याऽर्थः॥(निरु.अ.१.खं.१.सू.९.)

३. सत्त्वं द्रव्यं प्रधानं विशेष्यतया प्रतिपाद्यं येषां तानि सत्त्वप्रधानानि ॥ (निरु. अ. १. खं. १. सू. ९.)

३, मी० कौ०

इत्यादौ देवदत्ततण्डुलयोः प्रथमान्तयोर्थथाक्रममाख्यातोपात्ताभ्यां कर्तृकर्मभ्यामभेदान्वयः । इतरकारकाणां तु यथायोगं साक्षात्परम्परासम्बन्धेन व्यापाररूपे धात्वर्थ एवाऽन्वय इति ध्येयम् ।

चैत्रेण स्थायत इत्यत्र भावाख्याते तु कर्तृकर्मणोरप्रतीतेः सङ्ख्याऽनान्वितैव, धात्वर्थान्विता वा । न चैवं धात्वर्थस्य द्वित्वादिविवक्षायां द्विवचनाद्यापत्तिः, अनुशासनबलेनैकवचनस्यैव साधुत्वात् । यत्तु उष्ट्रासिका आस्यन्त इति भावेऽपि बहुवचनं, तद्भाष्यकारवचनादत्रैव साधित्यवगन्तव्यम् । अतश्च क्वचिदप्याख्यातस्य भावनावाचित्वाभावात्कथं तस्यां समानपदश्रुत्या करणत्वावगतिरिति चेत्-न; धातोः फले तदनुकूलव्यापारे च शक्तिकल्पनायामपि धात्वर्थातिरिक्ताया आख्यातवाच्याया भावनाया अनपह्वात् ।

तथा हि—अनुकूलव्यापारो धात्वर्थ इति वदतोऽनुकूलत्वं किं जनकत्वमात्रमभिप्रेतम् ? प्रयोजकत्वसाधारणं वा ? नाऽऽद्यः, विक्लृत्तिरूपफलजनकीभूतशरीरगतक्रियाविशेषजनकस्याऽऽत्मगतस्य प्रयत्नादेः (१) उपक्षीणस्य फलाजनकत्वेनाऽसङ्ग्रहापत्तेः । न च तस्य पचतीत्यतोऽननुभवो देव तदसङ्ग्रहोऽप्यदोषः, पचति पाके यतत इत्येवंविधविवरणदेवाऽनुभवस्याऽपह्नौतुमशक्यत्वात् ।

न द्वितीयः, कृष्यादीनामप्यत्यन्तव्यवहितानां विक्लृत्ति-प्रयोजकत्वेन सङ्ग्रहापत्तेः । न च फलकारणतत्कारणीभूतव्यापारयोरेव ग्रहणमित्यत्राऽपि किञ्चिन्नियामकमस्ति, उभयप्रवेशस्य गौरवग्रस्तत्वात् ।

न च फलानुकूलत्वस्य शक्यतावच्छेदकत्वानङ्गीकरणात्

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १७

यत्नत्वाध्वसन्तापनत्वादीनां तत्त्वेन शक्यतावच्छेदकत्वाङ्गीकाराद्यावत्सु व्यापारेषु पचेः प्रयोगप्रतीतिस्तावतामेव वाच्यत्वकल्पनाच्चाऽतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । एवं तर्हि पचति पाके यतते, पाकं करोति, पाकं भावयतीत्यादिविवरणाद्यत्नादीनां पाकात्पृथक्करणेन यत्नादीनां पचौ सङ्ग्रहानुपपत्तेः ।

न च घञादिसमभिव्याहृतपच्यादेः फलमात्रबोधकत्वकल्पनादेव व्यापारस्य पृथग्विवरणोपपत्तिरिति वाच्यम् । तथात्वे व्यापारबोधकसामग्रीतो व्यापारबोधप्रसक्तौ तद्बोधं प्रति घञादिसमभिव्याहारस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने गौरवापत्तेः । तिवादिसमभिव्याहृतधातुत्वस्यैव व्यापारशक्ततावच्छेदकत्वकल्पने च कार्यकारणभावद्वयकल्पनस्य, शक्ततावच्छेदकगौरवस्य चाऽऽपत्तेश्च । घञादिसमभिव्याहृतधातुतो व्यापारानुभवापलापापत्तेश्च ।

न च विवक्षितस्यैव कारकव्यापारस्य पचिनोपादानाद्यत्नादीनां विवक्षाविरहादेव पृथक्करणोपपत्तिरिति वाच्यम् । देवदत्तः पचति, देवदत्तःपाके यतत इत्यत्र देवदत्तनिष्ठयत्नादेर्विवक्षावश्यम्भावात् । अन्यथा भवन्मते धातुपात्तव्यापाराश्रयत्वाभावाद्देवदत्तस्य प्रथमान्तत्वानुपपत्तेः । न च देवदत्तनिष्ठव्यापारान्तरविवक्षया तदुपपत्तिः, तथा सति पचतीत्यत्र भवन्मते यत्रबोधकशब्दाभावेन विवरणवेलायां यत्रानुवादानुपपत्तेः ।

अतोऽवश्यं पचतीत्यत्र भासमानोऽपि यत्रादिर्न पच्यर्थ इत्यभ्युपगन्तव्यम् । कस्तर्हि पच्यर्थ इति चेत् ? फलावच्छिन्नो व्यापार विशेष एव, यो वस्तुतः फलजनकः । फले तज्जनकव्यापारविशेषे च त्वद्गुक्तरात्स्यैव वा अतिरिक्ता शक्तिः । तयोस्तु जन्यजनकभावस्संसर्गबललभ्यः । अस्मिंश्च पक्षद्वये द्वितीयार्थः फलाश्रयत्वं, न तु फलमपि । तस्य धातुनैव लाभात् ।

अथवा व्यापारविशेष एव धातोऽशक्तिः, न तु फलेऽपि, गौरवात् । द्वितीयायास्तु फलमर्थः, न त्वाश्रयत्वमपि, तस्य प्रकृतिप्रत्ययसमभिव्याहारादेव बोधोपपत्तेः । नन्वेवं त्यजिगम्योः पर्यायत्वापत्तिः, संयोगानुकूलं हि कर्म गमेरर्थः, विभागानुकूलं त्यजेः । तद्यदि कर्ममात्रं धात्वर्थः, फलसामान्यं च द्वितीयार्थस्तदा त्यजिगम्योः(१) पर्यायत्वापत्तिः । तथा च ग्रामं गच्छतीति वक्तव्ये ग्रामं त्यजतीति प्रयोगापत्तिरिति चेत्—गमिधातुसमभिव्याहृतद्वितीयायास्संयोगरूपफलविशेषबोधकत्वं, त्यजिसमभिव्याहृतायाश्च विभागबोधकत्वमिति व्युत्पात्तिकल्पनेनोक्तातिप्रसङ्गनिरासात् ।

वस्तुवस्तु विजातीयफलानुकूलतावद्व्यापारविशेषानिष्ठा फलानुकूलान्तिमव्यापारनिष्ठा वा (२)यागत्वादिजातिरखण्डोपाधिरेव वा तत्तत्फलजनकतावच्छेदकतया सिद्धा तत्तद्भातुशक्यतावच्छेदिका सती तत्तद्भात्वर्थः । एवं कर्मत्वकर्तृत्वादिकमपि क्रियाजन्यफलशालित्वादिसमनियतं जातिरूपमखण्डोपाधिरूपं वा सामान्यमङ्गीकृत्य तस्यैव(३) द्वितीयार्थताऽवगन्तव्या । अत एव व्यासज्यवृत्तिकर्तृत्वं देवतात्वं चेति सिद्धान्तोऽपि सङ्गच्छते । अन्यथा आश्रयभेदेन प्रतिव्यक्तिभेदस्याऽऽवश्यकत्वात्कर्तृत्वैक्योपपादनानुपपत्तेः । तस्य च ससम्बन्धिकत्वाङ्गीकारान्निरूपकापेक्षायां करणादिना निरूपकेणाऽन्वयोऽपि नाऽनुपपन्नः । अस्मिंश्च पक्षे फलानुकूलव्यापारार्थकेषु(४) पद्यादिषु प्रयोज्यव्यापाररूपस्य फलस्य नाऽवश्यं शब्देनैव भानापेक्षा । पा-

१. पर्यायतापत्तिरिति क. ख. पु. २ पाकत्वयागत्वादिरिति ख. पु.

३. द्वितीयाद्यर्थताऽधिगन्तव्येति. क. पु.

४. पद्यादिधातुष्विति. क. पु.

भाषनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १९

कत्वादिसमनियतस्य विकृत्यनुकूलत्वादिधर्मस्याऽऽक्षेपेणैव भानोपपत्तेः ।

एवं प्रयोज्यव्यापाररूपफलवाचिष्वपि धातुषु भवति विक्रियतत्त्वादिषु वाच्येन(१)विकृत्यत्त्वादिसामान्येन स्वसमनियतस्य प्रयोजकव्यापारजन्यत्वस्याऽऽक्षेपेणैव बोधोपपत्तेर्न तदंशे(२)शब्दव्यापारकल्पना युक्ता । अत एवोभयत्र विवरणेन(३) नियमेन तेषामुल्लेखः । न हि पचतीत्यस्य विक्रियतीत्यस्य वा कृत्या विवरणं कचिन्नियतं दृश्यते । तस्मात्प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारयोरन्यतरवाचिषु धातुष्वितरप्रतीतिराक्षेपेणैवेति न तस्मिन्नपि शब्दव्यापारकल्पनावसरः । अत एवोक्तं वार्तिककृता(४) 'कदाचिदभिधीयमानकर्मशक्त्याक्षिप्तप्रयोज्यव्यापारो वा स्वयमेवाऽऽक्षिप्तप्रयोज्यव्यापारो वा केवलं प्रयोजकव्यापार एव विवक्ष्यते-घटं करोत्योदनं पचतीति । कदाचिदाक्षिप्तप्रयोजकव्यापारं प्रयोज्यव्यापारमात्रं-घटो भवति विक्रियन्ति तण्डुला' इति । तत्सिद्धं फलानुकूलयावद्व्यापारविशेषवर्ति अन्तिमव्यापारवर्ति वा पाकत्वयागत्वादिजातिरखण्डोपाधिर्वा तत्तद्भातुशक्यतावच्छेदकम् । शक्ततावच्छेदकं च तत्तद्भातुत्वमिति ।

अतश्च फलानुकूलव्यापारसमूहस्य पच्यर्थत्वेऽपि तदनुकूलस्य यत्रादेर्धात्वर्थात्पृथक्(५)विधियमाणस्य धात्वर्थत्वायोगात्, विवरणवेलायाश्च भासमानस्य भानकारणजिज्ञासायां धातोरन्यत्र व्यापृतत्वात्, पारिशेष्यात्तिवादेरेव तद्बोधकत्वमिति निश्चीयते । तत्र च पचति पाकं भावयतीत्यनुकूलव्यापारवा-

१. भवनविकृत्यत्त्वेति ख. पु. २. शब्दस्य व्यापारेति ख. पु.

३. विकृत्यनुकूलत्वादिना नियमेनेति. ख. पु.

४. त. वा. पु. ३४३ पं. २४. ५. क्रियमाणस्येति ग. पु.

चिणिजन्तभूधातुना विवरणात्सङ्गाहकलाघवाच्चऽनुकूलव्या-
पार एव तिङर्थो न तु यत्नमात्रम्, रथो गच्छतीत्यादौ रथे यत्ना-
सम्भवेनाऽव्यापकत्वात् । अतस्सर्वसाधारण्येनाऽनुकूलव्यापार
एव तिङर्थः । न च पाकं करोतीति यत्नार्थकेन कृञा विवरणा-
त्तिङोऽपि यत्नार्थकत्वम्, करोतेर्भावयतिपर्यायत्वेन यत्नार्थकत्वा-
सिद्धेः । यथैव हि घटो भवतीत्यादौ भवनकर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य
घटस्य तमपरो भावयतीत्यादौ भावयतिकर्मत्वं, एवं तमपरः
करोतीत्यत्र करोतिकर्मत्वमपि । अतश्च भवत्यर्थः(१)कर्तृकर्मक
त्वाविशेषात्करोतेर्भावयतिपर्यायो न यत्नार्थकः । अत एव रथो
गच्छतीत्यत्राऽपि करोतिना विवरणमविशिष्टम् ।

किञ्च यत्नार्थकत्वे करोतेर्यततेरिवाऽकर्मकतापत्तिः । अतश्च
सकर्मकत्वाकर्मकत्वरूपधर्मभेदान्न करोतियतसोः पर्यायत्वं, अपि
तु भावयतिपर्यायत्वमेवेति तद्विवरणमप्यनुकूलव्यापारवाचित्व
एव तिङस्साधकम् ।

यत्तु पचति पाके यतत इत्येवं यत्नेन विवरणं, तल्लाक्ष-
णिकम् । सङ्गाहकलाघवानुरोधेनाऽनुकूलव्यापारे शक्तौ गृही-
तायां यत्नत्वेन तद्बोधस्य लक्षणयाऽङ्गीकारात् । वरं च सामा-
न्यवाचकस्य पदस्य लक्षणयाऽपि कचिद्विशेषवस्त्वम्, न तु
यत्नादिविशेषवाचकस्य रथादिनिष्ठविशेषलक्षकत्वम्, जहत्स्वा-
र्थलक्षणापत्तेः । अतो विकृतिरूपफलोद्देश्यकः पाकानुकूलो
व्यापारसमूह एव तिङर्थः । तत्र च सर्वानुगतस्याऽन्वयोत्पादक-
व्यापारत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वात्(२) तेन रूपेणाऽऽख्या-
ताद्बोधेऽपि तत्तद्विशेषरूपेण तत्तदितिकर्तव्यताविधिभ्यो बोधान्न

तेषामपि वैयर्थ्यमिति षष्ठ्यसारथिमतानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु(१) तत्तज्जन्यभेदेन तत्तदुत्पादकभेदेन च(२) व्यापारत्वभेदादेकशक्यतावच्छेदकाभावेन सर्वानुगतैकशक्तिकल्पनानुपपत्तेस्तत्तद्विशेषविषयकतच्छक्तिकल्पने च तत्तदितिकर्तव्यताविधीनां वैयर्थ्यापत्तेस्तेषां तात्पर्यग्राहकताङ्गीकारे चाऽनेकशक्तिकल्पनस्य तावदवश्यम्भावाललाघवादेकत्रैव शक्तिरन्येषां लक्षणादिना, विध्यन्तरेण वा बोध इत्यङ्गीक्रियते । न च क शक्तिः क लक्षणेत्यत्र नियामकाभावः । पचति पाके यतते, पार्कं करोतीत्यादिविवरणस्यैव यन्नशक्तिग्राहकत्वात् । न च सङ्गाहकलाघवानुरोधेनाऽनेकशक्तिकल्पना युक्ता, गङ्गापदस्याऽपि तीरे तदापत्तेः । यत्राऽपि गुरुभूतैकशक्यतावच्छेदकानुरोधेनैकशक्तिकल्पनं, तत्राऽपि लघुभूतैकशक्यतावच्छेदकसम्भवे सङ्गाहकलाघवार्थं गुरुभूतावच्छेदकाङ्गीकरणमन्यायमेव । सङ्गाहाणामवच्छेदकप्रतीत्युत्तरप्रतीतिकत्वेन तन्निष्ठगौरवस्य फलमुखत्वेनाऽप्रामाणिकत्वात् । अतश्च यत्नत्वस्य जातिरूपत्वेन लघुत्वाच्छक्यतावच्छेदकत्वम् । न च यत्नत्वेन रूपेण भानाभावः, पचति पाके यतते, पार्कं करोतीति विवरणस्याऽनुभक्तिकत्वात् ।

यत्तु कृजो न यत्नार्थकत्वं, भावयतिपर्यायत्वादित्युक्तं तन्न, आख्यातवत्करोतेरपि यत्नार्थकत्वस्यैव लाघवेनाऽङ्गीकारात् । न च शक्यतावच्छेदकस्य पदादप्रतीयमानस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्कथं करोतेर्यत्नार्थकत्वम् ? प्रयत्नाभावे वातरोगादिना स्पन्दमाने चैत्रे स्पन्दानुकूलविजातीयवायुसंयोगरूपव्यापारवत्यपि नाऽयं स्पन्दं करोतीति प्रयोगदर्शनाद्यत्नार्थकत्वप्रतीतेः । व्यापारजन्यत्वाविशेषेऽपि यन्नजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यामेव घटाङ्कुरयोः कृता-

कृतव्यवहारदर्शनाच्च । न च बीजेनाऽङ्कुरः कृतः, रथो गमनं करोति, स्थाली पाकं करोतीत्यादावचेतनेऽपि प्रयोगादनुकूलव्यापारवाचित्वम् । उभयविधव्यवहारसत्त्वे शक्यतावच्छेदकलाघवस्यैव नियामकत्वात् । अचेतने कृत्याश्रयत्वव्यवहारस्तु अनुकूलव्यापारे लाक्षणिकः । अत एव चैत्रत्वाद्यप्रतीतावपि शोभनः पाकं करोतीत्यादौ शोभनाश्रितः पाकानुकूलो यत्न इत्येव प्रतीयत इति कैश्चिदुक्तम् । अतो यत्र एव कृञर्थः ।

यत्तु कृञो यत्नार्थकत्वे यततेरिवाऽकर्मकतापत्तिः । फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं हि धातोस्सकर्मकत्वम् । यथा पच्यादौ फलस्यौदननिष्ठत्वात्, व्यापारस्य च देवदत्तादिनिष्ठत्वात् । अकर्मके तु शयनासनादौ क्रियाफलयोरेकवृत्तित्वान्न सकर्मकत्वम् । अतश्च यत्नजन्यफलस्य कर्मण्यभावाद्यथैव यततिरकर्मकः, तथैव कृञोऽपि (?) स्यात् । अथ ज्ञानजन्यस्य ज्ञातताख्यफलस्येव कृतिजन्यस्याऽप्युत्पत्तिरूपस्य (२) तस्य कर्मणि स्वीकाराज्जाधातुवदेव कृञोऽपि सकर्मकत्वम्, ततो यततेरपि तदापत्तिः । ततश्च देवदत्तेन क्रियते घट इतिवद्यततिधातेरपि कर्मणि लकारापत्तिः । यततिवद्वा कृञोऽपि तदनापत्तिः । घटं करोतीत्यादौ घटे द्वितीयानापत्तिश्च । कृञोऽप्यकर्मकत्वाङ्गीकारे (३) “कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः” इत्येतत्सूत्रविहितयगाद्यनापत्तेः क्रियते घटः स्वयमेवेत्यनापत्तिश्च । तद्देव वा यततेरपि तदापत्तिश्चेत्युक्तम्, तन्न । वस्तुतो यः फलव्यधिकरणो व्यापारस्तद्वाचित्वं धातोस्सकर्मकत्वमभिप्रेतम् ? किं वा फलव्यधिकरणत्वेन व्यापारवाचकताऽभिप्रेता ? नाऽऽद्यः, पच्यादेरपि

१. तत्स्यादिति क. ख. पु.

२. तस्येति नाऽस्ति ख. पु.

३. भा. सू. ३. १. ८७.

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २३

फलाविवक्षायामकर्मकत्वाङ्गीकारात्तत्र च फलव्यधिकरणत्वस्य वस्तुतस्सत्त्वादतिव्याप्तेः । न च वैवक्षिकाकर्मकत्वसत्त्वेऽपि स्वाभाविकाकर्मकत्वानङ्गीकारात्स्वाभाविकसकर्मकत्वलक्षणाव्याहृतिः । एवमपि (१)यत्त्यादौ स्वाभाविकाकर्मके उत्पत्तिरूपस्य फलस्य यत्नव्यधिकरणत्वेनाऽतिव्याप्तेरनिवारणात् ।

न च धात्वर्थभूतफलसामानाधिकरण्यवैयधिकरण्ये एव तत्प्रयोजके । उत्पत्तिश्च न यततेरर्थः, अपि तु फलसामानाधिकरणक्रियैवेति वाच्यम् । तथात्वे करोतेरप्युत्पत्तिवाचित्वेन फलभेदोपपत्त्या उक्तदोषाप्रसङ्गेन यत्नवाचित्वे बाधकाभावात् । आसनशयनादीनामपि कालादिकर्मयोगेन स्वाभाविकसकर्मकत्वस्य चैत्रेणाऽऽस्यते मास इत्यादिप्रयोगसिद्ध्यर्थमङ्गीकृतत्वात्तत्र च फलव्यापारयोरेकनिष्ठत्वादुक्तलक्षणाव्याप्तेश्च ।

अत एव न द्वितीयोऽपि । फलव्यधिकरणत्वस्य वस्तुस्वभावबलभ्यत्वेन वाच्यताङ्गीकारे गौरवाच्च । अतो नेयं सकर्मकाकर्मकत्वयोर्निरुक्तिः । किन्तु अविवक्षाविरहविशिष्टकर्माकाङ्क्षाधुतत्वं सकर्मकत्वम् । अस्ति चेदं घटं करोतीत्यादौ, कृत्रो नियमेन विवक्षायां सत्यां कर्मपदसाकाङ्क्षात् । न तु पर्यायत्वेऽपि यततेः । आकाङ्क्षायाश्शब्दविशेषधर्मत्वेन पर्यायत्वाबाधकत्वात् । अतश्च यथैव कर्मत्वमित्येतत्पदं नाऽऽनयतिपदापेक्षं, किन्तु समानार्थकत्वेऽपि द्वितीयैव तत्साकाङ्क्षा, तथा पर्यायत्वेऽपि कृत्र एव कर्माकाङ्क्षा न यततेः । अत्र च कर्माविवक्षायां पच्यादेरकर्मकत्वमविवक्षाविरहवैशिष्ट्याभावादव्याहृतम् । आसनादीनां च कालादियोगविशिष्टानां कर्माकाङ्क्षादाविरुद्धं सकर्मकत्वम् ।

एवं यत्रैक एव धातुरर्थान्तरे सकर्मकोऽर्थान्तरे चाऽकर्म-

कः तत्राऽप्येकस्यैव तत्तदर्थप्रतिपादकत्वरूपधर्मपुरस्कारेण कर्म-
साकाङ्क्षत्वतदनाकाङ्क्षत्वे द्रष्टव्ये । यथा(१)ग्रन्थधातोः ग्रन्थनार्थ-
कस्य ग्रन्थमानव्यापारवाचित्वेऽकर्मकत्वं, ग्रन्थितृव्यापारवाचि-
त्वे च सकर्मकता । अत एव यत्र कर्मद्वयसाकाङ्क्षत्वं तत्र द्विकर्मक-
त्वमपीति प्राञ्चः ।

वस्तुतस्तु द्वितीयकर्मणो मुख्यकर्मत्वाभावेऽपि कर्मकारक-
सम्बन्धित्वविवक्षायामपादानादिकारकान्तरत्वाद्यविवक्षायां च
पारिभाषिककर्मत्वस्य व्याकरणे प्रतिपादनात् तस्याऽऽद्यकर्मतु-
ल्यत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

अतश्च कृञो यत्नपर्यायत्वेऽपि सकर्मकत्वाक्षतेरुक्तस्तान्निमि-
त्तद्वितीयाकर्मलकारादियोगः, 'कर्मवत्कर्मणे'ति सूत्रविहितयगा-
दियोगश्च । तत्र त्वयं विशेषः—यत्प्राप्यकर्मातिरिक्तकर्मान्तरा-
काङ्क्षत्व एव सः, न तु प्राप्यकर्मण्यपि । अत एव जायते
घटः स्वयमेवेत्येवं न भवति, भवति च स्वयमेव क्रियते घट
इति । न त्वेतावता यततेरपि कर्मकर्तरि प्रयोगः, तस्य शब्द-
स्वाभाव्येनैव कर्मानाकाङ्क्षत्वात् । शब्दस्वभावेन कर्माकाङ्क्षादेव
धातोः कर्मत्वाविवक्षापूर्वकं तस्यैव कर्तृत्वविवक्षायां यगादि-
विधानात् ।

नन्वेवमपि "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय" इति सूत्रेण कर्मनिष्ठ
व्यापार एव कर्तृत्वविवक्षायां यगादिविधानात् यत्नस्य च देव-
दत्तानिष्ठत्वेन ओदननिष्ठत्वाभावात् पच्यते ओदनस्वयमेवेति
प्रचीमानुपपत्तिरिति चेत्—न ; तादृशस्थले कृञादेरप्युत्पत्त्यादिरूप-
फललक्षकत्वाङ्गीकारात् । लक्षणां विनाऽप्युपपत्तिमग्रे निरूप-
यिष्यामः ।

तत्सिद्धं कृञो यत्नवाचित्वात्तेन यततिना च विवरणादा-
ख्यातस्य यत्नवाचित्वम् । अत एव न्यायसुधाकारोऽप्यमुमेव
पक्षं सङ्क्षेपेणाऽनुसृतवान् ।

यत्तु पचति पाकं भावयतीत्यनुकूलव्यापारवाचिणिजन्तभू-
धातुना विवरणं, तच्छक्यतावच्छेदके गौरवापत्तेर्लाक्षणिकार्थ-
विषयं व्याख्येयम् ।

एवं रथो गच्छति, चैत्रो जानति, इच्छति, करोती-
त्यादावनुकूलव्यापारे गमनाद्याश्रयत्व एव वा लक्षणेऽपि
द्रष्टव्यम् । नश्यतीत्यादौ तु प्रतियोगित्व इत्यपि । शक्यतावच्छे-
दकं च करोतिसमानाधिकरण(१)तिप्त्वादिकम् । अतश्च घटो
भवतीत्यादौ तदभावाद्यत्राभानेऽपि सङ्ख्यादिभानार्थमेव तिङ्गा-
दिप्रयोग इति मूलानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु लाघवात्तिप्त्वादिकमेव शक्ततावच्छेदकम् । अ-
तश्च घटो भवतीत्यादावपि भावनाश्रयत्व एव लक्षणा । न
चाऽऽश्रयत्वस्य सम्बन्धविधेयैव भानोपपत्तेर्लक्षणावैयर्थ्यम्,
नामार्थधात्वर्थयोर्भेदान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वात् । अन्यथा चैत्रः
पचति तण्डुलः, चैत्रः पचते तण्डुल इत्यादावन्वयबोधापत्तेः ।
क्वचिद्धात्वर्थे कारकान्वयः, क्वचिच्चाऽऽख्यातार्थ इति व्युत्प-
त्तिवैचित्र्यकल्पनापत्तेश्च । आख्यातेनाऽऽश्रयत्वलक्षणायां तु
तत्रैव भावनावत्कारकान्वयोपपत्तेर्न व्युत्पत्तिवैचित्र्यम् । अत्र
तिप्त्वादिकमेव शक्ततावच्छेदकं, न तु स्थानिभूतलट्त्वादि ।
तस्य साधुत्वबोधनार्थं कल्पितत्वेन स्वतोऽविद्यमानत्वात्, प्रति-
व्याकरणं तेषामननुगतत्वाच्च । यत्र तु गच्छेत्यादौ तिङो लोप-
स्तत्र शब्दादिविकरणस्यैव तद्वाचकत्वम् । न च तिङादिलोप-

ज्ञानं तद्बोधकम्, तज्ज्ञानाभावेऽपि तद्बोधस्याऽऽनुभाविकत्वात् ।
तत्सिद्धमाख्यातस्य यत्रो वाच्य इति ।

स च यत्नः कृञ्धात्वभिहित इवाऽऽख्याताभिहितोऽपि नित्यं
कर्मसाकाङ्क्ष एव प्रतीयते । विशेषेण तु विध्यादिसमाभिव्याहारे
सतीप्सितकर्मकः । अत एव 'स्वास्थ्यकामश्शयीत' इत्यादौ
शयनादेरकर्मकत्वेऽपि स्वास्थ्यस्य भावनाकर्मत्वोपपत्तिः । अत-
श्चाऽऽख्याताभिहितस्य यत्नस्य वस्तुतः फलभावनानुकूलव्यापा-
रत्वान्भावनापदवाच्यत्वोपपत्तिः । सा च सकलकारकान्वयि-
त्वादसति बाधके मुख्यविशेष्यतयैव प्रतीयते ।

तथा हि—न तावत्प्रथमान्तं प्रति भावनापाससङ्ख्यावद्विशेष-
णत्वाभ्युपगमेन प्रथमान्तस्य मुख्यविशेष्यत्वम् । (१) तथा च सति
भावनाप्रकारक(२)शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति प्रथमान्तपदजन्यो-
पस्थितिः कारणमिति नियमः फलितः । न चाऽसौ सम्भवति;
काष्ठैः पचति, 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया' इत्यादौ प्रथमान्तप-
दाभावेन व्यभिचारात् । न चाऽध्याहारेण तत्सम्पादनम्, अध्या-
हारापेक्षयाऽऽनुशासनिकनिरूढलक्षणाया लघुत्वेनाऽऽख्यातेनैव
कर्तृकर्मलक्षणौचित्यात् । न ह्यत्र 'दधना जुहोती' तिवत्स्वर्गकाम-
पदानुषङ्गशङ्कितुं शक्यते, येन लक्षणातोऽपि लाघवमाशङ्क्येत,
इन्द्रियकामपदस्याऽनन्वयापत्तेः । यस्त्वत्राऽऽख्यातेनाऽध्वर्युः
कर्ता लक्ष्यते, नाऽसौ पूर्वं प्रथमान्तपदोपात्तः, योऽनुषज्येत ।
अतो लक्षणैवाऽऽख्यातेन कर्तृकर्मणोः । तत्रैवाऽभेदान्वयश्चै-
त्रादिपदानाम् । युक्तं चैतत्, सङ्ख्यायास्समानपदश्रुत्यैव कर्त्रा-
द्यन्वयोपपत्तेः । इतरथा भिन्नपदोपात्तैत्राद्यन्वये गौरवात् ।

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । २७

किञ्च विभावय मृगो धावतीत्यादौ (१)महाभाष्यकाराभ्युपेतैकवाक्यतायां साधुताऽपि प्रथमान्तविशेष्यकत्वे नाऽवकल्पते । तथा हि—न तावदत्र मृगस्य विभावनं प्रति कर्मत्वम्, द्वितीयान्तत्वापत्तेः । न च द्वितीयान्तपदाध्याहारेण कर्माकाङ्क्षापूर्तिः, वाक्यभेदापत्तेः । अतो धावनभावनाया एव कर्मत्वं वाच्यम् । तच्च तदोपपद्यते, यदि तस्य नाऽन्यत्र प्रकारतयाऽन्वयः । अन्यथा सकृदुच्चारिताया उभयत्राऽन्वयानुपपत्तेः । भावनायाः प्रथमान्तं(२)प्रति विशेष्यत्वे तु कर्मतासंसर्गेण तस्या विभावनभावनां प्रत्यन्वयोपपत्तिः । न च तदाऽपि तत्र द्वितीयापत्तिश्छा, स्वादिविभक्तीनां प्रातिपदिकपरत्वस्य नियतत्वेनाऽऽख्यातपरत्वशङ्कानुपपत्तेः ।

न च मृगात्मगतयत्रस्य नित्यानुमेयत्वेन भवन्मतेऽपि साक्षात्काररूपविभावनकर्मत्वानुपपत्तेः कथमेकवाक्यत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् ? विभावनस्य साक्षात्कारघटितत्वाभावेन नित्यानुमेयकर्मकत्वस्याऽऽभ्युपपत्तेः । घटितत्वेऽपि वा धावनाश्रयत्वरूपाख्यातलक्ष्यार्थस्यैव विभावनकर्मत्वोपपत्तेः । अतोऽस्मन्मते एकवाक्यत्वोपपत्तिरिति मुख्यविशेष्यैव भावना । एतेन भावनाया मुख्यविशेष्यत्वे पाकभावना जायत इत्यास्मिन्नर्थे पचति भवतीति प्रयोगापत्तिरिति दूषणमिष्टापत्त्यैव निरस्तम् । (३)अत एवोक्तं वाक्य-

१. महाभाष्यकाराभ्युपेतायामिति. क. पु. २. प्रत्यपीति. क. ख. पु.।

३. येऽपि अपाक्षीत, भवति, पक्षयति, भवतीत्यादयः प्रयोगास्तेषु भूधातुनाऽयुक्तत्वाभावस्योक्तत्वात्तस्य च लटा वर्तमानत्वोपपत्तेर्भूतभाविपाकानुकूलकृतिवृत्तिवर्तमानायुक्तत्वाभावाश्रयत्वमिति शाब्दबोधाङ्गीकाराद्भाऽयुक्ताः । अस्ति च भूधातोऽयुक्तत्वाभावेऽपि प्रयोगः, पण्डितो भवतीत्यादौ । अत एव पचन्ति भवन्तीत्यादयो न प्रयोगाः पचति भवतीत्यादयश्च प्रयोगाः इत्यधिकमुपलभ्यते 'क' पुस्तके ।

पदीये “बहुष्वपि तिङन्तेषु सकाङ्क्षेकवाक्यता” (१) इति ।

किञ्च भवन्मते सर्वकारकाणां धात्वर्थे, तस्य कालादेश्च भावनायां, सङ्ख्याभावनयोश्च प्रथमान्तपदोपस्थाप्येऽन्वयस्वीकाराद्युत्पत्तिवैचित्र्यकल्पनापत्तिः । तद्वरं वक्ष्यमाणरीत्या सर्वेषां भावनान्वयाङ्गीकारादेकैव व्युत्पत्तिर्द्युक्ता कल्पयितुम् । एतेन प्रथमान्तपदोपस्थाप्यभावनान्वयानङ्गीकारेऽप्याख्यातलक्षणे कर्तरि कर्मणि वा तदन्वय इति न भावनाया मुख्यविशेष्यत्वमित्यपास्तम्, व्युत्पत्तिवैचित्र्यतादवस्थात् ।

किञ्चाऽस्मिन्पक्षे “भावप्रधानमाख्यात” मिति स्मृतिविरोधः । तथा हि—न तावादियं स्मृतिः भावशब्दवाच्यभावनाप्राधान्यं प्रकृत्यर्थापेक्षया विधत्ते, तस्य ‘प्रकृतिप्रत्ययावि’ति स्मृत्यैव सिद्धेः । किन्तु यदाख्यातं शक्तिलक्षणासाधारण्येन भावनासङ्ख्याकालकर्त्रादिपरं तत्र भावनायाः प्राधान्यं, न तु कर्त्रादेरित्येवं परम् । अत एव “धात्वर्थः केवलशुद्धो भाव इत्यभिधीयत” इति व्याकरणस्मृत्या धात्वर्थस्य भावपरिभाषणेऽपि नाऽस्यां निरुक्तस्मृतौ भावशब्देन तद्ग्रहणम् । तथा सति धातोरेव भावप्रधानत्वापत्त्या आख्यातशब्दस्य (२) भावप्रधानत्वानुपपत्तेः । किन्तु णिजन्तस्य भ्रुवोऽजन्तत्वव्युत्पत्त्या आख्यातार्थभावनायाः । वैयाकरणपरिभाषणं तु तच्छास्त्रविहितकृत्यविषयं, न निरुक्तविषयमपि, तस्य परिभाषारूपत्वेनाऽन्यत्राऽप्रवृत्तेः । तदपि च (३) ‘नपुंसके भावे क्त’इत्यादौ शुद्धधात्वर्थग्रहणमेव, न तु त्वनलाद्यर्थभावग्रहणमित्येतदर्थम् । नाऽपि भावपदशक्यनियमार्थं, प्रवृत्तिनिमित्तादेस्तदनुपपत्तेः ।

१. वाक्य. कां. २. श्लो. ४५०

२. भावाभिधानेति क. ख. पु.

३. पां. सू. ३. ३. ११४.

न च(१) “सर्वमाख्यातजं नामे”ति निरुक्तकारेणाऽभिधानादाख्यातशब्देन धातुरेवोच्यत इति वाच्यम् । कृदन्ते धातावाख्यातपदप्रयोगाभावेनाऽऽख्यात(२)पदस्य धातुवाचित्वानुपपत्तेः । निरुक्ते नामनिर्वचने त्वाऽऽख्यातशब्देन लक्षणयाऽऽख्यातान्तस्य धातोर्ग्रहणं नाऽनुपपन्नम् । अत एव(३) ‘तान्याख्यातानी’ति जैमिनिसूत्रेऽपि चाऽऽख्यातशब्देन(४)लक्षणयाऽऽख्यातान्तधातोर्ग्रहणम् । एतावांस्तु विशेषः—यज्जैमिनिसूत्रे आख्यातान्तकत्वं विशेषणं, तेन तिङन्तस्यैव धातोर्ग्रहणम् । निरुक्ते तु पलक्षणम्, तेन तत्राऽतिङन्तस्य धातुस्वरूपस्यैव । न त्वेतावता आख्यातशब्दस्य धातुवाचित्वं, कृदन्ते धातौ पाक इत्यादौ तत्पदप्रयोगाभावेन तद्वाचित्वानुपपत्तेः । अपि तु तिङ्वाचित्वमेव । अतोऽऽख्यातप्रतिपाद्यानेकपदार्थविषये कस्य प्राधान्यमिति जिज्ञासायां भावनाप्राधान्यमनया स्मृत्या नियम्यते ।

एवं “सत्वप्रधानानि नामानी”त्यत्राऽप्यनेकार्थप्रतिपादकेषु प्रातिपदिकापरनामधेयेषु नामसु पाचको लावक इत्यादिषु विभक्त्युपात्तसङ्ख्यान्वययोगिनस्सत्वपदाभिधेयस्य कर्तुरेव प्राधान्यं, न तु पाककृतेरित्ययमर्थोऽवगम्यते । नामत्वाविशेषेऽपि च यत्र घटादिपदे घटघटत्वरूपयोरुभयोरप्यर्थयोर्विभक्त्युपात्तसङ्ख्यान्वययोगित्वरूपा सत्वता तत्रोभयोरपि शब्दतः प्राधान्यम् । अत एव आकृत्यधिकरणेऽभिहितं यत्तृतीयादौ जातेरेव सङ्ख्याकारकान्वयः, अन्यत्र तु लक्षितव्यक्तेः जातिव्यक्त्योश्च न वैशिष्ट्यावगाह्यो बोधः, किन्तु बोधद्वयं शक्तिलक्षणाजन्यमिति । अतस्तत्रोभयोस्सत्वभूतत्वादुभयोरपि प्राधान्यम् ।

१. निरु. अ. १. खं. १३. सू. ५. २. पदलक्ष्यधातुवाचित्वेति ख. पु.
३. जै. सू. २. १. ३. ४ ४. लक्षणयैव धातोर्ग्रहणमिति क. ख. पु.

तदेवमाख्याते नामसु चाऽनेकार्थप्रतिपादकेष्वनया स्मृत्या प्राधान्यं नियम्यते । सुबादिषु त्वनेकार्थप्रतिपादकेषु प्रधानभूतक्रियान्वयित्वात्कारकादेरेव प्राधान्यं, न तु लिङ्गसङ्ख्यादेः । कारकस्यैव प्रधानभूतक्रियान्वयित्वम् । क्रियान्वयित्वाविरहे कारकत्वव्याघातात् । क्रियायाः प्रधानत्वं च क्रियापदं विना कारकाणां नैराकाङ्क्षादर्शनात् । अतः प्रधानभूतक्रियान्वयित्वात्सुबर्थे कारकादेरेव प्राधान्यम् । लिङ्गसङ्ख्यादेस्तु समानाभिधानश्रुत्या तदन्वयित्वम् । तच्च साक्षादयोग्यमिति पदश्रुतेर्योग्यतारूपलिङ्गाच्च पाष्ठीकः प्रातिपदिकार्थान्वय इति प्रातिपदिकार्थस्याऽपि लिङ्गसङ्ख्ये प्रति प्राधान्यम् । अत एव त्रिभक्त्युपान्तसङ्ख्यान्ययोग्यत्वरूपा सत्वताऽप्यस्य पाष्ठीकान्वयमादायैव निर्वाह्या । सर्वं चैतत्(१) पश्वेकत्वाधिकरणे वक्ष्यते ।

प्रातिपदिकार्थस्तु प्रधानभूते कारकरूपे प्रत्ययार्थेऽन्वेति । 'प्रकृतिप्रसयौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येने' ति स्मृत्या प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यावगमात् । सामान्यस्मृतिरपीयं प्रमाणान्तरानुसारात्कारकादिविषयैव, न तु सङ्ख्यादिविषयाऽपि । अन्यथा प्रातिपदिकार्थस्य सत्वसमाख्यानुपपत्तेः । कारकादिरूपसुबर्थस्तु प्रधानभूते प्रत्ययार्थे भावनायामन्वेति, न तु धात्वर्थे प्रत्ययार्थान्तरे वा । तेषामुपसर्जनत्वात्, प्रधानान्वयस्य चाऽभ्यर्हितत्वात्, कारकाणां धात्वर्थे, तस्य च भावनायामन्वय इति व्युत्पत्तिद्वयकल्पनापत्तेश्च । अतो लघवात्सर्वेषां भावनायामेवान्वयो युक्तः । स च यद्यपि साक्षादयोग्यः, तथाऽपि पाष्ठीकान्वयलभ्यधात्वर्थद्वारक इति निश्चीयते ।

एवं प्रथमान्तस्याऽपि चैत्रादिपदस्याऽभिहितकर्तृकर्मकार-

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ३१

कवाचिनी प्रथमेति मते कर्तृकर्मवाचकत्वात्कर्तृत्वादेर्युक्त एव भावनान्वयः । प्रातिपदिकार्थे प्रथमेति मते तु प्रातिपदिकार्थस्यैव कर्तृत्वकर्मत्वाधिकारित्वान्यतमसंसर्गेण भावनायामन्वयो नाऽनुपपन्नः । एवं सम्बोधनान्तस्याऽपि द्रष्टव्यम् । एवं निमित्तादेः कारकत्वाभावेऽप्यनुष्ठापकत्वावगमाद्विधिवदेवाऽनुष्ठेयायां भावनायामेवाऽन्वयः । एवं क्त्वाप्रत्ययादीनां क्रियासम्बन्धसापेक्षाणां क्रियाभ्यावृत्तिविहितानां च कृत्वसुजादीनां(१)भावनायामेवाऽन्वयः, पार्ष्टिकान्वयः परं धात्वर्थादौ । इदं च तत्र तत्रोपपादयिष्यते ।

षष्ठ्यास्तु सम्बन्धसामान्याभिधायिन्याः कारकविभक्तित्वाभावाद्भावनां विनाऽप्यन्येन सम्बन्धो न विरुध्यते । अतश्च तस्या धात्वर्थकारकादिभिरप्यन्वयो नाऽनुपपन्न इति मूळानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु तत्राऽपि साक्षात्परम्परासाधारण्येन भावनायामेवाऽन्वयः, प्रधानान्वयस्याऽभ्यर्हितत्वात् । धात्वर्थस्य तु भावनायामेवाऽन्वयः, प्रकृत्यर्थत्वात्, कारकत्वेन(२)विवरणाच्च ।

किञ्च धात्वर्थस्याऽप्यत्र कारकत्वेनाऽन्वयाभावे तृतीयान्तानां ज्योतिष्टोमादीनामनन्वयापत्तिः । न च साधुत्वार्था अभेदलक्षणार्था वा तृतीयेति वाच्यम् । करणत्वरूपश्रौतार्थाविक्षायां कारणाभावात् । अभेदलक्षणार्थायास्तृतीयाः(३) छन्दसि काऽप्यदर्शनाच्च । (४)धान्येन धनवानित्यादावपि च न

१. नञश्च भावनायामिति. ख. पु.

२. विवरणाच्चाऽविवाद एवेति. क. ख. पु.

३. छन्दसीति नाऽस्ति. क. ख. पु.

४. धान्येन धनी भवतीति क. ख. पु.

५ मी० कौ०

धान्याभिन्नधनवानित्यर्थः । धान्यस्य धनसम्बन्धोत्पत्तिं प्रति करणत्वोपपत्तेर्दण्डेन घटो भवतीतिवल्लक्षणायां प्रमाणाभावात् । अत एव भासमानोऽपि धनधान्याभेदः पार्ष्टिकान्वयलभ्य एवेति न तदर्थमपि लक्षणा । अतो लक्षणायाः काऽप्यदर्शना-
 न्तृतीयान्तनामधेयानुरोधेनाऽपि धात्वर्थस्य करणत्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । अत एव (१)चाऽन्यकरणत्वस्य पदार्थविधया भासमानत्वाद्धात्वर्थस्याऽपि करणत्वं न संसर्गबललभ्यम्, अपि तु धातुलभ्यमेव । अतश्च धात्वर्थो यागादिः करणत्वेनाऽन्वेति । तच्च कारकत्वाद्भावनायामित्यपि द्रष्टव्यम् ।

एवं लडादिवाच्यः कालोऽपि (२)पार्ष्टिकान्वयलभ्यधात्वर्थद्वारा वा साक्षात्सम्बन्धेनैव वा भावनान्वयी । एवं विधिरपि प्रवर्तनारूपः प्रधानभूतायां तस्यामेव भावनायामन्वेति(३)जनकत्वसम्बन्धेन । सङ्ख्यायास्तु प्रतीत्यनुरोधादनुशासनानुरोधाच्च भावनाक्षिप्तकर्तृत्वकर्मत्वान्यतरयोगित्वम् । भावना हि कर्तृत्वकर्मत्वे अखण्डोपाधिरूपे आक्षिपति । ते च स्वाश्रयमाक्षिपतः । कर्तृत्वकर्मत्वयोश्चाऽऽक्षेपलभ्ययोरपि शाब्दत्वसिद्ध्यर्थं लक्षणा, न तु तदाश्रयस्याऽपि । सर्वं चैतद्विस्त्ररेण (४)कर्त्रधिकरणे निरूपयिष्यते ।

तत्र शबादिविकरणस्थले तिङ्वाच्या सङ्ख्या कर्तृत्वान्विता । यागादिविकरणस्थले क्वचित्कर्मत्वान्विताऽपि । न तु तदाश्रयान्विता, तस्याऽऽशाब्दत्वात् । अत एव दर्शपूर्णमासादावाश्रयभेदेऽपि कर्तृत्वैक्यादेकवचनम् । 'क्षौमे वसाना'वित्यत्र तु

१. नास्मिन् करणत्वस्येति क. पु. २. पार्ष्टिकान्वयेन धात्वर्थेति. क.पु.

३. प्रयोज्यत्वसम्बन्धेनेति. क. पु. ४. पू. मी. ३. ४. ८.

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ३३

प्रमाणान्तरानुसारादधिष्ठानलक्षणामङ्गीकृत्य सङ्ख्यानव्य आश्रय
एवेति विशेषः । अतस्सङ्ख्यायाः कर्तृकर्माख्यातस्थले तावत्त-
त्रैवासन्वय इति मूलानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु प्रधानान्वयस्याऽभ्यर्हितत्वात्सुबाभिहितसङ्ख्याया
इवाऽस्या अपि पार्ष्टिकान्वयलभ्यकर्तृत्वद्वारकः कर्मत्वद्वारको
वा परम्परासम्बन्धेन भावनायामेवासन्वयः । भावाख्यातस्थले
तु भावनायामेवासन्वयस्सङ्ख्यायाः । यथा चैत्रेण सुप्यते, स्थीयत
इत्यादौ । अत्र हि स्वापादिकृतिस्तिङ्गर्थः, अखण्डोपाधिरूपं क-
र्तृत्वं तु तृतीयार्थः । अत एव चैत्रेण किं क्रियत इति प्रश्ने सु-
प्यत इत्युत्तरं सङ्गच्छते । अतः प्रतीत्यभावान्नाऽत्र कृतिस्तिङ्गर्थ
इति परमतमपास्तम् । अतस्तत्र भावनायां साक्षात्सम्बन्धेनैव
सङ्ख्यानव्यः ।

न चैवं तस्या द्वित्वादिविवक्षायां द्विवचनापत्तिः, एकव-
चनस्यैव तत्र साधुत्वस्मृतेः तेनैव विवक्षितसङ्ख्यालक्षणोप-
पत्तेः । न चैवं साक्षात्सम्बन्धेन विभक्त्युपात्तसङ्ख्यायोगि-
त्वरूपसत्त्वतापत्तेर्भावप्राधान्यानापत्तिः, सत्त्वतास्वीकारेऽपि भा-
वत्वानपायात् । अस्यां हि स्मृतौ भावस्य प्राधान्यमिति नि-
यमः क्रियते, न तु सत्त्वातिरिक्तस्येति, सङ्ख्यादेरपि प्राधान्य-
प्रसङ्गात् । अतो भावत्वानपायात्सङ्ख्यानव्येऽपि न प्राधान्य-
क्षतिः । अस्तु वा कर्तृकर्मान्वयवद्भात्वर्थान्वयः पार्ष्टिकस्सङ्ख्या-
याः । अतो भावाख्यातस्थले साक्षात्सम्बन्धाभावेऽपि धा-
त्वर्थद्वारैव भावनान्वयोपपत्तिः ।

यत्र तु गगनेन स्थीयत इत्यादौ यत्नस्य बाधः, तत्र घटो
भवतीत्यादौ प्रथमान्तपदान्वयस्येवाऽऽश्रयत्वलक्षणयां कारणा-
भावाद्भात्वर्थ एव सङ्ख्यानव्योऽनन्विता वा सेति केचित् ।

वस्तुतस्तु 'भावप्रधानमिति' स्मृत्या आख्यातत्वावच्छेदेन भावनाप्राधान्यस्य विहितत्वात्तदन्यथानुपपात्तिरेवाऽत्राऽऽश्रयत्व-लक्षणाबीजम् । एवं कारकान्वयेऽप्यवैरूप्यं भविष्यति । इतरथा क्वचिद्भावार्थे क्वचिदाख्यातार्थ इति व्युत्पात्तिद्वयकलानापत्तेः । अस्मन्मते तु वृत्त्याऽऽख्यातपदगम्ये सर्वत्र कारकान्वय इत्यवै-रूप्यम् । कर्तृत्वकर्मत्वयोस्तु भावनायामेवाऽन्वयः । तत्र कर्तृत्वस्य भावनायामन्वयोऽविवाद एव । कर्मत्वस्य तु कर्माख्यातस्थले यत्नवाचिना तिङा यत्नप्रयोज्यफललक्षणात्तत्राऽन्वय इति मूला-नुयायिनः । एवं कर्मकर्तृस्थलेऽपि पच्यते ओदनस्स्वयमेवेत्यादौ कर्मण एव स्वव्यापारे कर्तृत्वविवक्षणात्फललक्षणा द्रष्टव्या ।

केचित्तु कर्माख्यातस्थले फलमात्मनेपदशक्यं, न तु कृतिः, शवादिसमभिव्याहृततिङ् एव तत्र शक्तिग्रहात् । अतस्तत्र भा-समाना कृतिः परं तृतीयार्थः, ओदनस्तु फल एवाऽन्वेती-त्याहुः । तन्न; लाघवेन तिप्त्वस्यैव शक्ततावच्छेदकत्वौचि-त्यात् । ओदनान्वयार्थं फलस्य लक्षणयाऽपि बोधोपपत्तेश्च । तृतीयाया अपि कर्तृत्वरूपाखण्डोपाधावेव शक्तिर्न तु कृतौ । तथात्वे तत्राऽपि कारकान्वयापत्तेः ।

वस्तुतस्तु कर्माख्यातेऽपि न फललक्षणा, कृतावेवाऽखण्डो-पाधिरूपस्य कर्मत्वस्य स्वसमानाधिकरणफलप्रयोजकत्वसम्बन्धे-नाऽन्वयाङ्गीकारात् । अत एव कर्मकर्त्राख्यातस्थलेऽपि कर्मत्वरूपा-ऽखण्डोपाधेरविवक्षणात्कर्तृत्वरूपाखण्डोपाधेरौदननिष्ठस्योक्तपर-म्परासम्बन्धेन(१) कृतावऽन्वयोपपत्तेर्न फललक्षणा । न चैवमेता-दृशस्थले देवदत्तस्य साक्षात्सम्बन्धेन(२) कर्तृत्वाभावेन प्रथमाना-

१. कृतावेवाऽन्वयेति. क. पु. २. कर्तृत्वाभावेनेति. नास्ति 'ग' पुस्तके

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ३५

पक्षावपि तृतीयापक्षिस्स्यादेवेति वाच्यम् । देवदत्तानिष्ठकर्तृत्वस्य तिङ्गाऽनभिधानेऽपि कृतिनिरूपितकर्तृत्वस्य तिङ्गभिहितत्वादनभिहिताधिकारविहित(१)तृतीयाया आपादयितुमशक्यत्वात् । न च प्रथमैव तर्ह्याऽऽपद्येत, प्रथमायास्तिङ्गुपात्तसङ्ख्यान्वायिवाचित्वव्याप्तत्वेन व्यापकाभावे आपादयितुमशक्यत्वात् । अतस्सम्बन्धसामान्यवाचिनी षष्ठयेव तत्र युक्ता ।

तदेवं सर्वकारकाणि प्रति भावनायाः प्राधान्ये तिङ्गुपात्तकर्त्रादि प्रति सुतरां प्राधान्यपापत्तेः, तदनङ्गकारिरे 'भावप्रधानमाख्यातामिति' स्मृतिविरोधस्य दुष्परिहरत्वाद्भावनाया एव मुख्यविशेष्यत्वमिति सिद्धम् । अत एव भावप्राधान्यस्मृत्या भावनायाः प्राधान्यावगमादप्रधानभूतयोः कर्तृकर्मणोस्तल्लक्ष्यत्वम् । अन्यथा ते कृदन्तवदेव तद्वाच्ये स्याताम्, न तु तल्लक्ष्ये । तथा हि—

यत्रैकस्मात्पदादनेकार्थप्रतीतिस्तत्राऽनेकशक्तिकल्पनागौरवभिया एकत्रैव शक्तिरपरत्र लक्षणेत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तत्र च नियामकापेक्षयां प्रथमं तावत्प्रधानस्य लोके वेदे च गुणभूताक्षेपकत्वदर्शनात्प्राधान्यमेव शक्तिनियामकमवसीयते । तदिह भावनायाः प्राधान्यपक्षे तदपेक्षितयोर्गुणभूतयोः कर्तृकर्मणोराक्षेपेणैव बोधोपपत्तेर्नाऽतिरिक्तशक्तिकल्पनावसरः । अत एव यत्र व्यभिचारान्नाऽऽक्षेपकत्वशक्तिः, यथैकत्वादौ, तत्राऽनेकशक्तिकल्पनमपि । यदि तु तयोरेव प्राधान्यं ततस्तयोरेव शक्यत्वापत्तेर्भावनायाश्च गुणभूतायास्ताभ्यामेवाऽऽक्षेपसम्भ्रान्तस्या वाच्यत्वं युज्येत । अत एव कृदन्तस्थले पाकः, पकमित्यादौ पचिधातोः पाकमात्रवाचित्वेऽपि प्रत्ययस्य कृतिकर्त्रादि-

रूपानेकार्थबोधकस्य क शक्तिरिति नियामकापेक्षायां, 'सत्त्वप्रधानानि नामानी'ति सत्त्वरूपस्य कर्त्रादेरेव प्राधान्यावगमात्, तत्र शक्तावधारितायां गुणभूतायाः कृतेराक्षेपेणैव बोधोपपत्तेर्नाऽतिरिक्तशक्तिकल्पनम् ।

न चैवं तस्या अशाब्दत्वेन पाकादिरूपकारकान्वयानापत्तिः, आख्याते एकत्वान्वयार्थं कर्तृकर्मणोरिव कृदन्तस्थले कारकान्वयार्थं कृतेर्लक्षणाङ्गीकारात् । न चैवमपि लाघवात्कृतावेव शक्तिरस्तु, लाघवस्याऽप्यङ्गनिष्ठस्य(१) दीक्षणीयामुख्यत्वस्येवाऽङ्गगुणविरोधन्यायेनाऽकिञ्चित्करत्वात् । प्रधानस्य पुरस्फूर्तिकत्वेन तत्र शक्तावधारितायामनवाच्छिन्नायाश्शक्तेरयोगादवच्छेदकापेक्षायां तद्वतगौरवादेरुत्तरकालप्रतीतिकत्वेन फलमुखत्वाच्च ।

अत एवाऽनेकार्थप्रतिपादकेऽपि घटादिपदे यत्राऽन्यतरार्थप्राधान्यनियामकाभावस्तत्रैव लाघवस्य आकृत्यधिकरणव्युत्पादितस्य (२)नियामकत्वम् । न हि घटघटत्वयोः प्राधान्यनियामकं किञ्चिदस्ति, पूर्वोक्तविधयोभयोरपि सत्त्वभूतत्वेन स्मृ-

१. 'य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वेत्यनेनेष्टिपशुसोमाः पर्वदिने कर्तव्यत्वेन विहिताः । तत्र पञ्चदिनसाध्यकसोमयागे प्रथमदिने अङ्गभुता दीक्षणीयेष्टिरनुष्ठीयते, पञ्चमदिने च सोमयागः । तदत्र निरूक्तवाक्येनोभयोरपि पर्वकालकर्तव्यत्वस्य विरोधे सति किं पर्वण्यङ्गमनुष्ठीयताम् ? उत प्रधानमिति सन्देहे-अङ्गभुताया अपि दीक्षणीयेष्टेः पाठतोऽनुष्ठानतश्च प्रथमोपस्थितत्वेन मुख्यत्वात्तस्या एव पर्वण्यनुष्ठानामिति पूर्वपक्षयित्वा, पाठतोऽनुष्ठानतश्च जघन्यस्याऽपि सोमयागस्य प्रधानतया, अज्ञानां च ब्रह्माद्गुण्यार्थत्वेन दीक्षणीयामुख्यत्वस्याऽकिञ्चित्करत्वात्सोमयागस्यैव पर्वकालकत्वमिति द्वादशद्वितीयनवमे सिद्धान्तितम् ।

२. 'नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसङ्क्रामती'ति न्यायस्य नियामकत्वमिति (१.३.१०) अधिकरणे स्पष्टम् ।

तेरनियामकत्वात्, उभयोरपि क्रमिकत्वेन बोधद्वयाङ्गीकारेण वैशि-
ष्ट्यानवगाहनात्प्रतीतेरप्यनियामकत्वाच्च । कृत्सु तु पूर्वोक्त-
विधया प्राधान्यस्यैव नियामकत्वाद्युक्ता कर्त्रादौ शक्तिः, न तु
कृतौ । भावकृत्सु तु पाक इत्यादौ पाकपदमात्रेण कृतिप्रतीतौ
पाकः क्रियत इति पृथक्कृतिवाचकपदसमाभिव्याहारानुपपत्तेर्धा-
त्वर्थमात्रप्रतीतावपि कारकान्वयार्थं काष्ठैरोदनस्य पाक इत्या-
दावपि जायते, क्रियत इति वा क्रियापदाध्याहारेण वाक्यपूरणं
द्रष्टव्यम् । (१)युक्तञ्चैतत् । धात्वर्थस्याऽपि स्वजनकीभूतव्या-
पाराक्षेपकत्वं सम्बन्धात् । अतः कृदन्तस्थले कृतिप्राधान्याभावा-
द्वाच्यत्ववाचिङ्गन्तस्थलेऽपि भावनाप्राधान्याभावे अवाच्यत्वा-
पत्तिः । न चेष्टापत्तिः, भावप्राधान्यबोधकस्मृतिविरोधापत्ते-
रुक्तत्वात् ।

किञ्चाऽस्मन्मते निपातोपसर्गप्रातिपदिकातिरिक्तशब्दगम्यो
यस्सुबुपात्तलिङ्गसङ्ख्याव्यतिरिक्तोऽर्थः, तत्प्रकारकशब्दबुद्धित्वा-
वच्छिन्नं प्रति लिङ्गानन्वयिभावनाविशेष्यतासम्बन्धेन पदजन्यो-
पस्थितिः कारणमित्येकैव व्युत्पत्त्या बहूनां सङ्ग्रहाल्लाघवम् ।
अन्यथा हि तत्कारकादीनां धात्वर्थे, तस्य च कालादीनां च
भावनायां, तस्यास्सोङ्ख्यायाश्च प्रथमान्त इत्यनेकव्युत्पत्तिकल्प-
नाद्गौरवम् ।

अत्र च कार्यतावच्छेदके निपातोपसर्गाणां समभिव्याहृता-
र्थान्वयं विना स्वार्थबोधकत्वादाद्यं विशेषणम् । अत एव तेषु
क्रियासमाभिव्याहारे सति तथैवाऽन्वयः, यथा निषेधेषु नञः ।
अन्यसमाभिव्याहारे त्वन्येनाऽपि । प्रातिपदिकार्थस्याऽपि घट-
घटत्वादेस्सुबर्थं प्रत्येवाऽन्वयाद्द्वितीयम् ।

यत्र तु दधि इत्यादौ सुलोपस्तत्र(१) प्रातिपदिकलक्ष्यस्यैव दधिकर्मत्वादेर्व्युत्पत्त्यन्तरेणैव भावनान्वयेऽपि न क्षतिः । अत्र च 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादौ तद्धितोपात्तस्य देवतात्वरूपस्य कारकस्य तद्धितोपात्तद्रव्यान्वयं(२)विनाऽपि क्रियान्वयिनः प्रातिपदिकार्थत्वेऽपि व्युत्पत्त्यन्तरेण तदङ्गीकारान्नोक्तव्युत्पत्तिभङ्गः । अत एव कारकत्वातिरिक्तसम्बन्धेन यत्र तद्धितसमासादिवृत्तिः, यथा उपगवः, राजपुरुष इत्यादौ, तत्र क्रियान्वयाभावेऽपि पुरुषादावन्वयो नाऽनिष्टः ।

यत्र तु कारकत्वसम्बन्धेन वृत्तिः, यथा 'आग्नेय' इत्यादौ तत्र प्राथमिकक्रियान्वयं विना कारकत्वायोगात्, वृत्तेश्च पाष्ठीकसम्बन्धेनाऽपि निर्वाहोपपत्तेर्नाऽऽदावेवाऽष्टाकपालसम्बन्धः, अपि तु भावनासम्बन्धद्वारक एवाऽसौ । विवारिष्यते चेत्(३) पौर्णमास्यधिकरणे वाक्यभेदोपपादनार्थम् । सुबुपात्तलिङ्गसङ्ख्ययोस्सुबर्थकरणत्वाद्यन्वयिनोरुक्तविधशब्दगम्यत्वात्तन्निवृत्त्यर्थं तृतीयम् । प्रथमान्तस्थले च प्रातिपदिकार्थस्याऽपि प्रथमोपस्थितस्यैवाऽन्वयाङ्गीकारान्नाऽतिप्रसङ्गः । एवं (४)षष्ठ्यादीनामपि कारकत्वातिरिक्तेनाऽपि सम्बन्धेन निमित्तवत्(५)भावनान्वयाङ्गीकारादतिप्रसङ्गो निराकर्तव्यः । अर्थपदं च पदजन्योपस्थितिविशेष्यपरम् । तेन यागादैः करणत्वान्वयिनो भावनान्वयेऽपि न क्षतिः । कारणतावच्छेदकेऽपि कारकाणां भावनापदोपस्थापितभावनान्वयापत्तेस्तस्या-

१. प्रातिपदिकान्वयस्यैवेति. ग. पु. २. विहायाऽपीति. क. ख. पु.

३. पू. मी. २. २. ३.

४. षष्ठीकत्वान्तादीनामिति. क. ख. पु.

५. भावनान्वयेऽपि न क्षतिरिति. क. पु.

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ३९

दृश्यर्थं लिङ्गानन्वयीति विशेषणम् । अत एवोदनं भुक्त्वा व्रज-
तीत्यादौ क्त्वाप्रत्ययोपात्तभावनायामोदनादेः सम्बन्धेऽपि तस्या
लिङ्गानन्वयित्वात् नोक्तव्युत्पत्तिविधातः ।

न चैवमेकास्मिन्वाक्ये भावनाद्वयसत्त्वात्कस्यां केषां कार-
काणामन्वय(१)इत्यत्राऽपि नियामकाभावः, योग्यताया आस-
त्तेस्तात्पर्यस्य च नियामकत्वात् । एवं गच्छेत्यादौ(२)प्रत्ययार्थ-
स्याऽपि शब्दादिविकरणार्थभूतायामेव तस्यामन्वयः । तस्मादे-
क्यैव व्युत्पत्त्या बहूनां सङ्गहात्लाघवम् । अस्तु वा प्रकारीभूत-
तत्तदर्थभेदेन व्युत्पत्तिभेदः । तथाऽपि 'परिपूर्णं पदं पदान्तरे-
णाऽन्वेती'ति न्यायेन प्रथमावगतयागादिव्युत्पत्तिवेल्यायां भाव-
नाविशेष्यत्वस्योपस्थितत्वात्तत्रैव विशेषणज्ञानरूपसामग्रीसत्त्वेन
स्वर्गादिपदार्थान्तराणामपि प्रकारतया अन्वयव्युत्पत्तिकल्पना,
न त्वन्यत्र । अन्यगतमुख्यविशेष्यत्वस्याऽनुपस्थितत्वेन विशेषण-
ज्ञानाभावात् । अत एवंविधलाघवादपि भावनायामेव साक्षात्पर-
म्परया वा योग्यतानुसारेण सर्वेषामन्वयः । परम्परासम्बन्ध-
स्थले तु पार्ष्टिको धान्वर्यादिसम्बन्ध इति न कोऽपि(३) दोषः ।

न च पार्ष्टिकबोधस्याऽपि श्रुतशब्दजन्यत्वाद्द्व्युत्पत्त्यन्तर-
कल्पनातादवस्थयम्, पार्ष्टिकबोधस्य योग्यतत्तत्समस्तपदकल्प-
नयाऽनुमितपदजन्यत्वेन व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनानापत्तेः । निरुक्त-
पदाध्याहारं प्रति श्रुतशब्दस्य कारणत्वं तु तत्राऽपि सम्मतमेव ।
इतरथा अयं घटोऽस्ति, जलमानेयमित्यतो घटकरणकजलानयन-
मित्येवंविधार्थप्रतिपादकपदाध्याहारानापत्तेः । पदान्तरकल्पना-
कृतं तु गौरवं कार्यकारणभावकल्पनाभावात्फलमुखत्वाच्च न

१. इत्यत्र विनिगमकाभाव इति. क. ख. पु.

२. प्रत्ययलोपेऽपीति. क. ख. पु. ३. विरोध इति क. पु

दोषमावहति । तत्राऽप्याकाङ्क्षायोग्यतातात्पर्यादिवशात्तत्पदार्थ एव पार्ष्टिकान्वयस्तत्पदार्थस्येति नाऽव्यवस्थाऽपि । स्पष्टश्चाऽयमर्थो भावार्थाधिकरणादौ तत्र तत्र ।

न चैवं राजपुरुषोऽस्तीत्यत्र क्रियान्वयोत्तरं पार्ष्टिकस्तात्पर्यादिसत्त्वे राजपुरुषयोस्स्वस्वामिभावादिरूपो भेदसम्बन्धोऽपि बुध्येतेति वाच्यम् । अनुभवानुरोधेन नामप्रयोज्यतदर्थप्रकारकतदर्थविशेष्यकान्वयबोधस्याऽभेदविषयत्वमिति नियमाङ्गीकारात् । राजपुरुषयोः पार्ष्टिकान्वयबोधस्याऽप्यस्मन्मते नामजन्यत्वाभावेऽपि स्वजन्यशाब्दबोधानुमेयशाब्दजन्यत्वेन नामप्रयोज्यत्वमस्तीति युक्तं तस्या भेदविषयत्वम् । वरं च नामार्थयोः (१)तदभेदान्वयव्युत्पत्तिकल्पनापेक्षया निरुक्तव्युत्पत्तिकल्पनम् प्रयोज्यत्वस्य जन्यत्वापेक्षया लघुत्वात् ।

राज्ञः पुरुषोऽस्तीत्यादौ तु षष्ठ्यर्थनामार्थयोरन्वयस्य पार्ष्टिकत्वान्नाऽभेदविषयत्वप्रसङ्गः । अत एव तत्राऽभेदस्य बाधितत्वादेव षष्ठ्यर्थो नाऽभेदसम्बन्धेन पुरुषेऽन्वेति, अपि तु भेदसंसर्गेणैव । अभेदभ्रमदशायां परं तादृशवाक्यात्पार्ष्टिकाभेदबोधवारणार्थं सुप्रयोज्यतदर्थप्रकारकनामार्थविशेष्यकबोधस्य भेदसंसर्गविषयत्वम्, स्तोत्रं पचतीत्यादावभेदबोधार्थं च सुप्रयोज्यतदर्थप्रकारकधात्वर्थविशेष्यकबोधस्याऽभेदविषयत्वम्, दधि पश्यतीत्यादौ भेदसंसर्गबोधार्थं च शुद्धप्रातिपदिकप्रयोज्यतदर्थप्रकारकधात्वर्थविशेष्यकबोधस्य भेदविषयत्वमित्याद्यनुभवानुसारेण कल्प्यम् ।

न चैवंविधव्युत्पत्तिकल्पनावश्यभावे किमिति शाब्दबोधविषयत्वमेव परेषामिव नाऽङ्गीक्रियत इति वाच्यम् । संसर्ग-

भावनाविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ४१

विशेषनियामकव्युत्पत्तीनां तुल्यत्वेऽपि तत्तद्विशेष्यतानिरूपितप्रकारतानियामकव्युत्पत्तीनां भेदाभावेनाऽऽस्मन्मतस्य लघुत्वात् ।

न च भवन्मतेऽपि पार्ष्टिकान्वये प्रकारतानियामार्थं तत्कल्पनावश्यंभावः, इतरथा सोमं प्रति यागस्य, आरुण्यं प्रत्येकहायन्या वा प्रकारतापत्तेरिति वाच्यम् । यस्य यद्बोधोधाव्यवहितपूर्वबोधे साक्षात्सम्बन्धेन विशेष्ये प्रकारता, तस्य निराकाङ्क्षत्वादेव तदुत्तरबोधेऽन्यं प्रत्यप्रकारत्वम् ।

अत एव यस्य यद्बोधोधाव्यवहितपूर्वबोधे परम्परासम्बन्धेन विशेष्ये प्रकारता, तस्यैव (१)परम्पराघटकतावगत्यै तदुत्तरबोधेऽन्यं प्रति प्रकारत्वम् । यागैकहायन्यादेर्हि स्वर्गक्रयौ प्रति द्वितीयबोधे साक्षादेव प्रकारत्वान्न तृतीयबोधे सोमारुण्ये प्रति प्रकारता । अपि तु सोमारुण्ययोरेव परम्परया (२)भावनां क्रयं प्रति च प्रकारयोः परम्पराघटकावगत्यै यागमेकहायनीं वा प्रति प्रकारत्वम् । तयोश्च तद्वलादेव विशेष्यत्वम् । इतरथा सोमारुण्यादिगतपरम्परासम्बन्धानिर्वाहात् । अत एव यस्य प्रकारस्य विशेष्यान्वये यो वस्तुतः परम्परा(३)सम्बन्धरूपः संसर्गस्तस्यैव तस्वेनाऽवगत्यै तद्वदकपदार्थेन पार्ष्टिकोऽन्वयः(४)शब्देनाऽवगम्यते, न तु योग्यत्वेऽप्यन्येन ।

अत एव राज्ञः पुरुषोऽस्तीत्यत्र प्रातिपदिकार्थभूतस्य राज्ञष्वष्ट्यर्थे निरूपकतासंसर्गेण प्रकारतयाऽन्वितस्य नाऽयोग्यतानिश्चयाभावदशायां पुरुषेणाऽभेदान्वयः पार्ष्टिकः, निरूपकतासंसर्गस्याऽभेदाघटितत्वात् । अत एवाऽऽरुण्यकरणत्वस्य द्रव्य-

१. परम्परावगत्यै इति क. पु. २. भावनायां क्रये चेति. क. पु.
३. सम्बन्धरूपस्तस्यैवेति. ग. पु. ४. अनुमितशब्देनेति. क. पु.

परिच्छेदद्वारैव क्रयं प्रति प्रकारत्वात्तस्यैकहायनीं प्रति पा-
ष्टिकोऽन्वयः, न त्वाहण्यस्य समवायसम्बन्धेनैकहायनीं प्रति,
तस्य स्ववृत्तिकरणत्वं प्रत्याधेयतासम्बन्धेनाऽन्विततया करण-
त्वनिरूपिताधेयताया एकहायनीसमवायाद्यघटितत्वात् । अत
एव तादृशस्थलेऽरूप्यस्यैकहायनीसमवेतत्वबोधः परमनुमाना-
दिना, न तु तदर्थे तद्वाचकशब्दानुमानम् ।

यदि तु न प्रकारतानियामकव्युत्पत्तितसंसर्गनियामकव्यु-
त्पत्तीनां भेदेन कल्पनं, अपि तु सुबर्थप्रकारकभेदसंसर्गकशा-
ब्दत्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन धातुपदजन्योपस्थितिः
कारणमित्येवमादिक्रमेणैकैवेत्याऽऽशङ्कोत, तथाऽपि धात्वर्थस्य,
भावनायाः, कालस्य, विधेश्च पृथक्कार्यकारणभावाकल्पनाद-
स्मन्मत एव लाघवमिति । (१) इष्यते च परैरपि क्लृप्तव्युत्पत्ति-
तः श्रुतशाब्दबोधे वृत्ते पश्चात्तन्निर्वाहार्थमर्थान्तरविषयमनुमानम् ।
यथा—तिङ्गर्थेषु सामान्यसाधनत्वविशेषणीभूते इष्टे प्रथमान्तपदो-
पस्थाप्यस्वर्गकामविशेषणीभूतस्वर्गाभेदस्य । न हि नैयायिक-
मते स्वर्गसाधनत्वं लिङ्गर्थः, अपि त्विष्टसामान्यसाधनत्वमेव ।
न वा कामशब्दविशेषणं स्वर्गपदमिष्टाभेदं प्रतिपादयितुमलम् ।
अतश्चेष्टसाधनीभूतयागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम इति शाब्द-
बोधे वृत्ते पश्चादेव स्वर्गाभिन्नेष्टसाधनं याग इत्यनुमानमिति,
ममाऽपि श्रुतशाब्दबोधे लघुव्युत्पत्तितो वृत्ते पश्चादेव यथाऽनु-
भवं पाष्टिको बोधोऽनुमितशब्दादनुमानाद्भेति न कश्चिद्विरोधः ।
तत्सिद्धं सर्वकारकाणां भावनायामन्वयात्तस्या मुख्यविशेष्य-
त्वमिति ।

न चैवं द्वितीयान्तस्याऽपि भावनायामेवाऽन्वयाद्धातोस्सक-

भावनविचारः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ४३

र्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थानापत्तिः, यद्भात्वर्थस्य पार्ष्टिकान्वये कर्मण आकाङ्क्षा तद्भातोस्सकर्मकत्वाङ्गीकारात् । पार्ष्टिकान्वयलभ्यधात्वर्थकर्मत्वमादायैव चोदनादौ द्वितीयोत्पत्तिः, न तु भावनाकर्मत्वमादाय । अन्यथा 'स्वास्थ्यं शयीते'त्यपि प्रयोगापत्तेः । पार्ष्टिकान्वयलभ्यसकर्मकत्वादिव्यवहारवदेव 'स्तोकं पचती'त्यादौ क्रियाविशेषणानामपि भावनारूपक्रियासम्बन्धोत्तरकाललभ्यो धात्वर्थेनाऽभेदान्वयो द्रष्टव्यः । तस्मात्सिद्धा धात्वर्थातिरेकिणी प्रत्ययवाच्या मुख्यविशेष्या प्रयत्नरूपा भावनेति ।

तत्र च पूर्वोक्तन्यायेन(१) कर्माकाङ्क्षात्वाद्विधिसमभिव्याहाराच्च तस्यां (२)स्वर्गकामाधिकरणन्यायेनेप्सितं जन्यं स्वर्गादि भाव्यत्वेनाऽन्वेति । भावार्थाधिकरणन्यायेन च यागादिः करणत्वेन । न च तस्य यत्नरूपभावनान्यत्वात्कथं तस्यामेव करणत्वमिति वाच्यम् ? भावनाफलजनकत्वेन पारिभाषिकस्यैव भावनाकरणत्वस्याऽङ्गीकारात् । तस्याश्च स्वजन्यकरणेन फले जन्यमानेऽनुग्राहकापेक्षायां (३)प्रकरणाधिकरणन्यायेन प्रयाजादि इति कर्तव्यतात्वेनाऽन्वीयते । अत एव निर्व्यापारस्य द्रव्यस्याऽनुग्राहकत्वायोगात् व्यापारानाविष्टं द्रव्यमपि नेतिकर्तव्यतात्वेन ज्ञायते । व्यापारसम्बन्धोत्तरं तु तस्येतिकर्तव्यतात्वेन बोध इत्यपि तत्र तत्र वक्तव्यं भविष्यति ।

पार्थसारथिमते तु व्यापारसामान्यस्यैव भावनात्वात्प्रयाजादीनां च तद्विशेषाणां व्यापारविशेषाकाङ्क्षरूपेतिकर्तव्यताकाङ्क्षया तत्त्वेनाऽन्वयो न त्वनुग्राहकत्वेन । अत एव व्यापारानाविष्टस्य द्रव्यस्य तद्विशेषत्वायोगान्न तत्त्वेन ग्रहणमिति विशेषो-

१. नियमेन कर्माकाङ्क्षेति. क. ख. पु. २. पू. मी. ६. १. १.

३. पू. मी. ३. ३. ४.

ऽपि प्रकरणाधिकरणे निरूपयिष्यते । न चैवं भावनायां साध्य-
साधनोत्तिकर्तव्यतान्वयेऽपि समानप्रत्ययोपादानश्रुत्या शुद्धाया-
मेव तस्यां विध्यन्वयात्तदुत्तरकालीनस्य तदंशत्रयस्य विधिसंस्पर्-
शाभावेन ग्रहैकत्ववदविवक्षापत्तिः, अंशत्रयान्वयोत्तरं तद्विशि-
ष्टायां भावनायां विध्यन्वयाभ्युपगमे तु 'परिपूर्णं पदं पदान्तरे-
णाऽन्वेती'ति न्यायभङ्गापत्तिरिति वाच्यम् । शुद्धस्य यत्रस्य वि-
धिविषयत्वानुपपत्तेः, सामान्यतो यत्किञ्चिदाक्षिप्तंशत्रयोपेतभा-
वनायामेव विधिसम्बन्धाभ्युपगमेन च पर्यवसानोपपत्तेः, पश्चा-
द्विधारेणापेक्षायां तत्तत्पदैर्विशेषनिर्धारणोपपत्तेः ।

तस्मात्सिद्धा अंशत्रयान्विता प्रत्ययवाच्या भावना । अतश्च
तस्मां धात्वर्थस्यैव करणत्वं शीघ्रं प्रमितमिति पार्ष्टिकफलस-
म्बन्धवेलायां तस्यैवाऽन्वयो न तु द्रव्यादेरिति सिद्धम् । ततश्च
फलसम्बन्धानिर्वाहार्थं कल्प्यमानमपूर्वमपि तत एवेत्यपि सिद्धम् ॥

द्रव्यत्यागाद्भुतवहमुखक्षेपणाच्चाऽऽतिशस्ता
निष्प्रत्यूहं विधिपरिचिता भावनेयं चकास्ति ।
यस्यास्सङ्गादतिशयफलप्रापि यागादिजातं
तामद्याऽहं सुररिपुपदद्रन्द्रपञ्चेऽर्पयामि ॥

इति द्वितीयं भावार्थाधिकरणम् ॥ २ ॥



अथ तृतीयमपूर्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

चोदना पुनरारम्भः ॥ २-१-६ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

एवं तावदपूर्वं सिद्धं गृहीत्वा तज्जनकं विचारितम् । तत्स-
द्भाव एव त्वधुना विचार्यते—किमस्त्यपूर्वम् ? उत नेति ? । अत्र
चाऽऽपूर्वसद्भावस्याऽप्यपूर्वभेदोपयोगित्वात्पादाध्यायसङ्गती पूर्व-
वदेव । आक्षेपिकी त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्रमाणाभावान्नाऽपूर्वमस्ति । तथा हि—न तावदत्र प्र-
त्यक्षादिकं प्रवर्तते, यागस्वर्गसाध्यसाधनभाव इवाऽपूर्वेऽपि
तस्याऽप्रवृत्तेः । नाऽपि शब्दः, तदनुपलम्भात् । न(१) च श्रुत-
यागस्वर्गसाध्यसाधनभावान्यथानुपपत्तिरेव तत्कल्पिका । न
ह्यन्यथा क्षणिकयागस्य कालान्तरभावि स्वर्गसाधनत्वमुपपद्यते ।
अतः प्रमाणान्तराभावेऽपि श्रुतार्थापत्तिरेवाऽपूर्वसद्भावे प्रमाण-
मिति वाच्यम् । साध्यसाधनभावस्याऽन्यथानुपपत्तावप्यपूर्वस्य
तदुपपादकत्वाभावात्कल्पनानुपपत्तेः । न ह्यपूर्वं कल्पिते तेनैव
स्वर्गजननादपूर्वोत्पत्तिं प्रत्यन्यथासिद्धस्य यागस्य स्वर्गजनक-
ता सम्भवति । न चाऽपूर्वस्य शक्तिरूपत्वादवान्तरव्यापारत्वाद्वा
ज्वाल्लादिभिरिव न तेन यागस्याऽन्यथामिद्धिः, शक्तिव्यापारयो-
श्शक्तिमद्द्रव्यापारवन्निष्ठत्वनियमेन शक्तिमति व्यापारवति च यागे
नष्टे शक्तिव्यापारयोरवस्थानानुपपत्तेः ।

न चाऽपूर्वस्य फलबलकल्प्यस्य याग(२)निष्ठत्वासम्भवेऽपि
यागाश्रयभूतात्मनिष्ठत्वकल्पनेनाऽपि शक्तिव्यापारत्वोपपत्तिरि-

ति वाच्यम् । गुरुभूतापूर्वकल्पनां विनाऽपि यागस्वर्गसाध्यसाध-
नभावस्योपपन्नतरत्वेनैतादृशकल्पनायां प्रमाणाभावात् ।

तथा हि—यद्यपि तावत्क्षणिको यागस्साक्षादेव कालान्तरभावि-
स्वर्गजननाय नाऽलम्, तथाऽपि स्वजन्यध्वंसद्वारा समर्थ एव । तस्य
हि यागजन्यत्वसद्भावयोः क्लृप्तत्वात्केवलं फलजनकत्वमात्रं क-
ल्प्यमित्यवान्तरव्यापारत्वं सुलभम् । अपूर्वस्य तु सद्भावः, स्था-
यित्वं, यागजन्यत्वं, स्वर्गजनकत्वं चेत्यनेकपदार्थकल्पनाञ्च त-
त्सुलभम् । (१)यागस्य विनाशित्वप्रतिसन्धानोत्तरकालमेव च
द्वारकल्पनेन विनाशस्योपस्थितत्वाच्च ।

नन्वेवं ध्वंसस्यैव व्यापारत्वे तस्य नित्यत्वेन कीर्तनप्राय-
श्चित्तादिना नाशानुपपत्तेः, (२) 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' 'प्राय-
श्चित्तेन नश्यन्ति पापानि सुमहान्त्पपी'त्यादिशास्त्रविरोधः । न
ह्यनयोज्योतिष्ठोमब्रह्महृत्यानाशकत्वसम्भवः, तयोरानुत्तरविना-
शित्वेन नाशकारणानपेक्षत्वात् । नाऽपि तज्जन्यसुखदुःखनाश-
कत्वम्, तयोरनुत्पन्नत्वेन नाशायोग्यत्वात् । अतः कीर्तनप्राय-
श्चित्तादिनाशयं यागादिजन्यमपूर्वमावश्यकमिति चेत्, क्लृप्तध्वं-
सस्यैव व्यापारत्वेऽवधारिते कीर्तनादीनां फलोत्पत्तिप्रतिबन्ध-
कत्वस्यैव स्वजन्यध्वंसद्वारा साक्षादेव वा कल्पनात् ।

अत एव यागध्वंसस्य नित्यत्वेन स्वर्गोपपत्त्यनन्तरमपि स्व-
र्गान्तरोत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यध्यपास्तम्, स्वर्गध्वंसस्याऽपि तत्प्रति-
बन्धकत्वकल्पनात् । न च कीर्तनादिध्वंसस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पने
प्रयोगान्तरजन्यस्याऽपि फलस्य प्रतिबन्धापत्तिः, तद्यागव्यक्ति-
कीर्तनजन्यध्वंसस्य तद्यागव्यक्तिजन्यफलप्रतिबन्धकत्वकल्पना-
त् । नचैवं गौरवापत्तिः, तस्य फलसुखत्वात् । अपूर्वपक्षेऽ-

१. यागगतविनाशित्वेति, क्र. ख. पु. २. कर्मनाशाजलस्पर्शादित्थमदिः ।

पि समानत्वाच्च ।

अथ वा न कीर्तनध्वंसस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्प्यते, गौरवात्, अपि तु कीर्तनात्यन्ताभावविशिष्टज्योतिष्टोमव्यक्तित्वेन कारणत्वकल्पनान्न कीर्तनस्थले यागध्वंसमात्रात्फलसिद्धिः । अत्र च तद्व्यक्तित्वान्तमवश्यं विवक्षणीयम्, अन्यथा एकव्यक्तिकीर्तने व्यक्त्यन्तरेभ्योऽपि फलानिष्पत्तिप्रसङ्गात् ।

न च कीर्तनवाक्ये कीर्तनमात्रश्रवणात् ज्योतिष्टोमवाक्ये च तन्मात्रश्रवणादुक्तविधकारणतावच्छेदकबोधकाभावः, तस्य वाक्यैकवाक्यतोत्तरमनुमानविधया बोधोपपत्तेः । न हि ज्योतिष्टोमादिवाक्येऽपि ज्योतिष्टोमत्वादिरूपस्य कारणतावच्छेदकस्य वाक्येन बोधः, कार्यतावच्छेदकबोधं विना कारणतावच्छेदकबोधानुपपत्तेः । न ह्यत्र स्वर्गत्वं कार्यतावच्छेदकम्, अपि तु विजातीयस्वर्गत्वम् । न च वैजात्यस्य वाचकं पदमत्राऽस्ति । स्वर्गपदेनैव तल्लक्षणायां प्रमाणाभावात् । अतो वाक्येन सामानाधिकरण्येनैव जन्यजनकभावे बोधिते, पश्चादेवाऽनुमानविधया विजातीयस्वर्गत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे कल्पिते, पश्चादेव ज्योतिष्टोमत्वादेरिवोक्तविधस्याऽपि कारणतावच्छेदकस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् । अतो युक्तं ध्वंसस्यैव व्यापारत्वं, न त्वकल्पस्योऽपूर्वस्य ।

एतेन(१) “तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयती” त्थर्थादोपात्तस्य देवताप्रसादस्यैव (२)रात्रिसत्रन्यायेन द्वारत्वोपपत्तेर्नाऽनुपस्थितापूर्वकल्पनं युक्तमिति वेदान्तिमतमपि प्रत्युक्तम्, ततोऽप्युपस्थिततरध्वंसद्वारकत्वेनैव नैराकाङ्क्ष्ये रात्रिसत्रन्यायानवतारात् । देवताप्रसादस्याऽपीच्छाविशेषरूपस्य क्षणिक-

त्वेन व्यापारान्तरापेक्षणाच्च । तस्य ध्वंसद्वारकत्वाङ्गीकारे च तस्याऽन्तर्गडुकत्वापत्तेर्वरं यागध्वंसस्यैव व्यापारत्वकल्पनम् ।

न च ध्वंसस्य फलकारणत्वे यागस्य कारणीभूताभावप्रतियोगित्वेन प्रतिबन्धकत्वापत्तिः, यस्मिन्नभावे संसर्गाभावत्वेन कारणता तादृशाभावप्रतियोगित्वस्यैव प्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारात् । प्रकृते तु ध्वंसत्वेन कारणता, न तु संसर्गाभावत्वेनेत्यदोषः ।

न च ध्वंसस्याऽभावरूपत्वात्कथं फलजनकत्वम् ? अभावस्य काऽपि कारणत्वाददर्शनादिति वाच्यम् । अभावस्याऽपि कारणत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात् । अत एवाऽनुपलब्धेरभावरूपाया एव घटाद्यभावग्राहकत्वमङ्गीकृतम् । एवं सन्ध्यावन्दनाद्य(१)-भावस्य च प्रत्यवायजनकत्वम् ।

यत्तु वार्तिके नैवाऽभावस्य क्वचिदपि कारणत्वं दृष्टम्, यदि तु सन्ध्यावन्दनादौ क्वचिदुद्भाव्येत, तत् निमेषादिरूपस्य तत्कालक्रियमाणस्य भावस्यैव कारणत्वकल्पनादप्रयोजकमित्युक्तम्, यच्च न्यायसुधाकृता अभावस्य कारणत्वेऽपि भावसहकृतस्यैव तस्य कारणता, न शुद्धस्य, क्वचिदपि तथा अदर्शनात् । सन्ध्यावन्दनाकरणस्याऽपि च विध्यवज्ञारूपभावान्तरसहकृतस्यैव प्रत्यवाय(२)जनकत्वादित्युक्तम्, तदतिशयार्थम्, शुद्धस्याऽभावस्याऽपि कारणत्वाङ्गीकारे बाधकाभावात् । अतोऽभावस्याऽपि कारणत्वाङ्गीकाराद्युक्तं ध्वंसस्याऽपि द्वारत्वम् ।

यत्तु वार्तिके यागध्वंसविशिष्टादात्मन एव फलोत्पत्त्युपपत्तेर्नाऽपूर्वकल्पना युक्तेति पक्षान्तरमुपन्यस्तम्, तदात्मनो नित्यत्वेनाऽवान्तरव्यापारत्वायोगाद्विशिष्टस्य व्यापारत्वाङ्गीकारेऽपि वा लाघवेन ध्वंसस्यैव व्यापारतोपपत्तेरात्मनोऽपि व्यापारान्तः-

प्रवेशे गौरवादुपेक्षितम् । सर्वथा नाऽस्त्यपूर्वमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—फलं तावत्प्रधानकालान्तरभावीति निर्विवाद-
म् । न हि 'यन्न दुःखेने' त्यादिवाक्यशेषावगतनिरतिशयसुखदुः-
खरूपयोस्स्वर्गनरकयोरस्मिञ्जन्मन्युपभोगेऽसम्भवति । ऐहि-
कस्याऽपि वृष्टि(१)पश्वादेऽस्माद्गन्तव्यप्रधानजन्यस्य न प्रधानमात्रो-
त्तरमुत्पत्तिसम्भवः । अतः कालान्तरभाविफलोत्पत्तिर्न क्षणिका-
त्कर्मणो व्यापारमन्तरेण सम्भवतीति व्यापारापेक्षायां न तावत्
ध्वंसस्य (२)व्यापारत्वं सम्भवति । स एव हि व्यापारः कल्प-
नीयो यश्श्रुताविरोधी । तदिह यथैव निरतिशयसुखरूपे स्वर्गा-
ख्ये फले श्रुते, तस्यैह जन्मन्यसम्भवेऽपि जन्मान्तरीयत्वमेव
कल्प्यते, न तु पुत्राद्यपेक्षयाऽऽपेक्षिकं निरतिशयत्वमादाय सा-
र्वभौमत्वादिकं गृह्यते । स्वर्गशब्दस्यैपचारिकत्वाङ्गीकरणे कार-
णाभावात्, जन्मान्तरीयत्वकल्पनस्य च फलमुखत्वेनाऽदोष-
त्वात् । तद्वदिहाऽपि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' 'प्रायश्चित्तेन नश्य-
न्ति पापानि सुमहान्त्यपी'ति कीर्तनप्रायश्चित्तादीनां नाशकत्व-
श्रवणान्नाशाहं किञ्चिदवश्यं कल्पनीयम् । न च यागः, तद्ध्वं-
सः, तत्फलं वा सम्भवति ।

न च नाशशब्दस्य फलोत्पत्तिप्रतिबन्धे, कारणीभूतावच्छे-
दकघटकीभूतात्यन्ताभावे वा लक्षणोति वाच्यम् । लक्षणार्थां
प्रमाणाभावात् । अतश्च क्लृप्तध्वंसद्वारकत्वकल्पनापेक्षयाऽपूर्वक-
ल्पनस्य गुरुभूतत्वेऽपि तस्य फलमुखत्वादवश्यं प्रायश्चित्तादिना-

श्यमपूर्वमेव कल्प्यम् । तेन यथैव(१) निषादस्थपतिपदे लक्षणा-
पादकसमासानङ्गीकरणेन श्रौतकर्मधारयमेवाऽङ्गीकृत्य पश्चादाप-
द्यमानं विद्या(२)तदुपायाक्षेपकत्वं फलमुखत्वादङ्गीकृतम्, तथैव
नाशपदस्य श्रौतार्थलिप्सयाऽपूर्वमङ्गीकर्तव्यमेव ।

किञ्च कीर्तनादेः फलप्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारे तावत् प्रतिब-
ध्यतावच्छेदकस्य तद्व्यक्तित्वस्याऽप्रसिद्धत्वादेवाऽनुपपत्तेः ।
विजातीयस्वर्गत्वादिना प्रतिबध्यताङ्गीकारे च प्रयोगान्तरतोऽपि
फलानापत्तिप्रसङ्गः । कीर्तनात्यन्ताभावविशिष्टज्योतिष्टोम-
व्यक्तित्वेन कारणताङ्गीकारे गौरवं, अनेकार्थकारणभावक-
ल्पनापत्तिश्च । अस्मन्मते तु सद्यपि तत्कीर्तनत्वेन तद्व्यक्ति-
जन्यापूर्वनाशत्वेन कार्यकारणभावानेकत्वे कारणतावच्छेदके
गौरवाभावात् 'धर्मः क्षरति कीर्तनादि'ति शास्त्रोन्नीतत्वेन प्रामा-
णिकत्वाच्च न दोषः ।

किञ्च ध्वंसस्य प्रधानव्यापारत्वे तुल्यन्यायत्वादेङ्गेष्वपि स
एव व्यापारोऽङ्गीकर्तव्यः । ततश्च तस्य नित्यत्वाद्विकृतिप्रयोग-
बेलायामपि सत्त्वाद्विकृतीनां पशुपुरोडाशवत्प्रासाङ्गिकत्वोपपत्तेः
प्रयोगभेदेऽपि तज्जन्यस्योपकारस्य लब्धत्वान्न पृथगङ्गानि क-
र्तव्यानि स्युः । तथा च विकृतौ (३)'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं
जुहोती'ति दर्शनानुपपत्तिः । अस्मन्मते त्वङ्गापूर्वाणां प्रधानापूर्-
वोत्पत्त्यनन्तरं नाशाद्विकृत्यपूर्वसिद्ध्यर्थं पुनरङ्गकरणोपपत्तिः ।
अपि चाऽस्मिन्पक्षे काऽङ्गानामुपयोगः ? न तावत्प्रधाने, त-
स्य प्रयाजाद्यजन्यत्वात् । नाऽपि तद्ध्रंसे, तस्य तानि विनाऽपि
जायमानत्वात् । नाऽपि फले, प्रधानत्वापत्तेः । अतोऽवश्यम-

१. विचारोऽयं षष्ठप्रथमान्तिमाधिकरणे विशदः ।

२. तद्व्यक्तित्वस्योपपत्तिः क. पु.

३. तै. सं. २. ३. २.

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ६१

ङ्गप्रधानव्यवस्थासिध्यर्थमप्यपूर्वं कल्पनीयम् । तदा हि प्रधाने-
नाऽपूर्वं जननीये अङ्गानामपि सहकारित्वकल्पनात्प्रधान एव
वा योग्यताविशेषजननादास्ति तेषामुपयोगः । तस्मादवश्यं या-
गस्य ध्वंसातिरिक्तो व्यापारो वाच्यः ।

न च यागस्यैव तर्हि फलं यावत्स्थायित्वं लाघवादस्तु,
किं व्यापारकल्पनयेति वाच्यम् ? तृतीयादिक्षणे प्रत्यक्षताप-
त्तेः । तद्यागव्यक्तिप्रत्यक्षे तद्यागव्यक्तिद्वितीयक्षणस्य कारण-
त्वकल्पने चाऽनन्तकार्यकारणभावकल्पनापत्तिः । न चैतस्य फ-
लमुखत्वम्, विषयप्रत्यक्षयोः कार्यकारणभावस्य लोकसिद्ध-
त्वेन स्वर्गसाधनत्वज्ञानानपेक्षत्वात् । कीर्तनापूर्वव्यस्त्योर्नाश-
नाशकभावानेकत्वकल्पना तु 'धर्मः क्षरती'ति शाब्दबोधोत्तर-
कालीनत्वात्फलमुखेति विशेषः । अतोऽवश्यं व्यापारो वाच्यः ।
सोऽपि च न देवताप्रसादरूपः, तस्य देवतानिष्ठत्वेन फलव्य-
धिकरणस्य फलजनकत्वानुपपत्तेः, देवतायाश्चैतन्धं, विग्रहः,
प्रसादः, तस्य च स्थायित्वमित्यनेकार्थकल्पनापत्तेश्च । विशि-
ष्य चाऽयं (१)नवमे निराकारिष्यते । अतः(२)परिशेषादपूर्वमेव
कल्प्यम् । तच्च 'यागेनाऽपूर्वं कृत्वा स्वर्गं कुर्यादि'ति(३)श्रुता-
र्थापत्तिकल्पितवैदिकेशब्दगम्यत्वादेव नाऽप्रामाणिकम् । न चै-
वं श्रुतयागस्वर्गसाध्यसाधनभावव्याघातः, अपूर्वस्य शक्तिरूप-
त्वेन व्यापाररूपत्वेन वा कल्प्यमानत्वाच्छक्तिव्यापाराभ्यां च
ज्वालादिवच्छक्तिमतो व्यापारवतो वा साधनत्वाविघातात् ।

न चैवं शक्तिमति व्यापारवति वा यागे नष्टे तन्निष्ठापूर्व-

१. पू. मी. ९. १. ४. २. पारिशेष्यादिति क. ख. पु.

३. श्रुतं शब्दः तत्कल्पकार्थापत्तिरिति व्युत्पत्त्या यत्राऽनुपपद्य-
मानः शब्दः शब्दान्तरं कल्पयति सा श्रुतार्थापत्तिरित्यर्थः ॥

स्याऽपि नाशापत्तिः, अपूर्वस्य यागीयत्वेऽपि(१)फलबलकल्प्य-
त्वेन यागनिष्ठत्वाकल्पनात् । यथैव ह्यनुभवव्यापारस्याऽपि सं-
स्कारस्य नाऽनुभवानिष्ठत्वं, किन्तु फलबलेन स्मृतिसमानाधि-
करणत्वसिद्ध्यर्थमात्मनिष्ठत्वमेव, तथाऽत्राऽप्यपूर्वस्य फलसा-
मानाधिकरण्यासिद्ध्यर्थं फलबलेन फलभोक्तृनिष्ठत्वमेव कल्प्यत
इति न विरोधः । अत एव गयाश्राद्धादौ यत्र पितुः पुत्रस्य च
फलभोक्तृत्वं शास्त्रान्तरप्रामितम्, तत्रोभयनिष्ठापूर्वद्वयकल्पनम् ।
अपूर्वद्वयमपि च तत्र(२)कीर्तननाश्यमेव । एवं दम्पत्योरुभयोर-
पि भोक्तृत्वादुभयनिष्ठमपूर्वद्वयम् । तत्राऽपि तत्तन्निष्ठकीर्तनस्यै-
व तत्तन्निष्ठापूर्वनाशकत्वम् ।

(३)यत्रान्यतरस्यैव रोगादिनिवृत्त्यर्थं दर्शपूर्णमासाद्यनुष्ठानं,
तत्र सत्यपीतरस्य व्यासज्यवृत्तिकर्तृत्वे फलभोक्तृत्वाभावान्न
तन्निष्ठापूर्वान्तरकल्पनम्, अपि तु भोक्तृनिष्ठमेव । अत एव तत्रे-
तरस्य सत्यपि कर्तृत्वे फलभोक्तृत्वाभावान्न तत्र फलिसंस्का-
रा वपनादयः । एवं जातेष्ट्यादौ पुत्रस्यैव फलभोक्तृत्वम्, न
तु पितुः,(४)न तत्राऽपूर्वं फलिसंस्कारो वा । याज्ञिकास्तु
पितर्यपि फलिसंस्काराननुतिष्ठन्त्येव ।

न चैवं पुत्रस्य भोक्तृत्वसत्त्वात्तत्र फलिसंस्कारा अप्यपूर्व-
वदभ्युपगम्येरन्निति वाच्यम् । वपनादीनां कर्तृनिष्ठफलाधान-
योग्यताजननार्थत्वात्पुत्रस्य कर्तृत्वाभावेन वपनादिप्राप्त्यभावा-
त् । वपत इत्यादिषु हि आत्मनेपदानुरोधेन पुरुषप्राधान्येऽवगते
वपनादेरवघातादिवत्संस्कारत्वावगमाद्वपनेन प्रधानफलाधारत्व-

१. फलबलेनेति. क. ख. पु. २. कर्तृकीर्तनेति. क. ख. पु.

३. यत्रेतरस्येति. क. पु.

४. तत्राऽपि, न तत्र अपूर्वमिति. क. ख. पु.

योग्यतासम्पादनद्वारा पुरुषं संस्क्रुर्यादित्यर्थावगतेः, संस्कार्यस्य च भूतभाव्युपयोगापेक्षायां कर्तृत्वद्वारेण यागापूर्वसम्बन्धावगते-
रपूर्वजनकयागकर्तारं यागजन्यफलाधारत्वयोग्यतासम्पादनद्वारा वपनेन संस्क्रुर्यादित्यर्थः प्रतीयते । अतश्च पुत्रस्य कर्तृत्वा-
भावादप्राकृतकार्यकारिणि तस्मिन्न वपनादिधर्मप्राप्तिः ।

न च संस्कार्यस्याऽपूर्वजन्यफलाश्रयत्वसम्बन्धेनैवाऽपूर्वस-
म्बन्धोपपत्तेर्नाऽवश्यं कर्तृत्वेनैव स विवक्षणीय इति वाच्यम् ।
वपत इत्यात्मनेपदेन वपनकर्तारि वपनजन्यफलोत्पत्त्यभिधाना-
द्वपनस्य चाऽङ्गत्वेन प्रधानविधिविधेयस्य प्रधानकर्त्रैव कर्तृनिरूप-
णाद्वपनवाक्ये कर्तृतासम्बन्धस्यैव शीघ्रोपस्थितिकत्वात् । वि-
स्तरेण चाऽयमर्थः (१)तृतीये निरूपयिष्यते । तस्माज्जातेष्टिस्थ-
ले फलिसंस्काराभावेऽपि पुत्रनिष्ठमेवाऽपूर्वं न पितृनिष्ठम् । त-
स्मिंस्तु निमित्तबलादकरण एव दुःखजनकीभूतं प्रत्यवायरूपम-
पूर्वमिति विशेषः । तत्सिद्धं नष्टेऽपि प्रधाने फलबलेनाऽत्मनिष्ठा-
पूर्वकल्पनम् ।

एवमङ्गानामपि प्रधानगतफलजननयोग्यतासम्पादनफल-
कानामनेकेषां युगपद्योग्यतासम्पादकत्वानुपपत्तेरवान्तरव्यापार-
रूपापूर्वकल्पनान्नष्टेष्वेवप्यङ्गेष्व्वात्मगतापूर्वसिद्धिः । तत्र च पर-
म्परासम्बन्धेन प्रधानगतयोग्यताया अपि सत्त्वात्फलसामाना-
धिकरण्यलाभः । तत्र त्वयं विशेषः—आरादुपकारकाणां तावत्स-
मिदादीनां प्रकरणाद्यवगतयागाङ्गभावानामपि प्रधानयागस्वरूप-
स्य तदजन्यत्वात्तत्रोपयोगकल्पनानुपपत्तेः, तज्जन्यात्पत्त्यपूर्वाणां
च प्रधानाव्यवहितोत्पत्तिकानां प्रधानापूर्वात्तरकालवर्तिभिरारा-
दुपकारकैरुत्पत्त्यसम्भवात्तत्राऽनुपयोगेऽपि तेष्वेव तज्जन्या-

पूर्वजननानुकूला योग्यता जन्यते ।

न चोत्तराङ्गानामेव परमापूर्वजननानुकूलयोग्यतासम्पादकत्वमस्तु । पूर्वाङ्गानां तूत्पत्त्यनुकूल(१)योग्यताजनकत्वमेवाऽस्त्विति वाच्यम् । लाघवादारारुपकारित्वावच्छेदेनैव परमापूर्वोपयोगित्वस्य कल्पनात् । न चोत्पत्त्यपूर्वेष्वनुपयोगेऽपि प्रधानापूर्वैः परमापूर्वं जननीयेऽङ्गानामपि स्वस्वावान्तरापूर्वद्वारा सहकारिकारणत्वमस्त्विति वाच्यम् । तथा सति फल इव परमापूर्वेऽपि जनकत्वाविशेषेण प्रधानतुल्यतापत्तेः । अतो योग्यतासम्पादनमेव तैरुत्पत्त्यपूर्वेषु क्रियते । योग्यैश्च तैः परमापूर्वादिजननमिति द्रष्टव्यम् । अत एव प्रधानापूर्वानेकत्वे क्रमेण सर्वेषु तेषु तैरेवाऽपूर्वैर्योग्यतासम्पादनमिति द्रष्टव्यम् । अतश्चाऽन्तिमप्रधानापूर्वनिष्ठयोग्यताजननानन्तरमेव तेषां नाशः । योग्यता चैयमुत्पत्त्यपूर्वाव्यहितापूर्वजननानुकूला । तच्च क्वचिद्वक्ष्यमाणरीत्या समुदायापूर्वम्, क्वचिच्च परमापूर्वमिति विशेषः ।

अत एव प्रकृतौ समुदायापूर्वस्याऽव्यवहितस्य सौर्यादावभावेऽपि परमापूर्वस्यैवाऽव्यवहितत्वात्तदनुकूलैव योग्यता । सुत्याकालीनाङ्गानां च प्रकृतावव्यवहितपरमापूर्वानुकूलयोग्यताजनकानां द्वादशाहे अव्यवहिततत्तत्सुत्यासमुदायापूर्वानुकूलयोग्यताजनकत्वम् । युक्तं चैतत् । कारणस्याऽनुग्रहापेक्षारूपोतिकर्तव्यताकाङ्क्षाख्यप्रकरणादिनाऽवगताङ्गभावानां प्रयाजादीनां साक्षात्प्रधानतदपूर्वार्थत्वयोरसम्भवे तदव्यवहितापूर्वार्थत्वस्यैव कल्पनात् । अतश्चोत्पत्त्यपूर्वाव्यवहितापूर्वजननानुकूलयोग्यतासम्पादनमुत्पत्त्यपूर्वनिष्ठमारारुपकारकाणां स्वावान्तरापूर्वद्वारा फलमिति सिद्धम् ।

यत्र तु “वाजपेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेते” त्यादौ बृहस्पतिसवादीनां वाजपेयेनेति तृतीयाबलेन बृहस्पतिसवव्यतिरिक्तसर्वाङ्गयुक्तवाजपेयानुष्ठानेन तज्जन्यपरमापूर्वनिष्पत्यनन्तरं क्रियमाणानां न परमापूर्वनिष्पत्तावप्युपयोगसम्भवः, तत्र परमापूर्वस्यैव बृहस्पतिसवाकरणे नाशकल्पनात्परमापूर्वस्थापकत्वम्, वैमृधस्य च पौर्णमासीसमुदायापूर्वस्थापकत्वमिति मूलानुयायिनः ।

वस्तुतस्तु बृहस्पतिसवापूर्वं वाजपेयपरमापूर्वावस्थानं यावत् स्थायि, न वा? आद्ये प्रसङ्ग(१)सिध्यापत्तेर्वाजपेयप्रयोगान्तरे पुनर्बृहस्पतिसवाकरणानापत्तिः । नाऽन्त्यः; बृहस्पतिसवापूर्वनाशे वाजपेयापूर्वस्याऽवस्थानानुपपत्तेः । न च बृहस्पतिसवापूर्वानुत्पत्तेरेव तन्नाशकत्वकल्पनात्(२) न दोष इति वाच्यम् । प्रयाजाद्यपूर्वानुत्पत्तेरपि दर्शाद्यपूर्वोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वकल्पनापत्या तस्याऽपि स्थायित्वानापत्तौ पशुपुरोडाशेऽपि प्रसङ्गसिध्यनापत्तेः ।

अथ अपूर्वानुत्पत्तेरश्रुताया गुरुभूतायाश्च कारणत्वाकल्पनात्प्रयाजाद्यपूर्वाणां प्रधानापूर्वनिष्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वं कल्पयते, ततो बृहस्पतिसवाकरणस्याऽपि नाशकारणत्वाकल्पनान्न स्थापकत्वसिद्धिः । अतो वाजपेयपरमापूर्वं एव वाजपेयफलानुकूलयोग्यतासम्पादनं बृहस्पतिसवापूर्वेण क्रियत इति वेदितव्यम् । एवं (३)परिधानीये कर्मण्यपि सादनादिपात्रप्रतिपत्त्यपूर्वस्याऽप्यव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धोपस्थापितामुष्मिकफलसाधनक्रतुजन्यपरमापूर्वनिष्ठयोग्यतां फलानुकूलां प्रत्येव जनकत्वं बोध्यम् ।

१. सिध्यापातेनेति. क. ख. पु. २. नोक्तदोषापत्तिरिति. कं. ख. पु.
३. ‘आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चे’ति वाक्यविहितान्त्येऽस्थाख्ये कर्मणीत्यर्थः ॥

न चाऽविशेषप्रवृत्तप्रतिपत्त्यनुरोधेन कारीर्यादिजन्यवृष्टेर-
प्यामुष्मिकत्वकल्पना, (१) ऐहिकाग्निजनकत्वमनेष्ट्यनुरोधेन
प्रतिपत्तेरैहिकातिरिक्तक्रतुविषयत्वस्याऽऽवश्यकत्वेनैवंविधकल्प-
नस्याऽन्याय्यत्वात् । अत एव पवमानेष्ट्यनन्तरमेव मरणे न
(२) दक्षिणहस्तादिनियमः । याज्ञिकास्तु सादनस्य दाहाङ्गत्वमभि-
प्रेत्य तमनुतिष्ठन्ति । दाहस्य तु संस्कारेषु पाठादामुष्मिकं फलो-
पयोगिसंस्कारं प्रत्यपि जनकत्वात्पवमानेष्ट्यनन्तरं करणेऽपि
न विरोधः । आहिताग्निशरीरप्रतिपत्तिस्तु आनुषङ्गिकीति तद-
भावेऽपि न क्षतिः ।

न चैवं दर्शाद्युत्पत्त्यपूर्वेष्वेव फलजननानुकूलयोग्यताया
उत्तराङ्गैस्सम्पादनोपपत्तेस्समुदायापूर्वपरमापूर्वयोः कल्पनानुप-
पत्तिः, तत्र वा तत्कल्पने बाजपेयेऽपि परमापूर्वजन्यापूर्वान्तर-
स्वीकारापत्तिरिति वाच्यम् । अपूर्वान्तरस्वीकारे मानाभावात् ।
यथा च समुदायापूर्वपरमापूर्वयोः कल्पनोपपत्तिस्तथोत्तरत्र
निरूपयिष्यामः । तत्सिद्धं आरादुपकारकाणामुपयोगः ।

सन्निपत्योपकारकाणां तु श्रुत्याद्यवगतत्रीह्याद्यङ्गभावानां
त्रीह्यादिस्वरूपे आनर्थक्यप्रसङ्गेन तण्डुलादिपरम्परया प्रधा-
नपर्यन्तं गमनात्तत्राऽप्यानर्थक्यप्रसक्तेरुत्पत्त्यपूर्वजननानुकूलत-
द्गतयोग्यतासम्पादनमेव फलमवसीयते । अत एव तत्तदुत्पत्त्य-
पूर्वजननानुकूलतत्तत्प्रधानगततत्तद्योग्यतासम्पादनपर्यन्तं प्रोक्ष-
णादिजन्यावान्तरापूर्वस्याऽवस्थानम् ।

१. आहिताग्निजनकोति. ग. पु.

२. 'दक्षिणे हस्ते जुहुमासादयति, दक्षिणपूर्वं अहवनीयमि'ति
वाक्यविहितदक्षिणहस्तादिनियमः । अत्र च (११-३-१३) अधिक-
रणे विचारित इति द्रष्टव्यम् ॥

न च व्रीहिगतयोग्यताजननमेव प्रोक्षणादेः फलमस्तु, किं प्रधानगतयेति वाच्यम् ? व्रीहिगता हि योग्यता किं तण्डु-
लादिजनिका वा स्यात् ? अपूर्वजनिका वा ? नाऽऽद्यः;
तण्डुलाद्युत्पत्तेर्लोकासिद्धत्वेन प्रोक्षणाद्यजन्यत्वात् । अवघा-
तजन्यत्वेऽपि तन्नियमाजन्यत्वस्य तुल्यत्वाच्च । नाऽऽन्त्यः;
व्रीहीणामपूर्वाजनकत्वात् । परम्परासम्बन्धाङ्गीकारेऽपि(१) वि-
वक्षितरीत्या प्रधानतदपूर्व(२)जनकस्यैवाऽदृष्टोपायापेक्षितत्वेन
तत्रैव प्रोक्षणादीनां योग्यताजनकत्वस्य कल्पनीयत्वात् । अत
उत्पत्त्यपूर्वजनकप्रधानगतयोग्यतासम्पादनफलकानां प्रोक्षणा-
दीनां साक्षात्तत्फलकत्वायोगादवान्तरोपकारद्वारेण तदित्या-
श्रीयते । स चाऽवान्तरोपकारः कचिद्दृष्टरूपो यथा-प्रोक्ष-
णादिषु । कचिद्दृष्टरूपो यथा-अवघातादिषु । यत्राऽपि दृष्टरूप-
स्तत्राऽपि नियमांशेऽदृष्टरूपोऽस्त्येवेति (३)वक्ष्यते । उभयवि-
धोपकारश्चाऽयं व्रीह्यादिगतक्रियाजन्यातिशयशाक्तित्वरूपकर्मत्व-
निर्वाहाय व्रीह्यादिगत एव कल्प्यते, न तु प्रयाजादिवदात्मनिष्ठः ।

अत एव वपनादिजन्यस्याऽदृष्टस्याऽऽत्मगतत्वेऽपि संस्का-
र्यत्वादात्मनः कर्मात्वाविघातः । दृष्टरूपस्य तु वितुषीभावादे-
व्रीह्यादिनिष्ठत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेव । अवघातादिनियमादृष्टस्याऽपि
'यदर्था क्रिया तदर्थो नियम' इति न्यायेन व्रीह्यर्थतावधारणाद्वी-
हिनिष्ठत्वमेव । न चैवं व्रीह्यादिनाशे तन्नाशापत्तिः, व्रीहिनाशे-
ऽपि तद्दृष्टस्य व्रीह्यवयवनिष्ठत्वकल्पनात् । अतः पुरोडाशवृ-
त्तिप्रोक्षणादिजन्यमपूर्वं विषयतासम्बन्धेन पुरोडाशवृत्तियागे उ-
त्पत्त्यपूर्वानुकूलां योग्यतामादधातीति सिद्धम् ।

१. विवक्षितगतयेति. क. ख. पु. २. जन्यजनकभावस्येति. क. ख. पु.

३. अनन्तराधिकरणे स्पष्टमिदम्.

ननृक्तन्यायेनाऽवघातनियमादृष्टस्योपयोगसम्भवेऽपि दाधि-
व्रीह्यादिनियमादृष्टानां न तत्सम्भवः, तद्धि यागे कृते नियमेनो-
त्पद्येत । अतश्च प्रथमक्षणे यागोत्पत्तिः, द्वितीयक्षणे अदृष्टं, तृती-
यक्षणे च तेन योग्यता, तेन चतुर्थक्षणे यागस्य नष्टत्वात् नाऽपू-
र्वोत्पादकत्वसम्भव इति चेत्-न; नियमादृष्टं हि न नियमज-
न्यं, किन्त्ववघातजन्यमेव । वितुषीभावे तूद्देश्यताऽप्याधिकेति
परं (१)वक्ष्यते । अतश्च तुल्यन्यायत्वादध्यादिभिर्यागे जन्यमाने
तस्मिन्नेव क्षणे तैरदृष्टमपि, द्वितीयक्षणे तेन यागे योग्यता, तृतीयक्ष-
णे च योग्येन तेनोत्पत्त्यपूर्वं यागनाशश्चेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।

अत एव तददृष्टस्य न दध्यादिनिष्ठता, तस्य यागसमान-
काल एव प्रक्षिप्यमाणत्वेन तन्नाशे नाशपत्तेः । अपि तु याग-
निष्ठता आत्मनिष्ठता वा । येषां तु प्रधानसमकालानां तदुत्तर-
भाविनां वा प्रक्षेपस्विष्टकृदादिभिक्षाणां प्रतिपत्तित्वेन नोत्पत्त्य-
पूर्वोत्पत्त्युपयोगिप्रधानगतयोग्यताजनकत्वसम्भवः, तेषामपि पर-
मापूर्वजननानुकूलोत्पत्त्यपूर्वगतयोग्यताजनकत्वेन वा उत्पत्त्यपूर्व-
स्थापकत्वेनैव वोपयोगो द्रष्टव्यः । अत एव तन्नियमापूर्वमप्यात्म-
गतमेव कल्प्यते, न तु संस्कार्यत्वेऽपि द्रव्यगतम्, तस्य प्रतिपत्ति-
नाशत्वेनाऽपूर्वाधारत्वानुपपत्तेः । संस्कार्यत्वं च तत्र दृष्टरूपसं-
स्काराश्रयत्वादेवोपपन्नमिति न कश्चिद्विरोधः । तदेवमङ्गानां प्र-
कारभेदे सत्यपि सर्वेषां साक्षात्परम्परया वा करणानुग्राहक-
त्वात्तदितिकर्तव्यतात्वोपपत्तिः ।

तत्सिद्धं नष्टेऽपि व्यापारिणि फलबलेनाऽऽश्रयान्तरकल्प-
नोपपत्तेरपूर्वव्यापारेणैव यागादीनां फलजनकत्वमिति । तद्यत्र
एकमेव प्रधानं पूर्वोत्तराङ्गविशिष्टं फलसाधनं तत्र प्रधानानन्तर-

क्षणे एकमपूर्वमपरं च सर्वाङ्गसमाप्त्युत्तरं परमापूर्वम् । एवं यत्र प्रधानान्यनेकानि तत्राऽपि तावन्त्युत्पत्त्यपूर्वाणि, एकं परमापूर्वमित्युत्सर्गः । यत्र तु दर्शपूर्णमासादौ पौर्णमास्यां दर्शे च साङ्गत्रिकद्वयानुष्ठानम्, तत्रैकैकस्मिन्समुदाये उत्पत्त्यपूर्वत्रयेण सर्वाङ्गकरणात्तैरेकैकं समुदायापूर्वं जन्यते । ततश्च समुदायद्वयान्ते ताभ्यामेकं परमापूर्वमिति विशेषः । अत एवाऽऽरादुपकारकाङ्गानामपि तत्तत्समुदायापूर्वं एवोपयोगकल्पनात्समुदायद्वयेऽपि पुनः पुनरनुष्ठानमङ्गानां न विरुध्यते ।

न च द्विरङ्गानुष्ठानस्य परपूर्वं एवोपयोगसम्भवात्समुदायापूर्वकल्पने मानाभावः, “पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत” “अमावास्यायाममावास्या यजेते”ति वाक्यद्वयावगतकरणत्रयसाहित्यस्यैव मानत्वात् । यद्यपि चोत्पत्तिवाक्ये प्रत्येकमेव करणत्वादत्राऽपि न(१)त्रिकनिष्ठं व्यासज्यवृत्त्येकं तत्, तथाऽपि करणतात्रयसाहित्यस्योपादेयगतस्थैककार्यनिरूपितत्वमावश्यकम्, अन्यथा चित्रासौर्यादाविव साहित्यव्यवहारानुपपत्तेः । अत एव समुच्चित्यैककार्य(२)कारित्वमेव साहित्यपदार्थः । इदं च न फलानिरूपितम्, करणषट्कसाहित्यस्यैव तदङ्गत्वात् । अत एव न परमापूर्वनिरूपितम् । नाऽभ्युत्पत्त्यपूर्वनिरूपितम्, तस्यैककरणजन्यत्वात् । अतस्तत्तद्वाक्ये करणत्रयसाहित्यस्याऽपि कार्यापेक्षार्यां समुदायापूर्वद्वयसिद्धिः । अत एव सान्नाय्ये दधिपयसोस्सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन सहानुष्ठानादेकमेवाऽपूर्वमस्त्वित्यपास्तम् । तत्तदुत्पत्तिवाक्ये निरपेक्षकरणत्वस्य निरूपकापेक्षायामन्यासम्भवेनैवाऽपूर्वद्वयसिद्धेः । एवमग्निहोत्रचातुर्मास्यादिव्यपि सायं प्रातरादिवाक्येषु करणत्वेन प्रयोगविधानात्समुदा-

यापूर्वसिद्धिः ।

अग्निहोत्रे तु सत्यपि कर्मकत्वे देवतासमुच्चयाद्यनुरोधेनाऽभ्यासादुत्पत्त्यपूर्वभेदावगमात्कालभेदेन समुदायापूर्वभेदात्तदुत्तरं परमापूर्वोत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । सोमे तु सत्यप्यभ्यासादुत्पत्त्यपूर्वभेदे समुदायापूर्वाभावात्तदुत्तरमेव परमापूर्वोत्पत्तिः । द्वादशाहादौ तु तत्तदहर्वाक्यगतकरणत्वबलेन तत्तत्सुत्यापूर्वाण्यपि तत्तद्ब्रह्मज्यभ्यासोत्पत्त्यपूर्वजन्यानि कल्पन्त इति तैरेव परमापूर्वसिद्धिः ।

ननु कल्पन्तां तत्र तत्रोत्पत्त्यपूर्वाणि, करणत्वबलेन वा समुदायापूर्वाणि, परमापूर्वे तु नैव किञ्चित्प्रमाणं पश्यामः । तथाहि—यत्र तावदस्ति समुदायापूर्वं, तत्राऽऽरादुपकारकाणां तत्रैवोपयोगान्नाऽतिरिक्त्वापूर्वान्तरकल्पनायां प्रमाणमस्ति । यत्राऽपि च न समुदायापूर्वं, तत्राऽप्युत्तराङ्गैरुत्पत्त्यपूर्वेष्वेव फलजननानुकूलयोग्यतासम्पादनोपपत्तेर्नाऽतिरिक्त्वापूर्वकल्पनम् । यत्र नैवाऽऽरादुपकारकाण्युत्तराङ्गानि सन्ति, तत्र परमापूर्वकल्पनायां किं प्रमाणम् ? यदि चाऽङ्गवैयर्थ्यानुपपत्त्या परमापूर्वं कल्पयेत्, ततो विकृतिषु परमापूर्वकल्पनाभावेन द्वारलोपान्नाऽङ्गानि प्राप्नुयुः । अतः किं परमापूर्वसद्भावे प्रमाणमिति चेत्—न; दर्शपूर्णमासादौ तावत्फलवाक्ये साहित्यविशिष्टानां षण्णां यागकरणतानां फलनिरूपितत्वावगमात्तस्य च व्यापारमन्तरेणाऽनुपपत्तेः(१) तदपेक्षायां परमापूर्वकल्पनोपपत्तेः । न हि तत्रोत्पत्त्यपूर्वाणां समुदायापूर्वयोर्व्यापारत्वं सम्भवति, तेषां षट्साहित्यावच्छिन्नजन्यत्वाभावात् । फलनिरूपकतावच्छेदकावच्छिन्नजन्यस्यैव व्यापारत्वौचित्यात् । यद्यपि चाऽत्र प्रतियागं करणताभेदः, तदवच्छेदकानि चाऽऽग्नेयादीनि भिन्नान्येव, तथाऽपि सर्वासु करणतास्वेका फलनिरूपकता,(२)फलस्यैक्यात् । तदवच्छे-

दकञ्च षट्साहित्यम् । न च तदवच्छिन्नजन्यत्वमुत्पत्त्यपूर्वादीनां सम्भवति । अतस्तेषां व्यापारत्वायोगात्परमापूर्वसिद्धिः ।

न चैवं समुदायादिवाक्येष्वपि करणत्वश्रवणात्तस्य च कार्यनिरूपितत्वात्कार्यरूपापूर्वकल्पनवज्यापारापेक्षायां व्यापाररूपाणामप्यपूर्वान्तराणां कल्पनापत्तिः, अनेकापूर्वकल्पना(१)भियामुदायादिवाक्येषु साधकतमत्वापरपर्यायानन्तरकार्योत्पादकत्वरूपस्यैव करणत्वस्य विवक्षितत्वात् । अनुशिष्टैव हि तादृशकरणतायां तृतीया पाणिनिनाऽपि । फलवाक्ये तु फलस्य कालान्तरभावित्वेन तादृशकरणत्वस्य बाधाव्यापारवदसाधारणकारणत्वरूपा करणता वाच्या । न चाऽसौ व्यापारमन्तरेण सिध्यतीत्युक्तविधया परमापूर्वसिद्धिः ।

एवमङ्गानामपि परस्परसहितानामेव प्रयोगविधिवलेन प्रधानोपकाररूपफलजनकत्वावगमात्तस्य चाऽव्यवधानेनाऽनुत्पत्तेर्व्यापारापेक्षयामवान्तरोपकारकाणां साहित्यावच्छिन्नाजन्यत्वेन व्यापारत्वायोगात्परमापूर्वस्थानापन्नमेकमपूर्वं व्यापारत्वेन कल्प्यते । (२)पार्थसारथेस्त्वेतदानिच्छतः परमापूर्वमपि न सिध्येदिति ध्येयम् । यत्र त्वेकमेव प्रधानं पूर्वोत्तराङ्गविशिष्टफलजनकत्वेन

१. गौरवभियेतिः क. ख. पु.

२. मिश्राणामयमाशयः—आग्नेयादिषु प्रधानेषु फलाकाङ्क्षाया उत्कटत्वात् फलस्य च कालान्तरजन्यत्वात् कथमस्माभिः कालान्तरजन्यं स्वर्गरूपं फलं साधनीयमिति सर्वसाधैकपरमापूर्वकल्पकजिज्ञासोदयात्तत्र तत्कल्प्यते । तथा सर्वेष्वप्यङ्गेषु अन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्ताङ्गानुष्ठानाव्यवहितोत्तरमेव तज्जन्यस्य क्रतूपकारस्योत्पत्तेः, कथमस्माभिः कालान्तरभविक्रतूपकारस्सम्पाद्य इति जिज्ञासानोदेति, किन्तु कथं साहित्यमस्माकमित्येव जिज्ञासा । सा च तत्तत्प्रातिस्विकापूर्वकल्पनामात्रेणैव शाम्यतीति न परमापूर्वस्थानापन्नमेकमपूर्वं कल्प्यत इति ॥

श्रूयते, तत्र फलस्य कालान्तरभावित्वेन व्यापारापेक्षार्या कल्पितस्याऽपूर्वस्याऽपि साङ्गप्रधानोत्तरकालोत्पत्तिकत्वावगतेर्युक्ता तत्राऽपि परमापूर्वसिद्धिः ।

न च तत्राऽऽवश्यकत्वेनोत्पत्त्यपूर्वैर्नैव फलसिध्युपपत्तेरपूर्वान्तरकल्पने गौरवमिति वाच्यम् । (१)साङ्गस्य फलजनकत्वश्रवणान्यथानुपपत्त्या कल्पितस्याऽप्यपूर्वस्य साङ्गप्रधानानन्तरमेवोत्पत्तिसम्भवेन गौरवस्याऽपि प्रामाणिकत्वात् ।

न च औत्तरकालिकेनाऽपि गौरवप्रतिसन्धानेन पूर्वप्रमितस्याऽपि साङ्गप्रधानानन्तर्यस्य बाध एव किं न स्यादिति वाच्यम् ? तथात्वे श्रुतायास्साङ्गफलकरणताया एव बाधापत्तेः ।

अस्तु वा तादृशस्थले उत्पत्त्यपूर्वादेव फलम्, अङ्गानां च फलानुकूलयोग्यताजनकत्वम् । न चैवं विकृतिषु परमापूर्वाभावादिदेशानापत्तिः, प्रकृतानुत्पत्त्यपूर्वगताव्यवहितकार्यजननानुकूलयोग्यताजनकत्वस्यैवाऽऽरादुपकारकाङ्गकार्यत्वेन विवक्षितत्वात् । तच्चोत्पत्त्यपूर्वा(२)व्यवहितं क्वचित्समुदायापूर्वं, क्वचित्परमापूर्वं, क्वचित्फलमेवेति युक्तोऽतिदेशः । उक्तश्चाऽयमपि पक्षो वार्तिककृता 'क्वचिदाहु' रित्यादिना । अत एव दर्शपूर्णमासादिष्वपि परमापूर्वं विनैव क्लृप्तापूर्वैरेव फलसिद्धेर्न तत्कल्पनमित्यपि सुवचम् । सर्वथा सिद्धमपूर्वम् ।

अस्य चाऽधिकरणस्याऽऽक्षेपसमाधानरूपत्वान्न स्वातन्त्र्येण प्रयोजनकथने यतितव्यम् । सूत्रं तु-आरभ्यत इति आरम्भः अपूर्वं, तत्पुनः उत्पाद्यते यागेन । यतो यागस्वर्गसाध्यसाधनभावस्य वाक्येन चोदनेति व्याख्येयम् ॥ ६ ॥

इति तृतीयमपूर्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं तानिद्वैधाधिकरणम् ॥ ४ ॥

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ २-१-७ ॥

(विषयसंशयौ)

एवं तावत्सिद्धमपूर्वम्, तच्च धात्वर्थादेवेत्यपि, धात्वर्थ-
स्याऽपूर्वजनकत्वे द्रव्यादेस्तदर्थत्वमित्यपि च । इदानीं तदपवादः
प्रस्तूयते । “ब्रीहीनवहन्ति” “तण्डुलान् पिनष्टि” इत्यादाववघातपे-
षणादीनां स्वतन्त्रापूर्वार्थत्वं, ब्रीह्यादेस्तु तदर्थत्वम् ? उत तेषां
वितुषीभावादिरूपप्रयोजनलाभान्नाऽदृष्टार्थत्वम्, ब्रीह्यादेस्तु अव-
घातादीन्प्रति प्राधान्यादेव न तदर्थत्वम् ? इति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

सति च दृष्टार्थत्वे धात्वर्थभावनाभेदसत्त्वेऽप्यपूर्वभेदा-
भावात् अपूर्वभेदोपयोगिचिन्तनात्मकत्वेन पादाध्यायसङ्गत्य-
विघातः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र ‘अवहन्ती’(१)त्यवघातभावनाया अन्योत्पादकस्वभाव-
त्वेन जन्यभाव्यापेक्षायां सत्यपि ब्रीह्यादीनां द्वितीयया कर्मत्वा-
वगमे तेषामवघाताद्यजन्यत्वेन भाव्यत्वायोगान्न तावदवघातो
ब्रीह्यर्थः । न च स्वरूपेण ब्रीहीणामजन्यत्वेऽपि वैतुष्यविशिष्टत्वेन
भाव्यत्वोपपत्तिः, वितुषीभावजनकत्वेनाऽवघातस्य लोकेत एव
प्राप्तत्वेन तदंशे विधि(२)वैयर्थ्यात् ।

न च लोकेतो विदलनादेरपि प्राप्तत्वेन तन्निवृत्तिफलकस्य
नियमस्यैवाऽयं विधिरस्त्विति वाच्यम् । तर्हि नियमेन वितुषीभा-
वस्याऽप्यजननात्तद्वैशिष्ट्यरूपेणाऽपि ब्रीहीणां नियमं प्रति भाव्य-

तानुपपत्तेः । (१) न च नियमं प्रति वितुषीभावाविशिष्टत्वेन भाव्य-
तानुपपत्तावप्यदृष्टविशिष्टत्वेन भाव्यत्वोपपत्तिः, अशाब्दनियमा-
दृष्टकल्पनापेक्षया शाब्दावघातादेव तत्कल्पनस्योचितत्वात् ।

न चाऽस्तु तर्ह्यवघातादेव व्रीहिनिष्ठाददृष्टकल्पनमिति न
व्रीहिणामवघातार्थत्वसिद्धिः, अदृष्टे आत्मनिष्ठत्वेन प्रयाजादि-
जन्यादृष्टवदनपेक्षिताश्रये व्रीह्याश्रयत्वकल्पनापेक्षया अवघात एव
द्रव्यापेक्षे व्रीहिरूपद्रव्यविधिप्रतीतेः । अत एवाऽपेक्षितविधिला-
भाय प्रयाजशेषाभिधारण इव लक्षणया द्वितीयाविभक्तिः कर-
णत्वपरा अनीप्सितकर्मत्वपरा वा नीयमाना न दुष्यति ।

न च तवाऽपि व्रीहिविधेस्तन्नियमाविधेर्वा अवघातविधिवदे-
वाऽनुपपत्तिस्तुल्येति वाच्यम् । अवघातजन्यादृष्टं प्रत्येव व्रीहि-
नियमाविधेरुपयोगोपपत्तेः । त्वया त्ववघातस्य व्रीहिसाध्यापूर्वं
प्रत्युपयोगाङ्गीकारे व्रीहिसाध्यस्य यागजन्यापूर्वस्य यागभावना-
यामेव भाव्यत्वेनाऽन्वयान्नाऽवघातभावनायां भाव्यत्वेन तद-
न्वय इत्यवघात(२)जन्येप्सितरूपभाव्याभावप्रसङ्गः । तस्माद्व्री-
हिविशिष्टोऽवघात एव प्रयाजादिवददृष्टार्थं विधीयत इति प्राप्ते-
(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—यत्र दृष्टप्रयोजनं न सम्भेवति तत्र युक्ता
अदृष्टस्याऽपि कल्पना आत्मनिष्ठस्याऽपि । यत्र तु दृष्टप्रयोज-
नसम्भवः यथा प्रकृते, न तत्राऽऽत्मनिष्ठादृष्ट(३)कल्पना । अत
एवोभयत्र क्रियां प्रति द्रव्यस्य यथायथं गुणत्वं प्राधान्यं च,
क्रियायाश्च द्रव्यं प्रति प्राधान्यं गुणत्वं च । अतो धात्वर्थरूप-
क्रियाप्रतिपादकान्यारूपातान्तानि पदानि यथासम्भवं गुण-

१. न हीति. ग. पु.

२. विधौ जन्येति. क. ख. पु.

३. कल्पनमिति. ख. पु.

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्यः प्रथमः पादः । ६५

प्रधानभावेन द्विविधानि विज्ञेयानीति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

यैस्तु द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि
द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ २-१-८ ॥

नन्वेवमपि क्व दृष्टप्रयोजनासम्भवेन प्रधानकर्मता, क्व वा तत्सम्भवेन गुणकर्मत्वमित्याशङ्क्य पूर्वपक्षयुक्तप्रयाजदृष्टान्तवैषम्यप्रदर्शनार्थं चाऽनेन सूत्रेण प्रधानकर्म(१)लक्षणमुच्यते । येषां हि यागीयद्रव्यदेवतादिसंस्कारार्थत्वं तदङ्गताबोधकप्रमाणभावेन नेष्यते, तानि कर्माणि स्वतन्त्रात्मनिष्ठादृष्टजनकानि सन्ति द्रव्यादि प्रति प्रधानभूतानि । द्रव्यादीनि च तत्र 'सिद्धसाध्यसमभिव्याहारे(२) सिद्धं साध्याथोपयुज्यत' इति न्यायेन तृतीयाश्रुत्यैव वा क्रियां प्रति च गुणभूतम् ॥ ८ ॥

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य
द्रव्यप्रधानत्वात् ॥ २-१-९ ॥

येषां तु यागीयद्रव्यादिसंस्कारार्थत्वं प्रमाणवशेन निर्ज्ञातं तेषां दृष्टप्रयोजनासम्भवे 'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यादावदृष्टद्वाराऽपि यदा द्रव्यसंस्कारार्थत्वं प्रोक्षणादेरभ्युपगम्य द्रव्यं प्रति गुणकर्मत्वमुत्तराधिकरणे उपपादयिष्यते, तदा को नाम 'व्रीहीन्वहन्ती'त्यादौ पुरोडाशनिष्पत्त्यौपयिकवितुषीभावरूपद्रव्यप्रयोजनाल्लभसम्भवे अदृष्टकल्पनया प्रधानकर्मत्वमापादयितुं समर्थः ? अत एव तत्र भावनाभाव्यमपि वितुषीभावविशिष्टत्वेन व्रीहय एव ।

१. कर्मणो लक्षणमिति. ग. पु.

२. सिद्धं साध्यार्थमिति न्यायेति. क. ख. पु.

चतुर्विधं हि सर्वत्र भाव्यमिष्यते--किञ्चित्स्वत एवोत्पाद्यत्वेन, यथा-संयवनेन पिण्डः । किञ्चिदाग्निविषयत्वेन, यथा-दोहनेन पयः । किञ्चिद्विकारविशिष्टत्वेन, यथा-अवघातेन व्रीहयः । तत्र वितुषीभावाख्यो विकारो जन्यते । किञ्चिच्च संस्कारविशिष्टत्वेन । यथाऽत एव प्रोक्षणेनाऽदृष्टरूपसंस्कारजननात् । अतश्च व्रीहीणां स्वरूपेण भाव्यत्वायोगेऽपि युक्ता वितुषीभावविशिष्टत्वेन भाव्यता ।

न च वितुषीभावसाधनत्वस्य लोकत एव प्राप्तत्वाद्विधिवै-
यर्थ्यम् । लोकस्याऽव्यभिचरितान्वयव्यतिरेकग्रहसापेक्षत्वेन वि-
लम्बितत्वात्ततः पूर्वमेव विधिवाक्येन तद्विधानात् । तत्प्रयोजनं
च विदलनादिव्यावृत्तिफलको नियमः । तस्याऽपि च प्रयोजनं
दृष्टाभावाददृष्टम् । तस्य चाऽदृष्टस्य (१) वितुषीभावप्रयुक्तावघातो-
पजीविनियमजन्यत्वान्न कृष्णलचरौ वैतुष्यासम्भवे नियमावघात-
प्रयोजकत्वम् । यदि त्वशाब्दस्य नियमस्याऽदृष्टजनकत्वानुपप-
त्तिराशङ्क्येत, ततो विधेयादवघातादेवाऽदृष्टं कल्प्यते । तच्च वि-
तुषीभावस्य मुख्यफलत्वेऽप्यानुषङ्गिकत्वेन कल्प्यते, न त्व-
नुष्ठापकत्वरूपमुख्योद्देश्यतया, गौरवापत्तेः । अत एव कृष्णल-
चरौ वैतुष्याभावेनाऽदृष्टानुरोधेनाऽवघातानुष्ठानम् । उद्देश्यता-
वैजात्याच्च नोद्देश्यानेकत्वानिमित्तको वाक्यभेदोऽपि । आर्थिक-
विध्यन्तरफलत्वाद्वा न सः । अदृष्टस्याऽननुष्ठापकताऽपि चैता-
दृशी—यद्वैतुष्याभावे तस्याऽननुष्ठानं, न तु वैतुष्यसम्भवेऽपि
तत्, विदलनादेरप्यनुष्ठानापत्तेः । अत एव तद्व्यावृत्तिफलक-
नियमफलकत्वान्नियमादृष्टत्वव्यवहारः ।

ननु (२)नवमाधिकरणन्यायेन व्रीहिपदेऽपूर्वसाधनत्वलक्ष-

णाया आवश्यकत्वादवघातविधेर्व्रीहिस्वरूपे वितुषीभावस्वरूपे वाऽऽनर्थक्येऽपि तज्जन्यप्रधानापूर्वस्याऽवघातं विनाऽनुत्पत्तेस्तदुत्पत्त्यर्थत्वेनाऽवघात(१)विधिसार्थक्यात्कृतं नियमादृष्टेन । (२)नियमादृष्टकल्पने वा तेनैवाऽऽनर्थक्यपरिहारोपपत्तेः कृतमपूर्वसाधनत्वलक्षणयेति चेत्—न; अवघातं विना विदलनादिना वितुषीभावसत्त्वेनाऽपूर्वानुत्पत्तौ प्रमाणाभावात् । न चाऽवघाताभावे तज्जन्यवितुषीभावाभावात्सामग्र्यभावः, अवघातविदलनजन्यवितुषीभावव्यक्त्यवैजात्ये प्रमाणाभावेनाऽवघाताभावेऽपि तज्जन्यवितुषीभावसत्त्वात्सामग्र्यभावासिद्धेः ।

न च कार्यकारणभावे व्यभिचारपरिहारार्थमेव वैजात्यकल्पना, अनेकार्थकारणभावादिकल्पनागौरवभिया द्वयोरेकशक्तिमत्त्वेन कारणताङ्गीकारात् । यत्र तु व्रीहियवादिवाक्ये कारणताद्वयं (३)प्रमाणसिद्धं तत्रैव परमाग्नेयादौ वैजात्यकल्पनमिति (४)तेषामर्थाधिकरणे वक्ष्यते, न त्वत्र । अतश्चाऽपूर्वसाधनत्वलक्षणायामप्यवघातविधिवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वादवश्यमवघातेन वैतुष्यवददृष्टमपि व्रीहिनिष्ठमाधेयम् । अन्यथा अवघातस्याऽपूर्वसाधनत्वानुपपत्तेः ।

न चैवमपूर्वसाधनत्वलक्षणवैयर्थ्यम्, नियमादृष्टस्याऽपि व्रीहिस्वरूपे अनुपयोगित्वेन प्रधानापूर्वार्थत्वावश्यंभावात् । अतस्सिद्धा अवघातस्य नियमादृष्टजनकत्वेऽपि दृष्टवितुषीभावद्वारा व्रीह्यर्थता, योग्यतारूपाल्लिङ्गात्, द्वितीयाश्रुतेर्नियमविधिलाघवाच्च । एवं च द्वितीयविधिप्रकाराङ्गीकरणाल्लाघवम् । इतरथा विशिष्टविध्याश्रयणात्प्रकाराङ्गीकरणे गौरवं स्यात् । तस्मान्नाऽव-

१. विधेस्सार्थक्येति. क. ख. पु. २. अवश्यं वा नियमेति. क. पु.
३. प्रमाणसिद्धमिति नाऽस्ति. क. पु. ४. पू. मी. ३. १. ४.

घातप्रयोजनीभूताहृष्टकल्पनम् । अतश्चैतादृशस्थले घात्वर्थ-
भावनाभेदसत्त्वेऽपि न प्रयोजनीभूतापूर्वभेदः ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे(१) 'प्रैयङ्गवश्चरुर्भवती'त्येतद्वाक्यविहिते
यागे यागीयहविःप्रकृतिभूतव्रीह्यभावेऽप्यतिदेशप्राप्तावघाताङ्गत्वेन
व्रीह्यस्सम्पाद्या एव । यथा—अतिदेशप्राप्तप्रयाजाद्यङ्गत्वेनाऽऽ-
ज्यम् । न च प्रकृतौ निर्वापोत्तरकालमवघातानुष्ठानादवघातस्य
परप्रयुक्तव्रीह्युपजीवित्वावगतेः प्रैयङ्गवचरौ तदभावे अवघा-
तस्याऽननुष्ठानमेव स्यान्न तदनुरोधेन व्रीहिसम्पादनमिति
वाच्यम् । अवघातस्य वाजिनादिन्यायाविषयत्वेन परप्रयु-
क्तव्रीह्युपजीवित्वासिद्धेः ।

तथा हि—न तावत्(२)वाजिनन्यायाविषयत्वम्, दध्यानयनस्य
ह्यामिक्षार्थत्वं वाक्यीयं, न वाजिनार्थत्वम् । अत आमिक्षाप्रयु-
क्तदध्यानयनानुनिष्पन्नत्वाद्वाजिनस्य न दध्यानयनप्रयोजकतेति
हि तन्न्यायः । न चाऽऽसौ प्रकृते समस्ति, व्रीहीणां यागाङ्गत्व-
स्येवाऽवघाताङ्गत्वस्याऽपि वाक्यीयत्वाविशेषात्, वाजिनवद-
वघातस्याऽनुनिष्पन्नत्वाभावाच्च ।

नाऽपि (३)पदकर्मन्यायः, तत्र हि 'तेनाऽक्षमुपांज्यादि'ति
तच्छब्दस्य 'सप्तमं पदमध्वर्युरञ्जलिना शृङ्गाती'त्यत्र च पदश-
ब्दस्य सापेक्षत्वाद्युक्तं परप्रयुक्तक्रयाङ्गभूतैकहायनीनयनोपजी-
वित्वम्, प्रकृते तु व्रीहिशब्दस्य प्रकृतानपेक्षत्वान्न यागीयव्रीह्युप-
जीवितेति विशेषः । 'पुरोडाशकपालेने'तिवच्च प्रयोजकयुक्ता-
भिधानाभावान्न (४)पुरोडाशकपालन्यायः । व्रीहिशब्दस्य सप्त-

१. तै. सं. २. २. ११. ४. २. पू. मी. ४. १. ९.

२. पू. मी. ४. १. १०. ४. पू. मी. ४. १. ११.

स्बन्धिकत्वाभावात् न(१)उत्तरार्धन्यायोऽपि । (२)निनयनन्या-
यस्तु प्रतिपत्तित्वाभावादेवाऽनाशङ्कः । न च गुणस्य गोदोहना-
देः परप्रयुक्ताश्रयोपजीवित्वेनाऽऽश्रया(३)प्रयोजकत्वादवघातस्या-
ऽपि यागप्रयुक्तव्रीह्याश्रयत्वात्तदप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । प्रण-
यनादेर्हि गुणाङ्गत्वे प्रमाणाभावेन गुणस्य तत्प्रयोजकत्वानुपपत्ते-
र्युक्ता तस्य परप्रयुक्तोपजीवकता । व्रीहीणां तु यागाङ्गत्वस्येवा-
ऽवघाताङ्गत्वस्याऽपि वाक्यीयत्वाविशेषाद्विनिगमनाविरहेणै-
कस्येतरप्रयुक्तोपजीवकत्वानुपपत्तेः ।

न च निर्वापेण व्रीहीणां यागीयत्वनिश्चयाद्यागप्रयुक्तत्वा-
वगतोर्विनिगमकसत्त्वेन तदुत्तरभाविनोऽवघातस्य तदुपजीवक-
त्वोपपत्तिः, एतत्पूर्वपक्षे निर्वापस्याऽप्यारादुपकारकत्वेनाऽवघा-
ततुल्यत्वात्तेन व्रीहीणां यागीयत्वनिश्चयानुपपत्तेः । न च निर्वा-
पार्थमुपात्तानां तर्ह्युपादानलाघवेन ग्रहणोपपत्तेरवघातस्याऽ-
न्यानाक्षेपकत्वम्, निर्वापसाधनानां तदवशिष्टानां च सन्निहि-
तत्वाविशेषेणोपादानलाघवस्याप्यनियामकत्वात्, निर्वापे कृते
तत्साधनानामपि लौकिकत्वाविशेषाच्च । अत एव क्लृप्त-
सामान्यसम्बन्धत्वादाग्रेयीन्यायेन निर्वापसाधनानामेव ग्रहण-
मित्यपास्तम् । निर्वापे कृते तत्साधनीभूतव्यक्तिविशेषस्य लौ-
किकत्वाविशेषेण सामान्यसम्बन्धाक्लृप्तेः । व्रीहिजातीयस्य तु
सामान्यसम्बन्धो निर्वापवाक्य इवाऽवघातवाक्येऽपि तुल्य एव ।
आग्नेयीवाक्ये हि न(४)मन्त्रविशेषोपादानम्, अपि तु स्तोत्रादि-
सम्बन्धेनैव तत् । प्रकृते तु यथैव निर्वापवाक्ये व्रीह्युपादानं

१. पू. मी. ४. १. १३. २. पू. मी. ४. २. ५.

३. प्रयोजकत्ववदवघातेति क. ख. पु.

४. क्लृप्तसामान्यसंबन्धेन मन्त्रविशेषेति क. ख. पु.

तत्तथैवाऽवघातवाक्येऽपीति नाऽत्राऽऽश्रेयीन्यायप्रवृत्तिः ।

न चैवमपि सिद्धान्तवत्पूर्वपक्षेऽपि प्रकरणेन प्रकृतव्रीहिश्र-
हणोपपत्तिः, प्रकरणं हीतिकर्तव्यताकाङ्क्षारूपं व्रीहिपदसङ्को-
चकत्वेनाऽभ्युपगम्यते ? अधिकारात्मकं वा ? नाऽऽद्यः, तस्य
विनियोगातिरिक्ते अप्रवृत्तेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षया हीतिक-
र्तव्यतात्वमेवाऽवगम्यते, न तु पदसङ्कोचाद्यपि । न द्वितीयः,
तस्य (१) 'तुल्येषु नाऽधिकारस्स्यादि'त्यत्र नैराकाङ्क्षे सत्यस-
ङ्कोचकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अत एव यत्रोपादेयेष्वपि 'तेना-
ऽक्षमुपांज्यादि'त्यत्र सर्वनाम्नस्साकाङ्क्षत्वं तत्रेष्टमेव प्रकृतग्रह-
णम् । प्रकृते तु व्रीहिपदस्याऽनपेक्षत्वाधिकारेण सङ्कोच इति
प्रकृतौ न निर्वापयागावघातानामेकव्रीहि(२)प्रयुक्तत्वं नियत-
मिति प्रैयङ्गवचरौ यागार्थव्रीहिलोपेऽपि सिद्धं निर्वापावघाता-
द्यर्थं व्रीहिसम्पादनम् ।

सिद्धान्ते तु व्रीहिणामवघातं प्रति संस्कार्यत्वाव्रीहि-
स्वरूपार्थत्वे चाऽवघातस्याऽऽनर्थक्यापत्तेरपूर्वसाधनत्वापेक्षायां
व्रीहिपदस्य तल्लक्षकत्वे अधिकाराख्यप्रकरणस्य तात्पर्य-
ग्राहकत्वाङ्गीकारात्प्रकृतग्रहणोपपत्तिः । प्रकृतौ च यागी-
यहविःप्रकृतिद्रव्यसंस्कारस्याऽवघातस्य प्रैयङ्गवचरावतिदेशेन
प्राप्तस्य स्थानापत्त्या प्रियङ्गुष्वेवाऽनुष्ठानान्न तदर्थं व्रीहिसम्पाद-
नम् । पूर्वपक्षे चाऽदृष्टार्थत्वादवघातस्य(३) सर्वौषधावघातवत्सकृदेव
करणम् । सिद्धान्ते त्वातण्डुलीभावात् । अन्यच्च पूर्वपक्षे यागी-

१. जै. सू. ९. १. १९. २. व्यक्तिकत्वं इति. क. पु.

३. अग्निचयने 'औदुम्बरमुलूखलं सर्वौषधस्य पूरयित्वा अवह-
न्ति अथैनदुपदघाती'ति वाक्येन विहितो योऽवघातः स सर्वौ-
षधावघातः ।

यहविःप्रकृतिद्रव्यस्याऽवघातं विनाऽपि तण्डुलीभावः । प्रकृतौ च प्रयाजादिवदवघातस्य सान्नाययोपांशुयाजाङ्गत्वाविशेषात्तद्विकारेष्वप्यतिदेशः । यवपक्षेऽपि ब्रीहीणामेवाऽवघातः । त्रयाणामेव च तेषां(१)कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन स इति प्रयोजनम् । सिद्धान्ते तु यागीयद्रव्येऽवघातनियमः । प्रकृतौ चौषधद्रव्यकयागाङ्गत्वात्तद्विकारेष्वेवाऽतिदेशः, यवपक्षेऽपि च तेष्वेवाऽवघातान्न तदर्थं ब्रीहिसम्पादनम्, चतुर्मुष्टिपरिमितानामेव च यागसाधनत्वात्तावतामेवाऽवघात इति तत् । सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥८॥

इति चतुर्थं तानिद्वैधाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं सम्मार्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥२-१-९॥

(विषयसंशयौ)

एवं तावद्दृष्टोपकारकत्वलाभाद्गुणकर्मत्वे प्रसाधिते, अधुना दृष्टोपकारकत्वासम्भवेऽपि तदस्ति न वेति विचार्यते । दर्शपूर्णमासयोश्श्रूयते—“लुचस्सम्माष्टिं” “परिधिं सम्माष्टिं” “पुरोडाशं पर्यग्निकरोति” “ब्रीहीन् प्रोक्षती”ति । तत्र सम्मार्गादिकं किं स्रुगादिसंस्कारार्थत्वेन विधीयते, अतश्च गुणकर्म ? उत स्रुगादिसाधनकं स्वतन्त्रादृष्टार्थं सत्प्रधानकर्म ? इति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

अत्र च सिद्धान्ते स्रुगादिनिष्ठाधेयशक्तिरूपातिशयसद्भा-

वेऽपि तस्याऽऽत्मानिष्ठादृष्टपदवाच्यत्वाभावादपूर्वाभावेन पूर्ववदे-
वाऽपूर्वभेदोपयोगिचिन्तनात्मकत्वात्पादाध्यायसङ्गतिः । प्रोक्षणा-
देस्संस्कारकर्मत्वे प्रतिपुरोडाशमपूर्वकल्पनाद्वा तद्भेदोपयोगित्वेन
सा । अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणसिद्धान्तहेतुभूतदृष्टोपकारकत्व-
प्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षोत्थानादद्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेनैव स्रुगादेस्सम्मार्गाद्यजन्य-
त्वेन भाव्यत्वायोगादवघातवच्च दृष्टोपकारविशिष्टत्वेनाऽपि
तदसम्भवात्, स्रुगादिविशिष्टसम्मार्गादिविधानमेव प्रयाजादि-
वत् स्वतन्त्रक्रतूपकारभाव्यकं युक्तमाश्रयितुम् । न चाऽवघात-
वद्योग्यतारूपलिङ्गात्सम्मार्गादेर्गुणकर्मत्वासम्भवेऽपि द्वितीयाया
स्रुगादीनां प्राधान्यावगमादर्थत्सम्मार्गादीनां तद्गुणत्वावगते-
र्दृष्टोपकाराभावे च तद्भलेनैवाऽदृष्टस्य द्रव्यनिष्ठस्य कल्पनोपप-
त्तेर्न स्रुगादिविशिष्टसम्मार्गादिविधानमिति वाच्यम् । द्वितीयायाः
प्राधान्यवाचित्वाभावेन गुणकर्मत्वासिद्धेः ।

तथा हि—प्राधान्यवाचित्वं किं प्रयोगानुसारादभ्युपगम्यते ?
अनुशासनानुरोधाद्वा ? न तावदाद्यः, “बल्वजान् शिखण्डकान्
कुरु” “सक्तून् जुहोती” त्यादौ करणत्व एव द्वितीयादर्शनेन
तदसिद्धेः । न ह्यत्र बल्वजादीनां कर्मत्वं सम्भवति, करोतेद्वि-
कर्मकत्वाभावेन शिखण्डककर्माविरुद्धे तस्मिन् बल्वजानां क-
र्मत्वेनाऽन्वयस्य वक्तुमशक्यत्वात् । जुहोतेश्च देवतोद्देश्यकप्रक्षे-
पद्रव्यत्यागसमुदायवाचित्वेन सक्तूनां समुदायकर्मत्वानुपपत्तेः,
सक्तूनामनीप्सितत्वेनैकदेशकर्मत्वस्याऽप्यनुपपत्तेश्च । अतोऽत्र
बल्वजादीनां द्वितीयाया करणत्वमेवाऽङ्गीकर्तव्यम् । तत्राऽन्व-
यव्यभिचाराद्वितीयायाः करणत्व एव शक्तिर्न प्राधान्ये । तथा

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ७३

‘प्रयाजशेषेण’त्यादौ द्वितीयाभावेऽपि प्राधान्यदर्शनेन व्यतिरेक-
व्यभिचारादपि तथात्वनिश्चयः ।

न चैवं घटं करोतीत्यादौ करणत्वासम्भवेऽपि द्विती-
यादर्शनात्तवाऽपि व्यभिचारतादवस्थमिति वाच्यम् । वि-
षयतासम्बन्धेन घटादेर्ज्ञानं प्रति करणत्ववत्कृतिं प्रत्यपि
तदुपपत्तेः । अतोऽव्यभिचारात्करणत्वमेव द्वितीयार्थः, न
तु प्राधान्यमिति प्रयोगानुसारेण निर्णयते । अत एव
प्रयोगविरुद्धमनुशासनमपि(१) ‘कर्मणि द्वितीये’ त्यादिकं
न प्राधान्यवाचित्वे प्रमाणम् । अतो न सम्मार्गादीनां
द्वितीयया गुणकर्मत्वप्रतीतिः । नाऽपि सप्रयोजनत्वमात्रेण; पु-
रोडाशकपालादीनां सप्रयोजनत्वेऽपि तुषोपवापसंस्कार्यत्वाभा-
वात् । अतो गुणकर्मत्वावेदकप्रमाणाभावात्पूर्वाधिकरणपूर्वपक्ष-
न्यायेन स्रुगादिविशिष्टसम्मार्गविधिरेवाऽयम् ।

सूत्रं तु—धर्ममात्रे दृष्टोपकाराजनकसम्मार्गादिरूपे,
प्रयाजादिवत् प्रधानकर्मत्वं स्यात्, द्रव्यनिष्ठोपकारस्य तेन
अनिर्घृत्तेः इति व्याख्येयम् ॥ ९ ॥

(सिद्धान्तः)

तुल्यश्रुतित्वाद्देतरैस्सधर्म स्यात् ॥ २-१-१० ॥

सत्यं (२) दृष्टोपकारकत्वेन नाऽस्याऽवघाततुल्यत्वम्, तथाऽपि
द्वितीयाश्रुतितुल्यत्वादेवघातादिवद्गुणकर्मत्वं सम्भवत्येव ।
तथा हि—द्वितीया प्राधान्याभिधायिनी व्रीहीणामिव स्रु-
गादीनामपि प्राधान्यं प्रतिपादयन्ती अर्थादेवघातस्येव सम्मा-

१. पा. सू. २. ३. २.

२. दृष्टोपकारकत्वे प्रयाजवघ्नाऽस्येति. क. ख. पु.

गादीनामपि गुणत्वं गमयति । अतश्च दृष्टोपकारकत्वाभावेऽपि द्वितीयावगतगुणकर्मत्वनिर्वाहार्थं द्रव्यनिष्ठादृष्टोपकारकल्पनेऽपि न क्षतिः ॥ १० ॥

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥ २-१-११ ॥

यत्तु द्वितीयायाः प्राधान्यवाचित्वे प्रमाणाभावात्प्रयोगानुसारेण (१)करणत्वावगतेः सक्तुवत्स्रुगादिद्रव्यस्यैव सम्मार्गादिप्रत्युपदेशो विधानमित्युक्तम्, तत्रोच्यते—

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥२-१-१२॥

न करणत्ववाचिनी द्वितीया, प्रमाणाभावात् । अपि तु 'कर्माणि द्वितीये' त्यनुशासनात्कर्मत्वपरैव । न च तस्य निर्मूलत्वम्, घटं करोतेत्यादिप्रयोगस्यैव मूलत्वात् । न ह्यत्र सत्यपि घटस्य विषयतासम्बन्धेन कृतिकरणत्वे तदवभासते, अपि तु कर्मत्वमेवेति सर्वस्वसंबन्धम् । अतश्च प्रयोगानुगृहीतस्मृत्या कर्मत्वमेव द्वितीयार्थः । न चैवं(२) 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'(३) 'तथायुक्तं चाऽनीप्सित'मित्यादिस्मृत्या कर्मत्वस्याऽनेकविधत्वावगतेरेकत्रैव शक्तिरपरत्र लक्षणेत्यस्य च विनिगमनाविरहेणाऽसम्भवात्सर्वेषामेव वाच्यत्वापत्तौ शक्यतावच्छेदकैक्याभावेनाऽनेकशक्तिकल्पनापत्तेर्गौरवमिति वाच्यम् । लाघवेनेप्सितानीप्सितसाधारण्येन व्याप्यत्वापरपर्यायस्य क्रियाजन्यचतुर्विधफलान्यतमफलाश्रयत्वरूपस्य कर्मत्वस्य, तत्समानियताखण्डोपाधेर्वा द्वितीयावाच्यत्वावधारणात् । ईप्सितत्वानीप्सितत्वयोस्तु प्रमाणान्तरलभ्यत्वेन तत्राऽपि शक्त्यङ्गीकारे गौरवात् ।

१. करणत्ववाचित्वेति. क. पु. २. पा. सू. १. ४. ४९.

३. पा. सू. १. ४. ५०

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ७५

न चैवं व्याप्यं कर्मेत्येव स्मरणापत्तौ सूत्रद्वयवैयर्थ्यापत्तिः, (१) 'वारणार्थानामीप्सित' इति सूत्रात् 'अग्नेर्माणवकं वारयती'त्यत्रोभयोरग्निमाणवकयोर्व्याप्यत्वे ईप्सितत्वे चाऽविशिष्टे तन्निमित्तककर्मसंज्ञाबाधेनाऽपादानसंज्ञापत्तेर्माणवके तां वारयितुमीप्सिततमे तस्मिन् कर्मसंज्ञाविधायकस्याऽऽद्यसूत्रस्याऽऽवश्यकत्वे सति, द्वेष्योदासीनसङ्ग्रहार्थं तथायुक्तसूत्रस्याऽऽप्यावश्यकत्वात् । एतेन सूत्रद्वयवैयर्थ्यापत्तेः प्रथमोपस्थितत्वादीप्सितकर्मत्व एव शक्तिः, तथायुक्तसूत्रं तु अकथितादिसूत्रवल्लक्षणिकानुशासनमिति न्यायसुधाकारोक्तमपास्तम्, शक्यतावच्छेदकलाघवसङ्ग्राहकलाघवाभ्यामीप्सितानीप्सितसाधारण्येन व्याप्यत्व एव शक्तिकल्पनेनेप्सितत्वेऽपि तदकल्पनात् । अकथितादिसाधारण्येन तु शक्यतावच्छेदकालाभादगत्या अकथितादिसूत्रस्य लक्षणिकानुशासनत्वमिति विवेकः ।

न चैवं स्रुगादीनामीप्सितत्वानवगमे कथं प्राधान्यासिद्धिः? द्वितीयया तदनवगमेऽपि विध्यपेक्षितत्वात्तदवगमोपपत्तेः । विधिर्हि चेतनप्रवर्तनात्मा अनीप्सितफले व्यापारे तं प्रवर्तयितुमशक्नुवन् भावनाया ईप्सितजन्यत्वमवगमयति । अतश्चेप्सितजन्यापेक्षया द्वितीयया जन्यत्वेनाऽवगतानां स्रुगादीनां 'जुहा जुहोती'ति शास्त्रान्तरप्रमितेप्सितभावानां भावनाभाव्यत्वेन स्वीकारो नाऽनुपपन्नः । अत एव यत्र 'सक्तून् जुहोती'त्यादौ न शास्त्रान्तरेण विनियोगः सक्तूनाम्, तत्र द्वितीयया व्याप्यत्वमात्रावगमेऽपीप्सितत्वस्य बाधान्न भावनाभाव्यत्वसम्भवः ।

ननु तत्राऽपि द्वितीयावगतव्याप्यत्वनिर्वाहार्थं विध्यपेक्षया

च सक्तूनां भूते भाविनि वा ज्योतिष्टोमे उपयोगः कल्प्यः । न च निर्व्यापारत्वात्सक्तूनां प्रकरणग्रहणायोगेन कथमुपयोग-कल्पनम् ? व्यापारान्तरासम्भवेऽपि संस्कारकत्वेनोपस्थितस्य होमस्यैवाऽर्थाद्व्यापारत्वोपपत्तेः । न हि 'अग्नीषोमीयं पशुपुरोडाश-मि'त्यत्र तद्धितश्रुत्या गुणभूताया अपि देवताया अर्थात्संस्कार्यत्वाङ्गीकारवदिहाऽपि तथाङ्गीकारे कश्चिद्विरोधः । अतस्सक्तु-ष्वपि श्रुतव्याप्यतादिनिर्वाहार्थमुत्तरकालं विनियोगकल्पनेऽपि बाधकाभावात्कथं प्राधान्यासम्भवं इति चेत् —न; इप्सितकर्मत्व-शक्तिवादिनो ह्ययं दोषस्स्यात् । तन्मते हीप्सितत्वस्याऽपि द्विती-ययाऽभिधानात्तन्निर्वाहार्थं विनियोगोऽपि कल्प्यते । इष्यत एव हि श्रुतस्वर्गादिसाध्यतानिर्वाहार्थं स्वर्गसत्ता । साध्यत्वमात्रार्थ-कत्ववादिनस्तु यथैव द्वितीयया सक्तूनां तदाभिहितं, तथैव धातुसामर्थ्याद्धोमस्याऽपि साध्यत्वमवगतमेवेति न तद्वलेनेप्सि-तत्वकल्पनायां(१) प्रमाणमस्ति, प्रत्युत होमस्यैव विधिप्रत्यास-न्नत्वात् व्यापारान्तरानपेक्षत्वाच्चाऽऽरादुपकारकत्वविधया ईप्सितत्वकल्पनमुचितम् । एवञ्च सक्तूनां भूतभाव्यसमुच्चार-णन्यायेन होमार्थत्वावधारणाद्वितीयाऽपि विषयतासम्बन्धिकरण-त्वलक्षणार्थैव द्रष्टव्या ।

अत एव संस्कारविधेः प्राक् संस्कार्यस्य विनियोगानवगमे-ऽपि यत्र लौकिकप्रमाणेनैव क्रियाजनकत्वमात्रमवगन्तुं शक्यं, यथा “अध्वर्युं वृणीते” “स्वाध्यायोऽध्यैतव्यः” “अष्टवर्षं ब्रा-ह्मणमुपनयीते” त्यादौ, तत्र ह्यसत्यपि वरणादिविधितः प्राग-ध्वर्यादीनां विनियोगे सामर्थ्यमात्रेणैव तेषां तत्क्रियाजनक-त्वावगमाद्युक्तं तत्संस्कारविधौ तत्क्रियासाधकत्वेन रूपेणो-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ७७

द्देश्यतामध्वरवादीनामङ्गीकृत्य तत्तत्क्रियासु विनियोगकल्पनम् , सक्तूनां तूत्पत्तिशिष्टसोमाद्यवरुद्धे ज्योतिष्टोमे साधनत्वस्यऽसम्भवाददृष्टविधयोपकारकत्वस्य च लौकिकप्रमाणागम्यत्वान्न शक्यं संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या विनियोगकल्पनम् । अतश्च द्वितीया सक्तुगत(१)करणत्वार्थैव ।

ननु सक्तूनां विनियोगकल्पनायोगेऽपि न द्वितीया करणत्वलक्षणार्था, अननुशिष्टलक्षणायां गौरवात् । किं त्वनीप्सितकर्मत्वार्थिका, अतश्च सक्तूनां कर्मत्वेनैवाऽन्वयः । स च यद्यपि धात्वर्थे प्रथमत एवाऽसंभवी, तथा सति(२)पश्वैकत्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन सक्तूनामविवक्षापत्तेः, तथाऽपि भावनायामेव सोमादिवत्परम्परासम्बन्धेन कर्मत्वेऽवगते पाश्चात्त्य इत्यवगन्तव्यम् । न चैवमुद्देश्यानेकत्वं शङ्क्यम् , सक्तूनां कर्मत्वेऽप्युद्देश्यत्वानङ्गीकारात् । अतस्सक्तूनामनीप्सितकर्मत्वेनैवाऽन्वयोपपत्तेर्न करणत्वलक्षणेति चेत्-न ; भावनावाचिप्रत्ययस्य नित्यं सकर्मकत्वेऽप्येककर्मकत्वेन कर्मान्तरस्याऽन्वयानुपपत्तेः । अन्यथा तत्समानार्थकस्य करोतेरपि द्विकर्मकतापत्तिः ।

अथ करोतेरेककर्मकत्वेऽपि भावनावाचिप्रत्ययस्य द्विकर्मकत्वमुच्येत, ततो 'ब्रीहीनवहन्ती'त्यादौ कर्मान्तराभावात्प्रत्ययानुपपत्तिः । अत एव यत्र लोके तृणं स्पृशतीत्यादौ विध्यभावेनेप्सितकर्मानादरस्तत्रैव तृणादीनामनीप्सितत्वेनाऽन्वयः । तद्विषयमेव च तथायुक्तसूत्रं विधिसत्त्वेऽपि पार्ष्टिकधात्वर्थान्वयविषयम् । भावनान्वयस्तु विधिसत्त्वे करणत्वेनैव । आवश्यकी च धात्वर्थान्वयेऽपि करणत्वलक्षणा बलबजान् शिखण्डकान् कुर्वि-त्यादौ, करोतेरेककर्मकत्वेन कर्मान्तरान्वयानुपपत्तेः । अतश्च सर्वत्र

विधिसत्त्वे भावनान्वयो द्वितीयस्य कर्मणः करणत्वेनैव । अत एव(१) 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छती' त्यादौ मैत्रावरुणस्यैवोद्देश्यत्वेन भावनान्वयादण्डस्य करणत्वेनैव तदन्वयो न त्वनीप्सितकर्मत्वेनेति ध्येयम् ।

यत्तु तन्त्ररत्ने तन्त्रसारन्यायमुधयोश्च 'यच्छतेस्सकर्मकत्वात् युक्तो दण्डस्याऽनीप्सितकर्मत्वेनाऽन्वयः, जुहोतेस्त्वकर्मकत्वात् सक्तुनां द्वितीयया करणत्वलक्षणे'त्युक्तम्, तन्न,(२) 'हुतोऽहुतः पर्यावर्तत' इत्यादौ कर्मणि निष्ठादर्शनेन जुहोतेरकर्मकत्वासिद्धेः, होः कर्मणि तृतीया चकाराद्वितीया च स्यादित्यर्थकेन(३) 'तृतीया च होश्छन्दसी'ति सूत्रकारव्यवहारेण सकर्मत्वावगतेश्च । तस्मादुक्त एव प्रकारः श्रेयान् ।

अत एव गुणफलाधिकारे इन्द्रियकामाद्यवरुद्धायां भावनायां न होमस्याऽनीप्सितकर्मत्वरूपाश्रयत्वेन वाक्यीयोऽन्वयोऽङ्गीकृतः । अन्यथा तत्राऽपि तथात्वसम्भवे विशिष्टभावनविधानेन वाक्यभेदाभावाज्जितं प्राभाकरेण । तस्मादुक्तप्रकारेणैव सक्तुषु करणत्वलक्षणामङ्गीकृत्य सक्तुविशिष्टहोमविधानमारादुपकारकतयेति सिद्धम् । स्रुगादीनां तु प्रयोजनवत्त्वस्य प्रमाणान्तरेणाऽवगतत्वात्तेषामेव भाव्यत्वोपपत्तेर्युक्तं 'तत्संस्कारार्थत्वं सम्मार्गादीनामिति ।

न चैवं सर्वत्र सप्रयोजनत्वनिष्प्रयोजनत्वकृतमेव द्रव्यस्य

१. तै. सं. ६. १. ४.

२. 'यत्सर्वहुतं जुहोति सा त्वेका परिचक्षा। हुतोऽहुतः पर्यावर्तते सा द्वितीया, तस्मादाज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेते'ति समग्रं वाक्यम् । इदं च आग्रयणे द्यावापृथिव्यमेककपालंविधिसन्निधौ श्रुतम्॥

३. पा. सू. २. ३. ३.

क्रियां प्रति गुणप्रधानत्वमिति कृतं द्वितीयातृतीयाभ्यामिति वाच्यम् । (१) 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र हि सत्यपि इन्द्रगार्हपत्ययोः क्रतुसम्बन्धित्वेन प्रयोजनवत्त्वे, द्वितीयैव गार्हपत्यप्रधान्ये प्रमाणम् । न च तत्राऽपि द्वितीयाया नियामकमात्रत्वेऽपि कथं प्रमाणत्वमिति वाच्यम् । द्वितीयाभावे मन्त्रस्य लिङ्गादिन्द्रार्थत्वस्यैवाऽवगमात्तस्याऽनियामकत्वाभावात् । गार्हपत्यप्रातिपदिकमात्रसमभिव्याहारस्य च लिङ्गविरोधे सामीप्यनिरूपकत्वेनाऽप्युपपत्तेः । अतो लिङ्गबाधेन गार्हपत्यप्राधान्यं द्वितीयाप्रमाणकमेव । तथा सूक्तवाकप्रस्तरप्रहरणयोरुभयोरपि निष्प्रयोजनत्वाविशेषे केवलतृतीयाकृतमेव सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गत्वम् । अतश्च सत्येव द्वितीयाश्रुतिप्रामाण्ये निष्प्रयोजनत्वं सक्तुष्वपवादः । सत्यपि च तृतीयाप्रामाण्ये दृष्टार्थत्वादि प्रयाजशेषाभिघारणस्थलेऽपवादः । अतस्सिद्धमदृष्टार्थत्वेऽपि सम्मार्गादीनां गुणकर्मत्वम् ।

सूत्रं तु—न द्वितीया गुणत्वपरा, अपि तु प्राधान्यपरा, तदर्थत्वेन स्मृत्याऽनुशिष्टत्वात् । लोकवत् लोकसिद्धघटादिपदवदनुशिष्टार्थप्रतिपादकत्वस्योपपत्तेः । न चैवं सक्तुष्वपि तदापात्तिः, तेषां निष्प्रयोजनकत्वात् । प्रकृते तु तेषां स्रुगादीनां क्रतौ शेषभावावगमात्प्रयोजनवत्त्वसिद्धेर्युक्तं गुणकर्मत्वमिति व्याख्येयम् ।

प्रयोजनं स्रुगुदाहरणे पूर्वपक्षे सम्मार्गसाधनीभूतस्रुचां प्रकृतौ विवक्षितसङ्ख्यात्वात्कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रित्वस्यैव शास्त्रीयत्वात्पश्चादौ स्रुग्विवृद्धावपि तिस्र एव सम्मार्ष्टव्याः । सिद्धान्ते तु संस्कार्यत्वात्सर्वा एव सम्मार्ष्टव्याः । परिध्युदाहरणेऽप्येकस्यैव परिधेः पूर्वपक्षे सम्मार्गः । तैत्तिरीयशास्त्रास्थबहुवच-

नान्तवाक्योदाहरणे तु त्रयाणाम् । सिद्धान्ते तु यावत्परिधि ।
अग्रेरपि पूर्वपक्षे एकस्यैवाऽऽहवनीयस्य । सिद्धान्ते त्वाहवनीय-
वृद्धौ सर्वेषाम् ।

यत्तु वार्तिके पूर्वपक्षे 'अग्निमुपनिधाय स्तुवत' इति वल्लौ-
किकस्याऽग्रेऽसम्मार्गाः, सिद्धान्ते त्वाहवनीयादीनां सर्वेषामिति
प्रयोजनमुक्तम्, तत् 'अग्निं सम्मार्ष्टी'त्यस्य कल्पसूत्रकार-
वचनमूलभूतश्रुत्या आहवनीयमात्रविषयिण्या अनुपसंहारा-
भिप्रायेण । यदा तु तेनाऽऽहवनीयमात्रविषयेण सामा-
न्यवाक्यस्योपसंहारः, तदा सिद्धान्तवत्पूर्वपक्षेऽप्याहवनीयस्यैव
सम्मार्गात्सिद्धान्तेऽपि च गार्हपत्यादीनामसम्मार्गात्पूर्वोक्तमेव प्र-
योजनं द्रष्टव्यम् । एवं पुरोडाशोदाहरणेऽपि पूर्वपक्षे एकस्यैव ।
सिद्धान्ते तु सर्वेषां पर्यग्निकरणमिति द्रष्टव्यम् । तथा (१) शाक्त्या-
नामयने 'तरसमयाऽसवनीयाः पुरोडाशा भवन्ती'त्यत्र पूर्वपक्षे
पर्यग्निकरणत्वेन पिष्टमयपुरोडाशसम्पादनीयः । न च तत्राऽपि
पुरोडाशोद्देशेन मांसविधानात्सवनीयपुरोडाशवत्पर्यग्निकरणपु-
रोडाशेऽपि मांसप्राप्त्युपपत्तेर्न पिष्टमयोत्पादनम्, (२) तृतीये पु-
रोडाशपदस्य जघन्यस्य (३) धानादिपञ्चके लिङ्गसमवायेन वृत्ति-

१. शाक्तिनामकस्य ऋषेर्गोत्रोत्पन्ना ऋषयश्शाक्त्याः, तैरनुष्ठितत्वात्
शाक्त्यानामयनामिति कर्मनाम । तच्च षाट्त्रिंशत्संवत्सरसाध्यं स-
त्रम् । तत्र श्रूयते 'संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र
यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसमयाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति'
इति । अस्याऽर्थः—प्रतिदिनं गृहपतिसंक्रोको यजमानस्तत्तद्दहसम्ब-
न्धिक्रियाकलापसमाप्त्यनन्तरं मृगयार्थं वनं गच्छेत् । तत्र तेन ये मृ-
गा हताः तेषां मांसमानीय तेन सवनीयाः पुरोडाशाऽसम्पादनीया
इति । केषुचिद्ग्रन्थान्तरेषु शाक्त्यानामयनमित्यपि पाठ उपलभ्यते ।

२. पू. मी. ३. ८. २३.

३. धानाः करम्भाः परिवापाः पुरोडाशः प्रयस्या इति पञ्च सव-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ८१

मङ्गीकृत्य सवनीयमात्रोद्देशेनैव तरसविधानस्य वक्ष्यमाणत्वेन पर्यग्निकरणपुरोडाशे तदप्राप्तेः ।

न चैवमपि सवनमध्यवर्तित्वेन तस्याऽपि सवनीयपदाभि-
धेयत्वोपपत्तेर्मांसप्राप्त्युपपत्तिः, सवनमध्यवर्तिनि दक्षिणादानादौ
सवनीयपदप्रयोगाभावाद्योगरूढ्या सवनीयपदस्य धानादियागप-
ञ्चकवाचित्वावगतेः । अतश्च पर्यग्निकरणपुरोडाशे मांसप्राप्तेरभा-
वात्पुरोडाशपदस्य च लोके पिष्टापिण्डवाचित्वात्पिष्टापिण्डरूप एव
पुरोडाशस्सम्पादनीयः । तत्राऽपि च न त्रीहिमयत्वं यवमयत्वं वा
नियतम्, प्रकृतौ त्रीह्यादिवाक्यैर्यागीयपुरोडाशोद्देशेनैव ताद्विधाना-
त् । सिद्धान्ते तु क्लृप्तदर्शपूर्णमासप्रकृतिकसवनीययागपञ्चको-
द्देशेन मांसविधानात्प्रदेयपुरोडाशादिस्थानापन्नत्वात्तद्धर्मप्राप्तेः
पुरोडाशादिचतुष्टयस्थानापन्ने मांसे पर्यग्निकरणं भवत्येव ।

यद्यपि च प्रदेयत्वेन मांसविधानादर्थलोपाच्च नाऽवघात-
पेषणादिधर्मप्राप्तिर्मांसे सम्भाव्यते, तथाऽपि प्रकृतौ पर्यग्निकर-
णस्य प्रदेयपुरोडाशधर्मत्वावगतेर्मांसे(१) प्राप्नोत्येव तत् । न चैवं
पेषणप्राप्त्यभावे तदर्थधाविवापमन्त्रस्य 'धान्यमसी'त्यस्योहानू-
हचिन्ता(२) नवमे करिष्यमाणा निर्विषया आपद्येतेति वाच्यम् ।
तस्याः कृत्वाचिन्तात्वेनोपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।

यत्तु न्यायसुधाकृता सवनीयपदोपेते वाक्ये अधिवापप्राप्त्य-
भावेऽपि छान्दोग्यशास्त्रास्थे(३) 'एतेन वै गौरीवितिःशाक्त्यस्तर-
समयपुरोडाशो यव्यावृत्त्यां सर्वाभृद्धिमाध्वोदि'ति वचने सवनीय-

नीयहर्षाणि । तत्र धानाः भ्रष्टयवाः । करम्भाः दधिमिश्रितास्सक्तवः ।
परिवापा लाजाः । पयस्या आमिक्षा इति ।

१. प्राप्त्यविघात इति क. पु. २. पु. मी. ९. १. १३. ३. ता. ब्रा. २५. ७. २.

पदाभावात्पुरोडाशपदेनैव च तत्कार्योद्देशे लक्षणापर्याया(१)पुरो-
डाशमात्रोद्देशेन मांसविध्यवगतेर्मांसिन च पिष्टपिण्डरूपपुरोडाश-
स्य कर्तुमशक्यत्वेऽपि 'तरसपुरोडाशमन्नसंरोधादि'ति छान्दोग्य-
सूत्रकृद्वचनादन्नमिश्रितेन तेन पुरोडाशोपपत्तेस्तत्र चाऽधिवा-
पप्राप्तौ तन्मन्त्रोहानूहचिन्तोपपत्तिरित्युक्तम् ; तन्न, पुरोडाशपदे-
नाऽत्र पिण्डमात्रं वा प्रतिपाद्यते लक्षणया, पिष्टपिण्डो वा ? ना-
ऽऽद्यः, लक्षणापत्तेः। न द्वितीयः, तस्याऽन्नमात्रोपादानकस्य मां-
सप्रकृतिकत्वानुपपत्तेः। तस्मात्पिष्टपिण्डप्रकृतिकस्यैवाऽस्य मांस-
संस्कारकत्वेन विधीयते। ततश्च(२) "पयसा मैत्रावरुणं श्रीणा-
ती" तिवत्संस्कारकं तस्मिन् प्रदेयप्रकृतिधर्माणां पेषणादीनाम-
प्राप्तेर्नोहचिन्तोपपत्तिः। अतश्च कृत्वाचिन्तात्वेनैव तदधिकरणो-
पपत्तिः। ततश्च सवनीयपदोपेतवाक्ये पेषणाद्यप्राप्तावपि पर्यग्निक-
रणप्राप्तिसत्त्वात्प्रयोजनोपपत्तिः।

यत्तु भाष्यकारेण स्रुगुदाहरणे पूर्वपक्षे वरुणप्रघामेषु 'श-
मीमयस्सुचो भवन्ति, हिरण्मययो वे' ति वाक्योक्तशमीमयत्वा-
दीनां प्रधानाङ्गभूतस्रुगनुवादेनैव विहितत्वात्सम्मार्गाङ्गभूतस्रु-
प्रकृतिप्राप्तनानावृक्षीयत्वम्। सिद्धान्ते तु संस्कार्यत्वाच्छमीम-
य्यादीनामेव सम्मार्ग इति प्रयोजनमुक्तम् ; तन्न, स्रुङ्मात्रानुवा-
देन शमीमयत्वविधानात्प्रधानस्रुक्षिव सम्मार्गस्रुक्षवपि शमीम-
यत्वप्राप्तेः। न च प्रियङ्गुवत्प्रकरणात्प्रधानमात्रलाभः, प्रकरणस्य
वाक्यसङ्कोचकत्वानुपपत्तेः। प्रियङ्गूनां तु चरुद्देशेन विहितानामपि
चरोः प्रधानमात्रसम्बन्धित्वेन विधानाद्युक्तं प्रधानमात्रगामित्वम्।
अतश्च यथैव 'वेद्यां हवींष्यासादयती'त्यादौ प्रधानप्रकरणेन ह-

विश्वब्दसङ्कोचायोगादानर्थक्यपरिहारस्योपस्थित्यविशेषादङ्गप्रधानसाधारणापूर्वसाधनीभूतहविर्मात्रलक्षणयाऽप्युपपत्तेर्न वेद्यादेः प्रधानमात्रगामित्वम्, तथैव प्रधानप्रकरणेन सूत्रच्छब्दसङ्कोचायोगादतिदेशसहकृतेन च प्रधानवाक्येनोभयो(१)रूपस्थित्यविशेषादुभयाङ्गत्वमेव शमीमयत्वादीनाम् । न चाऽतिदेशेन सम्मार्गस्य क्लृप्तोपकारनानावृक्षीयस्रुग्विशिष्टस्यैव प्राप्तत्वात्तदबाधाय सूत्रपदसङ्कोचादसङ्कोचोपपत्तिः, प्राकृतनानावृक्षीयत्वाबाधाय सूत्रपदसङ्कोचाङ्गीकारे(२) अङ्गगुणविरोधन्यायेन प्रधानस्रुक्षु नानावृक्षीयत्वानुग्रहेण सम्मार्गादिस्रुक्ष्वेव शमीमयत्वादिनिवेशोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु “अस्ववभृथेन चरन्ती” तिवदुपदेशेन प्रधानगतास्विव सम्मार्गगतास्वपि स्रुक्षु शमीमयत्वादिविधानात्प्रयाजादिगतास्विव तद्गतास्वपि प्राकृतनानावृक्षीयत्वबाधो गुण एव । न हीदमुद्गातृवेदस्थश्येनप्राकृताङ्गेषूद्गातृकर्तृकत्ववत्प्रयोगविधिद्वारकं प्रधानाश्रितमङ्गेष्ववतरति, येनाऽतिदेशापेक्षया दौर्बल्यं शङ्क्येत । अङ्गप्रधानसाधारणस्रुक्षुमात्रानुवादेन विश्वानादेषामिवाऽस्याऽप्यौपदेशिकत्वात्प्राबल्यमिष्टमेव । अतश्च यथैव प्रयाजादिस्रुक्षु शमीमयत्वप्राप्तिरुपपादनीया, तथा सम्मार्गस्रुक्ष्वपीति नाऽस्य प्रबोजनत्वोपपत्तिः ।

यस्वत्र वार्तिकेऽभ्युपगम्याऽपि यथाकथञ्चिच्छमीमयत्वादेः प्रधानसम्बन्धं, न सम्मार्गस्रुक्षु नानावृक्षीयत्वप्राप्तिसम्भवति, प्रधानसुग्धरेवाऽङ्गानामपि प्रसङ्गात्कार्यसिद्धेस्वतन्त्रस्रुगाक्षेपकत्वानुपपत्तेः । अतश्च यथैव ‘दक्षिणास्तोमस्ये’ति वचनात्प्र-

धानमात्राङ्गभूतयाऽपि दक्षिणया प्रसङ्गात्कार्यसिद्धेर्नाऽङ्गभूतेष्वि-
शुष्वातिदेशिकान्वाहार्यदक्षिणाप्राप्तिरिति(१) द्वादशे वक्ष्यते, त-
थैव प्रधानस्रुग्भिरेव प्रसङ्गसिद्धेर्न सम्मार्गार्थं नानावृक्षीयस्रुगुत्पा-
दनमिति दूषणान्तरमुक्तम्, तन्न; सौमिकपात्रैरौष्टिकपात्रकार्य-
स्येव शामित्राग्निना पौरोडाशिकाग्निकार्यस्य पाकस्येवाऽत्र
सम्मार्गस्य प्रधानस्रुग्भिस्सिध्यनुपपत्तेः । दक्षिणया ह्यनता-
नां कर्तृणामङ्गप्रधानसाधारण्यादानतिरूपकार्यसिद्धेः प्रत्यक्ष-
त्वाद्युक्ता तत्साधनीभूतान्वाहार्यनिवृत्तिः । प्रकृते तु स्रुग्भिः प्र-
धाननिष्पत्त्या सम्मार्गानिष्पत्तेस्सम्मार्गस्य पृथगनुष्ठेयत्वाद्युक्त-
मौष्टिकपात्रावत्स्वाङ्गभूतस्रुगाक्षेपकत्वम् ।

न च यथा सोमाङ्गभूतमहावेद्यैवौष्टिकहविरासादनादिकार्यस्य
पृथगनुष्ठेयस्याऽप्यनुनिष्पादनात्तदङ्गभूतदर्शपूर्णमासिकवेदिनि-
वृत्तिः(२) द्वादशे वक्ष्यते, तथाऽत्राऽपि सम्मार्गस्य पृथगनुष्ठेयत्वे-
ऽपि प्रधानस्रुग्भिरेव निष्पादनोपपत्तेर्न नानावृक्षीयत्वप्राप्तिरिति
वाच्यम् । सौमिकवेदेर्देशत्वेनाङ्गप्रधानार्थत्वस्य(३) तृतीये वक्ष्य-
माणत्वाद्दविरासादनादिकार्याङ्गत्वेन तस्या एव प्राप्तेरातिदेशि-
कौष्टिकवेदेरुपदेशेन बाधोपपत्तेः । न चैवं वेदेस्तन्त्रत्वापत्तेर्द्वाद-
शोक्तप्रसङ्गानुपपत्तिः, तस्य 'इयति शक्ष्यामहेऽस्यां कर्तुमि'त्यार्थ-
वादिककर्तृगमनागमनादिरूपप्रचारार्थत्वं कृत्वाचिन्तया कर्तृप्र-
चारार्थायाः वेदेर्हविरासादनसिध्यङ्गीकारेण वक्ष्यमाणत्वात् ।

न चैवमपि पात्रन्यायेन हविरासादनरूपस्य कार्यस्य पृथ-
गनुष्ठेयत्वान्न प्रसङ्गोपपत्तिः, कर्तृप्रचारार्थमनुष्ठितेनैव सौमिक-

वेदिकरणेनाऽदृष्टविशेषावच्छिन्नाहवनीयप्रत्यग्देशरूपाया वेदेस्सिद्धत्वादौष्टिकवेदिकरणनिवृत्त्या प्रसङ्गोपपादनात् । न द्वौष्टिकसौमिकवेदिकरणभेदे वेदिभेदस्समस्ति, प्रत्यग्देशस्य प्रत्यक्षेणैकत्वात्, वेदिपदस्य नानार्थकत्व(१) कल्पनायोगाददृष्टस्याऽप्येकस्यैव कल्पनाच्च । अत एव तत्तत्कत्वपूर्वसाधनीभूतवेदिरूपादृष्टत्वेनैव तत्तद्वेदिकरणं प्रति कार्यत्वाद्व्यभिचारस्सङ्करो वा नाऽशङ्क्यः । पात्रेषु तु सौमिकापेक्षया ऐष्टिकानां भेदस्य सम्पादयितुं शक्यत्वान्न प्रसङ्ग इति वैषम्यम् । अतश्च पात्रन्यायेन प्रधानस्रुगपेक्षया सम्मार्गस्रुचां भेदेन कर्तुं शक्यत्वान्न प्रसङ्गोपपत्तिः । न च प्रसङ्गासंभवेऽप्याग्नेयीन्यायेन प्रकृतानामेवोपादानशङ्का, तस्य प्रकृतिप्राप्तनानावृक्षीयत्वबाधकृतैवगुण्यप्रसङ्गेनाऽनुदयात् । अतश्च वार्तिके प्रसङ्गापादनमनास्थयैवेति द्रष्टव्यम् ।

इदं त्विह वक्तव्यम्— कथञ्चिच्छमीमयत्वादेः प्रधानमात्रसंबन्धाभ्युपगमे प्रकृतौ नानावृक्षीयत्वस्याऽपि प्रधानमात्रसंबन्धापत्तेस्सम्मार्गस्रुक्षु नानावृक्षीयत्वस्यैवाऽभावाद्भाष्योक्तप्रयोजनानुपपत्तिरिति ।

एतेन यदपि परिधुदाहरणे 'बाणवन्तः परिधयो भवन्ती' त्यत्र पूर्वपक्षे सम्मार्गार्थे पलाशा उत्पादयितव्याः, सिद्धान्ते बाणवतामेव सम्मार्ग इत्युक्तं प्रयोजनमपास्तम् ; बाणवत्त्वस्याऽङ्गप्रधानसाधारण्येन विधानात् । अन्यथा पलाशत्वस्याऽपि सम्मार्गः परिधिष्वप्राप्तेः । किंच 'परिधीन् सम्मार्गं' त्यत्र परिधि-शब्देन परिधीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या अग्निपरिधानोपलक्षितद्रव्याभिधानात्पुरोडाशकपालन्यायेन पलाशाप्रयोजकत्वान्नोक्तप्रयोजनसिद्धिः ।

यदपि चाऽऽन्युदाहरणे 'अप्स्ववभृथेन चरन्ती'त्यत्र पूर्वपक्षे सम्मार्गोऽग्नेः कर्तव्यः, सिद्धान्ते त्वपामिति प्रयोजनमुक्तम्, तदपि अवभृथे तस्याऽपूर्वत्वेन तदर्थं पुनः श्रूयमाणप्रयाजानुयाजाद्यर्थं वा आरादुपकारकसम्मार्गप्राप्त्यभावाद्यथाकथंचित्प्राप्त्यङ्गीकारेऽपि तृतीयान्तेनाऽवभृथपदेन साङ्गस्यैव करणत्वावगमाच्चरन्तीत्यनेन च साङ्गस्यैव प्रयोगविधानादपां च देशत्वात्साङ्गप्रधानविषयत्वस्य(१)एकादशे वक्ष्यमाणत्वेन सम्मार्गेऽप्यपामेव प्राप्तेरूपेक्षणीयम् । अतः पूर्वोक्तान्येव प्रयोजनानि द्रष्टव्यानि ॥

इति पञ्चमं सम्मार्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठं स्तुतशस्त्राधिकरणम् ॥

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधानत्वात् ॥ २-१-१३ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

इह स्तोत्रशस्त्राण्युदाहरणम् । तत्र प्रगीतमन्त्रसाध्यं गुणगुणिसम्बन्धकीर्तनं स्तोत्रम्, शस्त्रं च तदेवाऽप्रगीतमन्त्रसाध्यम् । तत्र किं तयोरारादुपकारकत्वं प्रयाजादिवत्, उत देवतादिरूपगुणिसमरणार्थत्वेन सन्निपत्योपकारकत्वमिति विचारः । अत्राऽपूर्वभेदोपयोगिचिन्तनात्पादाध्यायसङ्गतिः पूर्ववत् । अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणे श्रुतिग्रहणस्य द्रव्याङ्गताबोधकप्रमाणमात्रोपलक्षणत्वादिहापि गुण्यङ्गताबोधकलिङ्गसद्भावेन पूर्वपक्षकरणाद्वापवादिकी ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि विषयतासम्बन्धेन गुणगुणिनोरुभयोरपि सम्बन्धकीर्तनाख्यस्तोत्रशस्त्रं प्रति करणत्वमस्ति, तथाऽपि प्रयोजनापेक्षायां दृष्टविधया कर्मानुपयुक्तगुणप्रकाशनार्थत्वायोगेऽपि कर्मोपयुक्तगुणिस्मरणार्थत्वसंभवेऽदृष्टार्थत्वकल्पनानुपपत्तेर्गुणिस्मरणरूपसंस्कारार्थत्वमेव याज्यादिमन्त्रवत्स्तोत्रशस्त्रमन्त्राणामङ्गीकर्तव्यम् । न चाऽत्र स्तौतिशंसतिभ्यां विनियोगेन याज्यादिवैलक्षण्यात्स्तौतिशंसत्योश्च गुणविशेष्यकगुणिसम्बन्धकीर्तनवाचित्वस्य लोके प्रसिद्धत्वाद्गुणप्रकाशनार्थत्वे च तस्यैव विशेष्यत्वेन तयोर्लक्षणापात्तिरिति वाच्यम् । 'प्रयाजशेषेण हवीष्यभिघारयती' तिवद्दृष्टार्थत्वानुरोधेन लक्षणाङ्गीकारस्य न्याय्यत्वात् । अतस्सन्निपत्योपकारकत्वमेव स्तोत्रशस्त्रयोरपि । सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥ १३ ॥

अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य

गुणभूतत्वात् ॥ २-१-१४ ॥

(सिद्धान्तः)

अस्तु तावन्मूलयुक्तिभूतः श्रुतिविरोधो लिङ्गस्य बाधकः । अभ्युच्चययुक्तिरूपो दुर्बलप्रमाणबाधप्रसङ्ग एव तावदादावभिधीयते । यदि हि स्तौतिशंसत्योः प्रकाशनलक्षणार्थतामङ्गीकृत्य तन्मन्त्राणां गुणिस्मरणार्थत्वमिष्यते, ततो महेन्द्रदेवताकयागाभ्यासक्रमे पठितयोरैन्द्रमन्त्रयोर्महेन्द्रप्रकाशनाशक्तेरिन्द्रस्य च यामानङ्गत्वेन प्रकाशनानर्हत्वात्प्रकरण एव यत्रेन्द्रो देवता तत्रोक्तृष्येत पूषानुमन्त्रणमन्त्रवत् । ततश्च यजुर्वेदविहितग्रहयागाभ्या-

सक्रमेण सामवेदान्तर्गतोत्तराग्रन्थपठितानामृचां यथाक्रमं पाठे-
नाऽवगताङ्गभावानां मध्ये ऐन्द्रमन्त्रयोस्तदनङ्गीकारात्क्रमबाधा-
पत्तिः । 'पादं पुनरारभत'इति वचनावगतस्य चाऽऽद्यामृचं स-
कृत्पठित्वा तस्यामन्त्यपादेन सह द्वितीयाद्यर्धर्चं पठित्वा, तद्
न्त्यपादेन सह द्वितीयान्त्यार्धर्चपठनरूपस्य प्रग्रथनस्य माहेन्द्रग्र-
हसन्निधावाग्नात्स्य तदङ्गत्वानङ्गीकारात्सन्निधिबाधश्च । अतश्च
दुर्बलयोरपि क्रमसन्निध्योः प्रबलेनाऽपि लिङ्गेन सहाऽबाधेनैवो-
पपत्तौ बाधायोगान् सन्निपत्योपकारकत्वं स्तोत्रशस्त्राणाम् ।

सूत्रं तु—देवतापदं प्रति गुणत्वेन संयुक्ता यदि स्तुतिभा-
वना, ततः अर्थेन प्रयोजनानुरोधेन माहेन्द्रग्रहयजितः अपकृ-
ष्येत ऐन्द्री स्तुतिः, तस्याः प्रयोजनभूतां देवतां प्रति गुणभू-
तत्त्वादिति व्याख्येयम् ॥ १४ ॥

वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥ २-१-१५ ॥

नाऽपकृष्येत्ऐन्द्री स्तुतिः, इन्द्रशब्देनैव प्रकृतग्रहयागीयेन्द्र-
प्रकाशनोपपत्तेः । यद्यपि च तत्र महत्त्वगुणविशिष्टस्यैवेन्द्रस्य
माहेन्द्रमिति तद्धितेन देवतात्वमुक्तम्, तथाऽपि विशेष्यस्यैव मन्त्रे-
ण प्रकाशनोपपत्तेः, विशेषणांशस्य च मन्त्राभावेऽपि ध्यानाद्यु-
पायान्तरेण स्मृतिसिद्धेर्नाऽपकर्षापत्तिः । न हि (१) 'सा वा एषा
सर्वदेवत्या यदजा वशा वायव्यामालभेते'ति वाक्येन वशा-
त्वगुणविधानेऽपि विशेष्यमात्रस्य (२) 'लागस्य वपायामेदस' इति
मन्त्रेणाऽभिधानं नेष्टम् । न ह्यत्र माहेन्द्रशब्दस्यैव देवतात्वम्,
येनैन्द्रशब्दस्य ततो भिन्नत्वेनाऽपकर्षशङ्कोत् । तथा सति मह-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ८९

न्द्रशब्दस्याऽर्थवत्त्वाभावेन प्रातिपदिकसंज्ञाभावात्तद्धितानुपपत्ति-
प्रसङ्गात् । अत एव चेतनाचेतनसाधारण्येनाऽर्थस्यैव देवतात्वं
(१)दशमे वक्ष्यते । एवं सत्यपि यदि महेन्द्रशब्दो रूढ्या अर्थ-
न्तरवचनस्स्यात्ततोऽर्थान्तरवचनेनेन्द्रशब्देन नाऽभिधीयते तदर्थं
इत्युत्कृष्येतैन्द्रो मन्त्रः, प्रोक्षणीशब्दवत्तु क्लृप्तावयवयोगेनोपपत्तौ
नाऽर्थान्तरवाचित्वकल्पनायां प्रमाणमस्ति ।

ननु तद्धितसमासरूपवृत्तिद्वयानुपपत्तिरेव रूढिकल्पनायां
प्रमाणं भविष्यति । तथा हि—न तावदेकस्यैवेन्द्रशब्दस्य यु-
गपत्तद्धितसमासरूपवृत्तिद्वयसम्भवः, अन्यतरसापेक्षत्वेनैकस्या
अपि वृत्तेरनुपपत्तेः समासवृत्त्यर्थमिन्द्रशब्दस्य सुबन्तत्वकल्प-
ना, तद्धितवृत्त्यर्थं वाऽसुबन्तत्वमिति युगपद्बुक्तौ युगपत्सुबन्त-
त्वासुबन्तत्वविरोधापत्तेश्च । नाऽपि क्रमेण, सकृच्छ्रुतस्येन्द्रश-
ब्दस्याऽऽवृत्त्यापत्तेः । तद्धितपूर्ववृत्तौ महेन्द्रमित्युत्तरपदवृद्धिर्मह-
त्त्वस्य प्रधानभूतद्रव्याविशेषणत्वं चाऽधिकं प्रसज्येत । अतो वृ-
त्तिद्वयानुपपत्त्या अश्वकर्णादिशब्दवद्रूढिकल्पनोपपत्तेरिन्द्रान्महे-
न्द्रस्य भेदावगमादिन्द्रशब्देन च प्रकाशनानुपपत्तेरुत्कर्षानिवार-
णमिति चेत्, समासवृत्त्युत्तरकाले तद्धितवृत्त्यङ्गीकारात् ।

न चैवमिन्द्रपदावृत्तिः, वृत्तिद्वयविवरणवेत्तायां पौरुषेयेन्द्र-
पदावृत्तावपि वैदिकमाहेन्द्रपदेनाऽनावृत्तेनैव महत्त्वगुणविशिष्टे-
न्द्रदेवतात्वविध्युपपत्तेः । अत एव तद्धितवृत्तेः पूर्वं द्वन्द्वादि-
मासाङ्गीकारात् “आश्रावैष्णव” मित्यादौ देवताद्वन्द्वादिनि-
मित्तकानल्लघुत्पत्तिराजस्येनोपपादिता भविष्यति । अतश्च क्र-
मेण वृत्तिद्वयस्याऽप्युपपत्तेः प्रोक्षणीशब्दवत्क्लृप्तावयवयोगेनो-
पपत्तौ रूढिकल्पनानवकाशात्सत्यपि गुणविशिष्टस्येन्द्रस्य देव-

तात्वे वशावदिन्द्रशब्देन विशेष्यमात्रप्रकाशनोपपत्तेर्नोत्कर्षापत्तिः ।
 वस्तुतस्तु महेन्द्रप्रातिपदिकेन महत्त्वाविशिष्टे इन्द्रे उक्तेऽपि राज-
 पुरुषशोभन इतिवद्विशेष्यमात्रस्यैव तद्धितेन देवतात्वावगमा-
 द्विशेषणस्य च महत्पदस्य विशेष्योपलक्षणार्थत्वेन स्तावकत्वेनो-
 पपत्तेर्देवताभूतस्य शुद्धस्येन्द्रस्यैन्द्रेण(१) प्रकाशनोपपत्तौ नो-
 त्कर्षापत्तिः ।

सूत्रं तु—अगुणार्थं स्यादित्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् ॥१५॥

न श्रुतिसमवायित्वात् ॥ २-१-१६ ॥

नेन्द्रशब्देन प्रकृतग्रहसम्बन्धिदेवताभिधानम्, प्रकृतग्रहे माहे-
 न्द्रमिति तद्धितसहकृतेन विधिना महेन्द्रपदस्यैव देवतात्वविधा-
 नात् । तथा हि—तद्धितेन देवतात्वविशिष्टद्रव्याभिधानात् देव-
 तात्वस्य च त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वेन वृद्धव्यवहारे प्रसिद्धस्या-
 ऽनुच्चार्येऽर्थेऽसम्भवात् तद्धिताभिहितोद्देश्यत्वान्वयार्थं महेन्द्र-
 प्रातिपदिकेन लक्षणया महेन्द्रपदमेवाऽभिधाय तस्य त्यज्यमान-
 हविरुद्देश्यताख्यं देवतात्वं विधीयते । महेन्द्रशब्दे पदलक्षणया-
 च्च शक्यसम्बन्धं विनाऽनुपपत्तेर्महेन्द्रपदशक्यश्चेतनाचेतनसाधा-
 रण्येन दशमे वक्ष्यमाणोऽर्थोऽपि नाऽसङ्गतः । अतश्च मह-
 त्वगुणविशिष्टेन्द्रवाचकमहेन्द्रपदस्यैव देवतात्वावसायाद्विशिष्टवा-
 चकबृहच्चक्रादिपदान्तरप्रयोगे सुतरां शुद्धेन्द्रपदप्रयोगान्नेन्द्रप-
 देन प्रकृतग्रहसम्बन्धिदेवताप्रकाशनोपपत्तिः ।

यत्तु—न्यायसुधाग्रन्थस्वारस्यात्प्रातिपदिकेनाऽर्थवाचिनाऽ-
 प्युद्देश्यतात्वान्वयार्थं पदविशिष्टार्थलक्षणामङ्गीकृत्य तत्र तद्धितवाच्य-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ९१

देवतात्वान्वयाङ्गीकाराच्छब्दोपहितोऽर्थो देवतेति प्रतीयते, तत् पदविशिष्टेऽर्थे उच्चार्यत्वारुयोद्देश्यत्वस्य बाधाद्विशेषणीभूतपदान्वयस्य च 'अन्योपसर्जनमन्येन नाऽन्वेती'ति न्यायेनाऽव्युत्पन्नत्वादुपेक्षणीयम् ।

एतेनाऽर्थस्यैव देवतात्वेऽपि तस्य ब्रीह्यादिवत्स्वरूपेण यागोपयोगाभावाच्छब्दोच्चारणद्वारेणैवोपयोगावगतेऽशब्दविशेषापेक्षायां लाघवादुपस्थितस्य विधिगतशब्दस्यैव नियम इति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः, तद्धितार्थस्य खड्यमानहविरुद्देश्यत्वारुयस्याऽर्थे बाधेनाऽन्वयानुपपत्तेः । खड्यमानहविरुद्देश्यभूतशब्दाभिधेयत्वलक्षणा तु प्रधानभूते तद्धिते लक्षणापत्तेरयुक्तैव । तद्वरं प्रातिपदिक एव गुणभूते पदलक्षणेति । किञ्चैवं "अग्रये पावकाये" त्यादावेकस्यैव पदस्योच्चारणनियमोपपत्तेर्न पदद्वयोच्चारणापत्तिः । अतो महेन्द्रपदस्योच्चार्यत्वेन देवतात्वान्नेन्द्रमन्त्रेणाऽभिधानोपपत्तिः । अतश्चोत्कर्षापत्तिस्तदवस्थैव ।

सूत्रं तु --श्रुत्या विधिगतशब्देनैव देवतायाः कर्मणि समवायात् सम्बन्धादिन्द्रशब्देन महेन्द्रप्रकाशनानुपपत्तेर्नाऽनुत्कर्षसम्भव इति व्याख्येयम् ॥ १६ ॥

व्यपदेशभेदाच्च ॥ २-१-१७ ॥

इतश्च नेन्द्रपदेन महेन्द्राभिधानम् । अन्यथा सान्नाय्ये(१) "बहु दुग्धीन्द्राय देवेभ्यः, बहु दुग्धि महेन्द्राय देवेभ्यः" इति द्वयोर्मन्त्रयोस्समास्नातयोरन्योन्यप्रकाशकत्वे विकल्पापत्तेः । असम्पत्ते त्वैन्द्रेण मन्त्रेण सान्नाय्यगतेन्द्रप्रकाशनान्महेन्द्रेण च

तद्रूपमहेन्द्रप्रकाशनान्मन्त्रद्वयव्यपदेशव्यवस्थेति न विकल्पः । अ-
तश्चेन्द्रमहेन्द्रयोरधिष्ठानैक्येऽपि विशेषणांशभेदादुद्देश्यशब्दभेदाच्च
भेदावगमेनैन्द्रमन्त्रेणाऽभिधानानुपपत्तेरुत्कर्षानिवारणम् ॥ १७ ॥

गुणश्चाऽनर्थकस्स्यात् ॥ २-१-१८ ॥

यदप्युक्तं महेन्द्रप्रातिपदिकेन महत्त्वविशिष्टे इन्द्रेऽभिहितेऽपि
राजपुरुषशोभन इतिवद्विशेष्यमात्रस्यैव तद्वितार्थान्वय इति,
तन्न; तथा सति गुणवाचिमहत्पदानर्थक्यप्रसङ्गात् । न हि तस्य
राजपदवदर्थद्वारेणोपलक्षकता सम्भवति, देवतायास्वरूपेण कर्म-
ण्यसम्बन्धात् । किन्तु शब्दोच्चारणद्वारा तदुपकारकत्वात् मह-
त्पदस्याऽपि तद्वारैवोपलक्षकता वाच्या । ततश्च तस्याऽप्युच्चा-
र्यत्वात् देवतात्वान्तर्गत्यवगतेर्न महत्त्वरहितस्येन्द्रस्य तद्वितार्था-
न्वयः(१)सम्भवति । किञ्च सम्भवति विधेयेन्द्रविशेषणत्वेनाऽर्थ-
वत्त्वे उपलक्षणत्वस्य स्तावकत्वस्य चाऽन्यायत्वान्न शुद्धस्येन्द्र-
स्य देवतात्वम् । राजपुरुषशोभन इत्यादौ तु प्रमाणान्तरानु-
रोधेन तथाऽङ्गीकरणमिति न किञ्चिदेतत् । अत एव च सान्नायवे
“ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्, माहेन्द्रं दध्य-
मावास्यायां माहेन्द्रं पयोऽमावास्याया”मिति व्यपदेशभेदः ।
अन्यथा तत्राऽपि महत्पदानर्थक्यम् ॥ १८ ॥

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥ २-१-१९ ॥

तथा सान्नाय्य एवेन्द्रमहेन्द्रदेवत्ययाज्यापुरोनुवाक्ययोर्भे-
देनाऽस्नानमर्पेन्द्रमहेन्द्रेयोर्भेद एवाऽवकल्पतो(२) अन्यथा एकेन

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ९३

कार्यासिद्धेरितराम्नानमनर्थकं विकल्पो वा प्रसज्येत । न च ध्वं-
न्मतेऽप्येकापूर्वसाधनत्वादिन्द्रमहेन्द्रयोर्धर्मसाङ्कर्यापत्तेर्विकल्पानि-
वारणम्, सम्पीडनादिवत्प्रतिनियतधर्मनिर्देशेन साङ्कर्यानापत्तेः
वस्तुतस्तु मन्त्राणां लिङ्गेन मुख्य एवाऽर्थे विनियोगात्(१)
'व्रीहीणां मेघ सुमनस्यमान' इतिवदेकापूर्वसाधनीभूतेऽप्यर्थान्तरे
अप्राप्तत्वेन साङ्कर्यप्रसङ्ग एव नाऽस्ति । अतो याज्यापुरोनुवाक्य-
योर्भेदात्मनमपि देवताभेदसाधकम् । सूत्रे पुरोरुक्त्वब्दश्चात्र
गतमन्त्रविशेषवाच्यपि लक्षणया पुरोनुवाक्यापरो द्रष्टव्यः ॥१९॥

वशयामर्थसंयोगात् ॥ २-१-२० ॥

यत्तु वशात्वगुणविशिष्टद्रव्यविधावपि छागशब्देन विशेष्य-
मात्रप्रकाशनं दृष्टमित्युक्तम्, तद्वशात्वस्य(२) स्वरूपत एवोपका-
रकत्वादुपायान्तरेणाऽपि स्मृत्या कर्मण्यनुष्ठानोपपत्तेर्नाऽवश्यं
शब्दोच्चारणापेक्षा । प्रकृते तु महत्त्वस्य महत्पदोच्चारणद्वारेणैवोप-
कारकत्वान्नाऽनुच्चरितस्य साधनत्वं संभवतीति विशेषः ॥२०॥

यत्रेति वाऽर्थवत्त्वात्स्यात् ॥ २-१-२१ ॥

ननु यत्र माहेन्द्रग्रहसन्निधावयमैन्द्रः प्रगाथः पठितः, तत्रै-
वाऽस्य मनोतास्थानि(३)पदवल्लक्षणया महत्त्वविशिष्टेन्द्रप्रकाश-
कत्वेन निवेशकल्पनादर्थवत्त्वोपपत्तिः । वस्तुतस्तु नेदशस्थले ल-
क्षणा । त्यागवेलायां माहेन्द्रपदप्रयोगेऽपि मन्त्रे विशेष्यभूतेन्द्रमा-
त्रप्रकाशनेन मन्त्रस्याऽपूर्वीयदेवतात्वाश्रयवाच्यभूतेन्द्रप्रकाशना-

१. तै. ब्रा. ३. ७. ५.

२. स्वत एवेति क. पु.

३. शब्दवदिति. ख. पु.

र्थस्त्वेनाऽप्युपपत्तेः । मनोतास्थाग्रिशब्दे तु देवतावाचिमनोतापद-
 सामानाधिकरण्येन लक्षणाङ्गीकरणमित्युक्तं(१) मन्त्राधिकरणे ।
 अतश्च यथापठितस्याऽप्युपपत्तेर्नोत्कर्षापत्तिः । अथ वा पूषानु-
 मन्त्रणमन्त्रवदुर्वलप्रमाणबाधेनोत्कर्षाङ्गीकारेऽपि न क्षतिः ।
 न च तत्र यागानुमन्त्रणमन्त्रसमाख्यावदिह सम्बन्धसामान्य-
 बोधकप्रमाणाभावेनोत्कर्षस्याऽप्यनुपपत्तेरानर्थक्यापत्तिः, ऐन्द्र-
 यागान्तरे तदभावेऽपि ज्योतिष्टोमप्रकरणस्थैन्द्रग्रहाभ्यासे प्रकरण-
 स्थैव सामान्यसम्बन्धबोधकस्य सत्त्वेनोत्कर्षोपपत्तेः । अतश्च य-
 त्प्रकरण एवैन्द्रो यागस्तत्राऽस्य प्रगाथस्योत्कर्षेऽप्यर्थवत्त्वोप-
 पत्तिरिति ॥ २१ ॥

न त्वाम्नातेषु ॥ २-१-२२ ॥

न चैन्द्रस्य प्रगाथस्य प्रकरणे उत्कर्षसम्भवेऽप्यन्येषु तत्त-
 द्ग्रहाभ्याससन्निधावाम्नातेषु मन्त्रेषु “याम्याशंसति, शि-
 पिविष्टवतीशंसति, पितृदेवत्याशंसति, कुसुंभकसूक्तमन्वाह, अ-
 क्षसूक्तं मण्डूकसूक्तं मूषिकसूक्तमन्वाहे”त्यादिविधिविहितेषु प्र-
 करणेऽपि यमादीनामभावात्तत्रोत्कर्षानुपपत्तेः, प्रकरणबहिर्भूते
 यमादिदेवत्यकर्मणि च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावेनोत्क-
 र्षानुपपत्तेः, कुसुम्भकादीनां चाऽन्यत्राऽपि देवतात्वाभावेन सु-
 तसं तदनुपपत्तेर्नाऽर्थवत्त्वोपपत्तिरिति वाच्यम् ॥ २२ ॥

दृश्यते ॥ २-१-२३ ॥

सर्वेषामेवाऽर्थवत्त्वोपपत्तेः । तथा हि—मण्डूकसूक्तस्य ता-

वत्(१) “मण्डूकेनाऽपि विकर्षती”ति विहितमण्डूकप्रकाशकत्वे-
नाऽशानुपयोगः । न च तस्याऽनारभ्याधीतत्वेन सामान्यसम्ब-
न्धबोधकप्रमाणाभावः, मण्डूकसूक्तस्य प्रकरणाऽऽद्योतिष्ठोमस-
म्बन्धेऽवगते(२) आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन तदङ्गभूते चयने नि-
वेशोपपत्तेः । एवं मूषिकसूक्तस्याऽपि प्रकरणाऽऽद्योतिष्ठोमाङ्ग-
भूतयूपैकादशिन्यां निवेशः । तत्र च यद्यप्यासौर्न साक्षाद्विनि-
योगः, तथाऽप्युपशये यूपे(३) “सर्वे वा अन्ये यूपाः पशुमन्तो
ऽथोपशय एवाऽपशुरि” त्युपक्रम्य द्वेष्याभावे “आखुस्ते पशुरिति
ब्रूयादि” ति मन्त्रविधानेनाऽऽखुस्मृतिद्वारा लक्षणया तत्सम्ब-
न्धुपशयस्तुतिरिति द्रष्टव्यम् ।

ये तु याम्यादिमन्त्रास्तेषां प्रकरणे कथमपि निवेशासम्भवे-
नोत्कर्षायोगादन्यत्र च सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावेनैव
तदप्रसक्तेरगत्या प्रकृतग्रहदेवतैव लक्षणया तैः प्रकाशयते । प्र-
योगाभावेन निषिद्धलक्षणानङ्गीकारे तु जपादिमन्त्रवद्याम्यादि-
मन्त्राणामप्यदृष्टार्थमुच्चारणं प्रकृतग्रहयागाङ्गत्वेन विधीयते । अ-
स्मिंश्च पक्षे स्तौतिशंसत्योर्गुणिविशेष्यकप्रकाशनलक्षकत्वाभावे-
ऽपि लक्षणयोच्चारणपरत्वमेव द्रष्टव्यम् ।

यदि त्वस्मिन् पक्षेऽदृष्टार्थत्वस्याऽऽवश्यकत्वे लक्षणाङ्गीकारे
प्रमाणाभावश्शङ्कयेत्, ततो याम्यादिविषये गुणविशेष्यकगुणिस-
म्बन्धकीर्तनात्मकस्तोत्रशस्त्रविधानमेवाऽदृष्टार्थमङ्गीक्रियते । न
चैतावता सर्वत्रैव तथा प्रसङ्गः, अनुपपत्तेरभावात् । न च या-
म्यादिमन्त्रेषु आधारवन्मन्त्रवर्णकल्प्यदेवताङ्गीकारेण तद्वैवत्यया-
गान्तरस्यैव कल्पयितुं शक्यत्वात्, किमिति सिद्धान्त्यभिप्रेतस्तो-
त्रशस्त्रादृष्टार्थताङ्गीकरणमिति वाच्यम् । याम्यादिमन्त्रैस्तुति-

भाक्त्वरूपदेवतात्वकल्पनेऽप्याधारवद्द्रव्यसम्बन्धाभावे हविर्भा-
क्त्वरूपदेवतात्वाकल्पनात् तदेककल्पयथागानुमानानुपपत्तेः ।
अत एव जपादिमन्त्रेषु न यागान्तरकल्पनम् । किन्त्वदृष्टार्थत्वमेव ।

न चाऽन्येषु जपादिमन्त्रेष्वदृष्टार्थत्वेऽप्यत्र “यद्यज्ञस्य सा-
धनता व्यापद्येत अतो देवा अवन्तु न इति जपेत् अपि वाऽन्यां
वैष्णवीमि” त्यादौ विष्णुप्रकाशकस्य मन्त्रभ्योपांशुयाजाङ्गत्वेन
विद्वद्वाक्यविहितकर्मणि मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पकत्वेनोपपत्तेः कि-
मित्यदृष्टार्थत्वाङ्गीकरणमिति वाच्यम् । विधिवाक्यादेवैतस्य म-
न्त्रस्य यज्ञसाधनलोपनिमित्तवैशुण्यसमाधानार्थत्वेनाऽवगतत्वा-
दर्थान्तराकाङ्क्षानुपपत्तेः । अतो जपादिमन्त्रवदेव याम्यादिमन्त्रा-
णामदृष्टार्थत्वं सिद्धान्त्यभिप्रेतस्तुतिरूपत्वमेव वाऽङ्गीकर्तव्यम् ।

यत्तु मूले “वाचस्तोमे सर्वा ऋचस्सर्वाणि यजुंषि सर्वाणि
सामानि पारिप्लवं शंसती”ति विहिते शस्त्रे सर्वेषां मन्त्राणां वि-
नियोगाद्याम्यादीनामपि तत्रैवोत्कर्षः । यद्यपि च तत्र दृष्टविध-
या नोपयोगः, तथाऽप्यदृष्टद्वारैव तदुपपत्तिरित्युक्तम्, तत् वाचस्तो-
मेऽप्यदृष्टार्थतावश्यकत्वे याम्यादीनामपि सन्निध्यवाधार्थं प्रकृत
ग्रह एवाऽदृष्टार्थत्वस्य न्याय्यत्वादुपेक्षितम् । यदि तु वचनेन
सन्निधानबाधान्न प्रकृतग्रहसम्बन्ध इत्याशंक्येत, ततो दर्शपूर्णमा-
सादिप्रकरणपठितानां जपादिमन्त्राणामन्येषां च लिङ्गादिवि-
नियुक्तानां वचनेन लिङ्गादिवाधापत्तेर्न तदङ्गत्वसम्भवः । अथ
तु वाक्यस्याऽपि सामान्यविषयस्य विशेषनिष्ठलिङ्गादिवाधकत्वा-
योग उच्येत, ततस्सन्निधानेऽपि तुल्यम् । तस्मात्पूर्वाक्तविधयेवा-
ऽर्थवस्त्वदर्शनं व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती

क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥ २-१-२४ ॥

नैन्द्रस्य प्रगाथस्योत्कर्षस्सम्भवी । स हि न तावत्पाकर-
णिक एवैन्द्रयागे, तस्याऽवान्तराधिकारविहितमन्त्रान्तरावरोधेन
तत्राऽस्य मन्त्रस्याऽनवकाशात् । नाऽपि क्रतुप्रकरणबहिर्भूते इ-
न्द्रयागान्तरे । तत्र सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावेनोत्कर्षानु-
पपत्तेः । इन्द्रशब्देन धनोतास्थाग्निशब्दवन्महेन्द्रप्रतिपादनं तु लक्ष-
णा(१) भिया त्वयैव निरस्तम् । अवशिष्यते तावद्यागवेलायां विशे-
षणयुक्तप्रकाशनेऽपि मन्त्रे विश्लेष्यमात्रप्रकाशनं नाऽनुपपन्नमिति ।

तत्रेदं वाच्यम्—स्तौतिशंसत्योर्गुणिप्रकारकगुणविश्लेष्य-
कबोधानुकूलव्यापारवाचित्वस्य, गुणिनिष्ठगुणतात्पर्यकबोधानु-
कूलव्यापारवाचित्वस्य वा 'वक्रकेशान्तो देवदत्त' इत्याद विवा-
ऽवधारणात् गुणिप्रकाशनार्थत्वे लक्षणापत्तेस्स्तौतिशंसतिवाच्य-
स्यैवासर्थस्य (२)विधेयत्वावगमात्तस्य च दृष्टार्थत्वासम्भवे अदृ-
ष्टार्थत्वकल्पनस्य फलमुखत्वेन प्रामाणिकत्वान्नाऽनुपपत्तिरिति ।
लोके हि वक्रकेशो देवदत्त इत्यत्र देवदत्ते वक्रकेशत्वप्रतिपादन
एव स्तुतिबुद्धिरुत्पद्यते, न पुनर्वक्रकेशत्वस्य देवदत्तविश्लेष्यता-
प्रतिपादने । तेन स्तौतिशंसतिपदशक्तिपर्यालोचनया प्रकाशना-
र्थत्वावगमाददृष्टार्थत्वाङ्गीकारेणाऽपि गुणिप्रकारकगुणविश्लेष्यक-
शाब्दबोधानुकूलव्यापाररूपस्तुतिविधायित्वमेव युक्तम् । न च
'प्रयाजशेषेणे'तिवद्दृष्टार्थत्वानुरोधेन लक्षणाङ्गीकरणमप्यदोषः,
प्रकाशनस्य लिङ्गकल्पश्रुतिबलेनैव प्राप्तिसम्भवे लक्षणयैव तत्प्र-
तिपादनेऽपि विधिवैयर्थ्यात् । किञ्च दृष्टार्थत्वं किं त्वया मन्त्रा-
णामभ्युपगम्यते ? स्तुतेर्वा ? नाऽऽद्यः, ममाऽपि स्तुतिनिष्पाद-
कत्वेन तत्सत्त्वात् । नाऽन्त्यः स्तुतिस्वरूपस्यैव हानापत्तेः । त-
स्माद्वातुश्रुतिसंयोगात् प्रकरण एव स्तौतिशंसती स्तुतिरूप-

क्रियोत्पत्तिं विदध्यातामिति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥ २-१-२५ ॥

“द्वादशस्तोत्रोऽग्निष्टोमो द्वादशशस्त्रोऽग्निष्टोम” इति श्रुतं द्वादशत्वं न प्रकाशनलक्षणार्थत्वेऽवकल्पते, प्रकाशनानां प्रत्यृचं प्रतिपदं वा भिन्नत्वेन द्वादशत्वानुपपत्तेः । प्रकाशनत्वेनैक्याङ्गीकारे सुतरां तदनुपपत्तेश्च । अस्मन्मते तु सत्यपि प्रत्यृचं स्तुतिव्यक्तीनां भेदे विधिभेदेन विधेयतत्तदनेकस्तुतिव्यक्तिवृत्तिविधेयतावच्छेदकीभूतवैजात्यावश्यंभावात्तत्तज्जातिगतद्वादशत्वोपपत्तिः । तत्र तु प्रकाशनस्य सामर्थ्यप्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वान्न वैजात्य(१)-कल्पने प्रमाणमस्ति ।

किञ्चाऽस्मन्मते वैजात्याकल्पनेऽपि तत्तद्विधिभेदेन विधेयभावनाभाव्यस्याऽनेकस्तुतिजन्यापूर्वस्य भेदावश्यंभावात्तद्द्वद्वादशत्वेनाऽपि स्तोत्रादिद्वादशत्वोपपत्तिः । प्रकाशनपक्षे तु तस्य दृष्टार्थत्वेनाऽपूर्वानङ्गीकारात् दृष्टप्रयोजनैक्यस्य च प्रत्यक्षबाधितत्वेन द्वादशत्वानुपपत्तिः । अतो द्वादशशब्देन स्तोत्राणां शस्त्राणां च पृथक्काक्षेपादपि न प्रकाशनलक्षणा ॥ २५ ॥

अनर्थकं च तद्वचनम् ॥ २-१-२६ ॥

प्रकाशनार्थत्वपक्षे अग्निष्टुति “आग्नेया ग्रहा भवन्ती”ति वचनेन प्राकृतग्रहानुवादेनाऽग्निदेवताविधौ कृते प्राकृतदेवताबाधवत्तत्प्रकाशकमन्त्रबाधेनाऽग्निप्रकाशकमन्त्रान्तराणां न्यायादेव प्राप्तेः ‘आग्नेयीषु स्तुवत’इति वचनवैयर्थ्यापत्तिः । न चाऽस्य

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ९९

प्राकृतमन्त्रेष्वेवाऽग्निपदोहप्रसक्तौ मन्त्रान्तरविधानेनाऽर्थवत्वमिति वाच्यम् । “पूयति वा य एतदृचोऽक्षरं यदेनदूहति तस्मादृचं नोहेदि” ति वचनेन ऋगूहनिषेधादर्थप्रकाशनरूपकार्यबलेनाऽऽग्नेयमन्त्रान्तरस्यैव प्राप्तेः । अस्मन्मते तु सत्यपि ग्रहाणामाग्नेयत्वे कर्मासमवेतगुणिनिष्ठस्याऽपि गुणस्य कीर्तनेन स्तोत्रशस्त्रजन्यादृष्टसम्पत्पुपपत्तेः प्राकृतानामेव मन्त्राणामुच्चारणप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं ‘आग्नेयीषु स्तुवत’ इति(१) सार्थकम् ॥ २६ ॥

अन्यश्चाऽर्थः प्रतीयते ॥ २-१-२७ ॥

‘सम्बद्धं वै स्तोत्रं शस्त्रं चे’ति श्रुत्या स्तोत्रशस्त्रयोस्सम्बन्धप्रतीतेस्सम्बन्धस्य च(२) भेदसाधनत्वात्स्तोत्रशस्त्रयोस्स्वरूपतः फलतो वा वैजात्यकल्पनया भेदोऽवधार्यते । न चाऽसौ प्रकाशनार्थत्वपक्षे सम्भवति । न च (३)स्तोत्रादावपि प्रगानाप्रगानकृतसम्भवत्येवेति वाच्यम् । स्वरूपतः फलतो वा भेदभानसम्भवे प्रगानाख्याङ्कृत(४)भेदस्याऽन्याय्यत्वात् ॥ २७ ॥

अभिधानं च कर्मवत् ॥ २-१-२८ ॥

यदिदं स्तोत्रशस्त्रादिरूपं सामान्याभिधानं, यच्चाज्यपृष्ठप्रउगादिरूपं विशेषाभिधानम्, तदुभयमप्यारादुपकारकत्वपक्षे उपपद्यते, न तु संस्कारकर्मत्वपक्षे । संस्कारस्य संस्कार्यनिरूपणाधीननिरूपणीयस्य संस्कार्येणैवाऽवच्छेदसिद्धौ अवच्छेदकीभूतसंज्ञानपे-

१. वचनं नाऽनर्थकमिति. क. ख. पु.

२. भेदनिबन्धनत्वादिति. क. ख. पु.

३. तत्राऽपीति. क. पु.

४. भेदाङ्गीकरणस्येति. ख. पु.

क्षत्वात् । एवं सत्यपि यद्यारादुपकारकत्वग्राहकः स्तौतिशंस-
तिधातुरूपः श्रुतिसंयोगसंस्कारकर्मत्ववाचको न स्यात्,
ततो लिङ्गेन संस्कारकर्मत्वस्यैवाऽवधारणात् “अंशुं गृह्णात्यदा-
भ्यं गृह्णाती” तिवद्गत्या सत्यप्यवच्छेदकान्तरे संज्ञावच्छिन्न-
मेव ज्ञातं कृतं कर्माऽभ्युदयकारि भवतीति कल्पनया संज्ञाऽप्य-
ङ्गीकियेत, न त्वेतदस्तीत्यत आरादुपकारकत्वमेव युक्तमुत्प-
श्यामः ॥ २८ ॥

फलनिर्वृत्तिश्च ॥ २-१-२९ ॥

(१) “स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जस्वत्पयस्वदा मा स्तोत्रस्य स्तोत्रं
गम्यादिन्द्रवन्तो वनामहे भक्षीमहि प्रजामिषम्, सा मे सत्याशीर्य-
ज्ञस्य भूयादि” ति मन्त्रे भावनिष्ठान्तेन स्तुतपदेन स्तोत्रक्रियो-
पादानात्, स्तोत्रस्य मध्ये स्तोत्रमसि, तदेवं भूतं स्तोत्रस्योर्जस्व-
त्पयस्वद्भूत्वा मां आगम्यात्, इन्द्रवन्तः इन्द्रोपलक्षितदेवतावन्तो
वयं, त्वां याचामहे, प्रजामिषं भजेमहीति सेयं यज्ञपदलक्षितस्य
स्तोत्रस्याऽऽशीस्सत्या भूयादित्यर्थकस्तोत्रादेव फलं प्रार्थितं, न
देवतातः । यद्यपि च नेदं स्तोत्रस्य फलं करणविभक्तिसंयोगा-
भावेनाऽवगतक्रत्वङ्गभावस्य स्तोत्रस्य मान्त्रवर्णिकफलकल्पनानु-
पपत्तेः, तथाऽपि प्रधानफलमेवेदं परम्परासम्बन्धेन स्तोत्रा-
त्प्रार्थितं, लक्षणया वा स्तोत्रफलमेव क्रतूपकाराख्यम् । अतश्च
स्तोत्रक्रियातः फलप्रार्थनात्तस्या एव प्रधान्यम्, न देवतायाः ।
इतरथा हि देवतात एव फलं प्रार्थ्येत, प्रधानत्वात्, नाऽङ्गभू-
तात्प्रकाशनात् । किञ्च प्रकाशनस्य दृष्टफलस्य प्रत्यक्षगम्यत्वान्न

प्रार्थनार्हत्वं, स्तोत्रफलस्य त्वदृष्टत्वात्तदहर्त्वमिति विशेषः । अत आरादुपकारकाण्येव स्तोत्रशस्त्राणीति सिद्धम् ।

प्रयोजनं प्राकृतग्रहानुवादेन विकृतौ देवतान्तरविधाने 'आग्नेयीषु स्तुवत' इत्येवंविधवचनाभावे प्राकृतानां मन्त्राणाम-
विकारेण प्रयोगः सिद्धान्ते । पूर्वपक्षे प्राकृतऋग्वाधेन वैकृतदैव-
त्यऋगन्तरागम इति (१)दशमे वक्ष्यते ॥ २९ ॥

इति षष्ठं स्तुतशस्त्राधिकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमं विधिमन्त्राधिकरणम् ॥ ७ ॥

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्दात् ॥ २-१-३० ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

एवं 'एष ह्यर्थो विधीयत' इत्यनेनोपक्षिप्तानां विधायकारुया-
तानां "तानि द्वैध" भित्यादिना द्वैविध्यमुक्त्वा इदानीं प्रसङ्गा-
दाख्यातस्याऽपि क्वचिद्विधायकत्वं नाऽस्तीति प्रतिपाद्यते । य-
था(२) "न ता नशद्वित न दधाति तस्करो नासाममित्रो व्य-
थिरादधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभि-
स्सचते गोपातिस्सह" इत्यादिमन्त्रे "यस्योभयँ हविरार्तिमाछे" दि-
त्यादौ ब्राह्मणे च ये यच्छब्दादिसमभिव्याहृता आख्यातशब्दा-
स्ते किं विधायकाः ? उत नेति संशयः । अत्राऽप्यपूर्वभेदोपयो-
गिन एव विचार्यमाणत्वात्पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । प्रासङ्गिकी-
त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र 'आर्छेदि'त्यादौ असन्दिग्धलिङ्श्रवणात् यजते ददाति चेत्यादावपि स्तुत्युन्नीतलेडन्तत्वावधारणात् 'यजेत स्वर्गकाम' इतिवदेव विधायकत्वाविघातः । न च यच्छब्दादिना प्रतिबन्धः, यच्छब्देन गोपदार्थस्य सिद्धत्वद्योतनेऽपि "यदाग्नेयोऽष्टाकपाल" इतिवद्यागसाधनत्वेन विध्युपपत्तेः । अत एव कर्तृसमानाधिकरणस्य यच्छब्दस्यैव प्रतिबन्धकता न कर्मसमानाधिकरणस्येति सिद्धान्तिनोऽपि प्रवादः ।

वस्तुतस्तु गुणभूतेन यच्छब्दादिना प्रधानभूतविधिशक्तिप्रतिबन्धस्याऽन्याय्यत्वात्कर्तृसमानाधिकरण(१)यच्छब्दे सत्यपि न विधित्वव्याघातः । किञ्च यच्छब्दादिकं प्राप्तिं द्योतयत्प्रतिबन्धकं वाच्यम् । सा यदि प्राप्तिः प्रमाणान्तरेणाऽस्ति तदा तेनैव प्रतिबन्धसिद्धेः कृतं यच्छब्दादिना । यदि नाऽस्ति ततो यच्छब्दसद्भावेऽपि "य एवं विद्वानग्निं चिनुत" इतिवदप्राप्तार्थकत्वादेव विध्युपपत्तेर्न यच्छब्दादेः प्रतिबन्धकता संभवति ।

वस्तुतस्तु एतस्य मन्त्रस्य गोद्रव्यकानुबन्ध्यपशुपुरोडाशानुनिर्वाप्यदैविकहविर्यागे चरुद्रव्यके गोदैवत्यथाज्यात्वेन विनियुक्तत्वात्तत्र च चरुद्रव्यकत्वाद्गोद्रव्यकत्वाभावेन तत्र विनियुक्तस्याऽप्यस्याऽप्राप्तस्वतन्त्रगोद्रव्यकयागविधायकत्वोपपत्तिः । न च साक्षाच्छेषिणि दैविकहविर्यागे गोद्रव्यकत्वाप्राप्तावपि तच्छेषिण्यामनुबन्ध्यायां गोद्रव्यकत्वस्य प्राप्तत्वादविधायकत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । एवं यथाकथञ्चित्प्राप्तिसंभवेऽप्यभ्यासात्कर्मान्त-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १०३

रत्वोपपत्तेः । अतश्च 'यजेत स्वर्गकाम'(१) इतिविध्याख्यातव-
न्मन्त्रगतस्याऽप्याख्यातस्य विधिरूपैकप्रयोजनकत्वमेव । वि-
धायकशब्दत्वस्योभयत्र समानत्वादिति सूत्रार्थः । अत्र च
मन्त्रग्रहणं यच्छब्दादिसमभिव्याहृताख्यातमात्रोपलक्षणम्, न
तु स्वतन्त्रम्, "वसन्ताय कपिञ्जलानालभेते" त्यादाव-
भियुक्तप्रसिध्या मन्त्रत्वेऽपि विधायकत्वाङ्गीकारात् । 'यस्योभ-
यमि'त्यादौ च ब्राह्मणे यच्छब्दादिसमभिव्याहारे तदनङ्गीका-
राच्च । अतश्च सर्वस्याऽप्यत्रोदाहरणत्वेऽपि प्रायशो यच्छब्दादि-
समभिव्याहारस्य(२) तेष्वेव सत्त्वात्सूत्रे मन्त्रग्रहणम् ॥ ३१ ॥

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधा-
नवाची स्यात् ॥ २-१-३२ ॥

(सिद्धान्तः)

नैते विधायकाः, 'यजेत' इत्यादीनां लट्छेदसाधारणत्वेन
विध्यर्थकत्वानिश्चयात् । न च(३) स्तुत्या तन्निश्चयः, विधेरभावे
स्तुतेरेवाऽनिश्चयेन तस्यास्तदनिश्चयकत्वात् । न च "वसन्ताय
कपिञ्जलानालभेते"त्यादिवदप्रामाण्यकत्वमेव तन्निश्चयकम्, गो-
द्रव्यकस्य यागदानादेरनूबन्ध्यारूपस्य तदन्यस्य वा बहुशः प्रा-
प्तत्वेन तदसिद्धेः । अत एव न विधिपुनश्श्रवणरूपादभ्यासा-
त्कर्मान्तरत्वं शङ्काम्, विधित्वस्यैवाऽनिश्चयेनाऽभ्यासस्वरूपा-
भावात् । विध्यभावेऽपि पुनश्श्रुतिमात्राद्भेदस्तु पुनश्श्रुतेस्मर-
णार्थत्वेनाऽप्युपपत्तेरनन्यपरत्वाभावादयुक्तः । किञ्च यद्यप्यत्र

१. इत्यख्यातवदिति क. पु. २. मन्त्रेष्वेवेति. क. ख. पु.

३. स्तुतिरेव तन्निश्चयिकेति क. ख. पु.

विधायको लिङ्गादिरश्रोष्यत, तथाऽपि यच्छब्दादिना विधिशक्तिप्रतिबन्धान्नाऽस्य विधायकत्वोपपत्तिः ।

तथा हि—यच्छब्दस्तावत्स्वसमभिव्याहृतार्थस्य सिद्धताद्योतयन्प्राप्तिमपेक्षते । अस्ति चाऽत्र सा । अतो गोद्रव्यकयागदानादेरनूद्यमानस्याऽज्ञातज्ञापनैकस्वभावविधिविषयत्वायोगस्स्पष्ट एव । न च यच्छब्दस्य स्वार्थमात्रे सिद्धताद्योतकत्वाद्गोस्वरूपानुवादेऽपि तस्य साधनत्वेन विध्युपपत्तिरिति वाच्यम् । यः पाकं करोति स भुङ्क्ते इत्यादौ यत्तच्छब्दयोस्स्वसमभिव्याहृतमात्रे सिद्धत्वद्योतकताव्युत्पत्तेः । अतश्च याभिर्यजते, याश्च गा ददाति, ता न नश्यन्ति, न च तस्करो दध्नोति, न वासां अमित्रकृता व्यथा अभिभवति, गोस्वामी च ताभिस्सह चिरं नन्दतीति यच्छब्देन समभिव्याहृते गोद्रव्यके यागदानादावपि सिद्धताप्रतीतेर्न विधेयतोपपत्तिः । यच्छब्दस्य समभिव्याहृतवृत्तिसिद्धताद्योतकत्वादेव च यत्र कर्तृसमभिव्याहारस्तत्र कृत्याश्रयत्वरूपस्य कर्तृत्वस्य सिद्धताप्रतीतौ कृतेरपि तत्प्रतीतेर्विधेयत्वानुपपत्त्या विधिशक्त्यनुपपत्तिः ।

यत्र तु कर्ममात्रसमभिव्याहृतो यच्छब्दस्तच्छब्दसमभिव्याहृतश्च विधिः, तत्र सत्यपि कर्मस्वरूपस्याऽनुवादे कर्तव्यत्वेन विधानोपपत्तेः न विधिशक्तिप्रतिबन्धकता यच्छब्दस्य । प्रकृते तु विधेर्यच्छब्देनैव समभिव्याहाराशुक्ता प्रतिबन्धकतेति विशेषः । एवं सत्यपि यदि कथञ्चिदप्यालोच्यमाने प्राप्तिर्न सम्भाव्येत, ततो 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इतिवद्यच्छब्दस्य स्वार्थमात्र(१)सिद्धत्वद्योतकतामङ्गीकृत्य विधेर्विधायकत्वोपपत्तेर्न शक्तिः प्रातिबन्धयेत ।

न त्वेतदस्ति, गोद्रव्यकस्य यागदानादेर्बहुशः प्राप्तत्वात् ।

यत्तु सत्यपि यच्छब्दस्य विधिविरोधित्वे प्रधानभूतत्वाद्वि-
ध्यनुग्रह एव न्याय्यः, न गुणभूतयच्छब्दानुग्रह इत्युक्तम्, त-
त् 'उच्चैर्ऋचा क्रियत' इत्यादौ प्रधानभूतस्याऽप्युपसंहारस्थस्य वि-
धेरुपक्रमस्थेन गुणभूतेनाऽप्यर्थवादेन बाधस्य वक्ष्यमाणत्वादाकि-
ञ्चित्करम् ।

वस्तुतस्तु विधिवदेव यच्छब्दस्याऽपि प्रधानभूतार्थभावना-
न्वयित्वान्न विधिं प्रति तस्य गुणत्वम् । यदि परं पदान्तरत्वा-
त्तदपेक्षया विप्रकर्षशङ्कयेत, ततः "ऐन्द्रं पञ्चशराव" मित्यनेन
वाक्यभेदापत्तेः (१) 'हेतुहेतुमतोरि'त्यनुशासनैवयथ्यर्थापत्तेश्च विधि-
शक्तिप्रतिबन्धोऽनुसन्धेयः ।

एवं यदिशब्दस्याऽपि निमित्तपरत्वेन प्राप्तियोक्तत्वाद्वि-
धिविरोधित्वं द्रष्टव्यम् । अतश्चोभयत्राऽपि लिङ्श्रवणं 'हेतुहेतु-
मतोरि'ति स्मृतेर्हेतुरूपनिमित्तत्वादिपरम् । यजते ददातीत्यत्र तु
(२) लिङोऽश्रवणाल्लडन्तत्वस्यैव निश्चयः । एवं "अग्नीदग्नीन्वि-
हरे" त्यत्र सम्बोधनविभक्तेर्वक्त्रभिमुखश्रोतृमात्रविषयत्वाद्देदे च
वक्त्रभावाद्धिधेश्चाऽभिमुखानभिमुखसर्वपुरुषसाधारणत्वाद्धिरु-
द्धस्वभावेनाऽऽमन्त्रणैः विधिशक्तिप्रतिबन्धः । अतश्च ङोऽप्यत्र
नाऽलौकिकविध्यर्थकः, किन्तु (३) "प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृ-
त्याश्चे" ति चकारात् प्रैषार्थक एव, लौकिकप्रवर्तनार्थको वा ।

यत्तु न्यायमुधाकृता सम्बोधनविभक्तिसमभिव्याहृतस्य
लिङ्गादेः प्रमाणान्तरपट्टत्तपुरुषप्रवर्तकत्वावगमादपट्टत्तप्रवर्तना-
त्मकविधिशक्तिव्याघात इत्युक्तम्, तत् लोके प्रमाणान्तरानधिग-
मेऽपि देवदत्त गामानयेत्यादौ सम्बोधनविभक्तिप्रयोगदर्शनादुपे-

क्षितम् । एवं ददामि गृह्णामित्यादौ तावल्लङ्घन्तत्वादेव न वि-
 धिशक्तिः । विशेषतश्चाऽस्मदर्थविषयोत्तमपुरुषान्तत्वेन परप्रवर्त-
 नात्मकविधिविरोधित्वम् । अतश्च यत्राऽपि अहं दद्यामित्यादौ
 लिङ्गः श्रवणमुत्तमपुरुषे, तत्राऽपि लिङ्गः स्वनिष्ठप्रवर्तनापरत्वमेव
 लक्षणया, न तु परप्रवर्तनात्मकविधिवाचित्वमिति विवेकः ।
 अतश्च यच्छब्दादिचतुष्टयस्य प्रतिबन्धकत्वात् तत्समाभिव्याह-
 तस्य लिङ्गादेर्न विधायकत्वम्, अपि तु प्रमाणान्तरसिद्धानुवा-
 दकत्वमेव । न चैवमानर्थक्यम्, ब्राह्मणगतानां निमित्तादिप्रति-
 पादकतया विध्यपेक्षितोद्देश्यसमर्पणेनोपयोगस्य वक्ष्यमाण-
 त्वात् । मन्त्रगतानां तु यद्यपि विधेयसमर्पणेन वा उद्देश्यसमर्प-
 णेन वा न विध्युपयोगः । नाऽपि स्तावकत्वेन, दूरस्थानां पदै-
 कवाक्यत्वेन तावत्तस्याऽनुपपत्तेः, पदार्थविधया स्तुतिमात्रलक्ष-
 णायामपि स्वार्थबोधे समाप्त्यभावेन वाक्यैकवाक्यत्वेनाऽप्यनुप-
 त्तेश्च, तथाऽपि परिशेषान्मन्त्राधिकरणन्यायेन प्रयोगकाले ऽर्था-
 भिधायकत्वेनैव । अर्थोऽपि च यत्र प्रयोगसमवेतस्तत्र तदभिधानं
 दृष्टार्थम्, नो चेददृष्टार्थमिति विवेकोऽपि तत्रैव द्रष्टव्यः ।

सूत्रे च अपिवाशब्देन मन्त्रब्राह्मणसाधारण्येन विधायकत्वे
 निरस्ते ब्राह्मणगताख्याते निमित्तपरत्वं वक्ष्यमाणत्वादुपेक्ष्य म-
 न्त्रगते तस्मिन्नर्थभिधानव्यापारकत्वं मन्त्राधिकरणसिद्धमेव
 स्मारितमिति द्रष्टव्यम् । प्रयोजनं स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

इति सप्तमं मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् ॥ ७ ॥



अथाऽष्टमं मन्त्रलक्षणाधिकरणम् ॥ ८ ॥

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ २-१-३ ३ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

पूर्वाधिकरणे उपलक्षणतया मन्त्रशब्दप्रयोगादुपस्थितस्य मन्त्रस्येह लक्षणं प्रसङ्गादुच्यते । तत्र च(१) “अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय । यमृषयस्त्रयीविदा विदुः । ऋचस्सामानि यजूषि । सा हि श्रीरमृता सता” मिति मन्त्रे प्रयुक्तस्य मन्त्रपदस्याऽर्थ-कथनाद्वेदवाक्यार्थविचारवत् पदार्थविचारस्याऽपि शास्त्रे कर्तव्यत्वेन प्रतिज्ञानाच्छास्त्रसङ्गत्युपपत्तिः । मन्त्रनियमादृष्टरूपापूर्व-भेदोपयोगिमन्त्रभेदसिद्ध्यर्थत्वाच्च पादाध्यायसङ्गतिः । यद्यपि तत्तददृष्टत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तदानुपूर्वीकत्वेनैव कारणता, तथाऽपि ‘यद्विशेषयोः कार्यकारणभावस्तत्सामान्ययोरपि स’ इत्यभिप्रेत्येदम् । प्रासङ्गिकी त्वनन्तरा ।

तत्र यथाश्रुतसूत्रस्वारस्यात्तावत् प्रयोगकाले अर्थप्रकाशकत्वं मन्त्रत्वमिति लक्षणं प्रतीयते । अत्र प्रयोगकाल इति विशेषणान्न विधावतिप्रसङ्गः । जपेष्वपि चाऽदृष्टार्थमर्थप्रकाशनाम्नाऽव्यापकत्व-म् । वस्तुतस्तु मन्त्रकाण्डसमाम्नाते(१) ‘वसन्ताय कपिञ्जलानालभे-ते’त्यादौ मन्त्रे विधायकत्वाङ्गीकारेणाव्यापकत्वापत्तेः । ब्राह्मण-स्याऽपि च मन्त्राभावे स्मारकत्वस्य(२) पञ्चमे वक्ष्यमाणत्वेन त-त्राऽतिव्याप्त्यापत्तेः । अनृक्सामादिमन्त्रेषु च कथमप्यर्थप्रकाशक-त्वायोगेनाऽव्यापकत्वाच्चैतल्लक्षणायोगेनाऽभियुक्तानां मन्त्रप-दवाक्यत्वप्रकारको यो निश्चयस्तद्विषयत्वं मन्त्रत्वमिति लक्षणमेव

सर्वव्यापकं सूत्रकृदभिप्रेतमिति प्रतीयते ।

ननु तत्राऽपि मन्त्रपदवाच्यतावच्छेदकानिश्चये वाच्यत्वप्रकारकनिश्चयायोगेन कथं लक्षणप्रसिद्धिः ? न हि मन्त्रत्वं नाम जातिः, यत् मन्त्रपदशक्यतावच्छेदकत्वेन निश्चियेत, तथात्वे वेदत्वऋक्त्वादिदेव गत्वादिना साङ्कर्यापत्तेः, अनेकवर्णाभिव्यक्तीनां यौगपद्याभावेन मन्त्रत्वस्याऽभिव्यक्त्यनापत्तेश्च । नाऽप्युपाधिः, स हि यदि मन्त्रपदवाच्यत्वप्रकारकप्रसिद्धिविषयत्वाख्यः, ततोऽन्योन्याश्रयता । यदि त्वन्यः, ततस्तस्यैव लक्षणत्वोपपत्तेर्नैतस्य सूत्रकृदभिप्रेततेति चेत्-न; अखण्डोपाधिरूपस्यैव वेदत्ववन्मन्त्रत्वस्य मन्त्रपदवाच्यतावच्छेदकत्वाङ्गीकारात् । अतश्च तदवच्छेदेन वाच्यत्वेऽवधारिते तत्प्रकारकनिश्चयविषयत्वस्य लक्षणत्वोपपत्तिः ।

ततश्च सूत्रम्--तदर्थाभिधानं चोदकं प्रयोजकं येषां तेषु मन्त्राख्येस्त्वेवं यथाश्रुतमाभासमानमपि, तच्चोदकेषु मन्त्राध्येतृषु या मन्त्राख्या मन्त्रपदवाच्यत्वप्रकारिका प्रसिद्धिः सैव विषयतासम्बन्धेन मन्त्रलक्षणमिति व्याख्येयम् । यानि तु वृत्तिकारेणाऽस्यन्तत्वत्वान्तत्वादीनि मन्त्रलक्षणान्युक्तानि तानि अस्यन्तत्वस्य त्वान्ते, त्वान्तत्वस्य चास्यन्तेऽभावेनाऽव्यापकत्वापत्तेर्भाष्यकारेणैव दूषितानीति ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रपञ्च्यन्ते ॥ ३३ ॥

इत्यष्टमं मन्त्रलक्षणाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अथ नवमं ब्राह्मणलक्षणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ २-१-३४ ॥

मन्त्रलक्षणप्रसङ्गात्(१) “एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषी”त्यत्र वेदे प्रयुक्तस्य ब्राह्मणशब्दस्याऽर्थपरिज्ञानार्थं ब्राह्मणलक्षणमुच्यते—मन्त्रातिरिक्तवेदत्वं ब्राह्मणत्वमिति । अतश्च विधिवाक्यानि अर्थवादा उपनिषदश्च सर्वमपि ब्राह्मणम् । अत्र च ब्राह्मणत्वमपि मन्त्रत्ववदेवाऽखण्डोपाधिरूपं ब्राह्मणपदशक्यतावच्छेदकम् । अन्यथा मन्त्रातिरिक्तवेदत्वरूपब्राह्मणत्वस्येव ब्राह्मणातिरिक्तवेदत्वरूपस्य मन्त्रत्वस्याऽपि वक्तुं शक्यत्वेन विनिगमनाविरहात् । अतश्च यत्राऽभियुक्तानां ब्राह्मणमिति प्रसिद्धिः, तत् ब्राह्मणमिति लक्षणस्याऽपि मन्त्रवद्वक्तुं शक्यत्वेऽपि, रुचिवैचित्र्यान्मन्त्रातिरिक्तवेदत्वमेव ब्राह्मणं सूत्रकृता लक्षितम् । अथवा नैवेदं सूत्रं लक्षणाभिधानार्थम्, अपि तु शेषे मन्त्रातिरिक्तवेदभागे ब्राह्मणशब्दस्य येन केनचिदलक्षणेन सुज्ञानत्वान्न मया लक्षणं वाच्यमिति लक्षणावक्तव्यत्वाभिधानार्थमेव व्याख्येयम् । अत एवाऽग्रे मन्त्रप्रस्तावोऽपि सङ्गच्छते । अत्राऽपि यानि वृत्तिकारेणेतिकरणबहुलत्वादीनि ब्राह्मणलक्षणान्युक्तानि तान्यव्यापकत्वापत्तेर्भाष्यकारेणैव दूषितानीति नेह प्रपञ्च्यते ॥ ३४ ॥

इति नवमं ब्राह्मणलक्षणाधिकरणम् ॥ ९ ॥



अथ दशमं ऊहाद्यमन्त्रताधिकरणम् ॥ १० ॥

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि

विभागस्स्यात् ॥ २-१-३५ ॥

(विषयसंशयौ)

‘तच्चोदकेषु मन्त्रारूये’त्यनेन लक्षणद्वयसूचनात्कस्य मुख्य-
त्वं कस्य वाऽभ्युच्चयतेति विवेकायेदमधिकरणम् । प्रकृतितोऽ-
तिदेशेन प्राप्ते “अग्नये जुष्टं निर्वपामी”ति मन्त्रे कार्यवशेन वि-
कृतौ प्रक्षिप्यमाणमग्निपदस्थाने सूर्यादिपदमूहः । “आर्षेयं वृणी-
त” इति विधिवशादुच्चार्यमाणः काश्यपादिः प्रवरः । ‘यजमानस्य
नाम गृह्णाती’त्यादिविधित उच्चार्यमाणं देवदत्तपदं नाम । तदेता-
न्यूहप्रवरनामधेयानि किं मन्त्राः उत नेति विचारः । केचित्तु
मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदस्य द्वैराश्ये निरूपिते प्रसङ्गात्प्रत्यक्षपठित
एव वदे द्वैराश्यं, न त्वनुमित इति वक्तुमूहादीनां द्वैराश्यबहिर्भा-
वोऽनेन प्रतिपाद्यत इत्याहुः । तेषां ‘अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वत्वमि-
तिवदब्राह्मणत्वमित्यपि सूत्रापत्तेः उपेक्षैव युक्ता ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्रयोगकाले अर्थाभिधायकस्यैव मन्त्रपदवाच्यत्वाद्गृहा-
दीनां चाऽर्थाभिधायकत्वस्य स्पष्टत्वात् मन्त्रपदैकवाक्यत्वाच्चैषां
मन्त्रत्वम् । अन्यथा ह्यमन्त्रैकवाक्यतापन्नानां मन्त्राक्षराणामपि
श्लोकैकैकवाक्यतापन्नमन्त्राक्षरवदमन्त्रत्वापत्तिः । ऊहे तु मन्त्रा-
न्तर्गताग्निपदस्यागादप्यवशिष्टाक्षरेषु सा । अस्मन्मते तु मन्त्र-

भूताग्निपदयुक्तानामिव मन्त्रभूतसूर्यादिपदयुक्तानामपि मन्त्र-
त्वोपपत्तेर्नाऽयं दोषः । तस्माद्गृहादीनामपि मन्त्रत्वमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—पूर्वसूत्रव्युत्पादिताव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदूषणवशे-
नैतल्लक्षणायोगस्य स्पष्टत्वादभियुक्तप्रसिद्धिविषयत्वस्यैव तल्लक्षण-
त्वं वाच्यम् । अतश्चोहादीनां तदभावेन मन्त्रत्वायोगस्स्पष्ट एव । न चै-
तावता तदेकवाक्यतापन्नमन्त्राक्षराणाममन्त्रत्वापत्तिः, मन्त्रत्वप्र-
त्यभिज्ञानस्य दृढत्वात् । अत एव कर्मकाले याज्यान्तःप्लुतिकरणेऽ-
पि न मन्त्रत्वहानिः । यत्र तु श्लोकाद्येकवाक्यतापन्नद्वित्रिमन्त्राक्षरेषु
न मन्त्रत्वप्रसिद्धिरभियुक्तानाम्, तत्र मन्त्रत्वे प्रमाणाभावस्स्पष्ट एव ।
अतश्चोहादिष्वभियुक्तप्रसिध्यभावेनाऽमन्त्रत्वेऽपि तदेकवाक्य-
तापन्नानामक्षरान्तराणां तत्सत्वान्मन्त्रत्वोपपत्तिः । एवञ्च 'ऐरं
कृत्वोद्वेयमि'त्यादाविरापदस्य मन्त्रत्वप्रसिध्यभावेनाऽमन्त्रत्वेऽपि
तदेकवाक्यतापन्नाक्षरान्तराणां मन्त्रत्वोपपत्तिः । गिरापदे मन्त्रत्व-
प्रसिद्धिस्तु अध्ययनकाले, पारायणादौ चोपयुज्यत इति द्रष्टव्यम् ।

यत्तु वार्तिके इरापदस्य 'ऐरमि'ति विधिवाक्ये तद्विदान्तर्ग-
तत्वेनाऽऽम्नातत्वादस्त्वेव मन्त्रत्वमित्युक्तम्, तत् ब्राह्मणे समाम्ना-
तस्याऽपि मन्त्रप्रसिध्यविषयत्वेन मन्त्रत्वायोगात् 'वसन्ताय कपि-
ञ्जलानालभते'त्यादिवन्मन्त्रकाण्डे पाठाभ्युपगमेऽपि वा ऐरपदस्यैव
पठितत्वेन मन्त्रत्वापत्तेस्तद्विधेयस्येरापदस्य वस्तुतः पाठाभावेन
मन्त्रत्वानुपपत्तेरतिशयार्थमिति द्रष्टव्यम् । एवं यत्राऽपि सूक्तवाक्का-
दौ "आशास्तेऽयं यजमानोऽसा" विति सर्वनामसंयुक्तमन्त्राम्ना-
नम्, तत्राऽप्यसाविसस्य स्वाध्यायकाले, मन्त्रस्याऽपि कर्मकाले
तत्पदस्थाने पठनीयस्य देवदत्तादिपदस्य स्वरूपेणाऽपाठादभि-

युक्तप्रसिद्धिविषयत्वानुपपत्तेरमन्त्रत्वम् । न च सर्वनाम्नि मन्त्र-
ताप्रसिद्धेस्तत्रानर्थक्ये तदनुमेयदेवदत्तादिपदविषयत्वकल्पनान्म-
न्त्रत्वोपपात्तिरिति वाच्यम् । सर्वनाम्न्यपि मन्त्रत्वप्रसिद्धे-
स्वाध्यायोपयुक्तत्वात् । अतोऽत्राऽपि देवदत्तादिपदे मन्त्रत्वो-
क्तिरतिशयार्थैव वार्तिके द्रष्टव्या । तस्मादभियुक्तप्रसिध्यविषय-
त्वाद्युक्तमूहादीनाममन्त्रत्वम् ।

प्रयोजनं--पूर्वपक्षे ऊहादिभ्रेषे मन्त्रभ्रेषनिमित्तं प्रायश्चित्तम् ।
सिद्धान्ते त्वङ्गभ्रेषनिमित्तकमेव । मन्त्रत्वनिमित्तकशब्दविकारा-
दिसदसद्भावश्च । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

इति दशमं ऊहाद्यमन्त्रताधिकरणम् ॥ १० ॥

अथैकादशं ऋग्लक्षणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

तेषामृग्यत्राऽर्थवशेन पादव्यवस्था ॥२-१-३६॥

एवं लक्षणस्थिरीकरणेन (१)मन्त्रपदे व्युत्पादितेऽधुना प्र-
सङ्गात्तदवान्तरभेदरूपस्य ऋगादेः “अहे बुधिनय मन्त्रं मे गो-
पाये”ति वेदस्थऋगादिपदार्थज्ञानार्थं लक्षणमुच्यते । तेषां मन्त्रा-
णां मध्ये यत्र पादव्यवस्था ‘त्रिपदा गायत्री’ ‘चतुष्पदा बृहती’
त्यादिका सा ऋक् । अथवाऽस्मिन्नक्षरे पादसमाप्तिः, नाऽस्मिन्निति
पादव्यवस्था यत्र सा ऋक्, वृद्धव्यवहारे तादृशमन्त्र एव ऋक्श-
ब्दप्रयोगात् । सा च पादसमाप्तिः क्वचिदर्थवशेन । यथा(२) ‘अग्नि-
मीले पुरोहितमि’त्यत्र । न चाऽत्र ऋग्धर्मापर्यवसानात्कथमर्थवशेन

पादस्य समाप्तिः ? ऋगर्थापर्यवसानेऽपि 'ईल' इत्याख्यातपदाद-
वान्तरार्थपर्यवसानोपपत्तेः । एवमपरयोरपि पादयोरेतदाख्याता-
नुषङ्गेणैवाऽर्थपर्यवसानं द्रष्टव्यम् । अतो युक्ताऽर्थवशेन पादव्यव-
स्था । क्वचिच्च(१) "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः" रित्यादौ लघुगुर्वक्षर-
साम्याख्यवृत्तवशेन "अग्निमील" इत्यादौ चाऽक्षरसङ्ख्यानिय-
मलक्षणञ्चन्दोवशेन, (२) "तद्युस्मामिन्द्रं न रेजमान"मित्यादौ चाऽ-
ल्पवैषम्येणैव पादव्यवस्था । अत एव सूत्रे अर्थवशग्रहणं वृत्तव-
शादरेपलक्षणार्थम् । तदपि च न लक्षणान्तर्गतम्, पादव्यवस्थाव-
वन्मन्त्रस्वरूपस्यैव लक्षणस्याऽनतिप्रसक्तत्वात् ॥ ३६ ॥

इत्येकादशं ऋगलक्षणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशं सामलक्षणाधिकरणम् ॥ १२ ॥

गीतिषु सामाख्या ॥ २-१-३७ ॥

अत्र 'तेषामि'त्यनुवृत्त्या मन्त्रगतगीतित्वस्य सामशब्दार्थता
लभ्यते । अतश्च न लौकिकगीतावतिप्रसङ्गः । अभियुक्तव्यव-
हाराच्चाऽस्याऽपि शब्दार्थत्वावधारणम् । न चैवं वैदि-
कगीति(३)विशिष्टमन्त्रेऽभियुक्तप्रयोगान्मन्त्रस्याऽपि वाच्यता-
पत्तिः, मन्त्राणां व्यक्तिन्यायेन लक्षणयाऽपि भानोपपत्तौ
अतिरिक्तशक्तिकल्पने प्रमाणाभावात् । विस्तरेण चैत-
त्(४)सप्तमे उपपादायिष्यामः । न चैवं पौनरुक्त्यम्, सामश-

१ ऋ. सं. १. १. १. २. ऋ. सं. ७. ६. १.

३ विशिष्टे मन्त्रस्याऽपि वाच्यतापत्तिरिति. ख. पु.

४ पु. मी. ७. २. १.

ब्दस्य गीतिमात्रवाचित्वे तद्विशिष्टमन्त्रवाचित्वे वा, उभयथा ऋग्यजुर्भ्यां(१)विवेकोपपत्तेर्गीतिमात्रवाचित्वस्येहाऽनुपयोगेनाऽवाच्यत्वात्, सप्तम एव ऋगन्तरे अतिदेशसिद्ध्यर्थमवश्यवाच्यत्वात् । इह सप्तमसिद्धस्यैव गीतिमात्रवाचित्वस्य अनागतावेक्षणेन शिष्यहितार्थं कथनेन पौनरुक्त्यनापत्तेः । यथा च तस्य नाऽऽकृत्यधिकरणेन पौनरुक्त्यं, तथा सप्तम एव उपपादयिष्यामः । यजु(२) नवमे पुनर्गीतिमात्रवाचित्वकथनं, तदुत्तरविवक्षार्थं(३) स्मरणार्थमिति तत्रैव वक्ष्यते ॥ ३७ ॥

इति द्वादशं सामलक्षणाधिकरणम् ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशं यजुर्लक्षणाधिकरणम् ॥ १३ ॥

शेषे यजुश्शब्दः ॥ २-१-३८ ॥

ऋक्सामभिन्नं यत्प्रश्चिष्टाक्षरमन्त्रजातं तद्यजुः । स्तोभाक्षराणामपि यजुष्टान्नातिव्याप्तिः ॥ ३८ ॥

इति त्रयोदशं यजुर्लक्षणाधिकरणम् ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशं निगदाधिकरणम् ॥ १४ ॥

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥ २-१-३९ ॥

(विषयसंशयौ)

‘शेषे यजुश्शब्द’ इत्येतदाक्षेपेणेदमारभ्यते । सन्ति निगदा नाम प्रायश्चः परसम्बोधनार्था मन्त्राः ‘अग्नीदग्नीन् विहरे’त्यादयः । ते किं यजुष्येव, उत भिन्ना इति विचारः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र निगदानां यजुष्टे “उपांशु यजुषे”ति वचनेनोपांशुत्वप्राप्तेः “उच्चैर्निगदेने” ति वाक्यविहितोच्चैस्त्वानुपपत्तिः । न च विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य बाधः, विशेषविधेस्त्वविषयवृत्तिभेदबोधनेनाऽप्युपपत्तौ सामान्यस्याऽपि वाक्यस्य सङ्कोचे प्रमाणाभावात् । न च परप्रत्यायनरूपकार्यानुरोधेनोपांशुत्वविधेस्सङ्कोचादुच्चैर्निगदेने’त्यस्याऽनुवादकत्वोपपत्तेर्न भेदबोधकतेति वाच्यम् । मन्त्रगतालिङ्गप्रमाणरूपप्रत्यायनरूपकार्यानुरोधेन वाक्यस्याऽपि ब्राह्मणगतस्य सङ्कोचायोगात् ‘नमः प्रवक्त्रे’ (१) ‘देवेद्धो मन्विद्ध’ इत्यादीनां परसम्बोधनार्थत्वस्याऽप्यभावाच्च । सत्यपि परसम्बोधनार्थत्वे उपांशुत्वव्यतिरिक्तमन्द्रादिस्वराणामपि पक्षे प्राप्तत्वादुच्चैस्त्वानुवादानुपपत्तेश्च । अतश्चोच्चैर्निगदेनेत्यस्य विधित्वावश्यभावाद्भेदबोधनादपि च तदुपपत्तेर्न सामान्यस्याऽपि वाक्यस्य सङ्कोचकल्पनावसरः । तस्माद्धर्मान्तरं निगदाः । सूत्रं स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

व्यपदेशाच्च ॥ २-१-४० ॥

इमे निगदाः, इमानि यजूंषीति संज्ञाभेदादपि ज्योतिरादि-
वद्भेदकतोपपत्तेरर्थान्तरम् । एवञ्च “मन्त्र एव खल्वयं निगद-
भूतो भवति तस्माद्यजु” रिति सुब्रह्मण्यावाक्यशेषे निगदस्य
यजुष्टसङ्कीर्तनं योगेन यागसाधनत्वमात्रपरम्, सुब्रह्मण्यामात्र-
स्यैव वा यजुष्टज्ञापकमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४० ॥

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥ २-१-४१ ॥

(सिद्धान्तः)

नैतदेवम्, ‘अहे बुद्धिनये’ ति मन्त्रे मन्त्रावान्तरभेदाना-
मृगादिमन्त्राणां त्रयाणामेवाऽनुकीर्तनेन निगदस्य भेदेनाऽनु-
कीर्तनात्, ‘मन्त्र एव खल्वयं निगदभूतो भवती’त्यत्र ऋक्सामाभि-
न्नमन्त्रत्वस्य सुब्रह्मण्यानिगदे यजुष्टसाधकत्वेनोक्तस्य निगदा-
न्तरेष्वपि सत्त्वाच्च । न चाऽत्र यौगिको यजुश्शब्दः, जपादि-
साधनमन्त्रेऽपि प्रश्लिष्टपठिते यजुश्शब्दप्रयोगेण तस्य रूढत्वा-
वगमाद्यौगिकार्थबोधकत्वानुपपत्तेः । तस्माद्यजूरूपप्रत्यभिज्ञाना-
द्यजुष्टमेव ॥ ४१ ॥

यत्तु विरुद्धधर्मकत्वाद्भेद इति तत्रोत्तरम्—

वचनाद्धर्मविशेषः ॥ २-१-४२ ॥

(१) “वेदो वा प्रायदर्शनादि” खत्र तृतीये वेदोपक्रमानुरो-
धेनोच्चैस्त्वादेः ऋग्वेदादिविहितकर्माङ्गमन्त्रमात्राङ्गत्वस्य स्थाप-
यिष्यमाणत्वेन भवन्मतेऽपि ‘उच्चैर्निगदेने’त्यस्य ‘उपांशु यजुषे’ति

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । ११७

वाक्यसङ्कोचकत्वावश्यंभावाद्भेदानुमापकत्वानुपपत्तेः, सत्यपि चोच्चैस्त्वादेः ऋगादिधर्मत्वे परप्रत्यायनरूपकार्यानुरोधेनैवोपांशुत्वानुपपत्तेः 'उपांशु यजुषे'त्यस्य निगदविषयत्वानुपपत्तेः, सत्यपि निगदानां यजुष्टे 'उच्चैर्निगदेने'त्यस्य निगदेषु पक्ष-प्राप्तमन्द्रादिव्यावर्तनफलकोच्चैस्त्वनियामकत्वोपपत्तेर्भेदानुमापकत्वायोगाच्च ।

न च लैङ्गिकपरप्रत्यायनार्थत्वस्य ब्राह्मणवाक्यगतेन वाक्यप्रमाणकेनाऽपि बाधशंकायः, लैङ्गिकस्याऽपि प्रधानभूतस्य परप्रत्यायनस्याऽङ्गभूतेनोपांशुत्वेन बाधयोगात् । उक्तं हेतत्(१) प्रमाणबलावलापेक्षया प्रमेयबलाबलं ज्याय इति । अतश्च लिङ्गेनैव 'उपांशु यजुषे'त्यस्य सङ्कोचितत्वान्न 'उच्चैर्निगदेने'त्यस्य सङ्कोचकता । किंच नाऽवश्यं लिङ्गस्यैव विधिसङ्कोचे व्यापारः, अपि तु विधिवाक्यस्याऽपि स्वनिष्ठगौरवपरिहारार्थं सः ।

तथा हि—'उपांशु यजुषे'त्यस्य निगदेष्वत्यन्ताप्राप्तोपांशुताविधायित्वेनाऽपूर्वविधित्वापत्तेः, तस्य चाऽदृष्टोद्देश्यकत्वेन गौरवापत्तिः। पुनश्च निगदभिन्नमन्त्रान्तरे पक्षप्राप्तोपांशुतानियामकत्वेन नियमविधित्वाद्वैरूप्यम् । अतो निगदातिरिक्तेष्वेव दृष्टपदार्थोद्देश्यकतालाघवार्थं स्वरविशेषनियामकत्वाङ्गीकरणात्स्वयमपि विधिस्वसंकोचे व्यापियते । अतश्चोपांशुत्वाविषयीभूतेषु निगदेषु 'चैर्निगदेने'त्यनेन स्वरनियमो नाऽनुपपन्नः ।

यत्तु मूले 'उच्चैर्निगदेने'त्यस्य परप्रत्यायनरूपकार्यबलप्राप्तोच्चैस्त्वानुवादकत्वमुपांशुत्वविधिप्रशंसाफलकमङ्गीकृतम्, तदतिशयार्थम्, मन्द्रादिस्वरान्तराणामपि पक्षे प्राप्तत्वेन नित्यवदनुवादायोगात् । परप्रत्यायनरूपकार्यरहितानामपि निगदानां स-

त्वेन तेषूपशुत्वस्याऽपि पक्षे प्राप्तया सुतरां तदयोगाच्च । न चैवं 'उपांशु यजुषे'त्यत्र वस्तुतो (१)वेदोपक्रमाधिकरणन्यायेन वेदलक्षणावन्निगदपदेऽपि यजुर्वेदलक्षणापत्तेर्यजुर्वेदविहितकर्माङ्गभूतमन्त्रेषुचैस्त्वोपांशुत्वविकल्पापत्तेः, वेदोपक्रमस्यैकत्रैव लक्षणातात्पर्यग्राहकत्वेनोपपत्तावुभयत्र तदङ्गीकारे प्रमाणाभावात् । न च नियामकाभावः, 'वायोर्यजुर्वेद' इति यजुःपदसमभिव्याहृतवेदपदोपक्रमस्य यजुःपदलक्षणायामेव तात्पर्यग्राहकत्वेन तदासिद्धेः । अतश्चोपांशुत्वस्य वेदधर्मत्वेऽप्यु 'चैर्निगदेने'त्यस्य निरर्थवादकस्यैव निगदमात्रोद्देशेन विशेषविधया पक्षप्राप्तौचैस्त्वादिनियामकत्वोपपत्तेर्नाऽनुवादकत्वसम्भवः । अतश्च निगदानां यजूरूपत्वेऽपि परप्रत्यायनरूपकार्यानुरोधेनोपांशुत्वाप्राप्त्या तेषुचैस्त्वविधानोपपत्तेर्न धर्मविरोधाद्भेदसिद्धिः ॥ ४२ ॥

अर्थाच्च ॥ २-१-४३ ॥

ननु 'अग्नीदग्नीन् विहरे'त्यादेर्लोटः प्राप्तकालतायामप्युपपत्तेः प्रैषत्वनियामकाभावेन परप्रत्यायनार्थत्वाभावात् न वाचनिकोपांशुत्वबाधो युक्त इति चेत्; एवमपि सामान्यविहितोपांशुत्वस्य विशेषविहितेनोच्चैस्त्वेन बाधेऽपि बाधकाभावात् ।

वस्तुतस्तु प्राप्तकालत्वे लोटोऽदृष्टार्थत्वापत्तेर्दृष्टार्थत्वानुरोधेन प्रैषत्वावसायाद्युक्त एवोपांशुत्वबोधः ॥ ४३ ॥

यत्तु संज्ञाभेदाद्भेद इत्युक्तं, तत्रोत्तरम्—

गुणार्थो व्यपदेशः ॥ २-१-४४ ॥

योऽयं यजुष्ट्वे सत्यपि निगदव्यपदेशः, स ब्राह्मणत्वे सत्यपि परित्राजकत्वव्यपदेशवत्परप्रत्यायनरूपकार्यवशेनोपांशुत्वनिवृत्तौ नितरां गदनरूपगुणयोगेनोपपन्न एव । अत एवोपांशुत्वाभावमात्रकृतप्रकर्षबलेनैव 'उच्चैर्निगदेने'त्येतद्वाक्ये निगदानुवादेनोच्चैस्त्वविधानात्तद्विधेः पूर्वमेव प्रयुज्यमानस्य निगदशब्दस्य शक्यतावच्छेदकावगतिसिद्धिः । अतश्च मूले उच्चैस्त्वरूपप्रकर्षस्य शक्यतावच्छेदकत्वोक्तिरतिशयार्थैव ॥ ४४ ॥

सर्वेषामिति चेत् ॥ २-१-४५ ॥

उपांशुत्वभिन्नस्वरोच्चारणविषयत्वस्यैव निगदपदशक्यतावच्छेदकत्वे ऋच्यपि(१)तत्संभवान्निगदपदप्रयोगापत्तिः । अतो रूढत्वावसायान्निगदयजुस्संज्ञयोर्भेदकत्वं ज्योतिरादिवदुपपन्नमेवेति चेत्—

न ऋग्व्यपदेशात् ॥ २-१-४६ ॥

गदतेरपादबद्धाक्षरसमूहवाचकत्वात् निशब्दस्य च प्रकर्षवाचित्वादवयवयोगेनोपांशुत्वभिन्नस्वरयुक्तापादबद्धमन्त्राक्षरत्वस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वप्रतीतेः ऋच्यतिप्रसङ्गाभावेन रूढत्वकल्पने प्रमाणाभावात् । अनेनैवाऽभिप्रायेण "अयाज्या वै निगदाः ऋचैव यजती"ति निगदानां ऋग्भेदव्यपदेशोऽपि सङ्गच्छते । तस्मान्न रूढत्वेन ज्योतिरादिपदवच्छेदकत्वं संज्ञायाः ।

वस्तुतस्तु 'नमः प्रवक्त्र'इत्यादिनिगदेषु वचनेनैवोपांशुत्वप्रतिप्रसवादावयवयोगबाधेनाऽश्वकर्णादिवद्भूदेरावश्यकत्वेऽपि निगदत्वस्याऽखण्डोपाधिरूपस्य यजुष्ट्वावान्तरव्याप्यस्यैव निगद-

पदशक्यतावच्छेदकत्वेन(१) कल्प्यत्वान्मनुष्यब्राह्मणसंज्ञयोरिव व्याप्यव्यापकभावेन निगद्यजुस्संज्ञयोरेकस्मिन्नप्युपपत्तेर्न भेद-
कत्वापत्तिः । तस्माद्यजुंष्येव निगदा इति सिद्धम् ।

प्रयोजनं वाचस्तोमे “सर्वा ऋचस्सर्वाणि यजुंषि सर्वाणि
सामानि पारिप्लवं शंसती”ति विहिते शंसने निगदानां यजुष्टे
शंसनम्, भेदे तु नेति द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

इति चतुर्दशं निगदाधिकरणम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशमेकवाक्यताधिकरणम् ॥ १५ ॥

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे

स्यात् ॥ २-१-४७ ॥

तदेवं यजुष्ठाश्रये निरूपिते अधुना प्रसङ्गात्तद्यजुष्टं कियत्सु
पदसमूहेषु व्यासज्य वर्तते, कियत्सु वा पर्याप्नोतीति विवेका-
र्थमिदमारभ्यते । यावति पदसमूहे लोके वाक्यत्वप्रसिद्धिः,
तावत्येव यजुष्टं, न तु वाक्यसमूहे, तस्यैकार्थ(२)प्रतिपादकत्वा-
भावेन विनियोगानर्हत्वात् । लोके च यत्रैकार्थकत्वं विभज्यमाने
साकाङ्क्षत्वं च तावत्येव वाक्यत्वप्रसिद्धेस्तावत्येव यजुष्टमित्यव-
गम्यते ।

ननु किमिदमर्थैकत्वम् ? न तावत्पदार्थैकत्वम्, तेषां गामा-
नयेत्यादिवाक्येऽनेकत्वात् । नाऽपि वाक्यार्थैकत्वम्, तस्याऽपि
संसर्गरूपत्वेन प्रतिपदार्थं भेदात् । नाऽपि प्रयोजनैकत्वम्, तद्य-
दि शेषिरूपप्रयोजनैकत्वं विवक्षितं, ततः ‘सौर्यं चरुमि’त्यादौ द्रव्य-

देवते प्रति यागः, (१)यागं च प्रति फलमित्यनेकार्थत्वादर्थैकत्वानापत्तिः, “सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासा” वित्यादौ च सा । अथ मुख्यविशेष्यरूपप्रयोजनैकत्वम्, तदापि “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते” त्यादावाग्नेयादिभावनानां मुख्यविशेष्याणां भिन्नत्वात्तदेकत्वानापत्तिः ।

अथ मुख्यविशेष्यप्रतिपादकशब्दैकत्वम्, ततो व्रीहियववाक्ययोः, ‘भगो वां विभजत्वित्यादौ च तत्प्रतिपादकशब्दभेदेनाऽर्थैकत्वानापत्तेर्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वरूपविशेषणोपादानवैयर्थ्यमिति चेत्—न; भिन्नप्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेष्यराहित्यमर्थैकत्वम् । अस्ति च गामानयेत्यादौ तत्, आनयनभावनाया मुख्यविशेष्यभूताया एकत्वात् । अस्ति चेदं दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि, अनेकासामग्नेयादिभावनानामेकेन प्रत्ययेनोपादानात् भिन्नप्रतीतिविषयत्वासिद्धेः । व्रीहियवादिवाक्ययोः, ‘भगो वां विभजत्वित्यादौ च सत्यपि भिन्नप्रतीतिविषयत्वे मुख्यविशेष्यस्य यागविभागभावनादेरेकत्वादर्थैकत्वोपपत्तिः । न ह्यत्र “आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पता” मित्यत्र “क्लृप्तीर्वाचयती”ति बहुवचनवद्विभागभेदे प्रमाणमस्ति, यतोऽर्थभेदश्चाङ्गयेत् । अतस्तस्यपि व्रीहियववाक्ययोः, “भगो वां विभजतु, अर्यमा वां विभजतु, पूषा वां विभजत्वित्यादौ चोक्तविधार्थैकत्वे विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वाभावाद्वाक्यभेदसिद्धिः । विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वं चाऽन्वीयमानयोः पदार्थयोरनन्वये अनिष्टत्वाकाङ्क्षत्वम् । यथा—गामानयेत्यत्र गोशब्दस्य । न च ‘भगो वामि’त्यत्र ‘अर्यमा वामि’त्यस्याऽनन्वये साकाङ्क्षत्वमस्ति, स्ववाक्योपात्तविभजत्यन्वयेनैव निराकाङ्क्षत्वात् । अतोऽस्त्येव विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वविशेषणसार्थक्यम् ।

अर्थैकत्वविशेषणसार्थक्यं तु “स्थोनं ते सदनं कृणोमी”
 त्यस्याऽपि ‘तस्मिन् सीदे’त्यनेनाऽनन्वये तच्छब्दस्य साकाङ्क्षत्वेन
 विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादेकवाक्यतापत्तेर्द्रष्टव्यम् । तत्र विभज्य-
 मानसाकाङ्क्षत्वेऽप्यर्थैकत्वाभावात् । न हि सदनकरणप्रतिष्ठाप-
 नभावनयोरेकपदोपादानमस्ति, येनैकप्रतीतिविषयत्वमाशङ्क्येत ।
 सदनकरणभावनायाः प्रतिष्ठापनभावनायां प्रकारत्वाङ्गीकारेण
 (१)मुख्यविशेष्यभेदराहिसशङ्का तु, आख्यातस्वाभाव्येन तस्या
 अपि मुख्यविशेष्यताप्रतीतेः, तच्छब्दस्य च वाक्यान्तरोपात्तसद-
 नकरणप्रकाशकत्वेनाऽप्युपपत्तेर्वाक्येन छिद्भवाधायोगाद्युक्ता ।
 अतोऽर्थैकत्वाभावादेव तत्रैकवाक्यत्वाभावः । ‘देवस्य त्वे’त्या-
 दिवाक्ये तूभयसत्त्वाद्युक्तं निर्वपामीत्यन्तस्यैकवाक्यत्वम् । अतश्च
 तावत्पेव यजुष्टमपि, तावत् एवाऽर्थप्रकाशकत्वेन यागसाधनत्वात् ।

न च न यागसाधनत्वमात्रेण यजुष्टम्, ऋच्यपि तदापत्तेः,
 जपादिसाधनेषु तदनापत्तेश्च, किन्तु मन्त्रत्वान्तरधर्मरूपमस्त्र-
 षण्डं तदिसङ्गीकर्तव्यम् । तस्य च वेदत्ववत् सर्वमन्त्रेषु व्यासक्ति-
 कल्पनेऽपि यजुरवयवस्यैव विनियोगेन प्रकाशकत्वोपपत्तेर्न य-
 जुष्टस्य पर्याप्तिकल्पने प्रमाणमस्तीति वाच्यम् । ‘मन्त्र एव स्व-
 ल्वयं निगदभूतो भवति तस्माद्यजुः’ रित्यादौ वाक्येऽपि यजु-
 शब्दप्रयोगात्पर्याप्तित्वात्ततोपपत्तेः । अन्यथा हि सर्वेषु मन्त्रवा-
 क्येषु व्यासक्ते यजुष्टे एकस्मिन्निगदे यजुरवयवत्वान्न यजुःशब्द-
 प्रयोगोपपत्तिः । अतो वाक्य एव पर्याप्तं यजुष्टम् । एवं मन्त्रत्व-
 मपि वाक्ये मन्त्रशब्दप्रयोगात्पर्याप्तमेव । वेदत्वं तु एकस्मिन्वा-
 क्ये अधीते वेदोऽधीत इति व्यवहाराभावाद्वासज्यवृत्त्येवेति व-
 क्ष्यते । न चैवं मन्त्रत्वयजुष्टयोर्वाक्यमात्रवृत्तित्वे किञ्चिन्न्यूनेऽपि

तस्मिन्मन्त्रत्वाद्यनापत्तिः, गीर्गडुनि जाते, विषाणे वा भग्ने गोत्व-
प्रत्यभिज्ञाबलेन गोत्ववदिहापि तथाङ्गीकारे बाधकाभावात् ।
अत एव यत्र न प्रत्यभिज्ञा, यथा श्लोकाद्येकवाक्यतापन्नद्वित्रि-
मन्त्राक्षरेषु, तत्र नैव मन्त्रत्वमित्युक्तं प्राक् । तस्मात्सिद्धं वाक्य-
मात्रवृत्ति यजुष्टमिति ।

सूत्रं तु—यद्विभज्यमानसाकाङ्क्षं पदजातं तदर्थैकत्वे
सत्येकं वाक्यमित्येव लोके प्रसिद्धिः, अतस्तादृशवाक्यवृत्त्येव
यजुष्टमित्येवमध्याहारेण व्याख्येयम् । न तु यथाश्रुतमेव वाक्य-
लक्षणपरमेकवाक्यत्वलक्षणपरं वा, पूर्वोक्तमन्त्रप्रस्तावेनाऽसङ्गत-
त्वापत्तेः । अतो मन्त्रावान्तरविभागे पूर्वं निरूपिते, अधुना तद-
वान्तरभेदरूपस्य यजुषः परिमाणं निरूप्यत इति द्रष्टव्यम् । अत
एव ऋक्सामरूपयोस्तदवान्तरभेदयोरध्येतृसिद्धपरिमाणत्वात्तद-
निरूपणेऽपि न क्षतिः ॥ ४७ ॥

इति पञ्चदशमेकवाक्यताधिकरणम् ॥ १५ ॥

अथ षोडशं वाक्यभेदाधिकरणम् ॥ १६ ॥

समेषु वाक्यभेदस्स्यात् ॥ २-१-४८ ॥

(विषयसंशयौ)

तदेवं विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वविशिष्टार्थैकत्वकृतवाक्यैकत्वेन
यजुःपरिमाणे चिन्तिते, अधुना विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादिकमेव
क्रियत्सु पदेषु व्यासक्तमिति विचार्यते । दर्शपूर्णमासयोः “इषे
त्वोर्जे त्वा वायव स्थे” त्यादि समाम्नायते । तत्र ‘वायव स्थे’-
त्वादेस्तावद्द्रवसापाकरणे विनियुक्तस्य ‘स्थे’तिक्रियापदसस्वाद्यायु-

वच्छीघ्रगामिनो भवथ, मातृसमीपं पुनरागामिनो भवथेत्युक्ते चाऽर्थादपाकरणप्रतीतेः 'देवस्य त्वे'तिमन्त्रवदेव सुज्ञानं परिमाणम् । 'इषे त्वे' त्यादेस्त्वेकवचनान्तस्य शाखाच्छेदनादौ विनियुक्तस्य 'वायव स्थे'त्यनेनैकवाक्यत्वासम्भवात्ततो भिन्नत्वेनाऽवगतस्याऽपि स्ववाक्ये आख्यातपदाश्रवणान्न सुज्ञानं परिमाणमिति चिन्त्यते - कियदेकं यजुरिति । तथा वाजपेये पठितं "आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतामपानो यज्ञेन कल्पता"मित्यादि । तत्राऽपि कियदेकं यजुरिति चिन्त्यते । तदर्थं चाऽर्थैकत्वविभज्यमानसाकाङ्क्षत्वे कियत्सु पर्याप्ते इत्यपि चिन्तनीयम् ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र 'इषे त्वे' त्यादावाख्यातपदाश्रवणेऽपि साकाङ्क्षत्वात्तत्तावदवश्यं कल्पनीयम् । न च साकाङ्क्षार्थज्ञानस्याऽपि मन्त्रजन्यस्याऽदृष्टार्थत्वेन जपादिवदुपपत्तेर्नाऽध्याहारावश्यकत्वमिति वाच्यम् । "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति, ऊर्जे त्वेत्युन्मार्ष्टी"तीतिकरणेन छेदनाद्यङ्गत्वेन मन्त्रविनियोगान्मन्त्रे इतिकरणावगतकरणत्वस्य चाभिधानं विनाऽनुपपत्तेः छेदनादिप्रकाशकत्वावगमेन छिनत्तीत्यादिपदाध्याहारावश्यकत्वप्रतीतेः । अतश्चाऽश्रूयमाणस्यैकस्यैवाऽख्यातस्य कल्पनयैवोपपत्तावनेककल्पने प्रमाणाभावात् 'इषे त्वोर्जे त्वे'ति पदचतुष्टयान्ते एकमेव तदध्याह्रियते । यद्यपि च विनियोगभेदात्पूर्वपक्षेऽपि छिनत्ति, उन्मार्ष्टीत्याद्याख्यातद्वयकल्पनमावश्यकम्, तथापि 'इषे त्वे'त्यस्य सामर्थ्यात्प्राकरणिकसर्वयोग्यक्रियार्थत्वस्याऽवगतस्याऽन्यक्रियाविषये बाधेऽप्युन्मार्जनविषयेऽपि बाधे प्रमाणाभावेन समस्तस्यैवैकैकत्र विनियोगावगतेरेकवाक्यत्वोपपत्तिः ।

न च 'ऊर्जे त्वेत्युन्मार्ष्टी'त्यस्यैव पदद्वयमात्रविनियोजकस्य

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः । १२५

ब्राह्मणवाक्यस्य सामर्थ्यप्राप्तेष्वेति पदद्वयबाधकत्वम्, तस्य प्रतीकग्रहणेनाऽपि समस्तविनियोजकत्वोपपत्तौ सामर्थ्यबाधे प्रमाणाभावात् । न च 'इषे त्वेति शाखां छिनत्ती'त्यस्यादिप्रतीकेन समस्तविनियोजकत्वोपपत्तावप्यूर्जेत्वेत्यस्य कथं मध्यमप्रतीकेन समस्तविनियोजकत्वमिति वाच्यम्, (१) "आनः प्राण एतु परावत आन्तरिक्षाद्विस्परि आयुः प्रथिव्या अध्यमृतमसि प्राणाय त्वे"ति मन्त्रस्य (२) "प्राणाय त्वेति हिरण्यमभिव्यनिती"त्यनेनाऽन्तिमप्रतीकेनाऽपि विनियोगस्य सङ्कर्षे वक्ष्यमाणत्वात्, तन्न्यायेनाऽत्र मध्यान्त्यप्रतीकेनाऽपि समस्तविनियोगोपपत्तेः । अतश्च समस्तस्यैकारुयातकल्पकत्वेनैकार्थत्वात्तस्मिंश्च सर्वेषामनन्वये अनिवृत्ताकाङ्क्षत्वेन विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादेकवाक्यतालाभेन यजुष्टोपपत्तिः । क्लृप्त्यादिमन्त्रे तु यद्यपि कल्पतामित्याख्यातं श्रुतम्, तथाऽपि विभागवत्क्लृप्तिभेदे प्रमाणाभावेनैकार्थत्वोपपत्तिः ।

न चायुरादिकारकभेदादेव क्लृप्तिभेदः, भगादिवत्तेषां स्वतोऽसमवेतत्वेन स्तुतिमात्रोपयोगितया एकस्यामपि क्रियायां निवेशसंभवेनाऽभेदकत्वात् । न च 'क्लृप्तीर्वाचयती'ति सङ्ख्यया क्लृप्तिभेदः, वाचयतेरुच्चारणानुकूलप्रयोजकव्यापारवाचित्वेन तदन्तर्गत(३)वचनकर्मतया अर्थरूपायाः क्लृप्तेरन्वयायोगेन क्लृप्तिपदस्य कल्पतामिति पदलक्षकत्वावगतेः सङ्ख्यायास्तन्निष्ठत्वेन क्लृप्तिरूपार्थनिष्ठत्वाभावात्तद्भेदकत्वानुपपत्तेः ।

न चैवमेकार्थत्वोपपत्तावपि विभागवदेव विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वाभावान्नैकवाक्यत्वोपपत्तिः, एतेषां प्रोत्साहनार्थत्वेन दृष्टार्थानामपि 'क्लृप्तीर्वाचयती'त्यनेन समुच्चयावगमादेकस्मिन्प्रोत्सा-

१. तै. सं. ३.३. ३. २. तै. सं. ३.३. ४. ३. वचिकर्मतयेति क. ख. पु.

हनार्थकलृप्तिप्रकाशनाख्ये कार्ये अनेकेषामपि कल्पतामितिपदानां परस्परसाहित्यावगमेन विभागेऽनिवृत्ताकाङ्क्षत्वोपपत्तेः । विभागमन्त्रेषु तु मन्त्राणां दृष्टार्थत्वेन विकल्पात्साहित्यानवगतेर्विभागेऽपि परस्परानाकाङ्क्षत्वाद्भिन्नवाक्यत्वोपपत्तिः । अतश्च कलृप्तिमन्त्रेऽप्यर्थैकत्वविशिष्टविभज्यमानसाकाङ्क्षत्वकृतवाक्यैकत्वसन्नाद्युक्तं यजुरेकत्वमिति ।

केचित्तु कलृप्तिमन्त्रे वास्तवमेकवाक्यत्वमुपपादयितुमसमर्थाः उदाहरणद्वयेऽपि मन्त्राणामदृष्टार्थत्वमङ्गीकृत्य अदृष्टस्यैकस्यैव कल्पनयोपपत्तावनेककल्पनायोगाद्दृष्टरूपैकार्थत्वं परिकल्प्य तस्मिन् विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादेकवाक्यत्वं कथयन्तः, “यद्यपि च न पूर्वसूत्रे वास्तवं प्रयोजनैकत्वेनैकार्थत्वं विवक्षितम्, किन्तु मुख्यविशेष्यभूतशाब्दप्रयोजनैकत्वेनैव तत्, तथाऽप्यज्ञाताभिप्रायस्यैवाऽयं पूर्वपक्ष” इत्याहुः; तत् वास्तवैकवाक्यत्वस्याऽपि कलृप्तिमन्त्रे उपपादितत्वात्, अदृष्टार्थत्वाङ्गीकारे च प्रमाणाभावात्, तदैक्यस्य च विनियोगभेदेन शब्दोच्चारणक्रमिकत्वेन च कल्पनानुपपत्तेः, कल्पितेऽपि तस्मिन्नितरपदार्थानामन्वयानुपपत्तेः, अप्रसक्तान्वयाङ्गीकारेऽपि च साकाङ्क्षत्वाभावादेकवाक्यत्वकल्पनानुपपत्तेः, ईदृशैकवाक्यत्वस्य पूर्वसूत्रे अनभिप्रेतत्वाच्चोपेक्षितम् । तस्मात्पूर्वोक्तविधयैवैकवाक्यत्वमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नात्रैकवाक्यत्वम् । तथा हि—आद्योदाहरणे तावद्विनियोगभेदेनैवाऽर्थभेदान्नाऽर्थैकत्वम् । न च मध्यान्त्यप्रतीकेन समस्तस्यैवोभयत्र विनियोगान्न प्रत्येकमर्थभेदः, तत्र ह्यादिमध्यान्त्यप्रतीकेन विनियोगः, यत्र मन्त्रस्वरूपाग्नाववेष्णामेव पदानां परस्पराकाङ्क्षत्वम्, यथा सङ्घर्षो-

दाहृते मन्त्रे । तत्र हि “प्राणाय त्वेति हिरण्यमभिष्यनिती”त्यु-
क्ते कथं हिरण्याभिष्यननस्य प्राणप्राप्त्यर्थतेत्यपेक्षिते, परावतो
दूरदेशादन्तरिक्षाद्विष्वश्च परि सर्वतः प्राणः नः अस्मानाग-
च्छतु, यच्च पृथिव्या अधि उपरि आयुः तदप्यागच्छतु, यतस्त-
वाऽमृतत्वेन प्राणदानसामर्थ्यादित्यन्योन्याकाङ्क्षत्वं मन्त्रस्वरूपा-
म्नानवेलायामेव प्रतीयते । अतस्तत्र युक्तो मध्यान्त्यप्रतीकेन वि-
नियोगः । प्रकृते तु मन्त्रस्वरूपालोचनवेलायां ‘इषे त्वे’त्यस्योर्जेत्वे-
त्यनेन निराकाङ्क्षत्वप्रतीतेः पश्चादवगम्यमानो विनियोग एको-
ऽपि न प्रतीकग्रहणायाऽलम्, पूर्वावगतनैरपेक्ष्य भङ्गापत्तेः । किमुत
यदा यथापेक्षितो विनियोगभेद एव स्पष्टतरोऽवधार्यते, तदा कः
प्रसङ्गो मध्यान्त्यप्रतीकेन समस्तविनियोगस्य । किञ्चाऽऽख्यातक-
ल्पकतावच्छेदकं तव गुरुभूतम् । पुनश्च कार्यकारणभावद्वयेऽपि
कारणतावच्छेदकैक्याश्चिचिचारप्रसङ्गः ।

यत्तु सामर्थ्यबलेन ‘इषे त्वे’त्यस्योन्मार्जनाङ्गत्वावगमात्तद-
वाधार्थं समस्तविनियोग इत्युक्तम्, तत् सामर्थ्यकल्प्यश्रुतेः पूर्व-
मेव प्रत्यक्षश्रुत्या छेदनाङ्गत्वेन विनियोगेऽवगते सामर्थ्यस्य श्रु-
त्यकल्पकत्वादुन्मार्जनाङ्गताबोधकप्रमाणाभावेनोपेक्षणीयम् । त-
स्मादर्थैकत्वविशिष्टविभज्यमानसाकाङ्क्षत्वाभावात् भिन्नवाक्यता-
प्रतीतेर्युक्तो यजुर्भेदः ।

द्वितीयोदाहरणे तु सत्यप्यर्थैकत्वे विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वा-
भावात् विभागमन्त्रवदेकवाक्यत्वम् । न च ‘कृत्सीर्वाचयती’ स-
नेन सर्वेषां कल्पतामिति पदानां समुच्चयविधानादेकस्मिन् कृत्-
सिप्रकाशने साहित्यावगतेर्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वोपपत्तिः, स-
कृदुच्चरितस्यैव पदस्य कृत्सिबोधजनकत्वेन कृत्सिबोधेऽनेकप-
दसाहित्यस्य बाधितत्वात् । ‘कृत्सीर्वाचयती’त्यत्र च न कृत्-

स्तिपदं कल्पतामितिपदपरं, तद्घटितमन्त्रपरं वा, लक्षणाप्रस-
ङ्गात्, अपि तु क्लृप्तिरूपार्थपरमेव । न च क्लृप्तिरूपार्थपरत्वे
तस्योच्चारणानुकूलव्यापारवाचिवाचयत्यन्तर्गतवचिकर्मत्वानुप-
पत्तिः, 'वचपरिभाषण' इत्यनुशासनबलेन वचेराभिधानार्थक-
त्वावसायात्तं प्रत्यर्थस्य कर्मत्वोपपत्तेः । अत एव काचित्को व-
चेरुच्चारणे प्रयोगो लाक्षणिक इत्यनुसन्धेयम् ।

एवञ्च क्लृप्तिपदस्याऽर्थपरत्वावसायात्तस्याश्च बहुत्वस-
ङ्घयया भेदावगतेरर्थभेदोऽप्यत्र सुलभ एव । युक्तश्च(१)उत्त-
राधिकरणन्यायेन यावत्प्रथमान्तं क्लृप्तिभेद इति, न कपिञ्जला-
धिकरणन्यायेन त्रित्वमात्रपर्यवसानाशङ्कः । विभागमन्त्रे तु ब-
हुवचनाभावात्कारकभेदस्य च स्वरूपेणाऽसमवायितया एक-
स्यामपि क्रियायां स्तुतिमात्रार्थत्वेनोपपत्तेर्न भेदकतेति विशेषः ।
अतश्च 'क्लृप्तीर्वाचयती'त्यस्य क्लृप्तिभेदकतयाऽप्युपपत्तेस्तन्मन्त्र-
समुच्चयस्य च मन्त्राणां भिन्नार्थत्वादेव सिद्धेरर्थभेदावगमा-
द्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वस्य च दूरभ्रष्टत्वाद्वाक्यभेदावगमेन
यजुर्भेदोपपत्तिः ।

प्रयोजनम्—प्रथमोदाहरणे स्पष्टमेव । द्वितीये तु यावन्मन्त्रं
ऋष्याद्यनुसन्धानम्, एकमन्त्रश्रेषे वा तन्मात्रोच्चारणं सिद्धान्ते ।
पूर्वपक्षे तु सकृदेव तदनुसन्धानं समस्तोच्चारणं चेति द्रष्टव्यम् ।

सूत्रं तु—समेष्ट्वन्योन्यनिराकाङ्क्षेषु वाक्यभेदस्या-
दिति स्पष्टम् ॥ ४८ ॥

इति षोडशं वाक्यभेदाधिकरणम् ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशं अनुषङ्गाधिकरणम् ॥ १७ ॥

अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिस्सर्वेषु तुल्य-
योगित्वात् ॥२-१-४९॥

(विषयसंशयौ)

ज्योतिष्टोमे तिसृणामुपसदां द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वहस्सु पूर्वा-
ह्वापराह्णभेदेन द्विराहृत्याऽनुष्ठीयमानानां क्रमे संहितायां मन्त्रत्रय-
मुपसदङ्गभूतोपहोमाङ्गत्वेन समाम्नातम् । तत्राऽऽद्यो(१) “या ते
अग्ने अयाशया तनुर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो
अपावधीत्स्वाहे”ति । द्वितीयतृतीयौ तु “या ते अग्ने रजाशया,
या ते अग्ने हराशये”ति । एतेषां च मन्त्राणां क्रमणैकैकस्य
तत्तदहःक्रियमाणोपसदङ्गभूतहोमाङ्गतेत्यप्यविवादम् । तत्रो-
त्तरयोर्मन्त्रयोर्ब्रह्मस्त्रीलिङ्गनिर्देशात्स्त्रीवाचकपदसाकाङ्क्षताव-
गतेरवश्यं कश्चित्त्परिपूरणसमर्थो वाक्यैकदेशः कल्पनीयः । न
चाऽध्ययनविधिनाऽध्ययनोपायनियमात्कथमनर्थातस्य (२)त-
देकवाक्यत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । तेन प्रत्यक्षपठिते वेदे तन्नि-
यमेऽपि अनर्थाते प्रवादिपदवदेव वेदैकदेशत्वोपपत्तेः । ततश्चा-
वश्यकल्पनीये वाक्यैकदेशे किं लौकिकोऽध्याहर्तव्यः? उत वैदि-
क एव ‘तनु’रित्यादिराद्यमन्त्रैकदेशोऽनुषङ्गनीयः? इति सन्देहः ।

(सङ्गतिः)

अत्राऽनुषङ्गपक्षे आम्नानस्य सर्वार्थत्वेनैव साधयिष्यमाण-

त्वेनाऽनुषक्तस्याऽऽम्नातत्वेन मन्त्रत्ववद्यजुष्यस्याऽप्युपपत्तेः पूर्व-
वद्यजुःपरिमाणचिन्तात्मकत्वेन सङ्गत्युपपत्तिः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र वैदिकशेष आद्यानन्तरपठितत्वादपेक्षितदेशपाठाच्चा-
ऽऽद्यस्यैव स्वारस्येन सम्बध्यते, नाऽनन्तरयोरिति तावदाविवाद-
म् । अतश्चाऽगृह्यमाणविशेषत्वात्प्रयाजादिवत्सर्वार्थमेवाऽयमाम्ना-
त इति नैवाऽऽशङ्कितुं शक्यम् । न च शेषस्याऽऽद्यसम्बन्धेन निरा-
काङ्क्षस्याऽप्युत्तरयोस्साकाङ्क्षत्वात्तदन्वयोपपत्तिः, तयोरप्य-
निबद्धलौकिकशेषग्रहणेन निराकाङ्क्षयोरान्यमन्त्रमात्रनिबद्धवैदि-
कशेषग्रहणानुपपत्तेः । अत एव 'अग्निमुपनिधाय स्तुवीते' त्यस्य
लौकिकाग्निग्रहणेनाऽपि निराकाङ्क्षत्वात्कार्यविशेषपुरस्कारेण
निबद्धानां वचनव्यतिरेकेणाऽऽयतनाद्दर्हिर्नेतुमशक्यानामाहवनी-
यादीनामग्निपदेनाऽग्रहणमिति(१) सप्तमे वक्ष्यते । एवञ्च सत्य-
पि यदि लौकिकस्याऽप्रकृतत्वादाग्नेयीमन्त्रन्यायेन प्रकृत-
स्यैव वैदिकस्य 'तनूरित्यादेर्ग्रहणमित्याशङ्क्यत, तत आग्नेयी-
मन्त्रस्याऽन्यत्र विनियुक्तस्याऽपि 'कुशा दर्व्यादय' इतिवचना-
त्समस्तस्याऽन्यत्र विनियोगे मन्त्रत्वानपायेऽपि मन्त्रैकदेशस्य
तनूरित्यादेरन्यत्र नयने मन्त्रत्वानापात्तिः । अतश्चोपस्थितत्वान्म-
याऽपि स एव गृह्यते । न त्वेतावता तस्य मन्त्रत्वं यजुष्वं वा
शक्यमापादयितुमिति न तदुभ्रेषे यजुर्भेषनिमित्तमायश्चित्ताद्या-
पत्तिरिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—वैदिकस्यैव सर्वत्राऽनुषङ्गः, तस्य सर्वार्थमा-

म्नातत्वात् । यथैव हि तनूरित्यादेराद्यमन्त्रसम्बन्धे आकाङ्क्षा-
योग्यतासन्निधयः कारणं, तथैवोत्तरमन्त्रद्वयसम्बन्धेऽपि । तथा
हि—आकाङ्क्षा तावद्विशेष्यविषयिण्याद्यस्यैवोत्तरयोरप्यविशि-
ष्टा । योग्यता च निराकाङ्क्षीकरणसामर्थ्यरूपा पूर्वस्मिन्निवोत्त-
रयोरप्यविशिष्टैव । सन्निधिस्तु यद्यप्यानन्तर्यरूपो नाऽविशिष्टः,
तथाप्यसम्बन्धिपदाव्यवधानरूपोऽविशिष्ट एव । न ह्यानन्तर्याख्य-
स्सन्निधिश्चाब्दबोधे कारणम्, तदभावेऽपि देवदत्त गामानये-
त्यादौ देवदत्तादिपदानामानयनान्वयदर्शनात्, अपि त्वसम्ब-
न्धिपदाव्यवधानमेव । गोशब्दस्य च सत्यपि व्यवधायकत्वे आ-
नयनान्वयित्वेन(१) नाऽसम्बन्धित्वम् । अतश्च प्रकृतेऽध्याद्य
इव द्वितीये तृतीयेऽपि उक्तरूपस्सन्निधिरविशिष्टः ।

न च द्वितीये सन्निध्युपपत्तावपि तृतीये तेनैव व्यवहित-
त्वात्कथं सन्निधानोपपत्तिरिति वाच्यम् । द्वितीयस्याऽपि शेषा-
न्वययोग्यत्वेन गोपदवदेवाऽसम्बन्धित्वाभावात् । अतश्चाऽसम्ब-
न्धिपदाव्यवधानरूपस्य सन्निधानस्य सर्वेष्वविशेषात्सर्वार्थमा-
म्नानावगतेस्सर्वसम्बन्धोपपत्तिः । अत एवैकस्यैवाऽव्यवहिता-
नन्तर्यं यथापेक्षितश्च स्वपाठोत्तरकाले पाठोऽप्यकिञ्चित्करः, सर्व-
मन्त्राव्यवहितानन्तर्यस्य सकृत्पाठेऽशक्यत्वेनाऽऽवृत्तपाठस्य चा-
ऽऽकाङ्क्षादित्रयेणैव सर्वार्थत्वज्ञानोपपत्तेरनर्थकत्वेन सर्वान्तपा-
ठनियमस्य चाऽऽपादयितुमशक्यत्वेनैकाव्यवधानस्याऽवर्जनीय-
त्वात्, उत्तरयोरपेक्षितदेशोच्चारणस्य लिङ्गेनैव ज्ञातुं शक्यत्वाच्च ।
ततश्च युक्तमाकाङ्क्षादित्रयसाधारण्यात्सर्वार्थत्वम् ।

न चैवमव्यवधानस्याऽन्वयाप्रयोजकत्वे समानपदप्रत्यास-
स्या यागस्यैव करणत्वोक्तिर्विरुध्येतेति वाच्यम् । अव्यवहिता-

नन्तर्यस्याऽन्वयतात्पर्यग्राहकत्वाभावेऽप्यन्वयनियामकत्वोपपत्तेः ।
 तत्र हि फलनिरूपकत्वं किं यागस्य, उत सोमादेरित्यनियमे प्राप्ते
 नियामकमात्रं पदप्रत्यासत्तिः । प्रकृते त्वाकाङ्क्षादित्रयसाधारण्या-
 त्सर्वत्र नियमेनैव(१) सम्बन्धप्राप्तेर्नानन्तर्यस्य नियामकत्वोपप-
 त्तिः । न ह्येकस्य नैराकाङ्क्षणेतरयोर्नैराकाङ्क्षां शक्यते वक्तुम् ।
 अतश्च यथैव प्रयाजादीनां सत्यप्याग्नेयाव्यवधाने अग्नीषोमीया-
 दरप्याकाङ्क्षादित्रयसाधारण्यात्सर्वार्थत्वं, एवमिहापि द्रष्टव्यम् ।
 तस्माद्वैदिकस्य सर्वसम्बन्धरूपोऽनुषङ्ग एव युक्तः, न तु क्रमि-
 कान्वयाङ्गीकारेणैकसम्बन्ध एव वैदिकत्वं, इतरसम्बन्धे लौ-
 किकत्वमिति । यतश्शेषान्वयं विना आद्यस्यैवोत्तरयोरपि न प-
 रिसमाप्तिः, अतस्सर्वेषु तुल्याम्नानादानुषङ्ग इति सूत्रार्थः ।
 प्रयोजनं तु तद्भ्रूवे यजुर्भ्रूवनिमित्तप्रायश्चित्तप्राप्तिस्सपष्टैव ॥

(अनुषङ्गाधिकरणवर्णकान्तरम्)

(विषयसंशयौ)

एवं तावदनेकेषामुत्थिताकाङ्क्षाणां सन्निधावाग्नायमानश्ले-
 षस्सर्वत्राऽनुषङ्ग्यत इत्युक्तम् । इदानीं तूत्थाप्याकाङ्क्षाणामनेके-
 षां सन्निधावाग्नायमानश्लेषस्सर्वत्राऽनुषङ्ग्यते न वेति विषय-
 व्याप्त्यर्थं तस्मिन्नेव सूत्रे विचार्यते । ज्योतिष्टोमे यज्ञमानपात्र-
 नार्था मन्त्राः(२) “चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु,
 देवस्त्वा सविता पुनात्वि” त्येवंविधाः क्रियापदान्तत्वेन स्वतो
 निराकाङ्क्षाः पठिताः । तेषामन्ते “अच्छिद्रेण पवित्रेण वसो-
 स्सूर्यस्य रश्मिभि”रिति क्रियासाकाङ्क्षश्लेषस्सामानातः । स
 किं अनन्तरेणैव मन्त्रेण सम्बध्यते ? उत सर्वैरपीति विचारः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र तेषां तावत्स्वरूपेण निराकाङ्क्षत्वाच्छेषाकाङ्क्षयै-
वाकाङ्क्षामुत्थाप्य सम्बन्धो वाच्यः । तत्र चैकपदसम्बन्धे-
नैव(१) निराकाङ्क्षस्य शेषस्येतराकाङ्क्षोत्थापकत्वे प्रमा-
णाभावान्नियामकापेक्षायां यागादाविवाऽऽनन्तर्यस्य निया-
मकत्वोपपत्तेर्न सर्वत्राऽनुषङ्गः । न चैवमपि 'यजमानं पावय-
ती'ति विधिना विहितस्यैकस्यैव पावनस्य त्रिभिरपि मन्त्रैः प्र-
काशनादच्छिद्रादेश्चाऽपूर्वसाधनीभूतप्रकाश्यमानपावनक्रियाक-
रणप्रकाशनार्थत्वात्पूर्वमन्त्रयोरप्यन्तिममन्त्रवत्प्रयोगोपपत्तिरिति
वाच्यम् ; पावनक्रियैक्येऽपि मन्त्रभेदेन तत्प्रकाशनानां भेदा-
दन्तिमप्रकाशनविषयीभूतपावनक्रियाकरणप्रकाशनार्थस्यैवाऽऽन-
न्तर्यादवगतत्वेन चित्पत्यादिकर्तृव्यवस्थावदेव करणव्यवस्थाया
अप्युपपत्तेः ।

न चाऽत्र मन्त्राणां विकल्पः, येनैकस्मिन्नेव प्रकाशने त्रया-
णां करणत्वाद्ब्रीहियवयोरिव धर्माणामव्यवस्थापत्तिः, सत्यपि
दृष्टार्थत्वे 'त्रिभिर्यजमानं पावयती'ति वचनात् पार्थसारथिमि-
श्रुतात्समुच्चयोपपत्तेः । अतश्च विकल्पोक्तिर्याज्ञिकाचारविसंवादि-
नी वार्तिककारीयाऽतैश्वर्याथैव । अतश्च सत्यप्यच्छिद्रादेशसर्वार्थत्वे
प्रयाजादिवत्सकृत्प्रयुक्तस्यैव सर्वोपकारकत्वोपपत्तेर्न प्रत्येकं प्र-
योगाख्यानानुषङ्गोपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु बोधायनादिकल्पपर्यालोचनया पावनस्याऽपि
मुखनाभिगुल्फप्रदेशभेदेन त्रिरभ्यासादेकैकमन्त्रस्यैकैकाभ्यास-
करणत्वावगमादानन्तर्यविशेषेणाऽच्छिद्रादेः गुल्फप्रदेशसंस्कारा-
र्थपावनक्रियाभ्यासप्रकाशकपदैकवाक्यतया विजातीयापूर्वसा-

धनीभूतपावनक्रियाभ्यासाङ्गत्वावगतेः “पयसा मैत्रावरुणं श्री-
णाती” तिवदभ्यासान्तरे प्राप्त्यभावाद्व्यवस्थोपपत्तिस्सुल-
भैव । अतो नेदृशस्थले अनुषङ्ग इति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—आकाङ्क्षादित्रयसाधारण्यदत्रापि सर्वा-
र्थाम्नानावगमेनाऽनुषङ्गेणैव वाक्यपरिसमाप्तिः । तथा
हि—सन्निधियोग्यत्वे तावत्पूर्ववदेवाऽविशिष्टे । आकाङ्क्षा
चाऽपि यथैवाऽन्तिमस्यैतदाकाङ्क्षावशेन कल्प्या, तथैव पू-
र्वयोरपि । न ह्यत्रानन्तर्यस्य नियामकता सम्भवति । तत्र
हि तन्नियामकं, यत्र तत्प्रवृत्तेः पूर्वं विकल्पेनाऽनेकेषु प्राप्तिः,
यथा—प्रतिपदाधिकरणसिद्धान्तरीत्या यागसोमयोः । प्रकृते
तूत्थाण्याकाङ्क्षाणामपि तेषां विनिगमनाविरहेण प्रधानत्वात् प्र-
तिप्रधानावृत्तिन्यायेन च प्रत्येकं समुच्चेयेनैव शेषग्राहित्वावगतेर्नि-
यामकानाकाङ्क्षत्वान्नाऽऽनन्तर्यस्य तन्नियामकत्वोपपत्तिः । अ-
तश्च यथैवाऽनेकहविष्कासु विकृतिषु श्रुतानामुपहोसानां विनिग-
मनाविरहेण प्रधानत्वेन च सर्वहविर्गतामेवाऽऽकाङ्क्षां प्रकल्प्य
समुच्चयेन सर्वार्थतावगतेर्नियामकाकाङ्क्षान्नाऽऽनन्तर्य-
स्य नियामकत्वं, तथैव प्रकृतेऽपीति पूर्ववदेव सर्वार्थमाम्नानावग-
तेर्युक्तोऽनुषङ्गः ॥ ४९ ॥

इति सप्तदशमनुषङ्गाधिकरणम् ॥ १७ ॥

अथाऽष्टादशं व्यवायाधिकरणम् ॥ १८ ॥

व्यवायान्नाऽनुषज्येत ॥ २-१-५० ॥

असम्बन्धिपदाव्यवधाने सत्यनुषङ्गे साधिते, यत्राऽसम्बन्धि-
पदव्यवधानं तत्राऽनुषङ्गो नाऽस्तीति प्रत्युदाहरणार्थमिदं सूत्रम् ।
यथा—(१)“सन्ते वायुर्वातेन गच्छतां संयज्ञत्रैरङ्गानि संय-
ज्ञपतिराशिषे”त्यत्र ‘गच्छतामि’त्यस्य ‘अङ्गानी’त्यनेन तावदयो-
ग्यत्वेनाऽसम्बन्धात् असम्बन्धिपद(२)व्यवधानेन ‘संयज्ञपतिरा-
शिषे’त्यनेन सत्यपि साकाङ्क्षत्वे योग्यत्वे च, सन्निधानाभा-
वान्नाऽनुषङ्गः । अतः ‘संयज्ञत्रैरङ्गानी’त्यत्र ‘गच्छन्तामि’त्यस्येव
‘सं यज्ञपतिराशिषे’त्यत्राऽपि ‘गच्छतामि’ति पदमध्याहर्तव्यम् ।

न चाऽनयोस्साकाङ्क्षत्वेऽपि गमनरूपस्यैवाऽर्थस्य योग्यता-
बललभ्यस्याऽन्वयोपपत्तेः किमर्थं पदाध्याहारकल्पनेति वा-
च्यम् । तत्तत्पदार्थशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति वृत्तिमत्त्वसम्ब-
न्धेन तत्पदज्ञानस्यैव कारणत्वात् । अन्यथा देवदत्तः पचतीति
केनचिदुक्ते प्रत्यक्षदृष्टेनैव कलायेन कर्माकाङ्क्षानिवृत्तेः किं पच-
तीति प्रश्नानापत्तिः । अस्मन्मते तु कलायोपस्थितावपि तद्वा-
चकपदस्योद्बोधकाभावादानुपस्थितौ प्रश्नोपपत्तिरिति वैषम्यम् ।

किञ्च घटं स्मरेत्यादौ वृत्त्या घटोपस्थितिवदेकसम्बन्धिद-
र्शनेनाऽपरसम्बन्धिस्मरणमिति न्यायेन घटपदसमवायिकारणी-
भूताकाशोपस्थितौ तस्याऽपि स्मरणकर्मत्वेनाऽन्वयापत्तिः । अतो-
ऽवश्यं शाब्दत्वसिद्ध्यर्थं गच्छतामिति पदमेवाऽध्याहृत्योच्चार-
णीयम् । न चैवं पदाध्याहारोपपत्तावप्यध्याहृतस्य पदस्य ध्या-
नेनाऽपि स्मरणोपपत्तेर्नाऽवश्यमुच्चारणोपपत्तिः, मन्त्राधिकर-

१. तै. सं. १. ३. ८.

२. व्यवायेनेति. क. पु.

१८ मी० कौ०

णोक्तन्यायेन पठितमन्त्रेष्विवाऽध्याहृतमन्त्रेष्वपि प्रयोगसमवे-
तार्थप्रकाशकेषूच्चारणोपपत्तेः । अतोऽत्र लौकिकत्वाद्गच्छता-
मिति पदस्य तद्भ्रेषे यजुर्भ्रेषनिमित्तप्रायश्चित्ताभावेऽपि यत्रा-
सम्बन्धिपदाव्यवधानम्, तत्र वैदिकस्याऽनुषङ्गोपपत्तेर्युक्तं तद्-
भ्रेषे यजुर्भ्रेषप्रायश्चित्तादि । ततश्च तत्राऽनुषक्तस्यैव यजुष्टम् ।

वस्तुतस्तु गमिधातुमात्रस्य द्वितीयमन्त्रेऽप्यनुषङ्गसम्भवेन
तृतीये संबन्धोपपत्तेः प्रत्युदाहरणेऽपि प्रत्ययमात्रस्यैव व्यवाया-
दनुषङ्गो निराकर्तव्यः । न चैकपदत्वात्प्रत्ययाननुषङ्गे प्रकृतेर-
पि(१)अननुषङ्गापत्तिः, प्रत्ययमात्रोहे प्रकृतेरार्धत्ववत्तस्याऽनुषङ्गे
बाधकाभावात् । अत एवेदृशविषये विपरिणतानुषङ्गमाचक्षते
वृद्धाः । तेन प्रत्ययरहितस्यैव यजुष्टमिति सिद्धम् ॥ ५० ॥

इत्यष्टादशं व्यवायाधिकरणम् ॥ १८ ॥

मीमांसांशुनिधिं प्रमथ्य विविधन्यायोच्चयैर्निर्झरैः

कृत्वा जैमिनिमूत्रमन्दरममुं वेदं तथा वासुकिम् ।

यद्दालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः

श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥

इति पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीण श्रीरुद्रदेवसूनोः खण्डदेवस्य
कृतौ मीमांसाकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥



श्रीः ।

मीमांसाकौस्तुभः ॥

(द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः)

प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम् ॥ १ ॥

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥ २-२-१ ॥

(विषयसंशयसङ्गतयः)

एवमुपोद्घातप्रसक्ते मन्त्रलक्षणादौ समाप्ते 'यत्प्रसङ्गेन यदा-
गतं तत्समाप्तौ तत् बुद्धिस्थं जायत' इति न्यायेन भावार्थाधिक-
रणोक्तधात्वर्थकरणत्वस्योपस्थितेः तस्य चाऽपूर्वभेदसिद्धिद्वारा
भावनाभेदसिद्ध्यर्थत्वस्योक्तत्वादिदानीमवसरग्राप्तौ लक्षणार्थभू-
तो भावनाभेद एव शब्दान्तरादिप्रमाणैः प्रतिपाद्यते । तत्राऽपि
शब्दान्तरस्य प्रमाणान्तरसिद्धधात्वर्थभेदोपजीवित्वेन भावना-
भेदमात्रे व्यापारात् सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं तस्यैव भेदकता
निरूप्यते । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति प्रकृत्य 'सोमेन यजेत'
(१)'दाक्षिणानि जुह्वीति' (२)'हिरण्यमात्रेयाय ददाती'त्यादि श्रु-
तम् । तत्र यागदानहोमादिसकलप्रकृतधात्वर्थानुरक्ता एका भा-
वना ? अथ वा प्रतिधात्वर्थं भावनाभेदः ? इति विचारः । अत्र च
प्रकरणान्तरातिरिक्तसकलभेदकप्रमाणानिरूपणस्य पादार्थत्वात्
पादाध्यायसङ्गतिः स्पष्टा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र लाघवादेकैव भावना । न च तद्वाचकतिप्रत्ययाभ्यासात्

भेदः, तस्य धात्वर्थविधानार्थमनुवादकत्वाभ्युपगमेनाऽनन्यपरत्वाभावात् । न चैवमप्येकेन वाक्येन भावनाविधौ तद्वाक्यस्थस्य धात्वर्थस्य, गुणादेर्वा उत्पत्तिशिष्टत्वेन वाक्यान्तरविहितोत्पन्नशिष्टधात्वर्थान्तरादिनिवेशानुपपत्तेर्गुणाद्भेदापत्तिः, फलवाक्ये स्वर्गोद्देशेन शुद्धभावनाविध्यङ्गीकारेण तदनुवादेन सोमादिवाक्यैर्गुणविशिष्टधात्वर्थविध्यभ्युपगमे सर्वेषामुत्पन्नशिष्टत्वेन (१)गुणन्यायानवतारात् । न च फलवाक्येऽपि धातूपादानान्न शुद्धभावनाविधिः शक्यः, विशिष्टविधिगौरवापत्त्या फलवाक्यस्थस्य यजेरवयुत्यानुवादकत्वेन, प्रकृतधात्वर्थमात्रोपलक्षणत्वेन वा साधुत्वार्थमनुवादकतया विधेयार्थकत्वाभावात् ।

न च फलानुकूलव्यापारसामान्यस्य लोकेत एव प्राप्तत्वात् धात्वर्थविशेषावच्छिन्नस्य च तव विधेयत्वेनाऽनिष्टत्वात् कथं शुद्धभावनाविधानोपपत्तिः ? स्वर्गस्य जन्यत्वेन तदनुकूले व्यापारसामान्ये लोकोतोऽवगतेऽपि तदुद्देश्यकस्य पुरुषानिष्ठयत्नरूपव्यापारस्य नियमेनाऽनाक्षेपात्तद्विधानोपपत्तेः, पुत्रादौ यत्र स्याप्यवगमेऽपि तद्गतवैजात्यस्याऽनवगमाद्विधानोपपत्तेश्च । न च 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत' इत्यनुशासनेन प्रत्ययानां नियमेन प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वावगतेः शुद्धभावनाविधानानुपपत्तिः । वस्तुतो धात्वर्थावच्छिन्नभावनाभिधानेऽपि धात्वर्थावच्छेदस्य प्रमाणान्तरप्राप्तत्वात् विशेष्यमात्रांशे विधिफलोपपत्तेः । अत एव गुणफलस्थले धात्वर्थावच्छेदकत्वस्य प्रकरणप्राप्तत्वेऽपि भावनामात्रविधिराश्रितः । अतश्च यजिपदस्य प्रमाणान्तरानुरोधेन प्रकृतसर्वधात्वर्थपरत्वावगतेः तत्समानाधिकरणस्य ष्योतिष्ठोमपदस्याऽपि एकदेशप्रवृत्तिनिमित्तेन सर्वनामधेय-

त्वापत्तिः । एवञ्च फलवाक्ये शुद्धभावनाविधानेऽवगते सोमादि-
वाक्यस्थितिप्रत्ययेन प्रत्येकं तामनूद्य तत्करणतया सोमादि-
विशिष्टधात्वर्थविधानोपपत्तेः, सर्वेषाञ्चात्पन्नशिष्टत्वेन गुणन्या-
याभावात् भेदकप्रमाणाभावेन भावनैकत्वसिद्धिः । एवञ्च तत्त-
द्वाक्ये निरपेक्षतया तत्तद्भात्वर्थानामेकफलभावनाकरणत्वावग-
मेन विकल्पोपपत्तेरेकजातीयस्यैवाऽपूर्वस्य तृणारणिमणिन्या-
येन सकलजन्यत्वोपपत्तेः तद्वैजात्यकल्पनाभावादपि लाघवम् ।
अस्तु वा व्यभिचारपरिहारार्थं तद्भेदोऽपि, न चैतावता भावना-
भेदः । न च भेदकान्तराभावेऽपि अवच्छेदकीभूतधात्वर्थभेदरू-
पाच्छब्दान्तरादेव भेदोपपत्तिः, समूहालम्बनस्थले एकस्मिन्नेव
ज्ञाने घटपटादीनामनेकेषां विषयतासम्बन्धेनाऽवच्छेदकत्ववद्दे-
कस्यामेव कृतौ सर्वेषां धात्वर्थानां साहित्येनाऽवच्छेदकत्वोपप-
त्तेः । अस्तु वा एकस्यां भावनायां वैकल्पिका सर्वेषामवच्छेद-
कता, सर्वथा सिद्धं भावनैकत्वम् ।

यत्तत्र भाष्यकारेण यागदानहोमानां स्वत्वत्यागांशेन
एकत्वादवच्छेदकीभूतधात्वर्थस्याऽप्येकत्वमित्युक्तम्, तत् स्व-
त्वत्यागांशस्यैक्येऽपि परस्वत्वापादनप्रक्षेपांशयोराधिक्येन धा-
त्वर्थैक्यानुपपत्तेरतिशयार्थम् । किञ्चैवं ददातिवाक्ये प्राप्तकर्मा-
नुवादेन हिरण्यात्रेरूपानेकगुणाविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गादवश्य-
मुभयविशिष्टकर्मविधानावगतेः धात्वर्थैक्योक्तिरसम्बद्धैव । तथा
'दाक्षिणानि जुहोती'त्यत्राऽपि जुहोतिलक्षितयागानुवादेन वि-
धेयस्य गुणस्याऽभावात् धात्वर्थविधानावश्यकत्वेन तदैक्योक्ति-
रसम्बद्धा ।

न च दाक्षिणपदेन दक्षिणाकालरूपगुणाविधिः, दाक्षिणा-
नीति तद्धितस्य कालार्थं स्मरणाभावेन कालविधौ प्रमाणाभा-

धात् । दक्षिणायास्तु यागाङ्गत्वेन प्राप्तत्वादेव विधिरनाशङ्कः ।
अतो विधेयान्तराभावेन कर्मविध्यवश्यम्भावे पाठमाप्तदक्षिणो-
त्तरकालतारूपप्रवृत्तिनिमित्तेन दक्षिणशब्दो नामधेयम् । अत-
श्च धात्वर्थैक्यस्य बाधितत्वात् सत्यपि धात्वर्थभेदे भावनाया
ऐक्यमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

उच्यते—यत्राऽपर्यायधातुभेदरूपं शब्दान्तरम्, तत्राऽव-
श्यं भावनारूपकर्मभेदः प्रत्येतव्यः । तथा हि—भावना तावत्
कृतिस्सविषया, कृतिविषयत्वमपि न ज्ञानविषयत्वादिवत् सिद्ध-
पदार्थवृत्ति, अपि तु साध्यमात्रवृत्तित्वात् तज्जन्यत्वापरपर्या-
यम् । अतश्च फलवाक्यविहिताया अपि कृतेर्विषयापेक्षायां सो-
मादिवाक्यविहितो यागादिरेव साध्यत्वात् जन्यत्वेन सम्ब-
ध्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तत्र च कार्यतावच्छेदकस्य यागत्वादे-
र्भेदात् कारणीभूतायां कृतावपि वैजात्यमावश्यकमेव । न च तत्-
त्कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नं प्रति यन्नत्वेनैव कारणताऽस्तु, होमोत्प-
त्तिदशायां यागोत्पत्तिप्रसक्तिस्तु विजातीयादृष्टरूपसामग्र्यभावा-
देव निराकर्तव्येति वाच्यम् । विजातीयादृष्टस्य कारणत्वकल्पने
प्रमाणाभावात्, अन्यथा तन्मात्रादेव कार्यमात्रोत्पत्त्युपपत्तौ कार-
णमात्रोच्छेदापत्तेः, अदृष्टगतवैजात्यकल्पनापेक्षयोपस्थितकृतावेव
वैजात्यस्य कल्पयितुं युक्तत्वाच्च । एवञ्च कार्यमात्रवृत्तिजातेः
किञ्चित्प्रति कार्यतावच्छेदकत्वनियमोऽप्यनुगृहीतो भवति ।

न चैवं ईश्वरकृतौ कार्यद्वयजनकतावच्छेदकजातिद्वयसत्त्वा-
त्साङ्कर्यापत्तिः, ईश्वरकृतेरेवाऽनङ्गीकारात् । एवं सत्यपि यदि
संकलत्राकरणिकधात्वर्थवृत्त्याधिभ्रमणफूत्कारादिवृत्तिपाकत्वमिव
व्यापकसामान्यमेव कार्यतावच्छेदकतया केनचित्पदेनोपा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १४१

त्तं स्यात् , ततो भवेत्कार्यतावच्छेदकैक्येन कारणीभूतभावनैक्य-
म् , न च प्रकृते तदस्ति, सोमादिवाक्यैर्यगित्वादिनैव तत्तद्भा-
त्वर्थोपस्थितेः । अतश्च तत्तत्कार्यतावच्छेदकवाचिधातुपदभे-
दाद्युक्त एव कारणीभूतभावनाभेदः ।

न चैवमपि सोमादिवाक्ये यागादेः फलभावनाकरणत्वस्यै-
व (१)शाब्दत्वादार्यिककर्मतादशायां च कल्पनालाघवानुरोधेनैक-
स्यैव व्यापकधर्मस्य कार्यतावच्छेदकत्वकल्पनोपपत्तेः कथं त-
द्भेदेन भावनाभेद इति वाच्यम् ? शाब्दस्य करणत्वस्य शब्द-
भेदेन भिन्नत्वात् तदन्यथानुपपत्तिकल्पितस्य कर्मत्वस्याऽपि क-
ल्पकभेदेन भेदोपपत्तेः। अनयैव च दिशा 'तिस्र आहुतीर्जुहोती'-
त्यादावपि भावनाभेदो बोध्यः, मूलोक्तरीत्या तदसिद्धेरिति
ध्येयम् । अतश्च भावनाभेदावश्यकत्वेन तत्तद्वाक्यैरेव तत्तद्वाक्यो-
पात्तसकलकारकविशिष्टभावनाविधानमित्यङ्गीकर्तव्यम् , न तु फ-
लवाक्य एवाऽनेकभावनाविधानम् , इतरैस्तु एकैकभावनानुवादेन
तत्तद्भात्वर्थविधिरिति । फलवाक्ये भावनानेकत्वग्राहकप्रमाणानु-
पस्थितेः तद्वाक्यस्थयजेस्सर्वोपलक्षणार्थत्वे प्रमाणाभावाच्च, ज्यो-
तिष्टोमपदे एकदेशप्रवृत्तिनिमित्तत्वाङ्गीकारस्याऽयुक्तत्वाच्च । अ-
तश्च तत्तद्वाक्येनैव 'तत्तद्भात्वर्थविशिष्टभावनाविधानमङ्गीकृत्य फ-
लवाक्ये लाघवात्फलसम्बन्धमात्रविधानम् । तदपि च ज्यो-
तिष्टोमपदानुरोधात्(२) चातुर्थिकन्यायेन सोमद्रव्यकयागस्यैव ।

न चाऽस्तु तर्हि फलवाक्य एव 'उद्भिदा यजेते'तिवद्यागकरणि-
कभावनायाः फलोद्देशेन विधिः, सोमवाक्ये तु मत्वर्थलक्षणाविशि-
ष्टविधिगौरवभिया यागकर्मकभावनानुवादेन सोममात्रविधिरिति
वाच्यम् । फलवाक्ये दीक्षणीयादिप्राकरणिकयागानामेव राजसू-

यवत् फलसम्बन्धापत्त्या तत्र तदपेक्षया कर्मान्तरविधाने प्रमाणाभावात् ऽद्योतिष्ठोपपत्तस्य चौत्तरकालिकाङ्गत्वरूपसम्बन्धमादायैव सर्वपरत्वोपपत्तेः । न चोष्ठापत्तिः, तथात्वे दीक्षणीयादिवाक्ये उत्पत्तिशिष्टद्रव्यावरोधेन तत्र सोमविधानानुपपत्तौ सोमवाक्ये गुणात् सोमविशिष्टकर्मान्तरविधानस्याऽवश्यकत्वात् । अतश्च युक्तं चातुर्थिकन्यायेन तस्यैव फलसम्बन्धविधानमिति सिद्धो धात्वर्थभेदेन भावनाभेदः ।

किञ्च यत्र संज्ञोपपदयुक्ताख्यातश्रवणं तत्र फलवाक्ये प्राप्तभावनानुवादेन धात्वर्थमात्रविधानोपपत्तावपि गुणोपपदयुक्ते सोमादिवाक्ये सोमधात्वर्थरूपानेककारकविधाने वाक्यभेदस्तदवस्थ एव । न च सोमविशिष्टयागविधानान्न वाक्यभेदः, यागस्याऽपि कारकत्वाविशेषेण गुणविशिष्टगुणान्तरविध्ययोगवत् गुणविशिष्टधात्वर्थस्य विध्ययोगस्याऽपि तुल्यत्वात् । अतश्च सर्वेषामपि प्रथमतो भावनायामेवाऽन्वयमङ्गीकृत्य तस्या एव विशिष्टाया विधिरङ्गीकर्तव्यः, तस्य च त्वयाऽनङ्गीकरणात् फलवाक्यप्राप्तभावनानुवादेनोभयविधौ च वाक्यभेदो दुरपहवः । अतस्सिद्धमपर्यायधातुभेदरूपाच्छब्दान्तरात् कार्यतावच्छेदकभेदेन कार्यभेदावगतौ कारणीभूताया भावनाया वैजात्यमिति ।

प्रयोजनम्-पूर्वपक्षे सर्वेषां धात्वर्थानां समप्राधान्यं विकल्पश्च । सिद्धान्ते तु सोमयागस्यैव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदङ्गत्वान्न विकल्पः ।

सूत्रं तु-उक्तविधे शब्दान्तरे भावनारूपकर्मभेदः प्रत्येतव्यः, कार्यकारणयोरैकवैजात्येनाऽपरवैजात्यरूपानुबन्धस्य कृतत्वादिति व्याख्येयम् ॥

इति प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमभ्यासाधिकरणम् ॥ २ ॥

एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं

हि स्यात् ॥ २-२-२ ॥

(विषयसंशयौ)

इदानीमभ्यासाद्भेदोऽभिधीयते । दर्शपूर्णमासयोः(१) 'समि-
धो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं
यजतीति' पञ्चकृत्वो यजतिपदमभ्यस्तं श्रुतम् । तत्र किमेको
यागः ? उत प्रत्यभ्यासं यागभेदः ? इति विचारः । यागै-
कत्वे भावनापूर्वयोरप्येकत्वम्, तद्भेदेऽर्थान्तरपरधातूच्चारणभे-
दात् शब्दान्तराधिकरणन्यायेनैव भावनाभेदसिद्धिः, अपूर्वाधि-
करणोक्तन्यायेन चाऽपूर्वभेदसिद्धिः । यद्यपि चाऽभ्यासाद्यागभे-
दवद्भावनाभेदोऽपि शक्यते वक्तुम्, तथाऽपि शब्दान्तरेणाऽपि
तत्सम्भवात्साधारण्याभावेन नोपन्यस्तः ।

(सङ्गतिः)

अत्र च धात्वर्थभेदमात्रस्यैव विवक्षितविवेकेन निरूपणीय-
त्वेऽप्यध्यायार्थरूपभावनाभेदसिद्ध्यर्थत्वादध्यायसङ्गत्यविरोधः ।
एवं सङ्ख्याद्यधिकरणेष्वपि द्रष्टव्यम् । पादसङ्गतिस्तु स्पष्टैव ।
अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणे सत्यप्याख्यातैक्येन भावनाप्रत्यभिज्ञाने
धातुभेदेन तदर्थभेदाद्युक्तो भावनाभेदः, प्रकृते तु धातोरप्येकत्वेन
तद्भेदे प्रमाणाभाव इति पूर्वपक्षोत्थानाद्द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र धातुस्तावत् स एवेति दृढतरप्रत्यभिज्ञयाऽवगम्यत इ-

त्यत्रिवादम् । अतस्तदर्थोऽप्येक एव । न च पुनरुच्चारणाद्भेदस्तस्य, लोके पटः पट इत्यादौ शतश उच्चारितोऽपि भेदाप्रतीतेः । प्रत्यु- त प्रत्यभिज्ञापकत्वेनाऽभेदसाधकतया विरुद्धत्वात् । न च पुनः- श्रुतिमात्रस्याऽभेदसाधकत्वेऽपि विधिपुनःश्रुतिः स्वसमभिव्याहृ- तार्थे विहितविधानायोगेन भेदसाधकत्वान्न विरुध्यत इति वाच्य- म् । उपक्रमस्थयजिपुनःश्रुतिबलेनैकवाक्यतालाभाय च 'एकं वृणी- ते द्वौ वृणीते' इतिवत् 'तनूनपातं यजती'त्यादौ लडन्तत्वस्याऽपि स- म्भवेन विधिपुनःश्रुतेरेवाऽसिद्धेः । अतश्च (१) तद्वदेवाऽयमेकस्याऽ- र्थवाद इति नाऽनर्थक्यप्रतिहतत्वेनाऽपि विधिपुनःश्रुतेर्भेदकता ।

अस्तु वा(२) 'समिधो यजति वसन्तमेवर्तूनामवरुन्धे' 'तनून- पातं यजति ग्रीष्ममेवाऽवरुन्धे' इत्यादिपृथगर्थवादान्नान्नान्निस्सन्दि- ग्धगुणाविधिव्यवहितत्वाच्च 'तनूनपातं यजती' त्यादिरपि विधिः, तथाऽपि 'दध्ना जुहोती' त्यादिवत् गुणसङ्क्रान्तशक्तिकत्वात् विधेर्धात्वर्थभावनाविषयत्वाभावेन न तद्भेदकत्वापत्तिः; सर्वत्र हि समिदादिपदानां द्वितीयान्तानामपि 'विष्णुं यजती' तिवद्देवतापर- त्वमेवाऽवगम्यते, न तु नामधेयत्वम्, येन तस्याऽविधेयत्वाद्विधिः धात्वर्थभावनाविषय एव 'अग्निहोत्रं जुहोती' तिवद्वापिपियेत, ते- षां तूभयत्र तुल्यवद्वृत्तिकत्वाभावेन नामधेयन्यायाविषयत्वात् ।

न च न्यायान्तराविषयत्वेऽपि समिदादिदेवतानां(३) याज्या- मन्त्रवर्णैरेव सम्भवत्प्राप्तिकत्वात् 'अग्निहोत्रं जुहोती' तिवत्तत्प्रत्ययन्या- यविषयत्वोपपत्तिः, (४) 'वसन्तमृतूनां प्रीणामी' त्याद्यनुमन्त्रणमन्त्रैः

१. अयं च विषयः (६. १. १०.) अधिकरणे द्रष्टव्यः ।

२. तै. सं. २. ६. १.

३. समिधस्समिधोऽग्न आजस्य वियन्तु इत्याद्यो मन्त्रवर्णाः ।

४. तै. सं. १. ६. २.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

१४५

वसन्तादिदेवतानामपि प्राप्तिसम्भवेन समिदादीनां नित्यप्राप्त्य-
भावात् । अतो वसन्तादिमान्त्रवर्णिकदेवताव्यावृत्तिफलकस्य स-
मिदादिनियमस्याऽप्राप्तत्वेन विधिवाक्यैर्विधानोपपत्तेः नामधेय-
त्वासम्भवाद्द्विधायकस्य गुणसङ्क्रान्तशक्तित्वेन धात्वर्थभावना-
विषयत्वाभावान्न तद्भेदकत्वम् । न चैवं कर्मोत्पत्तिवाक्यस्थदेवता-
वरोधात् कथमुत्पन्नवाक्यस्थदेवतान्तरविधानोपपत्तिः, कर्मोत्प-
त्तिवाक्यस्थोपपदस्य नामत्वाङ्गीकारात्, अत एव न गुणाद्भे-
दशङ्का । न चैवमपि विनिगमनाविरहः, प्राथमिकत्वेन समिद्वाक्ये
कर्मविधिरितरत्र गुणविधिस्तदनुवादेनेति विनिगन्तुं शक्यत्वादि-
ति पार्थसारथिर्भवदेवश्च ।

वस्तुतस्तु समित्पदस्याऽपि नामधेयत्वं नोद्भिन्न्यायासिद्धम्,
उभयत्र तुल्यवद्भूतिकत्वाभावात् । वाक्यभेदतद्व्यपदेशौ तु ना-
शङ्कनीयवेव । तत्प्रख्यन्यायोऽपि नियमस्याऽप्राप्तत्वादनुपपन्नः,
देवतामात्रप्राप्त्या तदुपपादनं तु तन्नूनपातादिपदेष्वप्यविशिष्टम् ।
अतो न समित्पदमात्रस्य नामधेयत्वाभिधानं युज्यते । तस्मादेवं प-
रिहर्तव्यम्—स्वाहाकारवाक्ये कर्मविधिः, तत्रत्यस्वाहाकारपदस्य
नामधेयत्वात् । न हि तत्र स्वाहाकारपदं स्वाहाकाररूपदेवता-
विधायकम्, तस्य णमुलन्तत्वस्याऽपि सम्भवेन द्वितीयान्तत्व-
स्यैव नियामकाभावात् देवताविध्यप्रतीतेः, मन्त्रतः पक्षे स्वाहा-
कारदेवताया अप्राप्तत्वेनाऽपूर्वायाः स्वाहाकारदेवताया विधौ
गौरवाच्च । नाऽपि स्वाहाकारशब्दमात्रविधिः, णमुलन्तत्वस्याऽपि
संशयितत्वेन तद्दोषतादवस्थ्यात्, स्वाहाकारशब्दस्य मन्त्रवर्णा-
न्वित्यप्राप्तत्वेन नियमविधेरप्यनाशङ्कनीयत्वाच्च । अतोऽसौ त-
त्प्रख्यन्यायेन नामधेयमिति तत्रैव कर्मविधिः । इतरे तु तदनु-
वादेन वैकल्पिकदेवताविधयः । अस्मिंश्च पक्षे(१) 'स्वाहाऽग्निम्,

स्वाहा सोम' मित्यादिमन्त्रो मुख्यलिङ्गकैर्मन्त्रान्तरैर्याज्याकार्ये बा-
धितेऽपि महाप्रकरणसहकृताल्लिङ्गात्साङ्गप्रधानदेवताप्रकाशनार्थ-
स्सन् 'स्वाहा देवां आज्यपाँ' इत्यादिना प्रयाजदेवताया अपि
प्रकाशितत्वात्तदङ्गमपि भवत्येवेति नैतस्य प्रधानमात्राङ्गत्वापत्त्या
प्रयाजे स्वाहाशब्दस्याऽप्राप्तत्वात् तत्प्रख्यन्यायविघातश्शङ्क्यः। अ-
तः समिदादिवाक्यानां तत्रैव देवताविधायकत्वोपपत्तेर्विधिपुनः-
श्रवणस्य धात्वर्थविषयत्वाभावात् न तद्भेदकत्वोपपत्तिः ।

अस्तु वोपांशुयागोत्पत्तिवाक्ये देवताभावात्तदनुवादेन स-
मिदादिवाक्येषु पञ्चस्वपि देवताविधिः, तत्क्रमात्प्राताविष्ण्वादि-
देवत्ययाज्यानुवाक्यायुगलानां तु क्रमं बाधित्वा समाख्यासह-
कृतलिङ्गेनोत्कर्ष इति भवदेवोक्तः पक्षः। अस्तु वा वक्ष्यमाणसि-
द्धान्तरीत्यैव समिदादीनां पञ्चानामपि नामधेयत्वम्, तथाऽपि
प्राथमिकत्वेन समिद्वाक्य एव कर्मविधिः, इतरे तु तस्यैव कर्मणो-
ऽभ्यासविधायकाः,(१)'तेन पुनर्यजेतेतिवत्'। न तु कर्मान्तरविधाय-
काः, प्रकृतप्रत्यभिज्ञाबाधप्रसङ्गात् । अस्मिंश्च पक्षे 'अतिहायेडो ब-
र्हिः प्रतिसमानयते' 'चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयः' इत्यादिसमुच्चय-
ज्ञापकान्युपपन्नानि भवन्ति । न चैवं संज्ञातो भेदापत्तिः, तस्या-
ऽप्यभ्यासाभिप्रायेणैवोपपत्तेः। अतस्सिद्धं कर्मैकत्वमिति प्राप्ते-

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—सत्यपि लेटूळट्सन्देहे विध्यन्तरैकवाक्य-
त्वाभावात्, स्वतन्त्रानुवादमात्रत्वे त्वानर्थक्यापत्तेः, निस्सन्दिग्ध-
गुणविधिव्यवाहितत्वाच्च एतेषामेव मध्ये कस्य चिद्विधित्वमितरे

१. यद्युद्गाता अपच्छिन्धाददक्षिणं तं यज्ञमिष्टुतेन पुनर्यजेते'
त्यत्र दक्षिणां विना समापितस्यैव प्रथमप्रयोगस्य 'तेन पुनर्यजेते'त्य-
नेनाऽभ्यासविधिः तद्भदित्यर्थः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १४७

तदर्थवादा इति शङ्कानुपपत्तेः, सर्वेऽपि तावद्विधय इत्यविवादः । तत्र समानाभिधानश्रुत्या समानपदश्रुत्या च विधिर्धात्वर्थभावनयोरेव व्याप्रियते, न तूपपदार्थ (१)इत्ययमप्युत्सर्गः, प्रथमविधिप्रकाराङ्गीकारात् । तच्चेदं तदा बाध्येत यदि दध्यादिवदुपपदार्थोऽनन्यगतिः स्यात् । तथा हि—विधिः स्वस्य विशिष्टविधिगौरवपरिहारार्थं धात्वर्थभावनयोः प्राप्तिसमन्यतोऽपेक्षते । तस्याश्चाऽपेक्षायां प्रत्याभिज्ञानमनुवादकारणम्, न त्वपेक्षाराहित्येऽपि । अतश्चाऽपेक्षाप्रत्यभिज्ञयोर्द्वयोरपि परस्परापेक्षत्वेनाऽनुवादकारणत्वात् यथैव 'सोमेने'त्यादौ सत्यामध्यपेक्षायां प्रत्यभिज्ञाभावान्न धात्वर्थभावनयोरनुवादः, तथैव प्रकृते विधेः स्यान्तराभावेनाऽनुवादापेक्षाभावात् सत्यपि प्रत्याभिज्ञाने नाऽनुवादोपपत्तिः । अतश्च स्वोपमर्दापत्तेः विधिस्तावन्नैतादृशविषये सन्निधिकृतप्रत्यभिज्ञोपजीवी । नाऽपि यजिः, तस्याऽपि समानपदोपात्तविधिश्रुत्यनुरोधवृत्तित्वेन सन्निधिकृतप्रत्यभिज्ञानुपजीवकत्वात् । एवं सत्यपि यदि यजिस्तच्छब्दवत् प्रकृतमात्रवाची भवेत्ततस्तस्योपक्रमस्थत्वेन बलवत्त्वात् तदनुरोधेन जघन्यो विधिरेव 'देवांश्च याभिर्यजत' इतिवदनुवादकत्वेनैव नीयेत ।

वस्तुतस्तु तद्वदिह प्रयोजनाभावादानर्थक्यमतिह तत्त्वेन उ-

ल्पवसन्तादिदेवतापेक्षया उभयाकाङ्क्षाबललभ्ययाज्यामन्त्रवर्ण-
कल्प्यसमिदादिदेवतानां बलवत्त्वेन विषमशिष्टविकल्पानुपपत्तेः
नियमविध्ययोगात् । अत्रः समिद्यागे, स्वाहाकारयागे वाऽवा-
न्तराधिकाराख्यप्रकरणेन सर्वेषां याज्यामन्त्राणामङ्गत्वावगतेः
तद्वलेन मान्त्रवर्णिकसामिदादिमात्रदेवताकल्पनं नऽनुपपन्नम् ।

न चैवं 'वसन्तमृतूना' मित्याद्यनुमन्त्रणमन्त्राणां पृषानुम-
न्त्रणमन्त्रवदुत्कर्षापत्तिः, तद्वदेतेषां प्रयाजानुमन्त्रणसमाख्यात-
त्वेन प्रयाजातिरिक्ते सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावादुत्कर्षा-
नुपपत्तेः । अतो(१) मनोतामन्त्रवल्लक्षणयाऽत्र समिदादिदेवताप्र-
काशनार्थान्येवैतीनीति द्रष्टव्यम्, न तु तन्त्ररत्नोक्तमदृष्टार्थत्वम् ।

न चैवं(२) 'एको ममे' त्यादीनामनुमन्त्रणमन्त्रान्तराणां
विकल्पापत्तिः, तेषामपि लक्षणया प्रयाजफलप्रकाशकत्वेन भिन्न-
कार्यतया समुच्चयोपपत्तेः । विशिष्य चाऽयमर्थः (३)पञ्चमे न-
रूपयिष्यते । अतस्समिदादिपदानां तत्प्रख्यन्यायेन ना-
मधेयत्वाद्विधेयान्तराभावेन विधेर्धात्वर्थभावनाविषयत्वावग-
तेः विहितविधानायोगेन विधिपुनःश्रवणरूपादभ्यासाद्भेद-
सिद्धिः । अत्र च न पुनःश्रुतिमात्रस्य भेदसाधकत्वम्, त-
स्या अभेदसाधकत्वेन विरुद्धत्वात् । अतो विधिप्रवेशः । तस्य
च स्वोपमर्दापिचरेभेदसाधकत्वाभावान्न विरुद्धता । पुनःश्रवणं
चऽनन्यपरं द्रष्टव्यम् । अतश्च 'दध्ना जुहोती'त्यादौ सत्यपि वि-
धिपुनःश्रवणे गुणनिमित्तफलादिसम्बन्धपरत्वान्न भेदकता वि-

१. 'एवं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति' मन्त्रः मनोतापदघटितत्वान्मनोता-
मन्त्र इत्युच्यते ।

२. 'एको मम एका तस्य योऽस्मान्द्रेष्टि यं च बयं दिष्मः' इति
पञ्च अनुमन्त्रणमन्त्राः प्रयाजप्रकरणे वाजसनेयिशाखायामाभ्युताः॥

३. पू. मी. ५. १. ३.

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १४९

धिपुनःश्रवणस्य । अनन्यपरत्वेऽपि च विधानयोग्यपरत्वं द्रष्टव्य-
म् । अतश्च 'य एवं विद्वानित्यादौ सत्यप्यनन्यपरत्वे रूपाभावेन
विधानयोग्यत्वाभावात् भेदकतेति(१)उत्तराधिकरणे वक्ष्यते ।
प्रकृते तु जौहवाज्यस्य समिदादिदेवतायाः प्राप्तत्वेन रूपला-
भान्न विधानायोग्यत्वम् ।

वस्तुतस्तु 'य एवं विद्वानित्यत्राऽपि अधिकारवाक्यगत-
द्विवसिद्धिफलकसमुदायपरत्वेनाऽनन्यपरत्वाभावादेव न भेद-
कता । रूपाभावस्त्वतिशयार्थमुक्तः, अन्यथाऽव्यक्तत्वेन सौमिक-
धर्मातिदेशस्य विद्वद्वाक्ययोः, 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यादौ च कथमपि
निवारयितुमशक्यत्वात् । न चैवमत्राऽपि विधिपुनःश्रवणस्य
'एकादश प्रयाजान् यजती'तिवदावृत्तिविधानार्थत्वेनाऽन्यपर-
त्वात् भेदकता न स्यादिति वाच्यम् । तत्र हि प्रयाजानुवादेन वि-
धीयमाना सङ्ख्या निर्जातसंख्येषु तेषु साक्षात्सम्बन्धेन निवेशमल-
भमाना प्रयाजप्रयोगपरिच्छेदकत्वेन विधेयत्वाद्युक्तं यदर्थाद्भ्या-
समापादयतीति, प्रकृते तु विधेयान्तराभावेन यागपुनःप्रयोगस्यैव
विधेयत्वकल्पनात् 'तनूपातं यजती'त्यादियजिना अदृष्टान्तरफलक-
स्य यागप्रयोगगतद्वितीयत्वादेः पुनःप्रयोगाभ्यासावृत्त्यपरनामधे-
यस्य लक्षणापत्तेः तत्परत्वायोगात् । 'तेन पुनर्यजेते'त्यत्र तु पुन-
श्शब्देनैव पौनःपुन्यस्य कृतत्वात् न लक्षणेति वैषम्यम् ।

न चैवं सिद्धान्तेऽपि यजिधातुना यागत्वसामान्यवाचकेन
विधेयतावच्छेदके विजातीययागत्वलक्षणा तुल्यैवेति वाच्यम् । त-
ल्लक्षणायामपि तदवच्छेद्ययागव्यक्तेश्चक्यतावच्छेदकीभूतयाग-
त्वेनाऽप्यवच्छेदेनेदृशलक्षणाया अदोषत्वात् । अतः आवृत्तिरूपा-
न्यपरत्वायोगात् अनन्यपरपुनःश्रवणस्य भेदकत्वमावश्यकमेव ।

यत्तु भवदेवेनोपांशुयाजानुवादेन सामदादिदेवताविधान-
मिति पूर्वपक्षः कृतः, स वैकल्पिकसमिदादिदेवताकत्वे 'अति-
हायेडो बर्हिः प्रतिसमानयत' इत्यादिसमुच्चयज्ञापकानुपपत्तेरेतद्वि-
ध्यन्यथानुपपत्तिकल्पितसमुच्चयविधिप्रसूतोपांशुयाजावृत्तिकल्पने
च गौरवापत्तेः, 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाये' त्याद्यर्थवादा-
नुपपत्तेश्च निराकर्तव्यः । तत्सिद्धमनन्यपरविधिपुनःश्रवणरूपाद-
भ्यासादेतेषु पञ्चस्वपि धात्वर्थभावनयोर्द्वयोरपि विधानावगतेः
विहितविधानायोगेन भेद इति ।

नन्वेवं संज्ञोपबन्धाख्यातेषु सर्वत्राऽभ्यासेनैव भेदसिद्धेर्न
क्वचित्संज्ञाया भेदकत्वं भवेत्, तस्या वा भेदकत्वे प्रकृतेऽपि तत
एव भेदसिद्धेर्नाऽभ्यासस्याऽसङ्कीर्णोदाहरणलाभ इति चेत्, न ;
यत्राऽऽख्यातसामानाधिकरण्याभावेन यागविशेषनामत्वानवगमेऽ
पि 'अथैष ज्योतिरित्यादौ अधिकारादथब्दान्वयेनाऽनिर्धारित-
क्रियाविशेषसंज्ञात्वनिश्चयं कृत्वा तद्वलेनैव विध्याख्यातकल्पनम्,
तत्राऽभ्यासस्य संज्ञाधीनसिद्धिकत्वेन दुर्बलत्वात् संज्ञयैव तदव-
धारणम् । यत्र वा 'उद्भिदा यजते'त्यादौ संज्ञाभावे प्रकृतस्यैव
यागस्य फलसम्बन्धो गुणफलसम्बन्धो वा प्रकृतयागाश्रितो
विधिपुनःश्रवणेऽपि विधीयत इत्यनन्यपरत्वाभावान्नाऽभ्यासस्य
भेदकत्वम्, तत्राऽपि निष्प्रतिद्वन्द्वमेव संज्ञाया भेदकत्वम् । प्र-
कृते त्वभ्यासस्वरूपस्य संज्ञानधीनत्वादन्यपरत्वाभावेनाऽधि-
कबलत्वाच्च युक्तं तस्य भेदकत्वम् ।

न च संज्ञाया अपि प्रकृते प्रप्रख्यन्यायसिद्धत्वेनाऽभ्यासस्य
यागविध्यधीनत्वाभावात्, प्रत्युत् संज्ञात्वाभावे देवताविधिपरत्वे-
नाऽभ्यासस्यैव तदधीनत्वात्, संज्ञयैव भेदसिद्धेर्नाभ्यासस्याऽस-
ङ्कीर्णोदाहरणत्वमिति वाच्यम् । प्रकृतोदाहरणे प्रमाणद्वयसङ्के-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९१

ऽपि यत्रोभयत्र तुल्यवृत्तिकधातुपाराध्यादिना नामधेयतासिद्धिः, तत्र विधेर्धात्वर्थभावनाविषयत्वद्वारकभेदावगमोत्तरमेव संज्ञात्व-सिद्धेरभ्यासस्यैवाऽसङ्कीर्णस्य भेदबोधकत्वोपपत्तेः, प्रकृतोदाह-रणेऽपि तत्प्रख्यन्यायस्य गुणविधिमात्रप्रतिबन्धकत्वात्, यजिस-मभिव्याहारस्य च मन्त्रवर्णप्राप्तदेवतानुवादकत्वेनाऽप्युपपत्तेर्ना-मधेयकृत्यस्य चाऽवच्छेदस्य स्ववाक्योपात्तनामधेयेनैव सिद्धेर्नाम-त्वानवगमात् ततः पूर्वमेव विधिपुनःश्रवणस्य भेदकत्वोपपत्तेश्च । न चैवं तदुत्तरमपि नामत्वानवगमप्रसङ्गः, अभ्यासभिन्नकर्मान्तरस्यै-वाऽवच्छेदकापेक्षायां तदङ्गीकारात् । अतश्च सिद्धोऽभ्यासमात्र-प्रमाणकोऽत्र धात्वर्थभेद इति ।

भेदश्चाऽत्र न व्यक्तिमात्रस्य, अपि तु तद्गतजातेरपि, विधे-यभेदे विधेयतावच्छेदकभेदस्यौत्सर्गिकत्वात् । अतश्च यागत्वा-दिव्याप्या जातयः समिद्यागत्वतनूपाद्यागत्वादिरूपास्तत्तद्वाक्य-गतेन यजिना लक्षयित्वा तत्तदवच्छिन्नयागव्यक्तयो विधीयन्ते । न चाऽत्र विधेयतावच्छेदकमुपाधिरूपं किञ्चित्सम्भवति, तनून-पातादिदेवतानां यागविधेयतावगत्युत्तरकालं विधेयत्वेन विधेय-त्वानवच्छेदकत्वात् ।

यत्तु वार्तिके गकारादिवदेकैव समिद्यागव्यक्तिर्निष्ठा तद्दे-शकालद्रव्यकर्त्रादिभेदेनाऽभिव्यज्यते, द्रुताद्युच्चारणभेदेनेव गका-रव्यक्तिः । अतस्तद्भेदोपाधिकैव तस्या भेदप्रतीतिर्न तु स्वतः । सैव च विधिना विधीयते, विधेयतावच्छेदकाभावेऽपि च व्य-क्तिमात्रं विधिना विधीयत इति पक्षान्तरमुक्तम्, तत् शब्दादपि निर्विकल्पकप्रसयोत्पत्तिमङ्गीकृत्येति द्रष्टव्यम् । यदा तु शब्दा-त्सविकल्पकमेवेति नियमः, तदा व्यवहारसौकर्यार्थं समिद्याग-त्वादिजातिकल्पनेऽपि न किञ्चिद्वाधकम् । अत एव यत्रोपाधि-

रूपमेव पदप्रवृत्तिनिमित्तं सम्भवति, यथा—दर्शपूर्णमासेष्टिसत्रैक-
हायनीशब्देषु तत्कालत्वादि, तत्र न जातिकल्पनम्, गौर-
वात् । प्रकृते तु तादृशोपाध्यभावाज्जातिकल्पनेऽपि न किञ्चिद्वा-
धकं पश्यामः । अस्तु वा समिद्यागत्वाद्यखण्डोपाधिः । तस्मा-
त्सिद्धोऽभ्यासाद्भेदः ।

प्रयोजनम्—देवताविधिपूर्वपक्षे तासां दृष्टार्थत्वेन विकल्पात्स-
कृदेव कर्मानुष्ठानम् । आवृत्तिविधिपूर्वपक्षे तु यत्र विकृतिविशेषे
ऽपूर्वार्थं समिद्यागपुनःश्रवणम्, तत्राऽपि तनूनपातादिसंज्ञिकाया
आवृत्तेस्समिद्यागाङ्गत्वेन 'प्रधानं नीयमानं हि तत्राऽङ्गान्यपक-
र्षती'ति न्यायेन प्राप्तेः पञ्चकृत्वोऽनुष्ठानम् । तथा समिद्यागाश्रि-
तस्य फलार्थस्य गुणस्य सायं प्रातरग्निहोत्रावृत्तौ दध्यावृत्तिव-
त्पञ्चवारमावृत्तिः । सिद्धान्ते तु प्रकृतौ प्रयाजानामदृष्टार्थत्वा-
त्पञ्चानामप्यनुष्ठानम् । न च तत्राऽप्येकया प्रयाजसमाख्यया
एककार्यत्वावगतेर्विकल्प एव युक्त इति वाच्यम् । 'त्रिरतः
प्राचीनान्प्रयाजान्यजति' 'अतिहायेडो बर्हिः प्रतिसमानयत'
इत्यादिसमुच्चयज्ञापकबलेन तत्सिद्धेर्विकल्पायोगात् । विकृति-
विशेषे च पुनःश्रुतस्य समिद्यागमात्रस्यैवाऽनुष्ठानम्, काम्यश्च
गुणस्तत्रैवाऽनुष्ठेय इति ।

सूत्रं तु—एकस्य या अविशेषेण पुनःश्रुतिः साऽप्येवं
कर्मभेदिका, अन्यथा आनर्थक्यापत्तेरिति व्याख्येयम् ॥ २ ॥

इति द्वितीयमभ्यासाधिकरणम् ॥ २ ॥



अथ तृतीयं पौर्णमास्यधिकरणम् ।

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ २-२-३ ॥

(विषयसंशयौ)

इदानीमभ्यासस्याऽपवादः क्रियते । दर्शपूर्णमासयोः(१) 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' 'य एवं विद्वानमावास्यां यजत' इति वाक्यद्वयं श्रुतम् । तत्र किं कर्मान्तरं पौर्णमासीसंज्ञकममावस्यासंज्ञकं च विधीयते? उत ये श्रुतपौर्णमासीकालसम्बन्धा आग्नेयोपांशुयाजाशीषोमीयाः प्रकृता यागास्ते पौर्णमासीवाक्येन, ये च श्रुतामावास्याकालसम्बन्धा आग्नेयसान्नाय्यैन्द्राग्नास्त अमावास्यावाक्येन समुदायसिद्ध्यर्थमनूयन्त ? इति विचारः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यजत इत्ययं तावद्विधिरित्यसन्दिग्धम् । सत्यपि च वर्तमानविभक्तित्वसन्देहे विध्यन्तरैकवाक्यत्वाभावेन स्तुत्यर्थमनुवादानुपपत्तेः, स्वतन्त्रानुवादस्य च वक्ष्यमाणरीत्या सार्थकत्वासम्भवेनाऽऽनर्थक्यापत्तेः परिशेषादेव पञ्चमलकारत्वनिश्चयात् । अत एव(२) 'यावदुक्थ्येनोपाप्नोति तावदुपाप्नोती'ति पौर्णमासीवाक्यस्य 'यावदतिरात्रेणोपाप्नोती' त्यमावास्यावाक्यस्याऽर्थवादोऽपि सङ्गच्छते । अन्यथा हि विधेयाभावात्कस्य स्तुतिरेताभ्यां क्रियेत ।

(३)न चैवं सति यच्छब्दैवंशब्दाभ्यां विधित्वप्रतिबन्धः, क्रियाविशेषितकर्तृसमानाधिकरणस्य यच्छब्दस्य, क्रियाविशेष-

परामर्शकस्यैवंशब्दस्य च समभिव्याहृतवेदनक्रियाविधिप्रतिबन्धकत्वेऽपि यागक्रियाविधि(?)प्रतिबन्धकत्वाभावस्य भवदेवेनैवोक्तत्वात् । अत एव(२) 'यो दीक्षितो यद्ग्रीषोमीयं पशुमालभत' इत्यत्र दीक्षाविधिः प्रतिबन्ध्यते, न तु यागविधिः । अतश्च पूर्ववदेव विधिपुनःश्रवणात् कर्मान्तरत्वम् । न चाऽत्रान्यपरत्वम्, स्ववाक्ये फलनिमित्तगुणादिप्रतिपादकशब्दाभावेन तत्परत्वासम्भवात्, पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोस्तव मम च नामधेयत्वात् ।

न च प्रापकप्रमाणात्पूर्वमेवैतद्वाक्यप्रवृत्त्यङ्गीकारेण तस्यैव कर्मणः प्रयोजनान्तरार्थं विधिरङ्गीक्रियत इति वाच्यम् । प्रापकप्रमाणस्याऽऽग्नेयादिवाक्यरूपस्य श्रौतत्वेन ततः पूर्वं(३)एतत्प्रवृत्त्यङ्गीकारानुपपत्तेः, पुनर्विधानस्य च प्रयोजनाभावाच्च । तथा हि—न तावदेकेन पदेनाऽनेकेषामुपादाने साहित्यप्रतीतेस्समुदायासीद्धिः प्रयोजनम्, तस्यास्त्वतो निष्प्रयोजनत्वात् । न चैतद्वाक्याभावे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते' त्यधिकारवाक्ये दर्शपूर्णमासनामावच्छिन्नेन यजिनोपात्तानामेव यागानां फलसम्बन्धावगमेऽपि तेन द्विवचनान्तदर्शपूर्णमासपदावयवशक्तिपर्यालोचनया कालयोगिनां, द्वित्वयोगिनां चोपादानावगतेरुत्पत्तिवाक्ये कालयोगिनां चाऽऽग्नेयादीनां द्वित्वयोगाभावात्, द्वित्वयोगिनां चाज्यभागादीनां कालयोगाभावादप्रसिद्धार्थकदर्शपूर्णमासनामकत्वागतेः, तत्समभिव्याहृतेनाऽपि यजिना राजसूयवत्प्रकृतयागमात्रग्रहणेन सर्वेषां फलसम्बन्धापत्तेः, एतद्वाक्यद्वयसत्त्वे च कालयोगिनामाग्नेयादीनां समुदायद्वयकरणेन

१. प्रतिबन्धकताभावस्येति. के. पु.

२. तै. सं. ६. १. ११

३. एतद्वाक्यप्रवृत्तिरिति. क. पु.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १५५

तद्द्वारकाद्वित्वसम्बन्धावगतेज्योतिष्ठोमवत्प्रसिद्धार्थकदर्शपूर्णमा-
सनामावच्छिन्नेन यजिना तन्मात्रोपादानेन तेषामेव फलसम्ब-
न्धावगतेष्वङ्गागफलसम्बन्धापादकनामगतद्विवचनप्रसिध्युप-
योगिसमुदायद्वयफलकत्वेन वचनद्वयसार्थक्योपपत्तिरिति वाच्य-
म् । एतद्वाक्यद्वयेन पौर्णमास्यमावास्यासंज्ञकयागसमुदायद्वयकर-
णेऽप्यधिकारवाक्यस्थदर्शपूर्णमासशब्दस्य तत्रो भिन्नत्वेन तदु-
पस्थापकत्वानुपपत्तेरप्रसिद्धार्थकत्वस्य तदवस्थत्वात् । न हि पौ-
र्णमासीपदं पूर्णमासपदं च तुल्यम्, दर्शमावास्यापदयोस्त्वैक्य-
मनाशङ्कनीयमेव । (१) यदा तु पूर्णमासशब्दस्याऽत्यन्तसाम्या-
भावेऽपि नामैकदेशत्वेन वाऽऽख्याविकारत्वेन वा पौर्णमासीपदो-
पस्थापनद्वारा तदर्थोपस्थापकत्वोपपत्तेः, दर्शशब्दस्य च विरु-
द्धलक्षणया चन्द्रादर्शनाधिकरणकामावास्यातिथिसम्बन्धिकर्मोप-
स्थापकत्वोपपत्तेः, अन्वारम्भणीयावाक्यशेषे च(२) “दर्शो
वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास उत्तरोऽथ यत्पूर्णमासं पूर्वमारभते त-
दयथापूर्वं क्रियते, तस्मात्पूर्णमासं पूर्वमारभमाणस्सरस्वत्यै चरुं
निर्वपेत्सरस्वते द्वादशकपालममावस्या वै सरस्वती पूर्णमासस्सर-
स्वानि” ति दर्शमावास्याशब्दयोः पर्यायत्वावगमात् प्रसिद्धा-
र्थकत्वमाशङ्क्येत, तत्र(३) एतद्वाक्यद्वयफलभूतसमुदायानुवाद-
द्वयाभावेऽपि अधिकारवाक्ये दर्शशब्देन पूर्णमासशब्देन च श्रुत-
कालयोगिनां त्रयाणामेव कर्मणामुपादानेन, तत्समानाधिकरणे-
न यजिना षण्णामेव फलसम्बन्धोपपत्तेर्वाक्यवैयर्थ्यात् ।

न च दर्शपूर्णमासप्रातिपदिकस्य कालयोगिषु प्रसिद्धार्थक-
त्वेऽपि द्विवचनस्याऽप्रसिद्धेः कथं तस्य यज्यवच्छेदकत्वमिति

१. अथ तु इति. क. पु. २. मै. सं. १. ४. १५.

३. एतद्वाक्यफलीभूतसमुदायत्रयाभावेऽपीति. क. पु.

वाच्यम् ? प्रातिपदिकप्रसिद्धिसत्त्वे (१) पाशाधिकरणन्यायेन द्विवचनानुरोधेन तस्यागानुपपत्तेः । (२) अवश्यं च समुदायद्वयसिद्धावपि फलवाक्ये भावार्थाधिकरणन्यायेन यजतेरेव करणसमर्पकत्वात्, तेन च षण्णामेकपदोपादानात् तन्त्राभिधानावगतैकसमुदायप्रतीतावपि यजिपदेन समुदायस्य शक्त्याऽनभिधानात्, तच्छक्यानां यागानामेव लक्षितसमुदायविशिष्टानां फलकरणत्वावगतेः, तेषां बहुत्वात् तत्सामानाधिकरण्यार्थं दर्शपूर्णमासपदेऽपि द्विवचनेन बहुत्वलक्षणा । अतश्च समुदायद्वयाभावेऽपि पाशाधिकरणन्यायेन बहुत्व(३)लक्षणायामपि न दोषः । न चेयं निषिद्धा, 'सुपां सुपो भवन्ती' लभ्यनुज्ञानात् ।

न च लक्षणाविशेषेऽपि मन्मते द्वित्वस्य समुदायवृत्तित्वात् स्वाश्रयसमुदायघटकसमुदायिवृत्तित्वरूपस्य शक्यसम्बन्धस्य सस्वात्तदुपपत्तिः, तव तु तदभावे कथं लक्षणेति वाच्यम् ? ममाऽपि द्वित्वस्य पौर्णमास्यमावास्याकालवृत्तित्वात् स्वाश्रयकालीनयागवृत्तित्वरूपस्वशक्यसम्बन्धेन बहुत्वलक्षणोपपत्तेः । अतश्च विद्वद्वाक्याभावेऽपि षड्यागफलसम्बन्धापादकनामगतद्विवचनप्रसिध्युपपत्तेः समुदायकरणस्य दैयर्थ्यान्न तत्प्रयोजनतया समुदायिविधानोपपत्तिः । एतेन समुदायिनामनुवादः समुदायद्वयप्रयोजनक इति सिद्धान्त्यभिप्रेतं प्रत्युक्तम् । अतश्चाऽनन्यपरविधिपुनःश्रवणरूपादभ्यासात् कर्मान्तरं विधीयते । पौर्णमास्यमावास्याशब्दश्च 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत' 'अमा-

१. पू. मी. २. ३. ५.

२. अतश्च तदनुरोधेन द्विवचन एव बहुत्वलक्षणाऽवगन्तव्येत्यधिकः पाठः 'क' पुस्तक उपलभ्यते ।

३. लक्षणाः न दोषायेति क. पु.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १५७

वास्यायाममावास्यया यजेते'ति वाक्यद्वयप्राप्तपौर्णमास्यमावा-
स्याकालयोगेन तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयम् । इदं हि वाक्यद्वयं
तृतीयान्तनामधेयवशात् विद्वद्वाक्यविहितकर्मानुवादेन कालवि-
धायकम्, अनन्यप्रयोजनत्वाच्च । न ह्याग्नेयादीनामुत्पत्तिवाक्य-
विहितकालकत्वेन प्रयाजाद्यङ्गानां च प्रधानकालकत्वेन तव मते
एतस्य कालविधायकता सम्भवति ।

न चैवमपि कालविधौ सति नामधेयत्वम्, नामधेयत्वे च
सति तदनुवादेन कालविधिरितीतरेतराश्रयापत्तिः, अग्निहोत्र-
न्यायेन पूर्वं सामानाधिकरण्येन(१) नामधेयत्वेऽवधारिते, पश्चा-
त्तदनुवादविहितकालयोगेन प्रवृत्तिनिमित्तावधारणोपपत्तेः ।
अतस्तत्संज्ञककर्मान्तरविधानमेवेदम् । अत एव 'पौर्णमासी'मि-
त्येकवचनं कर्मण एकत्वात्सङ्गच्छते । इतरथा समुदायिनां या-
गानां बहुत्वात् बहुत्वलक्षणार्थं स्यात् । द्वितीया तु 'अग्निहोत्रं
जुहोती'तिवत् सामानाधिकरण्यार्थं करणत्वं लक्षयतीति न कि-
ञ्चिदनुपपन्नम् ।

न चैवमपि द्रव्यदेवतालक्षणरूपाभावाद्विधानायोग्यत्वम्,
रूपाभावस्याऽसिद्धेः। तथा हि—द्रव्यं तावत् 'चतुर्ध्रुवायां गृह्णा-
ती'ति प्रयोजनसाकाङ्क्षे ध्रौवं द्रव्याकाङ्क्षाभ्यामेव ताभ्यामुपांशुया-
जवत् उभयाकाङ्क्षारूपाधिकराख्यप्रकरणेन सम्बध्यते ।(२) 'स-
र्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद्ध्रुवायामाज्य'मिति वचनेनाऽप्रा-
प्तिबललब्धविधिशक्तित्वेन सर्वयज्ञार्थत्वेन तादर्थ्यचतुर्थ्या ध्रौ-
वविधानाच्च । न चात्राऽऽज्यानुवादेन ध्रौवतामात्रस्य लाघ-
वेन विधिप्रतीतेः न दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके वा सामान्यतोऽप्राप्ता-
ज्यके तद्विधिसम्भव इति वाच्यम् । यज्ञाङ्गभूताज्यानुवादेन त-

द्विधौ विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तेः, आज्यमात्रानुवादेन तद्विधौ चाऽलङ्कारणादावपि तदापत्तेः यज्ञपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, तदुद्देशेनाऽत्र ध्रौवाज्यस्यैव विधिप्रतीतेः बाधकाभावात् ।

न चैवमुभयाकाङ्क्षाबलेनैव तत्प्राप्त्युपपत्तेः विधिवैयर्थ्यम्, तद्वलेनाऽलङ्कारणादिष्वयज्ञेष्वपि तत्प्राप्तिसम्भवेन तस्य तद्व्यावृत्तिफलकत्वात् । अत एवाऽलङ्कारणादौ जोहवादिग्रहणेन निराकाङ्क्षस्याऽप्याज्यस्थाल्याज्यस्यैव विनियोगः, न तु ध्रौवस्य । तस्माद्द्रव्यं तावन्निर्वाधम् ।

देवताऽप्याज्यभागक्रमाग्नातानामपि वार्त्रेण्रीवृधन्वतीमन्त्राणां (१) 'वार्त्रेण्री पौर्णमास्यामनूच्येते वृधन्वत्यमावास्याया'मिति वचनेन क्रमं बाधित्वा विद्वद्वाक्यविहितकर्माङ्गत्वेन विनियुक्तत्वात्, तदन्यथानुपपत्तिकल्प्या अग्नीषोमरूपाऽत्र मान्त्रवर्णिकी । न चाऽबाधेनोपपत्तौ बाधायोगादाज्यभागयोरेवाऽव्यवस्थया प्राप्तानां मन्त्राणां व्यवस्थामात्रकरणेन वचनोपपत्तेः मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पने प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । आज्यभागयोः पौर्णमास्यभावास्याकालकर्तव्यत्वस्य विध्यभावेनाऽप्राप्तत्वात् तिथ्यन्तरक्रियमाणविकृतिषु वार्त्रेण्र्यादिप्राप्त्यभावापत्तेश्च । पौर्णमास्यां यावाज्यभागौ तत्र वार्त्रेण्री इति कालकृतव्यवस्थानुपपत्तेरेतद्वाक्यस्थपौर्णमास्यभावास्यापदाभ्यां प्रसिद्धनामधेयत्वेन विद्वद्वाक्यस्थकर्मणोरेव लक्षणयोपस्थापनावगमादाज्यभागयोश्चैतत्पूर्वपक्षे समप्राधान्यस्य वक्ष्यमाणत्वेन विद्वद्वाक्यविहितकर्मानङ्गत्वात् पौर्णमास्यभावास्यापदाभ्यां तत्तद्वाक्यविहितकर्माङ्गभूताज्यभागलक्षणायां गौरवापत्तेश्च । एतद्वाक्यविहितपौर्णमास्याख्यकर्माङ्गभूताज्यभागयोर्वार्त्रेण्री इति कर्मकृतव्यवस्थया

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १५९

अप्यनुपपत्तेर्लाघवेन एतद्वाक्यविहितकर्माङ्गत्वेनैव मन्त्रविध्यव-
गमात् मान्त्रवर्णिकदेवताविधानोपपत्तेः । एवं सत्यप्येतयोर्ग्र-
न्थीषोमीयादिवदन्यदेवताकत्वमवगतं स्यात्, ततो वाक्येन लि-
खायायोगादगत्या विशिष्टलक्षणामङ्गीकृत्य गौरवमपि(१) 'मिथश्चा-
ऽनर्थसम्बन्ध' इति तृतीयस्थाधिकरणन्यायेनाऽऽश्रियेत, न तु तद-
स्ति । अत एवोपक्रमस्थपौर्णमास्यमावास्याप्रातिपदिकगतविशिष्ट-
लक्षणगौरवभिया उपसंहारस्था सप्तम्येव 'तत्र जयाञ्जुहुया'
दितिबल्लक्षणाया प्राधान्यं प्रतिपादयन्ती न दृश्यति । अतो-
ऽग्नीषोमप्रकाशकयोर्वात्रैर्ग्रयोर्ऋचोः पौर्णमासीकर्माङ्गत्वात्तादृ-
शयोरेव च वृधन्वत्योरमावास्याकर्माङ्गत्वादेकैकस्मिन् कर्मणि
मन्त्रद्वयस्य दृष्टार्थत्वेन विकल्पपावगतेः देवताद्वयस्याऽपि विकल्पः ।
एतयोश्चाऽनुवाक्यासमाख्यातत्वेऽपि न देवतालक्षणा, 'याज्या-
नुवाक्या' इति स्मरणात् तत्तद्देवत्ययाज्यान्तरकल्पनं द्रष्टव्यम् ।

वस्तुतस्तु वार्त्तग्रीखाद्येकपदोपादानसामर्थ्यात् द्वयोरपि म-
न्त्रयोः साहित्यप्रतीतेः न विकल्पः । अतश्च मान्त्रवर्णिकदेवताद्वय-
स्याऽपि समुच्चयादेकैकस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादिवदावृत्तिः, समुच्चित-
याज्याद्वयकल्पनञ्च । अस्तु वा मन्त्रद्वयेनाऽपि लाघवाद्वासज्य-
वृत्त्येकदेवतात्वकल्पनम्, उभयप्रकाशकैकयाज्याकल्पनं च । स-
र्वथाऽस्ति विद्वद्वाक्यविहिते कर्मणि देवता ।

यत्तु वार्तिके अनयोरेवैका अनुवाक्या, एका याज्या, उभ-
यत्राऽपि मनोतान्यायेनोभयत्र लक्षकत्वमङ्गीकृत्या कल्पनीयेत्यु-
क्तम्, तत् अनुवाक्यासमाख्यावाधापत्तेर्लक्षणार्था प्रमाणाभावा-
च्चोपेक्षितम् । आज्यभागयोस्तु 'तौ होचतुरग्नीषोमौ किपात्रयोर्व-
स्तु तत्स्या' इति प्रकृतयोरग्नीषोमयोः 'यस्यैककस्यै देवतायै ह-

१. जै. सू. ३. १. २३.

२१ भा०कौ०

विर्निर्बपन्नाज्यस्यैव नौ यज' न्नित्यत्र पुराकल्पसरूपार्थवाद-
कल्पये विधौ 'नौ' इत्यनेन द्वितीयान्तेन देवतात्वस्य 'विष्णुं
यजती' तिवदुक्तत्वात्, 'अग्नीषोमाभ्यामाज्यभागौ यजती'ति-
वचनेनैव वा तद्विधानात् तदनुरूपानुवाक्याकल्पनम् । याज्या
तु क्रमप्राप्ता अव्याहृतैव । अतश्च विद्वद्वाक्यविहिते कर्मणि क-
र्मरूपसत्त्वान्न विधानायोग्यत्वम् ।

अथ वाऽस्तु(१) एतद्वाक्यविहितकर्मानुवादेन समिदादि-
वाक्ये देवताविधिः, समुच्चयज्ञापकसत्त्वाच्च(२) समुच्चयः । न
चोपांशुयाजे समिदादिदेवताविधौ 'विष्णुरूपांशु यष्टव्य' इत्या-
द्यर्थवानुपपत्तिवदिह काचिदनुपपत्तिरस्ति । अस्तु वा (३)अ-
व्यक्तत्वसादृश्यात् सौमिकधर्मातिदेशः । न च वाचनिकपौर्ण-
मास्यमावास्या(४)कालसम्बन्धबाधप्रसङ्गात् पार्थसारथ्युक्तानति-
देशः, वाचनिककालानुरोधेन सुत्यान्यकालीनाङ्गबाधेऽपि त-
त्कालीनाङ्गानामतिदेशोपपत्तेः । प्रयाजानां तु मान्त्रवर्णिकदेवता-
कत्वेन व्यक्तत्वात् कृत्स्नविधानाच्च(५) न सौमिकधर्मातिदेश
प्रसक्तिरिति न तत्प्रतिबन्धापादनं(६) शक्यम् । तस्माद्रूपोपपत्तेः
(७)कर्मान्तरविधी एताविति सिद्धम् ।

एवञ्च फलवाक्येन षण्णामेव फलसम्बन्धस्सिध्यति । तथा
हि-सर्वत्र प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेणाऽप्रसिद्धपदार्थनिर्णयः ।
तद्यत्र नामधेयं प्रसिद्धम्, यथा चतुर्थान्यन्यायेन ज्योतिष्टोमप-
दं सोमयागे, तत्र प्रकृतमात्रग्राहियजिनिर्णयः । यत्र वा यजि-

१. एतत्कर्मानुवादेनेति क. पु. २. तासां समुच्चय इति क. पु.
३. अव्यक्तत्वादिति क. पु. ४. कालबाधप्रसङ्गादिति क. पु.
५. सौमिकधर्मातिदेशप्रसङ्गानुपपत्तेरिति क. पु.
६. अनाशङ्क्यमेवेति क. पु. ७. कर्मान्तरविधिरेवेति क. पु.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १६१

पदं यागमात्रे प्रसिद्धम्, नामधेयं तु राजसूयादिरूपं प्रकृतया-
गायागमात्रपरं सम्भाव्यते, तत्र यजिनैव चतुर्थपादाद्यन्यायेन
नामधेयनिर्णयः । न च राजा सोमसूयते अभिषूयतेऽस्मिन्निति
व्युत्पत्त्या राजसूयपदस्याऽपि सोमयागमात्रे ज्योतिष्टोमपदवत्प्र-
सिद्धार्थकत्वात् तेनैव यजिनिर्णयोपपत्तेः कथं यजिना नामधेय-
निर्णयः ? राज्ञा क्षत्रियेण सूयते निष्पाद्यते असाविति व्युत्पत्त्या,
राजा क्षत्रियः सुनोति स्नाति अभिषेकेणाऽऽर्द्धीक्रियतेऽस्मिन्निति
व्युत्पत्त्या वा सर्वेष्वपीष्टिपशुसोमयागेषु राजसूयपदप्रवृत्तिसम्भ-
वेन तस्य प्रसिद्धार्थकत्वाभावात् यजिना तन्निर्णयोपपत्तेः । त-
दिह दर्शपूर्णमासाभ्यामिति द्विवचनान्तं नामधेयमपि न प्रसिद्धा-
र्थम् । द्वित्वस्याऽऽज्यभागादौ प्रसिद्धत्वेऽपि प्रातिपदिकस्य का-
ऽप्यप्रसिद्धत्वात् ।

न च तस्याऽपि पौर्णमास्यमावास्याकालरूपस्वशक्यसम्ब-
न्धेनाऽस्त्याग्नेयादौ प्रसिद्धिः, दर्शपूर्णमासपदस्य पौर्णमास्य-
मावास्यापदाद्भिन्नत्वेन तदर्थ(१)वाचकत्वे प्रमाणाभावात् । अत
एव पौर्णमास्यमावास्यानामकयोरपि विद्वद्वाक्यद्वयविहितकर्मणो-
र्दर्शपूर्णमासपदेना ग्रहणम् । न चैवमपि द्वित्वमात्रस्यैव प्रसिद्धेः
तदनुरोधेन यजिना आज्यभागयोरैवोपादानोपपत्तेस्तयोरैव फ-
लसम्बन्धापत्तिः, आग्नेयवाक्ये यागद्वयविधानस्याऽनुपदमेव व-
क्ष्यमाणत्वात् तावादाय विनिगमनाविरहात् । अतो द्विवचनप्र-
तिरूपकमव्ययमिदं यजिसामानाधिकरण्यात् प्रकृतयागवाचक-
त्वेन निर्णयते इति राजसूयन्यायेन सर्वेषां फलसम्बन्धान्न ष-
ड्यागमात्रवृत्ति फलम् ।

अस्तु वा पूर्वोक्तनामैकदेशत्वादियुक्तिनिचयबलेन दर्शपूर्णमास-

शब्दस्य शक्त्या पौर्णमास्यमात्रास्याकालवाचित्वं निरूढलक्षणया च तद्योगिकर्मपरत्वम्, तथाऽपि आग्नेयादीनां षण्णां विद्वद्वाक्यविहितयोश्च कर्मणोः कालयोगस्याऽविशेषाद्दर्शपूर्णमासपदेन ग्रहणोपपत्तेः, द्विवचनस्य च(१) पाशाधिकरणन्यायेन बहुत्वलक्षणार्थत्वेऽपि बाधकाभावादष्टानामेव फलसम्बन्धोपपत्तेः न षण्णामेव सः । अथ वा विद्वद्वाक्यविहितकर्मणोः पौर्णमास्यमात्रास्यासंज्ञकत्वप्राप्तिध्या तत्पर्यायदर्शपूर्णमाससंज्ञकत्वस्याऽपि प्राप्तिधेः, मिद्धान्तवत्पूर्वपक्षेऽपि प्रचयाशिष्टद्वित्वप्राप्तिध्युपपत्तेः, तयोरेव फलसम्बन्धान्न षण्णामेव सः । अपि चाऽऽग्नेयद्वये पौर्णमास्यमात्रास्याकालत्वेन प्रातिपदिकप्राप्तिधेरेकवाक्योपादानावगतद्वित्वप्राप्तिध्या च द्विवचनप्राप्तिध्युपपत्तेस्तस्यैव फलसम्बन्धान्न षण्णामेव सः । तस्माद्यस्य कस्यचित्फलसम्बन्धेऽपि विद्वद्वाक्ययोः कर्मान्तरविधित्वमव्याहतमिति प्राप्ते-

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते— नाऽत्राऽभ्यासस्वरूपमस्ति, 'यजन' इत्यस्य वर्तमानापदेशत्वेन विधित्वाभावात् । न चाऽप्राप्तार्थकत्वेन लेट्त्वनिश्चयः, आग्नेयादियागानां प्राप्तानामेवाऽनुवादसम्भवेन तदसिद्धेः । प्रत्युत यच्छब्दैर्वशब्दसमभिध्याहारेणाऽनुवादत्वोपोद्धलनाच्च । न च तयोर्वेदनमात्रविधिप्रतिबन्धकत्वेऽपि न यागविधिप्रतिबन्धकत्वम्, तस्य तच्छब्दसमभिध्याहारावधिकसमभिध्याहृतमात्रवृत्तिविधिप्रतिबन्धकत्वस्य(२) 'देवांश्च याभिर्पूजत' इत्यत्र साधितत्वात् । एवं सत्यपि यच्छब्दस्य प्राप्तिस्योतनमात्रकारित्वात् यदि प्रमाणान्तरेण विशेषणस्य विशेष्यस्य विशिष्टस्य वा प्राप्तिर्न भवेत्, ततोऽगत्या विधिरप्यङ्गीक्रियेत । अत एव

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १६३

‘यो दीक्षितो यदग्नीषोमीय’मित्यत्र यञ्छब्दो दीक्षामात्ररूपविशेषणप्राप्तिद्योतक एव, यागस्त्वप्राप्तत्वाद्विधेय एवेति विशेषः । अतश्च यञ्छब्दोपबन्धादपि न लेद्वानिश्चयः ।

न चाऽऽनर्थक्यप्रसङ्गात्तन्निश्चयः, तदसिद्धेः । तथा हि-यजत इत्यनेन तावदेकैकेन प्रकृतत्वाविशेषेऽपि तत्तन्नामधेयसामानाधिकरण्यात् श्रुततत्कालयोगिन एव त्रयो यागा अनुच्यन्ते । तेषां च पौर्णमास्यमात्रास्यापदं तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयम् । ततश्च त्रयाणामेकशब्दोपादानादेकप्रतीतिविषयत्वाच्च समुदायप्रतीतिः । अत एव ‘पौर्णमासी’ मित्याद्येकवचनं स्वाश्रयघटकवृत्तित्वसम्बन्धेन बहुत्वलक्षणार्थम् । द्वितीया तु यागानां(?)अर्थाक्षिप्तकर्मानुवादिनी मन्यते यथाश्रुतैव । अत्र समुदायस्य चाऽनुवदितारौ समुदायवचनावेताविति यथाश्रुतमाष्याद्यनुसारात्तन् पौर्णमास्यमात्रास्यादिशब्दा आग्नेयादिसमुदायवचना इति न भ्रमितव्यम्, तयोः कालयोगाभावेन तत्प्रख्यन्यायाविषयत्वात् मानान्तराप्रमितत्वेनाऽनुवादायोगाच्च, यजिना तदनुवादे लक्षणापत्तेश्च । अतश्च समुदायिनामेव समुदायसिद्ध्यर्थगनुवाद इति द्रष्टव्यम् ।

तत्प्रयोजनं च फलवाक्ये निमित्तवाक्ये चाऽनूयमानानामेव फलादिसम्बन्धसिद्धिः । तथा हि-दर्शपूर्णमासशब्दस्य पौर्णमास्यमावास्याशब्दपर्यायत्वस्य स्थापितत्वात् तत्संज्ञकानामाग्नेयादीनां षण्णामेव फलादिसम्बन्धित्वेन यजिनोपादानं सिद्धं भवति । तत्रत्यद्विवचनस्य च बहुत्वलक्षणार्थां स्वाश्रयघटकवृत्तित्वरूपशक्यसम्बन्धेऽपि प्रमापिता भवति ।

न चैतद्वाक्याभावेऽपि दर्शपूर्णमासप्रातिपदिकस्य श्रुतका

लयोगिष्वाग्नेयादिष्वेव प्रवृश्युपपत्तेः, द्विवचनस्य च स्वाश्रयकालीनयागवृत्तित्वसम्बन्धेन बहुत्वलक्षणोपपत्तेः षण्णामेव फलादिसम्बन्धः (१)सिध्यतीति वाच्यम् । एतद्वाक्याभावे साक्षात्सम्बन्धेन कालद्वित्वोभययोगिनोराग्नेययोरेव तत्सम्बन्धापत्तौ बहुत्वलक्षणायां प्रमाणाभावेन षण्णां फलादिसम्बन्धासिद्धेः । अतस्तत्सिध्यर्थोऽयं समुदायानुवादः । सति ह्यस्मिन्ननुवाद आनर्थक्यभिया तत्प्रयोजनजिज्ञासायां फलवाक्यस्थद्विवचनस्य उक्तसम्बन्धेन बहुत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वावसायात् षण्णां फलसम्बन्धासिद्धिः सुलभैव ।

ननु नाऽऽग्नेयभेदे प्रमाणमस्ति । न तावदेकस्मिन् कर्मणि सम्भवन्निवेशः समुच्चितकालद्वयलक्षणो गुणः, तस्याऽऽवृष्यापि निवेशोपपत्तेः । अन्यथा सायम्प्रातःकालभेदेनाऽग्निहोत्रस्याऽपि भेदापत्तेः । न च कालस्याऽनुपादेयत्वेनोद्देश्यत्वात् तदनेकत्वनिमित्तवाक्यभेदापत्त्या गुणविधयैव भेदकत्वोपपत्तिः, कालस्योद्देश्यत्वेऽप्यङ्गत्वापरपर्यायस्याऽज्ञातज्ञापनविषयत्वापरपर्यायस्य च विधेयत्वस्य सत्त्वेन 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन' इतिवद्वाक्यभेदानापादकत्वात् । विधेयानेकत्वकृतं तु सत्यपि प्राप्तकर्मानुवादे 'अर्धमन्तर्वेदि मिनोती'तिवत् पौर्णमास्यमावास्यापदाभ्यां पूर्वलक्षणयोभयविधानोपपत्तौ यत्र परिहर्तुं शक्यः, तत्राऽपूर्वकर्मविधौ पिण्डपितृयज्ञवाक्य इव कालद्वयविशिष्टकर्मविधानोपपत्तेः कथं न शक्यते परिहर्तुम् ।

नाऽप्यनुपादेयगुणयोगरूपं प्रकरणान्तरं तद्भेदकम् तस्य 'सन्निधौ त्वविभागा'दिति न्यायेन सन्निधावप्रवृत्तेः । किञ्च संख्याव्यतिरिक्तभेदकप्रमाणानां वाक्यान्तरविहितकर्म-

प्रतियोगिकभेदकत्वनैयत्यस्य पार्थसारथिनोक्तत्वान्न स्ववाक्य-
विहितकर्मप्रतियोगिकभेदबोधकत्वं तयोः सम्भवति । अतश्च
(१) आग्नेयैक्यस्यैव पार्थसारथ्युक्तस्य युक्तत्वात् कथं तावादाय
फलसम्बन्धापत्तिरिति चेत्,

न; आग्नेयद्वित्वे गुणस्यैव भेदकत्वात्। तथा हि—यो हि पदार्थो
भेदमावृत्तिं वा विना न कर्मान्वययोग्यः, स उत्पत्तिवाक्यस्थस्सन्
कर्मभेदं बोधयति, उत्पन्नवाक्यस्थस्तु(२) पदार्थः तदावृत्तिम् ।
(३) दृष्टञ्चैतत् सङ्ख्यायाम् । अतश्च समुच्चितकालद्वयरूपगुणो-
ऽपि भेदमावृत्तिं वा विना कर्मान्वयप्रमतिपद्यमान उत्पत्तिवा-
क्यस्थत्वादिह कर्मभेदं बोधयति, उत्पन्नवाक्यस्थस्तु सायं प्रातः
कालरूपमावृत्तिम् । अत एकस्मिन् कर्मण्यसम्भवन्निवेशो गुण
एव समुच्चितकालद्वयरूपो भेदकः । यथा चैवं सति सङ्ख्याया
न गुणान्तर्भावस्तथा(४) सङ्ख्याधिकरणे वक्ष्यते । प्रमाणबलेन
च गुणस्य स्ववाक्यविहितकर्मप्रतियोगिकभेदबोधकत्वेऽपि न
दोषः । अत एव पार्थसारथ्युक्तमुत्पत्तिशिष्टगुणावरोधे वाक्य-
भेदापत्तौ च गुणात् भेद इति द्वैविध्यं प्रमाणाभावेनैवाऽषास्तम्,
'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यत्रैकप्रसरताभङ्गप्रसङ्गेन तस्य भेदक-
त्वाङ्गीकारात् ।

न च वषट्कर्तृ(५)भक्षोद्देशेन प्राथम्यविधौ(६) विशिष्टोद्दे-
शापत्तेः वाक्यभेदाभिधेयैव गुणस्तद्भेदक इति वाच्यम् । वषट्क-
र्तृत्वे निमित्ते भक्षानुवादेन प्राथम्यविधावपि विजातीयोद्देशे तद-

१. आग्नेयैकत्वस्यैवेति. क. पु.

२. पदार्थ इति नास्ति क. पु. ३. व्यक्तञ्चेति. क. पु.

४. पू. मी. २. २. ७

५. भक्षानुवादेनेति क. पु.

६. विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तेस्तन्नियैवेति क. पु.

भावादेकप्रसरताभङ्गभयेनैव तस्य भेदकत्वात् । अतो यथाकथञ्चिदेककर्मण्यनिविशमानस्यैव गुणस्य भेदकत्वात् सिद्धोऽत्राऽपि गुणाद्भेदः । भेदोऽपि चाऽत्र सङ्ख्यावदानेकत्वबोधनद्वारैव बोध्यते, न तु किञ्चित् प्रतियोगिकः, प्रमाणान्तरवत् प्रतियोगिनः पूर्वमप्रसिद्ध्या तन्निरूपितभेदस्य बोधयितुशामक्यत्वात् । तस्मादाग्नेयभेदः ।

केचिच्चत्र (१)प्रकरणान्तरन्यायेन भेदं समर्थयन्ते । तथा हि—यद्यनिविशमानत्वेनाऽनुपादेयस्थलेऽपि गुणस्यैव भेदकता, ततो 'मासमग्निहोत्रमित्यत्रापि तस्यैव भेदकत्वोपपत्तेः कृतं प्रकरणान्तरेण । अतोऽनुपादेयत्वावाच्छिन्नं प्रति तावत् प्रकरणान्तरस्यैव भेदकतेति स्वीकर्तव्यम् । न चैवमप्यसन्निध्यभावात् कथं तस्य भेदकता ? भेदबोधकतादशार्थां तत्प्रतियोगिककर्मोपस्थित्यभावरूपस्याऽसन्निधेर्मासाग्निहोत्रवादिहापि तुल्यत्वादि-त्याहुः—तन्न, मासाख्यगुणस्याऽपूर्व(२)कर्मण्यसन्निविशमानत्वेऽप्यसन्निध्युपपत्तत्वेन स्वतो भेदकत्वात् गुणवैलक्षण्येन प्रकरणान्तरत्वोपपत्तेः । अत एव सन्निधौ सायं जुहोतीत्यत्र न तस्य भेदकत्वम् ।

किञ्चाऽसन्निधिः किमुपस्थित्यभावः ? उपस्थापकप्रमाणाभावो वा ? नाऽऽद्यः, अत्यन्तविस्मरणशीलस्य 'सायं जुहोती'त्यादावपि उपस्थित्यभावे भेदप्रमापत्तेः । 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यादावपि अस्यन्तमेधाविनः तत्सम्भवे भेदप्रमानुपपत्तेश्च । अन्त्येऽपि ज्ञातस्य वा भेदबोधकता ? उताऽज्ञातस्य वा ? अन्त्ये उपस्थापकस्य प्रमाणस्य प्रकरणादेः भ्रमात्मकोपस्थितावपि 'मासमग्निहोत्रं जुहोती'त्यादौ वस्तुतः प्रमाणाभावस्य सत्त्वा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १६७

म् भेदप्रमाबोधोपत्तेः । आद्ये तु आग्नेयवाक्ये भेदप्रतियोगिनो-
ऽप्रसिद्धेः तदुपस्थापकप्रमाणभावज्ञानस्याऽशक्यत्वात् भेदबोधा-
सम्भवः । मासाग्निहोत्रादौ तु नित्याग्निहोत्रविधिनोपस्थितस्य
प्रतियोगिन इहोपस्थापकप्रमाणाभावस्य ज्ञातुं शक्यत्वादसन्धि-
ध्यविघातः । तस्मात् गुणादेवाग्नेयभेदः । विस्तरेण चैतत् प्रक-
रणान्तरन्यायशरीरोपपादनप्रस्तावे उपपादयिष्यते ।

अतश्चाग्नेयभेदात् समुदायानुवादाभावे तयोरेव फलसम्ब-
न्धापत्तेः तद्व्यावृत्तिफलकतया षण्णां फलसम्बन्धसिद्धिरेव समु-
दायानुवादप्रयोजनमिति सिद्धम् । (१)विशेषाच्चेदं (२)चतुर्थे
उपपादयिष्यते । अतश्चानर्थक्याभावादपि न तद्भयेन विधि-
त्वनिश्चयः । अर्थवादस्त्वेतद्वाक्यफलीभूतसमुदायस्तावक एव
सन् प्रयोगविधिबोध्यप्रवृत्तिप्रतिबन्धकीभूतालस्यनिवृत्तावेव पर-
म्परासम्बन्धेनोपयुज्यत इति न सोऽपि विधित्वनिश्चायकः ।
अस्तु वा विधिनत्वनिश्चयः, तथाऽपि फलसम्बन्धसिध्युपयोगि-
समुदायफलकत्वेन तस्याऽन्यपरत्वान्नाऽभ्यासस्वरूपसद्भावः स
मस्तीति न कर्मान्तरम् । अत एवैतद्वाक्यविहितकर्मानुवादेन स-
मिदादिदेवताविधिः, ज्योतिष्टोमधर्मातिदेशः, अन्यदपि वा देव-
ताप्रापकं नैवोपन्यसनीयम् । ज्यौतिष्टोमिकधर्मातिदेशस्तु सोम-
विधेदक्षिणीयाद्यङ्गद्वारेण दर्शपूर्णमासविध्युपजीवित्वात् तयो-
रपि तदुपजीवित्वेइतरेतराश्रयापत्तिरिति भवदेवोक्तप्रकारेणाऽपि
निराकर्त्तव्यः । वार्ज्ज्नीवृधन्वत्योस्तु लिङ्गक्रमाभ्यामाज्यभागा-
त्त्ववगतेः न विद्वद्वाक्यविहितकर्मणि देवताविधायकत्वम् । न च
ब्राह्मणवाक्येन तयोर्बाधः, अबाधेनाऽप्युपपत्तौ बाधायोगात् ।

किञ्च ब्राह्मणवाक्यमपि स्वरमेनाऽऽज्यभागपरतामेव मन्त्र-

स्याऽवगमयति । अन्यथा पौर्णमास्यमावास्याप्रातिपादिकयोः कर्मपरत्वे लक्षणापत्तेः, सप्तम्याः प्राधान्यलक्षणकत्वापत्तेश्च । अपूर्वविधित्वाङ्गीकारे अश्रुतदेवताविधिकल्पने अश्रुतयाज्यान्तरकल्पने आज्यभागयोश्चाऽश्रुतानुवाक्याकल्पने गोरवापत्तेश्च । अतो मन्त्रचतुष्टयस्याऽप्याज्यभागाङ्गतया अनियमेन प्राप्तस्य नियममात्रं विधिवाक्येन क्रियते, लाघवात् । पौर्णमास्यमावास्याप्रातिपादकाभ्यां शक्त्या काल एव प्रतिपाद्यते, सप्तम्या चाऽधिकरणत्वं वा । अतश्चाज्यभागाङ्गतया प्राप्तयोर्वर्त्रिघ्नयोः पौर्णमासीनिमित्तकत्वं, तादृशयोश्च तृधन्वत्योर्मावास्यानिमित्तकत्वमिति सम्भवति, पौर्णमास्यमावास्यायोस्तन्निमित्तकता, आज्यभागयोः तत्कालीनप्रधानाङ्गत्वेन तत्कालकत्वात् । निमित्तसम्बन्धप्रयोजनं च व्यवस्थासिद्धिरिति नियमफलकत्वं लाघवं च ।

वस्तुतस्तु न कालस्य निमित्तता, आज्यभागयोः प्रतिपादिक्रियमाणत्वेन तत्कालीनत्वाभावात् । न च खण्डपर्वाणि कदाचित् तत्कालकत्वसम्भवात् निमित्तत्वोपपत्तिः; तथान्वे सम्पूर्णपर्वाणि तत्कालिकत्वासम्भवेन मन्त्रनिवृत्तिरूपशेषपरिसंख्याफलकत्वापत्तेः । अतः शेषनियमरूपलाघवानुरोधेन पौर्णमास्यमावास्यापदं तत्कालीनप्रधानाङ्गभूताज्यभागलक्षकम् । प्रधाने तत्कालीनता च प्रयोगारम्भद्वारिकैव, न तु साक्षात्, प्रधानस्य तस्मिन् काले नियमेनाऽकरणात् । अत एव प्रकृतौ सर्वत्र पौर्णमास्यादिकालाविधिः वचनान्तरानुसारादारम्भद्वारक एव । सप्तमी च प्राधान्यपरा । तेन तादृशाज्यभागयोर्मन्त्रविशेषविधानात् प्रकृतौ सर्वदैव व्यवस्थासिद्धिः । विकृतौ च पौर्णमासीविकारस्याऽमावस्याविकारस्य वा यस्मिन् कस्मिंश्चित् दिने करणेऽपि चार्त्रघ्नीवृधन्वकोर्म्यवस्थासिद्धिः । अतो 'चार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामि'

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १६९

त्येतद्वाक्यद्वयमेव स्वगौरवपरिहारार्थमाज्यभागाङ्गत्वं मन्त्रस्याऽ-
प्यनुजानातीति न तद्वलेन विद्वद्वाक्यविहिते कर्माणि देवताविधिः
सम्भवतीति देवताभावादपि समुदायानुवादत्वम् । न चैवं सर्व-
स्य वाक्यस्याऽनुवादकत्वे अनधिगतार्थगन्तृत्वरूपप्रामाण्याना-
पत्तिः, शक्यार्थानुवादकत्वेऽप्यनधिगतसमुदायादिबोधकत्वेन प्रा-
माण्योपपत्तेः(१)र्षन्नाधिकरण एवोक्तत्वात् ।

नन्वेवं विद्वद्वाक्ययोरर्थवत्त्वेन प्रामाण्येऽपि 'पौर्णमास्यां पौ-
र्णमास्या यजेते'त्यादिवाक्ययोरानर्थक्येनाऽप्रामाण्यापत्तिः स्यादे-
व, काळस्याऽऽग्नेयादिषु पौर्णमास्यादिपदाभिधेयेषूत्पत्तिवाक्यै-
रेव प्राप्तत्वादिति चेत्—न; एतद्वाक्याभावे हि उत्पत्तिवाक्येऽ-
पि श्रुतः पौर्णमास्यमात्रस्याकाळः फलसम्बन्धोत्तरकाळं प्रयोग-
विधिकल्पनवेलायां काळस्य प्रयोगद्वारैवाऽङ्गत्वादुत्पत्तिवाक्ये प्र-
सेकश्रुत्यनुरोधेन प्रत्येकमेव(२) 'अग्नयेऽनीकवते प्रातः पुरोडाशः
मष्टाकपालमि' त्यादावनीकवत्यादिप्रयोगवत् प्रयोगं कल्पयति ।
न च प्रत्येकप्रयोगकल्पने एकफलसाधनत्वानुपपत्तिः, प्रत्येकं
प्रयुक्तानामप्याग्नेयादीनामनीकवत्यादिवदेव अपूर्वरूपेणैकक्षण-
वृत्तित्वेन फले साहित्योपपत्तेः । अत एव 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां
यजेते' त्यनेन देशत्रिधेः प्रयोगविधित्वात् षण्णां दैशिकसाहि-
त्यावगमेऽपि एकस्मिन्नेव समे तिसृषु पौर्णमासीष्वमावास्यासु
चैकैकप्रधानस्याऽन्वाधानप्रभृतिप्राश्न्यणतर्पणान्ताङ्गविशिष्टस्य प्र-
योगोऽपि नाऽनुपपन्नः । न चैवमपि लाघवादेकस्यामेव पौर्णमा-
स्याममावास्यायां च तत्तत्कालीनप्रयोगत्वोपपत्तेः पौर्णमास्या-
दित्रयप्रसङ्गे प्रमाणाभावः । दृग्दृशकालीनत्वप्रातःकालीनत्वयोरपि
वचनान्तरप्रमितत्वेनैकस्यां तिथाविष्टित्रयकरणे तद्वाच्यप्रसङ्गात् ।

अतः 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेते' त्येतद्वाक्यद्वयाभावे प्रत्येक-
मेव साङ्गानामग्नेयादीनां करणापत्तिः ।

यच्च वार्तिके एकफल (१) सम्बन्धानुरोधादेकस्यैव प्रयो-
गविधेः कल्पनम् । तत्र चोत्पत्तिकालानुरोधात्त्रिषु पौर्णमासीषु
प्रधानत्रयम् । लाघवादेकस्यामेव वा तत् । एवममावास्यायाम-
पि । अतश्च मासत्रयकालीनः पक्षद्वयमात्रकालीनो वा एक एव
षण्णां प्रयोगः, तदन्तःपातीनि चाऽङ्गानि सर्वाण्यपि सकृदेव
सवनीयपञ्चङ्गानामिव क्वचित्क्वचित् कर्तव्यानीत्येतद्वाक्याभा-
वेऽनुष्ठानमुक्तम् ; तत् राजमूयचातुर्मास्यादिष्वपि एकफलाधन-
त्वेनैकप्रयोगत्वापत्तेरौत्पत्तिककालभेदेऽपि च तत्काले प्रधान-
मात्रकरणेन तावत्कालीनप्रयोगैक्योपपत्तौ अङ्गानामपि सकृत्कर-
णापत्तेरुपेक्षितम् । यथा च सवनीये नाऽङ्गावृत्तिः, तथा (२) आ-
चार्याग्निहोत्राधिकरणे वक्ष्यते । अत उत्पत्तिवाक्येषु नैरपेक्षयेण
कालस्य श्रवणात् प्रत्येकमेव प्रयोगाणामेतद्वाक्यद्वयाभावे कल्प-
णापत्तेरेतद्वाक्यद्वयसत्त्वे च त्रयाणां त्रयाणामेकप्रयोगसिद्धेः त-
स्तिद्धिरेव वाक्यद्वयप्रयोजनमिति नाऽऽनर्थक्यम् । तथा हि—

पौर्णमासीशब्दवाच्यानां त्रयाणां प्रधानानां स्वरूपेण प्रा-
प्तानामपि प्रयोगविषयत्वेनाऽप्राप्तत्वात् पौर्णमासीकाले उपादेय-
त्वावगमात् पौर्णमासीकालविशिष्टप्रधानत्रयप्रयोगविधानावगतेः
प्रयोगस्य च (३) एकादशाधिकरणन्यायेन साङ्गतावत्प्रधानविषय-
त्वाद्भ्रंसाहित्यस्य प्रधानगतपरस्परसाहित्यस्य च विधेयविशेषण-
त्वेन विवक्षितत्वात् एकस्मिन् काले युगपत् साङ्गप्रधानत्रयकर्त-
व्यतासिद्धिः । एवममावास्यावाक्येऽपि द्रष्टव्यम् । एवं च साङ्गवि-

कालिकप्रयोगविधिभेदे देशवाक्येन षण्णामेकप्रयोगस्य विधाना-
देकस्मिन्नेव देशे षण्णां (१)साङ्गानां कर्तव्यताऽपि सिद्धा भ-
वति । सर्वे हि देशकालादयः प्रयोगविशेषणत्वेनैवाऽन्वयं भज-
मानाः स्वसम्बन्धिज्ञं प्रयोगं विनिगमनाविरहात् कल्पयन्ति ।
अतश्च तत्तद्वाक्ये कालादिविशिष्टप्रयोगविधिसिद्धिः ।

न च उत्पत्तिवाक्ये नैरपेक्षेण कालश्रवणात् फलसम्ब-
न्धोत्तरकालं प्रयोगविधिकल्पने प्रत्येकमेव प्रयोगविधिकल्पना-
वगतेस्तदनुवादेनाऽत्र कालादिमात्रविधानोपपत्तेः प्रत्येकमेवाऽनु-
ष्ठानप्रसङ्गेन एतद्वाक्यसत्त्वेऽपि नेष्टसिद्धिरिति वाच्यम् । प्रत्येक-
प्रयोगविधिकल्पनातः पूर्वमेवैतद्वाक्यप्रवृत्त्यङ्गीकारेणाऽत्रैव प्रयो-
गविध्युपपत्तेः । अन्यथा तादृशानुष्ठानस्यैतद्वाक्याभावेऽपि सि-
द्धावेतद्वाक्यानर्थक्यापत्तेः । न चैवं 'य इष्ट्या पशुना सोमेन वा
यजेत, सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेते'ति वाक्येन स-
र्वासां विकृतीष्टीनामपि पर्वकालविशिष्टैकप्रयोगविधानादेकप्र-
योगतापत्तिः, तत्र (२)यत्तच्छब्दसमभिव्याहारात् तत्तद्विकृति-
प्रयोगानुवादेन कालमात्रविधानावगतेः तत्तद्विकृतिवाक्येष्वेव प्र-
त्येकप्रयोगविधिकल्पनाया अभ्यनुष्ठानात्, तत्तद्विलक्षणफलसा-
धनानां तासामेकप्रयोगविधिविषयत्वानुपपत्तेश्च । अतश्च 'य इष्ट्ये'-
तिवाक्येनाऽवगतमपि तत्तद्विकृतिप्रयोगसाहित्यमनुवाद्यगतत्वा-
दविवाक्षितम् । प्रकृते तु (३)कालविशिष्टभावनारूपस्य प्रयोग-
स्यैव विधेयत्वाद्युक्तैवेष्टसिद्धिरिति वैषम्यम् ।

न चैवमुत्पत्तिवाक्ये कालश्रवणवैयर्थ्यापत्तिः, तस्य फलस-

१. यागानमिति. क. पु.

२. यच्छब्दतच्छब्दसमभिव्याहारादिति. क. पु.

३. कालविशिष्टप्रयोगस्यैवेति. क. पु.

म्बन्धापादकफलवाक्यगतविद्वद्वाक्यादिगतपौर्णमास्यमावास्यादि-
पदप्रसिद्ध्यर्थत्वेनाऽर्थवत्त्वात् । अत एवोपांशुयाजस्थोत्पत्तिवाक्ये
कालसम्बन्धाभावेऽपि 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नाबुपांशु
पौर्णमास्यां यज' इति वाक्येन कालसम्बन्धात्फलसम्बन्धसिद्धिः ।
अतश्च कस्याऽपि वाक्यस्य वैयर्थ्याभावात्समुदायसिद्ध्यर्थं समु-
दायनुवादके एव विद्वद्वाक्ये इति सिद्धम् ।

सूत्रं तु—पौर्णमास्युपलक्षितयोर्विद्वद्वाक्ययोः, प्रकरणं
प्रकृतानुवादः, रूपावचनात् कर्मान्तरविध्यनुपपत्तेरिति व्या-
ख्येयम् ॥ ३ ॥

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां सर्वेषु ह्यप्र-
वृत्तिस्स्यात् ॥ २-२-४ ॥

यदि चैतौ कर्मान्तरविधी स्याताम्, ततो यदि सर्वेषां
समप्राधान्यम्, ततो विकृतिषु प्रधानस्याऽनतिदेशात् प्रयाजा-
दीनामप्राप्तेः, सौर्ये 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोती'त्यनेन प्रया-
जानुवादेन कृष्णलरूपविशेषविधिर्नोपपद्येत । यदि तु विद्वद्वाक्य-
विहितकर्मणोरेव प्रधान्यम् तत आग्नेयादीनामङ्गत्वेऽपि सौर्यस्यौ-
षधद्रव्यकत्वेनाऽऽग्नेयविकृतित्वस्यैवाऽऽवश्यकत्वात् तद्धर्माणा-
मवघातादीनामतिदेशेऽपि प्रयाजादीनामङ्गत्वेनाऽऽग्नेयादिसम-
त्वात् सौर्यादिष्वप्राप्तेः प्रयाजानुवादेन कृष्णलविधेरनुपपत्तिः तद-
वस्यैव । एवमाग्नेययोरेव प्राधान्यपक्षेऽपि द्रव्यसादृश्येन साम्ना-
द्याधिकारस्येव पक्षोः प्रयाजाङ्गत्वाभावात् तदनुवादेनैकादशत्वा-
दिविधव्यनुपपत्तिः । (१) अतो नैतौ कर्मान्तरविधी । अत्र च सू-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १७३

त्रेऽन्वाचयवाचिचशब्दोपादानात् यागाष्टकप्राधान्यपक्षे नाऽयं-
दोष इत्यव्यापकत्वादन्वाचयत्वं सूचितम् ॥ ४ ॥

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ २-२-५ ॥

नैतौ समुदायानुवादाौ, विधायकत्वेनाऽर्थवत्त्वसम्भवे उक्त-
प्रयोजनस्याऽपि समुदायानुवादत्वस्याऽनुपपत्तेः । अतः कर्म-
विध्यपेक्षया प्रयोजनवत्तरत्वेनाऽन्यपरत्वाभावादभ्यासादेव कर्म-
भेदासिद्धिः। एवञ्च 'पौर्णमासी'मित्येकवचनं कर्मैकत्वेनोपपद्यते ।
अन्यथा स्वाश्रयघटकवृत्तित्वसम्बन्धेन समुदायिवद्बहुत्वलक्षणा
स्यात् । अतोऽत्र तावत् कर्मविधिः । न च रूपाभावः, यदाग्ने-
यादिवाक्यैस्तद्विधानोपपत्तेः । तथा हि—तत्रत्यपौर्णमास्यमावा-
स्याशब्दाभ्यां विद्वद्वाक्यनिहितकर्मोद्देशं कृत्वाऽऽग्नेयादिरूपविधा-
नोपपत्तिः । एवञ्चैतेषु वाक्येष्वश्रुतयागकल्पनं विशिष्टविधिगौ-
रवं च नैवाश्रितं भवति । न चैवं वाक्यभेदः, अग्नीषोमीयसा-
न्नाय्यादिवाक्येषु तावदेकैकस्यैवोद्देशेन तन्निमित्तकवाक्यभेदस्य
तावदपसक्तेः । आग्नेयादिवाक्येऽपि पौर्णमास्यमावास्याशब्दल-
क्षणया 'अर्धमन्तर्वेदि मिनोती'तिवत्प्रकृतप्रधानयागस्यैवोद्देशात्
न तन्निमित्तो वाक्यभेदः । यदि तु (४)एतस्मिन्नपि पक्षे प्रया-
जादिसाधारण्येन सर्वेषां प्राधान्यमुच्येत, ततो रूपसाकाङ्क्षप्र-
कृतयागत्वस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकत्वेनोद्देश्यतावच्छेदकत्वोपपत्तेर्न
वाक्यभेदः ।

न चैवमपि द्रव्यदेवतारूपविधेयानेकत्वनिमित्तो वाक्यभेद-
स्तदवस्य एवेति वाच्यम् । तद्विदान्तपदेनैकेनैव देवताविशिष्टद्र-
व्यविशेषवाचिना विशिष्टस्यैकस्यैव प्राप्तभावनानुवादेन विधानो-

पपत्तेः । अत एव (१) गुणाधिकरणे बक्ष्यमाणन्यायेनाऽष्टाकपा-
 ष्टपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वात् तदंशे तद्विभक्तपदोपात्तताप्याशङ्कनी-
 या । अतश्चैकपदोपादानाद्वैशिष्ट्यबोधोपपत्तेर्न वाक्यभेदः ।
 यत्र तु 'पञ्चदशान्याश्यानी'त्यादौ भिन्नपदोपादानम्, तत्र भा-
 वनान्वयात्पूर्वं परस्परवैशिष्ट्याप्रतीतेः प्राप्तभावनानुवादेनोभय-
 विधौ युक्तो वाक्यभेदः; प्रकृते त्वेकपदत्वेन भावनान्वयात्पूर्व-
 येव द्रव्यदेवतावैशिष्ट्यप्रतीतेः, प्रत्युत तदनङ्गीकारे 'साऽस्य
 देवते'ति द्रव्यसम्बन्धाधिकारविहितदेवतातद्धितानुपपत्तेर्भावनान्व-
 यान्वयात्पूर्वमेव परस्परवैशिष्ट्यस्याऽऽवश्यकत्वात् प्राप्तभावनानुवा-
 देनाऽपि विशिष्टविध्युपपत्तेर्न वाक्यभेदः । अत एव न (२) पक्षे-
 कत्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन देवताया अविबक्षा, तद्वदिह प्राथ-
 मिकभावनान्वयस्य तद्धितभङ्गभयेनाऽव्युत्पन्नत्वात् ।

यस्त्र भवदेवेन पुरोडाशसाम्नाय्यादेः संस्कारविध्यन्य-
 थानुपपत्त्यैव प्राप्तत्वादाग्नेयादिवाक्यैर्देवतामात्रविधानात् न वा-
 क्यभेद इति परिहृतम्, तत् पुरोडाशादेः कथञ्चित् प्राप्तिः सम्भ-
 वेऽपि अष्टत्वादिप्राप्तेरभावात्, तद्विधाने वाक्यभेदापत्तेरेकैक-
 स्मिन्नपि च द्रव्ये सर्वासां देवतानां विकल्पेन प्राप्त्यापत्तेरुपे-
 क्षितम् । तस्मादुक्तप्रकारेणैव वाक्यभेदपरिहाराद्रूपलाभोपपत्तेः
 कर्मान्तरविधिरेवाऽयम् ।

अस्मिंश्च पक्षे विद्वद्वाक्यविहितयोरेव कर्मणोः प्राधान्या-
 त्, प्रयाजादीनां तदङ्गत्वात्, सौर्यादीनां चाऽऽग्नेयवा-
 क्यविहितयागाभावेन विद्वद्वाक्यविहितकर्मविकृतित्वादिदेशेन
 प्रयाजप्राप्त्युपपत्तेर्युक्तस्तदनुवादेन कृष्णलविधिः । यदि
 त्वस्मिन्नपि पक्षे पूर्ववत्समप्राधान्याङ्गीकरणम्, ततः कृष्ण-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १७५

लविशिष्टप्रयाजान्तरस्यैव सौर्ययागाङ्गतया विध्यङ्गीकारेण दार्श-
पौर्णमासिकप्रयाजानुवादेन कृष्णलविध्यङ्गीकारेण वा 'यत्र नि-
त्यानुवादवचनानि स्यु' रिति न्यायेन परिहर्तव्यम् । अतः क-
थं समुदायानुवादकत्वमिति चेत्—

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थ-
त्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ २-२-६ ॥

नाऽऽग्नेयादिवाक्ये रूपविधिस्सम्भवति, प्राप्तकर्मानुवादेन
द्रव्यदेवतारूपानेकार्थविधाने वाक्यभेदात् । यत्र ह्यप्राप्ता भा-
वनाऽऽनेकार्कविशिष्टा विधीयते, तत्र(१)श्रौतविधेर्वि-
शिष्टभावनाविधान एव व्यापाराद्विशेषणानाञ्च विशिष्टविध्यन्य-
थानुपपत्तिकल्पितविशेषणविधिभिरेव विधानसिद्धेः श्रौतस्य
विधेस्तत्र व्यापाराभावात् न विधेयानेकत्वनिमित्तो वाक्यभेदः ।
न च तत्राऽपि विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानाधीत्वाद्विशेषणविध्यु-
त्तरकालप्रवृत्तिकस्य विशिष्टविधेर्न विशेषणविधिकल्पकत्वसम्भ-
वः, विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानाधीनत्वेऽपि विशिष्टकर्तव्यता-
रूपस्य तद्विधेः विशेषणकर्तव्यताज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वाभावात्,
विशिष्टज्ञानापेक्षितविशेषणज्ञानस्य च विशिष्टविधिवेलायां सो-
मादिपदैरेव जननोपपत्तेः । अतश्च श्रुतस्य विधेस्तत्तत्पदोपनी-
तविशेषणयुक्तविषेऽप्यविधान एव व्यापारादार्थिकविशेषणविधि-
वाचकपदकल्पनव्यापारकत्वेऽपि तद्विधानव्यापारकत्वाभावात्
ऽनेकविधितात्पर्यकत्वकृतो वाक्यभेदः ।

प्रकृते तु विशेष्यभूताया भावनाया विद्वद्वाक्यादेश प्रा-
प्तत्वाद्विधेस्तद्विधितात्पर्यविषयत्वायोगादा(२)नर्थक्यतदङ्गन्यायेन

विशेषण एवाऽवतारात् तत्र च विशेषणानेकत्वे तेषां परस्परवि-
शेषणविशेष्यभावे नियामकाभावेन प्रत्येकमेव विधितात्पर्यावगतेः
सकृच्छ्रुतस्य चाऽनेकत्र तात्पर्यकल्पने आवृत्तिमन्तरेण तदयो-
गादावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः । यद्यपि च विशिष्टविधिस्थले भा-
वनाया अनेकान्वयित्वस्वाभाव्यादनेकेषां विशेषणानामन्वयेऽपि
नाऽऽवृत्तिः, तथाऽपि विधेः विशिष्टविधावपि विशेष्यरूपैकवि-
धायकतया क्लृप्तस्य नानेकविधिस्वाभाव्यम्, तस्मादिहाऽनेकवि-
धाने वाक्यभेदो दुष्परिहर एव, आवृत्तिप्रसङ्गात् ।

अत एव प्राप्तायामपि मुख्यविशेष्यभूतायां भाव-
नायां यत्र विशेषणानामपि व्युत्पत्तिवशेन परस्परवै-
शिष्ट्यावगमः, तत्र भवत्येवानेकविशेषणविशिष्टस्याऽप्येकस्य
विशेष्यस्य प्राप्तानुवादेन विधिः, यथा 'पशुना यजेत'
(१) 'धेनुर्दक्षिणे' सादौ जातिसंख्यादिविशिष्टस्यैकस्य कारकस्य,
यथा चैकक्रयवादिमते (२) "अजया क्रीणाती"त्यादौ । (३) तत्र
हि तृतीयोपात्ते करणत्वे पार्ष्टिकान्वयलभ्यद्रव्यपरिच्छेदद्वारा
समानाभिधानश्रुत्या संख्यायाः, पदश्रुत्या च जातेरन्वयो व्यु-
त्पत्तिसिद्ध एव । अतश्च तत्रोभयकारकविशिष्टद्रव्यगतैककरण-
त्वविधानान्न वाक्यभेदः । यद्यपि जातिसंख्याद्वयवृत्तिकरणत्व-
द्वयस्यैव तृतीयोपादानामित्याश्रीयते, तथाऽपि द्वयोः करण-
त्वयोरेकशब्दोपादानेन वाक्यभेदो (४) ऽवगन्तव्यः ।

एवं मूळानुयायिमते षष्ठ्या अपि भावनान्वयनियमाभावात्
षष्ठ्यन्तस्य कारकविशेषणत्वोपपत्तेः प्राप्तभावानानुवादेनाऽपि
विशिष्टविधिर्द्रष्टव्यः । यथा—'तस्य द्वादशशतं दक्षिणे' त्यत्र प्रा-

१. तै. सं. १. ८. १

३. अत्र हीति. क. पु.

२. तै. सं. ६. १. १०.

४. अधिगन्तव्य इति. क. पु.

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १७७

सदक्षिणानुवादेनाऽपि तच्छब्दोपात्तगोविशिष्टसंख्याविधिः । वस्तुतस्तु प्राप्तदक्षिणानुवादेन गोविशिष्टसंख्याविधावपि समुच्चिताश्वादेरपि विधेयत्वात् तत्रोभयविशिष्टदक्षिणाविधानमेव स्वीकर्तव्यम् । अत एव षष्ठीस्थलेऽपि निमित्तवत्प्रधानभूतभावान्वये सम्भवति व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनापादकोऽन्वयो नाऽङ्गीक्रियत एव । अतस्तत्राऽपि प्राप्तकर्मानुवादेनाऽनेकविधानेऽस्त्येव वाक्यभेदः ।

यच्चत्र पार्थसारथिना(१) 'अग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालत्रिवेपे"दित्यादौ प्राप्तद्रव्यानुवादेनाऽग्निर्दाता च विधीयते । न च तत्र वाक्यभेदः, अग्निदातृत्वयोः परस्परविशेषणविशेष्यभावस्य मन्त्रार्थवादादौ प्रसिद्धत्वेन दातृत्वगुणविशिष्टस्याऽग्नेः प्राप्तकर्मानुवादेऽपि द्रव्योद्देशेन विधातुं शक्यत्वादित्युक्तम् ; तत् अन्यपरमन्त्रार्थवादादिकृतप्रसिध्यलम्बनेनाऽपि वैशिष्ट्योपपत्तौ सुतरां द्रव्यगुणयोर्वास्तविकलोकप्रसिद्धविशेषणविशेष्यभावेन वैशिष्ट्योपपत्तेः स्तोत्रानुवादेन संख्याविशिष्टाज्यविधाने वाक्यभेदानापत्तेरुपेक्षितम् ।

(२) यदप्युक्तं तन्त्रत्रे दात्रादिपदानां कृदन्तानां सन्निहितद्रव्यवाचकत्वात् दातृपदेनैव दातृत्वगुणविशिष्टाग्निविधानम्, अग्निपदे चाऽऽमिक्षापदवत्तात्पर्यग्राहकं(३) इति, तत् स्वयमेव शास्त्रदीपिकाया(४)माग्नेयधिकरणे यौगिकानां पदानां सन्निहितमात्रवाचकत्वस्य निराकृतत्वादयुक्तमेव । न च आग्नेयपदस्याऽकृदन्तस्य सन्निहितासन्निहितसाधारणद्रव्यमात्रवाचित्वेऽपि दातृशब्दस्य कृदन्तत्वात् सन्निहितमात्रवाचित्वोपपत्तिः;

१. नै. सं. २. ३. २. २. यदपि तन्त्ररत्न इति. क. पु.

३. इति परिहृतमिति. क. पु. ४. पू. मी. ३. २. ८.

दातृपदस्य सन्निहितवाचित्वे सर्वनामार्थविहिततद्धिनान्ताग्नेयीप-
दस्य सुतरां तदापत्तिः, अतः तत्रापि प्राप्तकर्मानुवादेनाऽनेकवि-
धानादस्त्येव वाक्यभेदः । अत एव तत्र द्रव्यदेवताविशिष्टभाव-
नाविधिपक्ष एवाश्रयिष्यते । यानि च तत्पक्षे दूषणानि तानि
तत्रैवोपन्यस्य परिहरिष्यामः ।

तस्मात्सिद्धमव्युत्पन्नपरस्परविशेषणविशेष्यभावानां विशेष-
णानां प्राप्तभावानुवादेन विधाने वाक्यभेद इति ।

यत्तु प्रकृतेऽपि आग्नेय इति तद्धितवृत्तिविधानात् द्रव्यदेव-
तयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽव्युत्पन्न एवेत्युक्तम्; तत्रेदमुत्तरं वा-
च्यम्—यत्र तद्धितवृत्तौ समासवृत्तौ वा कारकतातिरिक्तसम्ब-
न्धेन वृत्तिस्तत्राऽकृत्वापि भावनासम्बन्धं प्रथमतोऽन्योन्यसम्ब-
न्धेन वैशिष्ट्य उच्यमानेऽपि न वाक्यभेदः । अत एव(१) 'लोहि-
तोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति', 'हियण्यमालिनः प्र-
चरन्ती'त्यादौ प्राप्तप्रचारानुवादेन ऋत्विगत्तलोहित्यविशिष्टो-
ष्णीषविधिः । एतदभिप्रायेणैव च(२) चित्राधिकरणे 'यदि पञ्च
दशाज्यानीति समासः स्यात् ततो न वाक्यभेदो भवे' दिति
पार्थसारथिनोक्तम् ।

यत्र तु कारकतासम्बन्धेन वृत्तिः, यथा-आग्नेय
इत्यादौ देवतात्वेन, तदपि हि सम्प्रदानकारकं कर्मकारकं
बेत्यग्निमाधिकरणे वक्ष्यते, तत्र प्राथमिकक्रियासम्बन्धात् प्रा-
गन्यसम्बन्धाभ्युपगमे कारकत्वव्याघातापत्तेः प्रथमतः क्रिया-
सम्बन्ध एवाभ्युपगम्यते, पश्चात्तु द्रव्यसम्बन्धः, एकहायनीस-
सम्बन्धवत् । युक्तञ्चेत् । यथैवाऽऽरुण्यस्य सत्यप्येकहायनी-
सामानाधिकरण्ये टावन्तत्वे च कारकभृत्या क्रियासम्बन्धमेव

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १७९

प्रथमतोऽभ्युपगम्य पाश्चात्यसम्बन्धेनैव सामानाधिकरण्यादेर्नि-
र्वाह्यते, न तु द्रव्यसम्बन्धमेव प्रथमतोऽभ्युपगम्य परम्परासम्ब-
न्धेन कारकत्वम्; तथा प्रकृतेऽपि कारकत्वाविशेषात् प्रथमतः
क्रियासम्बन्धः पश्चादेव द्रव्यसम्बन्धः, तदभिप्रायिकैव च वृत्तिः।
न च सम्बन्धज्ञानं विना वृत्त्यनुपपत्तिः, अरुणयेत्यादौ टावादा-
विव द्रव्यासम्बन्धित्वानिश्चयस्यैव तद्भाजित्वात्। अतश्च सम्बन्धा-
ज्ञानवदसम्बन्धस्याऽप्यज्ञानात् वृत्त्युपपत्तेः द्रव्यषट् देवताकार-
कस्यापि प्रथमतः क्रियासम्बन्धसिद्धिः। अतश्च “पञ्चदशान्या-
ज्यानी”तिवदेवोभयोः क्रियासम्बन्धाद्वैशिष्ट्यानुपपत्तेः प्राप्तभाव-
नानुवादेनानेकगुणविधाने वाक्यभेदो दुरुद्धर एव। अत आ-
ग्नेयादिवाक्ये द्रव्यदेवताविशिष्टयागान्तरस्यैव विधानात् विद्वद्वा-
क्ये रूपाभावस्तदवस्थ एव।

नन्वेवमपि द्रव्यदेवताविशिष्टभावनामात्रविधिरेवाऽऽग्नेयादि-
वाक्येष्वस्तु, न तु स्वतन्त्रयागकल्पनम्, गौरवात्, अभ्युदिते-
ष्टौ भावनान्तरविधिवत्। तस्याश्चावच्छेदकीभूतयागापेक्षायां तद्व-
देवेन्द्रियकामहोमवच्च विद्वद्वाक्यविहितौ यागौ यथायोगं पौर्णमा-
स्यमावास्यापदोपनीतौ सम्बध्येते, अत एव विद्वद्वाक्येऽपि प्रा-
प्तभावनानुवादेन यागमात्रविधिः, न तु यागविशिष्टभावनावि-
धिरिति लाघवमिति चेन्न; तथा सति “तावब्रूतामग्नीषोमा-
वाज्यस्यै”वत्यादिवाक्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः। इदं ह्युपांशुयाजस्या-
न्तरालविधिवशेन सम्भवत्प्राप्तिकपौर्णमासीकालसम्बन्धविधा-
नार्थं सत्तस्य फलसम्बन्धार्थमित्युत्तराधिकरणे वक्ष्यते। विद्व-
द्वाक्यविहितकर्मद्रव्याङ्गीकारे च तस्यैव निर्ज्ञातनामकत्वेन फलस-
म्बन्धापत्तेः उपांशुयाजे कालविधिरनर्थक एवेति तस्य कर्मवि-
धायकताया एवाऽप्रसिद्धेः दुर्घटैवाऽऽग्नेयादिवाक्यविहितभावनाव-
च्छेदकतोक्तिः।

वस्तुतस्तु अमावास्याव्यावर्तनफलकत्वेनाऽपि तत्सार्थ-
क्योपपत्तेः पूर्वोक्तविधयाऽन्यपरत्वाद्भिधिकल्पकाभावेनाभ्यास-
स्वरूपविघटनेनैवाऽयं पूर्वपक्षो निराकर्तव्यः ।

एतेन सत्यप्याग्नेयादिवाक्येषु यागान्तरविधाने विद्वद्वाक्य-
विहितकर्मणोर्ऽप्येकप्रयोगविधिपरिश्रहेण सास्त्राख्यवदाग्नेयादि-
यागैः सह तन्त्रेणाऽनुष्ठानोपपत्तेः तदीयद्रव्यदेवतायाः प्रसङ्गे-
नोपकारकत्वोपपत्तेरुपपन्नं रूपमिति विधित्वमित्यप्यपास्तम्,
विद्वद्वाक्ये विधेरेवाऽनिश्चयेन कर्मविध्यनिश्चयात्, प्रत्युत यच्छ-
ब्दोपबन्धत्वेनाऽनुवादत्वस्यैव निश्चयाच्च । अत एव समुदाया-
नुवादकत्वापेक्षया प्रयोजनवत्तरमपि विधित्वं नैवाङ्गीकृतम् ।
किञ्चाऽस्मिन् पक्षे आग्नेयादिवाक्यस्थपौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः
सम्भ्यन्तयोः लाक्षणिकत्वमपि निष्प्रयोजनकमापद्येत । विद्वद्वा-
क्यस्थ 'पौर्णमासी' मित्याद्येकवचनञ्चोपक्रमस्थयच्छब्दानुरोधेन
लक्षणया नीयमानं न दुष्यति । तस्मात् समुदायानुवादौ ।

सूत्रं तु—कर्मचोदना वा स्यात् आग्नेयादिवाक्ये, तथा
सति गुणानां युगपदेकेन शास्त्रेण विधानं शक्यं कर्तुम्, प्राप्ते तु
कर्मणि गुणमात्रविषयत्वात् विधेः तस्यतस्योपदेशे वाक्यभेदाप-
त्तिः, इति व्याख्येयम् ॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ २-२-७ ॥ (सि)

“उग्राणि वा एतानि हवींष्यमावास्यायां सम्भ्रयन्ते आ-
ग्नेयं प्रथममैन्द्रे उत्तरे” इत्यत्र त्रयाणामेव तावदग्रत्वापरपर्याय-
प्राधान्यव्यपदेशो भवत्पक्षे न युज्यते । किञ्च द्वितीये पक्षे विद्व-
द्वाक्यविहिते कर्मणि आग्नेयादिहविषां त्रिकल्पापत्तेः सम्भ्र-
णपदवाक्यं साहित्यं प्रथमादिपदवाक्यश्च क्रमो न युज्ये-
त । एतदन्ययानुपपत्त्यैव समुच्चयविध्यङ्गीकारे स्वतिमौरवश्च ॥

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १८१

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २-२-८ ॥

“चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशाऽमावास्या-
या” मित्याहवनीयगतवषट्कारादिपरिगणनं प्रथमभवत्पक्षे पौ-
र्णमास्यां पञ्चदशत्वापत्तेरमावास्यायां चतुर्दशत्वापत्तेः द्वितीय-
पक्षे चोभयत्र द्वादशत्वापत्तेर्नोपपद्येत । अस्मन्मते तु पञ्च प्रया-
जाः, द्वावाज्यभागौ, स्विष्टकृत्, त्रयोऽनूयाजाः, पौर्णमास्यां
प्रधानाहुतित्रयम्, अमावास्यायां सान्नाय्यस्य सहानुष्ठानात्
प्रधानाहुतिद्वयमिति चतुर्दशत्वत्रयोदशत्वानुवादो नाऽनुपन्नः ।
यद्यपि चाऽसोमयाजिनो ऽग्नीषोमीयाभावादस्मन्मतेपि चतुर्दश-
त्वसङ्ख्याऽनुपपन्नैव, तथाऽपि सोमयाजिन एव तावत्सम्भव-
तीति न विरोधः । त्रयोदशत्वसंख्या त्वसन्नयतोऽप्यैन्द्राग्निविधा-
नादुपपन्नैव । तस्मात्समुदायानुवादावेतौ, न कर्मान्तरविधी,
इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

इति तृतीयं पौर्णमास्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम् ॥ ४ ॥

पौर्णमासीवदुपांशुयाजस्स्यात् ॥ २-२-९ ॥ (पू-)

दर्शपूर्णमासयोः “जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ
पुरोडाशावुपांशुयाजमन्तरा यजति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजा-
मित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोबुमापांशु
यष्टव्यावजामित्वाये”ति श्रुतम् । तैत्तिरीयशाखायां तु (१)उपां-
शुयाजमन्तरा यजस्रजामित्वाय’ इत्यपि समाम्नातम् । तत्र सन्दे-

हः— किं विष्णवादिवाक्येषु तत्तद्देवताविशिष्टयागविधिरन्तराल-
वाक्ये च तेषां त्रयाणां समुदायार्थमनुवादः, अथ वा तत्रैवाऽन्तराल-
कालोपांशुत्वविशिष्टयागविधिः, इत्ये तस्यैवार्थवादाः ? इति ।

अत्र च समुदायानुवादत्वस्याऽपवादादनन्तरसङ्गतिस्तावत्
स्पष्टा । पूर्वपक्षे गुणादभ्यासाद्वा कर्मभेदः, सिद्धान्ते नेत्यभिधा-
नाच्च पादाध्यायसङ्गतिरपि द्रष्टव्या ।

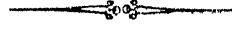
तत्र तद्यप्रत्ययस्य (१) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इतिवन्निस्सन्देहं
विधित्वात् 'यजती'त्यस्य लट्छेदसाधारणत्वेन सन्दिग्धत्वादुभ-
यत्र तुल्यत्वेऽपि वा (२) 'भूयस्त्वेनोभयश्रुती'त्यनेन न्यायेन यत्र
यागपरिचयकदेवतादिमत्ता तत्रैव च यागविधिरिति निश्चयात्
विष्णवादिवाक्येष्वेव कर्मविधानम् ।

न चैवं विष्णवादिदेवतात्रयविशिष्टैककर्मविधाने तव्य-
प्रत्ययान्तरपुनःश्रुतिवैयर्थ्यापत्तेः विनिगमनाविरहेण सर्वेषां
विधायकत्वावसायात् विहितविधानायोगाच्च कर्मभेदे सति
वैश्वानरवाक्यवदुपक्रमोपसंहारैक्यबलगम्यैकवाक्यत्वस्य विधे-
यभेदेन भङ्गापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र हि जातेष्व्यवोपक्रमात्
तयैव चोपसंहाराद्युक्तैकवाक्यता, प्रकृते तु पुरोडाशनैरन्तर्यापा-
दितालस्यापरपर्यायजामित्वेनोपक्रमादजामित्वेन चोपसंहारादु-
पक्रमोपसंहारैक्याभावेनैकवाक्यत्वाप्रतीतेः ।

यद्यपि च दोषरूपस्य जामित्वस्य तदपनायककर्मस्तुत्यर्थत्वेनैव
सङ्कीर्तितत्वात् जामित्वाजामित्वयोरेकविषयत्वमुच्यते, तथाप्य-
जामित्वस्य प्रत्येकमुपसंहारात् तदनुरोधेनोपक्रमस्यापि प्रत्येकम-
नुषङ्गावगतेः भिन्नवाक्यत्वोपपत्तिः । न ह्यन्यथा प्रत्येकमुपसंहारः
कथमपि युज्यते; जातोऽष्टिवत् युगपदेवोपसंह्रियेत । अतो भिन्न-

THE
CHOWKHAMBĀ SANSKRIT SERIES

Nos. 402, 405, 408, 419 & 420.



THE
MIMAMSA-KAUSTUBHA
(An exhaustive Commentary of Jaimini Sutras)
(2nd Pada of 1st Adhyaya and 1st & 2nd
Padas of 2nd Adhyaya)

By

KHANDA DEVA

Edited By

“Veda Visārada” “Mimamsa Kesari”

Pandit A. Chinnaswami S'āstri

Chief Professor of Mimamsa, Hindu University Benares
and

his pupil Pandit Pattabhirama Sastri M. S.



Vol III. Fasciculas I to V 1-4



JAI KRISHNA DAS-HARIDAS GUPTA,
The Chowkhamba Sanskrit Series office,
B E N A R E S.

1933.

[ALL RIGHTS RESERVED BY THE PUBLISHERS]

*Registered According to Act XXV of 1867,
all Rights Reserved by the Publisher.*

PRINTED, BY
JAI KRISHNA DAS HARIDAS GUPTA
*Vidya Vilas Press,
Benares City.*

1933

ॐ श्रीः ॐ

श्रीस्वम्बा—संस्कृत—ग्रन्थमाला ॥

नं० ४०२, ४०५, ४०८, ४१९, ४२०.

मीमांसाकौस्तुभः ॥

(मीमांसासूत्रोपरि काचन विस्तृता टीका)

(प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादः द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमद्वितीयौ पादौ च ।)

पूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीण-
श्रीस्वण्डदेवविरचितः

श्रीकाशीहिन्दूविश्वविद्यालयप्रधानमीमांसाध्यायकेन

वेदविशारदेन मीमांसाकेसरिणा

पं० झ. चिन्मस्वामिस्वामिस्त्रिणा

प्रोफेसरेण पं० श्रीपद्मभिरामशर्मणा मीमांसाशास्त्रिणा च
संशोधितः श्रीजयकृष्णदासगुप्तेन मुद्रापितो विजयवाम् ।

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदासगुप्तः—

श्रीस्वम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस,

बनारस सिटी ।

सं० १६६०

मुद्रकश्रीमन्महाशारणाऽस्य सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकेन स्थायतीकृताः ।

इस कार्यालय द्वारा “काशीसंस्कृतसीरिज” के अलावा और भी ३ सीरिज यथा “चौखम्बासंस्कृतसीरिज” “बनारससंस्कृतसीरिज” “हरिदाससंस्कृतसीरिज” ग्रन्थ-मालायें निकलती हैं तथा इन ४ सीरिजों के पश्चात् और भी विविध शास्त्र की पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा अन्य सब स्थानों के छपे हुए संस्कृत तथा भाषा-भाष्य के ग्रन्थ विक्रयार्थ प्रस्तुत रहते हैं, सूचीपत्र पृथक् मंगवाकर देखें । इसके अलावा हमारे यहाँ सब प्रकार की संस्कृत, हिन्दी, अङ्ग्रेजी की सुन्दर छपाई होती है, परीक्षा प्रार्थनीय है ॥

पत्रादि प्रेषणस्थानम्—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

“चौखम्बा संस्कृतसीरिज” आफिस, विद्याविलास प्रेस,
गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक, बनारस सिटी ।

श्रीः ।
भूमिका ॥

अद्याऽयं मीमांसाकौस्तुभाख्योऽनुत्तमो मीमांसाग्रन्थोऽध्येतृणां-
त्यन्तोपकाराय मुद्राप्य प्रकाशं नीयते । केभ्यश्चन वर्षेभ्यः पूर्वमस्मदध्य-
यनकाले श्रीकाञ्च्यामंशतो मुद्रितोऽर्थवादभावार्थशब्दान्तरपादेष्वेवो-
पलब्धिमानासीदयं ग्रन्थः । तदा मद्रपुरीयसंस्कृतमहाविद्यालये विद्या-
मिमामधिगच्छद्भिस्माभिः ग्रन्थस्याऽस्य मुद्रितेतरभागः, अध्ययनार्थं
क्वचिद्भाट्टदीपिकापङ्क्तिपूतज्ञानां संशयानामुच्छेदार्थञ्च अडयार्
(Adyar Library) पुस्तकालयादितः स्वहस्तेन लिखित्वैव समानेतव्य
आसीत् । अध्ययनसमयेऽस्माभिरनेकशो गुरुमुखाच्छ्रुतम्—ग्रन्थोऽय-
मसाधारणः पूर्वमीमांसाशास्त्रे, को वाऽवशिष्टमस्य भागं मुद्राप्योद्धरि-
ष्यतीति, तथैवाऽध्यापनकालेऽपि स्वयमनुभूतञ्च । अतिसंक्षिप्ताः कठिन-
तमा अन्तस्सारा भाट्टदीपिकापङ्क्तयो याः, तास्सर्वा अपि तत्तत्स्थली-
यकौस्तुभावलोकनेन तथा विकसिता भवन्ति, यथा नितरां समुल्लसति
चेतो निधिलाभ इवेति नेदं तिरोहितं मीमांसामर्मज्ञानाम् ।

यद्यप्ययं ग्रन्थः स्वतन्त्रसूत्रव्याख्यारूपः, तथाऽपि भाट्टदीपिकाया
व्याख्यारूप एव, अथ वा अस्यैव सङ्कुचितं रूपं यद्भाट्टदीपिका नामे-
ति । नवीनं पन्थानमाश्रित्य ग्रन्थमिममारचयता ग्रन्थकर्त्रा न केवलं न-
वीनानां शास्त्रान्तरपरिशीलनपरिपक्वशोमुपोणां मनीषिणां मनस्तोषितम्,
मीमांसापदार्थास्तत्र तत्र सर्वे तथा सन्निवेशिताः यथा कस्यचित्पदार्थ-
स्य परिज्ञानार्थं अन्यग्रन्थावलुलोकयिषा नोदियात् । भाट्टमतमवलम्ब्य
ग्रन्थमिमं रचितवताऽनेन मीमांसकशिरोमणिना शबरकुमारिलभवदेव-
पार्थसारथिसोमनाथाप्पय्यदीक्षिताद्युक्तयो युक्तियुक्ता न काश्चिदप्युपेक्षिताः
अनुक्तिसङ्घा न काश्चिदपि न समालोचिताः । अत एवाऽभियुक्तानां
मीमांसापारद्भ्रवनामुक्तिः—‘यदि कण्ठस्था खण्डदेवग्रन्थत्रयी किम-
न्यैर्ग्रन्थैरि’ ति नाऽतिशयोक्तिः । अतोऽस्माभिः पञ्चनदक्षेत्रे (Tiruvadi,
Tanjore) इदंशास्त्राध्यापकपदमधितिष्ठद्भिः भाट्टदीपिकाग्रन्थग्रन्थि-
भेदनाथमस्य ग्रन्थस्याऽत्यावश्यकतां पश्यद्भिः तदानीमेवाऽस्य मुद्रणं
मनस्यभिसंहितमासीत् । परन्तु तदुचितसामग्रीसम्पदभावेनाऽभिसन्धि-
मात्रेणाऽवस्थितं तेन तदा । ततो भगवता जगद्वित्राऽत्रैव काश्यां वि-

श्वविद्यालयेऽध्यापनार्थंमानीतोऽहं श्रीमता संस्कृतवाणीपरिचर्यैकजीवि-
तेन चौखम्बासंस्कृतपुस्तकमालाध्यक्षेण श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन
सह सज्ञातपरिचर्यो न्यवेद्यमेतन्मुद्रणं तस्मै । स च समनन्तरमेव
मदीयां निवेदनां सफलविषयकारभतैतन्मुद्रणम् ।

(१) मदीयं पुस्तकमेकं मुद्रितभागावशिष्टं अडयारपुस्तकालयतो
लिखित्वाऽऽनीतम्,

(२) अस्मदाचार्यवर्याणां महामहोपाध्यायाद्यनेकबिरुदावलीरलकुर्वतां
श्रीकुप्पुस्वामिशशिमुखमहोदयानां अनुपमया कृपया प्राच्यग्रन्थसंरक्षणा-
लयात् (Madras Oriental Manuscripts Library) मदनुजेन
तिरुपतिसंस्कृतमहाविद्यालये मीमांसाध्यापकेन पं० रामनाथशास्त्रिणा
लिखित्वा लेखयित्वा च दत्तं पुस्तकमेकम्,

(३) पण्डितकुलभूषणै राजकीयमहाविद्यालयाध्यक्षैः पं० गोपीनाथ-
कविराजमहोदयैः पुस्तकालयात्सदयं दापितमेकम्,

(४) काशीस्थेभ्यः प्रसिद्धवैदिकेभ्यो बाबूदीक्षित जडे महोदयेभ्यो
गृहीतमेकम्,

इति पुस्तकचतुष्टयमवलम्ब्य शाधितोऽयं ग्रन्थः । अध्यापना
दिकार्ये ग्रन्थान्तरशोधने च व्यापृतोऽहं शनैश्शनैरेव कार्यमिदं कर्तु-
मशकम् । अत एतावान् ज्यायान् विलम्बस्समजनि, तथाऽपि समाप्ति-
मेयिवानयं ग्रन्थ इति नितरां प्रमोदस्थानम् । चतसृष्वप्यासु मातृकासु
पाठभेदो नाऽस्ति तावानुल्लेखनार्ह इति नोल्लिखितस्सः । विषयवाक्यानां
स्थानादिकं परमन्विष्य यथोपलम्भं सूचितमधट्टिप्पण्याम् । तेषां सङ्के-
तहाद्दानां विचरणावेदनिका सूचिकाऽपि सन्निवेशिता सर्वपरिष्का-
नाय । एवं रीत्या सम्मुद्रय प्रकाशितोऽयं मीमांसाकौस्तुभाख्यो
ग्रन्थमणिः ।

(ग्रन्थकर्तृसमयनिर्णयः)

अस्य ग्रन्थरत्नस्य निर्माता सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः पण्डितकुलभूषणम-
भूतो वेङ्गकुलोत्पन्नो वाक्षिणात्यः श्रीखण्डदेव इति । अस्य जीवनकालः
वैक्रमी सप्तदशशताब्दी, निर्याणकालश्च १७२३ परिमितो वैक्रमो वत्सर
(1665. A. D.) इत्यद्योच्चं मीमांसान्यायप्रकाशभूमिकायाम् ।
चतुष्टयस्य प्रमाणे चमे—

इत्यास्यार्थां चित्पावनाख्यवाक्षिणात्यब्राह्मणानामभ्येषां च परस्पर-
कथन विषयस्समजनि । तच्छ्रमनार्थं १७१४ वैक्रमे हेमचन्द्रवत्सरे
कुम्भिनस्ये पण्डितानां महती कथन सभा सम्मिलिता । तत्र च-
र्या कथन लिखिता, अस्याः प्रतिनिधिर्नीचैरुद्भूता—

भूमिका ।

“मुक्तिमण्डपांतील निर्णय शक १५७६, सन् ई०१६५७

श्रीविश्वेश्वरो विजयतेतराम् ।

श्रीः । श्रीः । अथ देवर्षिविप्राणां काश्यां श्रीमुक्तिमण्डपे ।

यतिमिश्रविपश्चिद्भिस्सद्ब्राह्मण्यं विविच्यते ॥ १ ॥

तत्र तावत् पूज्यपादपरमहंसपरिव्राजकमहाराष्ट्रकर्णाटककोंकण-
तैलङ्गद्राविडादिसकलज्ञातोयविद्वद्गृहस्थनिचयसम्प्रत्या वेदशास्त्र-
लोकतो विमृश्य देवर्षिब्राह्मणा वेदशास्त्रपुराणेभ्योऽधिगतपरमार्थाः
ऋतुयजनयाजनादिसदाचारशीलाः पङ्क्तिपावनाशरीरान्वयार्हाः
अत्युत्तमब्राह्मण्यशालिनः शिष्टानुष्ठितशरीरान्वयाश्चेति सिद्धान्ति-
तम् । दृष्टं चैतत्-भट्टमीमांसकश्रीभट्टरघुनाथाख्यसूरिभिः । मणिकर्णा-
त्युपाख्यस्याऽनन्तभट्टस्य कन्यका । देवर्षेः प्रसमुद्राह्य वाजपेययजिः
कृता । भूयांसश्चेद्दृशा अन्ये तद्वशीया वयं च ते । ब्रुवाणा दोषमत्रार्थे
विद्वद्भिः परिशोधिते । विश्वेशद्रोहिणो ब्रह्मघातिनश्च भवन्ति ते । इति-
दिक् ॥ लिखितं चैतन्मीमांसकभट्टलक्ष्मणेन विद्वदनुज्ञातेन ।
संवति कृतकगाब्ज १७१४ सम्मितौ नन्दशैलशरभ १५७६ मितशाके
(= 1657 A. D.) हेमलम्बशरदि समपत्रं (?) ज्ञायते सकलभूसु-
रवृन्दैः ।” इति ।

व्यवस्थापत्रेऽस्मिन् तदानन्तानां वाराणसेयानां सर्वेषां परिडितानां
हस्ताक्षराणि गृहीतानि यन्मध्ये श्रीमतां खण्डदेवमहोदयानामपि हस्ता-
क्षराणि विलसन्ति । अतस्तत्कालजीविन इमे इति निश्चप्रचम् ।

भाट्टदीपिकाव्याख्यायाः प्रभावल्या अन्ते तत्कर्त्रा श्रीकविमण्डनश-
म्भुभट्टेन खण्डदेवनिर्माणकाल उल्लिखितस्तच्छ्रुत्येण । स चेत्थम्—
वर्ये नेत्रद्विसप्तद्विजपतिगणिते (सं० १७२२) मासि.....
वारे जैवे प्रभाते सकलपितृतिथौ प्रोष्ठपद्याः परस्याम् ।
काश्यां श्रीब्रह्मनाले निरुपमचरितः खण्डदेवाभिधानः
प्रासः श्रीब्रह्मभावं विबुधवरगुरुर्ब्रह्मवर्यो यतीन्द्रः ॥ इति ॥

परिडितवरेण्यैरेभिः काश्यामेवाऽवस्थाय पूर्वं वयसि गार्हस्थ्यं धर्मं
व्याधदनुष्ठाय चरमे वयसि सन्यासं गृहीत्वा तस्मिन्नाश्रमे श्रीधरेन्द्र-
यतीन्द्राभिख्यामवाप्य कञ्चन कालं यापयित्वाऽन्ते ब्रह्मभूयं गतमित्यधि
प्रतीयते—पूर्वोदाहृतश्लोके ‘ब्रह्मवर्यो यतीन्द्रः’ इति विशेषणद्वयोपादानात्,
एतत्पूर्वोदाहृतश्लोके ‘यः खण्डदेवनामाऽऽसीत् श्रीधरेन्द्राभिधां गतः’
इति लेखनेन च । एतेषां पितरोऽपि श्रीरुद्रदेवनामानः पूर्वोत्तरतन्त्रनिष्णा
ता आसन्नित्यत्र, तेऽपि काश्यामेवाऽवस्थित्यत्र च ग्रन्थेऽस्मिन् तत्त-

त्पादान्ते 'श्रीपूर्वोत्तरमीमांसापारावारपारीणधुरीणश्रीरुद्रदेवसूनोः खण्ड-
देवस्य कृतौ' इत्येतद्ग्रन्थकर्तृलेखनम्, (१) 'देवादेवाऽध्यगीष्ट स्मरहर-
नगरे शासनं जैमिनीयम्' इति जगन्नाथपरिडितोक्तश्च प्रमाणम् ।

तेषां गुरवः श्रीविश्वेश्वरापरपर्यायाः श्रीगागाभट्टाः दिनकरभट्टपुत्रा
इति प्रसिद्धिः । तेषां परम्परा च परिडितलोकविदितैवेति नाऽत्र विशे-
षतो वक्तव्यमस्ति, तथाऽपि (२) भाट्टदिनकरस्थैः दिनकरभट्टीयैरेव
पद्यैस्तत्पुनस्स्मारयामि परिडितवर्येभ्यः—

विश्वामित्रमुनीश्वरान्वयसुधासिन्धौ सुराणां द्रुमः
श्रीरामेश्वरनामधेय उद्भूदान्नायशाखोज्वलः ।
नानाशास्त्रफलैस्समस्तवसुधावृन्दारकाणां परं
सन्तोषं जनयन् रघूद्वहलसत्सेवालतालिक्रितः ॥
श्रीरामेश्वरतस्ततस्समभवत् श्रीभट्टनारायणः
शास्त्रान्नायपरायणः खलमतध्वान्तैकविद्रावणः ।
काश्यां पातकविद्रुतं भगवतो विश्वेश्वरस्याऽचलं
लिङ्गं भोग्यवशात्सुखाय जगतां संस्थापयामास यः ॥
नारायणस्याऽऽत्मज आविरासीत्
स रामकृष्णोऽर्चनद्रष्टारामः ।
पराजितो वाग्धिपोऽपि येन
विद्यानवद्यप्रतिभाधिकेन ॥
दिनकर इति रूढस्तत्सुतो ग्रन्थमेनं
मतियुतसुखबोध्यं सर्ववक्तव्ययुक्तम् ।
असृजदथ समर्थानन्दसच्चित्स्वरूपे
रघुपतिपदपद्मे जन्मसार्थंक्षयमाप ॥ इति

दिनकरभट्टानां सूनव इमे गागाभट्टा इति तैरेवोक्तं भाट्टद्विन्ता-
मण्येरादावन्तं च ।

(श्रीखण्डदेवीयाः ग्रन्थाः)

एभिः परिडितशिरोमणिभिः काश्यामेवाऽवस्थितैः मीमांसाया-
मेव ग्रन्थत्रयी निर्मिता—भाट्टकौस्तुभः, भाट्टदीपिका, भाट्टरहस्यरुचे-
ति । तत्र प्रथमः प्रथमाध्यायद्वितीयपादत (अर्थवादपादतः) आरभ्य
तृतीयाध्यायतृतीयपादस्थसप्तमाधिकरण (बलाबलाधिकरण) पर्य-
न्तः, द्वितीयश्च तत एवाऽऽरभ्य द्वादशाध्यायपर्यन्तः, तृतीयश्चाऽधिक-

१ 'देवादेव खण्डदेवादेवेत्यर्थः' इति प्रदीपे नागोक्तः ।

२ भाट्टदिनकरं नाम शास्त्रदीपिकाख्याख्या दिनकरभट्टकृता ।

रणसम्बन्धमनपेक्ष्य लकारार्थधात्वर्थविभक्त्यर्थनिरूपणपरशशाब्दबोधग्रन्थः ।

यद्यपि भाट्टदीपिका प्रथमपादमारभ्य महोशुरपुरे मुद्रिता, तथाऽपि खण्डदेवविरचिता भाट्टदीपिका द्वितीयपादमारभ्यैवेति अध्ययनपरम्परायां प्रसिद्धिः । एवं भाट्टरहस्येऽपि इदानीं यावानुपलभ्यते भागस्तावानेव रचित इत्येव गुरुपरम्पराप्रणाली । कौस्तुभस्तु बलाबलाधिकरणपर्यन्तमेव रचित इति सुस्पष्टमेव श्रीशम्भुभट्ट एतच्छिष्यः स्वीयप्रभावलीग्रन्थे आदौ—'अत्र च यद्यपि बलाबलाधिकरणसमाप्तिपर्यन्तं स्वकृतेन कौस्तुभग्रन्थेन व्याख्यातार्था भाट्टदीपिकेत्यादिग्रन्थेनाऽभिदधाति ।

यद्यपीमे कौस्तुभे भाट्टदीपिकायां च स्वप्राचोनात् ग्रन्थकारान् यथावसरं खण्डयन्ति, तथाऽपि शास्त्रादीपिकाप्रकाशबालप्रकाशादिग्रन्थकर्तृणां श्रीशङ्करभट्टानां खण्डने वद्धादरा आसन्निति प्रतीयते, यतः प्रायशोऽधिकतर तेषामेव खण्डनमुपलभ्यते "यत्त्वत्र कैश्चित्" "यत्तु कैश्चित्" इत्यादिना नामोल्लेखनं विना । ते चैतेषां गुरोर्भ्रातृपुत्रा आसन् ।

यद्यपि शङ्करभट्टखण्डने मतिरतितरां प्रासरदेषाम्, तथाऽपि तदुपरि गौरवबुद्धिरेवाऽऽसीदेषामिति ग्रन्थावलोकनादवगम्यते, यतो नामोल्लेखनं न केवलं कुत्राऽपि कृतम्, परन्तु मण्डनमिश्रपार्थसारथिमिश्रप्रभृतिषु विषये "जितं मण्डनेन" 'यत्त्वत्र पार्थसारथिः "यत्त्वत्र पार्थसारथिना" इत्येकवचनमेव सावहेलं प्रयुञ्जानैरेभिः 'कैश्चिदि'ति सवहुमानं बहुवचनप्रयोग एव कृतस्तद्विषये ।

एवं खण्डदेवग्रन्थेषु प्राथमिकोऽयं ग्रन्थः इदम्प्रथमतया प्रकाशितः । प्रार्थये च बुधवरान् सीर्वाङ्गीणसुन्दरममुं यथावदुपयोज्य सफलयन्तु मदीयं परिश्रममिति । सावधानेन कृतेऽपि शोधने मर्त्यमात्रसुलभा दोषाः क्वचिद्वतिष्ठेरन्नेवेत्यभ्यर्थये तान् तन्मर्षणमपि ।

मातृकादानेनाऽस्मभ्यं बहूपकृतवद्भ्यः पण्डितवर्यभ्यो बह्वधमर्णा वयमिति तेभ्यः कृतज्ञतामुपहरामि । शोधनादिकार्यं नितान्तमुपकृतवतेऽस्मत्प्रियशिष्याय श्रीपट्टाभिरामशर्मणे मोमांसाशास्त्रिणे बङ्गीराशिषः प्रयुञ्जे । आशासे च सुरभारतीसमुद्धरणबद्धवर्मणे श्रेष्ठिवर्याय श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयाय चौखम्बासंस्कृतपुस्तकमालाध्यक्षाय श्रेयःप्राप्तिमुत्तरोत्तरामिति शिवम् ।

आश्विन शुक्ल द्वितीया सं० १९६०
२१. सितम्बर. १९३३. वाराणसी.

चिन्नस्वामिशास्त्री
संशोधकः

मीमांसाकौस्तुभगतानामधिकरणानां सूची ॥

प्रथमाध्याये २ पादे

अधिकरणानि—

- १ अर्थवादाधिकरणम्
- २ औदुम्बराधिकरणम्
- ३ हेतुमन्निगदाधिकरणम्
- ४ मन्त्राधिकरणम्

प्रथमाध्याये ३ पादे

अधिकरणानि—

- १ स्मृत्यधिकरणम्
- २ विरोधाधिकरणम्
- ३ शिष्टाकोपाधिकरणम्
- ४ यववराहाधिकरणम्
- ५ पिकनेमाधिकरणम्
- ६ कल्पसूत्राधिकरणम्
- ७ होलाकाधिकरणम्
- ८ व्याकरणाधिकरणम्
- ९ लोकवेदाधिकरणम्
- १० आकृत्यधिकरणम्

प्रथमाध्याये ४ पादे

अधिकरणानि—

- १ नामधेयप्रामाण्याधिकरणम्
- २ उद्भिदधिकरणम्
- ३ चित्राधिकरणम्
- ४ अग्निहोत्राधिकरणम्
- ५ तद्व्यपदेशाधिकरणम्
- ६ बाजपेयाधिकरणम्
- ७ आरनेयाधिकरणम्
- ८ बर्हिंराज्याधिकरणम्
- ९ प्रोक्षणयाधिकरणम्
- १० निर्मल्यधिकरणम्
- ११ वैश्वदेवाधिकरणम्
- १२ वैश्वानराधिकरणम्
- १३ तत्सिन्ध्याधिकरणम्
- १४ जात्यधिकरणम्
- १५ साकृदाधिकरणम्
- १६ प्रशंसाधिकरणम्

- १७ भूमाधिकरणम्
- १८ लिङ्गसमवायाधिकरणम्
- १९ वाक्याशेषाधिकरणम्
- २० सामर्थ्याधिकरणम्

द्वितीयाध्याये १ पादे

अधिकरणानि—

- १ प्रतिपदाधिकरणम्
- २ भावार्थाधिकरणम्
- ३ अपूर्वाधिकरणम्
- ४ तानि द्वैधाधिकरणम्
- ५ सम्मार्गाधिकरणम्
- ६ स्तुतशस्त्राधिकरणम्
- ७ विधिमन्त्राधिकरणम्
- ८ मन्त्रलक्षणाधिकरणम्
- ९ ब्राह्मणलक्षणाधिकरणम्
- १० ऊहाधमन्त्रताधिकरणम्
- ११ ऋलक्षणाधिकरणम्
- १२ सामलक्षणाधिकरणम्
- १३ यजुर्लक्षणाधिकरणम्
- १४ निगदाधिकरणम्
- १५ एकवाक्यताधिकरणम्
- १६ वाक्यभेदाधिकरणम्
- १७ अनुषङ्गाधिकरणम्
- १८ व्यवयाधिकरणम्

द्वितीयाध्याये २ पादे

अधिकरणानि—

- १ शब्दान्तराधिकरणम्
- २ अभ्यासाधिकरणम्
- ३ पौर्णमास्यधिकरणम्
- ४ उपांशुयाजाधिकरणम्
- ५ आधाराग्निहोत्राधिकरणम्
- ६ पशुसोमाधिकरणम्
- ७ संख्याधिकरणम्
- ८ संज्ञाधिकरणम्
- ९ गुणाधिकरणम्
- १० गुणशेषाधिकरणम्

११ इन्द्रियकामाधिकरणम्

१२ रेवत्यधिकरणम्

१३ सौभराधिकरणम्

द्वितीयाध्याये ३ पादे

अधिकरणानि—

१ रथन्तराधिकरणम्

२ अत्रेष्ट्यधिकरणम्

३ आधानाधिकरणम्

४ दाक्षायणयज्ञाधिकरणम्

५ ईषालम्भाधिकरणम् ।

६ वत्सालम्भाधिकरणम्

७ चरूपधानाधिकरणम्

८ पात्नीवताधिकरणम्

९ अंशवदान्याधिकरणम्

१० चयनाधिकरणम्

११ प्रकरणान्तराधिकरणम् ।

१२ फलसंस्कार्याधिकरणम्

१३ प्रकरणान्तरप्रत्युदाहरणाधिक०

१४ आग्नेयस्तुत्ययेताधिकरणम्

द्वितीयाध्याये ४ पादे

अधिकरणानि—

१ यावज्जीवाधिकरणम्

२ शास्त्रान्तराधिकरणम्

तृतीयाध्याये १ पादे

अधिकरणानि—

१ प्रतिज्ञाधिकरणम्

२ शेषलक्षणाधिकरणम्

३ शेषलक्षयाधिकरणम्

४ तेषामर्थोधिकरणम्

५ रूपयाधिकरणम्

६ भक्षणाधिकरणम्

७ प्रहैकृत्वाधिकरणम्

८ चमसाधिकरणम्

९ आनर्थक्यतद्गताधिकरणम्

१० अमिह्रमणाधिकरणम्

११ उपवीताधिकरणम्

१२ वारणादीनां सर्वव्यञ्जार्थत्वाधि०

१३ वात्रंजन्यधिकरणम्

१४ हस्तावनेजनाधिकरणम्

१५ चतुर्धाकरणाधिकरणम्

तृतीयाध्याये २ पादे

अधिकरणानि—

१ लिङ्गाधिकरणम्

२ पेन्द्र्यधिकरणम्

३ हविष्कृदाह्वानाधिकरणम्

४ वाग्विसर्गाधिकरणम्

५ सूक्तवाकाधिकरणम्

६ सूक्तवाकस्य विभज्यविनियोगाधिकरणम्

७ लिङ्गसमाख्याधिकरणम्

८ आग्नेय्यधिकरणम्

९ भक्षाधिकरणम्

१० गुणाभिधानाधिकरणम्

११ इन्द्रपीताधिकरणम्

१२ अभ्युज्जीताधिकरणम्

१३ पात्नीवते द्विद्वैवस्योपलक्षणाधिकरणम्

१४ त्वष्टुरदेवतात्वाधिकरणम्

१५ त्रिषादधिकरणम्

१६ अनुषब्दकारदेवतानुपलक्षणाधिकरणम्

१७ अनैन्द्राग्नेभक्षे समन्त्रकं भक्षणाधिकरणम्

१८ पेन्द्राग्नेभक्षणे मन्त्राभावाधि०

१९ भक्षणमन्त्रस्य गायत्राग्यलम्बुत्केऽपि विनियोगाधिकरणम्

तृतीयाध्याये ३ पादे

अधिकरणानि—

१ उषसैस्त्वादीनां वेदधर्मताधि०

२ गुणमुखवच्यतिक्रमाधिकरणम्

३ प्रकरणाधिकरणम्

४ क्रमाधिकरणम्

५ समाख्याधिकरणम्

६ वकावकाधिकरणम्

मीमांसाकौस्तुभगतानां सूत्राणां

सूची ॥

| सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | |
|--------------------------|----|-----|-----|----------|-------------------------|-----|-----|----|
| अगुणा च | | २ | ३ | ६ | अपि वा क्रमसंयोगात् | २ | ४ | ३२ |
| अगुणे तु कर्मशब्दे | | २ | २ | २३ | अपि वा नामधेयम् | १ | ४ | २ |
| अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् | | २ | ३ | २१ | अपि वा प्रयोग- | २ | १ | ३२ |
| अग्रहणाद्वा | | ३ | २ | ३१ | अपि वा श्रुतिसंयोगात् | २ | १ | २४ |
| अचेतनेऽर्थबन्धनात् | | १ | २ | ३७ | अपि वा सर्वधर्मः | १ | ३ | १६ |
| अचोदकाश्च संस्काराः | | २ | २ | १८ | अप्रकृतत्वाच्च | २ | २ | १५ |
| अतुल्यत्वात् नैवम् | | ३ | २ | ३५ | अप्राप्ता चाऽनुपपत्तिः | १ | २ | ९ |
| अतुल्यत्वात् वाक्ययोः | | २ | २ | २५ | अभागिप्रतिषेधात् | १ | २ | ५ |
| अथाऽतः शेषलक्षणम् | | ३ | १ | १ | अभिधानञ्च | २ | १ | २८ |
| अद्रव्यत्वात् केवले | | २ | ३ | २० | अभिधानेऽर्थवादः | १ | २ | ४८ |
| अद्रव्यशब्दत्वात् | | १ | ३ | ३१ | अयनेषु षोढनान्तरम् | २ | ३ | ५ |
| अद्विर्वचनम् | | २ | ४ | १६ | अर्थलोपादकर्म | ३ | १ | ९ |
| अधिकारे च मन्त्र- | | ३ | २ | २१ | अर्थवादोपपत्तेश्च | २ | ३ | १७ |
| अनर्थकञ्च तद्वचनम् | | २ | १ | २६ | अर्थवादो वा | १ | २ | ४५ |
| अनर्थकश्चोपदेशः | | ३ | २ | २३ | अर्थस्तु विधिशेषत्वात् | १ | २ | २९ |
| अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वम् | | २ | १ | ३५ | अर्थविप्रतिषेधात् | १ | २ | ३८ |
| अनित्यत्वात् नैवम् | | २ | ४ | ५ | अर्थाच्च | २ | १ | ४३ |
| अनित्यसंयोगात् | | १ | २ | ६ | अर्थाद्वा कल्पना | १ | ४ | ३० |
| अनित्यसंयोगान्मन्त्रा- | | १ | २ | ४१ | अर्थाभिधानसंयोगात् | ३ | २ | १ |
| अनुमानव्यवस्थानात् | | १ | ३ | १५ | अर्थासन्निधेश्च | २ | ४ | १८ |
| अनुषङ्गो वाक्य- | | २ | १ | ४९ | अर्थेन त्वपकृष्येत | २ | १ | १४ |
| अन्वययोर्बन्धोक्तम् | | १ | २ | १८ | अर्थेकत्वादेकं वाक्यम् | २ | १ | ४७ |
| अन्यदर्शनाच्च | | १ | ३ | ३२ | अर्थेकत्वे द्रव्यगुणयोः | ३ | १ | १२ |
| अन्यश्चाऽर्थः प्रतीयते | | २ | १ | २७ | अवाक्यशेषाच्च | १ | ३ | १३ |
| अन्यामर्थक्यात् | | १ | २ | ४ | अविज्ञेयात् | १ | २ | ४० |
| अन्यामश्चाऽनेक- | | १ | ३ | २६ | अविद्यमानवचनात् | १ | २ | ३६ |
| अन्यार्था वा पुनः | | २ | ३ | २९ | अविभागात् | २ | ३ | २८ |
| अपननाद्वा | | ३ | २ | ३० | अविभागाद्भिधानार्थं | १ | ४ | २० |
| अपि वा कर्त्तृसामान्यात् | | १ | ३ | २ | अविरुद्धं परम् | १ | २ | ४६ |
| अपि वा कारणग्रहणे | | १ | ३ | ७ | अविधिष्टस्तु | १ | २ | ४२ |
| | | | | | अपेक्षी यज्ञसंयोगात् | २ | ३ | ३ |

| सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | सूत्राणि | अ. | पा. | सू. |
|---------------------------|----|-----|-----|--------------------------|----|-----|-----|
| अव्यवस्था विधीनाम् | १ | २ | ३२ | कर्तुंवां श्रुतिसंयोगात् | २ | ४ | २ |
| असंयुक्तं प्रकरणत् | ३ | ३ | ११ | कर्तृगुणे तु | ३ | १ | १९ |
| भा | | | | कर्मधर्मो वा | १ | ३ | २२ |
| आकालिकेऽसा | १ | २ | १४ | कर्मण्यपि जैमिनिः | ३ | १ | २४ |
| आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् | १ | ३ | ३३ | कारणं स्यादिति | १ | ४ | २१ |
| आख्या चैवं तदर्थत्वात् | ३ | ३ | १३ | कृतकं चाऽभिधानम् | २ | ४ | १२ |
| आख्या हि देशसंयोगात् | १ | ३ | १९ | कृत्स्नोपदेशात् | ३ | २ | १६ |
| आग्नेयस्तुऋतेतुत्वात् | २ | ३ | २७ | क्रमश्च देशसामान्यात् | ३ | ३ | १२ |
| आग्नेयवत् | २ | ४ | १५ | ग | | | |
| आधाराग्निहोत्रम् | २ | २ | १३ | गोतिषु सामाख्या | २ | १ | ३७ |
| आधानेऽसर्वशेषत्वात् | २ | ३ | ४ | गुणसुख्यव्यतिक्रमे | ३ | ३ | ९ |
| आनन्तर्यमचोदना | ३ | १ | २४ | गुणवादस्तु | १ | २ | १० |
| आनर्थक्यात्तदङ्गेषु | ३ | १ | १८ | गुणश्चाऽनर्थकः | २ | १ | १८ |
| आनर्थक्यादकारणम् | १ | ४ | २२ | गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे | २ | २ | २२ |
| आम्नातेऽवमन्त्रत्वम् | २ | १ | ३५ | गुणस्तु ऋतुसंयोगात् | २ | ३ | १ |
| आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् | १ | २ | १ | गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् | ३ | २ | ५ |
| आश्रितत्वात् | २ | १ | ५ | गुणस्य तु विधानार्थे | १ | ४ | १८ |
| उ | | | | गुणात्संज्ञोपबन्धः | २ | ३ | १० |
| उक्तं सामान्यायैदमर्थम् | १ | ४ | १ | गुणादविप्रतिषेधः | १ | २ | ४९ |
| उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् | १ | २ | २२ | गुणाद्वाऽप्यभिधानम् | ३ | २ | ४ |
| उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः | १ | २ | ५२ | गुणानां च परार्थत्वात् | ३ | १ | २२ |
| उपदेशो वा याज्या- | ३ | २ | १२ | गुणाभावात् | ३ | २ | ७ |
| ऊ | | | | गुणाभिधानात् | ३ | २ | २६ |
| ऊहः | १ | २ | ५४ | गुणार्थो वा पुनः- | १ | २ | ४३ |
| ए | | | | गुणार्थो वा पुनःश्रुतिः | २ | ४ | ३० |
| एकं वा संयोगरूपचोदना- | २ | ४ | ९ | गुणार्थो व्यपदेशः | २ | १ | ४४ |
| एकत्वयुक्तमेकस्य | ३ | १ | १३ | गुणोपबन्धात् | २ | २ | ११ |
| एकत्वेऽपि परम् | २ | ४ | १३ | इहणाद्वाऽपनीतम् | ३ | २ | ३३ |
| एकत्वेऽपि पराणि | २ | ४ | २१ | घ | | | |
| एकदेशात्वाच्च | १ | ३ | २९ | चोदना पुनरारम्भः | २ | १ | ६ |
| एकस्मिन्वा | ३ | २ | ४० | चोदना वा गुणानाम् | २ | २ | ६ |
| एकस्य तु डिङ्- | २ | ३ | २ | चोदना वा प्रकृतत्वात् | २ | २ | १० |
| एकस्यैवं पुनःश्रुतिः | २ | २ | २ | चोदना वा ऋग्वाथेऽस्य | २ | २ | १६ |
| ऐ | | | | चोदितं तु प्रतीयेत | १ | ३ | १० |
| ऐक्याच्च परार्थवत् | १ | ४ | ८ | चोदिते तु परार्थत्वात् | ३ | १ | १५ |
| ऐन्द्राग्ने तु | ३ | २ | ३९ | | | | |
| क | | | | | | | |
| कर्तुस्तु धर्मभियमात् | २ | ४ | ७ | | | | |

सूत्राणां सूची ।

३

| सूत्राणि | अ. पा. सू. | सूत्राणि | अ. पा. सू. |
|-----------------------------|------------|---------------------------|------------|
| छन्दःप्रतिषेधस्तु | ३ २ ३८ | दर्शनाद्विनियोगः | १ ३ १७ |
| छन्दश्च देवतावत् | ३ २ ४१ | दूरभूयस्त्वात् | १ २ १२ |
| जातिः | १ ४ २४ | दृश्यते | २ १ २३ |
| | | द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् | ३ १ ११ |
| | | द्रव्यं वा स्यात् | २ ३ २२ |
| तच्चोदकेषु मन्त्रारख्या | २ १ ३३ | द्रव्यगुणसंस्कारेषु | ३ १ ३ |
| तच्छेषो नोपपद्यते | १ ४ १९ | द्रव्यसंयोगाच्चोदना | ३ २ १७ |
| तत्प्रत्ययश्चाऽन्यशास्त्रम् | १ ४ ४ | द्रव्ये चाऽचोदितत्वात् | २ ४ २६ |
| तत्र तत्त्वमभियोग- | १ ३ २७ | द्रव्योपदेश इति चेत् | २ १ ११ |
| तत्संयोगात्क्रतुः | २ ३ २३ | | |
| तत्सिद्धिः | १ ४ २३ | धर्ममात्रे तु कर्म | २ १ ९ |
| तथा निर्मन्थ्ये | १ ४ १२ | धर्मस्य शब्दमूलत्वात् | १ ३ १ |
| तथा फलाभावात् | १ २ ३ | धर्मोपदेशाच्च | ३ ३ ८ |
| तथा याज्यापुरोरुचोः | २ १ १९ | | |
| तथाऽऽह्वानमपोति | ३ २ ९ | न ऋगव्यपदेशात् | २ १ ४६ |
| तथोत्थानविसर्जने | ३ २ १० | न कालविधिः | ३ २ ६ |
| तदर्थत्वात्प्रयोगस्य | १ ३ ३९ | न क्रिया स्यादिति | १ ३ ३४ |
| तदर्थशास्त्रात् | १ २ ३३ | न चैकं प्रति- | २ ४ १९ |
| तदशक्तिश्च | १ ३ २८ | न तदर्थत्वाच्छोकवत् | २ १ १२ |
| तदाश्रयो वा | ३ २ २२ | न त्वाम्नातेषु | २ १ २२ |
| तद्गुणास्तु | १ ४ ९ | न नाम्ना स्यादचोदना- | २ ४ १० |
| तद्गोदात्कर्मणः | २ २ १९ | न पूर्वत्वात् | १ २ २१ |
| तद्यपदेशश्च | १ ४ ९ | न वा प्रकरणात्प्रत्यक्ष- | १ ४ १४ |
| तस्य रूपोपदेशाभ्यां | ३ २ २९ | न शास्त्रपरिमाणत्वात् | १ ३ ६ |
| तानि द्वैधम् | २ १ ७ | न श्रुतिसमवायत्वात् | २ १ १६ |
| तुल्यश्च साम्प्रदायिकम् | १ २ ८ | न सर्वस्मिन्निर्वेशात् | ३ ३ ६ |
| तुल्यत्वात्क्रिययोः | १ ४ ७ | न स्याद्देशान्तरेषु | १ ३ २० |
| तुल्यं तु कर्तृधर्मेण | १ ३ २३ | नामधेये गुणश्रुतेः | १ ४ ६ |
| तुल्यश्रुतित्वाद्देशैः | २ १ १० | नामरूपधर्म- | २ ४ ८ |
| तेषामर्थान् सम्बन्धः | ३ १ ७ | नाऽसञ्चियमात् | १ ३ १२ |
| तेषामुत्पत्त्यत्र | २ १ ३६ | निगदो वा चतुर्थम् | २ १ ३९ |
| तेष्वदर्शनात् | १ ३ ८ | | |
| त्रयीविद्या च | ३ ३ ४ | | |
| त्रिषाच्च परार्थत्वात् | ३ २ ३६ | परार्थत्वाद्गुणानाम् | १ ४ १६ |
| त्वद्धारं तूपलक्षयेत् | ३ २ ३४ | परिसंखया | १ २ ४४ |

मीमांसाकौस्तुभगतानां

| सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | सूत्राणि | अ. | पा. | सू. |
|------------------------------|----|-----|-----|------------------------------|----|-----|-----|
| पात्नीवते तु पूर्वत्वात् | २ | ३ | १९ | मिथश्चाऽनर्थसम्बन्धात् | ३ | १ | २३ |
| पात्नीवते तु पूर्ववत् | ३ | २ | ३२ | य | | | |
| पुनरभ्युचीतेषु | ३ | २ | २९ | यजतिस्तु द्रव्यफल- | २ | ३ | १४ |
| पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् | ३ | १ | ६ | यजूषि वा | २ | १ | ४१ |
| पूर्ववन्तोऽविधानार्थाः | १ | ४ | १७ | यत्रेति वाधेवत्वात् | २ | १ | २१ |
| पृथक्त्वंनिवेशात् | २ | २ | २० | यथार्थं वा | ३ | २ | १७ |
| पौर्णमासीवत् | २ | २ | ९ | तथादेवने वा | ३ | २ | २६ |
| प्रकरणं तु पौर्णमास्याम् | २ | २ | ३ | यदि च हेतुरवतिष्ठेत् | १ | २ | ३० |
| प्रकरणान्तरे | २ | ३ | २४ | यस्मिन्गुणोपदेशः | १ | ४ | ३ |
| प्रकरणाविभागात् | ३ | २ | १९ | यावज्जीविकोऽभ्यासः | २ | ४ | १ |
| प्रकरणे च सम्भवन् | १ | २ | २४ | यावदुक्तं वा कर्मणः | २ | ३ | १३ |
| प्रक्रमाद्वा नियोगेन | २ | ४ | २३ | येषान्पूर्वत्पत्तावर्थे | २ | १ | ४ |
| प्रतिपत्तिरिति चेत् | ३ | २ | १४ | येषामुत्पत्तौ स्वे | २ | १ | ३ |
| प्रत्ययश्चाऽपि | २ | ४ | ३१ | यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते | २ | १ | ९ |
| प्रयोगचोदनाभावात् | १ | ३ | ३० | यैस्तु द्रव्यं न चिकीर्ष्यते | २ | १ | ८ |
| प्रयोगशास्त्रमिति | १ | ३ | ११ | र | | | |
| प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् | १ | ३ | २४ | रूपात्प्रायात् | १ | २ | ११ |
| प्रथांसा | १ | ४ | २६ | क | | | |
| प्रायश्चित्तं निमित्तेन | २ | ४ | २२ | लिङ्गदर्शनाच्च | २ | २ | ८ |
| प्राये वचनाच्च | २ | २ | १२ | " | २ | ३ | ९ |
| प्रोक्षणीव्यर्थसंयोगात् | १ | ४ | ११ | " | २ | ३ | १५ |
| क | | | | लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मः | २ | ४ | ३ |
| फलं च पुरुषार्थत्वात् | ३ | १ | ५ | लिङ्गमविशिष्टम् | २ | ४ | २५ |
| फलत्वाऽकर्म- | २ | ३ | २५ | लिङ्गसमवाया इति | १ | ४ | २८ |
| फलनिवृत्तिश्च | २ | १ | २९ | लिङ्गकर्मसमाख्यानानात् | ३ | २ | २० |
| फलं तु सह | ३ | १ | १० | लिङ्गसमाख्यानान्भ्याम् | ३ | २ | २४ |
| फलभ्रूतेस्तु कर्म | २ | २ | २४ | लिङ्गविशेषनिर्देशात् | ३ | ३ | २७ |
| फलस्य कर्मनिष्पत्तेः | १ | २ | १७ | लिङ्गाच्च | ३ | २ | ६ |
| ब | | | | लिङ्गाच्च | ३ | ३ | ३ |
| बहिराज्ययोः | १ | ४ | १० | लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य | १ | ३ | १८ |
| बुद्धभावात् | १ | २ | ३५ | लिङ्गोपदेशाच्च | १ | २ | ५३ |
| भ | | | | लोकवदिति चेत् | १ | २ | २० |
| भावार्थाः कर्मशाब्दाः | २ | १ | १ | ब | | | |
| भूमा | १ | ४ | २७ | वचनात्त्वयथार्थम् | ३ | २ | ३ |
| भूपत्त्वैकोभयमुक्ति | ३ | ३ | १० | वचनादिति चेत् | ३ | २ | १८ |
| मिथश्चाऽनर्थसम्बन्धाः | १ | ४ | १५ | वचनात्कर्मविशेषः | २ | १ | ४२ |
| | | | | वशात्कर्मार्थसंयोगात् | २ | १ | २० |

| सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | सूत्राणि | अ. | पा. | सू. |
|-----------------------------|----|-----|-----|--------------------------|----|-----|-----|
| वशावद्वा गुणार्थम् | २ | १ | १९ | शब्दान्तरे कर्मभेदः | २ | २ | १ |
| वषट्कारश्च कर्तृवत् | ३ | २ | ३८ | शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेः | १ | ३ | २९ |
| वाक्यनियमात् | १ | २ | ३४ | शास्त्रदृष्टविरोधाच्च | १ | २ | २ |
| वाक्यानां च समासत्वात् | ३ | १ | २९ | शास्त्रास्था वा | १ | ३ | ९ |
| वाक्यासमवायात् | २ | ४ | १७ | शिष्टाकोपेऽविरुद्धम् | १ | ३ | ६ |
| विकारो वा प्रकरणात् | २ | ३ | ८ | शेषः परार्थत्वात् | ३ | १ | ३ |
| विद्याप्रशंसा | १ | २ | १९ | शेषस्तु गुणसंयुक्तः | ३ | १ | २६ |
| विद्यार्था धर्मशास्त्रम् | २ | ४ | १४ | शेषे ब्राह्मणशब्दः | २ | १ | ३४ |
| विद्यावचनमसंयोगात् | १ | २ | ६० | शेषे यजुषशब्दः | २ | १ | ३८ |
| विधिकोपश्लोपदेशे | ३ | २ | ९ | श्रुतिलिङ्गवाक्य— | ३ | ३ | १४ |
| विधिना त्वेकवाक्यत्वात् | १ | २ | ७ | श्रुतेर्जाताधिकारः | ३ | ३ | १ |
| विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यम् | २ | १ | ३० | | | | |
| विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् | १ | २ | १९ | स | | | |
| विधिशब्दश्च | १ | २ | ६६ | संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् | २ | २ | २१ |
| विधिश्चाऽनर्थकः | १ | २ | २३ | संज्ञोपबन्धात् | २ | २ | १४ |
| विधौ च वाक्यभेदः | १ | २ | २६ | सन्दिग्धे तु व्यवायात् | ३ | १ | २१ |
| विरोधश्चाऽपि पूर्ववत् | २ | ४ | ६ | सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् | १ | ४ | २९ |
| विरोधिनां त्वसंयोगात् | २ | ४ | ३३ | सन्निधौ त्वविभागात् | २ | ३ | २६ |
| विरोधे त्वनपेक्षम् | १ | ३ | ३ | सम्प्रैषे कर्म— | १ | २ | ४७ |
| विशये प्रायदर्शनात् | २ | ३ | १६ | संयुक्तस्त्वर्थशब्देन | २ | ३ | १८ |
| विशेषदर्शनाच्च | २ | २ | ४ | संस्कारकत्वात् | ३ | २ | २ |
| विहितप्रतिषेधात् | २ | ४ | २७ | संस्कारश्चाऽप्रकरणे | २ | ३ | १२ |
| विहितस्तु सर्वधर्मः | ३ | १ | ८ | संस्कारस्तु न भिद्यते | २ | २ | १० |
| वेदसंयोगाच्च प्रकरणेन | ३ | ३ | ७ | संस्काराद्वा गुणानाम् | ३ | १ | १६ |
| वेदो वा प्रायदर्शनात् | ३ | ३ | २ | सतः परमविज्ञानम् | १ | २ | ६१ |
| वचनदेशे विकल्पः | १ | ४ | १३ | स देवतार्थस्तत्संयोगात् | ३ | २ | १३ |
| व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति | ३ | ३ | ६ | समाप्तं च फले वाक्यम् | २ | ३ | ७ |
| व्यपदेशभेदाच्च | २ | १ | १७ | समाप्तिः पूर्ववत्त्वात् | २ | ४ | २४ |
| व्यपदेशश्च तद्वत् | २ | २ | ७ | समाप्तिरविशिष्टा | २ | ३ | ११ |
| व्यपदेशाच्च | २ | १ | ४० | समाप्तिवच्च संप्रेक्षा | २ | ४ | २० |
| व्यपवर्गोऽव | २ | ४ | ४ | समेषु कर्मयुक्तम् | २ | २ | २६ |
| व्यर्थे स्मृतिरन्यास्या | १ | २ | २८ | समेषु वाक्यभेदः | २ | १ | ४८ |
| व्यवस्था वाऽर्थस्य संयोगात् | ३ | १ | २७ | सर्वत्वमाधिकारिकम् | १ | २ | १६ |
| व्यवस्था वाऽर्थस्य | ३ | १ | १७ | सर्वत्र च प्रयोगात् | १ | ३ | १४ |
| व्यवायाज्ञानुपपज्येत | २ | १ | ६० | सर्वस्यै वक्तव्यत्वात् | २ | २ | २८ |
| श | | | | सवर्षा भावोऽर्थः | २ | १ | २ |
| शब्दपृथक्त्वाच्च | २ | १ | २९ | सर्वेषां वा लक्षणत्वात् | ३ | १ | १४ |

सूत्राणां सूची ।

| सूत्राणि | अ. | पा. | सू. | सूत्राणि | अ. | पा. | सू. |
|---------------------------|----|-----|-----|----------------------------|----|-----|-----|
| सर्वेषां त्वैकमन्त्र्यम् | ३ | २ | ४३ | सौभरे पुरुषधृतेः | २ | २ | २७ |
| सर्वेषां चैककर्म्मम् | २ | ४ | ११ | स्तुतशक्योस्तु संस्कारः | २ | १ | १३ |
| सर्वेषां ऋषिद्विष्टत्वात् | ३ | २ | २३ | स्त्र्यपराधात् | १ | २ | १३ |
| सवधामिति चेत् | २ | १ | ४५ | स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वात् | १ | २ | २७ |
| सवधु वाऽभावात् | ३ | २ | ४२ | स्याद्योगाक्ष्या हि | १ | ३ | २१ |
| साकाङ्क्षं त्वैकवाक्यम् | ३ | १ | २० | स्वाध्यायवदवचनात् | १ | २ | ३९ |
| सामान्यादिति | १ | २ | ३१ | त्विष्टकृतुभय— | ३ | २ | १५ |
| सारस्वते विप्रतिषेधात् | २ | ४ | २८ | हृष्ये प्रतिप्रसवः | २ | ४ | २९ |
| सारूप्यम् | १ | ४ | २५ | हेतुदर्शनाच्च | १ | ३ | ४ |
| सूक्तवाक्ये च कालविधिः | ३ | २ | ११ | हेतुर्वा स्यादपूर्वत्वात् | १ | २ | २६ |

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १८३

वाक्यत्वेऽपि न दोषः । अतश्च विष्ण्वादिवाक्येष्वेव तत्तद्देवतो-
पांशुत्वविशिष्टयागत्रयविधानम् ।

यद्यपि तत्र कर्मोत्पन्नतस्यप्रत्ययेन विष्ण्वादेः प्रा-
धान्यं यागं प्रत्यवगम्यते, तथाऽपि सक्त्वादेरिव भूतभाव्युपयो-
गाभावाद्द्विनिर्योगभङ्गेन विष्ण्वादेः त्यज्यमानहाविरुद्देशकर्मत्वमा-
त्रविवक्षणेऽपि प्राधान्यांशविवक्षया यागं प्रति वैशिष्ट्योपप-
त्तिः । अन्तरालवाक्यस्थयजिपदं तु तेषामेव यागानामनुवादक-
म् । उपांशुयाजपदं तु तेषामेवाऽव्युत्पन्नं सामानाधिकरण्यमा-
त्रेणैव नामधेयम् । न तु तत्प्रत्ययन्यायेन । उपांशुयाजपदे व्युत्पत्त्य-
ङ्गीकारे(१) 'च जोः कुधिण्यतो'रित्यनेन चकारान्तस्य जकारा-
न्तस्य वा धातोः घिति णिति च प्रत्यये परे कुत्वविधानादुपांशु-
याग इति रूपापत्तेः उपांशुयाजपदे उपांशुत्वरूपगुणविधित्वश-
ङ्काया एवानुपपत्तेः । अतः सामानाधिकरण्येन रूढमिदं नामधेयम् ।
अन्तरालकालमात्रं त्विह यागत्रयानुवादेन विधीयते । तच्चान्तस्या-
रालकालस्तुत्यर्थम् । समुदायवाक्येऽप्यन्वितस्य जामित्वोपक्रम-
स्याऽव्यवहितत्वात् विष्ण्वादिवाक्येष्वप्यनुषङ्गेणाऽन्वयो ना-
नुपपन्नः ।

वस्तुतस्तु तैत्तिरीयशाखायामन्तरालवाक्येऽप्यजामित्वोप-
संहारादुपक्रमोऽपि तन्मात्रविषय एव । विष्ण्वादिवाक्येषु त्वजा-
मित्वाद्येत्येतावन्मात्रमेवाऽजामित्वसम्पादकान्तरालकालयोगबल-
लभ्याजामित्वसम्पादकतानुवादो यागस्तुत्यर्थो न विरुध्यते । तेषु
च विष्ण्वादिदेवत्ययागेषु शाखाभेदेन क्रमाभ्यासानि वैष्णवप्रा-
जापत्याग्नीषोमीययाज्यानुवाक्यायुगलानि लिङ्गादेवाङ्गं भवन्तीति
न तेषां सिद्धान्त इव मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पकत्वमित्यपि लाघवम् ।

१. पा. सू. ७. ३. ५२.

२४ मी० कौ०

अत एव विष्ण्वादिवाक्ये यागमात्रविधिः, देवता तु मान्त्र-
वर्णिकीत्यपास्तम्, मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पनापेक्षया तद्व्यप्रत्यय-
द्वितीयोपात्तदेवताया बलवत्त्वात् । तद्व्यादौ हि कर्मत्वमुपात्तमिति
त्यज्यमानद्रव्योद्देशकर्मत्वरूपदेवतात्वं स्मृतित्यवगम्यते, मन्त्रे तु
तदपि कल्पनीयम्, इत्यस्त्येव विप्रकर्षः । तस्मात् विष्ण्वादि-
वाक्यविहितानां यागानामन्तरालवाक्यमनुवादकमिति सिद्धम् ।

न च तदप्यन्तरालविशिष्टयागान्तरविधायकमेव किं न स्या-
दिति वाच्यम्, भेदकप्रमाणाभावेन यागान्तरत्वानुपपत्तेः ।
(१)विष्ण्वादियागेषु लिङ्गविनियुक्तानां मन्त्राणामस्मिन् क्रममा-
त्रेण मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पनायोगेनाऽरूपत्वाच्च । अतस्तत्र वि-
ष्ण्वादिवाक्यविहितयागत्रयानुवादेनाऽन्तरालमात्रविधिः ।

न च पुरोडाशनैरन्तर्यापादितजामितादोषनिवर्तकतानुवाद-
बलादेव तत्सिद्धिः, 'न गिरागिरेति ब्रूया'दि त्यनुवादबलादि-
वेरापदस्य तत्स्थानतेति भवदेवोक्तं शङ्क्यम्, अजामित्वानुवा-
दान्यथानुपपत्तिकल्पितविधिवलेन सम्भवत्प्राप्तिकस्याऽपि प्रत्य-
क्षविधिना विधातुं शक्यत्वात् । अन्यथा विधेयान्तराभावेनाऽ-
न्तरालवाक्ये ऽसम्बद्धस्य जामित्वार्थवादस्य व्यवयेन विष्ण्वा-
दिवाक्येष्वप्यन्वयानुपपत्तेः ।

अस्तु वा विद्वद्वाक्येऽर्थवादान्वयवदप्रापि समुदायानुवादे
तदन्वयः, तथापि समुदायानुवादप्रयोजनं त्रयाणामपि विष्ण्वा-
दियागानां फलसम्बद्धसिद्धिः । एतदभावे हि 'तावब्रूता-
मग्नीषोमावाज्यस्यैव नानुपांशु पौर्णमास्यां यजन्ति'ति वाक्ये
अग्नीषोमपदश्रवणात्तयोरुपलक्षणत्वेन विशेषणत्वेनैव वाऽन्व-
यावगतेः अग्नीषोमदेवत्यस्यैव विजातीययागस्य पौर्णमासीका-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १८५

लोदेशेनोपादानात् विद्वद्वाक्ये फलवाक्ये च सङ्ग्रहेण फलसम्बन्धस्याऽपत्तेः इतरयोरङ्गत्वमाप्नुयेत् । सति त्वेतास्मिन् समुदायानुवादे त्रयाणामप्युपांशुयाजसंज्ञकत्वप्रतीतेः 'उपांशु पौर्णमास्या'मिति नामैकदेशेन कालसम्बन्धोपपत्तेस्त्रयाणामपि 'प्रार्चीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेते'तिवत् फलसम्बन्धसिद्धिः । न हि तदाऽग्नीषोमीयपदमुपलक्षणं विशेषणं वा सम्भवति, समुदायानुवादवैयर्थ्यापत्त्या वैश्वदेवपदवदेव तस्य विष्ण्वादिदेवताद्वयोपलक्षकत्वात् । अतस्त्रयाणां फलसम्बन्धसिद्धिरेव समुदायानुवादप्रयोजनम् । सूत्रं निगदंव्याख्यातम् ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

(अथ सिद्धान्तः)

चोदना वा प्रकृतत्वात् ॥ २-२-१० ॥ (सि.)

अन्तरालवाक्य एव कर्मचोदना, विष्ण्वादिवाक्ये कर्मविध्यसम्भवेनाऽनुवादासम्भवात् । तथा हि—वैश्वानरवाक्यन्यायेनोपक्रमोपसंहारैक्यादेकवाक्यत्वावगमेन नाऽत्र यागत्रयविधानमुपपत्तिमत् ; न च प्रत्येकमजामित्वार्थवादाद्भिन्नवाक्यत्वावगतिः, तस्य विष्ण्वादिदेवतासु प्रत्येकमजामिताकरणशक्तिप्रदर्शनमुखेन तज्जन्ययागस्तुतिपरतया एकवाक्यत्वेऽप्युपपत्तेः । अतोऽन्तरालवाक्य एवाऽप्राप्तिबलेन छेदत्वनिश्चयं कृत्वा यागविधिर्युक्तः, न तु प्रैषार्थकेन तव्यप्रत्ययेन, वाक्यभेदाल्लक्षणापत्तेश्च । तस्मिंश्च यागे ध्रौवद्रव्यस्य शाखाभेदेनोपांशुयाजक्रामनात्तवैष्णवप्राजापत्याग्नीषोमीययाज्यानुवाक्यायुगलैः मान्त्रवर्णिक्या देवतायाश्च प्राप्तत्वेन नाऽरूपत्वम् ।

नन्वेवमपि मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पनापेक्षया तव्यप्रत्ययोपात्तदेवतात्वस्यैव विष्ण्वादेर्विधानं युक्तम् ; न च वाक्यभेदः

देवतात्रयविशिष्टैक्याग(१)विधानेनाऽवाक्यभेदादिति चेत्-

अत्र केचिदाहुः-मन्त्रकल्पितदेवतापेक्षया तद्व्यद्वितीयोपात्तदेवतात्वस्य दौर्बल्यम् । अत एव वार्तिके तद्धिनचतुर्थ्यपेक्षयैव मन्त्रवर्णस्य दौर्बल्यमुक्तम् । अतश्च नोत्पत्तिवाक्ये विशिष्टविध्यापादकविष्ण्वादिविधिर्युक्त इति मन्त्रवर्णादेव तत्प्राप्तिरिति ।

वस्तुतस्तु तद्व्यद्वितीयस्थले विष्ण्वादीनां तद्गतकर्मत्वस्य च क्लृप्तत्वात् केवलमुद्देशनिरूपितत्वमात्रं न व्युत्पत्तिमिद्धमिति कल्पनीयम् । यदि हि यजिस्त्यागविशिष्टमुद्देशमेव विशेष्यतया बदेत्ततोऽपि विशेष्यान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादुद्देशनिरूपितत्वमपि न कल्पयेत् । स तु वृद्धव्यवहारादुद्देशविशिष्ट्यागवाची, अतश्च कर्मत्वान्वयाय त्यागविशिष्टोद्देशे यजिपदस्य लक्षणामात्रमङ्गीकृत्य देवतात्वसिद्धिः । अथ वा यजिपदं यथाश्रुतमेवाऽङ्गीकृत्य त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वसमनियतो देवतात्वरूपास्वण्डोपाधिरेव सम्प्रदानत्वैकदेशभूतो लक्ष्यते तद्व्यद्वितीयोपात्तम् । ततश्च तस्य त्यागं प्रत्येवान्वय इति लाघवम् । मन्त्रे तु स्वतन्त्रस्य वाक्यान्तरस्यैव कल्पनात् गौरवमिति स ततो दुर्बल एव ।

अत एव देवताप्रमाणेष्वेवंविधो दौर्बल्यक्रमोऽनुसन्धेयः सर्वापेक्षया तावत्प्रबलो हविःपदसमभिव्यःहृतस्तद्धितः, तस्य स्मृतिवृद्धव्यवहाराभ्यां त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वरूपे देवतात्व एव शक्तत्वात् । यस्तु देवताशब्दः (२)“इन्द्रो देवता वातो देवता” इत्यादाविवं क्वचित् देवताविधायकः श्रूयेत, सोऽपि तद्धितापेक्षया दुर्बल एव, देवताशब्दस्य स्तुतिभाक्त्वहविर्भाक्त्वरूपद्विविधदेवतात्ववाचित्वेन साधारणत्वात्, देवतापदेन देवतात्वस्याऽधिष्ठानोपसर्जनतयाऽभिधानेन तद्धितवद्विष्येतयाऽप्रती-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १८७

तस्य श्रुतिरिति क्रियान्वयाप्रतीतिश्च ।

चतुर्थ्यपि सम्प्रदानत्ववाचिनी तस्य त्यज्यमानद्रव्योद्देश्य-
त्वविशिष्टप्रतिगृहीतृत्वरूपस्य ब्राह्मणादाविव देवतायां प्रतिगृही-
तृत्वाऽसम्भवेनाऽसम्भवादेकदेशलक्षणया देवतात्वापरपर्यायत्य-
ज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वरूपभाक्तसम्प्रदानत्वपरा सती ततोऽपि
दुर्बलैव ।

द्वितीया तु पूर्वोक्तविधया देवतात्वं लक्षयन्त्यपि शक्यताव-
च्छेदकामविष्टस्यापि लक्षयतावच्छेदकत्वात् न चतुर्थीतुल्येति ततो
दुर्बला ।

तव्यस्य तु कृदन्तत्वात् कर्मत्वोपसर्जनद्रव्यविशेष्यकबोध-
जनकत्वव्युत्पत्तेः न केवलं पूर्वोक्तविधया देवतात्वस्यैव लक्षणा,
अपि तु तद्विशेष्यताया अपि क्रियान्वयार्थं लक्षणेति ततोऽपि
दौर्बल्यम् ।

मन्त्रस्तु वाक्यान्तरकल्पकत्वात् ततोऽपि दुर्बल इत्युक्त-
मेवेति ।

अन्यथाऽपि समाधीयते—विष्णवादीनां हि तव्यप्रत्ययेन
देवतात्वे लक्षिते समानाभिधानश्रुत्या तेनैव विधानोपपत्तेः पञ्च-
मलकारविधेयभावनायां वैशिष्ट्याभावाद्वाक्यभेदापत्तिः । ना-
च—अत एव तव्येन देवतात्वभात्रं लक्षयित्वा प्रवर्तनांशेऽनु-
वादत्वमङ्गीकृत्य तस्य विधेयभावनावैशिष्ट्यापपत्तिरिति वाच्यम्,
विष्णवादिपदानामजामित्वोपपादकतया अर्थादात्वेनोपपत्ता-
वन्यतस्सम्भवललाभविष्णवादिदेवताविशिष्ट्यागविध्यङ्गीकारा-
योगात् ।

अत एव नामधेयत्वेनाऽप्युपपन्नस्य अग्निहोत्रममिदादिपद-
स्य मन्त्रवर्णेनाऽपि सम्भवललाभाग्निसमिदादिविधायकत्वं नाऽ-
ङ्गीकृतम् ; विशिष्टविधिरौरवापत्तेः । अत उत्पत्तिवाक्ये याग-

मात्रविधिः । नचैवं अर्थवादोन्नीतदेवताविधिकल्पनयाऽपि त-
त्प्राप्तिसम्भवे मान्त्रवर्णिकतत्कल्पने प्रमाणाभावः । 'सूक्तभाजो
हविर्भाजश्च देवता' इति स्मृत्या मन्त्रे तज्जन्यस्तुतिभाक्करूपदे-
वतात्वभ्याऽवगतौ हविर्भाक्करूपस्य तस्य सुकल्पत्वात् । अत एव
मान्त्रवर्णिकदेवताकल्पनापेक्षयाऽप्यार्थवादिकदेवताकल्पनं गु-
र्विति ततोऽपि दुर्बलम् । अतश्चोत्पत्तिवाक्ये देवताविध्यभावेऽ-
प्यन्तरालोपांशुत्वविशिष्ट एव यागो विधीयते ।

नचाऽन्तरालकालोऽपि पुरोडाशनैरन्तर्यापादितजामितादो-
षापनयनरूपफलबलादेव लभ्य इति तद्विध्यानर्थक्यम्, उपां-
शुयाजस्य वक्ष्यमाणरीत्या फलवत्त्वस्य क्लृप्तत्वेन दोषापनयन-
स्यार्थवादमात्रत्वात् । अथाऽप्यर्थवादस्यैवान्तरालकालविध्यु-
न्नायकता भवेत्, तथाऽप्युत्पत्तिवाक्येऽन्तरालपदवैयर्थ्यापत्तेः
कल्प्यविधिप्रवृत्तेः पूर्वमेवाऽनेनाऽभ्युदयशिरस्कत्वार्थमन्तरालका-
लो विधीयते, उपांशुत्वमपि चोपांशुयाजपदेनैव विधीयते । य-
द्यपि चास्य व्युत्पन्नत्वे कुत्वप्राप्तिरावश्यकी, तथापि 'दृष्टा-
नुविधिश्छन्दसी' त्यनुसाराच्छन्दसि कुत्वाभावमात्रं वैकल्पि-
कम् । न त्वेतावता सर्वमेवेदमव्युत्पन्नं नामधेयम् ; प्रतीपमा-
नावयवार्थत्यागेनाऽतिरिक्तशक्तिकल्पने प्रमार्णाभावात् । अव-
यवार्थाङ्गीकारे चोपांशुत्वस्याऽप्राप्तत्वाद् गुणविधिरेवायमिति न
किञ्चिदनुपपन्नम् । सूत्रं निगदव्यारूपातम् ॥

गुणोपबन्धात् ॥ २-२-११ ॥ (सि)

पुरोडाशनैरन्तर्यापादिताया जामिताया अन्तरालसम्ब-
न्धिना विधेयेन निवृत्तिप्रतीतिर्वाऽन्तरालकालरूपगुणोपबन्ध-
स्तत्र ह्यदिति कर्मणोदनाप्रतीतेरन्तरालवाक्ये एव कर्मविधानम् ॥

प्राये वचनाच्च ॥ २-२-१२ ॥ (सि)

‘शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाग्नेयो हृदयमुपांशुयाजः पादावग्नी-
षोमीयौ’ इत्यर्थवादे प्रधानभूताग्नेयादिसाहचर्याच्चोपांशुयाजत्वा-
वच्छेदेन प्राधान्यप्रतीतेः भवन्मते चाग्नीषोमदेवत्यस्यैव तस्य
तदापत्तेः सामान्यधर्मेण साहचर्यवादानुपपत्तिः । तथाहि—
‘तावन्नूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यज’ न्नित्य-
न्तरालविधिसन्निधौ श्रुतमपि वचनं तदीयगुणविधिव्यवधानान्न
तावत् तदर्थवाद इत्यसन्दिग्धम् । अतश्च विध्यन्तरैकवाक्यत्वा-
भावात् पुराकल्पोन्नीतेनाऽपि विधिनाऽत्र न यागविधानम्, अ-
न्तरालवाक्ये श्रुतेन विधिना तद्विधानसम्भवे कल्पविधिना त-
द्विधानस्याऽन्याय्यत्वात् । नाप्युपांशुत्वस्य; उत्पत्तिवाक्येनैव प्रा-
प्तिसम्भवे तद्विधाने निष्प्रयोजत्वात् । अत एव नाऽऽज्याग्नीषोम-
योः; तयोरपि ‘सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाये’ खनेन मन्त्रवर्णेन च प्राप्त-
त्वात् । यज्ञायेति चतुर्थ्या तद्विधिसम्भवे षष्ठ्या तदङ्गीकारस्या-
न्याय्यत्वाच्च । ‘ना’वित्यस्य षष्ठीचतुर्थीसाधारणस्य देवताविधौ
सन्दिग्धत्वाच्च । अतः परिशेषात् पौर्णमासकालविधिरेवायम् ।

यद्यपि चाऽसावन्तरालकालविध्यन्यथानुपपत्त्यैव प्राप्यते,
तथापि ततः पूर्वमेव विधीयते । तत्प्रयोजनञ्च विद्वद्वाक्येऽधिकार-
वाक्ये च पौर्णमास्यादिनामकत्वेन फलसम्बन्धलाभः । अन्यथा
श्रुतपौर्णमासीकालसम्बन्धानामेवाऽऽग्नेयादीनां तन्नामकत्वलाभेन
फलसम्बन्धापत्तेः उपांशुयाजस्याऽङ्गत्वापत्तिः । अतः फलस-
म्बन्धसिद्ध्यर्थं पौर्णमासीविधिरर्थवान् । तत्र च यागत्रयपक्षेऽग्नी-
षोमपदश्रवणात्तद्वैवत्यस्यैव यागविशेषस्याऽयं कालविधिस्स्या-
दिति तस्यैव फलसम्बन्धात् इतरयोर्वैष्णवप्राजापत्ययोरङ्गत्वमेव

स्यादित्युपाशुयाजत्वावच्छेदेन प्रधानप्रायपाठो न घटते ।

न च समुदायानुवादवैयर्थ्यापस्यैव प्राचीनप्रवणादिविधि-
वत् कालविधेस्सर्वविषयत्वम्, तस्य यागत्रयार्थवादत्वेनाप्युप-
पत्तेः । यागैकत्वपक्षे तु श्रूयमाणस्याऽप्यग्नीषोमपदस्याऽनुवाद्य-
गतत्वेनाऽविवक्षितत्वात् । त्रितयदेवत्यस्यापि फलसम्बन्धोपपत्तेः
सामान्यावच्छेदेन प्रधानप्रायपाठो युज्यते ।

न च तवाऽपि काले कर्मण उपादेयस्य स्वरूपेण प्राप्तस्याऽपि
प्रयोगविधिविषयत्वेन विधेयत्वात् तद्विशेषणस्याऽग्नीषोमदेवत्यत्व-
स्य समुदायवाक्ये प्रधानत्रयसाहित्यस्यैव विधेयविशेषणत्वेन
विवक्षोपपत्तेः कथं देवतात्रययुक्तस्य प्राधान्यमिति वाच्यम् ;
प्रयोगस्याऽपि समुदायवाक्यादेव प्राप्तत्वेनेह 'य इष्ट्ये' त्यादि-
वाक्यवत् कालसम्बन्धमात्रकरणात् । अतश्च तद्देवानुवाद्यवि-
शेषणत्वान्न तद्विशेषणविवक्षा । अनुवाद्याऽपि चास्मिन् वाक्ये
यागोत्पत्तिरेव, न तु प्राप्तत्वेऽपि यागप्रयोगः, तस्य फलसम्बन्ध-
प्रयोजनकत्वाभावेन कालसम्बन्धाकरणात् । अतश्च वैकल्पिक-
देवतात्रययुक्तस्याऽप्युपाशुयाजस्य फलसम्बन्धात् सामान्यतः प्र-
धानप्रायपाठो युक्त एव ।

नचैवं तर्हि ममाऽप्यग्नीषोमदेवताकत्वस्याऽविवक्षितत्वात्
सर्वप्राधान्योपपत्तिः, अग्नीषोमदेवताकत्वस्य विशेषणत्वेना-
विवक्षायामपि उपलक्षणत्वेनाऽन्वयस्य ग्रहैकत्ववदावश्यकत्वात्,
तत्र चोपलक्ष्यतावच्छेदकस्य विजातीययागत्वस्य लाभात्तदव-
च्छिन्नस्यैव कालसम्बन्धेन फलसम्बन्धापत्तेस्सर्वप्राधान्यानुपप-
त्तेः । ग्रहैकत्वस्थले तु ग्रहत्वातिरिक्तस्योपलक्ष्यतावच्छेदकस्याऽ-
लाभात् तस्य च सर्वग्रहसाधारणत्वात् सर्वग्रहसम्मार्गसिद्धिः ।

अतएवाऽस्मन्मते सस्यप्यग्नीषोमपदस्योपलक्षकत्वे उपा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९१

शुत्वाद्युपलक्षकान्तरमहिम्ना उपांशुयाजत्वस्यैवोपलक्ष्यता-
वच्छेदकस्य लाभात् तदनुवादेनैव कालविधिप्रतीतिः देव-
तात्रययुक्तस्यैव फलसम्बन्धोपपत्तिः । अत एवोपांशुत्वादीना-
मविवक्षितत्वाद्यजिना प्रयाजादीनामप्यनुवादात् फलसम्बन्धा-
पत्तिरित्यपास्तम् , तेषामविवक्षितत्वेऽप्युपलक्षकत्वेन व्यावर्तक-
त्वात् । अतो युक्तोऽस्मन्मते सामान्यमुखेन प्रधानप्रायपाठः ।

नन्वेतत्सर्वमेतस्य वचनस्य फलसम्बन्धफलकत्वे स्यात् ,
न त्वेतत्सम्भवति, विनाऽपि श्रौतकालविधिमन्तरालविधित एव
पौर्णमासीकालसम्बन्धस्य प्राप्तत्वेन फलसम्बन्धोपपत्तेः । न च
तस्य विलम्बितप्रतीतिकत्वेन शीघ्रप्रतीतकालसम्बन्धानामाग्ने-
यादीनां फलसम्बन्धापत्तेरर्थवद्वचनमिति वाच्यम् , तर्हि एत-
द्वाक्यप्रतीतकालसम्बन्धसत्त्वेऽपि शीघ्रप्रतीतिकोत्पत्तिवाक्यश्रुत-
कालसम्बन्धानामेवाऽऽग्नेयादीनां फलसम्बन्धापत्तेः उपांशुया-
जस्य तदलाभतादवस्थयात् ।

अथ त्वेतद्वचनवैयर्थ्यभयेनैव विलम्बितप्रतीतिकमपि कालं
निमीचीकृत्य पौर्णमास्यादिनामकत्वाङ्गीकारादुपांशुयाजस्य फ-
लसम्बन्धाङ्गीकारः, ततोऽन्तरालस्य पौर्णमास्यामिवाऽमावास्या-
यामपि सत्त्वात् तत्रोपांशुयाजनिवृत्तिफलकतयैतद्वचनसार्थक्योप-
पत्तेर्न प्राबल्यसिद्धिः । अमात्रास्यायामपि कदाचिदस्त्येवाऽऽग्नेयै-
न्द्राग्रपुरोडाशद्वयम् । तन्नैयत्यं तु पौर्णमास्यामपि नास्त्येव, असो-
मयाजिनोऽग्नीषोमीयाभावात् । अतः कथं फलसम्बन्धफलकत्व-
मस्य वचनस्येति चेत् , न ; 'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाग्नेय'
इत्याद्यर्थवादात् 'त्रयोदशाऽमावास्याया'मित्यादेलिङ्गोपबृंहितात्
'यदन्वञ्चौ पुरोडाशा' वित्यर्थवादान्तर्गतपुरोडाशपदस्याऽऽग्नेया-
ग्नीषोमीयमात्रपुरोडाशपरत्वे तात्पर्यावगमेनाऽमात्रास्यायामुपांशु-

याजाप्राप्तेः तद्व्यावृत्तिफलकपूर्णिमासीविधिवैयर्थ्यादेतस्य फल-
सम्बन्धमात्रफलकत्वोपपत्तेः ।

अत एव भवदेवोक्तम्—एतद्विध्यभावेऽन्तरालवाक्याद्यत्र
पुरोडाशद्वयान्तरालं तत्रैवोपांशुयाजो न त्वेकपुरोडाशायामिति
प्राप्नुयात्, एतद्विधिसत्त्वे तु विधिवैयर्थ्यभयेन पूर्णिमासीका-
लस्याऽन्तरालकालनैरपेक्ष्यप्रतीतेरेकपुरोडाशायामप्युपांशुयाजस्य
पूर्णिमासीसत्त्वेन प्राप्स्युपपत्तेः तद्वलेनैव चाऽऽन्तरालपदस्याऽग्नेयो-
क्तत्वंमात्रलक्षणवगतेरेकपुरोडाशायामुपांशुयाजोऽनुष्ठेय इति प्र-
योजनमपि एतद्विध्यभावेऽप्यन्तरालवाक्ये पुरोडाशद्वयस्य बह्व-
सप्रयोजनत्वेनोपांशुयाजानङ्गत्वात् कालोपलक्षणत्वमात्रप्रतीतेः
कालस्य च शङ्खवेलायामागन्तव्यमित्यादौ लोके श्रुतोपलक्ष-
णाभावेऽप्युपलक्षकान्तरोपलक्षितस्याऽऽगमनादिक्रियान्वयदर्शनेन
सुतरां प्रकृते आद्यपुरोडाशोपलक्षणेनैवाऽन्त्यपुरोडाशरूपोपलक्ष-
णाभावेऽपि कालोपलक्षणसिद्धेः तत्रोपांशुयाजानुष्ठानस्य दशमे व-
क्ष्यमाणत्वादुपेक्षितम् । तस्मादनन्यप्रयोजनकत्वाद्युक्तं फलस-
म्बन्धप्रयोजनकत्वमेवैतस्य वचनस्य ।

वस्तुतस्तु 'शिरो वा एतद्यज्ञस्ये'त्यादिपूर्णिमासीस्थपुरोडा-
शतात्पर्यग्राहकवदैतरेयिशाखायां वैष्णवयाज्यानुवाक्यायुगलस्या-
ग्नेयसाक्षाद्यान्तराले समाप्तानेनाऽमावास्यायामप्युपांशुयाजता-
त्पर्यग्राहकस्य सत्त्वात् तन्नित्यफलकत्वोपपत्तेः नोक्तरीत्या फ-
लसम्बन्धप्रयोजनकत्वोपपत्तिः । अतः तावद्भूतामित्यस्याऽनन्त-
रमेव 'उपांशुयाजमन्तरा यजती' त्यस्य कस्याश्चिच्छाखायामा-
ज्ञानादिति वार्तिकदर्शनादेवं परिहर्तव्यम्—नैव 'तावद्भूता'मि-
त्यस्य स्वतन्त्रविध्युक्त्यायकता, गौरवाद्वाक्यभेदापत्तेश्च ; अपि तु
'उपांशुयाजमन्तरा यजती'त्यनेनैकवाक्यत्वेन । अतश्चाऽनेन पूर्ण-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९३

मासीकालोपांशुत्वान्तरालकालविशिष्टमुपांशुयाजाख्यं कर्म वि-
धीयते, न त्वेतावताऽग्नीषोमदेवताऽऽज्यं च विधेयम्, प्रमाणान्तरेण
सम्भवत्प्राप्तिकस्य पुनर्विधेः निष्प्रयोजनत्वात्, विशिष्टविधौ
गौरवाच्च । अत एवाऽस्मिन्मते उपांशुत्वमप्युपांशुयजन्नित्यनेन
विधेयभावनाविशेषणत्वेन समर्प्यते, न तूपांशुयाजपदेन, तत्रव्यु-
त्पन्नम्, तत्प्रख्यन्यायेन वा नामधेयमित्यवगन्तव्यम् । अन्या-
नि तु देवतादिपदानि अनुवादकानि सन्ति स्तावकानीति न दो-
षः । एवञ्चाऽग्नीषोमीयपुरोडाशवदेव पौर्णमासीकालस्योत्पत्ति-
शिष्टत्वात् फलसम्बन्धोपपत्तिः । अमावास्यायां चाऽकरणोपपत्ति-
रिति सिद्धम् । बह्वचब्राह्मणेऽमावास्यायामप्युपांशुयाजविधानाद्वा
तत्रापि तत्करणम् । दाशमिकाधिकरणं तु कृत्वाचिन्तया । 'त्रयो-
दशाऽमावास्याया'मिति लिङ्गं त्वव्युत्त्यानुवादः । एतद्ब्रह्मादेवाऽ-
मावास्यायां विकल्प इति गुरवः ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे यागत्रयानुष्ठानम्, सिद्धान्त एकस्यैव दे-
वता विकल्पनेति स्पष्टम् ॥

इति चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चममाघाराग्निहोत्राधिकरणम् ॥ ५ ॥

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥ २-२-१३ ॥ (पू-)

(विषयसंशयौ)

दक्षपुर्णमासयोः 'आघारमाघारयती'ति प्रकृत्य श्रुतम्—'ऊ-
र्ध्वमाघारयति, सन्ततमाघारयती'त्यादि । तथा 'अग्निहोत्रं जुहो-
ती'ति प्रकृत्य 'दधना जुहोती'त्यादि । तत्र किमूर्ध्वादिवाक्यैः
दध्यादिवाक्यैश्च विहितानां कर्मणां संज्ञायुक्तवाक्ये समुदायानु-

वादके ? उत तयोरेव विहितयोः कर्मणोरितराणि गुणविधयः;
इति सन्देहः ।

(सङ्गतिः)

पूर्वाधिकरणे तव्यस्य श्रुत्या विधायकत्वाभावात्
वाक्यभेदापत्तेश्च युक्तमर्थवादत्वम्, इह तु त्वयाऽपि दध्यादिवा-
क्यानां विधित्वाङ्गीकारात् शुद्धगुणविधेश्च वक्ष्यमाणरीत्या अ-
सम्भवेन विशिष्टकर्मविध्यवश्यम्भावाद्युक्तः समुदायानुवाद इति
पूर्वपक्षोत्थानादनन्तरसङ्गतिः, पूर्वपक्षे गुणादभ्यासाद्वा कर्मभेदः,
सिद्धान्ते नेति पादाध्यायसङ्गतिरपि ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र विधेः प्रवर्तनारूपत्वात्तस्याश्च धात्वर्थविशेषावच्छिन्न-
प्रवृत्तिरूपभावनाव्यतिरिक्तविषयत्वान्नसम्भवेन शुद्धगुणविधाना-
नुपपत्तेः दध्यादिवाक्येऽपि धात्वर्थावच्छिन्ना भावनैव विधेया,
न च विहितस्य विधानं सम्भवति, इति भेदसिद्धिः । न च विहि-
तस्यापि फलकालादिसम्बन्ध इव दध्यादिसम्बन्धेनाऽपि पुनर्वि-
धानोपपत्तिः, स्वत उत्पन्नस्याऽपि फलसम्बन्धे विनियोगाधिकार-
योः कालसम्बन्धे विनियोगमात्रस्य विधेयत्वेन विध्युपपत्ति-
वद्दध्यादिसम्बन्धे उत्पत्तेरेवाऽऽवश्यकत्वात्तस्मात् प्राप्त्वेन वि-
धानायोगात् भेदोपपत्तेः । अतश्च दध्यादिवाक्येषु देवताविधि-
वाक्ययोः मन्त्रवाक्ययोश्च होमा एव गुणादभ्यासाद्वा भिन्ना
विधीयन्ते । तेषां च समुदायसिद्ध्यर्थमनुवादोऽग्निहोत्रं जुहोती
त्यनेन क्रियते, न तु कर्मन्तरमभ्यासाद्विधीयते, रूपाभावात्;
समुदायसिद्ध्यर्थकत्वेनाऽनन्यपरत्वाभावाच्च ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९६

प्रसिद्धाग्निदेवताकस्यैव होमस्य फलादिसम्बन्धः स्यात् , न तु सूर्यदध्यादिहोमानाम् । एतत्सत्त्वे तु सर्वेषामेव 'वैश्वदेवेन यजेते' तिवदनुवादादग्निहोत्रनामकत्वोपपत्तेः फलादिसम्बन्धोपपत्तिः इति सार्थक्योपपत्तेः ।

नचैवं दध्यादिहोमे स्ववाक्यत एवाऽऽन्यादिदैवत्यहोमेषु चाक्षेपेण यत्किञ्चिद्द्रव्योपपत्तावपि दध्यादिहोमेषु स्ववाक्ये देवताभावाद्वाक्यान्तरेण देवतामात्रविधेश्च तवाऽनिष्टत्वादाक्षेपेण देवताया अप्राप्तेरूपत्वापत्तिरिति वाच्यम् ; एकफलसाधनानामेषां एकप्रयोगविधिपरिग्रहेण सान्नाय्यवत् सकृदनुष्ठानोपपत्तेः, होमान्तरेष्वप्यपेक्षितत्वाद्द्रव्यदेवतादीनां प्रसङ्गेनोपकारकत्वोपपत्तेः ।

एवमाधारस्थलेऽप्यूर्ध्वत्वादिगुणानां धात्वर्थावच्छिन्नभावनाविधिमन्तरेण विधानायोगात्तयोरपि विधिप्रतीतेः विहितविधानायोगेन भेदसिद्धिः । तेषां च ऊर्ध्वत्वादिगुणेन्द्रदेवतादिविशिष्टाधारणामवान्तरप्रकरणादुपक्रमस्थत्वाद्वाऽऽ“धारमाधारयती” त्यर्थं समुदायानुवादः, न तु ध्रौवाधारस्यापि; तस्याऽग्निसम्मार्गविधिनाव्यवाहितत्वात् । तत्प्रयोजनश्चैन्द्राधारेण सहप्रयोगविध्यवगतयौगपद्यसिद्ध्या तदीयेन्द्रदेवताकत्वसिद्धिद्वारा यागरूपतासिद्धिः यौगपद्यसिद्धिमात्रं वा । अन्यथा हि कदाचिदुत्तरकाले क्रियमाणेन समिधयोगेनाऽपि यौगपद्यं प्रसज्येत । तस्मात्प्रतिफलकेन्द्रयागयौगपद्यसिद्धिः समुदायानुवादप्रयोजनम् ।

कोचित्तु 'तस्याऽऽधारमाधार्ये' त्यनेन प्रयाजार्ये चतुर्गृहीते संस्कार्ये सर्वेषां विनियुज्यमानानामाधारकर्मणामेकत्वसिद्धिः समुदायानुवादप्रयोजनमित्याहुः, तत्स्वयमेवाऽऽधारकर्मणोऽर्थकर्मत्वस्य तत्प्रकृत्याधिकरणे साधितत्वात् संस्कारकर्मत्वाङ्गीकारेऽपि

वा राजसूयन्यायेन समुदायानुवादं विनाऽपि तन्त्राभिधानावगत-
समुदायाभिप्रायेणैकत्वोपपत्तेरुपेक्षितम् ।

यत्त्र मूले आधाराग्निहोत्रवाक्ययोः समुदायानुवादकत्वे
साधकान्तरमुक्तम्—उत्पत्तिवाक्ये रूपज्ञानाभावाद्द्विधानायोग्य-
त्वमिति; तस्याऽयमभिप्रायः—रूपवत्ताज्ञानस्य योग्यताज्ञानविधया
विधेयताज्ञानं प्रति कारणत्वमाग्नेयादिवाक्ये विद्वद्वाक्ये चान्वयव्य-
त्तिरेकाभ्यां क्लृप्तम्, नीरूपस्य विधानायोग्यत्वात्, अतः आ-
धाराग्निहोत्रवाक्ययोरूपाश्रवणान्न तत्र कर्मणो विधानम्, तदभावे
च तदनुवादेनाऽपि गुणविधानायोगान्न वाक्यान्तरेणाऽपि रूपव-
त्ताज्ञानमिति; तत्तु दध्यादिवाक्ये कर्मविधित्वेऽपि च देवताभावेन
स्ववाक्ये रूपज्ञानाभावस्य तदवस्थत्वादयोग्यतानिश्चयाभावमात्रे-
ण च योग्यताज्ञानाभावेऽपि श्रुतशब्दाच्छाब्दबोधस्याऽऽनुभाविक-
त्वादूपवत्ताज्ञानस्य करणत्वानुपपत्तेः, तदभावेऽपि अरूपवत्तानि-
श्चयाभावमात्रेण विधेयत्वोपपत्तेः, पश्चाच्च रूपज्ञाने सत्यनुष्ठानोप-
पत्तेः रूपवत्ताज्ञानस्यैव कारणत्वकल्पनेऽपि वा उत्पत्तिवाक्येऽपी-
ष्टसामान्यवदनिर्धारितविशेषरूपमामान्यज्ञानमात्रेण विधेयत्वोप-
पत्तेः उपेक्षितम् । यदि तु कथञ्चिदेतदुपन्यसनीयमित्याग्रहः,
तदा दध्यादिवाक्येष्वपि 'यदग्नये चे'ति वाक्यस्थचतुर्थ्यन्तपदा-
नुषङ्गेण स्ववाक्ये रूपलाभोपपत्तेः तदलाभत्रोद्यं परिहर्तव्यम् ।
तत्सिद्धमाधाराग्निहोत्रवाक्ये समुदायानुवादके इति ॥

सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥

संज्ञोपबन्धात् ॥ २-२-१४ ॥ (पू)

एवं चाऽग्निहोत्रमाधारमिति द्वितीयान्तसंज्ञोपबन्धोऽपि दध्या-
दिवाक्यविहितानां कर्मणामर्थाक्षिप्तसाध्यत्वेनाऽनुवादादुपपन्नो

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९७

भवति । इतरथा स्वतन्त्रस्य विधेयत्वे तस्य करणत्वात् तृतीयार्थ-
लक्षणा स्यात् ॥

अप्रकृतत्वाच्च ॥ २-२-१५ ॥ (पू)

नन्वेवं “अग्निहोत्रं जुहोती”सत्र वाक्यान्तरेण रूपालाभेऽपि
स्ववाक्य एव(?) तत्प्रख्यन्यामाभावेन अग्निहोत्रशब्दस्य गुणवि-
धित्वापत्त्या रूपलाभोपपत्तेः दध्यादिवाक्यवद्विनिगमनाविरहेण
कर्मविध्यवसायात् कथं समुदायानुवादत्वमिति चेन्न ; तत्प्रख्या-
धिकरणोक्तमार्गेण चतुर्थीसमासस्य व्याकरणलक्षणाननुगत-
तया प्रकर्षेणाऽकृतत्वात् देवतारूपगुणविधित्वाशङ्कानुपपत्तेः ।
अत एव ‘मासमग्निहोत्रं जुहोती’सत्र अग्निहोत्रपदस्य गुणविधि-
त्वमनर्थैव युक्त्या निराकर्तव्यम् , न तु तत्प्रख्यन्यायेन । तत्प्र-
ख्याधिकरणे तदुक्तिस्तु अभ्युपेत्यवादेनैवेति द्रष्टव्यम् । अतश्च
रूपवत्त्वात्समुदायानुवादावेतौ ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

(अथ सिद्धान्तः)

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेरगु-
णार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ २-२-१६ ॥ (सि)

अन्यानाक्षिप्तविधिशक्तिकत्वादाघाराग्निहोत्रवाक्ययोः कर्म-
चोदनैव प्रत्येतव्या । एवं चाऽनुष्ठापकस्य विधेः स्वशब्दार्थभू-
तत्वात्त्वार्थावच्छिन्नभावनाविषयत्वात् प्रथमविधिप्रकाराङ्गीकरणा-
वलाघवम् । अतश्चाऽनन्यपरपुनःश्रवणादपि कर्मविधित्वनिश्च-
यः । न च समुदायानुवादप्रयोजनकत्वेनाऽन्यपरता, दध्यादिवा-

वेषु पञ्चमविधिप्रकारापेक्षया लाघवेन तृतीयविधिप्रकाराङ्गी-
करणस्यैव न्याय्यत्वावगमेन कर्मविध्यनुपपत्तेः समुदायानुवा-
दायोगात् । न च प्रवर्तनारूपस्य विधेर्धात्वर्थविशेषावच्छिन्नभाव-
नारूपप्रवृत्तिविषयतां विना सिद्धरूपगुणविषयत्वानुपपत्तेः न तृती-
यविधिप्रकारोपपत्तिरिति वाच्यम्, सिद्धरूपस्य साक्षाद्विधिविष-
यत्वायोगेऽपि विधिविषयभावनभावनावच्छेदकत्वेन परम्परया
विधिविषयत्वोपपत्तेः । यद्यपि विधिगुणयोः नाऽनेन संसर्गेणा-
न्वयो व्युत्पन्नः, तथाऽपि गुणो भावनायां कारकतादिसम्बन्धेन
प्रकाराभवति, विधिश्च गुणविशिष्टां तां विदधत् फलतां गुण-
विषयः सम्पद्यते ।

न च प्राप्तत्वात् भावनायाः पुनर्विधाने भेदापत्तिः, एकवारं
कर्तव्यत्वेन बुद्ध्या अपि गुणविशिष्टायाः पुनः कर्तव्यत्वबोधो-
पपत्तेः; तस्य च विशेष्यांशे अज्ञातज्ञापनरूपविधिफलाभावेऽपि
विशेषणांशे तत्फललाभेन सार्थक्योपपत्तिः । विशेष्यांशे त्वसा-
वनुवाद एव । अत एव सर्वत्र प्रातीतिके विशिष्टभावनाविधाने
सत्यपि फलविषयभेदादेव षड्विधिप्रकारा दुद्भिदधिकरणेऽस्मा-
भिरुपपादिताः । दौर्बल्यञ्चोत्तरोत्तरं तेषामुक्तम् । वार्तिककारेण
च प्रातीतिकभावनाविधिनैरपेक्षेणाऽष्टौ श्रुतिप्रकाराः परोक्ता
दूषिताः । विस्तराभिया तु त इह न प्रपञ्च्यन्ते । अतोऽपि वि-
शेष्यांशस्य प्राप्तत्वेऽपि गुणविशिष्टत्वेन रूपेण पुनर्विधानात् फ-
लतश्च गुणविधित्वोपपत्तेः तृतीयप्रकारोपपत्तिः ।

तत्रापि च गुणकरणिकायां भावनायां धात्वर्थस्य कर्मत्वे-
नैवाऽन्वयो न तु करणत्वेन, मत्वर्थलक्षणापत्तेः । उपपादितं चैत-
(१)दुद्भिदधिकरणे । नचैवं प्राप्ताया अपि भावनाया गुणविधा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । १९९

नार्थं पुनर्विध्यभ्युपगमे विद्वद्वाक्यविहितभावनाया अप्याग्नेयो-
ऽष्टाकपाल' इत्यत्र द्रव्यदेवताविशिष्टत्वेन रूपेण पुनर्विधानो-
पपत्तेर्वाक्यभेदानापत्तिः, विधिविषयभावनायामनेकगुणवैशि-
ष्ट्योपपत्तावपि विधिफलस्यैकविषयत्वस्वाभाव्येनाऽनेकविषयत्वे
आवृत्त्यवश्यम्भावात् ।

अत एव यत्राऽपूर्वभावनाविधिः तत्र विधिफलस्य
विशेष्य एवैकस्मिन् सत्त्वादार्यिकेन च विध्यन्तरेण विशे-
षणानां विधानान्नावृत्तिरिति(१)स्पष्टं(२)पौर्णमास्यधिकर-
णे । प्रकृते तु विधिफलस्यैकदध्यादिविषयत्वेन वाक्यभेदाभा-
वाद्युक्तस्तृतीयविधिप्रकार इति प्रकृतकर्माभावान्नाऽऽधाराग्निहो-
त्रवाक्ययोः समुदायानुवादकत्वम् । न च दध्यादिवाक्ये वाक्य-
भेदाभावेन कर्मविधायित्वाभावेऽपि 'यदग्नये चे'ति वाक्याभ्यां
प्राप्तकर्मानुवादेनाऽनेकगुणविधाने वाक्यभेदापत्तेः कर्मविध्यवग-
मात्, विशेषतश्चेत्पत्तिवाक्यशिष्टदेवतासमुच्चयानुरोधेनाऽऽग्नेय-
वदेकैकस्मिन् वाक्ये कर्मद्वयविध्यवगतेश्चतुर्णां कर्मणामग्निहोत्रं
जुहोतीत्ययं समुदायानुवादो भविष्यतीति वाच्यम् ; तत्प्रख्या-
धिकरणोक्तपार्श्वेण तत्राऽपि प्रजापतिमात्रविधानेन सायंप्रातः
कालीनदेवतासमुच्चयविशिष्टप्रजापतिमात्रविधानेन वाऽग्निमू-
र्यादीनां मन्त्रवर्णैः प्राप्तमभ्युपगम्य तृतीयविधिप्रकारोपपत्तेः ।
तस्मादग्निहोत्रं जुहोतीत्यमेव कर्मविधिः ।

न चैवमनेकेषां गुणानामेकार्थत्वाद्विकल्पापत्तिः, 'सायं
जुहोति' 'प्रातर्जुहोती'ति वाक्याभ्यां तावत्कालविधानेऽपि 'स
वै सायं च प्रातश्च जुहोति'त्यनेन च तत्समुच्चयविधानादुत्पन्न
शिष्टसमुच्चयानुरोधेन साङ्गस्याऽऽवृत्तिरित्यवगतेः । न च पौर्णमा-

१. क्षुण्णं. हांते. ग. पु. २. पू. मी. २. २. ३.

२६ मी० कौ०

स्यमावास्याकालीनयोः दर्शपूर्णमाससंज्ञयोः कर्मणोभेदेन तत्रा-
ङ्गाव्युपपत्तावपि अग्निहोत्रसंज्ञस्य कर्मणः सायम्प्रातःकालयोर्भे-
देनाऽनुष्ठीयमानस्याऽपि स्वरूपेणैकत्वात् सकृत्कृतैरेवाऽङ्गैरुपका-
रसिद्धेः प्रचारविप्रकर्षेऽपि सवनीये सकृदङ्गानुष्ठानवदिहापि तदु-
पपत्तेः कथं साङ्गस्य द्विरावृत्तिरिति वाच्यम्, उत्पत्तिवाक्ये उत्प-
न्नस्याऽपि कर्मणः सायम्प्रातःकालवाक्याभ्यां प्रयोगद्वयविधा-
नात् तस्य च साङ्गप्रधानविषयत्वात् पौर्णमास्यमावास्यायोरिव
साङ्गस्याऽप्यावृत्तिसिद्धेः । सवनीये तूत्पत्तिवाक्य एवाऽऽश्विनग्र-
हग्रहणोत्तरकालश्रवणात् प्रयोगविधिप्रतीतेः “वपया प्रातस्सवने
चरन्ती’त्यादौ च सवनीयप्रयोगावयवभूतानामेव वपाप्रचारा-
दीनां कालविधानात्तन्मात्रोपयोग्यङ्गविशिष्टानां प्रयोगविधानेऽ-
पि सवनीयप्रयोगविधिपरिमृहीतानां तदीयपरमापूर्वोपयोगिप्र-
याजादीनामुत्पत्त्यपूर्वोपयोगिनां च साधारणानां वपाप्रचारादि-
वाक्यपरिमृहीतत्वेन नाऽऽवृत्तिरिति वैषम्यम् ।

ननु-“आश्विनं ग्रहं गृहीत्वे’त्यस्य क्रमविधित्वात् कालवि-
धित्वाभावे न सवनीयप्रयोग(१)विधित्वम् । क्रमस्य पाठादेव
प्राप्त्युपपत्तेरस्य कालविधित्वावसायात् । “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा
त्रिवृता युषं परिवीथे”त्यनयोस्त्वान्तयोरुभयोरपि क्रियान्वयव्यु-
त्पत्तेः । परस्परं च पाठादेव क्रमोपपत्तेः । परिवीथेत्यनेन परि-
व्याणान्तरविधायकेन व्यवहितस्य त्वान्तस्य क्रमविधायकत्वानु-
पपत्तेश्च । विशिष्य च देमकादशे निरूपयिष्यते । तस्माद्युक्तः
कालानुरोधेन साङ्गस्याऽभ्यासः ।

एवमेकैकस्मिन्नपि काले दशाहुतिपक्षे ‘द्वे आहवनीये जु-
होति, चतस्रो गार्हपत्ये, चतस्रोऽन्वाहार्यपचने, दश सम्पद्यन्ते,

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २०१

दशाक्षरा विराट्, य एवं विद्वान् विराट्सम्पन्नमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्राऽग्निहोत्रवाक्योत्पन्नस्य होमस्य विराट्सम्पत्तिवाक्येनाऽप्रासिवल्लभ्यविधिशक्तिकेन दशधाऽऽवृत्तिर्विधीयते । तत्र 'द्वे आहवनीये' इति वाक्येनाऽभ्यासद्वयस्याऽप्याहवनीयाधिकरणकत्वे विहिते ऽवशिष्टाभ्यासेषु तत्तद्वाक्याभ्यां गार्हपत्यान्वाहार्यपचनरूपाधिकरणमात्रविधानात्(१) 'समं स्यादश्रुत्वा'दिति न्यायेन चैकैकस्मिन् गार्हपत्यान्वाहार्यपचनरूपेऽधिकरणेऽभ्यासचतुष्टयप्राप्तेर्दशधाऽभ्याससिद्धिः ।

न च "यदाहवनीये जुहोती"ति अनारभ्याधीतेनैवाऽभ्यासद्वय आहवनीयप्राप्तेरभ्यासान्तरेषु चाऽधिकरणाविधिबलादेव तद्गोभोपपत्तेः 'द्वे आहवनीये' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति वाच्यम् । एतद्विध्यभावे विराट्सम्पत्तिवाक्यविहितेऽपि दशधाऽभ्यासे गार्हपत्यादिवाक्ययोः होमानुवादेनाऽधिकरणमात्रविधाने 'समं स्या'दिति न्यायेनैकैकस्मिन् पञ्चहोमाभ्यासापत्तेश्चतुःपदानुवादायोगात् चतुस्सङ्ख्याविशिष्टहोमोद्देशेनाऽधिकरणमात्रविधौ च वाक्यभेदापत्तेः चतुस्सङ्ख्याोद्देशेनैव तद्विधौ चाऽधिकरणचतुष्टयापत्तेः चतुस्सङ्ख्याकोद्देशेनाऽधिकरणविधौ चाऽतिप्रसङ्गोपत्तेः, सङ्ख्याधिकरणविशिष्टावत्कर्मान्तरविध्यवश्यम्भावादष्टानामेतेषामग्निहोत्रवाक्यविहितस्य च देवताभेदेन द्विरावृत्तस्यैव कर्मणो विराट्सम्पत्तिवाक्ये लिङ्गसमवायेनाऽनुवादापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, विराट्सम्पत्तिवाक्ये अग्निहोत्रपदस्य गौणत्वेऽङ्गीकृतेऽपि फलादिवाक्ये तदङ्गीकारे प्रमाणाभावेनाऽग्निहोत्रवाक्यविहितस्यैव फलादिसम्बन्धापस्याऽऽपराग्निकर्होमानामङ्गत्वापत्तेः । अत उक्तविधया तेषामपि फलादिसम्बन्धासिद्ध्यर्थं "द्वे

आहवनीये' इत्यस्य सार्थक्योपपत्तिः ।

ननु त्वदुक्तरीत्याश्रयणेऽपि 'द्वे-आहवनीये' इत्यत्र द्वित्व-
विशिष्टहोमोद्देशेनाऽऽहवनीयाविधौ वाक्यभेदापत्तेः न तावत् सा-
मान्यविधितः पूर्वमेवैतद्विधिप्रवृत्तपङ्गीकरणं युक्तम्, न च त्रै-
दोष्यमङ्गीकृत्याऽपि लक्षणया अभ्यासद्वयभिन्नत्वभ्यासेष्वाह-
वनीयानिवृत्तिर्विधीयत इति युक्तम्; तथा सति तेष्वआहवनीयपा-
सेवैधत्वेन(?) 'न तौ पशौ करोती' तिवद्विकल्पापत्तेः । अतः कथं
त्वदुक्तस्याऽपि सिद्धिरिति चेत् ? न, अभ्यासद्वयभिन्नाभ्या-
सेष्वाऽऽहवनीयभिन्नमधिकरणं कुर्यादित्येवं पर्युदासाङ्गीकरणेन
विकल्पानापत्तेः । नचैवं लक्षणापत्तिः, वचनव्यक्त्यन्तरासंभ-
वेनाऽगात्याऽङ्गीकारात् । न ह्याहवनीयमुद्दिश्य द्विरभ्यासविनि-
योगविधिः सम्भवति, आहवनीयाङ्गत्वापत्तेः । नाऽऽप्याहवनीये
निमित्ते तद्विधिः, तस्य नियतत्वेन निमित्तत्वानुपपत्तेः । यदि
तु 'गार्हपत्ये जुहोति, (२)अन्वाहार्यपचने जुहोती'ति वाक्यान्तरा-
भ्यां तस्य पाक्षिकतया निमित्तत्वमुच्यते, ततः प्राकराणिकत्वेन
ताभ्यां तस्य बाधादेव नित्तित्वानुपपत्तिः । अतो युक्तो लक्ष-
णया पर्युदासः । यद्यपि च न पर्युदासमात्रं तत्फलम्, तस्याऽ
धिकरणान्तरविधिवलादेव सिद्धेः, तथाऽप्यापराग्निकहोमानां
फलादिमम्बन्धासिद्धिरुक्तविधया फलं भवतीति न कश्चिद्विरोधः ।

यश्चन्न कैश्चित् न्यायसुधाकृतदुक्तपक्षान्तरावलम्बनेनोक्तप्र-

१. तौ आज्यभागौ पशुयागं नाऽनुतिष्ठेदित्यर्थः । अत्र निवेधार्य
आज्यभागयोः दर्शपूर्णमासत अतिदेशावश्यभावेन अतिदिष्टस्य घा-
स्त्रीयत्वेनाऽन्यन्तबाधायोगात् विकल्पे पर्यवसानमिते सिद्धान्तितं
दशमाष्टमे ।

२. अन्वाहार्यं दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणात्वेन देयमोदनम्, तत्
पचयते यद्विमन् इत्यन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २०३

कारेऽस्वरसर्वाजमुक्त्वा सुधोक्तं पक्षान्तरपुपपाद्य विधिरसाय-
नदूषणाय प्रवृत्तम् ; तथाहि-न तावत् 'द्वे आहवनीये' इति परि-
सङ्ख्याफलकोऽपूर्वविधिस्सम्भवति, सामान्यविधेरपि प्रत्यक्ष-
त्वेन ततः पूर्वमेतद्विधिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः, द्विरभ्यासोद्देशेनाऽऽहवनी-
यविधौ सामान्यविधिनोपसंहारापत्तेश्च । नाऽपि प्राप्तपरिसङ्ख्या,
त्रैदोष्यापत्तेः । अतश्च त्रिष्वपि वाक्येषु सङ्ख्यैव विधीयते ।
सा च यद्यपि न होमानुवादेन विधातुं शक्या, तथात्वे अधिक-
रणानां सर्वावृत्तिषु साङ्ख्यापत्तेः । सङ्ख्यानां तु समुच्चयेन सङ्-
ख्यान्तरापजननापत्तेश्च, विकल्पे चतुस्सङ्ख्याविधायिवाक्य-
द्वयवैयर्थ्यापत्तेश्च, तथापि 'गार्हपत्ये जुहोति, अन्वाहार्यपचने
जुहोती' ति वचनान्तरप्राप्ततत्तदधिकरणताकोद्देशेन विधीयते ।
तासां च विकल्पे प्राप्ते(१) 'तां चतुर्भिरादत्त' इतिवत् विराट्-
सम्पत्तिवाक्येन समुच्चयो विधीयत इति । तत्रेदं वक्तव्यम्-
यस्तावदस्वरसः स पर्युदासार्ङ्गीकरणादेव निरस्तः । यदपि च
पक्षान्तरमुक्तम्, तदपि गार्हपत्यान्वाहार्यपचनवाक्याभ्यामना-
रम्पाधीताहवनीयवाच्यबोधादाहवनीयाधिकरणताया अप्राप्तेः
तदुद्देशेन द्वित्वविधानानुपपत्तेराहवनीयाधिकरणकत्वस्याऽपि
च प्रातिपसवविधौ कर्मान्तरत्वापत्तेस्तस्य चाग्निहोत्रपदवाच्य-
त्वाभावेन फलसम्बन्धानापत्तेः परिहर्तव्यम् ।

किञ्च द्विरावृत्त्यादीनां केन समुच्चयसिद्धिः ? विराट्वाक्ये-
नेति चेत् ! तत्र समुच्चयवाचकपदाभावेन तद्विध्यनुपपत्तेः, 'तां
चतुर्भि' रित्यत्र तु न समुच्चयो विधीयते । अपि तु समुच्चयफ-
लकचतुस्सङ्ख्यैव विधीयत इत्युक्तम्, प्रकृते तु दशत्वसङ्ख्या-

१. चयनप्रकरणस्य वाक्यमिदम् । तां अग्निं खनित्रं चतुर्भिर्मन्त्रैः
देवस्यत्वेत्यादिभिः मृत्यन्वनाथं हस्ते गृह्णीयादित्यर्थः ।

विध्यङ्गीकारे तत एव द्विराट्टत्वादेः प्राप्तत्वात् न विधिप्रभवः । न च समुच्चय विध्यभावेऽपि त्रयाणामग्नीनामट्टप्रार्थत्वेन समुच्यता तन्निमित्तकानामभ्यामनामपि समुच्चयापत्तिः, प्रक्षेपस्य प्रेक्ष्यद्रव्याधारं विनापि पूर्वाधारवियोगमात्रेणोपपत्तेः आहवनीयसंयोगस्याऽट्टप्रार्थत्वेऽपि सप्तप्रीश्रुत्या आधारताजननरूपदृष्ट्यारैवाऽट्टप्रार्थत्वावसायात् दृष्टवान्तरकार्यार्थत्वेन विकल्पोपपत्तेः । अत एव पदादिनाऽऽहवनीयादेर्बाधोऽपि सङ्गच्छते । नचैवं अग्नीनां दृष्टार्थत्वे प्रतिनिधयापत्तिः, प्रतिनिधावदृष्टरूपाग्निमादृश्यमत्वे प्रमाणाभावेन तदनापत्तेः । अत एव काचित्को (१) ब्राह्मणपाण्यादिविधिरभावे विधिरेव । अतः प्रकारान्तरेणाऽपि न समुच्चय सिद्धिः । तस्मादुक्तप्रकार एव श्रेयान् ।

नचैवं 'गार्हपत्ये जुहोत्यन्वाहार्यपचने जुहोती' ति वचनान्तरेणैव 'सप्त स्या' दिति न्यायसहकृतेनाऽभ्यासचतुष्टये तत्तदधिकरणप्राप्तेः 'चतस्रो गार्हपत्य' इति वचनद्वयवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, 'चतस्रो गार्हपत्य' इत्यादेरुपसंहारार्थत्वेन वचनचतुष्टयसार्थक्योपपत्तेः । अथ वा-अस्तु 'द्वे आहवनीय' इत्यस्य शाब्दपर्युदासरूपपरिसङ्ख्येयविधेरिदं वाक्यद्वयम्, शेषो विधेयस्तुत्यर्थः । सर्वथा 'द्वे आहवनीये' इत्यस्याऽऽपराधिकहोमानां फलादिमन्वन्धसिध्यर्थत्वमिति सिद्धम् । तस्मादेकैकस्मिन्नपि काले दशधाभ्यामात् तद्देवताप्रन्त्रादीनां सर्वेषामेव ममात्रेणोपपत्तेः न विकल्पः । एवं च 'द्वे आहवनीये, द्वे गार्हपत्ये, द्वे अन्वाहार्यपचने जुहोति, षट् सम्पद्यन्त' इति शाखान्तरवचनात् पढाहुतिप्रक्षे 'सप्त च शतानि त्रिंशतिश्च संवत्सरे सायमाहुतयः । सप्त चो एव शतानि त्रिंशतिश्च संवत्सरे प्रातराहुतयः' इति छिन्नगानु-

१. यद्यन्यं न विन्देत् । ब्राह्मणस्य दाक्षिणे हस्ते होतव्यम् । एव वा अग्निवैश्वानरो यद्ब्राह्मणः । इत्यादि ॥

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २०६

मिताविधिबलेन वा द्रव्याहुतिपक्षे च तावदेवतामन्त्रादीनां न विकल्पः ।

नचैवं वाचनिकाभ्यासविधिवशादेव प्रजापतेरग्न्यादि-
समुच्चयसिद्धौ पुनः 'यदग्नये च' त्यत्र तद्विधानानुपपत्तिः,
लिङ्गानुमितविधिना इतराहुतीनां पाक्षिकत्वप्रमाणेऽपि अस्यां
शाखायां ब्रह्माहुतिसमुच्चयस्य 'यदग्नये चे' ति वाक्याधीनत्वात् ।
दध्याधिद्रव्याणाञ्चैकस्मिन् कर्मणि विकल्पोऽगत्या इष्ट एव ।
तस्मान्नाऽऽघराग्निहोत्रवाक्यं समुदायानुवाद इति सिद्धम् ।

प्रयोजनम्—अग्निहोत्रवाक्ये पूर्वपक्षे दध्यादिदशद्रव्याणि
सान्नाय्यवत् सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन सहोपादाय सकृद्यागः,
सिद्धान्ते तु विकल्पेनेति न्यायसुधोक्तमेव द्रष्टव्यम् ।

यत्त्वत्र केचित्—पूर्वपक्षे दध्यादिहोमेषु देवताप्राप्तिमुपपाद-
यितुमशक्नुवन्तः तत्रत्यजुहोतेः प्रक्षेपमात्रलक्षकत्वेन पूर्वपक्षमुप-
पाद्य, न्यायसुधाकृतं बहुभाषित्वेन दूषयन्ति । तत् प्रसङ्गादनुष-
ङ्गतो वा देवताप्राप्तेः पूर्वपक्षे उपपादितत्वात् जुहोतेः प्रक्षेपमात्र-
लक्षणायां प्रमाणाभावेनोपेक्षणीयम् ।

यदि तु दध्यादिवाक्ये गुणमात्रविधित्वाङ्गीकारेऽपि 'यद-
'ग्नये चे' ति वाक्यद्वये विहितकर्मणामेव समुदायानुवादोऽग्नि-
होत्रवाक्यमिति पूर्वपक्षीक्रियेत, तदाऽन्यदपि प्रयोजनम्—मासा-
ग्निहोत्रे सायम्प्रातः कर्मणां मध्य एकस्य सौर्ये द्वयोरग्नेययो-
र्मध्ये एकस्यैव कस्यचिद्विकल्पेन धर्मातिदेशात् मासाग्निहोत्रे-
सायम्प्रातर्वा विकल्पेन मासपर्यन्तं कार्यम् । न चाऽऽत्यन्तसंयो-
गवाचिद्वितीयान्तमासपदोपदिष्टसातत्यानुरोधेनोऽतिदेशिककाल-
बाधात् सर्वदैव कर्तव्यत्वापत्तिः, आहारविहारान्नावश्यककार्या-
नुरोधेन सातत्यबाधावश्यम्भावे जातेष्विन्यायेनाऽऽतिदेशिककाला

सुरोधेनाऽपि तत्सम्पादनस्य सङ्कर्षे वक्ष्यमाणत्वात् ।

नचैवमपि 'उपसद्भिश्चरित्वे' ति क्त्वाप्रत्ययेनोपसदनन्तरकर्तव्यत्वरूपक्रमविधानादातिदेशिककालबाधावश्यम्भावः, उपसद्दिनोत्तरदिनेष्वबाधेऽपि वा तद्दिनेषु तद्बाध आवश्यक एवेति वाच्यम् ; व्यवहृताव्यवहितसाधारण्येन पूर्वकालतामात्रवाचिक्त्वाप्रत्ययस्याऽसति प्रमाणन्तरेऽव्यवहितत्वरूपक्रमपरत्वेऽपिसायम्प्रातः कालप्रापकचोदकसत्त्वे पूर्वकालतामात्रपरत्वाङ्गीकारात् । अतो युक्तं मासाग्निहोत्रे सायप्रातर्वा विकल्पेनानुष्ठानं पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते तु समुच्चयेनेति ।

आधारवाक्ये तु पूर्वपक्षे ऊर्ध्वत्वादीनां मध्ये यस्यैव दैवादन्तरायस्तद्युक्तस्यैव कर्गण आवृत्तिः, सिद्धान्ते तु गुणलोपनिमित्तं प्रायश्चित्तमात्रम्, न तु प्रधानावृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । नच पूर्वपक्षेऽपि क्षरणरूपपदार्थस्य निष्पन्नत्वाद्गुणलोपनावृत्तिरिति वाच्यम्, क्षरणमात्रनिष्पत्तावपि ऊर्ध्वत्वैकाभिव्यङ्ग्यजात्यवच्छिन्नस्याऽनिष्पत्तेः । सूत्रं निगदव्याख्यातम् ॥

इति पञ्चममाधाराग्निहोत्राधिकरणम् ॥ ५ ॥



अथ षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको
द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥२-२-१७॥ (पू.)

(विषयसंशयौ)

“यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते” इति प्रकृत्य,

“हृदयस्याऽग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वाया, अथ वक्षस” इत्यादि श्रुतम् ; तथा “सोमेन यजते”ति प्रकृत्य, “ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाती”ति । तत्र सन्देहः—किमवदानवाक्येषु ग्रहणवाक्येषु च विहितानां कर्मणां यथायथं पशुवाक्ये सोमवाक्ये च समुदायसिद्ध्यर्थमनुवादः; उत तयोरेव तत्तद्गुणाविशिष्टयागविधिः, इतरेषु तु तदीयद्रव्योद्देशेनाऽवदानग्रहणादिरूपसंस्कारविधिरिति ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । अनन्तरा तु—दध्यादिवाक्यैराग्निहोत्रवाक्यविहितकर्मानुवादेन गुणमात्रस्य विधातुं शक्यत्वात् प्रकृतकर्माभावेनाऽग्निहोत्रवाक्ये समुदायानुवादत्वं नाङ्गीकृतम्, प्रकृते तु पशुसोमवाक्यविहितयागीयद्रव्योद्देशेन हृदयादिविषयकावदानादिरूपसंस्कारविध्ययोगादवश्यमवदानादिवाक्येषु कर्मविध्यवगतेः प्रकृतकर्मसद्भावेन समुदायानुवादस्वोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानात् प्रत्युदाहरणरूपा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र पशुवाक्ये तावद्यद्यपि आग्नेयादिवाक्यवदेव द्रव्यदेवताविशिष्टयागविधिनानुपपन्नः, तथापि तत्र यागविधानुत्पत्तिशिष्टस्य पशोरवदानेन नाशापत्तेः श्रुतयागसाधनताविधातान्नावदानवाक्ये तद्वाक्यविहितयागीयद्रव्यसंस्कारविधिरुपपद्यते; न चोत्पत्तिशिष्टस्याऽपि पुरोडाशस्य मध्यपूर्वार्धावदानरूपसंस्कारवत् तदुपपत्तिः, मध्यपूर्वार्धावदानेऽपि पुरोडाशस्वजातेः प्रत्यभिज्ञायमानत्वेनाऽनपायात् मध्यपूर्वार्धादेरपादानमात्रतया श्रवणेनाऽवदानं प्रति प्रकरणात्

द्विर्हविषोऽवद्यती”ति कर्मणिषष्ठीश्रवणाच्च पुरोडाशस्य संस्कार्य-
त्वोपपत्तावपि “हृदयस्याऽग्रेऽवद्यती”त्यादौ “तानि द्विर्द्विरवद्य-
ती”त्यादौ च कर्मत्वेन निर्दिष्टानां हृदयादीनामेवावदानसंस्कार्य-
त्वश्रवणेनावदानस्योत्पत्तिवाक्यशेषपशुसंस्कारकत्वायोगाच्च; ।

नच हृदयादिपदैर्लक्षणया पशोरेव संस्कार्यत्वावगतिः, तथा-
ङ्गीकारेऽपि वाक्यान्तरवैयर्थ्यापत्तेः; । न चाऽस्तु हृदयादीनुद्दिश्यै-
वाऽवदानसंस्कारविधिः, तेषां भूतभाव्युपयोगाभावेन संस्कारा-
नर्हत्वात्; न च संस्कारविधिवलादेव तत्कल्पनम्, सक्तुष्वपि त-
दापत्तेः; उत्पत्तिशिष्टपशुसाधनताविरोधेन तत्साध्ये यागे हृद-
यादीनामुपयोगासंभवाच्च ।

अत एव नानुनिष्पन्नस्याऽपि लोहितनिरसनादिवदियं
प्रतिपत्तिः, पशोरेव साधनत्वेन हृदयादीनामनुनिष्पन्नत्वा-
भावात् । किंच हृदयादीनामुपयोगकल्पने तेष्वतिदेशेनैवाऽवदान-
नप्राप्तिसम्भवात् तद्विधानानर्थक्यम्; तस्मादेवं वाच्यम्—हृद-
याद्युद्देशेनैवाऽवदानारूपसंस्कारविधिः; पूतीकोद्देशेनैवाऽभिषव-
विधिः । तत्र च यद्यपि पूतीकेषु सोमाभिषवस्यैव प्रत्याभिज्ञाय-
मानस्य पूतीकसम्बन्धित्वेन विधानात् तस्य च यागीयद्रव्यसं-
स्कारकत्वदर्शनात् पूतीकानां यागीयत्वानुमानवत् साक्षाद्यवा-
दानस्यैव यागीयद्रव्यसंस्कारकत्वेन क्लृप्तस्याऽपि अपत्यभिज्ञाय-
मानत्वेन हृदयाद्युद्देशेन विधानायोगात् न तेषां यागीयत्वानु-
मानं सुकरम् . तथाऽपि प्रकरणान्तरन्यायेन स्वतन्त्रमेवावदानं
हृदयाद्युद्देशेन विधीयते ।

न चाऽतिदेशेन तस्य प्रत्याभिज्ञानम्, तस्य यागविध्य-
धीनत्वेन तदानीमसत्त्वात् । अतः स्वतन्त्रस्यैवाऽवदानस्य प्रा-
णिप्रभवद्रव्यकावदानत्वसामान्यात् साक्षाद्यवादानमकृतिक-

त्वावगतेरतिदेशेन यागीयद्रव्यवृत्तित्वस्याऽपि प्राप्तेः
वदानमवदेयद्रव्याणां यागसाधनता कल्प्यमाना प्रत्यवदानं
यागभेदमाक्षिपति । अतश्च पूतीकवदेव विवक्षितगत्या हृदया-
दिद्रव्यकयागविधिसिद्ध्यर्थमेवाऽवदानविधिः, न तु प्राकृतकार्या-
वदानप्राप्त्यर्थः, तस्य यागविध्युत्तरकालमतिदेशेनाऽपि प्राप्तिस-
म्भवात् । तांश्च सर्वान् यागानालभतिना लक्षणयाऽनूद्याऽशीषोमै,
देवताविधीयते । न चैवं पशुप्रकृतिकत्वस्यापि विधाने वाक्यभेदः;
देवतातद्धितस्य पशुपदसामानाधिकरण्यानुपपत्तिश्चेति वाच्यम्,
“छागस्य हविषः” इति मन्त्रवर्णात् हृदयादीनां छागप्रकृतिक-
त्वप्राप्तौ पशुपदेन लक्षणया हृदयादीनामेवानुवादात्; एवं च
पशुवाक्ये विशिष्टविध्यनङ्गीकाराल्लाघवमपि ।

वस्तुतस्तु यागीयद्रव्यवृत्तित्वस्य प्रकृतौ सान्नाय्यावदाना-
ङ्गत्वाभावेन इहाऽनतिदेशादुक्तरीत्या यागानुमानासम्भवेऽपि
हृदयादिवाक्य एव सक्तुन्यायेन विनियोगभङ्गं प्रकल्प्य हृदया-
दिविशिष्टावदानविधाने कृते आलभतिना लक्षणया तान्यनूद्य
पूर्ववद्देवताविधौ कृते देवतात्वनिर्वाहार्थमाधारयतिवदुत्पत्ति-
वाक्यस्थोऽवद्यतिर्यागपरोऽवधार्यते; तत्र त्वयं विशेषो-यदाधार-
यतावजहस्त्वार्थलक्षणया यागोपस्थितिः; अवद्यतौ तु निर्वपतिवत्
जहस्त्वार्थलक्षणेति; न त्वेतावता यागविधाने कश्चिद्विशेषः ।

अथ वा हृदयादिवाक्येष्वपि हृदयाद्युद्देशेनाऽवदानान्येव
विधीयन्ते । तेषाञ्चोपयोगापेक्षायां पशुवाक्ये पशुपदेन लक्षणया
तान्यनूद्य देवता विधीयते, आलभतिश्चाऽस्मिन् पक्षे अवदाना-
क्षिप्तस्पर्शानुवादमात्रम् । हृदयादिसम्बन्धश्च देवताया यागं वि-
नाऽनुपपन्न इति यावद्दृष्ट्यादि यागाः कल्प्यन्ते; नच
प्राजापत्याधिकरणपूर्वपक्षन्यायादेकपदोपादानात् सहितानां हृद-

यादीनां एकदेवतासम्बन्धोपपत्तेः कथमनेकयागकल्पनमिति वाच्यम्', तद्वदिह साहित्यस्याऽनुवाद्यगतत्वेन विवक्षासम्भवात् । अतः सिद्धं पशुवाक्यस्थालभतिः पशुपदं च समुदायानुवाद इति । एवं च "हृदयस्याऽग्नेऽवद्यती"त्यादिक्रमदर्शनं "एकादश वै पशोरवदानानी"त्यादिसमुच्चयदर्शनं चोपपन्नं भवति; अन्यथा एकस्मिन् यागे हृदयादीनां विकल्पापत्तेः क्रमसमुच्चयदर्शनं नोपपद्येत ॥

तथा 'सोमेन यजेते' त्यत्रापि न सोमविशिष्टयागविधिः, तथात्वे उत्पत्तिशिष्टस्य सोमाख्यस्य लताद्रव्यस्याऽभिषवादासंस्कारैः विनाशप्रसङ्गेन तद्वाक्येषु सक्तुन्यायेन विनियोगभङ्गापत्तेः । एवं "ऐन्द्रवायवं गृह्णाती"त्यादावपि तद्धितस्य प्रकृतधारासमर्थद्रवद्रव्यवाचित्वेन लतोद्देशेन ग्रहणाख्यसंस्कारविध्ययोगाद्द्रवद्रव्यस्य च भूतभाव्युपयोगाभावेन विनियोगभङ्गापत्तिः ।

एतेन सोमवाक्ये सोमविशिष्टयागविधिरेव, अभिषवादिवाक्यानि त्वर्थकर्माणि, ग्रहणवाक्येषु गृह्णातिना यागं लक्षणयाऽनृद्य देवतामात्रविधिरित्यपास्तम्, तद्धितस्य द्रवद्रव्यवाचित्वेन सोमपरत्वासम्भवात्; "दशैतानध्वयुः प्रातस्सवने ग्रहान् गृह्णाति, आश्विनो दशमो गृह्णाते, तं तृतीयं जुहोती"ति क्रमसमुच्चयदर्शनस्य देवतानामेकस्मिन्यागे विकल्पप्रसङ्गेनास्मिन्नपि पक्षेऽनुपपत्तेश्च ।

किञ्च भवन्मते "ऐन्द्रवायवं गृह्णाती"त्यादौ किं विधीयते ? न तावत् ग्रहणम्, तस्यार्थप्राप्तत्वात्; न हि पूतशृदाधवनीयद्रोणकलशेषु विद्यमानः सोमरसो ग्रहणमससाधनकेन होमेनाऽगृहीत्वा संस्कर्तुं शक्यते, अतो न तावत् ग्रहणम्; तस्य च गृह्णमाणसंस्कारार्थत्वमर्थसिद्धत्वादेव न विधेयम् ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २११

नाऽपि तदनुवादेन देवता इन्द्रवाय्यादिः, तस्याः देवतात्वेन ग्रहणे अन्वयस्य बाधितत्वात् ; देवतात्वं हि यागक्रियानिरूपितमेव, न तु क्रियान्तरनिरूपितम् ; न च ग्रहणे देवतात्वेनाऽन्वयानुपपत्तावपि सम्बन्धसामान्ये ऐन्द्रवायवादित्द्वितमङ्गीकृत्य तत्कालीनादृष्टार्थोच्चारणविषयत्वसम्बन्धेनेन्द्रवाय्वादेर्ग्रहणे अन्वयोपपत्तिरिति वाच्यम् ; एवमपि मरुत्वतीयादौ(१) “द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाञ्चे”ति सूत्रेण देवताधिकारपतितेन देवतात्वमात्राभिधानावगतेः ‘मरुत्वतीयं गृह्णाती’त्यादौ देवतात्वसम्बन्धेन ग्रहणे अन्वयस्याशक्यत्वात् । नच देवताया यागातिरेकेण निर्वापक्रियायामन्वयवत् ग्रहणोऽप्यन्वयोऽस्त्विति वाच्यम्, देवतात्वस्य त्यागैकनिरूपितत्वेन निर्वापेऽपि जुष्टपदोपात्तयागद्वारैवाऽन्वयस्य नवमे वक्ष्यमाणत्वात् । प्रकृते तु यागस्य स्ववाक्येऽनुपादानान्न तद्वारा ग्रहणेऽन्वय इति वैषम्यम् । अत एव देवताविशिष्टग्रहणाविधिरिति सिद्धान्त्यभिमतः पक्षोऽपि निरस्तः ।

किञ्च सोमवाक्ये ग्रहणवाक्ये च विशिष्टविध्यङ्गीकारापेक्षया वरमेकत्रैव ग्रहणवाक्ये विशिष्टविध्यङ्गीकरणम्, अतश्च द्रव्यदेवताविशिष्टा यागा एव गृह्णातिळक्षिता गुणाद्भिन्ना विधीयन्ते, तद्वितोक्तद्रव्यविशेषतात्पर्यग्राहकश्च ‘अण्व्या धारया गृह्णाति’ इत्यादिवाक्योन्नीतो(२) द्रवद्रव्याधिकारः । अत्र ण्यर्थमाप्तग्रहणानुवादेन धारामान्नविधानेऽपि धाराया द्रवद्रव्यैकविषयत्वात् तदधिकारासिद्धिः । धाराशब्दस्य च ससम्बन्धिकत्वात् गृह्णातिश्च सकर्मकत्वात् प्रतिसम्बन्धपेक्षया प्रकृतः पावनादिसंस्कृतः पृतमृदाधवनीयपात्रस्थः सोमरस एव तथेन सम्बन्ध्यते; न च संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या

विनियोगकल्पनायोगात् पावनादिविधीनामर्थकर्मत्वं शङ्क्यम्, 'अ-
 ध्वर्युं वृणीत' इतिवत् संस्कारविध्यस्यथानुपपत्त्यापि तत्कल्पने
 बाधकाभावात् । अत एवोत्पत्तिशिष्टसोमावरोधात् सक्तुषु न
 तत्कल्पनमित्युक्तं सम्मार्गाधिकरणे । अतः सोमप्रकृतिकत्वस्याऽपि
 प्रमाणान्तरेण सिद्धे स्सोमवाक्ये ऐन्द्रवायवादिप्रागा एव यजि-
 नाऽनूद्यन्ते, न तु सोमविशिष्टकर्मान्तरविधानम्, रूपाळाभात् ;
 तत्तद्याज्यापुरोरुचोश्च लिङ्गप्रकरणक्रमैरैन्द्रवायवादिप्रागेष्वेव नि-
 वेशोपपत्तौ प्रकरणमात्रेणाऽश्रुतवैकल्पिकदेवताकल्पनानुपपत्तेश्च ;
 अतोऽनुवाद एवायम् । सोमपदं च तत्प्रख्यन्यायात्तेषां नाम-
 धेयम् । सन्नपि च ज्योतिष्टोमनामकत्वे न्यायाविशेषादस्यापि
 नामत्वं नानुपपन्नम् । न चाऽनुवादे प्रयोजनाभावः, नामत्वसिद्धे-
 रेव प्रयोजनत्वात् । प्रयोजनान्तरमपि अस्तुतश्चाणां सोमया-
 गानां फलादिसम्बन्धसिद्धिः । अन्यथा हि ज्योतिष्टोमपदेन त्रिवृ-
 दादीनि ज्योतिषि स्तोमा एवामिति व्युत्पत्त्या सस्तुतश्चाणा-
 मेवोपादानात् फलादिसम्बन्धापत्तिः, नान्येषाम् ; अस्मिन्
 समुदायानुवादे तु सति नामधेयानुरोधेन सोमद्रव्यकयागमा-
 त्रानुवादात् तद्वैयर्थ्यपरिहारार्थं ज्योतिष्टोमपदेनाऽपि गौण्या
 वृत्त्या सर्वेषामेव फलसम्बन्धोपपत्तिः ।

अथैवं तर्हि सिद्धान्ते स्तोमसम्बन्धरहितसोमयागाभ्यासानां
 फलसम्बन्धानापत्तिः, स्तोमयुक्तयागाभ्यासानामेव फलसम्बन्धे
 तद्वाक्यस्थयज्ञेरभ्यासलक्षणाप्रसङ्गेन सोमयागत्वावच्छिन्नस्यैव
 फलसम्बन्धात् । ज्योतिष्टोमपदं तु सोमयागमात्रस्य स्वसम्बन्ध-
 यभ्याससमुदायाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धेन त्रिवृदादिस्तोमसम्बन्ध-
 सत्त्वाभ्यानुपपन्नम् । तत्सिद्धं सनामधेयस्यापि समुदायानुवादस्य
 सम्प्रयोजनत्वम् ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २१३

अथ वा सोमवाक्ये यजिना द्रवद्रव्यकयागाननूद्य सोमस्तदी-
यद्रव्यप्रकृतित्वेन विधीयते, साक्षाद्विधिसत्त्वे संस्कारविध्यन्यथा-
नुपपत्त्या तत्कल्पनस्याऽन्याय्यत्वात्; सत्यपि प्रमाणान्तरेण
सम्भवत्प्राप्तिकत्वे ब्रीह्यादिवदभ्युदयशिरस्कत्वकल्पनयापि सोम-
पदेनैव तद्विधानस्याऽभ्युपगन्तुं न्याय्यत्वाच्च ।

यस्त्वत्र प्रदेयत्वेनैव लताविधिरिति पक्षो मृळोपन्यस्तः, स
चोत्पत्तिशिष्टद्रव्यावरोधादतिशयार्थ इत्युपेक्षितः । एवं चात्राऽपि
यागानामदृष्टार्थत्वेन समुच्चयात् विभिन्नदेवताकानां च क्रमापे-
क्षणार्थं “आश्विनो दशमो गृह्यते तं तृतीयं जुहोति । दशैतानध्व-
र्युः प्रातस्सवने ग्रहान् गृह्णाती”त्यादिक्रमसमुच्चयदर्शनं सुपप-
न्नं भवति ।

ननु यागक्रमसमुच्चयोपपत्तावपि भवन्मते गृह्णातिना
यागानामेव लक्षणया विधानात् ग्रहणविध्यप्रतीतेः ग्रह-
णक्रमसमुच्चयदर्शनानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति चेत् ? गृह्णातिना ग्रह-
णविशिष्टयागलक्षणाङ्गीकाराददोष इति केचित् । तन्न; ल-
क्ष्यतावच्छेदके गौरवापत्तेः । अत एवं परिहर्तव्यम्—दशमुष्टि-
परिमितस्सोमरसः क्रयाभिषवपावनपूतभृदादिपात्राधारत्वादि-
संस्कारसंस्कृतः तच्चद्यागाङ्गत्वेन विनियुज्यते, तस्य च ‘अलं
जुहोती’ति वाक्येन चतुरवचोदेशेन होमविधिवदल्पमुद्दिश्य हो-
माख्यसंस्कारविधानाद्धोमानुवादेन च ‘ग्रहैर्जुहोती’त्यादिवाक्यै-
र्जुहादिवत् ग्रहचमसादिरूपपात्रविधानात् पूतभृदादिपात्रस्थस्य
च ग्रहणमन्तरेण ग्रहादिपात्रकरणकहोमसंस्कार्यत्वानुपपत्तेः
यावद्यागं ग्रहणभेदोपपत्तिः ।

नच सर्वयागाङ्गभूतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य सोमस्य
साधारणत्वात् सकृदेव होमोपपत्तेः न ग्रहणभेदापत्तिः,

पूर्वपक्षे दशमुष्टिपरिमितस्याऽपि सोमरसस्य तत्तद्यागाङ्गत्वा-
वगतेः प्रतिप्रधानं पुरोडाशादिकदेव द्रव्यभेदात् होमभेदो-
पपत्तेः । अतो ग्रहणानामपि भेदात् तदंशेऽपि क्रमसमुच्च-
यदर्शनोपपत्तिः । तव तु यागस्यैकत्वात् गुणभूतग्रहणानुरोधेना-
वृत्त्यनुपपत्तेः अनेकेषामपि च ग्रहणानां दृष्टविधया यागीयद्र-
व्यसंस्कारार्थत्वेनैकाध्यात् बन्धनार्थखादिरत्वपाळाशत्वादिवद्वि-
कल्पापत्तेः उभयोरपि क्रमसमुच्चदर्शनानुपपत्तिः । न च ग्रहणा-
नां दृष्टार्थत्वेऽपि तदङ्गभूतदेवतासंयोगानामदृष्टार्थत्वादुभयोरपि-
समुच्चयोपपत्तिः, अङ्गिभूतानां ग्रहणानां विकल्पे प्रमिते वि-
जातीयग्रहणप्रयोगे विजातीयदेवतासंयोगानामार्थत्वे तस्यैवा-
दृष्टार्थस्याप्यनुष्ठानोपपत्तेः । तस्मात् समुदायानुवादाौ ।

सूत्रं तु—हृदयादिवाक्यं ग्रह्णातिवाक्यं च कर्मचोदना प्र-
त्येतव्या, अन्यत्राऽसम्भवनिवेशस्य हृदयरसादिद्रव्यस्य संयोगात्
तथा हि—पशुसोमवाक्ययोरुत्पत्तिचोदनात्वे सति प्रकरणसापेक्षोऽ-
वद्यतिगृह्णातिवाक्येषु, द्रव्यसंयोगो हृदयरसादिद्रव्यसंस्का-
रो विधीयमानो न यागाङ्गत्वं प्रपद्यते, उत्पत्तिशिष्टपशुसोमावरो-
धेन हृदयरसादीनां साधनत्वानुपपत्तेः, न हि तस्योत्पत्तिशिष्टस्य
द्रव्यस्याऽवदानग्रहणादि संस्कारकं सम्भवति, नाशकत्वादिति
व्याख्येयम् ।

भाष्यकारेण तु इदं सूत्रं सिद्धान्तपरत्वेनैव व्याख्यातम् ।
पशुसोमरूपापूर्वद्रव्यसंयोगात् पशुसोमवाक्ययोरेव कर्मचोदना,
यतो द्रव्ये संयोगः पशुशब्दः सोमशब्दश्च प्रकृते हृदयादावन-
र्थकः, लक्षणाप्रसङ्गात्, न हि हृदयादिवाक्यविहितयाग एव
प्रदेयप्रकृतित्वेन पशुसोमविधिः सम्भवति, पशुवाक्ये प्राप्तकर्मा-
नुवादेन देवताविधिः प्रदेयप्रकृतिविधिश्चेति वाक्यभेदात् । सो-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २१५

मे तूत्तरसूत्रे वक्ष्यते इति ॥

(अथ सिद्धान्तः)

अचोदकाश्च संस्काराः ॥२-२-१८॥ (सि.)

चशब्दस्वर्थस्सन् पूर्वपक्षनिराकरणार्थः । बुद्धिस्थयुक्ति-
समुच्चयार्थो वा । तथा हि-पशौ तावत् पशुपदे हृदयादिलक्षणैव
दोषः । न हि हृदयादिरूपे मांसे पशुशब्दप्रयोगोऽस्ति, पशुत्वाभि-
व्यक्तिर्वा; न च तर्हि पशुपदं हृदयादिप्रकृतिद्रव्यविधायकमस्तु,
तथात्वे देवताया अपि विधाने वाक्यभेदापत्तेः । अतोऽवश्यं-
पशुवाक्ये तावद्द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितो यागस्तद्विशिष्टो विधे-
यः । किञ्चाऽवद्यतिवाक्येषु यागोपस्थापको न तावद्यजतिशब्दः,
नाऽपि देवताश्रवणम्, अवदानमात्रस्य तु वत्सालम्भवन्न यागा-
नुमापकत्वम् ।

न च हृदयाद्यवदानस्य साम्नाय्यावदानप्रकृतिकत्वाद्-
तिदेशेन यागीयद्रव्यवृत्तित्वलाभात् पृतीकवत् यागसाधनत्वा-
नुमानोपपत्तिः, यागीयद्रव्यवृत्तित्वस्य प्रकृतावनङ्गत्वेन इहापा-
प्तेः । तद्धि संस्कारस्य फलम् । न च तस्याऽतिदेशोऽस्ति । न
चौत्तरकालिकदेवतासम्बन्धबलादेवाऽवद्यतेः यागपरत्वावधारणं
शक्यम्, पशुपदे हृदयादिलक्षणाया एवमप्यनिवारणात् । हृद-
याद्युद्देशेनाऽवदानमात्रविधिसम्भवे हृदयादिविशिष्टयागविधेरव-
द्यतौ यागलक्षणायाश्चाऽनेकादृष्टानुबन्धिन्या अयोगाच्च । भवन्म-
त्ते अनेकेषामपि यागानां सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन सह प्रदानापत्तेः
'हृदयस्याऽग्रेऽवद्यती'त्यत्र यागक्रमवैशिष्ट्यस्याऽप्यवश्यविधेय-
त्वात् गौरवापत्तेश्च । मम त्ववदानमात्रस्य विधेयत्वात् तस्य
पाठादेव क्रमसिद्धेः न विधानम् ।

योऽपि च पशुवाक्य एव यावद्दृष्ट्यादिद्रव्यं यागानुमानपक्ष उक्तः, सोऽपि पशुपदे लक्षणापत्तेरनेकादृष्टानुबन्धनेक-यागकल्पनस्य च सत्यां गतावन्याय्यत्वादुपेक्षितः । तस्मात् पशुवाक्यमेव यागविधायकम्, हृदयादिवाक्यानि तु संस्कारमात्रविधायकानीत्येव युक्तम् ।

न चोत्पत्तिशिष्टपशुसाधनताया विशसनावदानादिसंस्कारविधिविरोधः शङ्क्यः, पशुमिति द्वितीयया लक्षितस्य करणत्वस्य हृदयादिपरम्परयाऽप्युपपत्तेः। दृष्टं हि परम्परासम्बन्धेऽपि करणत्वं 'गोमयेन पचति' 'व्रीहिभिर्भजेते'त्यादौ । अत एव तादृशस्थले न लक्षणापि, साक्षात्परम्परासाधारण्येन करणत्वस्यैव तृतीयार्थत्वात् । असति तु परम्पराग्राहकप्रमाणे साक्षादेव तदित्याश्रीयते । अस्ति तु प्रकृते विशसनादिसंस्कारविधानमेव परम्पराग्राहकं प्रमाणम् । अतश्च पशोः परम्परया यागसाधनत्वमिव देवतासम्बन्धित्वमपि नैवाऽनुपपन्नम् । अतश्च पशुसंस्कारकविशसनविधिरूपतात्पर्यग्राहकसहकृतपशुशब्देनैवार्थाद्दृष्ट्यादीनां साधनत्वावगतेः तदुद्देशेनाऽवदानाख्यमसंस्काराविधिरप्युपपन्न एव । अत एव व्रीह्युद्देशेनाऽवघातविधिरूपतात्पर्यग्राहकसहकृतेन व्रीहिपदेनैवाऽर्थात्तण्डुलादीनामपि साधनतावगतेः तदुद्देशेन पेष्णादिविधिरप्युपपन्न एव ।

नचैवं पशुवयवानामपि प्रदेयत्वरूपयागसाधनत्वलक्षणवृत्ति-व्यावगतेः तत्संस्कारार्थस्य मध्यपूर्वार्धापादानकस्याऽवदानस्याऽति-देशेनैव प्राप्तेः तद्विधिवैयर्थ्यम्, अतिदेशप्राप्तस्याऽप्यवदानस्य हृद-यादिसंस्कारार्थत्वेन पुनर्विध्युपपत्तेः । तत्प्रयोजनं च तेषां प्रसक्तं हविष्टसिद्धिः । एतद्विध्यभावे हि पशोर्विशसनविधानादवयवद्वारा-साधनत्वावगतावप्यवयवानां न प्रसक्तं साधनत्वावगमः, अवय-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २१७

विनो व्यासज्य सर्वावयवनिष्ठत्वेन तत्साधनत्वान्यथानुपपत्त्यावय-
वानामपि समुदितानामेव साधनत्वावगतेः । अतः समुदितस्यैवाऽ-
वयवजातस्य हविष्ठावगमात् समुदितसंस्कारार्थत्वेन सकृदेवमध्य-
पूर्वार्धापादानकमवदानं प्राप्नुयात् , एतद्विधिसत्त्वे तु प्राकृतावदान-
स्य हविस्संस्कारार्थत्वेन क्लृप्तस्यैवाऽतिदेशसन्निधापितस्य प्रत्येकं
हृदयादिसंस्कारार्थत्वेन विधानात् पूतीकानां यागसाधनत्वमिव
हृदयादीनामपि प्रत्येकं हविष्ठावगमात् प्रत्येकं मध्यपूर्वार्धावदा-
नसिद्धिः । ततश्च हृदयाद्येकादशावदानद्रव्यमात्रवृत्तिहविष्ठाता-
त्पर्यग्राहकसहकृतः पशुशब्दोऽपि तन्मात्रप्रकृतितयैव पशुं विधत्त
इति तदितरेषामवयवानामवदानपरिसंख्याफलिका यागसाधन-
त्वरूपहविष्ठापरिसंख्याऽपि 'हृदयस्याग्रेऽवद्यती'त्यादिवाक्यजातस्य
फलमिति सिद्ध्यति । अत एव यद्यप्येतद्विध्यभावे अवयविसाध-
नत्वान्यथानुपपत्त्या अवयवानामपि प्रत्येकमेव साधनत्वमवगम्येत
ततश्च प्रत्येकमेवावदानं प्राप्नुयात् , तथापि तदितरावयवगतहवि-
ष्ठापरिसंख्या एतद्वाक्यजातफलमित्युपपन्नमेव ।

यन्वन्न न्यायसुधायां 'एकादश वै पशोरवदानानि तानि
द्विर्द्वि रवद्यती'त्यस्याऽवयवान्तरपरिसंख्याफलकत्वमित्युक्तम्, तत्र
पश्चावदानसम्पादकंहविरवदानत्रित्ववाधेन तद्वित्वविधायकस्य
तानीत्यस्य विशेषसमर्पकत्वेन 'एकादश वै' इत्यस्य तदेकवा-
क्यत्वोपपत्तौ परिसंख्याफलकत्वाङ्गीकारेण भिन्नवाक्यत्वे प्रमा-
णाभावात्, तस्यैव परिसंख्याफलकत्वाङ्गीकारे च 'हृदयस्याग्रे-
वद्यती'त्यादेः वैयर्थ्यापत्तेरुपेक्षितम् ।

न चैवं 'एकादश वै' इत्येतदपेक्षितद्रव्यविशेषसमर्पकत्वेनैव
'हृदयस्याग्रेऽवद्यती'त्यादिवाक्यजातस्योपपत्तौ अवयवान्तरपरि-
संख्याफलकत्वे प्रमाणाभावः, तथा सति हृदयभेदश्रवणमात्रेण

विशेषसमर्पणसिद्धौ अवद्यतिश्रवणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तस्मात् प्राकृतावदानस्यैव हृदयादिसंस्कारार्थत्वेन विधि तस्येतरावयवपरिसंख्याफलकत्वमेव युक्तमित्युत्पश्यामः । एवं च 'यद्यपि चतुरवर्त्ती यजमानः पञ्चावत्तैव वपा कार्ये'त्यनेन प्राकृतावदानानुवादेन पञ्चत्वविधानाद्दुद्देश्यस्य चाऽवदानस्य वपया विशेषणसम्भवात् हृदयाद्यवदानेऽपि पञ्चत्वसिद्धिरजामदग्रथानामव्याहृतैव पञ्चत्वप्रकारः परं वपाया उपस्तरणाभिघारणद्वयं हिरण्यशकलद्वयं वपेत्येवं वाचनिकः । अत एव प्राकृतस्य पञ्चत्वप्रकारस्य बाधः । तत्र च प्रकरणलभ्यावदानानुवादेन, पञ्चत्वप्रकारविशेषस्य वपोद्देशेनैव विधानात् वपाग्रहणाविवक्षायां कारणाभावेन तस्य प्रकारस्याऽङ्गेष्वप्राप्तेः बाधकाभावेन प्राकृतप्रकारप्राप्तौ जातायां हविरवदानत्रित्वे प्राप्ते 'तानि द्विर्द्वि'रित्यनेन प्रकरणलभ्यावदानमनूद्यैव हृदयाद्युद्देशेन द्वित्वविधानात् पञ्चत्वसम्पात्तिरभिघारणवृद्ध्या सम्पादनीया ।

वस्तुतस्तु पञ्चावत्तवाक्येऽवदानानुवादेन पञ्चत्वविधाने एकप्रसरताभङ्गापत्तेरवदानान्तरमेव प्राकृतावदानकार्यापन्नं विधीयते, तस्यैव च वपोद्देशेनैव विधानादङ्गेष्वप्राप्तावपि 'हृदयस्याग्रेऽवद्यती'त्यादिवाक्यैः हृदयादिसंस्कारार्थत्वेन विधिः, न प्राकृतस्य ; तस्य हृदयादिवाक्याभावे पञ्चावत्तवाक्यविहितावदानान्तरेण वाधितस्याऽतिदेशेनाऽप्राप्तेः । न चोत्पत्तिशिष्टसंस्कार्यवरोधात् संस्कार्यान्तरसम्बन्धानुपपत्तेः कर्मान्तरत्वापत्तिः, पञ्चावत्तवाक्ये उत्पन्नवपोद्देशेन विनियुक्तस्य चाऽवदानस्य हृदयाद्युद्देशेन विनियोगमाश्रयणात् विनियोगविधिभेदेऽप्युत्पत्तिभेदाभावेन तन्निबन्धनकर्मान्तरत्वाप्रसक्तेः । अत एव स्ववाक्योपासककावकृद्दस्याऽप्युद्भिदादेर्विदिषावाक्येन ज्ञानाद्युद्देशेन विधि-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २१९

रभ्युपगम्यत एव । अतश्च वपायामिव हृदयादिष्वप्यवदानपृष्ठ-
भावेन पञ्चत्वप्राप्तेः पूर्वत्रदेवोभयत्राऽपि तत्सम्पादनप्रकारो द्रष्टव्यः ।
पार्थसारथेस्तु पञ्चावत्तवाक्ये अवदानान्तरस्वीकारेऽपि वपाग्रह-
णस्योपलक्षणार्थत्वं वदतोऽभिप्रायं न विद्मः । या च “तानि
द्विद्वि”रित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः वपादिपदं हृदयादीनामुपलक्षकमि-
त्युपपत्तिरुक्ता, सा जामदग्नयानिमित्तपञ्चावत्तसम्पादकहविस्त्रित्व-
वाधेनाऽपि द्वित्वविध्युपपत्तेरुपेक्षणीयेत्यस्मदुक्तप्रकार एव श्रेयान् ।
विस्तरेण चैतद्दशमे वक्ष्यामः । तस्मादवदानविधिवैयर्थ्याभावात्
पशुवाक्य एव यागविधिरिति सिद्धम् । हृदयादीनां चाऽवयविसा-
धनत्वान्यथानुपपत्त्या समुच्चितानामेव साधनत्वावगतेः क्रमस-
मुच्चयदर्शनस्याऽपि नाऽनुपपत्तिः ।

प्रयोजनम्—पूर्वपक्षे सवनीयादेः हृदयादियागानां मध्येऽ-
न्यतमस्य विध्यन्तान्नाैकादशावदानगणप्राप्तिः, सिद्धान्ते तु सेति
द्रष्टव्यम् ।

सोमेऽपि च ऐन्द्रवायवादिवाक्येषु देवताविशिष्टश्रुतग्रहणवि-
धिसम्भवे नाऽश्रुतयागकल्पनमुपपत्तिमत् । तथा हि—यद्यपि तावद्दे-
वतात्वं यागाक्रियानिरूपितमेव, तथाऽपि तद्वितोपात्तस्य इन्द्रवायुनि-
ष्ठदेवतात्वस्य ग्रहणकालीनोच्चारणकर्मीभूतवृत्तित्वसम्बन्धेन ग्रहणे
ऽपि वैशिष्ट्यं न विरुध्यते । अतश्चोक्तसम्बन्धेन देवतात्वविशिष्टे
ग्रहणे गृह्यमाणसंस्कारार्थं विहिते देवतात्वस्य यागैकघटितत्वाद्या-
गापेक्षायां प्रकृतसोमवाक्योपात्तयागसम्बन्धोपपत्तिः । यथैव हि
‘दध्नेन्द्रियकामस्ये’त्यादौ तृतीयोपात्तकरणत्वविशिष्टं दधि दधि-
विशिष्टं वा करणत्वं करणतासंसर्गेण इन्द्रियोद्देशेन विधीयते इति
पक्षयोः तृतीयोपात्तकरणत्वस्य निरूपकरूपाश्रयापेक्षायां प्रकृत-
होमान्वयः तथात्रापीति द्रष्टव्यम् ।

यस्वत्र कैश्चित् ग्रहणान्वयार्थमैन्द्रवायवादिवाक्येष्वपि याजि-
कल्पनाङ्गीकारेऽपि न तत्र यागविधिः; अपि तु सोमवाक्य एव,
ग्रहणवाक्ये तु कल्पितयजिषदमनुवादमात्रमित्युक्तम्; तद्यजि-
कल्पनं विनाऽप्युक्तप्रकारेण ग्रहणान्वयोपपत्तौ तत्कल्पने प्रमाणा-
भावात् तदन्वयस्य दुरुपपादत्वाच्चोपेक्षणीयम् ।

यदापि च भवदेवेन ग्रहणस्य यागावयवत्वात् देवतायाः
तदन्वयोपपत्तेः अवयवान्तरापेक्षयैव च प्रकृतयागसम्बन्धोप-
पत्तेः न किञ्चित् बाधकमित्युक्तम् ; तदप्यगृहीतस्यापि यागोप-
पत्तेर्वार्तिक एवोक्तत्वात् ग्रहणस्य यागावयवत्वकल्पनानुपपत्तेः;
कल्पनेऽपि वा ग्रहणरूपावयवान्वयस्य पुनरपि दुरुपपादत्वोच्चा-
पेक्षितम् ।

तस्मादुक्तप्रकारेणैव देवताविशिष्टग्रहणविधिः । अत एव
देवताया वाक्येन ग्रहणाङ्गत्वावसायादुभयाकाङ्क्षाळक्षणप्रकर-
णेन यागं प्रति दधिवदेव जनकत्वमात्रावगमेऽप्यङ्गत्वानवग-
मात् यागस्याऽव्यक्तत्वसिद्धिः । न च ग्रहणे देवतात्वान्वयोप-
पत्तावपि तत्संस्कार्यस्य तद्धितोपात्तस्य द्रव्यस्य सन्निधानात्
द्रवरूपत्वावसायात्तस्य च सोमवाक्यविहिते यागे उत्पत्तिशिष्ट-
सोमावरोधेनाऽपि विनियोगायोगात् संस्कार्यत्वानुपपत्तिः,
उत्पत्तिवाक्ये सोमस्य साक्षात्परम्परासाधारण्येन करणत्वमात्रे
ऽवगते सोमसंस्कारकाभिषविविधिरूपतात्पर्यग्राहकबलेन परम्पर-
या करणत्वाङ्गीकारात् हृदयादिवद्व्यवस्थाऽप्यर्थात् साधनत्वा-
वगतेः तदुद्देशेन ग्रहणाख्यसंस्कारविध्युपपत्तेः । अतएव पशुवत्
सोमस्यापि रसप्रकृतित्वेन विधिरिष्टः ।

ननु न सोमवाक्ये सोमविधिर्विज्ञिष्टविधिगौरवापादको
युक्तः; स हि न तावत् प्रदेयत्वेनेष्टः, संस्कारविधिवैयर्थ्यापत्तेः;

नाऽपि प्रकृतित्वेन, तस्य संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्यापि प्राप्ति-
सिद्धेः । तथाहि—ग्रहणवाक्ये तावत्तद्धितोपात्तस्य द्रव्यस्य
ग्रहणसंस्कृतस्य विनियोगापेक्षायां देवतासम्बन्धान्यथानुपपत्त्य-
वगततत्तद्यागाभ्यासेषु प्रदेयत्वेन विनियोगकल्पनं नाऽनुपपन्नम् ,
सर्वनामार्थकस्य च तद्धितस्य द्रव्यविशेषतात्पर्यग्राहकापेक्षायां
सन्निधानाद्धारावाक्यप्रामितद्रवद्रव्यविशेषसिद्धिः । तत्र हि तत्त-
द्वाक्यप्राप्तग्रहणविशेषानुवादेन धारामात्रस्य विधानम् , न त्व-
प्पुत्वस्याऽपि, वाक्यभेदापत्तेः; अल्पपरिमाणेषु पात्रेषु स्थूलया
ग्रहणे कृते पात्रात् बहिरपि पातापत्तेरणुत्वस्य प्राप्तत्वाच्च; धा-
रायाश्च प्रतिसम्बन्धयपेक्षत्वात् गृह्णातेश्च कर्माकाङ्क्षादुत्तरा-
र्थादिवत् स्वतन्त्रजलादिप्रतिसम्बन्ध्याक्षेपकत्वानुपपत्तेः प्रकृत
'सोमं पावयती' त्यादिवाक्यप्रतीतसोमप्रकृतिकद्रवद्रव्यविषय-
त्वम्; पावनवाक्ये हि सोमशब्दो न लतापरः, तस्यां पावन-
संस्कार्यत्वानुपपत्तेः । अपि तु लक्षणया तद्रसपरः । अतश्च
सोमप्रकृतित्वस्यापि तत्तत्संस्कारविधिबलादेवावगतिरिति सिद्धेः न
सोमवाक्ये तद्विधानाङ्गीकरणं युक्तम् । अत एव क्रयाभिषवादि-
वाक्यस्थोऽपि सोमशब्दः तत्तद्यागाभ्यासापूर्वमाधनरसप्रकृ-
तिभूतसोमपर एव ।

नच संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या विनियोगकल्पने सकृत्-
प्यपि तदापत्तेः सोमतद्रसयोः विनियोगाभावे क्रयादिवाक्याना-
मर्थकर्मविधायित्वमेव स्यादिति वाच्यम्, 'अध्वर्युं वृणीते'
'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यादौ संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्याऽपि
विनियोगस्य सहस्रशः स्वीकृतत्वात्; सकृदपि तूत्पात्तिशिष्टद्रव्य-
विरोधात् तत्कल्पनमित्युक्तमेव । नचैवमपि प्रत्यक्षविधिसन्ने-
संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनानुपपत्तिः, यथा कथञ्चि-

दपि सम्भवत्प्राप्तिकत्वे प्रत्यक्षस्यापि विधेरनङ्गीकारात् । अत एव मान्त्रवर्णिकीमपि प्राप्तिसङ्गीकृत्य समिदादीनां नामधेयत्वमिष्टम् ।

नचैवं संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या व्रीहीणामपि प्राप्ति-सम्भवात् तद्विध्यनापत्तिः, तद्वाक्ये विधेयान्तराभावेन अगत्या भ्युदयशिरस्कत्वसिध्यर्थं तद्विध्यङ्गीकारात् ; प्रत्यक्षविध्यनुरोधेन संस्कारवाक्यस्थव्रीहिपदस्य यवलक्षकत्वापत्तेः तेषामप्राप्तत्वाच्च; सत्यामपि संस्कारविध्यन्यथानुपपत्तौ प्रकृतितासम्बन्धेन पुरोडाशाङ्गतया व्रीहिप्राप्तौ यागाङ्गत्वेन तद्विध्युपपत्तेश्च । तत्प्रयोजनं च पुरोडाशाङ्गत्वे तदङ्गभूतानेकपरिमाणशेषकार्यादिलोपप्रसङ्गेनैकव्रीहिमात्रबाधस्य युक्तत्वात् अल्पसत्त्वे न तदुपादानम्, अपि तु नीवारोपादानमेव । यागाङ्गत्वे त्वङ्गुणविरोधन्यायेन पुरोडाशाङ्गभूतानामनेकेषामपि शेषकार्यादीनां लोपस्य युक्तत्वादल्पव्रीहिसत्त्वे यागाङ्गभूतव्रीह्युपादानमेवेति षष्ठोक्तम् । नचेदृक् सोमविधेः प्रयोजनमस्ति, अतोऽनुवादः तत्प्रख्यन्यायेन वा नामधेयं सोमपदमिति चेन्न; इहापि तत्तदभ्याससाधनीभूतरसाङ्गत्वेन प्राप्तिसम्भवेऽपि यागाङ्गत्वस्याप्राप्तत्वेन विधिसम्भवात् । तत्प्रयोजनं च—तत्तद्रसाङ्गत्वे प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायेन तत्तदभ्यासापूर्वसाधनीभूतरसप्रकृतित्वेन विहितस्य दशमुष्टिपरिमितस्य सोमस्य चतुर्मुष्टिपरिमितव्रीहिभेदवत् भेदः प्राप्नुयात् ।

न च क्रयस्य स्वतन्त्रकालाम्नानात्तदाप्तस्य सोमस्य पशुत्रयार्थदीक्षाच्छिन्नयूपस्येव सर्वाभ्यासार्थं तन्त्रत्वापत्तिः, क्रयाप्राप्तस्य दशमुष्टिपरिमितस्य सोमस्याऽभिषुतस्य पूतस्याऽऽष्वनीयादिस्थस्य 'आष्वनीयात् सूक्ताती'त्युपादानत्वेन श्रवणा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२३

देकाभ्यासापूर्वमाधनीभूतरसव्यक्त्यपादनस्याऽऽधवनीयस्थस्यप-
योद्रव्यकमन्ध्यादिवदभ्यासान्तरापूर्वसाधनीभूतरसव्यक्त्यन्तरा-
पादानत्वानुपपत्तेरनेकरसव्यक्तिभेदेन तदपादानभूताधवनीयस्थ-
सोमरसभेदावगमात् तद्भेदेन च तत्प्रकृतिभूतसोमभेदोपपत्तेः ।
यागाङ्गत्वे तु यागत्वपर्याप्त्यधिकरणताकोदेशेनैव सोमविधाना-
त्तादृशस्यैव च दशमुष्टिपरिमाणक्रयादिसंस्कारविधानात् सत्यपि
तत्तदभ्यासापूर्वमाधनीभूतरसव्यक्तिभेदे तत्प्रकृतिभूतस्य सोमस्य
तत्प्रकृतित्वासिद्धिः । अत एव 'आधवनीयात् गृह्णाती'त्यपादान-
त्वश्रुतिरप्यत्रयवावयविसाधारण्येनोपपादनीया । अतस्तन्त्रतया
प्रदेयप्रकृतिभूतस्य सोमस्याऽप्राप्तत्वाद्विधुपपत्तिः । प्रयोजना-
न्तरं च सोमवत् सक्तूनामपि विकल्पेन विनियोगकल्पनाप्रसक्तौ
तद्व्यावृत्तिः ।

न च विशिष्टाविधिगौरवाभिया भेदं विकल्पं चाऽङ्गीकृत्याऽपि-
नामधेयत्वं शक्यम्, ष्योतिष्टोमनामावरुद्धस्य कर्मणो नामधेया-
न्तरवैयर्थ्यापत्तेः प्रयोजनलिप्सया 'सृष्टीरुपदधाती'त्यत्रैव गौर-
वस्याऽप्यङ्गीकारात् । अतो युक्तं सोमवाक्ये सोमस्य विधेय-
त्वेऽपि यागस्याऽपि श्रुतस्य विधेयत्वाङ्गीकारात्तस्यैव च सर्वदेव-
तासम्बन्धोपपादकत्वोपपत्तेः न ग्रहणवाक्येऽतिरिक्तयागान्तर-
कल्पना युक्तेति ।

नन्वेवं "सप्तदश प्राजापत्यान् पशुनालभते" 'आग्नेयमष्टा-
कपालं निर्वपेत्' 'सौम्यं चरुमि'त्यादानपि वाजपेयवाक्यवैश्व-
देववाक्यविहितयागस्यैवोपपादकस्य सत्त्वात् प्राजापत्यादिवा-
क्येषु देवताविशिष्टालम्भनिर्वापमात्रविधानोपपत्तेः न यागान्तर-
कल्पनापत्तिरिति चेत् ? न, वाजपेये तावदेवं सति बळीयसा
द्रव्यसादृश्येन पशुविध्यन्तापत्तेः ब्रह्मसाप्तादिरूपसोमधर्मप्रा

पत्यभावात् 'तान् ब्रह्मसाम्न्यालभत' इति कालविध्यनुपपत्तेः । वैश्वेदेवेऽपि द्रव्यसादृश्येनैष्टिकविध्यन्तप्राप्तौ निर्वापस्याऽपि प्राप्ति-सम्भवात् तदनुवादेनाऽत्र देवताविधिर्वाच्यः । तत्र च निर्वापमात्रो-द्देशे अग्न्यादिदेवतानामनियताष्टाकपालादिद्रव्यसम्बन्धिनिर्वा-पसम्बन्धापत्तेः, 'आग्नेयमष्टाकपालमि'ति सामानाधिकरण्याव-गतपरस्परनियमानुपपत्तिः । अष्टाकपालविशिष्टनिर्वापोद्देशे तु वाक्यभेदः । निर्वापाख्यकर्मान्तरविधिस्तु भेदकप्रमाणाभा-वादेवाऽसिद्धः । न ह्यत्र प्रकरणान्तरमस्ति, अतिदेशेनोपस्थित-त्वात् । अतिदेशावधृते निर्वापे सर्वासां देवतानामुत्पन्नशिष्टत्वाच्च न गुणोऽपि । अतस्तत्र कल्पितयागविधिरेवाऽगत्या समा-श्रितः । प्रकृते तु वक्ष्यमाणरीत्या ग्रहणानामेव विधेयत्वादवि-धेयत्वेऽपि वा तदुद्देशेन देवतानामेव विधेयत्वोपपत्तेः न यागक-ल्पने प्रमाणमस्तीति वैषम्यम् ।

सूत्रं तु-ग्रहणावदानवाक्यानि न यागस्य, चोदकानि क-ल्पकानि, संस्कारविधायित्वेनाऽप्युपपत्तेरिति व्याख्येयम् ॥

(इति पशुवाक्ये सिद्धान्तः)

तद्धेदात् कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि
स्यात् भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥ २-२-१९ ॥

(अथ सोमवाक्ये सिद्धान्तः)

नन्वेवं सोमवाक्यविहितस्य यागस्यैऽकत्वात् क्रमसमुच्चय-दर्शनोपपत्तिः कथम् ? तथा हि-यागैकत्वे तावत् प्रदेयभूतं तद्-द्रव्यमप्येकमेव, अतश्च सर्वोऽपि सोमरसः सकृदेव पुरोडाशवत् तत्कथ्यः, 'अल्पं जुहोती'ति वचनाच्च तदेकदेशः सकृदेव अन्व-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२५

दानवद्वौतव्यः, एकदेशान्तरस्य तु भक्षणादिप्रतिपित्तिरिति प्राप्नोति । अस्तु वा 'ऐन्द्रवायवमि'त्यादौ यथाकथञ्चित् प्रदेयद्रव्यभेदप्रतीतिः, तथाऽपि तेषामेकास्मिन् यागे विकल्प एव प्राप्नोति, गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तेरन्याय्यत्वात् ; तद्वाक्यप्रमितनिरपेक्षसंस्कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या नैरपेक्ष्येणैवं साधनत्वप्रतीतिश्च । उत्पत्तिवाक्यादिप्रमितसमस्तसोमसाधनता तु प्रदेयद्रव्यापादानतयाऽप्युपपन्नेति न विरोधः ; एवं सत्यपि यदि ग्रहणानां केनचित्प्रमाणेन समुच्चयोऽवधार्येत तदा गृहीतस्य पुनर्ग्रहणासम्भवाद्बि-
नियुक्तसंस्कारायोगेन च भवेत् ग्राह्यद्रव्यभेदेन यागावृत्तिः ; न तु तदस्ति, द्रव्याणां विकल्पे तत्संस्काराणां ग्रहणानामदृष्टार्थानामपि विकल्पस्यैवाऽऽपत्तेः ।

वस्तुतस्तु आधवनीयादिस्थस्य सोमरसस्य ग्रहादिपात्रकरणकहोमसंस्कार्यतासम्पत्त्यर्थत्वात् ग्रहणस्य नैवाऽदृष्टार्थत्वम् । अत एवाऽर्थप्राप्तत्वान्नैन्द्रवायवादिवाक्येष्वपि तस्य विधेयता । अत एव न तज्ज्ञेदोऽपि; सत्यपि द्रव्याणां समुच्चये ग्रहणावृत्त्यैव सर्वेषां संस्कार्यत्वोपपत्तेः तज्ज्ञेदे प्रमाणाभावात् , देवतानामुत्पत्तशिष्टतया भेदकत्वायोगाच्च । ऐन्द्रवायवादिवाक्यैरपि च ग्रहणविध्यङ्गीकारेण तत्रोत्पन्नस्यैव वाक्योपात्तसंस्कार्यसम्बन्धेन विनियुक्तस्याऽपि वाक्यान्तरे संस्कार्यान्तरसम्बन्धेन विनियोगमात्रकरणाद्दुत्पत्तिभेदाभावेनोद्भिद्भागस्येव विविदिषावाक्ये ज्ञानाद्यर्थत्ववत् भेदानुपपत्तेः ।

न चैवमेकस्यैव ग्रहणस्याऽनेकसंस्कार्यसम्बन्धोपपत्तावपि उत्पत्तिशिष्टैकदेवतावरोधे देवतान्तरनिवेशानुपपत्तेः गुणाज्ज्ञेदोपत्तिरिति वाच्यम्; ग्रहणे देवतासंयोगानामदृष्टार्थत्वेनैककार्यत्वे प्रमाणाभावेन गुणन्यायात्प्रियत्वात् । आमिसायागस्य हि वाजिन-

कार्ये आमिक्षयैव जनिते तद्विषये निराकांक्षस्य वाजिनाग्राहक-
त्वाद्युक्ता वाजिनस्य भेदकता; ग्रहणे तु मित्रावरुणदेवताकार्य-
स्येन्द्रवायुदेवतयाऽजननात्रैराकांक्षयानुपपत्तेः न गुणान्वय-
विषयत्वमिति विशेषः ।

अस्तु वा ग्रहणानां भेदः, तथाऽपि ग्राह्यद्रव्याणां विकल्पेन
यागसाधनत्वात् ग्रहणानामपि विकल्पापत्तेः तदङ्गभूतदेवता
नामपि चाऽदृष्टार्थानामपि कार्यविकल्पबलेन व्यवस्थापपत्तेः समु-
च्चये प्रमाणाभावेन नाऽदृष्टार्थदेवतासमुच्चयानुरोधेन ग्रहणसमु-
च्चयो यागावृत्तिर्वा युक्ता समाश्रयितुम् ।

वस्तुतस्तु ग्रहणे देवतोद्देशानामपि नाऽदृष्टविधयाऽङ्गता; नि-
र्वाप इव षक्ष्यमाणदेवतास्मरणार्थत्वेनाऽभ्यासान्तरसाधनीभूत-
द्रव्यव्यावृत्तिफलकैतदभ्याससाधनीभूतद्रव्योपलक्षणार्थत्वेन वा
दृष्टद्वारैव ग्रहणेऽपि देवतोद्देशोपपत्तेः ।

न च तत्राऽऽग्नेयादिवाक्ये यागाङ्गत्वेन प्रमिताया
देवताया युक्तो निर्वापे दृष्टविधया सम्बन्धः, प्रकृते तु
ग्रहणसम्बन्धोत्तरकालभावित्वाद्यागसम्बन्धस्य कथं ग्रहण-
सम्बन्धवेलायां दृष्टार्थत्वकल्पनेति वाच्यम् ; उत्पत्तिवाक्ये
इष्टसामान्यस्य भाव्यत्वावगमवत् ग्रहणवाक्ये दृष्टादृष्टसा-
धारण्येन भाव्यत्वावगमे जाते यागसम्बन्धोत्तरकालं दृष्टा-
र्थत्वनिर्णयोपपत्तेः । अतश्च निर्वापवत् ग्रहणेऽपि देवतासंयोगो
दृष्टार्थ एव । तत्र त्वयं विशेषः—यद्देवताया याग एवाङ्गत्वं न तु
निर्वापे, उपकारकतामात्रेणैव तत्सम्बन्धोपपत्तेः ; प्रकृते तु विप-
रीतमिति । न त्वेतावताऽदृष्टार्थत्वापत्तिः ।

वस्तुतस्तु तत्तद्देवतयाज्यापुरोरुगादिमन्त्राङ्गानाद्यागेऽपि मा-
न्त्रवर्णिकदेवताकल्पनस्य प्रथमत एव प्रतीतिः ग्रहणसंयोगोऽपि

देवतानामुपकारकत्वेनैव ; अत एव यागस्य देवताङ्गकत्वादव्य-
क्तत्वमपि दुर्वचम् । अतो ग्रहणवाक्ये देवताविशिष्टग्रहणवि-
धिरप्युपकारकतासम्बन्धेन प्रत्येतव्यः ।

वस्तुतस्तु ग्रहणवाक्ये ग्रहणस्य स्वरूपेण ग्राह्यसंस्कारार्थ-
त्वेन चाऽर्थादेव प्राप्तत्वात्, तस्मिंश्च देवतानां “उपयाम-
गृहीतोऽसीन्द्रवायुभ्यां त्वा जुष्टं गृह्णामी” सादिमन्त्रलिङ्गादेव
निर्वाप इव प्राप्तिसम्भवात्, विधेयाभावेन तत्र मते तद्वाक्यवैय-
र्थ्यमपि । अतो द्रव्याणां तत्संस्कारग्रहणानां तदङ्गदेवतासंयो-
गानां च विकल्पापत्तेः क्रमसमुच्चयदर्शनानुपपत्तिरिति चेत् ?

अत्र केचित् पार्थसारथिमतानुयायिनो लिङ्गदर्शनोपपत्ति-
मात्रमेवमाहुः—(१) “ग्रहैर्जुहोती” त्युपादेयगतपात्रसाहित्यस्य
विवक्षितत्वात् तदनुरोधेन दृष्टार्थानामपि ग्रहणानां समुच्चयावगतेः
यथागृहीतानामेव च होमात् तदभ्यासप्रतीतेः क्रमसमुच्चयदर्श-
नोपपत्तिरिति । तन्न, ग्रहाणां चमसानां च निरपेक्षसाधनत्वश्र-
वणेन समुच्चयाप्रतीतेः, तद्गुत्तिग्रहणानां तत्साध्यहोमाभ्यासानां
च समुच्चयस्यैवमपि दुरुपपादत्वात् । एकस्यैव ऋतुपात्रादेरनेक-
देवत्यग्रहणसाधनत्वश्रवणेन तादृशग्रहणानां विकल्पस्यैवमप्य-
निवार्यत्वाच्च । अत एव परिहर्तव्यम्—अन्यतस्सम्भवत्प्रा-
प्तिकत्वे सत्यप्येन्द्रवायवादिवाक्येषु देवताविशिष्टग्रहणविधिरेव
विधेः पूर्वं प्रवृत्त्यङ्गीकारेणाऽऽश्रीयते । तथा हि—ऐन्द्रवायवमित्य-
त्र तद्विधितार्थद्रव्यभेदस्तावत् प्रकृत्यर्थदेवताभेदाच्छब्दान्तरन्यायेन
गुणन्यायेन वा सुप्रसिद्ध एव । अतश्च तत्तद्वाक्ये तत्तद्द्रव्योद्दे-
शेन तत्तद्देवताविशिष्टतत्तद्ग्रहणविधिः । तत्प्रयोजनं च देवतांशे
तावत् प्रत्ययार्थभेदासिद्धिः ग्रहणाङ्गत्वासिद्धिद्वारा यागस्याऽव्यक्त-

त्वसिद्धिश्च । एतद्विध्यभावे हि याज्यापुरोरुगादिमन्त्राज्जानाद्या-
गाङ्ग भूतानामेव देवतानां निर्वाप इव ग्रहणे तन्मन्त्रवर्णात् उप-
कारकतामात्रं स्यात् । सति त्वस्मिन् प्रत्यक्षविधौ ग्रहणाङ्गत्वप्र-
तीतेः यागे उपकारकतामात्रावसायात् याज्यादिमन्त्राणामपि
तदकल्पकतया यागस्याऽव्यक्तत्वसिद्धिः । तत्प्रयोजनमपि चो-
द्भिदादीनां तद्विकृतित्वसिद्धिः । ग्रहणांशे तु द्रव्यसंस्कारतया
अर्थतः प्राप्तस्याऽपि स्वतन्त्रादृष्टार्थत्वसिद्धिः । एतद्वाक्ये हि ग्रह-
णपुनर्विधिः प्रयोजनाकांक्षस्तन् प्रयोजनान्तरासम्भवात् ग्रहण-
स्य प्रयाजादिवदारादुपकारकतां प्रकरणात् कल्पयति ।

अत एव सत्यपि वाक्यीये द्रव्यसंस्कारार्थत्वे ग्रहणानां
प्रकरणग्राह्यत्वमाकरेऽभिहितम् । अत एव विधिपुनःश्रुतिबला-
द्वाक्यीयस्याऽपि द्रव्यसंस्कारार्थत्वस्याऽऽनुषङ्गिकता प्राकरणि-
कस्यापि चादृष्टार्थत्वस्य प्रयोजकताङ्गीक्रियते । अन्यथा अदृ-
ष्टार्थत्वमात्रस्याऽप्रवृत्तिविशेषकरत्वेन विधिवैयर्थ्यतादवस्थ्यात् ।
अतश्च प्रयोजकभूतादृष्टानुरोधेन ग्रहणानां तत्तद्देवतानां प्रया-
जानुयाजवत् समुच्चयावगतेस्तदनुरोधेन च ग्राह्यद्रव्याणामपि
समुच्चयप्रतीतेः विभिन्नदेवताकद्रव्यभेदवलेन यागावृत्तिसिद्धिः ।

यद्यपि प्रयोजनान्तरमपि किञ्चित् ग्रहणविधेः सम्भाव्येत,
तथापि क्रमसमुच्चयदर्शनरूपतात्पर्यग्राहकबलादुक्तप्रयोजनस्था-
प्यावश्यकत्वात् कश्चिद्विरोधः ।

नन्विदं प्रयोजनं ग्रहणाविधिसस्ये खलवावश्यकम्, तत्रैव
तु प्रमाणाभावः, ऐन्द्रवायवादिवाक्येऽर्थप्राप्तग्रहणानुवादिनाऽव्य-
क्तत्वफलकदेवतामात्रविध्युपपत्तिरिति चेत् ? “उपांशुं गृह्णाति,
अन्तर्यामिं गृह्णाती” त्यादौ संज्ञायुक्तवाक्ये तावद्विधेयान्तरा-
भावेन ग्रहणस्यैव विधेयत्वादुक्तप्रयोजनोपपत्तेः ऐन्द्रवायवादि-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २२९

वाक्येऽपि प्राप्तग्रहणानुवादेन देवताविधिः तत्तत्संस्कार्यसम्बन्ध-
श्चेति वाक्यभेदापत्तेः ग्रहणविध्यावश्यकत्वात् । ग्रहणमात्रानुवा-
देन देवताविधाने वेदिवर्हिर्न्यायेन प्राकरणिकयात्किञ्चिद्द्रव्य-
ग्रहणेऽपि तदापत्तेश्च ।

यत्रस्मिन् पक्षे ऐन्द्रवायवपदे एकप्रसरताभङ्गापत्तेः ग्रहणा-
नुवादेन देवताविधिरेवयुक्त इति कैश्चिदुक्तम्; तदेतादृशस्थले उद्दे-
श्यद्रव्यस्य विधेयदेवतानिरूपितत्वाभावेन एकप्रसरताभङ्गस्या-
दोषत्वात्(?) सृष्टीरूपदधाती' त्यादौ च मन्त्रविशिष्टोपधानस्ये-
ष्टकासंस्कारार्थत्वेन विधेः स्वयमेव स्वीकृतत्वादुपेक्षितम् ।

नचैवं तर्हि विशिष्टविधिगौरवापत्तेः ग्रहणमात्रमेव विधीय-
ताम्, ऐन्द्रवायवादिपदंतु ग्रहणमन्त्रवर्णप्राप्तानुवाद एवाऽस्त्वि-
ति वाच्यम्, ऐन्द्रवायवादिपदवैयर्थ्यभयेन विशिष्टविधेरप्यङ्गी-
कारात् । तत्प्रयोजनत्वव्यक्ततासिद्धिरित्युक्तमेव । अत एव
संज्ञायुक्तग्रहणेष्वपि देवताङ्गत्वबोधको विधिरन्वेष्टव्यः । अत
एव गुणादेव ग्रहणभेदः, प्राप्तग्रहणानुवादेन देवतासंस्कार्योभय-
सम्बन्धकरणे वाक्यभेदापत्तेः, तदापादकस्यैव गुणस्य भेदकत्वा-
दुत्पत्तिशिष्टदेवतावरोधनिमित्तकस्याऽपि गुणस्य सत्त्वाच्च । देव-
तानां दृष्टविधयैव ग्रहणाङ्गत्वाङ्गीकाराच्च एकयैव देवतया ग्रहणस्य
नैराकाक्ष्यमपि सुबचम् ।

वस्तुतस्तु गुणन्यायेनैव नैराकाक्ष्यप्रवेशः, अपि तु गुण-
स्याऽनिविशमानत्वमात्रम्, अस्ति चात्र देवतानामदृष्टविषया
ग्रहणाङ्गताङ्गीकारेऽपि तत् । तथाहि—एकस्मिन् ग्रहणे अनेकासां
देवतानामदृष्टार्थानां न तावत् विकल्पो युक्तः, प्रयाजादिवदेवैका-
र्यत्वे प्रमाणाभावात्; समुच्चयस्तु एकस्मिन् ग्रहणे किं सर्वेषां

देवताप्रातिपदिकानामन्ते चतुर्थी समुच्चारणियेत्येवंविधः, किंवा-
प्रत्येकं चतुर्थ्यन्तपदान्युच्चार्याऽन्ते ग्रहणमित्येवंविधः ? नाऽऽद्यः;
प्रत्येकं तद्धितश्रवणानुपपत्तेः। अन्त्येऽपि किं सकृद्यागकरणं ग्रह-
णवत्, उत यागावृत्तिः ? नाऽऽद्यः, मित्रावरुणादीनामुपपादकी-
भूतयागसम्बन्धाभावेन देवतात्वानुपपत्तेः। नान्त्यः, प्रकृत्यर्थ-
देवताभेदेन प्रत्ययार्थभूतद्रव्यभेदावगमादनेकेषां द्रव्याणां सकृ-
दनुष्ठीयमानग्रहणसंस्कार्यत्वायोगात्। न चैवमप्यावृत्त्यापि सर्व-
संस्कारोपपत्तेः न ग्रहणभेदावश्यम्भावः, संख्यावत् गुणस्याऽपि
स्वसम्बन्धिभेदकत्वसम्भवे तत्सम्बन्ध्यभ्यासभेदापादकत्वायो-
गात्; अन्यथा वाजिनस्यापि तदापत्तेः। अतो निविशमानेना-
पि गुणेन ग्रहणभेदावगमाद्युक्तस्तेषामुक्तविधया समुच्चयः।

न चास्तु ग्रहणानां समुच्चयः, तावद्ग्रहणसंस्कृतद्रव्यैस्तु
युगपदेव यागसिद्धेः न तदावृत्तौ प्रमाणमस्तीति वाच्यम्, समु-
च्चितानेकदेवताकत्वात्सकृदनुष्ठानानुपपत्तेः। न हि सर्वा उद्दिश्य
सकृत्त्यागः सम्भवति, देवतोद्देशसमकालीनत्यागस्यैव याग-
पदार्थतया वृद्धव्यवहारसिद्धत्वेन सर्वेषां देवतोद्देशानां त्यागसमा-
नकालीनत्वानुपपत्तेः।

अत एव यत्र मन्त्रवर्णेनाऽनेकानि देवतात्वानुपपत्तौ
न्ते, तत्र देवतात्वस्य लाघवादेकस्यैव कल्पनेनाऽधिष्ठानोद्देश-
समकालीनत्वासम्भवेऽपि देवतात्वोद्देशसमकालता नाऽनुपपन्ना।
अत एव तादृशस्थले क्वचित् केषाञ्चित् प्रत्येकचतुर्थ्यन्तपदोच्चा-
रणं निर्मूलमेव। अत एव सूक्तवाकादौ तत्तथागे अग्न्यादीनां
प्रत्येकं देवतात्वेऽपि उपयुक्तदेवतापदवृत्तिदेवतात्वस्यैकस्यैव
प्रस्तरादियागे कल्पनात् त्यागसमकालता उपपन्ना। यत्र तु
“अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाश” इत्यादौ द्वयोरप्यधिष्ठानदेव-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३१

तात्वयोर्भेदः, तत्रैकवाक्योपादानावगतसाहित्यबलात् समकालताबाधेऽपि न क्षतिः । प्रकृते तु प्रयोगविध्यवगतसाहित्यस्योत्तरकालिकत्वेन दुर्बलत्वान्न समकालत्वबाधकैतेति वैषम्यम् । प्रकृते च याज्यापुरोरुचोर्भेदात् सुतरां सकृदनुष्ठानानुपपत्तिः, पृथग्गृहीतानां द्रव्याणां विना वचनं मेलनासम्भवाच्च ।

अत एव च यत्रैकस्मिन्नेव पात्रे वायवे इन्द्रवायुभ्यां च ग्रहणं तत्र वचनान्मेलनेऽपि न दोषः । मेलनासम्भवेनैव चाऽग्निष्टुति “आग्नेया ग्रहा भवन्ती”ति वचनादग्निमात्रदेवत्यप्राकृतसर्वग्रहणवति सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेऽप्यावृत्तिसिद्धिः । तस्माद्यागावृत्तेरपि न्यायसिद्धत्वाद्युक्तं क्रमसमुच्चयदर्शनम् । अथवाऽस्तु तद्विधायकम्, तेनैव चाऽग्निष्टुत्यावृत्तिसिद्धिरिति ध्येयम् ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे उत्पत्तौ यागार्थतया देवताश्रवणात् नोद्भिदादौ तद्विध्यन्तः, अपि तूपांशुयाजियः; सिद्धान्ते त्वव्यक्तत्वात् मौमिकविध्यन्तः, सर्वाभ्यासविध्यन्तसमुच्चयाच्च यथाप्रकृत्यनुष्ठानमिति द्रष्टव्यम् ।

सूत्रं तु—तद्भेदात् देवतोद्देशभेदात्, कर्मणः ग्रहणस्य, अभ्यासः भेद इति यावत् । नन्वर्थप्राप्ते ग्रहणे सर्वेषां देवतासंयोगानां विधानोपपत्तेः कथं तावन्मात्रेण भेदसिद्धिः, अत आह—द्रव्यपृथक्त्वात् प्रकृत्यर्थदेवताभेदादेव संस्कार्यद्रव्यपृथक्त्वावगमात्, अतश्च प्राप्तग्रहणानुवादेनोभयविधाने वाक्यभेदापत्तेः युक्तो ग्रहणभेद इत्याशयः । नचैवमपि तेषां दृष्टार्थतया कथं समुच्चयः ? विधिवलेन दृष्टार्थताया अप्यङ्गीकारात्, अन्यथा विधिजातं अनर्थकमेव स्यात्, अतो दृष्टार्थत्वात् समुच्चयः । खदिरादिद्रव्याणां तु बन्धनक्रियां प्रति गुणभूतत्वादिकल्प इति भेद इति ग्रहणक्रमसमुच्चयदर्शनोपप-

तौ व्याख्येयम् । होमक्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तौ तु, तद्भेदात् समुच्चितदेवतोद्देशभेदात्, कर्मणः यागस्य, अभ्यासःआवृत्तिः, संस्कार्यद्रव्यस्य पृथक् ग्रहणाद्वचनं विना मेलनानुपपत्तेः, अन्यथा पृथक् ग्रहणमनर्थकं स्यात्, न चैवं यागभेदापत्तिः, देवतारूपस्य द्रव्यस्य ग्रहणं प्रत्येव गुणत्वेन स्ववाक्ये यामाकल्पकत्वात्; अतो यागावृत्तिमात्रबोधनाद्युक्ता होमेऽपि क्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तिरिति व्याख्येयम् ।

इति षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमं संख्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

पृथक्त्वनिवेशात् संख्यया कर्मभेदस्स्यात् ॥२-२-२०॥

(विषयसंशयौ)

(१)“तिस्र आहुतीर्जुहोति” (२)“द्वादश द्वादशानि जुहोति” (३)“आज्यभागौ यजति” (४)“पार्वणौ जुहोती”त्यादौ किं यावत्संख्यं धात्वर्थभेदो भावनाभेदश्च, किं वा एक एव धात्वर्थो भावना चेति विचार्यते ।

(सङ्गतिः)

अत्र पादाध्यायसङ्गतिस्स्पष्टा । अभ्यासापवादत्वेन च पूर्वाधिकरणोत्थानात् तत्समाप्त्या बुद्धिस्थेऽभ्यासेऽमकृच्छ्रवणात् युक्ता भेदकता, प्रकृते तु सकृच्छ्रवणात् न भेदकत्वोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानादभ्यासाधिकरणेनाऽपि मत्पुदाहरणरूपा ।

१. तै. सं. २. ३. ६. ३.

२. तै. सं. ५. ४. ८. २.

३. तै. सं. २. ६. २. १.

४. आप. श्रौ. १. ३. २०. ५.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३३

(पूर्वपक्षः)

तत्र न तावत् संख्यायाः साक्षादेव भावनाभेदबोधकत्वम् । सत्यपि प्रथमतः संख्यायाः अपि विशेष्यभूतायां भावनायामन्वये धात्वर्थवाच्याहुतिपदसामानाधिकरण्यदर्शनात् स्वाश्रयकरणकत्वसम्बन्धेन तदाश्रयणात्, संख्यायाश्चैकत्वातिरिक्त्यास्त्वसमानाधिकरणस्वाश्रयप्रतियोगिकभेदव्याप्तत्वरूपपृथक्त्वनिवेशित्वस्वाभाव्यात्, सत्यपि स्वाधारवृत्तिभेदबोधकत्वे तदनाधारभावनाभेदबोधकत्वानुपपत्तेः । नाऽपि धात्वर्थभेदबोधनद्वारा, संख्यायाः पदान्तरोपात्तत्वेन समानपदप्रमितैकत्वसंख्यावरुद्धे धात्वर्थे साक्षात्सम्बन्धेन वृत्तित्वानुपपत्तेः । यद्यपि 'जुहोती'त्याख्यातोपात्तैकत्वं कर्तृगामित्वान्न धात्वर्थवृत्तित्वेन प्रमितम्, तथापि अनवाच्छिन्नस्य धात्वर्थस्य भावनान्वयित्वानुपपत्तेः अवच्छेदकीभूतसंख्यापेक्षायां प्रथमातिक्रमे कारणाभावादेकत्वस्यैव धात्वर्थवृत्तित्वप्रमा नाऽनुपपन्ना । अतश्च यथैव "एकादश प्रयाजान् यजती"त्यादौ धात्वर्थसम्बन्धित्वेन श्रुताऽप्येकादशत्वसंख्या पञ्चत्वावरुद्धे धात्वर्थे साक्षाद्वृत्तितया निवेशमलभमाना धात्वर्थप्रयोगवृत्तित्वेनाऽऽश्रीयते इति सत्यपि प्रयोगरूपाभ्यासभेदे सोमयागवदेव न कर्मभेदकता, तथाऽत्रापि न धात्वर्थभेदकतेति द्रष्टव्यम् ।

अत एवाऽनन्तरसङ्गतिरपि; न चैकत्वसंख्याया अनुमितत्वेन न सामानाधिकरण्यप्रमितश्रुतसंख्यावृत्तिधात्वर्थनिष्ठत्वबाधकतेति वाच्यम्, एकत्वस्याऽनुमितत्वेन प्राबल्यात्; अन्यथा प्रयाजगतस्य पञ्चत्वस्य प्रत्येकैकत्वस्य च प्रकृतावार्धिकत्वेन प्राबल्यानुपपत्तेः । अत एव "तिस्र आहुती"रितिसामानाधिकरण्यमपि प्रयोगद्वारकमेव व्याख्येयम् ।

अस्तु वा धात्वर्थमात्रवृत्तिताङ्गीकारेण तद्भेदकता, तथाऽपि भावनाभेदे प्रमाणाभावः; न तावत्संख्या, तस्यास्तद्भेदकत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात् । नाऽपि संख्यया धात्वर्थभेदस्तद्भेदे च शब्दान्तरन्यायेन भावनाभेद इति वाच्यम्, प्रकृतिभेदे हि तदर्थानुबद्धायां भावनायां प्रकृत्यन्तरार्थस्य निवेशासम्भवाद्युक्ता भावनाभेदः; प्रकृते त्वनेकेषामपि धात्वर्थानामेकेन धातुना पादानात् सर्वेषामेकस्यामेव भावनायां समुहालम्बनव्यभिचेशोपपत्तेः न शब्दान्तरन्यायविषयत्वम् । किञ्च भावनानेकत्वे विधेयानेकमुख्यविशेष्यकत्वाच्च वाक्यभेदोऽपि; अतः 'समिधो यजती'तिवत् सत्यपि संख्याश्रवणे न भेदः इति प्राप्ते-

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—“तिस्र आहुती”रिति सामानाधिकरण्याद्धात्वर्थवृत्तित्वप्रतीतिः तद्भेदकत्वमेव संख्यायाः । न च प्रयाजैकादशत्वन्यायविषयत्वम्, एकादशत्वाविधितः पूर्वं प्रकृतौ प्रयाजानां प्रत्येकैकत्वेन वा प्रचयाशीष्टपञ्चत्वेन वा निर्जातसंख्यत्वात्; प्रकृते तु यावन्न्यायेन धात्वर्थे संख्याऽनुमानमारभ्यते तावत् प्रत्यक्षश्रुतया संख्यया निराकाल्पिकृते नाऽनुमानप्रसरः समास्ति ।

किञ्च कारणाभावे एव खल्वेकत्वकल्पको न्यायः । न चाऽत्र सोऽस्ति, त्रित्वश्रवणस्यैव कारणस्य सत्त्वात्; अतश्च प्रत्यक्षश्रुतसंख्यासत्त्वे धात्वर्थेन स्वपरिच्छेदार्थमेकत्वसंख्यानुमानाद्युक्तस्तथा धात्वर्थभेदः । न चैवं यत्राप्युत्पत्तिवाक्ये संख्या न श्रुता वाक्यान्तरे च तस्याः श्रवणं तत्रापि श्रुतसंख्यासत्त्वे तदाक्षेपानवतारात् संख्यया कर्मभेदापत्तिः; तादृशस्थले श्रुतसंख्याबोधकवाक्यस्य प्रवृत्तेः पूर्वमेव तदुपजीव्येनोत्पत्तिवाक्येनैकत्वस्यैवाऽनुमानात् । तथा हि—

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३५

सर्वत्र पदश्रवणक्रमेण प्रथमतः पदार्थोपस्थितिः, पश्चात् सर्वेषां प्रत्यासत्तिक्रमेण भावनान्वयः, विशिष्टप्रतीत्युत्तरकालं च तस्यां विध्यन्वयः, तदुत्तरं चाऽपरिच्छिन्नानां क्रियान्वयायोगात् परिच्छेदकीभूतसंख्यानुमानमिति वस्तुस्थितिः । तद्यत्रोत्पत्तिवाक्य एव संख्याश्रवणं तत्रानुमानप्रवृत्तेः पूर्वमेव संख्याया भावनान्वयात् तन्निर्वाहार्थं तस्या धात्वर्थसम्बन्धावश्यम्भावात्तथैव निराकाङ्क्षत्वोपपत्तेः पश्चात् न संख्यान्तरानुमानप्रसक्तिः । यत्रोत्पत्तिवाक्ये सा न श्रुता, उत्पन्नवाक्यस्य च तदनुवादेन संख्याविधायकत्वात् तदुपजीवकत्वेन तदुत्तरप्रवृत्तिकत्वम्, तत्रोत्पत्तिवाक्येन स्ववाक्यार्थाविधारणवेलायां परिच्छेदकीभूतसंख्यानुमाने तावन्न किञ्चिद्बाधकमस्ति ।

न चाऽनुमितस्याऽप्युत्तरकालं श्रुतेन बाधः, दुर्बलस्याऽपि पूर्वप्रवृत्तस्यऽतदुपजीव्य प्रवृत्तेनोत्तरेण बाधायोगात् । अन्यथा प्रथमप्रतीतस्याऽपि दुर्बलस्य यागगतकरणत्वस्यात्तरकालिकेन श्रुतेन सोमकरणत्वेन बाधापत्तेः । न च उत्पन्नशिष्टस्याऽऽनर्थक्यम्; अभासद्वारकतयाऽप्युपपत्तेः । प्रकृते त्वश्रुतसंख्यानुमानात् पूर्वमेव श्रुतायाः संख्यायाः भावनान्वयद्वारा विध्यन्वयप्रतीतेरात्तरकालिकत्वाभावेनाऽनुमानप्रतिबन्धाद्युक्ता भेदकतेति वैषम्यम् ।

अत एव यत्र संख्यायाः उत्पत्तिवाक्यगताया अपि सम्भवत्प्राप्तिकाया विशिष्टविधिगौरवापत्तेर्न भावनान्वयद्वारा विध्यन्वयः । तत्र तस्याऽनुमानप्रतिबन्धकत्वाभावात्त धात्वर्थभेदकता । यथा—(१) 'समिधो यजती'त्यत्र समिध इति बहुवचनं (२) 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यंत्वि'ति मन्त्रवर्णे समिधेवतागतत्वेन बहुत्वस्य प्राप्तत्वात् बहुत्वसंख्याविशिष्टयागविधौ च गौरवापत्तेः

स्वाश्रयदेवत्ययागवृत्तित्वसम्बन्धेनैकत्वलक्षणार्थं सत् समित्प्रा-
तिपदिकलाक्षिततत्तद्देवत्ययाग एवाऽन्वेतीति शक्यार्थस्य बहुत्वस्य
विध्यन्वयाभावान्न धात्वर्थभेदकता । अतश्चोत्पद्यमानकर्मस-
मानाधिकरणा विधेया संख्या कर्मभेदिकेति सिद्धम् । कर्मसा-
मानाधिकरण्याभावादेव च “त्रिवेदिं प्रोक्षती”त्यादौ न कर्मभेदः,
त्रिरित्यस्य क्रियाभ्यावृत्तिगणनार्थमुच्यतेत्यन्तत्वेनाऽभ्यासवृ-
त्तिसंख्याप्रतिपादकस्य कर्मसामानाधिकरण्याभावात् । अतः
सिद्धः संख्यया धात्वर्थभेदः ।

न चैवमपि भावनाभेदकाभावः, शब्दान्तरस्यैव सत्त्वात् ।
यद्यपि च समानपदोपात्तधात्वर्थादरोधे पदान्तरोपात्तधात्वर्थस्या-
वच्छेदकत्वायोग इत्येवंविधो गुणन्यायसङ्कीर्णो मूलोक्तशब्दा-
न्तरन्यायो नाऽत्र भावनाभेदकत्वेन सम्भवी, तथाऽपि कार्यताव-
च्छेदकतत्तद्यागत्वादिभेदात् कारणतावच्छेदकयत्नत्वेऽपि वैजा-
त्यमित्येवंविधोऽस्मदुक्तशब्दान्तरन्यायस्तु प्रकृतेऽपि सम्भवत्ये-
वेति न कश्चिद्विरोधः । सत्यपि च विधेयभावनानेकत्वे एकप-
दोपादानाद्युपपत्तीति न वाक्यभेदः । अत एवाऽस्माभिः भिन्न
प्रतीतिविषयानेकमुख्यविशेष्यराहित्यमर्थैकत्वलक्षणमुक्त(१)मर्थैक-
त्वाधिकरणे । तस्माद्युक्तः संख्यया कर्मभेदः ।

न च संख्या न स्वतन्त्रं मानम्, एकास्मिन् कर्मण्यनिविश-
मानत्वसाम्येन गुण एवाऽन्तर्भावोदिति वाच्यम् ; अनिविशमा-
नत्वसाम्येऽपि उत्पत्तिगतायाः संख्यायाः प्रमाणान्तरसिद्धोत्प-
त्तिकस्यैव कर्मणोऽनेकत्वमात्रबोधकत्वात् । ‘तिस्र आहुती’रिसत्र
हि शब्दान्तरादिनैवोत्पत्तिपरत्वावधारणम्, न तु संख्यायास्तत्र
व्यापारः, अपि त्वनेकत्वमात्रबोधे, गुणस्य तु सत्यप्याधेयादा
वृत्तिवाक्यगतस्य भेदकत्वे . उत्पन्नवाक्यगतस्याऽप्यनिविद्यमा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३७

नत्वेन स्वविशिष्टकर्मोत्पत्तिबोधनद्वारा भेदबोधकत्वमिति वै-
षम्यम् ।

एवं संज्ञातोऽपि संख्याया वैलक्षण्यं द्रष्टव्यम् । तस्मात् सं-
ख्यापि स्वतन्त्रं प्रमाणम् ।

प्रयोजनं—एतदङ्गभूतो मन्त्रः वेदिप्रोक्षणमन्त्रवत् सकृ-
देव प्रयोज्यः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते त्वावर्तनीय इति । तथा एत-
त्कर्माश्रितो गुणः प्रत्यभ्यासं सायम्प्रातरावृत्तहोमाश्रितदधि-
वदावर्तनीयः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते त्वाश्रयापेक्षायां प्रत्येकमेवाऽऽश्र-
यत्वकल्पनादनियमेन यस्मिन् कस्मिंश्चित् होमेऽनुष्ठेय इति ।
सूत्रं स्पष्टम् ॥

भाष्यकारेण तु कर्मसमानाधिकरणायाः संख्याया भेदक-
त्वस्य स्फुटत्वात् तदनादृश्यं “सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभत”
इति द्रव्यसमानाधिकरणसंख्याया भेदकत्वं विचारितम्—कि-
मत्र सप्तदशपशुद्रव्यक एको यागो विधीयते ? किंवा एकैकपशु-
द्रव्यकासप्तदश यागाः ? इति । तत्र पादाध्यायप्रकरणसङ्गतयः
पूर्ववदेव । अनन्तरा तु पूर्वाधिकरणे भिन्नवाक्योपात्तानामनेके-
षामपि देवतात्वानामेकेन यागेनोपपत्तावुक्तायामेकवाक्योपात्तैकदे-
वतात्वस्य सुतरामेकेन यागेनोपपत्तिरिति पूर्वपक्षोत्थानात् द्रष्टव्या ।

तत्र प्राजापत्यानिति पदे प्रकृत्या प्रजापतिस्तद्वितेन देव-
तात्वविशिष्टद्रव्यं सन्निहितं पञ्चाख्यं द्वितीयया करणत्वं बहुव-
चनेन बहुत्वमुच्यते इति तावद्द्रव्यस्थितिः, पशुपदं च द्रव्याविशेष
तात्पर्यग्राहकम्, तत्र पदद्वयेऽपि बहुत्वस्य प्रथमतः करणत्वेना-
न्वितस्याऽपि पार्ष्टिकः पञ्चाख्यद्रव्येणैवान्वयः पञ्चैकत्वाधिक-
रणवक्ष्यमाणन्यायेनाऽवगम्यते, न तु देवतात्वविशिष्टद्रव्येण ।

न च पशुपदे तथान्वयेऽपि प्राजापत्यपदे बहुत्वस्य देवतात्व-

विशिष्टद्रव्य एव तद्वितार्थेऽन्वयो युक्तः; प्रत्ययानां प्रकृत्यर्था-
न्वितस्वार्थाभिधायकत्वनियमादिति वाच्यम्, संख्यारूपप्र-
त्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यान्वयित्वव्युत्पत्तेः; अन्यथा द्वौ त्रय
इत्यत्र द्वित्वादिविशिष्टे संख्यान्वये चतुर्णां नवानां वा प्रतीत्या-
पत्तेः; श्रुतविशेष्याऽन्वयवार्धे हि क्वचित् विशेषणस्यैव विशेष्य-
त्वलक्षणयाऽन्वयः, यथा—“त्रैकयोर्द्वैवचनैकवचने” इत्यादौ, न
तु काऽपि विशिष्टेऽन्वयो दृष्टचरः ।

अत एव(१) “पञ्च पञ्चाशत्स्त्रिंशत्संवत्सरा” इत्यत्र पञ्चाश-
त्संख्यायामेव विशेष्यभूतायां पञ्चत्वान्वयः, संवत्सरसामाना-
धिकरण्यं तु संवत्सरपदस्य संवत्सरवृत्तिमलक्षणयेति न वि-
रोधः । अतो देवतात्वविशिष्टद्रव्ये तद्वितार्थेऽपि बहुत्वान्वयो द्रव्य
एवेति सिद्धम् । स चोभयथा सम्भवी, द्रव्ये देवतात्वान्वयोत्तरं,
ततः पूर्वं वा, तत्र यद्युत्तरं ततो देवतासम्बन्धस्य प्रतिसम्बन्धिनि-
द्रव्ये साहित्यानवगमात् प्रत्येकं देवतासम्बन्धप्रतीतेः स्यादनेक-
यागकल्पनम्, पूर्वभाविनि तु तस्मिन् साहित्यावच्छिन्नस्यैव
प्रतिसम्बन्धित्वात् सत्यप्याधिष्ठानभेदे प्रतिसम्बन्धितापर्याप्त्यधि-
करणतावच्छेदकस्यैकत्वेन द्रव्यदेवतासम्बन्धैक्यप्रतीतेरेकयागक-
ल्पनम् । तदेवमुभयोपपत्ताननेकयागतदपूर्वकल्पनागौरवभिया
बहुत्वान्वयस्य पूर्वत्वमेवाऽऽश्रीयते । एवं च पशुपद इव तद्वितेऽपि
बहुत्वान्वयात् पूर्वमेकशेषः क्रियमाणो द्रव्य एवाऽश्रितः स्यात्
न तु देवतात्वे प्रजापतिरूपे च प्रकृत्यर्थेऽपीत्यपि लाघवम् । एवञ्च
यद्यपि क्वचित् बहुत्वस्य विशिष्टेऽप्यन्वयो दृष्टचरो भवेत्, तथाऽपि
विशेष्यमात्रेऽप्यन्वयदर्शनादुभयथा व्युत्पत्तिसत्त्वे पूर्वोक्तविध-
याऽत्रोभयथाऽप्युपपत्तौ च लाघवस्यैव नियामकत्वाद्युक्तमेकयाग-
कल्पनम् ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २३९

नन्वातिदेशशास्त्रस्य नियामकत्वसम्भवेन लाघवाख्यन्या-
यस्य नियामकता युक्ता; स हि प्रकृतित एकपशुनिष्पन्नैकादशा-
वदानगणमेकं प्रापयति । प्रकृतौ हि 'पशुमालभेते'ति हृदयादिप्र-
कृतिभूतपशुगतमेकत्वं विवक्षितम् । 'हृदयस्याऽग्नेऽवद्यती'त्यादि-
ष्वपि च संस्कारविध्यन्यथानुपपत्त्या विनियोगकल्पनदशायां
अध्वर्युगतैकत्ववद्दृष्ट्यादिगतैकत्वस्य विवक्षितत्वादेक एवावदा-
नगणोऽङ्गम् । अतश्च तस्य यागैकत्वे आतिदेशकत्वादेकस्यैव प्राप्तेः
सप्तदशपशुप्रकृतिकत्वानुपपत्तिः ।

यद्यपि चापदेशिक्या पशुसंख्यया आतिदेशिक्याः
तस्या बाधस्स्यात्, तथाऽपि हृदयाद्येकत्वस्य भिन्नविषयत्वात्
बाधकाभावेन तस्य सप्तदशपशुप्रकृतिकत्वानुपपत्तिस्तद-
वस्थैव । यागभेदे तु प्रतियागमतिदेशभेदात् तावतां
गणानां प्राप्तेर्युक्ता तावत्पशुप्रकृतिकतेति । अतोऽतिदे-
शेनैव वाक्यशेषस्थानीयेन निर्णयोपपत्तेः देवतात्वान्वयोत्तरं
द्रव्यमात्रे बहुत्वान्वयो विशिष्ट एव वा स इसङ्गीकर्तुं युक्त
मिति चेत्—न ; अतिदेशस्योभयथाऽप्युपपत्तावनिर्णायकत्वात् ।
तथाहि—

प्रकृतौ पशुशास्त्रस्य विशसनादिरूपतात्पर्यग्राहकबलेन सर्वाव-
यवद्वारा पशुसाधनताबोधकत्वे प्राप्ते हृदयादिशास्त्रं परिसंख्यार्थमि-
त्युक्तम् ; स्यास्यति च । अतः पशुशास्त्रमेवार्थाद्दृष्ट्यादिसाधनता-
विधायकं नाऽवदानशास्त्रम् । तत्र च पशुगतैकत्वेन हृदयाद्येकत्व-
स्याऽर्थसिद्धत्वात् तदंशेऽपि विधिकल्पनम् । एवं च यद्यप्यवदान-
विध्यन्यथानुपपत्त्यैव हृदयादिविधिकल्पनम्, तथाऽप्यर्थसिद्धत्वा-
न्नेकत्वविशिष्टस्य तस्य । अतश्च हृदयादिगणस्य यागसाधनस्यापि
यथैव पशुगतैकत्वानुरोधेन प्रकृतावेकत्वं तथैवाऽत्र तद्गतसप्तदशपशु-

नुरोधेन समदशत्वमिति न कश्चित् यागैकत्वेऽपि तस्य विरोधः ।
अतो द्रव्यदेवतासम्बन्धस्यैकत्वे लाघवन्यायस्यैव नियामकत्वात्
युक्तं यागैकत्वम् ।

अस्तु वा यथाकथञ्चित् सम्बन्धभेदः, तथाऽपि सर्वसम्ब-
न्धोपपादकत्वेन सोमयागवललाघवेनैकस्यैव यागस्य कल्पनो-
पपत्तेः नाऽनेकत्वे प्रमाणमस्ति । तेन यथैव सिद्धान्ते सकृद-
नुष्ठानेनैवाऽनेकयागनिष्पत्तिः, तथा मन्मतेऽप्येकेनैव यागेन सर्व-
देवतासम्बन्धोपपत्तिः । अतो न कर्मान्तरम् ।

यश्चत्र न्यायसुधाकृता तद्वितोत्तरबहुवचनमात्रालोचने
विशिष्ट एव तद्वितार्थे बहुत्वान्वयापत्तेः पूर्वपक्षानुत्थानप्रसङ्गात्
न तन्मात्रालोचनेनाऽत्र पूर्वपक्षः, किन्तु तद्वितस्य सर्वनामार्थ-
वृत्तित्वात् सर्वनाम्नश्च सन्निहितपशुपरामर्शित्वात् बहुवचनान्त-
पशुपदानुरोधेन सर्वनाम्न एवैकशेषत्वकल्पनया बहुत्वसंख्याव-
च्छिन्नसर्वनामार्थ एव तद्वितोत्पादात् तदुत्तरबहुवचनस्याऽत एवा-
नुवादत्वात् बहूनां पशुनामेकदेवतासम्बन्धेन कर्मैकत्वमित्येव पूर्वः
पक्ष इत्युक्तम्; तत् बहुत्वान्वयस्य विशेष्य एव व्युत्पन्नतया
अश्रुतसर्वनामैकशेषत्वकल्पने प्रमाणाभावाच्चोपेक्षितम् । अतः प्रा-
गुक्त एव पक्षो युक्तः इति प्राप्ते —

(सिद्धान्तः)

आभिधीयते—सत्यं संख्याया विशेष्यान्वय एव व्युत्पन्नः,
तथापि तु समानाभिधानश्रुत्या संख्यान्वयात् पूर्वमेव देवतात्वं
द्रव्येऽन्वेति, पश्चादेव पदश्रुत्या संख्या । अतश्च देवतात्वस्य प्र-
तिसम्बन्धिनि द्रव्ये साहित्यानवगमात् पशुत्वस्यैव प्रतिसम्ब-
न्धितावच्छेदकत्वप्रतीतेः उत्तरकाले बहुत्वान्वयेन पशुत्वावच्छि-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४१

अभेदप्रतीतेः सम्बन्धितापर्याप्त्यधिकरणताभेदेन देवतासम्बन्धानामपि योग्यताबलेन भेदप्रतीतिः । न च पशुत्वस्य पशुपदाधीनप्रतीतिकत्वात् तस्य च बहुवचनान्तत्वेन सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन बहुत्वविशिष्टस्यैव तस्य प्रतिसम्बन्धितावच्छेदकत्वप्रतीतिरिति वाच्यम्, पशुत्वविशेषावधारणस्य उत्तरकालमप्युपपत्तौ तद्वितस्य पशुपदाधीनप्रवृत्तिकत्वे प्रमाणाभावात् ।

न च तात्पर्यग्राहकज्ञानस्य तद्वितपदजन्यपदार्थोपस्थितावेव सहकारिकारणत्वाभ्युपगमात् कथं तद्वितपदस्य पशुपदाधीनप्रवृत्तिकत्वाभाव इति वाच्यम्, तात्पर्यग्राहकज्ञानाभावेऽपि तद्वितपदमात्रश्रवणेनाऽनिर्धारितद्रव्यविशेषबोधे बाधकाभावात् । अन्यथा तद्वितमात्रश्रवणात् द्रव्यविशेषसंशयानुपपत्तेः । अतोऽनिर्धारितद्रव्यविशेषे बुद्धेऽपि विशेषणान्तरव्यावृत्तिमात्रफलकत्वं तात्पर्यग्राहकस्येति द्रष्टव्यम् ।

अस्तु वा गुणाधिकरणवार्तिकस्वारस्यात् तात्पर्यग्राहकस्य पदार्थोपस्थितावेवोपयोगः, तथाऽपि तत्त्वेन पशुप्रातिपदिकस्यैवोपयोगः, योग्यत्वात्, न तु बहुवचनादेरपि, बहुवचनस्योभयथाप्युपपन्नत्वेन तात्पर्यग्राहकत्वाभावाच्च । तथाहि—बहुत्वस्य पार्ष्टिको द्रव्यसम्बन्धो द्वेषा सम्भाव्यते—करणत्वानां बहुत्वेनैकत्वेन वा । तद्यत्र प्रमाणान्तरेण प्रत्येकवृत्तिकरणत्वमवगतम्, यथाऽऽग्नेयादिषु तत्तद्वृत्तिवाक्ये, यथा वा(१)“तां षतुर्भिरादत्ते” त्रिवृद्धिष्पवमान”मित्यादौ, तत्तन्मन्त्रवृत्त्यर्थप्रकाशनकरणत्वे लोकोक्त्युत्पत्तितः तत्र प्रत्येककरणताश्रयाणामेव पार्ष्टिको बहुत्वम्बव्यः । अत एव तत्र करणानां समुच्चयो, न तु समुदितानां करणत्वमेकम् ; यत्र तु प्रमाणान्तरेण न तज्ज्ञेदावगमः तत्र लघु-

वेन करणत्वस्यैकस्यैव कल्पनादेककरणताश्रय एव पार्ष्टिको बहुत्वान्वयः । अत एव तत्र समुदितानामेकं करणत्वम् । शक्यते तु तादृशस्थलेऽपि प्राथमिककरणतान्वयवेलायां बहुत्वानवच्छिन्नस्यैव प्रातिपदिकार्थस्य करणत्वान्वयप्रमापणात् तन्निर्वाहार्थं पार्ष्टिको बहुत्वान्वयोऽपि करणीभूतप्रातिपदिकार्थवृत्त्येव प्रतीयत इति तत्रापि करणानामेव समुच्चयो, न तु समुच्चितानां करणत्वमिति वक्तुम् । अतो यत्र प्रमाणान्तरेणैवैका करणता प्रतीयते तत्रैव समुदितानां करणत्वमिति द्रष्टव्यम् ।

तदिह पशूनामपि यागकरणत्वं योग्यतया प्रत्येकमेवावगतम् । न हि पशुसमुदाये एकं स्वत्वम्, प्रमेणाभावात्, यथेष्टविनियोगादिरूपस्य स्वत्वकार्यस्य प्रत्येकं दर्शनाच्च, समुदायस्य स्वातन्त्र्येण यथेष्टविनियोगानर्हत्वाच्च । अतः प्रत्येकं पशूनां स्वत्वाश्रयत्वात् तदुध्वंसानुकूलव्यापाराख्ययागकरणत्वमपि प्रत्येकमेवाऽवगम्यते । अत एवाऽत्र करणानामेव समुच्चयो, न तु समुदितानां करणत्वम् । अतश्च प्रत्येकमेव यागसाधनत्वाख्यहविष्त्वावगतेः तदर्थविहितदेवतातद्धितेनाऽपि प्रत्येकमेव देवतात्वसम्बन्धावगतिः ।

अत एव करणत्वविशिष्टपशुबोधकस्यैव शब्दस्य तात्पर्यग्राहकता न बहुवचनस्यापि । तदर्थस्य हविष्णानवरुद्धकत्वात् । यद्यपि च पशुपदमात्रश्रवणेन यागसाधनत्वरूपं हविष्ट्वं न प्रतीयते, तथापि देवतातद्धितश्रवणाद्देवतात्वसम्बन्धात् पूर्वं तत्प्रतीतिरावश्यकी । अन्यथा “सूक्तहविषोरिष्टि” रिति स्मृत्या तस्य निश्चतविषयत्वादुत्पत्त्यनापत्तेः । अतो हविष्ट्वे पशूनां(१)प्रकृते देवतासम्बन्धः, तदुत्तरं च यागस्य प्रमाणान्तरेणान-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४३

वगमात् कल्पनेत्यवधेयम् ।

यद्यपि च प्रदेयत्वाख्यं हृदयादीनामेव हविष्ट्वम्, तथापि प्रदेयप्रकृतित्वाख्यं हविष्ट्वं पशूनां देवतासम्बन्धसिद्ध्यर्थमिहोक्तमिति न विरोधः ।

नचैवमपि हविष्ट्वस्य स्वरूपसत् एव तद्वितोत्पत्तानुपयोगान्न ज्ञानापेक्षेति वाच्यम्, तथात्वे सर्वनामार्थस्यापि स्वरूपसत् एवोपयोगोपपत्तौ देवतात्वमात्रस्य वाच्यताप्रसङ्गेन द्रव्यविशेषस्याऽऽप्यवाच्यतापत्तेः । अतश्च यथैव सूत्रकृदुक्तः अस्यशब्दार्थो वाच्यकोटिप्रविष्ट इति गुणाधिकरणे वक्ष्यते तथा भाष्यकृदुक्तो हविरादिविशेषोऽपि वाच्यकोटिप्रविष्ट एवेति तत्प्रतीतिरपि देवतासम्बन्धात् पूर्वमावश्यकी । अतश्च यागसाधनत्वयोग्यतावच्छेदकपथत्वावच्छिन्नस्यैव बहुत्वानवच्छिन्नस्य देवतासम्बन्धात् तस्य च प्रतिसम्बन्धितापर्याप्त्यधिकरणभेदेन भिन्नत्वात् भेदसिद्धिः । अत एव(१) वसन्ताय कपिञ्जलानालभेते” सत्रापि चतुर्थ्युपात्तस्य त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वाख्यस्य देवतात्वस्य त्यज्यमानद्रव्यस्वरूपहविष्ट्वं विनानुपपत्तेः कपिञ्जलानां च प्रत्यकमेव यागसाधनत्वाख्यहविष्ट्वयोग्यत्वात् पूर्ववद्देवतासम्बन्धभेदोपपत्तिः ।

अत एव पार्थसारथेः तदनुयायिनां चैकपशुनिष्पन्नैकादशानुदानगणैकताप्रापिचोदकानुरोधेनैव देवतासम्बन्धभेदोपपादनं निर्मूलमेव ।

किञ्चैवं सति(२)सप्तदश मारुतीः त्रिवंत्सा उपाकरोति सप्तदश प्रश्नीनुक्षणः तान् पर्यग्निकृतानुत्सृजन्ति प्रेयतराआळभन्ते” इत्यत्रोक्तवाक्ये पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधानादेकादशादानगणप्राप्त्यभावेन कथं देवतासम्बन्धभेदसिद्धिः ? यद्यपि तत्राऽने-

कमारुतियागविधाय्युपाकरोत्यनुपङ्गादवैरूप्यार्थमुक्षस्वपि अने-
कयागकल्पनं शक्यते वक्तुम्, तथापि(१) "ईशनाय परस्वत आ-
लभत" इत्यत्र तदभावात् पर्याग्निकरणान्ताङ्गीतिविधानेन च
एकादशावदानगणप्राप्त्यभावाद्यागभेदो दुरुपपादः ।

न च तत्राऽस्तु यागैकत्वम्, तदा हि परस्वतां प्रत्येकं कर-
णीभूतानां समुच्चयस्वीक्रियते, समुदितानां वा करणता ?
नाद्यः ; तथा सति बहुत्वस्य करणतावच्छेदकत्वादस्मदुक्तप्रका-
रेण यागभेदस्यैवाऽऽपत्तेः ।

अत एव प्राजापत्योदाहरणे यागैक्यसिद्धयर्थं पूर्वपक्षे समु-
च्चितानामेव करणत्वमुक्तं वार्तिककृता । नान्यः, तथात्वे प्रतिप-
रस्वतं नियोजनोपाकरणादिसंस्कारानापत्तेः । प्रकृतौ हि यागसा-
धनीभूते पूर्वसाधनतापर्याप्त्याधिकरणे संस्काराः कृताः, इहापि
तादृशे समुदाये कर्तव्याः, न समुदायाधिष्ठानेषु प्रत्येकम् । नहि
व्रीहिसंस्काराः प्रतिव्यक्ति क्रियन्ते, अपि त्वपूर्वसाधनतापर्या-
प्त्यधिकरणे चतुर्मुष्टिपरिमिते समुदाये । अतएव वार्तिके आग्ने-
यादीनां समुदितानां साधनत्वे न प्रत्येकमितिकर्तव्यतान्वयः,
अपि तु प्रत्येकसाधनत्व एवैत्यसकृत् क्षुण्णम् ।

न चैवं(२) नवमे इष्टकासमुदायस्याग्निपदवाच्यत्वमङ्गी-
कृत्य हिरण्यशकलप्रोक्षणस्य प्रतीष्टकं कर्तव्यतारूपपूर्वपक्षकरणः
नुपपत्तिः, तत्रत्यसमुदायपदस्य सन्निवेशविशेषविशिष्टेष्टकारू-
पसमुदायिपरत्वस्यैवाऽङ्गीकारात् । तस्मात् समुदायस्य साधनत्वे
प्रतिपशु संस्कारानुपपत्तेः परस्वत्वाक्ये यागैक्योक्तिर्मुषैव ।

किञ्चैवं वसन्तवाक्येऽपि यागैक्यं किमिति नाऽङ्गीक्रियते ?
एकादशावदानगणानुपपत्तेः प्रकृतावेकत्वस्याऽर्थिकत्वेन परिहर्तुं

शक्यत्वात् । अथाऽस्तु भवदुक्तवत्यैव परस्वद्वाक्ये कर्मभेदः, ततो वसन्तधाक्येऽपि तत एव भेदसिद्धेः किमव्यापकेन स्वरूपासिद्धेन चैकादशावदानगणानुपपत्त्युपन्यासेन ? । तस्मात् सिद्धः प्राजापत्यवाक्ये अन्येष्वप्येवञ्जातीयकेषु कर्मभेदः । अत एवैकपशुसाध्यताऽप्यतिदेशप्राप्तानुगृहीता भवति । अन्यथा साम्प्रदर्शनेन तद्वाधापत्तेः । अत एव सम्बन्धभेदाङ्गीकारेऽप्यनेकसम्बन्धोपपादकैकयागकल्पनैव लाघवादिस्त्वित्यप्यपास्तम्, सम्बन्धानामुभयथाऽप्येकानेकयागकल्पनयैवोपपत्तौ लाघवाख्यन्यायापेक्षया पश्चैकताप्राप्यतिदेशशास्त्रस्यैव नियामकत्वौचित्यात् । अत एवाऽनेकयागकल्पनार्यां गौरवमपि प्रामाणिकम् । एवं चित्रेष्ट्यादावपि द्रव्यैकताप्रापिचोदक एव नियामकः ।

यत्रचत्र मूले अवदानगणैकताप्राप्त्या सिद्धान्तकरणम्, तदतिशयार्थमिति द्रष्टव्यम् । तस्मात् सिद्धो धात्वर्थभेदः । तद्भेदाच्च भावना भेदः पूर्ववत् । अपूर्वभेदस्तु भाव्यभूतापूर्वभेदं विना भावनाभेदानुपपत्तेर्द्रष्टव्यः ।

प्रयोजनम्—पूर्वपक्षे सम्बन्धैकत्वपक्षे अवदानप्रकृतिभूतपशुगतसमुदायस्य देवतासम्बन्धात् तस्य चैकत्वेन प्रकृतिप्राप्तदेवतासम्बन्धवृत्तिप्रोक्षणोपाकरणादिधर्मजातं सकृदेव कार्यम् । दृष्टार्थं तु(१) नियोजनविशसनादि प्रतिपशु प्रयोजनानुरोधेन कार्यम् । तथैकस्य पशोर्नाशे तदुघटितसमुदायस्य नाशेन तद्वृत्तिसंस्काराणामपि नाशादानीयमानपशुसहितैतत्पशुसमुदायान्तरे पुनरपि संस्कारः कार्यः, तत्पशुविशसनेत्तरमेतत्पशुनाशे तु पश्वन्तराण्युत्पाधानि, सम्बन्धभेदपक्षे त्वेकपशुविस्मरणेऽपि यागस्यैकस्य जातत्वाच्च तदर्थं पुनः करणम् । सिद्धान्ते तु पशु-

नामेव देवतासम्बन्धात् गृह्यमाणविशेषत्वेन प्रतिपद्यु प्रोक्षणादि,
एकपशुनाशे च तत्रैव संस्कारकरणम्, विशसनोत्तरमप्येकस्यै-
वोत्पत्तिः, विस्मरणे पुनर्यागकरणमिति ध्येयम् ॥ सूत्रं स्पष्टम् ॥

इति सप्तमं संख्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

अथाऽष्टमं संज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ २-२-२१ ॥

(विषयसंशयो)

ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते-(१)“अथैष ज्योतिः” “(२)अ-
थैष विश्वज्योतिः” (३)“अथैष सर्वज्योतिः” “एतेन सहस्रदाक्षि-
णेन यजेत, एतेन ऋद्धिकामो यजेते” ति; तथा(४)“अथैष नोः”
(५)“अथैष आयु” रित्यादि च । तत्र किं ज्योतिष्टोमात् कर्मान्तरा-
प्येवंसंज्ञकानि विधीयन्ते ? उत तस्यैवैताः संज्ञा? इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । अनन्तरा तु सङ्ख्यावत् संज्ञायाः
स्वसमानाधिकरणस्वाश्रयप्रतियोगिकभेदव्याप्तत्वरूपपृथक्त्वनिवे-
शित्वाभावात् भेदकतेति पूर्वपक्षोत्थानात् प्रत्युदाहरणरूपा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र “अथैष ज्योतिः” रित्यादीनि तावद्विषयमानसाका-

१. ता. ब्रा. १६. ८. १.

२. ता. ब्रा. १६. ६. १.

३. ता. ब्रा. १६. १०. १.

४. ता. ब्रा. १६. ३. १.

५. ता. ब्रा. १६. ४. १.

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४७

क्षत्वाभावात्(१) त्रीणि वाक्यानि, “एतेने” लघ्यनुषङ्गे प्रमाणा-
भावात् ‘तस्मिन् सीदे’तिवच्चतुर्थमित्यप्यविवादम् । तत्र “अ-
थैष ज्योतिः” रित्यादिवाक्येषु प्रथमान्तत्वादस्तीत्येनदध्याह्रियते ।
तेन च भेदकप्रमाणाभावात् प्रकृत एव यागोऽनूयते । तथाहि-
न तावदत्र शब्दान्तरमस्ति, तस्य भावनामात्रभेदकत्वेनाऽसि-
धातोश्च भावनानवच्छेदकत्वेनाऽभावात् । सिद्धे हि यागान्तरे
तस्याऽप्राप्तत्वात् विधिः भावना वा कल्प्येत, न च तत्सिद्धिः
शब्दान्तरन्यायप्रमाणिका । अत एव विधिपुनःश्रवणाभावा-
द्भाऽभ्यासोऽपि । सहस्रदक्षिणादिवाक्ये तत्सत्त्वेऽपि वाऽनन्य-
परत्वाभावात् नाऽभ्यासता; ऋध्याख्यफलसम्बन्धपरत्वस्याऽपि
स्वर्गवदुपपत्तेश्च । न च गुणः ; ज्योतिरादिशब्दानां नाम-
त्वस्य साधितत्वात्, गवादिशब्दानामपि दक्षिणात्वेन फ-
लत्वेन च गवादीनां प्राप्तत्वात् तत्प्रख्यन्यायेनैव ज्योतिष्ठो-
मनामत्वात् । न च गोस्तत्त्वेन प्राप्तावपि हविष्टत्वेन विधानोप-
पत्तेः प्रकृते च कर्मण्युत्पत्तिशिष्टसोमावरोधान्निवेशानुपपत्तेः भे-
दावश्यम्भाव इति वाच्यम् ; गुणवाचिपदस्य नामधेयत्वेनाऽप्यु-
पपत्तौ अपूर्वान्तरकल्पनानुबन्धिकर्मन्तरकल्पकत्वे प्रमाणाभा-
वात् । न च वार्जिनवत् कर्मणि प्रवृत्तिनिमित्ताभावः, गोसम्ब-
न्धस्य प्राप्तत्वेन समिदादिवलक्षणया नामत्वोपपत्तेः । अतो न
तावत् ज्योतिरादिपदवाच्यगुणस्य भेदकत्वम् । नाऽपि सहस्रद-

१. अत्रेदं चिन्त्यम्—ताण्ड्ये षोडशोऽध्यायेऽष्टमकण्डिकारम्भे
“अथैष ज्योतिः” इति वाक्यं श्रूयते । नवमदशमयोः कण्डिकयोरा-
दा वप्रिमे वाक्ये । मध्यं बहुभिवाक्यैश्चवधानदेशामेकवाक्यत्वमं-
शयः कथमुदेति ? यद्भावबोधनार्थं विमज्यमानसाकाङ्क्षत्वाभावो
हेतुक्रियते इति । अथ वा दक्षिणाफलवाक्यसहितं वाक्यत्रयमिदं
कस्यां चिच्छाखायामेकत्रैव पाठनं भवेत्, इति विभावनीयम् ।

क्षिणादेः, तस्योत्पत्तिशिष्टगुणविरोधित्वात् भेदकत्वानुपपत्तेः । नाऽपि प्रकरणान्तरम्, अनुपादेयगुणाभावात् । ऋद्धिवाक्ये तत्सम्बन्धेऽपि प्रकरणात् पूर्वपरामर्शितच्छब्दयोगाच्चोपस्थितिसम्बन्धेनाऽसाक्षिध्याभावाच्च ।

नन्वधिकारार्थाथशब्दश्रुत्या कर्मान्तरविषयाधिकारावगमात् पूर्वकर्मप्रत्यभिज्ञाबाधेन प्रकरणस्य व्यापारासम्भवात्, एतच्छब्दस्य च जघन्यत्वेन दुर्बलत्वात्तदुपमर्दकत्वानुपपत्तेः, वस्तुतः तदादिसर्वनाम्नां शूर्वप्रकृतपरामर्शित्वेऽपि एतच्छब्दस्थोभयसाधारण्येन सान्निहितप्रत्यक्ष एव प्रयोगानुसारेण शक्त्यवधारणात्, अथशब्दानुरोधेन वक्ष्यमाणपरामर्शित्वस्याऽप्युपपत्तेरसन्निधिसम्बन्धेन तत्सहकृतफलरूपानुपादेयगुणस्य प्रकरणान्तरन्यायेन भेदकत्वोपपत्तिः । न चाऽत्राथशब्दस्याऽऽनन्तर्यार्थकत्वं शक्यते शङ्कितुम्, तव मते आनन्तर्यप्रतियोगिनः कर्मान्तरस्याऽसम्बन्धेन तदर्थकत्वानुपपत्तेः, काम्यानां कर्मणां भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहेण क्रमासम्भवाच्च, उत्तरकालतामात्रस्य च प्राप्तत्वेनाऽथशब्दवैयर्थ्यापत्तेश्च।

अत एव पूर्वप्रकृतापेक्षत्वपरत्वस्याऽनुपपत्तिः, तद्धि संहत्य फलसाधनत्वाद्वा स्यादङ्गाङ्गीभावाद्वा ? अतिदेशसिद्धयर्थं वा ? नाऽऽद्यौ, नैरपेक्ष्येण फलसाधनत्वात् । नाऽन्त्यः, अथशब्दं विनाऽपि तत्सिद्धेः । अत एव पूर्वप्रकृतकर्मापेक्षित्वपरत्वानङ्गीकारेऽपि अनुवादाथं पूर्वप्रकृतज्योतिष्टोमविध्यपेक्षित्वपरत्वं भविष्यतीत्यपास्तम् ; तदभावेऽपि “दध्ना जुहोती” तिवत् तत्सिद्धेः । अतः परिशेषात् “(१)अथ शब्दानुशासन” मितिर्वदधिकारार्थत्वावगमाद्युक्तमेव प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मान्तरत्वमिति चेत्—

न; उद्योतिरादिसंज्ञकज्योतिष्टोमप्रयोगविशेषाधिकारार्थत्वेना-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २४६

प्यथशब्दस्य सार्थक्येन प्रत्यभिज्ञाविच्छेदानुपपत्तेः । तथाहि-
ज्योतिरादिसंज्ञास्तावदेताः ज्योतिष्टोमस्यैव, प्रकरणात्,
तत्रैव वक्ष्यमाणरीत्या प्रवृत्तिनिमित्तसत्त्वाच्च । तथा चैतासां
ज्योतिष्टोमसंज्ञया विकल्पेन सङ्कल्पादाबुल्लेखः । अतश्च ज्योति-
रादिसंज्ञोल्लेखयुक्तयागप्रयोगाधिकारार्थोऽथशब्दः । तत्प्रयो-
जनं च ज्योतिष्टोमसंज्ञोल्लेखयुक्तयागप्रयोगप्रत्यभिज्ञानोच्छेदात्
तत्र सहस्रदक्षिणादिव्यावृत्तिः । एतदभावे हि सर्वप्रयोगेष्वेव
तत् प्राप्नुयात्, सति त्वस्मिन् पूर्वाधिकृतानामेव प्रयोगविशे-
षाणामेतेनेत्यनेन परामर्शात् सहस्रदक्षिणादिकमपि तत्रैवेति
सिद्ध्यति ।

अत एव सहस्रस्य द्वादशशतेनाऽष्टदोषदुष्टो विकल्पः कर्म-
कत्वपक्षे प्रसज्यते, 'सहस्रदक्षिणेन यजेते' त्येतावतैवार्थसिद्धेः
वाक्यान्तराण्येतद्वाक्यगतश्चैतच्छब्दोऽनर्थकः स्यादित्यपास्तम् ।
तस्मादथशब्दस्य प्रयोगविशेषप्रत्यभिज्ञोच्छेदकत्वेऽपि कर्मप्रत्य-
भिज्ञोच्छेदकत्वाभावान्न प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मान्तरत्वम् ।

अत एवाऽनुपादेयगुणाभावेऽप्यथशब्दमात्रेणैवास्तु भेद इत्य-
पास्तम् । न चाऽलमनङ्गीकृतभेदकप्रमाणोपन्यासेन, संज्ञयैव
त्वत्र भेदोपपत्तेः कथं कर्मैक्यमिति वाच्यम् ; संज्ञा हि संख्या-
वत् पृथक्त्वनिवेशित्वस्वाभाव्याद्वा भेदिका ? गुणवत् पूर्वकर्मण्य-
निविद्यमानत्वाद्वा ? नाऽऽद्य; संज्ञायास्त्वया पूर्वकर्मवाचित्वानभ्यु-
पगमेन शक्ततासम्बन्धेनाऽपि पूर्वकर्मवृत्तिस्वाभावाद्वास्यवृत्ति-
त्वाभावाच्च स्वसमानाधिकरणस्वाश्रयप्रतियोगिकभेदव्याप्तत्वं
रूपपृथक्त्वनिवेशित्वासम्भवात् ।

नच तथाविधपृथक्त्वनिवेशित्वासम्भवेऽपि द्वयोस्संज्ञयोः
परस्पराभ्याभिन्नवृत्तित्वव्याप्तत्वरूपस्य तस्य सम्भवः, घटकलशा-

दिपर्यायेषु द्वयोस्संज्ञयोरेकाश्रयत्वस्याऽपि दर्शनात् । नाऽन्त्यः ;
तथात्वे गुण एवान्तर्भावप्रसङ्गात् ।

किञ्चाऽनिविशमानत्वमपि किमनेकशक्तिकल्पनप्रसङ्गभिया,
एत वैयर्थ्यप्रसङ्गेन ? नाऽऽद्यः ; अनेकशक्तिकल्पनस्य कर्मान्तर-
त्वपक्षेऽपि तुल्यत्वात् ; प्रत्युत मम शब्दभेदात्तदाश्रितशक्तिभे-
देऽप्यर्थस्यैकत्वात् तद्विषयैकत्वकल्पने लाघवम् । अन्यच्च कर्मा-
न्तरापूर्वान्तरभावनान्तरतद्वाचकविधिवाचकपदकल्पनाभावाच्चा-
घवम् । ज्योतिरादिवाक्येषु हि प्रकृतं ज्योतिष्टोममेतच्छब्दे-
नाऽनूद्य विद्वद्वाक्यवत् सहस्रदक्षिणादिव्यवस्थाफलकज्योतिरा-
दिसंज्ञामात्रं क्रियत इति न विधिभावनावाचकपदापेक्षा ।

वस्तुतस्तु ज्योतिष्टोमपदेऽपि ज्योतींषि स्तोमा यस्मिन् इत्य-
न्यपदार्थस्य यागस्य लक्ष्यत्वात् सर्वज्योतिर्विश्वज्योतिःपदयो-
रपि तथैव यागस्य लक्षणीयत्वात् ज्योतिःपदेऽपि च भामा सत्य-
भामेतिवत् स्वार्थवाचकपदघटितपदगम्यत्वसम्बन्धेन “वसन्ते
वसन्ते ज्योतिषा यजेते”ति वद्यागस्य लक्षणीयत्वावगतेः । अ-
न्यथा तत्रापि कर्मान्तरत्वापत्तेर्दुर्निवारत्वात् । आयुर्गोपदयो-
रपि च स्वशक्यसम्बन्धेन लक्षणावगतेर्न काऽपि शक्तिकल्पना-
प्रसङ्गः । तत्रैव परमुक्तशक्यसम्बन्धानां यागकल्पनातः पूर्वम-
प्रसिद्धत्वात् शक्तिकल्पनेति गौरवम् । नान्त्यः ; सहस्रदक्षिणा-
दिव्यवस्थाफलकत्वेन सार्थक्यस्योक्तत्वात् ।

किञ्च तव मते संज्ञात्वसिद्धावेव प्रमाणाभावः । न तावद्दु-
स्मिन्न्यायः, रुढत्वेन तुल्यववृष्टिसिक्तत्वाभावात् । नाऽपि
वाक्यभेदः ; गुणान्तरानुपादानात् । तत्प्रख्यन्यायस्तु कर्मा-
न्तरसिद्ध्युत्तरकार्कं सम्भवन्नपि ततः पूर्वमनुपस्थितेर्न नामधेय-
त्वबोधक इति कथं तद्गोधात् कर्मान्तरत्वबोधः ? । न च कर्मा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५१

न्तरे प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, उक्तप्रवृत्तिनिमित्तस्य ज्योतिष्टोमैकविषयत्वात् । अतो धर्मिग्राहकप्रमाणेन सिद्धस्य संज्ञात्वस्य ज्योतिष्टोमविषयत्वावधारणान्न संज्ञयाऽपि भेदसिद्धिः । तेन सिद्धं भेदकप्रमाणाभावाच्च कर्मान्तरमिति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—भेदकान्तराभावेऽपि संज्ञाया एव भेदकत्वात् कर्मान्तरत्वसिद्धिः । तथा हि संज्ञात्वमेव तावदेवं सिद्ध्यति—ज्योतिरादिशब्दास्तावन्न ज्योतिष्टोमे गुणविधयः; उत्पत्तिशिष्ट(१)सोमावरोधेन तत्र गुणविधानासम्भवात्; अतः कर्मान्तरत्वापेक्षया लघुभूतं संज्ञात्वं तावत्प्रथमतोऽवधार्यते । तच्च यद्यपि प्रकृतत्वात् प्रवृत्तिनिमित्तावगमाच्च ज्योतिष्टोमविषयकत्वेनैवाऽवधारितम्, तथाऽपि वक्ष्यमाणरीत्या तद्विषयकत्वबाधेऽपि न संज्ञात्वस्याऽपि बाधः । न हि ज्योतिष्टोमविषयकत्वाभावव्याप्तः संज्ञात्वाभावः, अन्यविषयिण्या अपि संज्ञायास्सम्भवात् । अतश्चाऽन्यविषयत्वासम्भवनिश्चयाभावदशायां संज्ञात्वं पूर्वं प्रमितं बाधकाभावेनाऽवतिष्ठमानं पूर्वविषयासम्भवाद्विषयान्तरं स्वसङ्गतये कल्पयतीति युक्तः संज्ञाप्रमाणको भेदः ।

न च कर्मान्तरे प्रवृत्तिनिमित्तानवगम एवाऽन्यविषयत्वासम्भवनिश्चयकस्सन् भवति बाधकः, अग्निहोत्रवत्पूर्वं प्रवृत्तिनिमित्तानवगमेऽपि वक्ष्यमाणरीत्या कर्मान्तरबोधोत्तरकालमवगमसम्भवात् । अत एव उत्पत्तिवाक्ये इष्टसामान्यस्येव पूर्वं सामान्यतः किञ्चिदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भविष्यतीत्यवधार्य संज्ञात्वे निर्णीते ततो भेदावधारणोत्तरं तद्विशेषनिश्चये नैव बाधकं पश्यामः

न चाऽधधारितेऽपि कर्मान्तरे ज्योतिरादिपदानां तत्र गुण-
विधित्वोपपत्तौ संज्ञात्वे प्रमाणाभावः । अतश्च कर्मान्तरत्नावधा-
रणात्पूर्वं निश्चितमपि संज्ञात्वं उत्तरकाले गुणविधित्वोपपत्त्या
बाध्यताम्, अतश्च वाजिनवत् परं गुणादेव कर्मभेद इत्यवधार्य-
तामिति वाच्यम् । विशिष्टविधिगौरवभिया गुणविधित्वाभाव-
निश्चयेन संज्ञात्वे बाधकाभावात् । एवं सत्यपि यदि सोमवाजिन-
वदत्र प्रवृत्तिनिमित्ताभावोऽवधार्येत, ततो विशिष्टविधिगौरवा-
पादकमपि गुणविधित्वमेव निश्चित्य संज्ञात्वं बाध्येत, न तु तदस्ति ।
अतो यत्र संज्ञात्वं पूर्वं प्रमितमुत्तरकालमपि च न बाध्यते तत्र
संज्ञया भेदः, अन्यत्र तु गुणादिति विवेकः ।

किं पुनरत्र प्रवृत्तिनिमित्तम् ? तदुच्यते—ज्योतिश्शब्दादी-
नां तावत् द्योतते(?) “द्युतेरिसिन्नादेश्च ज” इत्यौणादिके इसि-
न्प्रत्यये कृते आदिभूतस्य दकारस्य जादेश्चाऽज्योतिश्शब्दव्यु-
त्पत्त्यवगतेः स्वफलसाधनतया द्योतनरूपमुख्यार्थयोगेनैव ज्योति-
श्शब्दप्रवृत्तिः समस्तफलसाधनत्वाच्चेतरयोरपि द्रष्टव्या ।

यद्यपि चेदं प्रवृत्तिनिमित्तमतिप्रसक्तम्, तथाऽपि कर्मान्तरे
रूढिकल्पनया प्राचीनप्रयोगस्य सहकारिकारणत्वकल्पनया वा
नाऽतिप्रसङ्गः । गवादिशब्दानां त्वतिदेशप्राप्तगोमम्बन्धेन वा-
क्यान्तरप्राप्तायुःफलसम्बन्धेन च लाक्षणिकत्वात् प्रवृत्तिनिमि-
त्तोपपत्तिः । ज्योतिरादिपदेष्वपि वाऽतिदेशेन ज्योतिःपदगम्य-
त्रिवृदादिसमस्तस्तोमसम्बन्धात् लाक्षणिकत्वोपपत्तिः । अतः
कर्मान्तरेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तस्य सत्त्वात् संज्ञात्वनिश्चयोपपत्तेः
युक्तं तत्प्रमाणकं कर्मान्तरत्वम् । न च संज्ञात्वसिद्धावपि तस्यो-
क्तविधया ज्योतिष्टोमविषयत्वस्यैवोपपत्तौ विषयान्तरकल्पक-

त्वानुपपत्तिः, प्रकृतसोमयागस्य ज्योतिष्टोमसंज्ञावरुद्धत्वेन संज्ञान्तरविषयत्वानुपपत्तेः । तथा हि—

संज्ञाकार्यस्य व्यवहारस्यैकेनैवोपपत्तौ संज्ञान्तरस्य तावद्वैयर्थ्यमेव । न च विनिगमनाविरहाद्वैकल्पकी व्रीहियवादिव्यवहारहेतुता, अथशब्देन सोमयागाधिकारविच्छेदार्थकेन विनिगन्तुं शक्यत्वात् । सोमयागाधिकारवर्तिनी हि संज्ञा तद्विषयिणीति शीघ्रं निश्चीयते, न विच्छिन्नाधिकारिकेति कथं विनिगमनाविरहः ? न चाऽथशब्देन पूर्वसंज्ञावच्छिन्नप्रयोगस्यैवाऽधिकारविच्छेदात् तदनुरोधेन चैतच्छब्दस्य संज्ञान्तरयुक्तप्रयोगपरामर्शित्वावगतेः तत्र सहस्रदक्षिणादिव्यवस्थार्थत्वेन संज्ञान्तरसार्यक्यमिति वाच्यम् । कर्मण एव प्रधानत्वेन पुरस्पूर्तिकस्याऽथशब्देनाऽधिकारविच्छेदात्, सर्वनाम्नामुपस्थितार्थमात्रपरत्वेनैतच्छब्दस्य ज्योतिरादिपदवाच्यकर्ममात्रपरामर्शित्वावगतेः, अव्युत्पत्तिसिद्धसंज्ञायुक्तकर्मप्रयोगपरामर्शित्वाङ्गीकारस्याऽयुक्तत्वाच्च । न हि घटोऽस्ति एनमानयेत्यादौ घटपदयुक्तस्य सर्वनाम्ना परामर्शः काचित् दृष्टः । अतः सहस्रदक्षिणादिव्यवस्थाफलकत्वासम्भवात् कर्माधिकारविच्छेदार्थकेनाऽथशब्देन पूर्वसंज्ञातो ज्योतिरादिसंज्ञानां विलम्बितत्वावधारणान्न व्रीहियवादिवद्विकल्पोपपत्तिः ।

अत एव यत्र न किञ्चिन्नियामकं लभ्यते तत्र विकल्पो ऽङ्गीक्रियत एव । यथा—“वैश्वानरो ज्योतिष्टोमः प्रायणीयमहर्भवति” इत्यत्र वैश्वानरप्रायणीयपदयोः । अत्र हि वैश्वानरदेवत्यग्रहणान्नाद्यागेऽपि प्रसङ्गेन तद्देवताजन्योपकारलाभाद्वैश्वानरपदवाच्यत्वोपपत्तेः वैश्वानरपदं तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयम् । प्रायणीयपदमपि प्राथम्यगुणयोगेन । एतयोश्च वि-

निगमनाविरहेण द्वयोरप्येकस्मिन्नेव कर्मणि निवेशावगमादेक-
संज्ञावरुद्धे संज्ञान्तरस्य वैयर्थ्यमित्येवंविधस्य च संज्ञाभेदकत्व-
न्यायस्याऽभावेन कर्मान्तरबोधकत्वासम्भवात् अगत्या व्रीह्या-
दिवत् सकृल्पादावेकस्या उल्लेख इत्येवंविधो विकल्प एव । ज्यो-
तिष्टोमपदं तु ज्योतिष्टोमविध्यन्तप्रतिप्रसवार्थं सञ्ज्ञामातिदेशकम् ।
एतदभावे हि गणत्वसामान्याद्वाद्दशाहविध्यन्त एव प्राप्नुयात्,
न ज्योतिष्टोमविध्यन्त इति विरोधे तस्यैव प्राप्त्यर्थं ज्योतिष्टोम-
पदम् । तेन यत्र पूर्वस्मिन् कर्मण्येकसंज्ञावरुद्धेऽपि संज्ञान्तरस्य
कार्यान्तरकल्पनया सार्थक्यम्, यत्र वा विनिगमनाविरहेण
द्वयोरपि विकल्पः तत्र संज्ञायाः कर्मभेदकत्वाभावेऽपि यत्र पूर्व-
कर्मण्येकसंज्ञावरुद्धे संज्ञान्तरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः तत्र तेन स्ववि-
षयसिद्धयर्थं कर्मान्तरकल्पनाऽऽवश्यक्येव । अस्ति च प्रकृते ज्यो-
तिष्टोमसंज्ञाया उत्पत्तिशिष्टत्वाभावेऽप्यविच्छिन्नेऽधिकारे समाज्ञा-
नेन तथा शीघ्रमवरोधः, ज्योतिरादीनां च विच्छिन्नेऽधिकारे
समाज्ञानात् कार्यान्तराभावाच्च वैयर्थ्यप्रसङ्गेन तैरनवरोधः ।
अत एव “वसन्ते वमन्ते ज्योतिषा यजेते” त्यत्राऽविच्छिन्ने-
ऽधिकारे समाप्तानात् ज्योतिस्संज्ञायाश्च ज्योतिष्टोमसंज्ञैकदेशत्वेन
तदानुगुण्यान्न कर्मान्तरत्वम् । न वा “अथैष ज्योति” रित्यस्यैव
निमित्तसम्बन्धः, अपि तु ज्योतिष्टोमस्यैव । अत एव यत्र तदानु-
गुण्यम्, यथा—उद्भिदादौ, तत्र पूर्वसंज्ञावरुद्धे सोमयागे उद्भि-
त्संज्ञायाः कथमपि सार्थक्यासम्भवादसत्यधिकारविच्छेदे संज्ञया
केवलस्यैव कर्मान्तरत्वसिद्धिः ।

न च तत्र द्वयोरपि संज्ञयोरुत्पत्तिशिष्टत्वाभावा-
विशेषाद्विकल्पो वैपरीत्यं वा किं न स्यादिति वाच्य-
म्; ज्योतिष्टोमपदप्रहासिनिमित्तस्य उद्भिदादिस्तोमसम्बन्ध-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५६

स्य(१) “ग्रहं वा गृहीत्वे” ति वचनेन सोमयोग शीघ्रं बुध्यमानत्वात् । अतः क्लृप्तपट्टिनिमित्तकण्योतिष्ठोमसंज्ञावरुद्धे सोमयागे उद्भित्संज्ञायाः सार्थक्यासम्भवाद्युक्तं तथा कर्मान्तरत्वम् ।

न चैवं गुणान्तर्भावः शङ्कनीयः, संज्ञाया हि पूर्वस्य कर्मणो नियमेन तत्कार्ये नैराकांक्षयावगमे सत्येव स्ववैयर्थ्याभिया भेदकत्वम्, गुणे तु पूर्वकर्मणो नैराकांक्ष्यनियममनादृत्य तत्र स्वस्थाऽनिविशमानत्वमात्रेणैव भेदकत्वम् । न हि वाक्यभेदापादकगुणभेदस्थले पूर्वस्य त्रिद्वद्वाक्यविहितस्य कर्मणो नैरपेक्ष्यं सम्भवति । अतो निवेशासम्भवेन गुणस्य भेदकता, वैयर्थ्येन तु संज्ञाया इति वैलक्षण्यम् । तस्मात्सिद्धः संज्ञया कर्मभेदः ।

एवं च तत्तद्विजातीययागत्वप्रकारकभागविशेष्यकशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति प्रवृत्तिनिमित्तसम्बन्धेन तत्तत्पदवत्ताज्ञानस्य कारणत्वकल्पनाल्लाघवम् । अन्यथा कर्मान्तरत्वानभ्युपगमात् तत्पदवत्ताज्ञानाभावेऽपि पदान्तरवत्ताज्ञानेन तादृशकार्यतावच्छेदेकावच्छिन्नजननात् व्यभिचारापत्तेः । घटकलशादिपर्यायवत् तत्तत्पदश्रवणाव्यवहितोत्तरतादृशशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्पदवत्ताज्ञानस्य कारणत्वमिति कल्पनात् कार्यतावच्छेदके गौरवापत्तेः । अतः “अथैष ज्योति”रिसादिषु त्रिषु वाक्येषु त्रीणि कर्माणि तत्तत्संज्ञानि विधीयन्ते । तेषां च यागरूपत्वं अव्यक्तत्वसादृश्यप्रमाणकतिदेशोत्तरं गुणवाक्ये यागानुवादाद्वा निश्चीयते । तानि च कर्माण्येतच्छब्देऽनूद्य सहस्रदक्षिणाविधानम् । फलवाक्ये च तेषां फले विधानम् । एतेनेत्येकवचनं च समुदायाभिप्रायेण राजसूयवत् बहुत्वलक्षणा-र्थम् । विश्वज्योतिरादिवाक्ययोश्चाऽथशब्दो न पूर्वयागाधिका-

१. तै. सं. ३. १. २.

३३ मि० कौ०

स्विच्छेदकः, अपि तु यागान्तरोत्पत्त्यधिकारार्थः । अन्यथा पूर्व-
यागे फलकल्पनापत्तेः । सर्वथा सिद्धो भेदः ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे सहस्रदक्षिणायाः प्रकृतिभूतसोमयागाङ्ग-
त्वादाद्यप्रयोगेऽपि तदनुष्ठानम्, सिद्धान्ते तु विकृतिविशेषाङ्ग-
त्वाच्चेति द्रष्टव्यम् ।

सूत्रं तु संज्ञाऽपि भेदिका, उत्पत्तावेव संज्ञान्तरेण
संयोगादिति व्याख्येयम् ।

इत्यष्टमं संज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अथ नवमं गुणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे वाक्ययोस्समत्वात् ॥ २-२-२२ ॥

(विषयसंशयौ)

चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे पर्वणि “वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो
वाजिन”मिति श्रुतम् । तत्राऽमिक्षावाक्ये तावत् प्राप्तकर्मानुवादेन
द्रव्यदेवतारूपानेकगुणविधानाद्वाक्यभेदापत्तेः पूर्णमास्यधिकरणे
असङ्गादुक्तेन वाक्यभेदापादकेन गुणेनैव कर्मविधित्वमविवादम् ।
वाजिनत्राक्ये तु किं पूर्वयागानुवादेन द्रव्यदेवतान्यतरविधिः,
उत कर्मान्तरविधिरिति विचार्यते ।

(सङ्कतिः)

पादाध्यायसङ्गती पूर्ववत् । अनन्तरा तु सत्यस्यसम्भववै-
यर्थ्याभ्यां संज्ञागुणयोरध्वान्तरभेदे अनिधिष्ठमानत्वसाम्भवात्
संज्ञाविचारानन्तरं गुणविचार इति सङ्कतिः ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र यद्यपि वाजिपदमश्वे प्रसिद्धम्, तथापि तेषां चतुर्थ्यु-
पात्तदेवतात्वेनाऽप्रसिद्धत्वात् वाजिपदस्य यौगिकत्वावगतेः वा-
जमन्त्रं विद्यते येषां च इति व्युत्परया वाजिशब्दस्याऽऽभिक्षा-
ख्यवाजरूपान्नयोगेन पूर्वोपस्थितविश्वदेवपरत्वावगतेः तत्सम्ब-
न्धेनैवाऽत्र वाजिनं द्रव्यं विधीयते, न त्वपूर्वदेवत्वासम्बन्धेन ।
ततश्च द्रव्यदेवतासम्बन्धाद्यागः कल्प्यमानो नाऽपूर्वः कल्प्यते,
किन्तु विश्वदेवदेवत्ययागमेव कल्पितयजिपदेनाऽनूय तत्र वा-
जिनं विधीयते, ततश्च विवक्षितगत्या वाजिपदं कल्पितयजि-
पदस्याऽऽभिक्षायागतात्पर्यग्राहकमित्येवं द्रष्टव्यम् । अत एव
विश्वदेवदेवत्ययागोद्देशेन वाजिनविधानात् त्रिशिष्टोद्देशे वाक्य-
भेदोऽपि नाऽशङ्क्यः, यजिपदस्यैव तात्पर्यग्राहकानुरोधेन वि-
जातीययागपरत्वाङ्गीकारात् । कल्पितयजिपदेन वाजिनान्वया-
ङ्गीकारादेव च कारकसम्बन्धप्रसङ्गात् चतुर्थ्यन्तवाजिपदानन्वयो-
प्यनाशङ्क्यः ।

न च तात्पर्यग्राहकस्याऽपि वाजिपदस्य वाजिसम्बन्धावि-
शेषेण प्रकृतसर्वदेवतोपस्थापकत्वापत्तेः बहुवचनस्याऽधिष्ठाना-
भिप्रायकत्वाङ्गीकारेऽपि चाऽप्रकृतमन्त्रदेवतोपस्थापकत्वस्याऽ-
प्यापत्तेरामिक्षायागमात्रतात्पर्यग्राहकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् ;
वाजिशब्दस्य सर्वनामार्थकत्वात् तस्य चाव्यवहितपरामर्शकत्व-
सम्भवे व्यवहितपरामर्शकत्वस्याऽव्युत्पत्तिसिद्धत्वात्, विश्वदेव-
मात्रोपस्थापकत्वसम्भवेनाऽऽभिक्षायागतात्पर्यग्राहकत्वोपपत्तेः ।

न चैवमुत्पत्तिशिष्टद्रव्यावरोधेनाऽनिवेशः शङ्क्यः, साक्षाद्वा-
चनेनैव तस्मिन्त्यागे वाजिनविधानात् । अतश्च यथैव तस्मिन्त्यागे
वाजिनमिति वाक्ये सति नोत्पत्तिशिष्टप्राक्ख्यमभ्युपगन्तुं श-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २५९

विशेष्यमात्रस्याऽनुवादादाभिधानिकाकाङ्क्षोपपत्तेः वास्तविक्या अपि च तद्वलेन कल्पनादुत्पन्नशिष्टस्याऽपि निवेशोपपत्तिः क्लृप्ताकाङ्क्षाहेतुकसम्बन्धेन कल्प्याकाङ्क्षाहेतुकसम्बन्धस्य द्रव्यदेवतस्यैवमपि बाधोपपत्तेश्च; वाजिनवाक्यस्थयजेरधिकाराख्यप्रकरणसापेक्षस्य प्रकृतयागोपस्थापकत्वात् तदनपेक्ष्यैवोपस्थापकस्याऽऽमिक्षावाक्यस्थस्य यजेः द्रव्यदेवतापदान्वये सन्निकर्षाच्च ।

किञ्चोभयत्रापि यजिकल्पकत्वमाद्यपक्षे द्रव्ये देवतासम्बन्धः, स चाभिक्षायामेकपदोपादानात् प्रतीयते, वाजिनस्य तु पदान्तरोपादानादिति विप्रकर्षः । तथाहि—“वैश्वदेवी”ति तद्धिते तावद्विश्वे देवाः प्रातिपदिकार्थः, तद्धितार्थस्तु देवतात्वविशिष्टो द्रव्यविशेषो यः प्रकृतः, तद्धितस्य “साऽस्य देवते”ति सर्वनामार्थे स्मरणात् । सर्वनाम्नां हि बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्नबोधकत्वमनुभवसिद्धम्, अतश्च लाघवेन शक्तिकल्पनायां बुद्धिस्थप्रकारे एव घटत्वादौ तद्व्यक्तित्वादौ वा शक्तिः, न तु तदवच्छिन्नेऽपि, तस्य व्यक्तिन्यायेन लाभोपपत्तेः । अत एवाभिक्षापदसमानार्थकत्वं सर्वनाम्नामुक्तं वार्तिककृता । न चैवं बुद्धिस्थत्व एव लाघवात् शक्तिरस्तु ? तस्य शाब्दबोधे मानाभावेन शक्तिविषयत्वानुपपत्तेः ।

न चैवं तत्तत्प्रकाराणां युगपदनुपस्थितेः शक्तिग्रहासम्भवः शङ्क्यः, बुद्धिस्थत्वस्यैवैकस्य शक्तिग्रहे उपलक्षणत्वात् । शक्तिग्रहे उपलक्षणस्यैव शक्यतावच्छेदकत्वमित्युत्सर्गस्तु मानाभावादपोदित इति न कश्चिद्विरोधः । सर्वनामार्थे च देवतात्वविशिष्टे तद्धितस्य शक्तिः । तथाहि—तद्धितपदश्रवणोत्तरं तावत् तद्वोध इत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, इतरथा देवतात्वमात्रबोधे आभिक्षापदसमानाधिकरण्यानुपपत्तेः, अतश्च सर्वनामार्थबोधस्याऽप्यावश्य-

कत्वात् तत्रापि शक्तिः । न च तस्य व्यक्तिन्यायेन बोधसम्भवः, तथात्वे (१) “साऽस्य देवते”ति सर्वनामार्थकत्वानुशासनवैयर्थ्यापत्तेः । तदा हि (२) “सम्प्रदाने चतुर्थी”निवहेवतायां तद्धित इत्येवानुशिष्येत ।

एतेन देवतात्वस्य प्रकृतिप्रत्ययार्थसंसर्गबलादेव भानोपपत्तेः सर्वनामार्थ एव तद्धितस्य शक्तिरङ्गिक्रियतामिति निरस्तम्, संसर्गविधया भासमानस्य पदार्थानुशासनप्रवृत्तेरनुशासनानुपपत्तेः । अतो देवतात्वविशिष्टसर्वनामार्थ एव तद्धितस्य शक्तिः । सर्वनामार्थस्य देवतात्वं प्रति विशेष्यतायां च विभक्त्यर्थान्वय एव बीजम् । विश्वेदेवास्तु सत्यनुशासनेनाऽनुशीला अपि न तद्धितार्थः, प्रकृतिपदार्थत्वात् । तस्य चाऽऽधेयत्वं देवतात्वे संसर्गः । देवतात्वस्य च निरूप्यत्वं सर्वनामार्थे वैशिष्यमिति प्राञ्चः ।

अस्तुवा देवतात्वस्यैव वा तद्धितवाच्यता, सर्वनामार्थस्य तु व्यक्तिन्यायेन बोधः, सर्वनामार्थ एव शक्तिः, देवतात्वे कृदन्त इव कृतौ निरूढलक्षणा ; अनुशासनस्याऽबोधव्युदासमात्रफलकत्वेन निरूढलक्षणाज्ञापकत्वेन बोधपत्तेः । हृष्टं हि तादृशमप्यनुशासनं “कर्मणि षष्ठी”त्यादि । तेन सर्वथा द्रव्यविशेषप्रत्ययस्य तद्धितपदादेव जायमानत्वादेकपदोपास्तत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धः । न चैवमामिक्षापदवैयर्थ्यं शङ्काम्, तेनाऽऽमिक्षात्वानुपास्यितौ तद्धितस्य बुद्धिस्थप्रकारवाचिनस्स्वार्थबोधकतानुपपत्तेः । तेनाऽऽमिक्षापदं तात्पर्यग्राहकं सत्तद्धितपदार्थबोधे व्याभियत्त इति देवताया आमिक्षासम्बन्धाऽपि तद्धितान्तपदार्थोपस्थितिवेलायामेवेति न तस्य वाक्यीयत्वम् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६१

अस्तु वा - तद्धितान्तपदमात्रश्रवणे आमिक्षापदाश्रवण्येऽपि द्रव्यविशेषसंशयोत्पादात् तद्धितान्तपदादेवाऽनिर्धारितद्रव्यविशेषप्रतीतिः, आमिक्षापदं च पश्चादेव तन्निर्धारणार्थमिति न तस्य तद्धितपदार्थोपस्थितौ व्यापार इति, तथाऽप्यामिक्षापदस्य विशेषान्तरव्यावृत्तिमात्रफलकत्वेनाऽनिर्धारितद्रव्यविशेषे देवतासम्बन्धस्य पदश्रुतिमात्रप्रमाणकत्वमव्याहृतम् । वाजिभ्य इति चतुर्थीपञ्चमीसाधारणत्वाच्छब्दत एव तावत्सन्दिग्धम्, कथञ्चिच्चतुर्थीत्वेन निर्णीयते, चतुर्थ्यपि च सम्प्रदानत्वमात्रवाचिनी प्रतिगृहीतृत्वासम्भवात् देवतात्वमेव तावल्लक्षणया वदेन्न तु द्रव्यसम्बन्धम्, देवता हि स्वप्रतिसम्बन्धिनं द्रव्यमाक्षिपेदार्थापत्तिविधया, न तु शाब्दबोधे तस्य भानम्, आक्षेपोऽपि च सर्वप्रमाणप्रवृत्त्यस्तमये भवेत्, अस्ति चाऽत्र वाजिनपदसमव्याहार एव तत्र प्रमाणम्, अतो वाजिभ्य इति पदात् तद्विषयिणी आकाङ्क्षैव केवलं भवेत्, न तु द्रव्यसम्बन्ध इति तस्य पदान्तरगम्यत्वादामिक्षासम्बन्धापेक्षया वाजिनसम्बन्धस्य विप्रकृष्टत्वम् । वाजिनपदस्य नामधेयत्वपक्षेऽपि च उपांशुयाजाधिकरणोक्तप्रकारेण तद्धितोपात्तदेवतात्वैः विश्वैः देवैरवरुद्धे यागे चतुर्थ्युपात्तदेवतात्वानां वाजिनां निवेशायोगो द्रष्टव्यः । उत्पत्त्युत्पन्नशिष्टादिबलाबलं च समस्त्येव । न च पक्षद्वयेऽपि तस्मिन्नेव यागे वाजिनमितिवदत्रामिक्षायागानुवादाभावे आनर्थक्यम्, कर्मान्तरविधानेनाऽपि चारितार्थात् ।

यच्चात्र संख्याबद्धभ्यासाद्यापादनेन पूर्वकर्मणि निवेश इत्युक्तम्, तद्धितत्वादिमुख्यायाः पूर्वावधारितैकत्वादि संख्यासमानाधिकरणत्वस्वभावतया तथाङ्गीकारेऽपि गुणे तदभावात् निवेशोपपत्तिः । कर्मस्वरूपे त्वेकत्वे सत्येवाऽभ्यस्ते तस्मिन्नेकादश-

त्वं निविशते । वाजिनस्य त्वामिक्षासामानाधिकरण्येनाऽनिवेशादभ्यस्तस्याऽपि पूर्वकर्मणस्तस्वानपायेनाऽऽमिक्षयाऽवरोधात् वाजिननिवेश इति वैषम्यम् । अतो द्रव्यदेवतासम्बन्धकल्पितं यागान्तरमेव साम्नाय्यप्रकृतिकं आमिक्षानुनिष्पन्नवाजिनप्रतिपश्यर्थतया आमिक्षायागमात्राङ्गत्वेन विधीयते । गुणश्चाऽत्र पूर्वकर्मण्यनिविशमानो भेदकः । अनिवेशश्च क्वचिद्वाक्यभेदापस्या । तदुदाहरणं च प्रसङ्गात् पौर्णमास्याधिकरण एव दर्शितम् । क्वचिच्चैकप्रसरताभङ्गादिना तत्र तत्र वक्ष्यते । प्रकृते च सन्निकर्षत्रिप्रकर्षादिभिः । अत एव पार्यसारथ्युक्तद्वैविध्यमप्येकप्रसरताभङ्गादेरपि गुण एवान्तर्भावात् नातीवाऽऽदर्तव्यमित्यप्युक्तं पौर्णमास्यधिकरणे ।

यस्वत्र न्यायसुधाभवदेवाभ्याम्—उत्पत्तिशिष्टैकहायन्यवरुद्धेऽपि क्रये “(१)वाससा क्रीणाती”त्यादिना वासःप्रभृतिद्रव्यान्तरविधानम्, न हि तत्रोत्पन्नशिष्टानां गुणानां निवेशोऽसम्भवी, आनतिरूपकार्यभेदात्; न चानतीनामेवैकसोमप्राप्तिजनकत्वेन विरोधसम्भवः, द्वारभूतस्य विक्रेतृमनस्समाधानस्यानेकैरपि जननेनाऽविरोधसम्भवात्; अत एव तेषां द्वादशे समुच्चय उक्तः, न च विनिगमनाविरहात् क्व क्रयत्रिभिः क्व वा गुणमात्रविधिरिति निश्चयासम्भवः, एकहायनीवाक्ये अनेकगुणोपादानस्यैव नियामकत्वात् इत्युक्तम्; तन्न, सोमचमसादिवैकृतदक्षिणया प्राकृतदक्षिणाबाधस्य तन्त्रिदक्षिणया दक्षिणाप्रसङ्गसिद्धेश्च शतशो निरूपयिष्यमाणत्वेन विक्रेत्रानतिवशेन समुच्चयस्य वक्तुमनुचितत्वात् ।

अत एव विक्रेताऽपि ऋत्विग्वत्ताहस्य एव सम्पाद्येत, च

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६३

एकमात्रद्रव्यानतः । द्वादशोक्तस्तु समुच्चयो “दशभिः क्रीणाती”-
ति वचनात् क्रयाणामेव सम्प्रथत इति न विरोधः । यदि तु
क्रयैक्यमावश्यकम्, ततो “दशभिः क्रीणाती”ति वचनादेवो-
त्पत्तिशिष्टद्रव्यावरोधेऽप्युत्पन्नशिष्टद्रव्याणां निवेशो वक्तव्यः ।

वस्तुतस्तु उक्तवचनस्य क्रयसमुच्चयार्थत्वेनाऽप्युपपत्तौ
द्रव्याणामवगतस्य परस्परनैरपेक्ष्यस्य गुणविधया क्रयभेदकत्वस्य
च बाधे प्रमाणाभाव एव । तस्मात्सर्वत्रैव गुणस्य पूर्वकर्मसं-
योगासम्भवे भेदकत्वम् । न च पूर्वकर्मनिवेशासम्भवेऽपि वैश्वदे-
ववाक्यवत् भेदकत्वाभावः शङ्काः, विधायकत्वांशे आमिक्षावा-
क्यस्य वाजिनवाक्यस्य च समत्वेनाऽनुवादकत्वशङ्कानुपपत्ते-
रिति सूत्रार्थः ॥ २३ ॥

प्रयोजनं स्पष्टम् ॥

इति नवमं गुणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

अथ दशमं गुणशेषाधिकरणम् ॥ १० ॥

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥ २-२-२३ ॥

यत्रोत्पत्तिवाक्ये गुणो नैव श्रूयते, उत्पन्नवाक्येषु चैकैक
एव श्रूयते, यथा—दध्यादौ, तत्राऽपि कर्मैकत्वे विकल्पप्रसङ्गात्
पूर्वकर्मनिवेशानुपपत्तेः तत्तद्गुणविशिष्टतत्तत्कर्मण एव तत्तद्वा-
क्ये विधेयत्वावगतेर्धुक्तो भेदः । न च विकल्पस्योत्तरकाली-
नत्वात् पूर्वप्रमितविशेषणमात्रविधिल्लाघवेनाऽवगतस्य पूर्वकर्मनि-
वेशस्य बाधानुपपत्तेः कथं भेदावगतिरिति वाच्यम् । अष्टदो-
षदुष्टविकल्पानुरोधेन पूर्वप्रमितस्याऽपि निवेशस्य बाधोपपत्तेः ।

अन्यथा “नाऽनूयाजेषु ये यजामहं करोती”त्यादौ विकल्पप्रस-
ङ्गेनाऽभाववाचिनो नञोऽन्योन्याभावलक्षकत्वमङ्गीकृत्याऽनूयाज-
भिन्नेष्विति पर्युदासाङ्गीकरणं न युज्यते । अतो विकल्पानुरोधे-
नाऽप्पनिविशमानत्वोपपत्तेः पूर्वाधिकरणवदेव युक्तो भेद
इति प्राप्ते—

अभिधीयते—नाऽत्र पूर्वकर्मानिवेशः, गुणमात्रविधानेन
तदुपपत्तेः । न च विकल्पप्रसङ्गस्तद्वाधकः, तस्य तत्तद्वाक्यार्थ-
पर्यालोचनकालेऽनुदयेन फलमुखत्वात् । ‘नानूयाजेष्वित्यत्र तु
प्रतिषेधपक्षे तस्य प्राप्तिसापेक्षत्वात् प्रापकप्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकाल-
प्रवृत्तित्वावगतेः, तस्य च शास्त्रत्वेनाऽत्यन्तबाधायोगाद्विकल्पस्य
वाक्यार्थबोधवेलायामेव प्रतीतेर्युक्तं तदनुरोधेन लक्षणश्रयणम् ।

वस्तुतस्तु अन्योन्याभाववत्यपि “तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु
नञ्” इति प्रसिद्धेर्नञः शक्तिरेवेत्यनूयाजपदमनूयाजभिन्नलक्ष-
कम्, नञूपदं तात्पर्यग्राहकम्, प्रत्ययार्थान्वयानुरोधात् । अत
एव प्रतिषेधापेक्षया पर्युदासो दुर्बल इति वक्ष्यते । प्रकृते तु द-
ध्यादिविधीनामन्योन्यसम्बन्धानादरेण प्रधानविधिमात्रसम्ब-
न्धिनामेकवाक्यार्थबोधवेलायामितरापेक्षाभावात् विकल्पस्योत्त-
रकालिकत्वमिति विशेषः ।

न चैत्रमपि पाठक्रमेण प्रधानविधेरकसम्बन्धावगमोत्तरम-
न्यसम्बन्धायोगात् वाजिनन्यायेन भेदोपपत्तिः, प्रधानविधेः
पर्यायेणाऽङ्गताग्राहकत्वस्य(१)एकादशे निषेत्स्यमानत्वेन पाठस्या-
ऽनियामकत्वात् । अत एव तादृशस्थलेऽनुष्ठानवेलायामप्यनि-
यामकः पाठो नान्तरीयकत्वात् पारायणादावेवोपयुज्यत इति
द्रष्टव्यम् । अतः सर्वेषां युगपत् सम्बन्धात् वाजिनन्यायेनाऽपि
भेदकत्वमिति ।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६६

प्रयोजनं-पूर्वपक्षे दध्यादिहोमानां समुच्चयः, सिद्धान्ते दध्यादीनां विकल्प इति । अथवेदं सूत्रं वाजिनन्यायप्रत्युदाहरणमेव, न त्वधिकरणान्तरम् । सूत्रं स्पष्टम् ॥ २३ ॥

इति दशमं गुणशेषाधिकरणम् ॥ १० ॥

अथैकादशमिन्द्रियकामाधिकरणम् ॥ ११ ॥

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २-२-२४ ॥

(विषयसंज्ञायौ)

अग्निहोत्रं प्रकृत्य “दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया”दिति श्रुतम् । तत्र किं तस्यैव कर्मणो दधिविशिष्टस्य फले विधानम् ? उत कर्मान्तरस्य दधिविशिष्टस्य ? उत दध्न एव फले विधानं, होमस्त्वाश्रयत्वेन प्रकरणप्राप्तोऽनूद्यत ? इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

आद्यपक्षे भावनाभेदाभावादितरयोश्च गुणप्रमाणकस्य तस्य सत्त्वात् पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । अनन्तरा तु पूर्वसूत्रस्य प्रत्युदाहरणत्वपक्षे पूर्वाधिकरणोक्तवाक्यभेदापादकगुणस्याऽपवादाद्द्रष्टव्या । न च तस्य पौर्णमास्यधिकरणे निरूपितत्वात् पूर्वाधिकरणविषयत्वमिति वाच्यम् । गुणमात्रस्य पूर्वाधिकरणविषयत्वेऽपि प्रसङ्गादन्यत्र निरूपणे बाधकाभावात्, वाजिनवाक्येऽपि पूर्वयागानुवादेनोभयविधौ तस्य वक्तुं शक्यत्वाच्च । अधिकरणान्तरत्वपक्षेऽपि च “गुणस्तत्र प्रतीयेते”ति पूर्वसूत्रोक्ताया गुणस्य पूर्वकर्माङ्गताया अपवादाद्द्रष्टव्या ।

(पूर्वपक्षः)

तत्रेन्द्रियकर्मिकायां भावनायां भावार्थाधिकरणन्यायेन होमस्यैव करणत्वोपपत्तौ न तावत् गुणस्य करणत्वोपपत्तिः । नाऽपि कर्मान्तरम्, भेदकप्रमाणाभावात् । तथा हि-भेदकप्रमाणानां मध्ये गुणस्त्वया भेदकत्वेन प्राङ्मुपेतं ? प्रकरणान्तरं वा ? नाऽऽद्यः; उत्पात्तिशिष्टगुणान्तराभावेन वाजिनन्यायेन तस्याऽभेदकत्वात् ।

ननु तथाऽप्युत्पत्तिवाक्ये कर्मणः प्राप्तत्वात् तदनुवादेन फलसम्बन्धस्य गुणसम्बन्धस्य च विधौ वाक्यभेदापत्तेः तदापादकस्य गुणस्य भेदकत्वं भविष्यत्येव । न च गुणस्य “दध्ना जुहोती”त्यनेनैव प्राप्तत्वात् तद्वाचकपदस्याऽनुवादकत्वेन नामधेयत्वेन चोपपत्तेः केवलफलसम्बन्धमात्रकरणान्न वाक्यभेद इति वाच्यम् । अग्निहोत्रे द्रव्यान्तरस्याऽपि विहितत्वेनेन्द्रियकामप्रयोगे दध्नो नियमेन प्राप्त्यभावात् पाक्षिकानुवादकत्वनामधेयत्वयोरसम्भवेन विधेयत्वापत्तेः वाक्यभेदानिवारणात् गोदोहनादीनां कदाचिदपि प्राप्त्यभावेन एतत्परिहारानुपपत्तेश्चेति चेन्न; उत्पत्तस्याऽपि कर्मणः फलोद्देशेन विधेयत्वात्, तत्र गुणविशिष्टस्य विधानोपपत्तेः; अन्यथा “राजा राजसूयेने”त्यत्र प्राप्तस्याऽपि राजसूयस्य राजकर्तृविशिष्टस्य फले विधानानुपपत्तेः ।

न च तत्र राजपदस्य स्वाराज्यकामपदसमभिध्वाहारादधिकारिविशेषणत्वमात्राङ्गीकाराक्षैतादन्नवाक्यार्थाङ्गीकरणमिति वाच्यम् । तथास्त्वे उद्देश्यविशेषणत्वेन स्वाराज्यकामपदोपात्तपूर्वस्त्वद्वाजस्वस्वाऽप्यविवक्षापत्तेः ।

अत एव शुचित्वाहितामित्वादीन्पि तत्तत्प्रमाणप्रामिताभ्येष मिलित्वा स्वातन्त्र्येणाऽधिकारविधिं कल्पयन्ति, न तु

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २६७

श्रूयमाणे विधौ विशेषणतां प्रतिपद्यन्ते । अतश्च राजत्वस्य कर्तृत्वेनैव यागविशेषणत्वस्य वाच्यत्वात् कर्तृविशेषणस्याऽपि चाऽर्थादाधिकारिविशेषणत्वेन कल्पनोपपत्तेः फलोद्देशेन विशिष्टयागविधानादेव वाक्यभेदपरिहारो वाच्यः ।

न च राजत्वस्योपादेयकर्तृविशेषणत्वे तत्पदोपात्तस्य पुंस्त्वस्याऽपि विवक्षापत्तिः, प्रमाणान्तरेण स्त्रिया अप्यधिकारावगमेन “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीते”तिवत् कस्यचिल्लिङ्गस्य साधुत्वार्थं वक्तव्यस्याऽत्रर्जनीयतया पुंस्त्वानुवादेन गौरवापादकविधेयताङ्गीकारानुपपत्तेः । अतो यथैव राजत्वविशिष्टस्य प्राप्तस्याऽपि राजसूयस्य फलोद्देशेन विधानान्न वाक्यभेदः, तथात्राऽपीति द्रष्टव्यम् । अवश्यं चाऽयं प्रकारः “त्रिवृदाग्निष्टुदाग्निष्टोम” इत्युत्पत्तिवाक्यप्राप्ताग्निष्टुत एव “वायव्यास्वेकाविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो ह्येतेन यजेते”ति फलवाक्ये अग्निष्टोमकर्तृवृत्तिवाय्वादिगुणविशिष्टस्य फलोद्देशेन विधानादङ्गीकर्तव्यः । दर्शपूर्णमासवाक्ये च साहित्यविशिष्टानां प्राप्तानामप्याग्नेयादीनां फले विधानात् । तस्मान्न तावत् गुणात् भेदः ।

अत एव फलरूपानुपादेयगुणयोगादनुपादेयगुणविशिष्टस्य कर्मणो मांसाग्निहोत्रवदुत्सर्गतः प्राप्तस्य विधेयत्वस्याऽपवादकाभावात् प्रत्यभिज्ञायाश्च प्रणयनादिमात्रविषयिण्यो भिन्नविषयत्वेन गोदोहनविशिष्टप्रणयनवृत्तिविधेयतापादकत्वायोगात् द्रव्यादावपि दाधिमात्रविशिष्टहोमवृत्तिविधेयताया दशद्रव्यविशिष्टहोमविषयकप्रत्यभिज्ञयाऽपवादायोगस्य तुल्यत्वादानुपादेयगुणसहकृतानुपस्थितिरूपप्रकरणान्तरमेव मूलोक्तं भेदकं प्रत्युक्तम् । राजसूयादिस्थले विशेष्यमात्रप्रत्यभिज्ञायाः तन्मात्रवृत्त्युत्पत्तिविधिविषयतारूपविधेयताप्रतिबन्धत्वस्यैव प्रकृतेऽपि सम्भवात् ।

तस्मात् भेदकप्रमाणासम्भवेन कर्मान्तरत्वायोगात् तदेव कर्म गुणविशिष्टं फलोद्देशेन विधीयत इत्येकः पक्षः । तत्र पूर्वसूत्रमपि योजयितुं शक्यत इत्येवं योज्यम्-अगुणेऽपि कर्मभापके शब्द इति तत्र फलसम्बन्धकरणे गुणोऽपि वैशिष्ट्येन प्रतीयतेति ।

द्वितीयस्तु-गुण एव वाक्यभेदापादको भेदकः । तथाहि-विधिस्तावत् चतुर्विधः-उत्पत्तिविधिः विनियोगविधिः प्रयोगविधिरधिकारविधिरस्यविवादम् । अङ्गान्यपि च कानिचिद्द्रव्य-देवतादीन्युत्पत्तौ, कानिचित् साहित्यादीनि विनियोगे, कानिचिच्च कर्तृदेशकालादीनि प्रयोगेऽन्वीयन्ते (१) इत्यप्येका-दशे वक्ष्यते । अत एव द्रव्यादीनां प्रधानमात्रे कर्त्तादीनां च साङ्गे प्रधाने निवेशो लभ्यते । अत एव यत्रैकस्मिन्नेव वाक्ये विधिचतुष्टयं विधित्रयं विधिद्वयं वा तत्र पूर्वविशिष्टापरविध्यङ्गी-कारेऽपि यथायोगमङ्गानामन्वयो द्रष्टव्यः । तदिह दक्षः उत्प-त्तावन्वयायोग्यस्य विनियोगान्वयादिन्द्रियकामवाक्ये च तत्र मते विनियोगमात्रकरणेनोत्पत्त्यविधानाद्वैशिष्ट्यासम्भवेन प्राप्तो-त्पत्त्यनुवादेन दधिविधिः, इन्द्रियोद्देशेन च होमविनियोगविधि-रिति वाक्यभेदो दुरपहवः । देशादिवाक्ये तु साहित्यस्य वि-नियोगविधावन्वययोग्यत्वेन फलोद्देशेन विधेयविनियोगविश्लेष-णत्वोपपत्तेः विशिष्टविधिसम्भवाच्च भेदः ।

एवं राजसूयवायव्यादिवाक्येष्वपि विषयस्य विशिष्टविधि-सम्भवेन वाक्यभेदः परिहर्तव्यः । यद्यपि चाऽनुमत्यादीनां प्र-त्येकं दैशिककालिकप्रयोगा देशकालविधिषु प्राप्ताः, तथाऽपि अप्राप्तकर्तृसम्बन्धेन प्रयोगान्तरविधिः कालसम्बन्धेन प्राप्तेऽपि दर्शपूर्णमासप्रयोगे समवाक्ये देशसम्बन्धेन प्रयोगान्तरविधि-

वन्नाऽनुपपन्नः । अयञ्चैकः प्रयोगो मुख्यकर्तृविषयः, प्रत्येकं दक्षिणाम्नानात्तु ऋत्विक्कर्तृविषया भिन्ना एव प्रयोगा इति द्रष्टव्यम् ।

वायव्यवाक्येऽपि च क्त्वाप्रत्ययोपात्तस्य पूर्वकालत्वादेः प्रयोगविशेषणत्वात् न वाक्यभेद इत्युत्तराधिकरणे निरूपयिष्यामः । तस्माद्द्विवाक्ये वाक्यभेदसम्पादकस्य गुणस्यैव भेदकस्य सत्त्वात् कर्मान्तरत्वोपपत्तिः ।

न च रूपाभावाद्विधानयोग्यत्वम्, सत्यपि दर्वीहोमत्वे अकार्षावशेन दधिद्रव्यहोमत्वसादृश्येन चाऽग्निहोत्रधूर्मातिदेशोपपत्तेः । न दर्वीहोमानामपूर्वत्वमिति राजाज्ञा, कृत्स्नविधानत्वात् प्रकृतिविशेषनिर्णयाभावाच्च तदिति हि(१) वक्ष्यते । न चाऽत्र तद्द्वयमप्यस्ति, अतो रूपसत्त्वात् कर्मान्तरत्वमेव युक्तम् ।

सूत्रं तु-फले होमविनियोगस्य श्रवणात् तत्र च दध्याद्यन्वयायोगेन कर्मान्तरमेव विधेयं स्यात् । न च गुणफलसम्बन्धशङ्का, फलस्य भावार्थाधिकरणन्यायेन कर्मयोगित्वावगमादिति व्याख्येयम् ॥ २४ ॥

(इति पूर्वः पक्षः)

• (अथ सिद्धान्तः)

अतुल्यत्वाद्वाक्ययोगे तस्य प्रतीयेत ॥२-२-२५॥

तत्र भावार्थाधिकरणन्यायो यत्र धात्वर्थादनुत्तारणं विधेः । तदपि च यत्र धात्वर्थमात्रमप्राप्तम्, धात्वर्थन्यपार्थावुभावप्राप्तौ, यत्र बोधौ सम्भवत्प्राप्तिकौ, प्राप्तौ वा, यथा-“अग्निहोत्रं जुहोति” “सोमेन यजेत” “उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति”

“एन्द्रवायवाग्रान् गृहीयाद्यः कामयेत यथापूर्वं प्रजाः कल्पेर-
न्नि”त्यादौ । अत्र हि एन्द्रवायवाग्रतायाः पाठाद्ग्रहणानां च
तत्तद्विधिभ्यः प्राप्तत्वेऽपि प्रजाफलसम्बन्धो ग्रहणानामेव भावा-
र्याधिकरणन्यायेनेति (१)दशमे वक्ष्यते ।

यत्र तु नामार्थ एवाऽप्राप्तः तत्र तन्मात्रसंक्रान्तत्वाद्विधि-
शक्तेर्धात्वर्थविधाने गौरवापत्तेरन्यतः प्राप्तधात्वर्थानुवादमपेक्ष्य
गुणमात्रं विधिविधत्ते । तत्र धात्वर्थांश्च विधेयताया अभावेन
प्रयोजनाकाङ्क्षत्वात् फलसम्बन्धस्य पक्षेऽप्यप्राप्तत्वेन प्रत्यासत्ते-
रनियामकत्वात् न भावार्थाधिकरणन्यायप्रवृत्तिरिति नामार्थस्यैव
विधेयत्वेन प्रयोजनसाकाङ्क्षत्वात् फलसम्बन्धः स्वीक्रियते ।

एवं नामार्थेष्वपि यत्र कश्चिदेवार्थोऽप्राप्तः अन्ये तु प्राप्ताः,
तत्राऽपि तस्यैव फलसम्बन्ध इति द्रष्टव्यम् । अत एव “साकं
प्रस्थायीयेन यजेत पशुकाम” इत्यादौ सहत्वमात्रं फलाय विधी-
यते; न तु यागः प्रस्थानं वेति (२)वक्ष्यते । तदिह धात्वर्थस्याऽ-
भ्यतः प्राप्तत्वात् गोदोहनादेश्च गुणस्याऽप्राप्तेः दध्यादेश्च नियमे-
नाऽप्राप्तेः तस्यैव फलसम्बन्धः ।

यद्यपि च दधिहोमयोरुभयोरपि स्वरूपेण प्राप्तिः इन्द्रिय-
सम्बन्धेन चाऽप्राप्तिस्तुल्या, तथाऽपीन्द्रियकामपदाभावे द-
धिनियमं कर्तुमारभमाणस्य विधेः दधिमात्रविषयत्वप्रतीतेः त-
स्यैव फलसम्बन्धात् । न च दधिनियमस्याऽपि “दध्ना जुहोती”-
त्यनेनैव प्राप्तत्वादेन्द्रवायवादिग्रहणवद्धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धो
युक्त इति वाच्यम् । तथात्वे दधिपदस्य पाप्तिकानुवादवैयर्थ्या-
पत्तेः दधिविशिष्टधात्वर्थस्य फलसम्बन्धे गौरवापत्तेः दधिमा-
त्रस्य फलसम्बन्धाङ्गीकारात् ।

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७१

ऐन्द्रवायवाग्रत्वस्य तु शुक्राग्रत्वेन पाक्षिकानुवादाद्या-
पत्तावपि न फलसम्बन्धः, तथात्वे काम्यत्वेन बृहत्सामत्व-
पक्षेऽपि तदापत्या “यदि रथन्तरसामे”त्येतद्वाक्यावगताया
रथन्तरसामकत्वाभावे ऐन्द्रवायवाग्रत्वाभावव्याप्तेर्भङ्गापत्तेः ।
अतस्तात्पर्यग्राहकानुरोधेन तत्र पाक्षिकानुवादत्वमङ्गीकृत्या-
ऽपि धात्वर्थस्यैव फलसम्बन्धः, न तु प्रकृते । अतो दधि-
पदवाच्या दधित्वादिजातिरेव तल्लक्षितव्यक्तिर्वा फलार्थं वि-
धीयते । तस्याश्चाऽऽश्रयत्वेन प्रकरणप्राप्त एव होम्ये जुहोतिना-
ऽनूद्यते प्रसयसाधुत्वाय । तथा हि—दध्यादेस्तावत् सिद्धरूपत्वेन
न यागादिवत् क्रियान्तरानपेक्षस्य फलजनकत्वम्, तथात्वे वि-
धिं विनाऽपि फलकामनायां सत्यां कारणस्य सत्त्वेन फलोत्पत्त्यु-
पपत्तौ कारणाविधिवैयर्थ्यापत्तिः । न हि कार्यकारणभावो विधि-
ना जन्यते, अपि तु बोध्यते । न च तद्धोधस्य यागादाविव कि-
ञ्चित्फलमस्ति, तमन्तरेणाऽपि कारणस्य सत्त्वेन फलोपपत्तेः ।
अत एवेतिकर्तव्यताविधय एव परमुपयुज्यन्तां, न तु दधिरूप-
करणविधिरपि । अतो विधिसार्थक्याय दृष्टविधया कृतिसाध्य-
धात्वर्थविशेषरूपाश्रयसम्बन्धित्वमवश्यमपेक्षणीयम् ।

तत्र च यद्यपि योग्यताबलेन स्वोत्पादनस्वसाध्यभोजन-
होमाद्यनेकधात्वर्थविशेषसम्बन्धो नियमेन प्रसज्यते, तथापि प्र-
करणेनाऽधिकाराख्येन विधिकल्पनद्वारा होमस्यैवोपनयान्नेतर-
धात्वर्थानामाश्रयत्वप्रसक्तिः । अत एव न कल्पितेनाऽपि विधिना
दधिहोमयोरङ्गाङ्गिभावो बोध्यते, गौरवात्, क्लृप्तप्रयोजनत्वाच्च;
अपि तु लोकसिद्धकार्यकारणभावनियममात्रम् —दध्ना होमः क-
र्तव्य इति ।

न च दधिजन्यहोमकर्तव्यताया अपि “दध्ना जुहोती”त्य-

नेनैवाऽवगतिसिद्धेर्दधिविशिष्टहोमानुष्ठानेनैव फलोपपत्तौ पुन-
रपीन्द्रियकामवाक्यवैयर्थ्यापत्तिः, -इन्द्रियकामनाया आधिकारि-
विशेषणत्वज्ञापनफलकत्वेन सार्थक्यात् । एतद्विध्यभावे हि
दधिविशिष्टहोमानुष्ठानस्य नेन्द्रियोद्देश्यकता सिध्यतीति तत्सि-
ध्यर्थमिन्द्रियकामविधिरर्थवानेव । प्रकरणकल्पितविधिवलादेव
वाऽऽश्रयलाभसिद्धेः न “दध्ना जुहोती”त्यादेराश्रयसमर्पकत्व-
माशङ्कनीयम् । अतोऽनन्यत्वम्यत्वात्तेन क्रत्वर्थतैव बोध्यत इति
ध्येयम् । अन्यत्वम्यत्वादेव चेन्द्रियकामवाक्यस्थजुहोतिना-
ऽप्याश्रयतासम्बन्धेन होमविशिष्टदधिविधानमङ्गीकृत्याऽऽश्रय-
विधिरित्यपि निरस्तम् । यथा च प्रकारान्तरेणाऽपि न वाक्ये-
नाऽऽश्रयविधिः तथाऽग्निमाधिकरणे वक्ष्यते । अङ्गतासम्बन्धेन
होमविशिष्टदधिविधिस्तु होमस्य प्रयोजनानाकाङ्क्षत्वाभिराकर्त-
व्यः । अतोऽत्र दधिमात्रमेव फलोद्देशेन विधीयते । होमस्वाश्र-
यतासम्बन्धेन प्रकरणप्राप्तौ जुहोतिना साधुत्वार्थमनूयते ।

अत एव भावनाया दधिकरणिकाया अवच्छेदकीभूतधा-
त्वर्थविशेषापेक्षायां समानपदश्रुत्युपात्तौ होमोऽवच्छेदकतयाऽन्वि-
तोऽपि न तदंशेऽपि विधिव्यापारकल्पना, होमोवच्छेदस्य महा-
प्रकरणात् प्रणयनाद्यवच्छेदस्य चाऽवान्तरप्रकरणात्लाभोपपत्तेः ।
अत एव करणविधिवैयर्थ्यस्याऽऽश्रयत्वनियामकत्वात् भावनाया
अवच्छेदकापेक्षाऽपि तन्नियामिकेति द्रष्टव्यम् ।

किञ्च यत्र ससम्बन्धिक एव पदार्थोऽप्राप्तत्वेन फलोद्देशेन
विधीयते, तत्र तस्य सत्यपि यागादिवत् साक्षात्कृतिव्याप्यत्वे
ससम्बन्धिकत्वादेव प्रतिसम्बन्धिरूपाश्रयलाभो न बिरुध्यते,
यथा—“पशुकाम उक्थयं गृहीया”दित्यादौ, उक्थयादिपदाभि-
धेयायास्संस्यायास्समापयतिधातुवाक्यत्वेन यागादिबत्साक्षा-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७३

त्कृतिसाध्यत्वेऽपि ससम्बन्धिकत्वादेव प्रतिसम्बन्धिभूतज्योति-
ष्टोमरूपाश्रयलाभः ।

यदा तु सौभराधिकरणन्यायसुधाकृदुक्तरीत्या उक्थ्या-
दिपदवाच्यग्रहयागाभ्यासा एव फले विधीयन्ते, तदाऽप्यभ्या-
सस्य प्रतिसम्बन्धियागापेक्षयैव ज्योतिष्टोमस्याऽऽश्रयत्वम् । यथा-
चाऽयं पक्षो दुश्चिष्टस्तथा (१)संस्थाधिकरणे वक्ष्यामः । सर्वथा
कृतिसाध्यधात्वर्थविशेषसम्बन्धित्वं दृष्टविधया फलार्थं विधीय-
मानस्य गुणस्य स्वनिष्ठकरणतासम्पादकत्वेनाऽपेक्षितम् । अत
एव न विधीयमानगुणजन्यत्वमेवाऽऽश्रयत्वम्, तदभावेऽपि
“मन्थ्यग्रानभिचरन्” इत्यादौ ग्रहणानां मन्थिग्रहाप्रत्वरूपगु-
णाश्रयत्वदर्शनात् । अपि तु अदृष्टाद्वारकसम्बन्धेन गुणविशेषाव-
च्छिन्नत्वम् । अदृष्टाद्वारकेति पदकृत्यं तु वारवन्तीयादेरग्निष्टो-
मस्तोत्रजन्यादृष्टद्वारा यागेन सम्बन्धात् तस्याऽऽश्रयत्वव्यावृत्ति-
रित्युत्तराधिकरणे वक्ष्यते । तदेवं दध्यादौ यागादिवत्फल-
निरूपितैव करणतेति पक्षमाश्रित्य करणविधिवैयर्थ्यादिना आश्र-
याकांक्षोपपादिता ।

यदा तु दध्नेति तृतीयोपात्तं करणत्वं नेन्द्रियनिरूपितम्,
अपि तु करणतासंसर्गेणैवेन्द्रियेऽन्वेति, अतश्च करणत्वविशिष्टस्य
दध्नो दधिप्रतिश्लेषस्य वा करणत्वस्य करणतासंसर्गेणैन्द्रिये सम-
न्वयो न तु यागादिबृत्तृतीयोपात्तस्य करणत्वस्य निरूपकता-
संसर्गेणेति पक्ष आश्रीयते, तदा तृतीयोपात्तस्य करणत्वस्य नि-
रूपकापेक्षायां प्रतिसम्बन्धिविधयैव प्राकरणिकाश्रयलाभो न
विरुध्यते । परन्तु निरूपकतासंसर्गापेक्षया करणतासंसर्गस्य गुरु-
भूतत्वाद्यागादिवैलक्षण्ये प्रामाणाभावाच्चाऽयं पक्षो नातीवाऽऽदि-

यते । सर्वथा प्रकरणादाश्रयलाभोपपत्तेरनेन गुणमात्रं विधीयते । भावनाऽपि च सैत्र, धात्वर्थवत्तस्या अपि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । न च प्राप्तभावनानुवादेन गुणसम्बन्धः फलसम्बन्धश्च विधीयेतेति वाक्यभेदापादकगुणादेव भेदः, भावनायाः फलसम्बन्धस्य राग-प्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वादिति भवेदेव ।

वस्तुतस्तु इन्द्रियाख्यफलस्य जन्यत्वेन व्यापारमात्रजन्य-त्वावगमेऽपि लोकाद्विजातीययत्नजन्यत्वानवगमाद्विशेषतश्चाऽभि-होत्रहोमानुकूल्यत्वे स्वर्गादिजनकत्वेनाऽवगते इन्द्रियजनकत्वस्य प्रमाणान्तरेणाऽनवगतेर्वाक्येनैव विधेयत्वापातात् दधिरूपद्रव्यस्य चोत्पत्तावन्वयेन राजसूयन्यायाविषयत्वाद्वाक्यभेदावश्यम्भा-वेन गुणात् भेद एव । न ह्यत्र धात्वर्थाविवक्षावद्भावनाया अप्य-विवक्षामङ्गीकृत्य गुणफलयोरेव मिथोऽन्वयो वक्तुं युक्तः, कार-कान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वात् । अतो भावना भिन्नैव । सकृदनु-ष्ठानेऽपि सान्नाय्यादिवत् तत्तज्जात्यवच्छिन्नव्यक्तिद्वयोत्पत्त्यङ्गी-कारान्नैकव्यक्त्याश्रितजातिद्वयाङ्गीकारापात्तिः ।

अस्तु वा तत्, तथाऽपि न साङ्कर्यम्; होमविधिविधेय-तावच्छेदकजातेर्गुणाविधिविधेयतावच्छेदकजातिव्यतिरेकेण स-त्त्वेऽपि तस्यास्तद्व्यतिरेकेणाऽन्यत्राऽसत्त्वात् । व्यक्तिभेदपक्षे तु यत्नद्वयस्याऽप्यवच्छेदकीभूतो धात्वर्थ एक एव, प्रमाणबलेन चैकस्य धात्वर्थस्य युगपदुत्पन्नमानयत्नद्वयजन्यतापि जायमाना न विरुध्यते । तस्मादत्र दधिकरणकामिन्द्रियकर्मकं भावनान्तर-मेव विधीयत इति सिद्धम् ।

अपूर्वं तु दधिजन्यमेकामिन्द्रियजनकम्, होमजन्यं च स्वर्गादि-जनकमपरम्; अपूर्वस्य शक्तिरूपत्वेन शक्तिमत्त्वे भेदस्याऽऽवश्य-कत्वात् । आश्रयस्य प्रणयनादेर्दृष्टविषया स्वकार्योपयोमे तु गुणज-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७६

न्यमेव पश्वादिजनकं न त्विन्द्रियाद्यनुकूलं होमजन्यमपरम्, होम-
स्योत्तरक्षण एव दधिनिष्ठकरणतासम्पादकत्वेनाऽपूर्वाजनकत्वात् ।
यदि आश्रयत्वं नामाऽवान्तरव्यापारत्वमुच्येत, ततः क्षणिकस्य
होमस्येन्द्रियजनकत्वायोगात् तदनुकूलमप्यपूर्वं कल्प्येत । न तु तत्त्वे
प्रमाणमस्ति, करणविधेः तज्जन्यत्वमात्रेणाऽप्युपपत्तेः तज्जन्यज-
नकत्वस्याऽपि कल्पने गौरवात् । अतो गुणफलसम्बन्धस्थले
भावनाभेदात् गुणजन्यमप्यपूर्वं भिन्नमेव ।

भावनान्तरस्य चेतिकर्तव्यतापेक्षायामाश्रयतो धर्मातिदेशः ।
तथा हि—न तावदाश्रयस्यैव प्रकरणादितिकर्तव्यतात्वेनाऽपि
ग्रहणं शक्यम्, वाक्येन स्वर्गादिसंयुक्तस्य होमस्य प्रकरणावि-
षयत्वात् । न चाऽङ्गत्वाभावेऽप्याश्रयस्य सतः प्रसङ्गेनेतिक-
र्तव्यताकाङ्क्षानिर्वर्तकत्वोपपत्तेः नाऽतिरिक्तोतिकर्तव्यताकाङ्क्षे-
ति वाच्यम् । आश्रयस्य करणतानिर्वाहकत्वेन करणकोटावन्त-
र्भावात् तदनुग्राहकेतिकर्तव्यताया भेदेनैत्राऽपेक्षितत्वात् । आश्र-
याकाङ्क्षा करणाकाङ्क्षातो भिन्नेति मते आश्रयस्य करणकोटाव-
नन्तर्भावेऽप्याश्रयस्य दृष्टविधया करणतासम्पादकस्याऽदृष्टार्थाया
भावनाया अदृष्टोपायापेक्षत्वात् न तदुपकारकत्वं सम्भवतीति
युक्तं तद्व्यतिरिक्तैतिकर्तव्यतापेक्षणम् ।

यद्यप्याश्रयान्तरकरणे फलानुत्पत्तेराश्रयनियमादृष्ट्याऽ-
प्युत्पत्तेरावश्यकत्वात् तद्वारा तन्निमित्तस्येतिकर्तव्यतात्वमाशङ्क्येत,
तथाऽपि दध्यादिगुणसन्निपत्योपकारस्य क्रयसम्पादनादेरपेक्षि-
तत्वात् आश्रयसमानविधानत्वस्य च (१) संस्थाधिकरणे निषे-
त्स्यमानत्वात् युक्तं आश्रयतो धर्मातिदेशः । न चैवमपि साह-
श्याभावात्कथं कल्पितवचनातिदेशः ? सादृश्यकार्यस्य प्रकृति-

विशेषोपस्थापनस्य प्रकरणेनैवेह सिद्धेः तदनपेक्षणात् । यद्यपि च ये प्रकृतावाश्रयस्वरूपसिद्ध्यर्था देवतादयः तेषामिह गुणस्वरूपसिद्ध्यर्थत्वासम्भवात् बाध एव प्राप्नोति, तथाऽपि तदन्येषामतिदेशः, ते त्वाश्रयसिद्ध्यर्थं क्रियमाणा अपि न गुण उपकुर्वन्ति ।

न च येऽपि प्रकृतौ प्रंधानद्वारा तदपूर्वसाधनीभूतद्रव्यसंस्कारार्थावज्वलनादयः, तेऽपि कथं प्राकृतप्रणाडीरहिते गुणे प्राप्नुयुः ? सखमेवं न प्राप्नुवन्ति, तथाऽपि दृष्ट्यादौ क्रत्वर्थत्वस्याऽपि सत्त्वात् गोदोहनादेश्च नित्यचमसस्थानत्वात् स्थानापत्तिरूपातिदेशेन प्रणयनानङ्गभूतेऽपि प्रणयनोपकारके गोदोहने धर्माः प्राप्नुवन्त्येव । परं तु ते प्रणयनादिकार्यप्रयुक्ता एव न तु गुणापूर्वप्रयुक्ताः । गुणस्याऽपि त्वपेक्षिताः कोचित्सम्पादनप्रक्षालनादयः प्रसङ्गादुपकुर्वन्ति, अन्ये त्वारादुपकारका जपोपस्थानादयो गुणभावनायामतिदेशेन प्राप्नुवन्ति । तत्राऽपि तज्जन्या उपकारा एवाऽतिदिश्यन्ते, न तु तज्जनकीभूताः पदार्था अपि, गुणस्य स्वर्गादिप्रयुक्ताश्रयोपजीवित्वेन तत्तन्त्रमध्यपातावगमात् प्रसङ्गेन तदर्थानुष्ठिताङ्गजन्योपकारलाभोपपत्तेः स्वातन्त्र्येण जनकानपेक्षत्वस्य(?) द्वादशे वक्ष्यमाणत्वात् । अत एव गोदोहनादेः दर्शपूर्णमासापूर्वप्रयुक्तप्रणयनाद्युपजीवित्वात् सौर्यादावनतिदेश इति वक्ष्यते । आश्राननुष्ठापकत्वं त्वाश्रयस्याऽनङ्गत्वात् क्लृप्तानुष्ठापकान्तरयुक्तत्वाच्च स्पष्टमेव । तस्मात्सिद्धं गुणादेव फलमिति ।

प्रयोजनम्—आद्यपक्षे दृश्यपचारे प्रतिनिध्युपादानमारम्भोत्तरम्, ततः प्राक् दृश्यभावेऽनारम्भ एव । द्वितीयपक्षे यद्यपि “वि वा एतद्यज्ञश्चिच्छद्यते यदन्यस्य तन्त्रे प्रतते अ-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७७

न्यस्य तन्त्रं प्रतायत' इति वचनादेकप्रयोगमध्येऽपरस्य काम-
स्य प्रयोगस्सामान्यतो निषिद्धः, तथाऽपि द्वयोरनयोरग्निहोत्र-
कर्मान्तरयोरेककालत्वात्तन्त्रप्रयोगापत्तेः सङ्कल्पादौ तत्तत्फलार्थं
कर्मद्वयमपि तन्त्रेण करिष्य इत्युल्लेखः प्रयोजनम् । गोदोहनो-
दाहरणे तु प्रयोगात् बहिः प्रणयनानुष्ठानम् ।

यत्तु वार्तिके प्रणयतीत्यस्य कर्मसाकाङ्क्षत्वात् "अपः प्र-
णयती"ति वाक्यान्तरश्रुतद्वितीयान्ताप्पदानुषङ्गावगतेरपां चोप-
योगसत्त्वेन तत्संस्कारार्थस्यैव प्रणयनस्य फलार्थत्वावगमात्
परप्रयुक्तसंस्कार्योपजीवित्वेन पक्षद्वयेऽपि क्रतुप्रयोगमध्यकर-
णोपपत्तेः नाऽनुष्ठाने भेदो लभ्यत इत्युक्तम् ; तदनुषक्तस्याऽ-
प्यप्यदस्य संस्कार्यपरत्वे उद्देश्यानेकत्वकृतवाक्यभेदापत्तेः सक्तु-
न्यायेन विनियोगभङ्गावसायाल्लौकिकाप्साधनकप्रणयनस्य
पश्वर्थत्वावगतेरतिशयार्थम् ।

सिद्धान्ते तु तत्तत्फलार्थकेन गुणेन सहाश्रयं स्वफलार्थं
करिष्य इत्युल्लेखः प्रयोजनं द्रष्टव्यम् ।

सूत्रं तु—यागादिवाक्यस्य दध्यादिवाक्यस्य च भावा-
र्थाधिकरणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्यां तुल्यत्वाभावात् तस्याऽऽश्रयस्य
फलसम्बन्धिनि गुण एव दध्यादिवाक्यस्थं फलं प्रतीयेतेति
योऽयम् ॥

इत्येकादशमिन्द्रियकामाधिकरणम् ॥ ११ ॥



अथ द्वादशं रेवत्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥ २-१-२६ ॥

(विषयसंशयो)

ज्योतिष्टोमप्रकृतिकोऽग्निष्टुद्यागः समान्नातः-(१)“त्रिवृद-
ग्निष्टुदग्निष्टोमः, तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्म-
वर्चसकामो ह्येतेन यजते”ति । अत्र च प्रथमान्तप्रयस्य यजेते-
त्यनेनान्वयात् कर्तव्यपदाध्याहारेण भिन्नवाक्यत्वं ताव-
दावश्यकम् । तत्र च त्रिवृत्पदं तावदातिदेशिकचतुस्तोम-
त्वव्यावृत्तिफलकतया सर्वस्तोत्रेषु त्रिवृत्स्तोमविधायकम् । अग्नि-
ष्टुत्पदं“माग्नेयीषु स्तुवत” इति वचनादाग्निदेव्यमन्त्रसाध्यस्तो-
त्राङ्गकत्वात् तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयम् । अग्निष्टोमपदं चाग्नि-
ष्टोमसंस्थाकत्वप्रतिप्रसवार्थम् ।

यद्यपि हि ज्योतिष्टोमात् नियतमेवाऽग्निष्टोमसंस्था नित्य-
त्वात् प्राप्यते, तथाऽप्येतत्पूर्वभावियागस्योक्थयसंस्थाकस्य नि-
कायित्वेन एतद्यागप्रकृतित्रावसायात् ततः उक्थयसंस्थाया एव
प्राप्स्यमानत्वेन प्रतिप्रसवत्वोपपत्तिः । राजन्यनिमित्तकाग्निष्टोम-
संस्थाविकारभूताऽग्निष्टोमताव्यावृत्तिफलको वाऽयं सर्वसाधा-
रण्येनाऽग्निष्टोमसंस्थाविधिरिति द्रष्टव्यम् । गुणद्वयविशिष्टापूर्व-
कर्मविधानाच्च न वाक्यभेदः । तस्येति वाक्येन तु राजसूयन्या-
येन वायव्यमन्त्रैकविंशस्तोमविशिष्टाग्निष्टोमस्तोत्रभावनात्परका-
लतादिविशिष्टो यागप्रयोगः फलोद्देशेन विधीयते । तत्र वायव्य-
मन्त्राणामतिदेशप्राप्तमन्त्रबोधनाऽऽग्नेयीमन्त्रवाधेन वा निवेद्यः ।

१. ता. ब्रा. १७. ६१. अस्य विवरणमधिकरणान्ते करिष्यामः ।

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २७९

यद्यपि चात्राऽग्निष्टोमसामपदसमभिव्याहारादाधारतासम्बन्धेन साम्नि मन्त्राणां विशेषणत्वं प्रतीयते, तथाऽपि अवलृप्तकार्यकल्पनापत्तेः न सामाङ्गत्वेन मन्त्रविधिः, किन्तु पार्ष्टिकान्वयलभ्यं समसम्बन्धमनूद्य विशेषणप्रधानमग्निष्टोमशब्दमङ्गीकृत्य स्तोत्राङ्गतयैव मन्त्रविधिः । एवमेकविंशस्तोमकताप्रतिप्रसवोऽपि तत्रैव । प्रकृतितो हि अग्निष्टोमस्तोत्र एकविंशस्तोमकत्वे प्राप्ते आतिदेशिकेन त्रिवृत्सामान्यविधिना निवर्तमाने ऽयं प्रतिप्रसवः । अतश्चोभयविशिष्टाग्निष्टोमस्तोत्रभावनोत्तरकालादिविशिष्टयागप्रयोगाविधिरेवाऽयम् । यद्यपि चाऽग्निष्टोमस्तोत्रभावनोत्तरकालाद्यतिदेशतः सम्भवत्प्राप्तिकम्, तथाऽप्येकवाक्यत्वसिद्ध्यर्थं विशिष्टविधिसन्दष्टन्यायेन वाऽतिदेशप्राप्तेः पूर्वप्रवृत्त्यङ्गीकरणेन वा तस्य विधिर्नाऽनुपपन्नः । यद्यपि चाऽग्निष्टोमस्तोत्रस्य प्रकृतौ सर्वान्त्यत्वान्न यागप्रयोगपूर्वकालत्वं सम्भवति, तथाऽपि सर्वान्ज्ञानुष्ठानसौकर्यार्थमादितोऽवधारणादग्निष्टोमस्तोत्रस्याऽपि तत्स्सिद्धेः प्रतिपत्तिपूर्वकालत्वाभिप्रायेण तदिति मूलानुयायिनः ।

वस्तुतस्त्वेतादृशविषये मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत् समकालत्वमेव प्रयोगमध्यवृत्तित्वरूपं लक्षणया क्त्वाप्रसयार्थो विधीयते वाक्यभेदपरिहारार्थम् ।

अथवा अस्तु समानकर्तृकत्वमात्रमत्र तदर्थः । यद्यपि च ऋत्विक्कर्तृकस्तोत्रसमानकर्तृकत्वं यजमानकर्तृके यागे न मुख्यम्, तथाऽपि प्रयोजककर्तृत्वाभिप्रायेण तदुपपत्तेर्न विरोधः; तत्प्रकरणे च 'वारयन्तीयमग्निष्टोममाम कार्यमिति श्रुतेन वाक्येन प्राकृत यज्ञायङ्गीख्याग्निष्टोमस्तोत्रं वारयन्तीयं विहितम् । तदनन्तरं 'ऋतस्यैव रेवतीषु वारयन्तीयमग्निष्टोममाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेते'ति श्रुतम् । तत्र च पूर्ववदेव त्रेधा सन्देहः । पादाध्यायसङ्गती स्पष्टे । आपवादिक्ती त्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र प्रकृतप्रत्यभिज्ञानादेतच्छब्दश्रुतेः प्रमाणाभावाच्च न ता-
वत्कर्मान्तरम्, सिद्धान्ते वक्ष्यमाणरीत्येव चाऽऽश्रयाभावाच्चाऽपि
गुणफलसम्बन्धः, अतो वायव्यवाक्यवदेव रेवतीमात्रविशिष्टाग्नि-
ष्टोमस्तोत्रभावनोत्तरकालतादिविशिष्टो यागप्रयोगः फलार्थं विधी-
यते । न ह्यत्र दाधिन्यायेन गुणस्योत्पत्तावन्वययोग्यत्वम्, अपि
तु कालादिरूपत्वाद्वाजसूयन्यायेन प्रयोगविशेषणत्वमेव, अतो-
ऽत्र गुणविशिष्टस्य तस्यैव कर्मणः फलोद्देशेन विधानमित्येकः
पक्षः । द्वितीयस्तु नाऽत्र राजसूयन्यायः, प्रयोगस्य वायव्यवा-
क्येनैव प्राप्तत्वात्, फलान्तरश्रवणेऽपि च विविदिषावाक्यव-
द्विनियोगमात्रकरणेन प्रयोगान्तरस्याऽविधानोपपत्तेः । न च
विनिगमनाविरहः, प्राथम्येन वायव्यवाक्य एव प्रयोगविधे-
र्नियन्तुं शक्यत्वात् ।

एवं सत्यपि यदि विशेषणीभूतस्य रेवतीमात्रविशिष्टाग्निष्टो-
मस्तोत्रभावनोत्तरकालतादेरप्राप्तिः स्यात् ततोऽवेष्टेः “यदि-
ब्राह्मणो यजेते”त्यादौ विधेयकर्तृकालादिरूपानेकगुणवशादिव
प्रयोगान्तरमपि विधीयते, न त्वेतदस्ति, तस्याऽपि वायव्य-
वाक्येनैव प्राप्तत्वात् । न ह्यत्र ततः पूर्वप्रवृत्तिर्शक्यते वक्तुम्,
प्रापकस्याऽपि प्रत्यक्षत्वात् । न च प्राप्तस्याऽपि विशिष्टविधि-
सन्दष्टन्यायेन विधेयतामापाद्य प्रयोगभेदकत्वम्, अन्योन्याश्र-
यापत्तेः । सति हि प्रयोगविधौ विशिष्टविधिसन्दष्टता, (१)यस्यां
च विधेयत्वात् प्रयोगविधिरिति । अतः परिशेषाद्देवतीमात्रं
प्राप्ताग्निष्टोमस्तोत्रोत्पत्त्यनुवादेन विधेयम्, फलोद्देशेन यागविनि-
योगश्चेति वाक्यभेदतादवस्थयात् दाधिन्यायेनाऽत्र कालतात्

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८१

गुणफलसम्बन्धाविधिरेव । तत्राऽपि रेवतीमात्रस्याऽप्राप्तत्वात् यद्यपि विधिस्तन्मात्र एव संक्रमते, तथाऽपि नाऽत्र तासां फलसम्बन्धः । तथात्वे तासां विलिङ्गसङ्ख्यत्वादतेच्छब्देन तृतीयान्तेन फलसाधनतयाऽपादानानुपपत्तेः, किन्तु प्राप्तस्याऽपि रेवतीविशिष्टस्य वारवन्तीयस्यैव । यद्यपि चाऽत्राऽप्यक्लृप्तकार्यकल्पनापत्तेः रेवतीनामाग्निष्टोमस्तोत्र एवाऽङ्गत्वम्, तथाऽपि पार्ष्टिकान्वयलभ्याधारतासम्बन्धेनैव साग्नि रेवतीनां वैशिष्ट्यं नाऽनुपपन्नम् ।

अत एवैतच्छब्दोपपत्तावपि नाऽग्निष्टोमस्तोत्रस्यैव रेवत्यङ्गकस्य फलसम्बन्धः, अग्निष्टोमसामपदस्य विशेषणप्रधानत्वे लक्षणापत्तेः । न च रेवतीवारवन्तीययोः पृथक्पदोपात्तकारकत्वेनै कथं वैशिष्ट्योपपत्तिः ? फलकर्मकभावनाया विधेयत्वेन तस्यामुभयोः प्रथमतस्सम्बन्धाङ्गीकरणेन सोमादिवत्पश्चात् परस्परवैशिष्ट्योपपत्तेः । कृत्वाशब्दश्रवणेन रेवतीषु कृत्वा वारवन्तीयं तेन फलं भावयेदित्यर्थावगमाद्वैशिष्ट्योपपत्तेः । अतो(१) रेवतीविशिष्टस्य वारवन्तीयस्य फलसम्बन्धः, तस्य च स्वरसमाहारात्मकस्य सौभरादिवत् सिद्धरूपत्वेनाऽऽश्रयापेक्षयां प्राकृतस्य यागस्यैवाऽऽश्रयत्वम् । न हि गायतिधातुवाच्यत्वात् साम्नः क्रियात्मकत्वाशङ्का, 'गीड ऋनैकदेश' इत्यादौ गण्डादीनां धातुवाच्यत्वेऽपि सिद्धरूपत्वत् । सामशब्दस्य "सामाथो यः कश्च रोवणः स्वर" इति श्रुतेः षड्जादिस्वरसमाहारवाचित्वात् स्वरशब्दस्य च "मारुतस्त्रासि चरन्मन्द्रं जनयति स्वर"मित्यादि सङ्गीतशास्त्रपर्यालोचनया सिद्धरूपवाच्यवीयसंयोगविभागजानितध्वन्यात्मकशब्द-

विशेषवाचित्वावगमेन वारवन्तीयादेः सिद्धरूपत्वप्रतीतेः । अ-
तश्च तस्याऽऽश्रयापेक्षायां युक्तमेव यगस्याऽऽश्रयत्वम् । शक्यते
हि साम्ना ऋगक्षराभिव्यक्तिद्वारा स्तोत्रमिव यागस्साधयितुम् ।
अतश्च सौभरसाम्नस्स्तोत्राश्रितत्वमिव वारवन्तीयस्याऽपि या-
गाश्रितत्वं तदीययाज्यादिमांत्राधारतया उच्चैष्ट्वादिवन्न विरुध्यते।

रेवतीनामपि चाऽत एव याज्यादिकार्ये निवेशोऽप्युच्येयः ।
काम्येन च वारवन्तीयादिना सामान्यविधिप्राप्तस्य वाऽतिदेशप्रा-
प्तस्य वैकश्रुत्याद्देर्बाधोऽपि सुवच एव । (१) यदि चाऽग्निष्टोमसा-
मेत्यनुवादानुपपत्तिराशङ्कोत, ततोऽग्निष्टोमस्तोत्रद्वारैव यागस्य
जन्यत्वापरपर्यायमाश्रयत्वम् । इष्यत एव हि ब्रीह्यादौ परम्परा-
सम्बन्धेन जन्यत्वम्, आश्रयत्वमपि च सौभरादौ स्तोत्रादेः ।

अस्तु वा यागस्याऽग्निष्टोमस्तोत्रजन्यत्वात् परम्परासम्ब-
न्धेन जन्यत्वापरपर्यायाश्रयत्वायोगेऽप्यानर्थक्यतदङ्गन्यायेनाऽ-
ग्निष्टोमस्तोत्रेऽवतारः । इष्यते चोक्थ्यादिस्तोत्रनिरूपितसमाप्ति-
प्रतियोगित्वरूपस्याऽऽश्रयत्वस्य साक्षात् प्रकृते यागेऽसम्भवेन
(२) प्रयोगे चाऽवतारः “पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीया”दिस्यादौ । न
च स्तोत्राणामपि प्रकृतयागाङ्गत्वादाग्निष्टोमस्तोत्र एवाऽवतारे प्रमा-
णाभावः, अग्निष्टोमस्तोत्रस्य वायव्यवाक्ये विहितत्वेन वारवन्ती-
यवाक्येऽनुवादेन चाऽतिदेशिकस्तोत्रान्तरापेक्षया विशिष्योपस्थि-
तत्वात् शास्त्रस्याऽबाधपक्षपातित्वेन काम्यस्याऽपि वारवन्ती-
यस्य स्तोत्रान्तरे निवेशः । आतिदेशिकसामवाधापत्तेः वारव-
न्तीयाङ्गकाग्निष्टोमस्तोत्रमात्रनिवेशावगमाच्च ।

एतेन यत् सिद्धान्तवार्तिके पुरुषार्थवारन्तीयस्य ऋत्वर्येण
सहाऽभेदाद्वाऽग्निष्टोमस्तोत्रवृत्तित्वं भवेत् ऋत्वर्यस्य तद्वृत्तिदर्श-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८३

नेनाऽत्राप्यनुमानाद्वा एतस्य तत्, स्थानापन्नत्वाद्वा ? नाऽऽद्यः; एकस्य देवदत्तस्य युद्धभोजनादिकार्यभेदेन एकस्थानानियम-वदेकस्थानत्वे प्रमाणाभावात् । न द्वितीयः, सामान्यतो दृष्टस्या-ऽप्रयोजकत्वात्, वारवन्तीयत्वहेतोराधानेऽनैकान्तिकत्वाच्च । आग्निष्टोमस्तोत्रवृत्तित्वस्य च साधनतापरपर्यायस्य सामप्रयोजन-त्वेन सामानङ्गतया कार्यापत्त्याऽप्यनतिदेशान्न तृतीयोऽपि । अतो नाऽग्निष्टोमस्तोत्रमात्रवृत्तित्वा सम्भवतीत्युक्तम्, तदपि परा-स्तम्, अबाधेनोपपत्तौ बाधायोगादिति न्यायेनैव तदुपपत्तेः । यस्त्वस्मिन् पक्षे रेवतीभिर्वायव्याबाधः, स स्तोत्रान्तरेऽप्यातिदे-शिकऋगन्तरबाधात्तुल्य इक्षकिञ्चित्करः । अतो युक्त एव(?) आनर्थक्यतदङ्गन्यायेनाऽग्निष्टोमस्तोत्रमात्रेऽवतारः ।

अस्तु वाऽग्निष्टोमस्तोत्रस्यैव विशिष्योपस्थित्यादिनाऽऽश्रय-त्वम्, तस्य च धर्मिग्राहकप्रमाणेनाऽग्निष्टुद्यागसम्बन्धिन एव लाभाद्यजिः, षष्ठ्यन्तैतच्छब्दः क्त्वाप्रत्ययश्च सर्वमनुवादः ।

अथ वा वारवन्तीयमग्निष्टोमसामकार्यमिति प्राकरणिक-वाक्येनैव लाघवादाश्रयसम्बन्धो विधीयते, न त्वङ्गाङ्गिसम्बन्धः, गौरवात् । दध्युादिवाक्येषु त्वन्यलभ्यत्वादाश्रयस्याऽगत्या गौरवाङ्गीकरणम् । तदेवं वारवन्तीयस्यैव फलसम्बन्ध इति श्रुलोक्तः पक्ष उपपादितः ।

अथ वाऽस्तु रेवतीनामेवाऽप्राप्तत्वात् तस्यैव विधिसंक्रमणा-वगतेस्तासामेव फलसम्बन्धः । सप्तमी चैयं यद्यपि स्तोत्रनिरु-पितं सामनिरूपितमेव वाऽधिकरणत्वं वदति, तथाऽप्यतच्छब्देन तृतीयाम्नेन रेवतीविशिष्टवारवन्तीयस्यैव पूर्वोपस्थितस्य परामर्शा-त् तत्र च विशेष्यस्य प्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वादप्राप्तेरेवतीरूपविशेषण-

स्यैव दाक्षायणयज्ञपदे आवृत्तेरिव फलसम्बन्धोपपत्तिः । अत एवैतच्छब्दस्य विलिङ्गसंख्यत्वान्न . रेवतीपरामर्शकत्वमित्यप्य-
पास्तम्, विशिष्टपरामर्शकत्वेनाऽविरोधात् ।

न चैतस्मिन्पक्षे रेवतीनामग्निष्टोमस्तोत्रमात्रवृत्तित्वस्य पूर्वो-
क्तविधयाऽप्यलाभात् कथं गुणफलसम्बन्धोपपत्तिः; प्रकरणेन
तदलाभेऽपि वाक्येनाऽऽश्रयलाभोपपत्तेः । तथा हि—दध्यादा-
वपि सम्भवत्येव वाक्येनाऽऽश्रयविधिः । न च वाक्यभेदः,
होमविशिष्टदध्नः फलोद्देशेन विधानोपपत्तेः । न चैवं होमस्य
दध्यङ्गत्वापत्तिः, क्लृप्तप्रयोजनत्वेनाऽङ्गतासम्बन्धेन वैशिष्ट्या-
नङ्गीकारात्, अपि त्वपेक्षावशादाश्रयतासम्बन्धेनैव । अतश्च
यथैव “दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते”त्यादौ न दर्शपू-
र्णमासयोः सोमाङ्गत्वमुत्तरकालाङ्गत्वं वा, अपि तु निरूपकता-
सम्बन्धेनैवोत्तरकालतायां वैशिष्ट्यम्, तथाऽत्राऽप्याश्रयतासम्ब-
न्धेन तदङ्गीकारे न कश्चिद्विरोधः । स तु तत्र नाऽऽश्रितः, अन्यत
एव लाभोपपत्तेः । प्रकृते तु प्रकरणेनाऽऽश्रयप्राप्तेः(?)—
असम्भवाद्वाक्येनैवाऽग्निष्टुद्यागवृत्त्यग्निष्टोमस्तोत्रसाधतीभूतरेवती-
विधानाद्वाक्यभेदे विनैवाऽऽश्रयलाभोपपत्तिः ।

अथ वा अग्निष्टोमस्तोत्रस्यैवाऽऽश्रयतासम्बन्धेन वैशिष्ट्यम्,
तस्य तु प्रकरणात् प्रणयनादेरिवाऽग्निष्टुद्यागसम्बन्धेन एवो-
पस्थितेष्वप्यन्तैतच्छब्दो यजिष्व वारवन्तीयपदबदनुवादः ।

किञ्चाऽस्मिन् पक्षे यथैव सिद्धान्ते रेवत्यादित्रिशिष्टस्तोत्र-
भावनाविशिष्ट्यागभावनाविधानं कृत्वाशब्दमाहिम्ना न दुष्यति,
तथैव सप्ताऽप्याश्रयभावनाविशिष्टगुणभावनाविधानमिति सर्व-
था आश्रयप्राप्तेस्सत्त्वाद्गुणफलसम्बन्धाविधिरेव युक्त इति प्राप्ते—

(सिद्धान्तः)

अभिधीयते—नाऽत्रं गुणात् फलम् , आश्रयालाभात् ।
 तथा हि—वारवन्तीयस्य फलसम्बन्धित्वपक्षे तावन्नाश्रयलाभः ।
 स हि प्रकरणादभिप्रेतो वाक्याद्वा ? आद्येऽपि किं यागस्यैवा-
 ऽऽश्रयत्वम् , अग्निष्टोमस्तोत्रस्य वा ? तत्राऽपि किं यागस्य
 साक्षादग्निष्टोमस्तोत्रद्वारा वा ? नाऽद्यः; अग्निष्टोमसामेत्यस्याऽ-
 नुवादानुपपत्तेः । न द्वितीयः, स्तोत्रस्याऽदृष्टविधया यागाङ्ग-
 त्वात् तद्द्वारा यागस्याऽऽश्रयत्वानुपपत्तेः । दृष्टविधया हि कृति-
 साध्यघात्वर्थसम्बन्धित्वं गुणस्याऽपेक्षितमित्युक्तं पूर्वाधिकरणे ।
 अदृष्टद्वारा हि तदाश्रयणे गुणस्याऽऽश्रयं विनाऽपि फलकरण-
 त्वस्याऽदृष्टद्वारोपपत्तेः कृतमाश्रयाकाङ्क्षया । न चेष्टापत्तिः,
 करणविधिवैयर्थ्यापत्तेरुक्तत्वात् ।

न चैवमपि पूर्वकालतादिरूपदृष्टसम्बन्धेनैवाऽग्निष्टोमस्तोत्रस्य
 द्वारत्वोपपत्तेः युक्तमेव परम्परया यागस्याऽऽश्रयत्वमिति वा-
 च्यम् । एवमपि यागस्यैव तदीयऋगाधारत्वेनाऽऽश्रयत्वोपपत्तेः
 स्तोत्रद्वारकपरम्परायामेव प्रमाणाभावात् । न च 'अग्निष्टोमसामे'-
 सनुवादानुपपत्तिः प्रमाणम् , तथात्वे तस्याऽपि तत्र तात्पर्यक-
 रणनेन वाक्यभेदस्याऽपरिहार्यत्वात् ।

किञ्चाऽस्तु वा यागस्य साक्षात्सामाश्रयत्वयोग्यत्वम् , त-
 याऽप्यग्निष्टोमस्तोत्रस्यैव द्वारत्वनिवेशे किं मानम् ? तस्यौपदेशि-
 क्युपस्थितिरिति चेत् ? तस्या द्वारत्वाभावसाधकत्वेन विरुद्ध-
 त्वात् । न ह्यातिदेशिकस्तोत्रवृत्तिऋग्वाधसम्भवे औपदेशिकस्तो-
 त्रवृत्त्यौपदेशिकवापव्याबाधो रेवतीभिर्युक्तः । तस्मादौपदेशिक-
 त्वस्य दारत्वासाधकत्वादग्निष्टोमस्तोत्रस्यैव न द्वारत्वे प्रमाणम-

मस्ति । एतेन तस्यैव विशिष्योपस्थितेः साक्षादाश्रयत्वं यागे,
आनर्थक्येन वा तत्रैवाऽवतरणं प्रत्युक्तम् ।

किञ्च नाऽयमानर्थक्यतदङ्गन्यायस्य विषयः । सर्वत्र हि
श्रुतशब्दजन्यशाब्दबोधे योग्यताज्ञानाभावेऽप्ययोग्यतानिश्चया-
भावमात्रेण शाब्दबोधस्याऽऽनुभाविकत्वात् तन्निश्चयः प्रतिबन्ध-
कमात्रम् । अतश्च “सप्तदशारन्निर्वाजपेयस्ये”त्यादौ श्रुतषष्ठ्या
अयोग्यतानिश्चयाभावमात्रेण शाब्दबोधे जाते पश्चाद्योग्यतालोच-
नादशायां साक्षादसम्भवेऽप्युक्तपरम्पराश्रयणम् । यत्र तु कल्पि-
तशब्देन शाब्दबोधः, तत्र शब्दकल्पनायां योग्यताज्ञानस्यैव का-
रणत्वम्, अयोग्यतानिश्चयाभावसत्त्वेऽपि योग्यताज्ञानाभावे
शब्दकल्पनानुदयस्याऽऽनुभाविकत्वात् । अतश्च यागगतयोग्यता-
ज्ञानाभावेन तद्गताश्रयत्वबोधकशब्दस्यैव प्रकरणेनाऽकल्पनात्
कुतस्तदसम्भवे अङ्गेष्ववतारः ।

यत्तु प्रकरणेनाश्रयलाभाभावेऽपि वारवन्तीयवाक्येनैव
तललाभोपपत्तिरित्युक्तम्, तन्न; तथात्वेऽग्निष्टुद्यागमात्रवृत्त्यग्नि-
ष्टोमस्तोत्रस्यैवाऽऽश्रयत्वे प्रमाणाभावात् । न ह्यग्निष्टोमपदस्याऽ-
विशेषप्रवृत्तस्याऽनपेक्षत्वे सति अधिकाराख्यप्रकरणमात्रेण
सङ्कोचो युक्तः, (१)‘तुल्येषु नाऽधिकारस्स्या’दिति न्यायात् ।
यद्यपि च प्रयुक्तिशक्तिकल्पनागौरवपरिहारार्थं क्रतुप्रयोगहृत्ति-
त्वमग्निष्टोमस्तोत्रस्याऽपेक्षते, तथाऽपि क्रत्वन्तरप्रयोगहृत्तित्व-
स्याऽपि सम्भवात् नाऽधिकारेण सङ्कोचः ।

ननु नेदं कुशकाशात्रलम्बनं यूज्यते, गुणविधेः प्रयुक्तिश-
क्तिकल्पनापरिहारार्थं हि प्रणयनादेरिवाऽग्निष्टोमस्तोत्रस्याऽपि
प्रयोजकान्तरापेक्षायां यूज्यत एव प्रकृतक्रत्वधिकारस्य सङ्कोचक-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८७

त्वम् । अत एव यदपि वार्तिके वारवन्तीयवाक्यस्य गुणफलवाक्यस्य च द्वयोरपि यागोत्पत्तिवाक्येनैवाऽन्वयात् परस्परान्वयाभावेन न वारवन्तीयवाक्यस्याऽऽश्रयसमर्पकत्वं युज्यत इति समाहितम् , तदप्यपेक्षावशेन व्युत्पाद्युत्पत्तिवाक्यवत् वारवन्तीयवाक्यस्याऽपि गुणफलवाक्यैकवाक्यतयाऽऽश्रयसमर्पकत्वोपपत्तेराकिञ्चित्करम् ।

यदपि च प्राकरणिकाश्रयपक्षे अग्निष्टोमस्तोत्रमात्रवृत्तित्वासम्भवे कारणमौपदेशिकऋग्वाधायोगरूपमुक्तम् , तदपि स्तोत्रान्तरस्याऽऽश्रयत्वे ऋचां साम्नश्च बाधापित्तेरुभयबाधापेक्षया चैकस्यैवौपदेशिकस्याऽपि बाधौचित्यात् कुशकाशावलम्बनमिति कथं रेवत्याधारस्य वारवन्तीयस्याऽऽश्रयालाभात् फलसम्बन्धानुपपत्तिरिति चेत् ? सत्यम्, वारवन्तीयस्य फलसम्बन्धानुपपत्तौ नाऽऽश्रयालाभः प्रयोजकः, अपि तु प्राप्तत्वेन ततो विध्युत्तारणमेव यागादिभ्य इव, अतश्च परिशेषान्मूलानुक्तोऽपि रेवतीमात्रफलसम्बन्धपक्ष एव मुख्यपूर्वपक्षत्वेन सम्भावनीयः । तस्य चाऽश्रयालाभान्निराकरणं युक्तमेव । न हि तदा प्रकरणादाश्रयो लभ्यते, ऋद्धमात्रबाधस्याऽऽतिदेशिकेष्वेव युक्तत्वेनाऽग्निष्टोमस्तोत्रवृत्तित्वस्य वारवन्तीयमात्राधारत्वस्य वाऽप्राप्तत्वादानुवादानुपपत्तेः । वारवन्तीयवाक्यस्य त्वाश्रयसमर्पकत्वमस्मिन् पक्षेऽनाशक्यमेव ।

न च प्रकारान्तरेणाऽऽश्रयालाभेऽपि वाक्येनैव तल्लभोपपत्तिः, तेनाऽपि ह्यग्निष्टोमस्तोत्रमात्रस्यैवाऽऽश्रयत्वं विधीयते, यागविशिष्टस्य वा ? नोभयथाऽपि सम्भवति । तथा हि—सर्वत्रैव तावद्दध्यादौ न वाक्येनाऽऽश्रयविधानं युक्तम् । तदा त्वाश्रयस्य प्रथमत एव तावन्न गुणं प्रति वैशिष्ट्यं सम्भवति, कारकत्वात् ,

अतः सोमादिवदेव भावनासम्बन्धोत्तरकालं पार्ष्टिकं तदित्या-
श्रयणीयम् ।

न च गुणभावनायामाश्रयस्याऽन्वयस्सम्भावयितुं शक्यः ।
स हि न तावत् करणत्वेन, तथात्वे भावार्थाधिकर-
णन्यायप्रवृत्त्या तस्यैव फलसम्बन्धापत्तेः, करणत्वेनोपस्थितस्य
गुणसम्बन्धायोग्यत्वाच्च । क्लृप्तप्रयोजनेत्वात् गुणाङ्गत्वापत्तेश्च
नेतिकर्तव्यतात्वेन । अतः परिशेषात् कर्मत्वेनाऽन्वयो वाच्यः ।
तत्राऽपि यदीप्सितकर्मत्वरूपेण भाव्यत्वेन, तत् उद्देश्यानेकत्वा-
द्वाक्यभेदो गुणस्याऽऽश्रयाङ्गत्वापत्तिश्च । यदि तु अनीप्सित-
कर्मत्वेनाऽन्वयः, तदाऽपि फलस्य कर्मत्वेनाऽन्वयात् प्रत्ययस्य
द्विकर्मकत्वापत्तिः । न चेष्टापत्तिः, करोतिपर्यायत्वेन प्रतीस-
नुसारेण चैककर्मकत्वस्य (१)सम्मार्गाधिकरणे स्थापितत्वात् ।

न च दध्यादावाश्रयस्य वाक्येनाऽविधानेऽपि प्रकृते कृत्वा-
शब्दोक्तभावनायामन्वितस्याऽग्निष्टोमस्तोत्रस्य साम्नो वा गुणे
वैशिष्ट्योपपत्तेर्वाक्येन तद्विधानोपपत्तिः । कृत्वाशब्दोक्तभावना
हि क्रत्वर्थैव वा ? भावनान्तरं वा ? गुणफलभावना वा ? नाऽऽद्यः;
तस्या हि गुणफलभावनासम्बन्धाभावेन वैशिष्ट्यानुपपत्त्या सि-
द्धान्तवदेकभावनाविशिष्टापरभावनाविधानानुपपत्तेः ।

न द्वितीयः, तस्याः प्रयोजनान्तराभावेन गुणभावनाङ्गत्वापत्तौ
तत्सम्बन्धिनस्तोत्रादेरपि तदङ्गत्वापत्त्या षड्विःकृत्वानुष्ठानापत्तेः,
यजेतेत्यनुवादानुपपत्तेश्च; तस्याऽपि तु विधाने भावनाया द्विक-
र्मकत्वापत्तिस्तदवस्थैव । तृतयिस्तु क्रियाद्वयाभावेन क्त्वाप्रत्य-
यानुपपत्तेरनाशङ्क्य एव । तस्मात् कथमप्याश्रयालाभात् गुण-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २८९

फलसम्बन्धानुपपत्त्या(१) पूर्वकर्मण्यनिविशमानात् रेवतीरूपात्
गुणादेव कर्मान्तरम् ।

तत्र चाऽपूर्वकर्मविधित्वाद्वाक्यभेदं विनैव यद्यपि सर्वमेव
विधातुं शक्यम्, तथाऽपि (२)“न चेदन्येन शिष्टा” इति
न्यायेन यदप्राप्तं तदेव विधीयते, इतरत्तु प्राप्तमनूद्यत इति
नाऽतीव गौरवम् ।

न चैवमपि फलोद्देशेन यागविधिः, तत्र चाऽतिदेशादेवाग्नि-
ष्टोमस्तोत्रस्य निकायित्वेन च पूर्वयागातिदेशाद्धारवन्तीयसा-
म्नो वाऽप्राप्तत्वात् तदुद्देशेन रेवतीविधिरिति वैशिष्ट्यासम्भ-
वाद्वाक्यभेदस्स्यादेवेति वाच्यम् । वैशिष्ट्यसम्पत्तये विशिष्टवि-
धिसन्दृष्टन्यायेन वाऽतिदेशप्राप्तेः पूर्वप्रवृत्त्यङ्गीकारेण वाऽग्नि-
ष्टोमस्तोत्रभावनोत्तरकालताविधेर्वायव्यवाक्यन्यायेनाऽङ्गीकर-
णात् । अत एव तावतैव रेवतीविधिसिद्धेर्न वारवन्तीयस्या-
प्युक्तीत्या विध्यङ्गीकरणम् । न च विनिगमनाविरहः, अक्लृ-
प्तकार्यकल्पनाभिया सामाज्यत्वासम्भवेन स्तोत्राङ्गत्वस्यैव न्या-
य्यत्वात् ।

अत एवाऽग्निष्टोमसामेत्यपि विशेषणप्रधानतया स्तोत्रपर-
मेव, वारवन्तीयपदं तु निकायितया प्राप्तवारवन्तीपानुवादः ।
रेवतीनां च स्तोत्रं प्रत्यपि तदनुकूलपदशक्त्याधारत्वेन “आ-
ग्नेयीषु स्तुवत” इतिवदाधिकरणत्वोपपत्तेः सप्तमी यथाश्रुतैव,
करणत्वलक्षणार्था वा । अतश्च रेवतीमात्रविशिष्टस्तोत्रभावना
उत्तरकालादिसम्बन्धेन यागभावनाविशेषणमिति तद्विशिष्टो
यागः फलोद्देशेन विधीयते इति सिद्धम् । न च भावनाया अ-
कारकत्वात् कथं भावनान्तरविशेषणत्वम्, क्त्वाप्रत्ययादिस्थले

उत्तरकालतादिसम्बन्धेनाऽपि विशेषणत्वव्युत्पत्तेः । अत एव पूर्वभावनाया मुख्यविशेष्यत्वाभावेऽपि रेवत्यादिकारकाणां तत्रैवाऽन्वय इत्युक्तं भावनानिरूपणे ।

अत एव पक्षेकत्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन मुख्यविशेष्य-भूतभावनाविशेषणविशेषणीभूतासु रेवतीषु विशेषणविधिकल्पनायोगात् तासामविवक्षेत्यप्यनाशङ्क्यम्, मुख्यविशेष्यभूतभावनाविशेषणत्वाभावेऽपि कृत्वाशब्दोक्तभावनाविशेषणत्वस्य सत्त्वेन पक्षेकत्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायाविषयत्वात् । अपि च यत्र लिङ्गसंख्यादौ कारकान्वयद्वारा भावनान्वयो व्युत्पात्तिसिद्धः तत्र तेषां तदनादरेण द्रव्यान्वये विशेषणविशेषणत्वाच्च विधिकल्पनेति तद्विषयोऽसौ न्यायः । न तु यत्राऽपि कारकातिरिक्तसम्बन्धेन समासादौ द्रव्यान्वयद्वाराऽपि भावनान्वयव्युत्पात्तिः, यथा—“लोहितोष्णीषा ऋत्विज” इत्यादौ, तत्र विशेषणविशेषणेऽपि विशेषणविधिकल्पनायां न किञ्चित् बाधकमस्ति । अतस्तादृशस्थले प्राप्तकर्मानुवादेनाऽपि परस्परवैशिष्ट्यस्य पूर्वमेव प्रमितत्वादानेकविधानेऽपि न वाक्यभेदः ।

चित्रयेत्यादौ च लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थेऽन्वयोऽव्युत्पन्न इति वैशिष्ट्यस्य पूर्वमप्राप्तत्वात् प्राप्तकर्मानुवादेनाऽनेकविधाने युक्तो वाक्यभेदः । प्रकृते तु रेवतीनां भावनान्वयस्याऽपि सत्त्वात् भावनायाश्चोत्तरकालतादिसम्बन्धेन मुख्यभावनाविशेषणत्वोपपत्तेर्युक्तं विशिष्टविधानम् । तस्मात् कर्मान्तरविधिरेवाऽयम् ।

नन्वेवमपि न कर्मान्तरत्वे प्रमाणमस्ति, “यदि प्राणो वक्षते”त्यादाववेष्टेरिवाऽपिष्टुत एव प्रयोगान्तरापेक्षेः; न तु यत्राऽपि वाजिन्यायेन कर्मान्तरत्वात्काला सम्भवति । वाजि-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९१

नस्य ह्युत्पत्त्यन्वयिनस्तद्विधिभेदापादकस्य युक्तं कर्मान्तरत्वा-
पादकत्वम्, कर्तृकालादिरूपस्य गुणस्य तु प्रयोगविध्यन्वयि-
त्वेनोत्पत्त्यन्वयान्नोत्पत्तिविधिभेदनिबन्धनकर्मभेदापादकत्वम् ।
अत एव कालोऽपि यः प्रयोजनविशेषार्थमुत्पत्तावेवाऽन्वेति,
यथाऽऽग्नौ, तत्रेष्ट एव तेनाऽप्याग्नेयकर्मभेदः; “यदि ब्राह्मणो
यजेते”त्यादौ तु ब्राह्मणादेः कर्तुः प्रयोगान्वयित्वात् तद्भेदकत्व-
मेवाऽङ्गीकरिष्यत इति तन्न्यायेन प्रकृतेऽप्युत्तरकालतादिरूपस्य
गुणस्य प्रयोगभेदकत्वस्यैव युक्तत्वान्न कर्मभेदकता युक्तेति चे-
त्— न ; क्त्वाप्रत्ययोपात्तस्य गुणस्याऽतिदेशत एव सम्भवत्प्राप्ति-
कतया स्वरूपेण विशेषणविध्याविषयस्याऽत्र भेदकत्वाभावात् ।
सर्वत्र हि संख्यावत् गुणोऽपि विधेय एव भेदकः, न त्ववि-
धेयः । ‘यावज्जीव’मित्यादावपि च निमित्तस्य स्वरूपेण विधे-
यस्याऽपि नैमित्तिकसम्बन्धित्वेनाऽप्राप्तया विधेयत्वात् विनि-
योगभेदकत्वाविघातः ।

अत एव “यदि ब्राह्मणो यजेते”त्यादौ ब्राह्मणादिकर्तृ-
कत्वस्याऽप्राप्तत्वाद्युक्ता भेदकता । प्रकृते तु क्त्वाप्रत्ययोपात्त-
स्याऽग्निष्टोमस्तोत्रोत्तरकालतादेस्वरूपेण कर्मसम्बन्धित्वेन चा-
ऽतिदेशादेव प्राप्तत्वात् नैवाऽस्ति भेदकत्वम् ; अपि तु रेवती-
रूपस्य गुणस्यैव । तस्य चोत्पत्त्यन्वयित्वात् कर्मभेदकत्वमेव
न प्रयोगभेदकत्वम् ।

न चैवं रेवतीरूपस्य गुणस्याऽग्निष्टोमस्तोत्र एवाऽन्वयात् त
द्भेदकत्वमेव स्यात् न कर्मभेदकत्वमिति वाच्यम् । तथात्वे फलो-
द्देशेन यागप्रयोगान्तरस्याऽप्यवश्यविधेयत्वापत्तेर्लाघवेन कर्ममात्र-
भेदकत्वस्यैवाऽङ्गीकारात् । अत एव विवक्षितगत्या परम्परा-
सम्बन्धेन रेवतीविशिष्टयागविधिरेवाऽयम् । शाब्दबोधेऽन्वयनि-

वार्हार्थं तु सम्भवत्प्राप्तिकस्याऽप्यग्निष्टोमस्तोत्रादेर्विशिष्टविधिस-
न्दष्टन्यायादिना विधेयत्वाङ्गीकरणम्, न वस्तुतः । अतश्च वि-
वक्षितगत्या रेवतीरूपस्य गुणस्य यागान्वयिततयैव विधेयत्वाद्यु-
क्ता तत्स्वरूपभेदकता । अतस्सिद्धं कर्मान्तरमेवाऽत्र फलोद्देशेन
विधीयत इति ।

न चैवमपि षष्ठ्यान्तैतच्छब्देन पूर्वकर्माङ्गतयाऽप्येतद्विधिप्र-
तीतेः कथं फलोद्देशेन कर्मान्तरविधानमिति वाच्यम् । तस्योद्दे-
श्यानेकत्वकृतवाक्यभेदाभिया निकायितया प्राप्तपूर्वयागप्रकृति-
त्वरूपसम्बन्धानुवादकत्वात् वाक्येन च फलोद्देशेन विधानात् ।
प्रकरणात् पूर्वयागाङ्गत्वं त्वनाशङ्क्यमेव । तस्मात् फलार्थं क-
र्मान्तरमेव विधीयते । तृतीयान्तैतच्छब्दस्तु “अथैष उयोति”
रितिवत् प्रस्तोष्यमाणकर्मवचन इति न विरोधः । प्रयोजनं
स्पष्टम् ।

सूत्रं त्वाश्रयतया परस्परानन्वयात् समेष्वेषु वाक्येषु
कर्मयुक्तमेव फलं स्यादिति व्याख्येयम् ॥

इति द्वादशं रेवत्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशं सौभराधिकरणम् ॥

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२-२-२७॥

(विषयसंशयौ)

उयोतिष्टोभे सौभराख्यं साम त्रेधा समाज्ञातं—नित्यं नैमिषिकं
कामं यथा तत्र श्रोत्रसंस्कारान्तरप्रकरणे “सौभरपुरुषस्याज्ञा

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९३

ब्रह्म साम भवती”त्यनेन नित्यतया विहितम् । अत्र हि ब्रह्म-
सामाख्यस्तोत्रोद्देशेन समान्नायाऽवगतं सौभरं विधीयते, प्रक-
रणाच्च षोडशिसंस्थापूर्वसाधनीभूतता स्तोत्रे लभ्यते, तस्य च
स्तोत्रस्य वस्तुत उक्थ्याख्यस्तोत्रत्रयमध्यमत्वात् ‘उक्थ्याना’
मित्यनुवादः । नैमित्तिकतया तु अतिरात्रसंस्थावान्तरप्रकरणे
“यदि बृहत्सामाऽतिरात्रस्स्यात् सौभरमुक्थ्यानां ब्रह्मसाम का-
र्यमि”त्यनेन विहितम् । अत्राऽप्यतिरात्रसंस्थायामतिदेशप्राप्ते
बृहत्सामत्वे निमित्ते तदपूर्वसाधनीभूतब्रह्माख्यस्तोत्रोद्देशेनैव
सौभरं विधीयते । तत्रैवाऽतिदेशप्राप्ते रथन्तरसप्तिकत्वे निमित्ते
तु “यदि रथन्तरं सौभरमुक्थ्येषु कुर्यादि”त्यनेनाऽतिरात्रसं-
स्थापूर्वसाधनीभूतोक्थ्यस्तोत्रोद्देशेन सौभरं विधीयते । पुनश्च
नित्यविधिसन्निधौ “यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यस्स्वर्गका-
मः स सौभरेण स्तुवीते”त्यनेन फलत्रयार्थं सौभरं विधीयते ।
अत्र चोद्देश्यानेकत्वात् ‘सौभरेण स्तुवीते’ त्यस्याऽनुषङ्गाङ्गी-
कारेण वाक्यत्रयं द्रष्टव्यम् । सौभरस्य च षड्जादिस्वरसमा-
हारात्मकस्य ध्वन्यात्मकशब्दत्वेन सिद्धरूपस्य दध्यादिवदे-
वाऽऽश्रयापेक्षायां षोडशिसंस्थाङ्गभूतब्रह्माख्यस्तोत्रमेव प्रकर-
णात्प्रणयनादिवदाश्रयत्वेन सम्बध्यते ।

यत्त्वत्र पार्थसारथिना भवदेवेन च सौभरस्य गीतिरूप-
क्रियावाचित्वादाश्रयापेक्षाभावेन ‘स्तुवीते’त्यनुवादानुपपत्तिमा-
शङ्क्य, अनुवादान्यथानुपपत्त्यैव तृतीयान्तेन सौभरपदेन करण-
त्वविशिष्टस्यैव सौभरस्य करणतासम्बन्धेन फलोद्देशेन विधा-
नादाद्यकरणत्वस्य निरूपकापेक्षायां प्रकरणात् पूर्वस्तोत्रविशेष-
सम्बन्धोपपत्तिरित्युपपादनायोपन्यस्तम्, तत् गीतेरपि षड्जा-
दिस्वरसमाहारात्मकत्वस्य पूर्वाधिकरणे साधितत्वाद्दुपेक्षितम् ।

न च सौभरस्याऽपि क्रत्वर्थत्वेन प्राप्तत्वाद्बुधप्राप्तौ ऐन्द्र-
वायवाप्रानितिवद्धात्वर्थस्य स्तोत्रस्यैव फलोद्देशेन विधिरस्त्विति
वाच्यम् । तथा मति स्तोत्रस्यैव बहिःक्रतुप्रयोगापत्तां तत्र सौ-
भरस्याऽप्राप्तत्वात् , तथाऽपि विधाने विशिष्टविधिगौरवापत्तेः,
सौभरस्य फलसम्बन्धाङ्गीकारात् । अतस्सिद्धं सौभरस्य काम्य-
त्वमपि । तस्य च समानकाले शाखाभेदेन निधनाख्यान्तिप्र-
सामावयवाधारत्वेन 'हीष् , ऊर्क , ऊ' इत्यादीनि स्तोभाक्षराणि
समाभ्रातानि । तदेवंविधं सौभरं प्रकृत्य श्रूयते,—“हीषिति वृष्टि-
कामाय निधनं कुर्यात् , ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय , ऊ इति स्वर्गकामा-
ये”ति । तत्र किं हीषादिस्तोभाक्षराणि प्रकृतसौभराश्रितानि
वृष्ट्याद्यर्थत्वेन विधीयन्ते, उत वृष्ट्याद्यर्थे सौभर एवाऽनिय-
मेन प्राप्तानि नियम्यन्त इति विचारः ।

(सङ्गतिः)

वाक्यभेदापादकगुणप्रमाणकभावनाभेदाभेदविचारात् पादा-
ध्यायसङ्गती स्पष्टे । इन्द्रियकामाधिकरणरेवत्यधिकरणयोर्द्वयो-
रप्यपवादात्वनन्तरा ।

(पूर्वपक्षः)

तत्र वृष्टिकामपदस्य तावत् स्वर्गकामाधिकरणन्यायेन
फलपरत्वात् तादर्थ्यचतुर्थ्या तदर्थत्वेन हीषादिकं दध्यादिवत्
गुणसंक्रान्तशक्तिकेन विधिना विधीयते । अत एव निधनव-
द्दमाश्रयतया प्राप्तनिधनसम्बन्धानुवादः । तथा हि—हीषाद्यक्ष-
राणि तावत्सिद्धरूपाणि सामभागपरिपूरकत्वेन योग्यत्वात्
प्रकृतसौभरारूपं सामैवाश्रयत्वेनाऽवलम्बन्ते । युक्तं हि तस्य
स्वावयवद्वारा स्तोभाक्षराकारत्वात् वृष्टिविधया हीषादिस-

पूर्वपक्षः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः । २९५

म्बन्धित्वम् । अतश्च यथैव स्तोत्रादेः स्वसाधनीभूतऋगक्षराभि-
व्यक्त्यर्थकसौभरादिसाध्यत्वात् परम्परासम्बन्धेऽप्याश्रयत्वा-
विधातः, तथा साम्नोऽपि स्वावयवद्वारा स्तोभाक्षरसाध्यत्वा-
दाश्रयत्वोपपत्तिः । न ह्यत्र वार्वन्तीयादिवददृष्टं द्वास्तया प्रवि-
ष्टम्, येनाऽऽश्रयत्वं विहन्येत ।

• न चैवमपि भवन्मते साम्नः सिद्धरूपत्वेनाऽऽश्रयत्वोपप-
त्तिः; सिद्धरूपस्याऽप्युच्चारणक्रियाविशिष्टत्वेन कृतिसाध्यत्वात्
रूपादिवदाश्रयत्वोपपत्तेः, ध्वन्यात्मकशब्दस्य निखत्वानङ्गी-
काराच्च । न चैवमपि सौभरस्याऽनेकभागत्वान्निधनस्यैवाश्रय-
त्वे प्रमाणाभावं, निधनाधारतया हीषादिपाठस्यैव लाघवेना-
श्रयतानियामकत्वात्, अन्यथा क्रत्वर्थनिधनाङ्गतया हीषादिवि-
धौ गौरवापत्तेः ।

अस्तु वा तस्य तत्, तथाऽपि भागान्तरे हीषादिनिवेशे
स्तोभान्तरं बाधापत्तेः क्वचिच्च प्रधानभूतऋगक्षरान्तरस्यैव बा-
धापत्तेरबाधपक्षपातिना शास्त्रेण क्रतुसाद्गुण्यार्थं निधनाधार-
तयाऽवश्यप्रयोज्यस्य हीषादेस्तन्मात्राश्रयत्वलाभो नाऽनुपप-
न्नः । अतश्च निधनानुवादोपपत्तेः रेवत्यधिकरणन्यायेन ही-
षादिविशिष्टनिधनान्तरविध्याशङ्कानुपपत्तेर्दध्यादिवहुणसंक्रान्त-
शक्तिना विधिना इन्द्रियकामाधिकरणन्यायेन हीषादिकमेव त-
त्तत्फलोद्देशेन विधीयते ।

न च रेवत्याधिकरणन्यायापेक्षया लघुभूतेन्द्रियकामाधिक-
रणन्यायेन गुणफलसम्बन्धविध्युपपत्तावपि गुणफलसम्बन्धे
अपूर्वविध्यापत्तेस्ततोऽप्यतिलघुभूतनियमविध्यापादकं तत्तत्फ-
लकसौभरसम्बन्धनिधनाधारतया हीषादिविधिरिति पक्षा-
न्तरमेष किमिति नाऽऽश्रीयत इति वाच्यम् । उक्तविधोद्देश्यप्र-
त्यायकाभावेन तादृशवचनव्यक्तिपक्षस्याऽनुक्तिसहत्वात् । त-

था हि — निधनपदं बोद्देश्यसमर्पकम् ? वृष्टिकामादिपदं वा ? नाऽऽद्यः; निधनमात्रोद्देशेन विधानस्य तावत्पाठप्राप्तिसम्भवे-
नाऽनुपपत्तेः । वृष्टिकामपदेन वृष्टिसाधनसौभरीयत्वविशेषणे तु
विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः । सौभरीयत्वस्य वृष्टिकामपदशक्त्या-
ऽलाभात् लक्षणापत्तिश्च । अत एव न द्वितीयः । न चैकं पदं
वृष्टिसाधनसौभरसम्बन्धिनिधनलक्षकम्, अन्यच्च तात्पर्यग्राह-
कमिति शक्यते वक्तुम्, विनिगमनाविरहात् । तात्पर्यग्राह-
कस्याऽपि शाब्दबोधसामग्र्यन्तर्गतत्वेन वाक्यभेदानिर्वारणाच्च ।
अन्यथा हविकभूयत्वविवक्षाया दुर्निवारत्वात् ।

किञ्च वृष्ट्यादिसाधनसौभरवृत्तिनिधनोद्देशेनाऽपि हीषादेः
पाठत एव प्राप्तत्वाच्च विधिसम्भवः । यदि तु वृष्टिसाधनीभू-
तसौभरनिधन इव तदसाधनसौभरनिधनेऽपि कदाचिद्धीषः,
प्राप्तिसम्भवात् तत्र तस्यावृत्तिफलकानियमस्यैव फलत्वोपपत्तेः
विधिसम्भव इत्युच्यते, ततो नित्यनैमित्तिकसौभरप्रयोगे निध-
नाधारस्तोभासराभावेन सापेक्षत्वापत्तिः । अतो लघुभूतस्या-
ऽपि नियमविधेरसम्भवात् वृष्टिकामपदस्य शक्युपस्थापितफ-
लार्थत्वसम्भवे लाक्षणिकवृष्टिसाधनसौभरवृत्तिनिधनार्थत्वकल्प-
ने प्रमाणाभावाच्च गुरुभूतोऽपि गुणफलसम्बन्धपक्ष एवाऽऽश्री-
यते । एवं च कारणवैजात्येन कार्यवैजात्यस्याऽऽवश्यकत्वात् सौ-
भरजन्यवृष्ट्यादिभ्यो हीषादिजन्यवृष्ट्यादीनि व्यक्तितो जाति-
तश्च भिन्नानीत्यपि द्रष्टव्यम् ।

सुत्रं तु—सौभरसम्बन्धिनिधनाश्रिते हीषादौ कायान्तर-
संयोग एव वृष्टिकामपदेन प्रत्येतव्यः, श्रुत्यादेवृष्टिकामशब्देन
वृष्टिकामस्यैव पुरुषस्योक्तत्वेन वृष्टिसाधनसौभरवृत्तिनिधनकाम-
परत्वे लक्षणापत्तेरिति व्याख्येयम् ॥

(इति पूर्वपक्षः)

(अथ सिद्धान्तः)

सर्वस्यैवोक्तकामत्वात् तस्मिन् कामश्रुतिस्या-
निधनार्था पुनश्श्रुतिः ॥ २-२-२८ ॥(सि)

आश्रयालाभादेव तावन्नाऽत्र गुणफलसम्बन्धो युक्तः । न ह्यत्र सौभरमनेकावयवात्मकं सिद्धरूपञ्चैकाक्षराश्रयत्वेनाऽन्वेतुं योग्यम् । यद्यपि निधनद्वारा निधनमेव वा कथञ्चिद्योग्यं स्यात्, तथाऽपि तस्य विशेषत उपस्थित्यभावान्नाश्रयत्वेन द्वारत्वेन वा सम्बन्धः । वस्तुतस्तु शास्त्रस्याऽबाधपक्षपातित्वस्वाभाव्येन निधनस्यैव तदुपपत्तेः मूलोक्तकुशकाशावलम्बनेनाऽऽश्रयाला-भोपपादनासम्भवान्निगमविधिलाघवानुरोधेनैव गुणविधिपक्षो निराकर्तव्यः । तथा हि-फलत्रयार्थमपि सौभरं(?)योगसिध्य-धिकरणन्यायेन सकृदुच्चरितमेकस्मिन्प्रयोगे एकमेव फलं सा-धयति नेतरत् । तत्र चैकार्थत्वादेकसौभरेऽनियमेन हीषादीनि त्रीण्यपि निधनानि प्राप्येरन् । ततश्च वृष्टिफलार्थे सौभरप्रयोगे यथा हीष् प्राप्यते तथाऽन्यान्यपि विकल्पेन प्राप्येरन् । यदा चा-न्यानि प्राप्यन्ते तदा हीषोऽप्राप्तेर्युक्तो नियमः । नियमोऽप्ययं वृष्ट्यर्थसौभरप्रयोगे हीषेवेत्येवंविधः शेषस्यैव, न तु वृष्ट्यर्थ-सौभरप्रयोग एव हीष् इत्येवंविधः शेषिणः, विधेयशेषगतनियम-फलसम्भवे उद्देश्यगतस्य तस्याऽन्याय्यत्वात् । न ह्ययं प्राप्त-नियमः, येन हीषोऽविधेयत्वामाशङ्क्येत, प्रत्यक्षस्याऽपि पाठस्य विधिकल्पनया सामान्यमुखेन च वृष्टिक्रमप्रयोगमुपारूढस्य म-न्थरप्रवृत्तिकतया ततः पूर्वप्रवृत्त्यङ्गीकारेणाऽत्र हीष एव विधेयः

त्वात् । अतश्च तद्गतस्यैव नियमस्य फलत्वोपपत्तिः । एवञ्च शेषिनियमाकरणाभित्यनैमित्तिकसौभरप्रयोगे हीषाद्यप्राप्तिः ।

न चैवमपि प्रबलेन वाक्येन चतुर्थीश्रुत्या वा वृष्ट्यर्थसौभरप्रयोगविशेषाङ्गतया हीषादिविधौ लिङ्गादिवदेव दुर्बलस्य श्रुत्यकल्पकत्वात् कथं नित्यनैमित्तिकप्रयोगे हीषादिप्राप्तिः ? दुर्बलस्याऽपि पाठस्याऽत्यन्तवैयर्थ्यप्रसङ्गेन चमसिनां भक्षे सामाख्याया इव पौर्णमासीस्थवेदिकरणादौ प्रकरणे पाठादेरिव च नित्यनैमित्तिकप्रयोगविषये हीषादिनिधिकल्पकत्वस्याऽङ्गीकारात् । लिङ्गादेस्तु गार्हपत्यादौ लक्ष्ये शक्यसम्बन्धार्थमेवोपपत्तेः नेन्द्रादिविषये तस्य श्रुतिकल्पकत्वम् ।

नन्वेवं पाठस्याऽपि वृष्ट्याद्यर्थसौभरप्रयोग एव निधनाख्यद्वारसम्बन्धेन कृतार्थत्वान्न नित्यनैमित्तिकयोगेन श्रुतिकल्पकत्वापत्तिः ? न हि विधिवाक्ये वृष्ट्यर्थसौभरसम्बन्धनिधनस्यैवोद्देश्यता सम्भवति, येन पाठं विनैव निधनसम्बन्धो लभ्येत, वृष्टिकामपदेन तु वृष्टिसम्बन्धिप्रकृतसौभरमात्रलक्षणेऽपि निधनलक्षणायामेव प्रमाणाभावात् न तदन्तस्पोद्देश्यत्वम्, अतः पाठस्यैव निधनसम्बन्धप्रयोजकत्वात् नैमित्तिकप्रयोगे हीषाद्यप्राप्तिस्तदवस्थैवेति चेत्—न; वृष्टिसम्बन्धिसौभरमात्रस्यैवोद्देश्यत्वेऽपि हीषुविधेर्लघुभूतनियमफलकत्वलाभाय निधनस्थानकत्वलाभोपपत्तेः । एतद्विध्यभावे हि पाठेन निधन एवाऽनियमेन हीषादिः प्राप्येत, ततश्च विधिफलसामर्थ्यादेवाऽत्र निधनस्थानकत्वलाभः, न तु पाठात्, तस्य वस्तुतो नित्यनैमित्तिकप्रयोगमात्रविषयत्वात् । अत एव पाठेन सामान्यतो यस्मिन्निमित्तप्रयोगश्रुतिसौभरीयानिधनसम्बन्धितयैव कल्पिताऽपि श्रुतिः विशेषविधिना वाक्पादाहवनीयादिशास्त्रव्याख्याविषयातिरिक्तविषयाऽव-

तिष्ठत इति युक्तं तस्य निखनैमित्तिकप्रयोगमात्रविषयत्वम् ।
 हीषादेश्च विधिफलसामर्थ्यात् निधनस्थानकत्वम् । नियम-
 फलकत्वादेव च वृष्टिपदेन वृष्ट्यवच्छिन्नप्रकृतसौभरलक्षणा-
 ऽपि नाऽतीव दोषमावहति । इष्यत एव हि नियमविधि-
 लाप्रवाद्यनुरोधेन “वार्तद्धनी पौर्णमास्याम्” इत्यादौ पौर्ण-
 मेक्षीपदेन पौर्णमासीप्रधानसम्बन्ध्याज्यभागलक्षणा प्रयाजशे-
 षाभिघारणादौ च द्वितीयाद्यर्थलक्षणा । वृष्ट्यवच्छिन्नसौ-
 भरत्वस्यैव च लक्ष्यतावच्छेदकत्वात् न युगपद्वृष्टिद्वयविरोधः,
 नाऽपि विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः ।

वस्तुतस्तु न लक्षणाऽपि, विधिफलसामर्थ्यानुरोधेन प्रकर-
 णावगतसौभराङ्गत्वानुरोधेन च वृष्ट्यर्थत्वस्यैव परम्परासम्बन्धे-
 नाश्रयणात् । अतश्च यथैव “वासिष्ठानां नाराशंसो द्वितीयः प्र-
 याज” इत्यदौ नाराशंसमन्त्रस्य वासिष्ठार्थत्वं प्रमाणान्तरावग-
 तद्वितीयप्रयाजाङ्गत्वनिर्वाहाय तत्रैव शाखान्तरप्राप्तनूनपान्म-
 न्त्रव्यावृत्तिफलकनियमलाभाय च वासिष्ठाभिलषितफलसाधन-
 दर्शाद्यङ्गद्वितीयप्रयाजद्वारैव समाश्रयिते, तथा प्रकृते सत्यपि च-
 तुर्थयोगे युक्तितौल्यात् परम्परासम्बन्धाङ्गीकरणे न दोष इति
 लक्षणाश्रयणेऽपि प्रमाणाभावः । अतो वृष्टौ हीषेव परम्परास-
 म्बन्धेन कर्तव्य इति नियमफलकोऽयं विधिरिति सिद्धम् ।

अत एव परम्परासम्बन्धे प्रकृतसौभरप्रवेशात् कारीर्षा-
 दिजन्यवृष्टौ हीषभावेऽपि न विघातः । अत एव परम्परासम्ब-
 न्धघटकत्वेन विज्ञातीयसौभरविशेष एव विवक्ष्यते न तु सौभर-
 त्वावच्छिन्नानि सर्वाणि । शाखाभेदेन हिं सौभराणि तत्तद्गीति-
 विशेषभिन्नान्येव समाम्नातानि । क्वचित् समानगीतिकान्यपि ।

अत एव मीतिभेदभिन्नेषु न शाखान्तराधिकरणन्यायप्रवृ-

त्तिरिति तत्र सौभराणां भेद एव । अतश्च विजातीये सौभरे
 हीषः पक्षेऽप्यप्राप्तत्वात्तस्य हीषादिनियमविषयत्वायोगेन न
 तस्य परम्परासम्बन्धघटकत्वम् । ततश्च वृष्टौ हीषेव विजातीय-
 सौभरद्वारा कुर्यादित्येतद्वाक्यार्थः फलितो भवति । एवञ्च वृष्ट्य-
 र्थसौभरविधावपि विजातीयानां सौभराणां विकल्पेन वृष्ट्यर्थ
 प्राप्तानां हीष्निधनकस्यैव सौभरविशेषस्य वृष्टिमाधनता-न-
 ऽन्येषामित्यपि नियमः फलितो भवति । न ह्यन्यथा वृष्टौ हीषे
 वेति नियमः कथमपि सम्पादयितुं शक्यः, निघ्नान्तरयुक्तस्या-
 पि सौभरान्तरस्य तदर्थं क्रियमाणत्वात् । अतो हीष्निधनवि-
 धेः समानजातीयसौभरस्थले शाखान्तरायोगादिनिघ्नान्तर-
 व्यावृत्तिफलकत्वेऽपि हीषभिन्ननिधनयुक्तविजातीयसौभरस्थले
 तस्य वृष्ट्यर्थताव्यावृत्तिफलकत्वमपि कांस्यभोजिन्यायेन न
 विरुध्यते ।

अत एव यत्र न कांस्यभोजिन्यायः, यथा कारीर्या-
 दौ, तत्र न तस्य वृष्ट्यर्थता व्यावर्त्यते, वृष्ट्यर्थसौभरविशेषेऽपि
 हीष्निधनकसौभरमात्रग्रहणेन चारितार्थ्यात् युक्ता विजातीय-
 सौभरव्यावृत्तिफलकनियमफलकतेति विशेषः । अतः सौभरा-
 ऽपि निस्रनैमित्तिकप्रयोगविषयत्वमेव, न तु काम्यप्रयोग-
 ऽवमित्यपि द्रष्टव्यम् । अतः सिद्धं हीषादिविधौ विधि-
 नानुरोधेनैव न गुणफलसम्बन्धः, न वा तदर्थं गुणाज्ञा-
 वन-भेद इति ।

प्रयोजनं--पूर्वपक्षे वृष्ट्यर्थं सर्वसौभरानुष्ठानेऽपि अस्माद्या-
 र्थमूर्गादिनिघ्नानानुष्ठानं वृष्ट्यन्तरार्थं वा हीष एवाऽनुष्ठानम्,
 सिद्धान्ते तु नेत्षादि स्पष्टम् ।

सुखं तु--सर्वस्य सौभरस्योक्तकावस्थेन-मत्स्याभिहान्यात्-

सिद्धान्तः] द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पाद ।

३०१

स्मिन् द्वारभूते सत्येव हीषादेः कामश्रुतिस्स्यात् । न चैवं सौभ-
भरे हीषादेः पाठादेव प्राप्तत्वात् विधानानर्थक्यम् , वृष्टिसाधनी-
भूतविजातीयसौभरवृत्तिनिधनव्यवस्थार्थत्वेन पुनःश्रुतिसार्थ-
क्यादित्येव व्याख्येयम् ॥

मीमांसांनुनिधिं प्रमथ्य सुदृढैर्न्यायोच्चयैर्निर्झरैः

कृत्वा जैमिनिसूत्रमन्दरममुं वेदं तथा वासुकिम् ।

यद्बालाहलसंज्ञमेव कलितं ग्रन्थान्तरं सज्जनैः

श्रीकृष्णस्य तु भूषणाय स परं यः कौस्तुभाख्यो मणिः ॥

श्रीरुद्रदेवसूनोः कृतिरेषा खण्डदेवस्य ।

मीमांसाकौस्तुभाख्या भेदाध्याये द्वितीयोऽङ्घ्रिः ॥

इति श्रीमत्पूर्वोत्तरमीमांसापारिवारपारीणधुरीणश्रीरुद्रदेवसूनु-

खण्डदेवविरचितमीमांसाकौस्तुभे द्वितीयाध्यायस्य

द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

